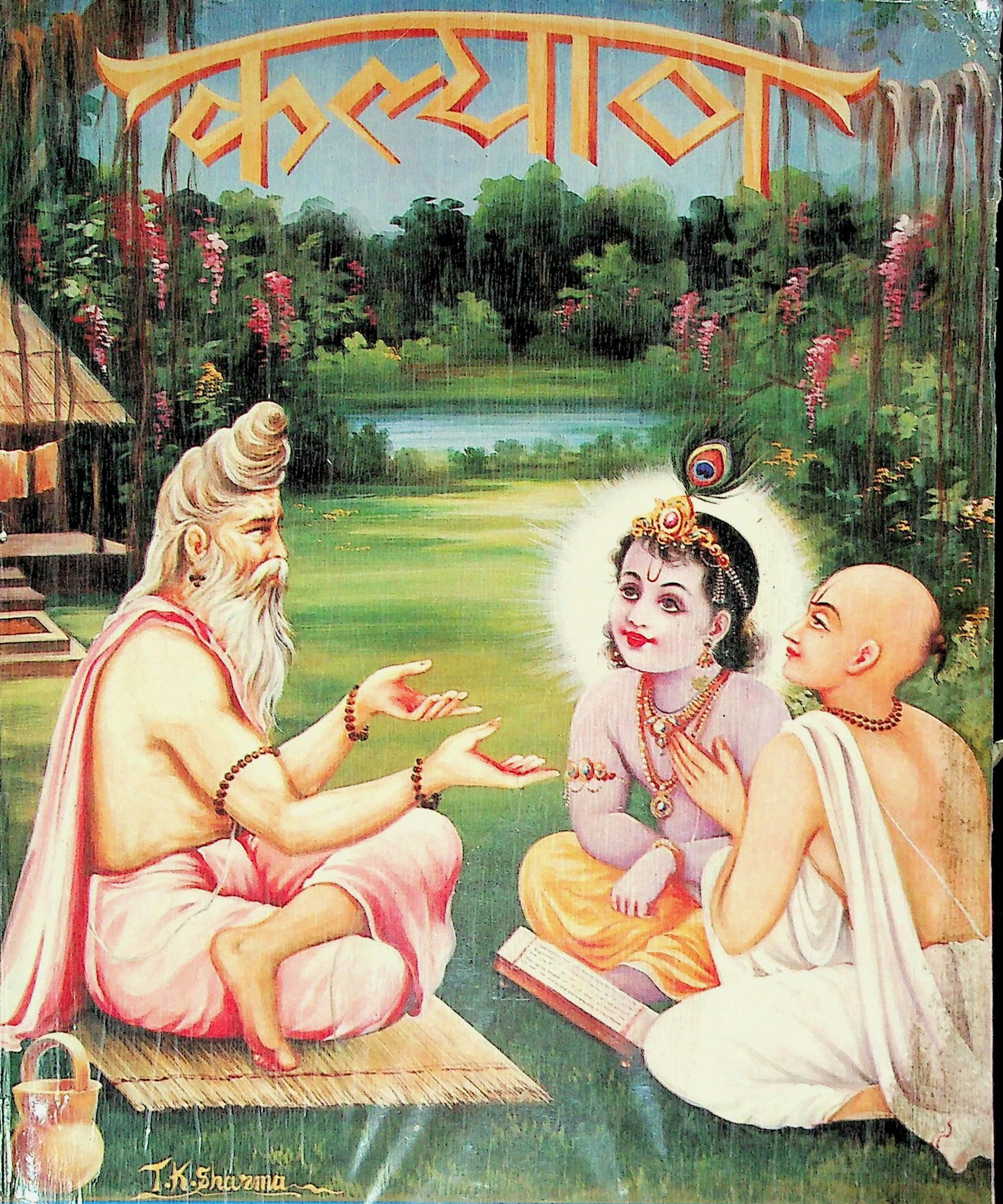


वर्ष ६२

शिक्षाङ्क

संख्या १

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय-जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवाशिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

(संस्करण १,७०,०००)

भगवती सरस्वतीका ध्यान

वाणीं पूर्णनिशाकरोज्ज्वलमुखीं कर्पूरकुन्दप्रभां
चन्द्रार्धाङ्कितमस्तकां निजकरैः सम्बिभ्रतीमादरात्।
वीणामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्यां च तुङ्गस्तनीं
दिव्यैराभरणैर्विभूषिततनुं हंसाधिरूढां भजे॥

'जिनका मुख पूर्णिमाके चन्द्र-सदृश गौर है, जिनकी अङ्गकान्ति कर्पूर और कुन्द-पुष्पके समान है, जिनका मस्तक अर्धचन्द्रसे अलंकृत है, जो अपने हाथोंमें वीणा, अक्षसूत्र, अमृत-पूर्ण कलश और पुस्तक धारण करती हैं तथा ऊँचे स्तनोंवाली हैं, जिनका शरीर दिव्य आभूषणोंसे विभूषित है और जो हंसपर सवार होती हैं, उन सरस्वती देवीका मैं आदरपूर्वक ध्यान करता हूँ।'

वार्षिक शुल्क		इस अङ्कका मूल्य
(डाक-व्ययसहित) भारतमें ३८.०० रु० विदेशमें ६ पौंड अथवा ९ डालर	जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥ जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥ जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥	(डाक-व्ययसहित भारतमें ३८.०० रु विदेशमें ६ पौंड अथवा ९ डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
[illegible] जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

Recd. 12.4.09

'कल्याण'के सम्मान्य ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण'के ६२वें वर्ष (सन् १९८८ ई॰) का यह विशेषाङ्क 'शिक्षाङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४७२ पृष्ठोंमें पाठ्यसामग्री और ८ पृष्ठोंमें सूची आदि हैं। कई बहुरंगे तथा सादे चित्र भी यथास्थान दिये गये हैं।

२-जिन ग्राहकोंसे शुल्क-राशि अग्रिम मनीआर्डरद्वारा प्राप्त हो चुकी है, उन्हें 'विशेषाङ्क' फरवरी-अङ्कके सहित रजिस्ट्रीद्वारा भेजे जा रहे हैं तथा जिनसे शुल्क-राशि प्राप्त नहीं हुई है, उन्हें अङ्क बचनेपर ही ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार वी॰ पी॰ पी॰ द्वारा भेजा जा सकेगा। रजिस्ट्रीकी अपेक्षा वी॰ पी॰ पी॰ द्वारा 'विशेषाङ्क' भेजनेमें डाकखर्च अधिक लगता है, अतः ग्राहक महानुभावोंसे विनम्र अनुरोध है कि वे वी॰ पी॰ पी॰ की प्रतीक्षा और अपेक्षा न करके अपने तथा 'कल्याण'के हितमें वार्षिक शुल्क-राशि कृपया मनीआर्डरद्वारा ही भेजें। 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क डाकखर्चसहित ३८.०० (अड़तीस) रु॰ मात्र है, जो मात्र विशेषाङ्कका ही मूल्य है।

३-ग्राहक सज्जन कृपया मनीआर्डर-कूपनपर अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है, जिससे आपकी सेवामें 'शिक्षाङ्क' नयी ग्राहक-संख्याके क्रमसे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्याके क्रमसे इसकी वी॰ पी॰ पी॰ भी जा सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप शुल्क-राशि मनीआर्डरसे भेज दें और उसके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी॰ पी॰ पी॰ भी चली जाय। ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपया वी॰ पी॰ पी॰ लौटायें नहीं, अपितु प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर वी॰ पी॰ पी॰ से भेजे गये 'कल्याण'अङ्क उन्हें दे दें और उनका नाम तथा पूरा पता सुस्पष्ट, सुवाच्य लिपिमें लिखकर हमारे कार्यालयको भेजनेका अनुग्रह करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका अपना 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे तो बचेगा ही, इस प्रकार आप भी 'कल्याण'के पावन प्रचारमें सहायक एवं सहयोगी बनकर पुण्यके भागी होंगे।

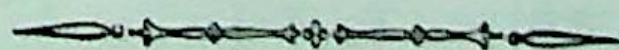
४-विशेषाङ्क 'शिक्षाङ्क'के साथमें 'फरवरी' १९८८का दूसरा अङ्क भी ग्राहकोंकी सेवामें (शीघ्र और सुरक्षित पहुँचानेकी दृष्टिसे) रजिस्टर्ड-पोस्टसे भेजा जा रहा है। यद्यपि यथाशक्य तत्परता और शीघ्रता करनेपर भी सभी ग्राहकोंको अङ्क भेजनेमें अनुमानतः ६-७ सप्ताह तो लग ही सकते हैं, तथापि विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही भेजनेकी प्रक्रिया होनेसे किन्हीं महानुभावोंको अङ्क कुछ विलम्बसे मिलें तो वे अपरिहार्य कारण समझकर कृपया हमें क्षमा करेंगे।

५-विशेषाङ्कके लिफाफे (या रैपर) पर आपकी जो ग्राहक-संख्या लिखी गयी है, उसे आप कृपया पूर्ण सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी॰ पी॰ पी॰ का नंबर भी नोट कर लेना चाहिये, जिससे आवश्यकतानुसार पत्राचारके समय उल्लेख किया जा सके। इससे कार्यकी सम्पन्नतामें शीघ्रता एवं सुविधा होगी एवं कार्यालयकी शक्ति और समय व्यर्थ नष्ट होनेसे बचेंगे।

६-'कल्याण'-व्यवस्था-विभाग एवं 'गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभाग'को अलग-अलग समझकर सम्बन्धित पत्र, पार्सल, पैकेट, मनीआर्डर, बीमा आदि पृथक्-पृथक् पतोंपर भेजने चाहिये। पतेके स्थानपर केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुरके साथ पिनकोड सं॰-२७३००५ भी अवश्य लिखना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन-२७३००५

शि॰ अं॰ १



श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस दोनों विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं । इनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमें अपना कल्याण-साधन कर सकता है । इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदि कोई भी बाधक नहीं है । आजके समयमें इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है । अतः धर्मपरायण जनताको इन कल्याणमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघकी स्थापना की गयी है । इसके सदस्योंकी संख्या इस समय लगभग बावन हजार है । इसमें श्रीगीताके छः प्रकारके और श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये गये हैं । इसके अतिरिक्त उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी पूजा अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणी भी है । इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन तथा उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है । सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है । इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगवाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याणमय पथ प्रशस्त करें ।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, *पत्रालय*—स्वर्गाश्रम—२४९३०४ (वाया-ऋषिकेश), *जिला*—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्म-विकासपर ही अवलम्बित है । आत्म-विकासके लिये जीवनमें सत्यता, सरलता, निष्कपटता, सदाचार, भगवत्परायणता आदि दैवी गुणोंका ग्रहण और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा आदि आसुरी गुणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ और सरल उपाय है । मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ४० वर्षपूर्व 'साधक-संघ'की स्थापना की गयी थी । इसका सदस्यता-शुल्क नहीं है । सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये । सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम बने हैं । प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको (इधरमें डाक-खर्चमें विशेष वृद्धि हो जानेके कारण साधक-दैनन्दिनीका मूल्य ०.४५पैसे तथा डाकखर्च०.३०पैसे) मात्र ०.७५पैसे डाकटिकट या मनीआर्डरद्वारा अग्रिम भेजकर उन्हें मँगवा लेना चाहिये । साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं । विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगवाइये ।

पता—*संयोजक,* 'साधक-संघ' द्वारा—'कल्याण' सम्पादन-विभाग, *पत्रालय*—गीताप्रेस, *जनपद*—गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस दोनों मङ्गलमय एवं दिव्यतम ग्रन्थ हैं । इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है तथा जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है । प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है । इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक परिष्कृत करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है । दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग बीस हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४०० (चार सौ) परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है । नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, *पत्रालय*—स्वर्गाश्रम, पिन—२४९३०४ (वाया-ऋषिकेश), *जनपद*—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

'शिक्षाङ्क' की विषय-सूची

गुरु-शिष्य—

विविध शिक्षा—

चित्र-सूची

(बहुरंगे चित्र)

इकरंगे (सादे चित्र)



शिक्षाकी अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥



विद्या नाम नरस्य कीर्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो धेनुः कामदुघा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयं च सा।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणं तस्मादन्यमुपेक्ष्य सर्वविषयं विद्याधिकारं कुरु॥

वर्ष ६२ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१३, जनवरी १९८८ ई० { संख्या १ पूर्ण संख्या ७३४

भगवती सरस्वतीकी वन्दना

हंसारूढा हरहसितहारेन्दुकुन्दावदाता
वाणी मन्दस्मिततरमुखी मौलिबद्धेन्दुलेखा।
विद्यावीणामृतमयघटाक्षस्त्रजा दीप्तहस्ता
श्वेताब्जस्था भवदभिमतप्राप्तये भारती स्यात्॥

जो हंसपर सवार हैं, शिवजीके अट्टहास, हार, चन्द्रमा और कुन्दके समान उज्ज्वल वर्णवाली हैं तथा वाणीस्वरूपा हैं, जिनका मुख मन्द-मुसकानसे सुशोभित है और मस्तक चन्द्ररेखासे विभूषित है तथा जिनके हाथ पुस्तक, वीणा, अमृतमय घट और अक्षमालासे उद्दीप्त हो रहे हैं, जो श्वेत कमलपर आसीन हैं, वे सरस्वती देवी आपलोगोंकी अभीष्ट-सिद्धि करनेवाली हों।

स्वस्त्ययन

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

गुरुके यहाँ अध्ययन करनेवाले छात्र अपने गुरु, सहपाठियों तथा मानवमात्रका कल्याण-चिन्तन करते हुए देवताओंसे प्रार्थना करते हैं—'देवगण ! हम अपने कानोंसे शुभ—कल्याणकारी वचन ही सुनें । निन्दा, चुगली, गाली या दूसरी-दूसरी पापकी बातें हमारे कानोंमें न पड़ें । हमारा जीवन यजन-परायण हो—हम सदा भगवान्‌की आराधनामें ही लगे रहें । नेत्रोंसे हम सदा कल्याणका दर्शन करें । किसी अमङ्गलकारी अथवा पतनकी ओर ले जानेवाले दृश्यकी ओर हमारी दृष्टिका आकर्षण कभी न हो । हमारे शरीरके एक-एक अवयव सुदृढ़ एवं सुपुष्ट हों, हम उनके द्वारा आप सबका स्तवन करते रहें । हमारी आयु भोग-विलास या प्रमादमें न बीतकर आपलोगोंकी सेवामें व्यतीत हो । जिनका सुयश सब ओर फैला है, वे देवराज इन्द्र, सर्वज्ञ पूषा, अरिष्टनिवारक तार्क्ष्य (गरुड़) और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति— ये सभी देवता भगवान्‌की दिव्य विभूतियाँ हैं । ये सदा हमारे कल्याणका पोषण करें । इनकी कृपासे हमारे सहित प्राणिमात्रका कल्याण होता रहे । आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो ।'

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

हे परमात्मन् ! आप हम गुरु-शिष्य दोनोंकी साथ-साथ सब प्रकारसे रक्षा करें, हम दोनोंका आप साथ-साथ समुचितरूपसे पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-ही-साथ सब प्रकारसे बल प्राप्त करें, हम दोनोंकी अध्ययन की हुई विद्या तेजस्विनी हो—हम कहीं किसीसे विद्यामें परास्त न हों और हम दोनों जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्रसे बँधे रहें, हमारे अंदर परस्पर कभी द्वेष न हो । हम दोनोंके तीनों तापोंकी निवृत्ति हो ।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

हे परमात्मन् ! मेरे सारे अङ्ग, वाणी, नेत्र, श्रोत्र आदि सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणसमूह, शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा ओज—सब पुष्टि एवं वृद्धिको प्राप्त हों । उपनिषदोंमें सर्वरूप ब्रह्मका जो स्वरूप वर्णित है, उसे मैं कभी अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म भी मेरा कभी परित्याग न करे । मुझे सदा अपनाये रखे । मेरे साथ ब्रह्मका और ब्रह्मके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध बना रहे । उपनिषदोंमें जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है, वे सारे धर्म उपनिषदोंके एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म परमात्मामें निरन्तर लगे हुए मुझ साधकमें सदा प्रकाशित रहें, मुझमें नित्य-निरन्तर बने रहें और मेरे त्रिविध तापोंकी निवृत्ति हो ।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

श्रीसिद्धसरस्वती-स्तोत्र-मन्त्र-पाठ

भारतीय शास्त्रोंके अनुसार अपने अभ्युदय और कल्याणके लिये लौकिक पुरुषार्थके साथ-साथ दैवी पुरुषार्थका भी महत्त्व है । बुद्धिकी अधिष्ठात्री भगवती सरस्वतीकी कृपासे ही मूढ़ताका अपोहन होकर सद्बुद्धि, सत्-शिक्षा, वाग्विलास और वास्तविक ज्ञानकी उपलब्धि होती है । श्रेयार्थीको साधनाकी परम आवश्यकता है ।

यहाँ जिज्ञासु शिक्षार्थीके लिये सिद्ध-सरस्वती-मन्त्र-स्तोत्रका प्रयोग प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसे परमगुरु साक्षात् भगवान् सदाशिवसे प्राप्त हुआ मानकर सम्यक्रूपसे नियमित अनुष्ठान करनेपर भगवती सरस्वतीकी प्रसन्नता निश्चितरूपसे प्राप्त होती है ।

प्रयोग-विधि

प्रातःकाल स्नान-संध्यासे निवृत्त होकर उत्तराभिमुख या पूर्वाभिमुख आसनपर बैठकर सर्वप्रथम निम्नलिखित मन्त्रोंसे आचमन करे—

ॐ ऐं आत्मतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।
ॐ क्लीं विद्यातत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।
ॐ सौं शिवतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।
ॐ ऐं क्लीं सौं सर्वतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।

संकल्प—ॐ अद्य …… गोत्रोत्पन्नोऽहं …….. नामाऽहं मम कायिकवाचिकमानसिक ज्ञाताज्ञातसकल-दोषपरिहारार्थं श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तफलप्राप्त्यर्थं परमेश्वरीभगवतीसरस्वतीप्रसादसिद्ध्यर्थं सिद्धसरस्वती-बीजमन्त्रस्य जपं सरस्वतीस्तोत्रपाठं च करिष्ये ।

विनियोग—ॐ अस्य श्रीसिद्धसरस्वतीस्तोत्रमन्त्रस्य भगवान् सनत्कुमार ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, श्रीसिद्धसरस्वती देवता, ऐं बीजम्, वदवदेति शक्तिः, सर्वविद्याप्रपन्नायेति कीलकम्, मम वाग्विलाससिद्ध्यर्थं जपे विनियोगः ।

करन्यास

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
ॐ ऐं श्रीं ह्रीं तर्जनीभ्यां नमः ।
ॐ क्लां क्लीं क्लूं मध्यमाभ्यां नमः ।
ॐ श्रां श्रीं श्रूं अनामिकाभ्यां नमः ।
ॐ आं ह्रीं क्रौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
ॐ ध्रां ध्रीं ध्रूं करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।
ॐ ह्रूं अस्त्राय फट् ।
रं रं इत्यग्निप्रकारान् मूलेन व्यापकं कृत्वा सौं सरस्वतीयोगपीठासनाय नमः ।

ध्यान

दोर्भिर्युक्ताश्चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।
या सा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमाना समाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥

जो चार हाथोंसे सुशोभित हैं और उन हाथोंमें क्रमशः स्फटिकमणिकी बनी हुई अक्षमाला, श्वेत कमल, शुक और पुस्तक धारण किये हुए हैं तथा जो कुन्द, चन्द्रमा, शङ्ख और स्फटिक मणिके सदृश देदीप्यमान होती हुई समान रूपवाली हैं, वे ही ये वाग्देवता सरस्वती परम प्रसन्न होकर सर्वदा मेरे मुखमें निवास करें ।

आरूढा श्वेतहंसे भ्रमति च गगने दक्षिणे चाक्षसूत्रं
वामे हस्ते च दिव्याम्बरकनकमयं पुस्तकं ज्ञानगम्या ।
सा वीणां वादयन्ती स्वकरकरजपैः शास्त्रविज्ञानशब्दैः
क्रीडन्ती दिव्यरूपा करकमलधरा भारती सुप्रसन्ना ॥

श्वेतपद्मासना देवी श्वेतगन्धानुलेपना ।
अर्चिता मुनिभिः सर्वैर्ऋषिभिः स्तूयते सदा ॥
एवं ध्यात्वा सदा देवीं वाञ्छितं लभते नरः ॥

जो श्वेत हंसपर सवार होकर आकाशमें विचरण करती हैं, जिनके दाहिने हाथमें अक्षसूत्र और बायें हाथमें दिव्य स्वर्णमय वस्त्रसे आवेष्टित पुस्तक शोभित है, जो वीणा बजाती हुई क्रीडा करती हैं और अपने हाथकी करमालासे शास्त्रजन्य विज्ञानशब्दोंका जप करती रहती हैं, जिनका दिव्य रूप है, जो ज्ञानगम्या हैं, हाथमें कमल धारण करती हैं और श्वेत कमलपर आसीन हैं, जिनके

शरीरमें श्वेत चन्दनका अनुलेप लगता है, मुनिगण जिनकी अर्चना करते हैं तथा सभी ऋषि सदा जिनका स्तवन करते हैं, वे सरस्वतीदेवी मुझपर परम प्रसन्न हों । इस प्रकार सदा देवीका ध्यान करके मनुष्य मनोवाञ्छित फल प्राप्त कर लेता है ।

भगवती सरस्वतीका पञ्चोपचार मानस-पूजन

(१) ॐ लं पृथ्व्यात्मकं गन्धं परिकल्पयामि ।
(मैं पृथ्वीरूप गन्ध (चन्दन) अर्पित करता हूँ ।)

(२) ॐ हं आकाशात्मकं पुष्पं परिकल्पयामि ।
(आकाशरूप पुष्प अर्पित करता हूँ ।)

(३) ॐ यं वाय्वात्मकं धूपं परिकल्पयामि ।
(वायुदेवके रूपमें धूप प्रदान करता हूँ ।)

(४) ॐ रं वह्न्यात्मकं दीपं दर्शयामि ।
(अग्निदेवके रूपमें दीपक प्रदान करता हूँ ।)

(५) ॐ सौं सर्वात्मकं सर्वोपचारं परिकल्पयामि ।
(सर्वात्माके रूपमें संसारके सभी उपचार भगवतीके चरणोंमें समर्पित करता हूँ ।)

इस प्रकार चतुर्भुजा वीणापाणि भगवती सरस्वतीका मानसिक ध्यान करते हुए मानसपूजा करनी चाहिये । इसके अनन्तर योनि-मुद्रा प्रदर्शित करे ।

तदनन्तर भगवतीके बीजमन्त्रका नीचे लिखे अनुसार एकमाला जप करना चाहिये । (कभी समयकी कमी हो तो कम-से-कम २१ मन्त्रका जप अवश्य करना चाहिये ।)

'ॐ ऐं क्लीं सौं ह्रीं श्रीं ध्रीं वदवद वाग्वादिनी सौं क्लीं ऐं श्रीसरस्वत्यै नमः ।'

जपके अनन्तर **'अनेन जपकृतेन सरस्वती देवता प्रीयतां न मम ।'**—इस मन्त्रसे जल छोड़ना चाहिये । इसके अनन्तर निम्नलिखित स्तोत्रका पाठ करना चाहिये—

विनियोग

ॐ अस्य श्रीसिद्धसरस्वतीस्तोत्रमन्त्रस्य मार्कण्डेय ऋषिः, स्रग्धरा अनुष्टुप् छन्दः, मम वाग्विलाससिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः ।

शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम् ।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थितां
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥
या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा॥
ह्रीं ह्रीं हृद्यैकबीजे शशिरुचिकमले कल्पविस्पष्टशोभे
भव्ये भव्यानुकूले कुमतिवनदवे विश्ववन्द्याङ्घ्रिपद्मे ।
पद्मे पद्मोपविष्टे प्रणतजनमनोमोदसम्पादयित्रि
प्रोत्फुल्लज्ञानकूटे हरिनिजदयिते देवि संसारसारे॥
ऐं ऐं ऐं दृष्टमन्त्रे कमलभवमुखाम्भोजभूते स्वरूपे
रूपारूपप्रकाशे सकलगुणमये निर्गुणे निर्विकारे ।
न स्थूले नैव सूक्ष्मेऽप्यविदितविभवे नापि विज्ञानतत्त्वे
विश्वे विश्वान्तरात्मे सुरवरनमिते निष्कले नित्यशुद्धे॥
ह्रीं ह्रीं ह्रीं जाप्यतुष्टे हिमरुचिमुकुटे वल्लकीव्यग्रहस्ते
मातर्मातर्नमस्ते दह दह जडतां देहि बुद्धिं प्रशस्ताम् ।
विद्ये वेदान्तवेद्ये परिणतपठिते मोक्षदे मुक्तिमार्गे
मार्गातीतस्वरूपे भव मम वरदा शारदे शुभ्रहारे ॥
ध्रीं ध्रीं ध्रीं धारणाख्ये धृतिमतिनतिभिर्नामभिः कीर्तनीये
नित्येऽनित्ये निमित्ते मुनिगणनमिते नूतने वै पुराणे ।
पुण्ये पुण्यप्रवाहे हरिहरनमिते नित्यशुद्धे सुवर्णे
मातर्मात्रार्धतत्त्वे मतिमतिमतिदे माधवप्रीतिमोदे॥
ह्रूं ह्रूं ह्रूं स्वस्वरूपे दह दह दुरितं पुस्तकव्यग्रहस्ते
संतुष्टाकारचित्ते स्मितमुखि सुभगे जृम्भिणि स्तम्भविद्ये ।
मोहे मुग्धप्रवाहे कुरु मम विमतिध्वान्तविध्वंसमीडे
गीर्गौर्वाग्भारति त्वं कविवररसनासिद्धिदे सिद्धिसाध्ये ॥
स्तौमि त्वां त्वां च वन्दे मम खलु रसनां नो कदाचित्त्यजेथा
मा मे बुद्धिर्विरुद्धा भवतु न च मनो देवि मे यातु पापम् ।
मा मे दुःखं कदाचित्क्वचिदपि विषयेऽप्यस्तु मे नाकुलत्वं
शास्त्रे वादे कवित्वे प्रसरतु मम धीर्माऽस्तु कुण्ठा कदापि ॥
इत्येतैः श्लोकमुख्यैः प्रतिदिनमुषसि स्तौति यो भक्तिनम्रो
वाणी वाचस्पतेरप्यविदितविभवो वाक्पटुर्मुष्टकण्ठः ।

स स्यादिष्टार्थलाभैः सुतमिव सततं पाति तं सा च देवी
सौभाग्यं तस्य लोके प्रभवति कविता विघ्नमस्तं प्रयाति ।।
निर्विघ्नं तस्य विद्या प्रभवति सततं चाश्रुतग्रन्थबोधः
कीर्तिस्त्रैलोक्यमध्ये निवसति वदने शारदा तस्य साक्षात् ।
दीर्घायुर्लोकपूज्यः सकलगुणनिधिः संततं राजमान्यो
वाग्देव्याः सम्प्रसादात् त्रिजगति विजयी जायते सत्सभासु।।
ब्रह्मचारी व्रती मौनी त्रयोदश्यां निरामिषः ।
सारस्वतो जनः पाठात् सकृदिष्टार्थलाभवान् ।।
पक्षद्वये त्रयोदश्यामेकविंशतिसंख्यया ।
अविच्छिन्नः पठेद्धीमान् ध्यात्वा देवीं सरस्वतीम् ।।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सुभगो लोकविश्रुतः ।
वाञ्छितं फलमाप्नोति लोकेऽस्मिन् नात्र संशयः ।।
ब्रह्मणेति स्वयं प्रोक्तं सरस्वत्याः स्तवं शुभम् ।
प्रयत्नेन पठेन्नित्यं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।

।। इति श्रीमद्ब्रह्मणा विरचितं सरस्वतीस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।।

नीलसरस्वतीस्तोत्रम्

।। श्रीगणेशाय नमः ।।

घोररूपे महारावे सर्वशत्रुभयंकरि ।
भक्तेभ्यो वरदे देवि त्राहि मां शरणागतम् ।। १ ।।
ॐ सुरासुरार्चिते देवि सिद्धगन्धर्वसेविते ।
जाड्यपापहरे देवि त्राहि मां शरणागतम् ।। २ ।।
जटाजूटसमायुक्ते लोलजिह्वान्तकारिणि ।
द्रुतबुद्धिकरे देवि त्राहि मां शरणागतम् ।। ३ ।।
सौम्यक्रोधधरे रूपे चण्डरूपे नमोऽस्तु ते ।
सृष्टिरूपे नमस्तुभ्यं त्राहि मां शरणागतम् ।। ४ ।।
जडानां जडतां हन्ति भक्तानां भक्तवत्सला । ५ ।।
मूढतां हर मे देवि त्राहि मां शरणागतम् ।।५।।
वं ह्रूं ह्रूं कामये देवि बलिहोमप्रिये नमः ।
उग्रतारे नमो नित्यं त्राहि मां शरणागतम् ।। ६ ।।
बुद्धिं देहि यशो देहि कवित्वं देहि देहि मे ।
मूढत्वं च हरेद् देवि त्राहि मां शरणागतम् ।। ७ ।।
इन्द्रादिविलसद्द्वन्द्ववन्दिते करुणामयि ।
तारे ताराधिनाथास्ये त्राहि मां शरणागतम् ।। ८ ।।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां नवम्यां यः पठेन्नरः ।
षण्मासैः सिद्धिमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ।। ९ ।।
मोक्षार्थी लभते मोक्षं धनार्थी लभते धनम् ।
विद्यार्थी लभते विद्यां तर्कव्याकरणादिकम् ।। १० ।।
इदं स्तोत्रं पठेद्यस्तु सततं श्रद्धयाऽन्वितः ।
तस्य शत्रुः क्षयं याति महाप्रज्ञा प्रजायते ।। ११ ।।
पीडायां वापि संग्रामे जाड्ये दाने तथा भये ।
य इदं पठति स्तोत्रं शुभं तस्य न संशयः ।। १२ ।।
इति प्रणम्य स्तुत्वा च योनिमुद्रां प्रदर्शयेत् ।। १३ ।।

।। इति नीलसरस्वतीस्तोत्रम् ।।

वीणाधरे विपुलमङ्गलदानशीले भक्तार्तिनाशिनि विरञ्चिहरीशवन्द्ये ।
कीर्तिप्रदेऽखिलमनोरथदे महार्हे विद्याप्रदायिनि सरस्वति नौमि नित्यम् ।।
श्वेताब्जपूर्णविमलासनसंस्थिते हे श्वेताम्बरावृतमनोहरमञ्जुगात्रे ।
उद्यन्मनोज्ञसितपङ्कजमञ्जुलास्ये विद्याप्रदायिनि सरस्वति नौमि नित्यम् ।।

वैदिक बाल-प्रार्थना

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद् भद्रं तन्न आसुव ॥ (यजु० ३०।३)

दिव्य-गुण-धारी जगके जनक, दुरित-दल सकल भगा दो दूर।
किंतु जो करे आत्म-कल्याण, उसीको भर दो प्रभु ! भरपूर ॥

ॐ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ (यजु० ४०।१६)

सुपथपर प्रभु ! हमको ले चलो, प्राप्त हो संतत ध्रुव कल्याण।
सकल कृतियाँ हैं तुमको विदित, पाप-दलको कर दो म्रियमाण ॥
पुण्यकी प्रभा चमकने लगे, पापका हो न लेश भी शेष।
भक्तिमें भरकर तुमको नमें, सहस्त्रों बार परम प्राणेश ॥

ॐ असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मामृतं गमय ॥ (शत० १४।३।१।३०)

असतसे सत, तमसे नव ज्योति, मृत्युसे अमृत तत्त्वकी ओर।
हमें प्रतिपल प्रभुवर ! ले चलो, दिखाओ अरुणा करुणा-कोर ॥

ॐ उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धियावया । नमो भरन्त एमसि ॥ (ऋ० १।१।७)

दिवसके प्रथम, रात्रिसे पूर्व, भक्तिसे स्वार्थ-त्यागके साथ।
आ रहे हैं प्रतिदिन ले भेंट, तुम्हारी चरण-शरणमें नाथ ॥

ॐ त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अधा ते सुम्नमीमहे ॥ (ऋ० ८।९८।११)

हमारे जनक, हमारी जननि तुम्हीं हो, हे सुरेन्द्र सुखधाम।
तुम्हारी स्तुतिमें रत करबद्ध, करें हम बाल विनीत प्रणाम ॥

ॐ मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः । मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥ (ऋ० १०।५७।१)

चलें हम कभी न सत्पथ छोड़, विभवयुत होकर तजें न त्याग।
हमारे अंदर रहें न शत्रु, सुकृतमें रहे हमारा भाग ॥

ॐ इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् । जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥ (ऋ० २।४१।१२)

सर्वदर्शक प्रभु खल-बल-दलन, विभव-सम्पन्न इन्द्र अधिराज।
दिशा-विदिशाओंमें सर्वत्र, हमें कर दो निर्भय निर्व्याज ॥

ॐ आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररभ्मा शवसस्पते । उश्मसि त्वा सधस्थ आ ॥ (ऋ० ८।४५।२०)

निखिल बल अधिपति ! मैंने आज, वृद्धकी आश्रय, लकुटि समान।
तुम्हारा अवलम्बन है लिया, शरणमें रक्खो, हे भगवान् ॥

ॐ सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा । मर्य इव स्व ओक्ये ॥ (ऋ० १।९१।१३)

मनुज अपने घरमें ज्यों रहें, चरें गौएँ ज्यों जौका खेत।
हृदयमें रम जाओ त्यों नाथ, बना लो अपना इसे निकेत ॥

ॐ यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् । भिनीमसि द्यविद्यवि ॥ (ऋ० १।२५।१)

वरुण ! हम अविवेकी दिन-रात किया करते हैं जो व्रत-भङ्ग।
समझकर अपनी संतति पिता ! उबारो हमें क्षमाके संग ॥

ॐ यद्वीळाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम् । वसु स्पार्हं तदा भर ॥ (ऋ० ८।४५।४१)

परम ऐश्वर्ययुक्त हे इन्द्र ! हमें दो ऐसा धन स्पृहणीय।
वीर दृढ़ स्थिर जन चिन्तनशील बना लेते हैं जिसे स्वकीय ॥

ॐ आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात् । अग्ने त्वांकामया गिरा ॥ (ऋ० ८।११।७)

उठ रही मेरी वाणी आज, पिता ! पानेको तेरा धाम।
अरे वह ऊँचा-ऊँचा धाम, जहाँ है जीवनका विश्राम ॥
तुम्हारे वत्सल रससे भीग, हृदयकी करुण कामना कान्त।
खोजने चली विवश हो तुम्हें, रहेगी कबतक भवमें भ्रान्त ॥
दूर-से-दूर भले तुम रहो, खींच लायेगी किंतु समीप।
विरत कबतक चातकसे जलद, स्वातिसे मुक्ता-भरिता सीप ? ॥



आदर्श वैदिक शिक्षा

१. **सत्यं वद**—सच बोलो ।

२. **धर्मं चर**—धर्मका पालन करो ।

३. **स्वाध्यायान्मा प्रमदः**—स्वाध्यायमें प्रमाद मत करो ।

४. **देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्**—देवता और पितरोंके कार्योंमें प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

५. **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव**—माताको देवता मानो, पिताको देवता मानो, आचार्यको देवता मानो, अतिथिको देवता मानो ।

६. **यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि**—जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्हींका सेवन करना चाहिये, दूसरोंका नहीं ।

७. **श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयादेयम्**—श्रद्धापूर्वक देना चाहिये, अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये ।

८. **ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।**—वहाँ जो विचारशील, कर्ममें नियुक्त, आयुक्त (स्वेच्छासे कर्मपरायण), अलूक्ष (सरलमति) एवं धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे उस प्रसंगमें जैसा व्यवहार करें वैसा ही तुम भी करो । इसी प्रकार जिनपर संशययुक्त दोष आरोपित किये गये हों, उनके विषयमें वहाँ जो विचारशील, नियुक्त अथवा आयुक्त (दूसरोंसे प्रेरित न होकर स्वतः कर्ममें परायण), सरलहृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे उनके प्रति जैसा व्यवहार करें तुम भी वैसा ही करो । यह आदेश है । यह उपदेश है । यह वेदका रहस्य है और ईश्वरकी आज्ञा है । इसी प्रकार तुम्हें उपासना करनी चाहिये, ऐसा ही आचरण करना चाहिये ।

९. **अन्नं न निन्द्यात् । तद् व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् ।**—अन्नकी निन्दा न करो । यह ब्रह्मयज्ञका व्रत है । प्राण ही अन्न है ।

१०. **न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद् व्रतम् ।**—अपने यहाँ रहनेके लिये आये हुए किसीका भी परित्याग न करो । यह व्रत है ।

११. **अक्षैर्मा दीव्यः**—जुआ मत खेलो ।

१२. **न परस्त्रियमुपेयात्**—पर-स्त्रीका सङ्ग नहीं करना चाहिये ।

१३. **मा हिंसीः पुरुषान् पशूंश्च**—मनुष्य और पशुओंको (मन-कर्म-वाणीसे) कष्ट मत दो ।

१४. **मा गामनागामदितिं वधिष्ट**—निरपराध उपकारी गायकी हिंसा मत करो ।

१५. **न मांसमश्नीयात्**—मांस नहीं खाना चाहिये ।

१६. **न सुरां पिबेत्**—मद्यपान मत करो ।

१७. **मा गृधः कस्य स्विद् धनम्**—पराये धनका लोभ मत करो ।

१८. **क्रतो स्मर । कृतँ स्मर । क्रतो स्मर । कृतँ स्मर ।**—यज्ञादि कर्मोंको याद करो । सामर्थ्यको स्मरण रखो । दूसरेके उपकारको याद रखो ।

१९. **इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम् । मायया शाशदानाम् ।**—इन्द्र ! जो पुरुष और स्त्री छल-कपटसे मानव-समाजका नाश करनेवाले हों तथा जो यातुधान निरपराध मनुष्योंको दुःख देते हों, उनका नाश करो ।

२०. **वृद्धसेवया विज्ञानम्**—वृद्धोंकी सेवासे दिव्य ज्ञान होता है ।

२१. **भूत्यै न प्रमदितव्यम्**—सम्पत्तिका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये ।

२२. **अस्तीत्येवोपलब्धव्यः**—'ईश्वर सदा सर्वत्र है' ऐसा सोचकर उसकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिये ।

२३. **स्त्रीणां भूषणं लज्जा**—स्त्रियोंकी शोभा लज्जा है ।

२४. **विप्राणां भूषणं वेदः**—ब्राह्मणोंका भूषण वेद है ।

२५. **सर्वस्य भूषणं धर्मः**—सबका भूषण धर्म है ।

२६. **सुखस्य मूलं धर्मः**—सुखका मूल धर्म है ।

२७. **ऋतस्य पथा प्रेत**—सत्यके पथपर चलो ।

२८. **असतो मा सद्गमय**—मुझे असत्से सत्की ओर ले चलो ।

२९. **तमसो मा ज्योतिर्गमय**—मुझे तमसे प्रकाशकी ओर ले चलो ।

३०. **मृत्योर्मामृतं गमय**—मुझे मृत्युसे अमरताकी ओर प्रवृत्त करो ।

३१. **त्यक्तेन भुञ्जीथाः**—त्यागपूर्वक भोग करो ।

३२. **नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च ।**
नमः सर्वसहाभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः ॥

—इस मन्त्रको बोलकर प्रतिदिन गौको नमस्कार करना चाहिये ।

३३. **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**—उठो, जागो और महापुरुषोंसे ज्ञान प्राप्त करो ।

३४. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः**—कार्य करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा रखे ।

३५. **ऋतून् न निन्द्यात्, तद् व्रतम्**—किसी भी ऋतुकी निन्दा न करे, यह व्रत है ।

३६. **विनयस्य मूलं विनयः**—विनयका मूल विनय धारण करना है ।

३७. **विद्यैव सर्वम्**—विद्या ही सब कुछ है ।

ऋग्वेदकी शिक्षाएँ

१-अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव । (१ । ९४ । ४)
परमेश्वर ! हम तेरे मित्रभावमें दुःखी और विनष्ट न हों ।

२-एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति । (१ । १६४ । ४६)
उस एक प्रभुको विद्वान् लोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं ।

३-एको विश्वस्य भुवनस्य राजा । (६ । ३६ । ४)
वह सब लोकोंका एकमात्र स्वामी है ।

४-यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति । (१ । १६४ । ३९)
जो उस ब्रह्मको नहीं जानता, वह वेदसे क्या करेगा ?

५-सं गच्छध्वं सं वदध्वम् । (१० । १९१ । २)
मिलकर चलो और मिलकर बोलो ।

६-शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः । (१० । १८ । २)
शुद्ध और पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवनवाले हो ।

७-सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुः । (४ । ३३ । ६)
नरों (पुरुषों) ने सत्यका ही प्रतिपादन किया है और वैसा ही आचरण किया है ।

८-न स सखा यो न ददाति सख्ये । (१० । ११७ । ४)
वह मित्र ही क्या, जो अपने मित्रको सहायता नहीं देता ?

९-सुगा ऋतस्य पन्थाः । (८ । ३१ । १३)
सत्यका मार्ग सुखसे गमन करने योग्य है ।

१०-ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः । (९ । ७३ । ६)
सत्यके मार्गको दुष्कर्मी पार नहीं कर पाते ।

११-स्वस्ति पन्थामनु चरेम । (५ । ५१ । १५)
हम कल्याण-मार्गके पथिक हों ।

१२-दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते । (१ । १२५ । ६)
दानी अमर-पद प्राप्त करते हैं ।

१३-देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम् । (१ । ८९ । २)
हम देवों (विद्वानों) की मैत्री करें ।

१४-समाना हृदयानि वः । (१० । १९१ । ४)
तुम्हारे हृदय (मन) एकसे हों ।

१५-विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् । (१ । ११४ । १)
इस ग्राममें सब नीरोग और हृष्ट-पुष्ट हों ।

१६-सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते । (१० । १७ । ७)
देवपदके अभिलाषी सरस्वतीका आह्वान करते हैं ।

१७-न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः । (४ । ३३ । ११)

बिना स्वयं परिश्रम किये देवोंकी मैत्री नहीं मिलती ।

१८-उप सर्प मातरं भूमिम् । (१०।१८।१०)

मातृभूमिकी सेवा करो ।

१९-न देवानामति व्रतं शतात्मा चन जीवति । (१०।३३।९)

देवताओंके नियमको तोड़कर कोई सौ वर्ष नहीं जी सकता ।

२०-सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् (९।७३।१)

धर्मात्माको सत्यकी नाव पार लगाती है ।

२१-यतेमहि स्वराज्ये । (५।६६।६)

हम स्वराज्यके लिये सदा यत्न करें ।

२२-अहमिन्द्रो न पराजिग्ये । (१०।४८।५)

मैं आत्मा हूँ, मुझे कोई हरा नहीं सकता ।

२३-भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि । (१।१२३।१३)

हे प्रभो ! हम लोगोंमें सुख और कल्याणमय उत्तम सङ्कल्प, ज्ञान और कर्मको धारण कराओ ।

२४-उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः । (१०।१०१।१)

हे एक विचार और एक प्रकारके ज्ञानसे युक्त मित्रजनो ! उठो, जागो ।

२५-इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति । (८।२।१८)

देवता यज्ञकर्ता, पुरुषार्थी तथा भक्तको चाहते हैं, आलसीसे प्रेम नहीं करते ।

यजुर्वेदकी शिक्षाएँ

१-भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम । (२५।२१)

हम कानोंसे सदा भद्र—मङ्गलकारी वचन ही सुनें ।

२-सऽओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु । (३२।८)

वह व्यापक प्रभु सब प्रजाओंमें ओतप्रोत है ।

३-शं नः कुरु प्रजाभ्यः । (३६।२२)

प्रभो ! हमारी संतानका कल्याण करो ।

४-मा गृधः कस्य स्विद् धनम् । (४०।१)

किसीके धनपर न ललचाओ ।

५-मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । (३६।१८)

हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें ।

६-वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः । (९।२३)

हम अपने देशमें सावधान होकर पुरोहित (नेता), अगुआ बनें ।

७-तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा । (३१।१९)

उस परमात्मामें ही सम्पूर्ण लोक स्थित हैं ।

८-अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्याः । (२।१०)

हमारी कामनाएँ सच्ची हों ।

९-अहमनृतात् सत्यमुपैमि । (१।५)

मैं झूठसे बचकर सत्यको धारण करता हूँ ।

१०-यशः श्रीः श्रयतां मयि । (३९।४)

यश और ऐश्वर्य मुझमें हों ।

११-सुसस्याः कृषीस्कृधि । (४।१०)

अच्छे सस्यसे युक्त खेती कर ।

१२-तमेव विदित्वाति मृत्युमेति । (३१।१८)

उस ब्रह्म (प्रभु) को जानकर ही मनुष्य मृत्युको लाँघ जाता है ।

१३-भूत्यै जागरणम् । अभूत्यै स्वपनम् । (३०।१७)

जागना (ज्ञान) ऐश्वर्यप्रद है । सोना (आलस्य) दरिद्रिताका मूल है ।

१४-कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । (४०।२)

मनुष्य इस संसारमें कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे ।

१५-ऋतस्य पथा प्रेत । (७।४५)

सत्यके मार्गपर चलो ।

१६-अदीनाः स्याम शरदः शतम् । (३६।२४)

हम सौ वर्षोंतक दीनतारहित होकर जीयें ।

१७-पश्येम शरदः शतम्। (३६।२४)

हम सौ वर्षोंतक देखते रहें।

१८-तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु। (६४।१)

मेरा मन उत्तम सङ्कल्पोंवाला हो।

१९-अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः। (१९।७७)

प्रभुने झूठमें अश्रद्धाको और सत्यमें श्रद्धाको रखा है।



अथर्ववेदकी शिक्षाएँ

१-तस्य ते भक्तिवांसः स्याम। (६।७९।३)

हे प्रभो! हम तेरे भक्त हों।

२-स एष एक एकवृदेक एव। (१३।५।७)

वह ईश्वर एक और सचमुच एक ही है।

३-एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। (२।२।१)

एक परमेश्वर ही पूजाके योग्य और प्रजाओंमें स्तुत्य है।

४-स नो मुञ्चत्वंहसः। (४।२३।१)

वह ईश्वर हमें पापसे मुक्त करे।

५-तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः। (१०।८।४४)

उस आत्माको ही जान लेनेपर मनुष्य मृत्युसे नहीं डरता।

६-य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः। (९।१०।१)

जो उस ब्रह्मको जान लेते हैं, वे मोक्षपद पाते हैं।

७-सं श्रुतेन गमेमहि। (१।१।४)

हम वेदोपदेशसे युक्त हों।

८-रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्। (७।११५।४)

पुण्यकी कमाई मेरे घरकी शोभा बढ़ाये, पापकी कमाईको मैंने नष्ट कर दिया है।

९-प्रियं मा कृणु देवेषु। (१९।६२।१)

हे परमात्मा! मुझे ब्रह्मज्ञानी विद्वानोंमें प्यारा बनाओ।

१०-मा जीवेभ्यः प्रमदः। (८।१।७)

प्राणियोंकी ओरसे असावधान मत हो।

११-अयज्ञियो हतवर्चा भवति। (१२।२।३७)

यज्ञहीनका तेज नष्ट हो जाता है।

१२-सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। (१९।१५।६)

सभी दिशाएँ हमारे लिये हितकारिणी हों।

१३-वयं देवानां सुमतौ स्याम। (६।४७।२)

हम विद्वान् पुरुषोंकी शुभमतिमें (उत्तम उपदेशोंके अनुसार) रहें।

१४-वयं सर्वेषु यशसः स्याम। (६।५८।२)

हम समस्त जीवोंमें यशस्वी हों।

१५-आ रोह तमसो ज्योतिः। (८।१।८)

अन्धकार (अविद्या) से निकलकर (ऊपर उठकर) प्रकाश (ज्ञान) की ओर बढ़ो।

१६-यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। (९।१०।१४)

यज्ञ ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको बाँधनेवाला नाभिस्थान है।

१७-उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (८।१।६)

पुरुष (मर्द)! तेरे लिये ऊपर उठना है, न कि नीचे गिरना।

१८-मा नो द्विक्षत कश्चन। (१२।१।२४)

हमसे कोई भी द्वेष करनेवाला न हो।

१९-सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया। (३।३०।३)

समान गति, समान कर्म, समान ज्ञान और समान नियमवाले बनकर परस्पर कल्याणी वाणीसे बोलो।

२०-मा मा प्रापत पाप्मा मोत मृत्युः। (१७।१।२९)

मुझे पाप और मौत न व्यापे।

२१-अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। (६।७८।२)

मनुष्य दुग्धादि पदार्थोंसे बढ़ें और राज्यसे बढ़ें।

२२-अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः। (५।३।५)

हम शरीरसे नीरोग हों और उत्तम वीर बनें।

२३-आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। (५।३०।७)

उन्नत होना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीवका लक्ष्य है।

२४-ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत । (११ । ७ । १९)

ब्रह्मचर्यरूपी तपोबलसे ही विद्वान् लोगोंने मृत्युको जीता है ।

२५-कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः । (७ । ५२ । ८)

मेरे दाहिने हाथमें कर्म—पुरुषार्थ है और सफलता बायें हाथमें रखी हुई है ।

२६-मधुमतीं वाचमुदेयम् । (१६ । २ । २)

मैं मीठी वाणी बोलूँ ।

२७-माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः । (१२ । १ । १२)

भूमि मेरी माता है और मैं उस मातृभूमिका पुत्र हूँ ।

२८-सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम । (६ । ११७ । ३)

हमलोग ऋणरहित होकर परलोकके सभी मार्गोंपर चलें ।

२९-वाचा वदामि मधुमद् । (१ । ३४ । ३)

मैं वाणीसे माधुर्ययुक्त ही बोलता हूँ ।

३०-ज्योगेव दृशेम सूर्यम् । (१ । ३१ । ४)

हम सूर्यको बहुत कालतक देखते रहें ।

३१-मा पुरा जरसो मृथाः । (५ । ३० । १७)

हे मनुष्य ! तू बुढ़ापेसे पहले मत मर ।

३२-शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । (३ । २४ । ५)

सैंकड़ों हाथोंसे इकट्ठा करो और हजारों हाथोंसे बाँटो ।

३३-परैतु मृत्युरमृतं न एतु । (१८ । ३ । ६२)

मृत्यु हमसे दूर हो और अमृत-पद हमें प्राप्त हो ।

३४-सर्वमेव शमस्तु नः । (१९ । ९ । १४)

हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो ।

३५-ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति । (५ । १ । ७)

ब्रह्मचर्यरूप तपके द्वारा राजा राष्ट्रका संरक्षण करता है ।

३६-शं मे अस्त्वभयं मेऽस्तु । (१९ । ९ । १३)

मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और किसी प्रकारका भय न हो ।

३७-शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् । (६ । ७१ । ३)

मेरे लिये अन्न कल्याणकारी और स्वादिष्ट हो ।



उपनिषदोंकी शिक्षाएँ

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

(केन० २ । ५)

इस जीवनमें यदि परब्रह्मको जान लिया, तब तो कुशल है, नहीं तो महान् विनाश है । बुद्धिमान् पुरुष प्रत्येक प्राणीमें परब्रह्मको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमरत्वको प्राप्त हो जाते हैं ।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

(कठ० १ । २ । २४)

जिस मनुष्यने बुरे आचरणोंका त्याग नहीं कर दिया है, जिसका मन शान्त नहीं है, जिसका चित्त एकाग्र नहीं है तथा जिसने मन-बुद्धिको वशमें नहीं कर लिया है, उसे प्रज्ञान—सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

(कठ० २ । ३ । १४)

जब इसके हृदयमें स्थित सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मानव अमर हो जाता है और यहीं ब्रह्मका अनुभव करता है ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(मुण्डक० २ । २ । ८)

कार्य-कारणरूप परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर हृदयकी अविद्यारूप ग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय-संदेह कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

वाल्मीकीय रामायणकी शिक्षाएँ

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च ।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत् ॥

(अयोध्या० १०९ । १३-१४)

जगत्में सत्य ही ईश्वर है, सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है । सत्य ही सबकी जड़ है । सत्यसे बढ़कर दूसरी कोई उत्तम गति नहीं है । दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आश्रय सत्य है, इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये ।

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः ।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥

(किष्किन्धा० ६४ । ९)

मनको विषादग्रस्त नहीं बनाना चाहिये, विषादमें बहुत बड़ा दोष है । जैसे क्रोधमें भरा हुआ साँप बालकको काट खाता है, वैसे ही विषाद पुरुषका नाश कर डालता है ।

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः ।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति ॥

(लङ्का० २ । ६)

जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहता है, उसके सब काम बिगड़ जाते हैं और वह बहुत बड़ी विपत्तिमें पड़ जाता है ।

महाभारतकी शिक्षाएँ

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
ते सेव्यास्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी ॥

(वन० १ । २७)

जिनके विद्या, कुल और कर्म—ये तीनों शुद्ध हों, उन साधु पुरुषोंकी सेवामें रहे । उनके साथ बैठना-उठना शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी श्रेष्ठ है ।

असतां दर्शनात् स्पर्शात् सञ्जल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः ॥

(वन० १ । २९)

दुष्ट मनुष्योंके दर्शनसे, स्पर्शसे, उनके साथ वार्तालाप करनेसे तथा एक आसनपर बैठनेसे धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य किसी कार्यमें सफल नहीं हो पाते ।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

(वन० ३१३ । १२८)

धर्म ही आहत (परित्यक्त) होनेपर मनुष्यको मारता है और वही रक्षित (पालित) होनेपर रक्षा करता है, अतः मैं धर्मका त्याग नहीं करता—इस भयसे कि कहीं मारा (त्याग किया) हुआ धर्म हमारा ही वध न कर डाले ।

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
धर्मेण देवता ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः ॥

धर्मके द्वारा ऋषिगण इस भवसागरसे पार हो गये । सम्पूर्ण लोक धर्मके आधारपर ही टिके हुए हैं, धर्मसे ही देवता बढ़े हैं और धन भी धर्मके ही आश्रित है ।



शिक्षाके आदिप्रवर्तक श्रीदक्षिणामूर्ति भगवान् सदाशिव

श्रीमद्भागवतकी शिक्षाएँ

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

(२।३।१०)

जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, या जो सब कुछ पानेकी कामनावाला है अथवा जो उदारबुद्धि पुरुष केवल मोक्षकी ही कामना रखता है, सबको तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष भगवान् श्रीहरिकी ही आराधना करनी चाहिये ।

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥

(३।२९।२३)

जो अभिमानी और भेददर्शी है, जिसने सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति वैर बाँध रखा है, अतएव जो दूसरेके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष रखता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिलती ।

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहु मानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥

(३।२९।३४)

इन सब भूतप्राणियोंमें सर्वेश्वर भगवान्ने ही अपने अंशभूत जीवके रूपमें प्रवेश किया है—यों मानकर सब प्राणियोंको अत्यन्त आदर देते हुए सबको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये ।

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः ।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत् ॥

(७।७।३२)

समस्त भूत-प्राणियोंमें सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं, यों अपने मनमें समझते हुए उन सबको इच्छानुसार वस्तुएँ देकर भलीभाँति सम्मानित करना चाहिये ।

श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया ।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥१॥

जो अपने हृदयस्थित दर्पणमें दृश्यमान नगरी-सदृश विश्वको निद्राद्वारा स्वप्नकी भाँति मायाद्वारा बाहर प्रकट हुएकी तरह आत्मामें देखते हुए ज्ञान होनेपर अथवा निद्रा-भंग होनेपर अपने अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार करते हैं, उन श्रीगुरुस्वरूप श्रीदक्षिणामूर्तिको यह मेरा नमस्कार है ।

बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पं शनै-
र्मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम् ।
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥२॥

जिन्होंने महायोगीकी तरह अपनी इच्छासे सृष्टिके पूर्व निर्विकल्परूपसे स्थित इस जगत्को बीजके भीतर स्थित अङ्कुरकी भाँति मायाद्वारा कल्पित देश, काल और धारणाकी विचित्रतासे चित्रित किया है तथा मायावी-सदृश जँभाई लेते हुए-से दीखते हैं, उन श्रीगुरुस्वरूप श्रीदक्षिणामूर्तिको यह मेरा नमस्कार है ।

यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थकं भासते
साक्षात् तत्त्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान् ।
यत्साक्षात्करणाद्भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ३ ॥

जिसका सदात्मक स्फुरण ही असत्-तुल्य भासित होता है, जो अपने आश्रितोंको **'साक्षात् तत्त्वमसि'** अर्थात् 'तुम साक्षात् वही ब्रह्म हो' इस वेद-वाक्यद्वारा ज्ञान प्रदान करते हैं तथा जिनका साक्षात्कार करनेसे पुनः भवसागरमें

आवागमन नहीं होता, उन श्रीगुरुस्वरूप श्रीदक्षिणामूर्तिको यह मेरा नमस्कार है ।

नानाछिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्पन्दते ।
जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तं जगत्
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥४॥

अनेक छिद्रोंवाले घटके भीतर स्थित विशाल दीपककी उज्ज्वल प्रभाके समान ज्ञान जिनके नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा बाहर प्रसरित होता है तथा जैसा मैं समझता हूँ कि उसीके प्रकाशित होनेपर यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, उन श्रीगुरुस्वरूप श्रीदक्षिणामूर्तिको यह मेरा नमस्कार है ।

देहं प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलां बुद्धिं च शून्यं विदुः
स्त्रीबालान्धजडोपमास्त्वहमिति भ्रान्ता भृशं वादिनः ।
मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥५॥

भ्रमित हुए बहुवादी-शून्यवादी बौद्ध आदि देह, प्राण, इन्द्रियोंको तथा तीव्र बुद्धिको भी स्त्री, बालक, अंध और जडकी तरह शून्य मानते हैं तथा 'अहं'को ही प्रधानता देते हैं, ऐसे माया-शक्तिके विलाससे कल्पित महामोहका संहार करनेवाले उन गुरुस्वरूप श्रीदक्षिणामूर्तिको यह मेरा नमस्कार है ।

राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात्
सन्मात्रः करणोपसंहरणतो योऽभूत् सुषुप्तः पुमान् ।
प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥६॥

जो पुरुष राहुद्वारा ग्रस्त सूर्य-चन्द्रके समान मायाद्वारा समाच्छादित होनेके कारण सन्मात्रका इन्द्रियोंद्वारा उपसंहार करके सो गया था, उसे निद्रामें लीन होनेपर अथवा जागनेके पश्चात् जो प्रत्यभिज्ञातुल्य भासित होता है, उन श्रीगुरुस्वरूप श्रीदक्षिणामूर्तिको यह मेरा नमस्कार है ।

बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तः स्फुरन्तं सदा ।
स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥७॥

जो अपने भक्तोंके समक्ष भद्रा मुद्राद्वारा बाल, युवा, वृद्ध, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा सभी व्यावर्तित अवस्थाओंमें भी अनुवर्तमान एवं सदा 'अहं' रूपसे अन्तःकरणमें स्फुरमाण स्वात्माको प्रकट करते हैं, उन श्रीगुरुस्वरूप श्रीदक्षिणामूर्तिको यह मेरा नमस्कार है ।

विश्वं पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः
शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः ।
स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामित-
स्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥८॥

जिनकी मायाद्वारा परिभ्रामित हुआ यह पुरुष स्वप्न अथवा जाग्रत्-अवस्थामें विश्वको कार्य-कारण, स्वामी-सेवक, शिष्य-आचार्य तथा पिता-पुत्रके भेदसे देखता है, उन श्रीगुरुस्वरूप श्रीदक्षिणामूर्तिको यह मेरा नमस्कार है ।

भूरम्भांस्यनलोऽनिलोऽम्बरमहर्नाथो हिमांशुः पुमा-
नित्याभाति चराचरात्मकमिदं यस्यैव मूर्त्यष्टकम् ।
नान्यत्किञ्चन विद्यते विमृशतां यस्मात् परस्माद्विभो-
स्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥९॥

जिनकी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, पुरुष—ये आठ मूर्तियाँ ही इस चराचर जगत्के रूपमें प्रकाशित हो रही हैं तथा विचारशीलोंके लिये जिन परात्पर विभुके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, उन श्रीगुरुस्वरूप श्रीदक्षिणामूर्तिको यह मेरा नमस्कार है ।

सर्वात्मत्वमिति स्फुटीकृतमिदं यस्मादमुष्मिन् स्तवे
तेनास्य श्रवणात्तदर्थमननाद्ध्यानाच्च संकीर्तनात् ।
सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं स्यादीश्वरत्वं स्वतः
सिध्येत्तत्पुनरष्टधा परिणतं चैश्वर्यमव्याहतम् ॥१०॥

चूँकि इस स्तोत्रमें यह स्पष्ट किया गया है कि यह चराचर जगत् सर्वात्म-स्वरूप है, इसलिये इसका श्रवण, इसके अर्थका मनन, ध्यान और संकीर्तन करनेसे स्वतः सर्वात्मत्वरूप महाविभूतिसहित ईश्वरत्वकी प्राप्ति होती है, पुनः आठ रूपमें परिणत हुआ स्वच्छन्द ऐश्वर्य भी सिद्ध हो जाता है ।

वटविटपिसमीपे भूमिभागे निषण्णं
सकलमुनिजनानां ज्ञानदातारमारात् ।

त्रिभुवनगुरुमीशं दक्षिणामूर्तिदेवं
जननमरणदुःखच्छेददक्षं नमामि ॥११॥

जो वटवृक्षके समीप भूमिभागपर स्थित हैं, निकट बैठे हुए समस्त मुनिजनोंको ज्ञान प्रदान कर रहे हैं, जन्म-मरणके दुःखका विनाश करनेमें प्रवीण हैं, त्रिभुवनके गुरु और ईश हैं, उन भगवान् दक्षिणामूर्तिको मैं नमस्कार करता हूँ।

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ॥१२॥

आश्चर्य तो यह है कि उस वटवृक्षके नीचे सभी शिष्य वृद्ध हैं और गुरु युवा हैं। साथ ही गुरुका व्याख्यान भी मौन भाषामें है, किंतु उसीसे शिष्योंके संशय नष्ट हो गये हैं।

गुर्वष्टकम्

श्रीसद्गुरवे नमः

शरीरं सुरूपं तथा वा कलत्रं यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥१॥
कलत्रं धनं पुत्रपौत्रादि सर्वं गृहं बान्धवाः सर्वमेतद्धि जातम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥२॥
षडङ्गादिवेदो मुखे शास्त्रविद्या कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥३॥
विदेशेषु मान्यः स्वदेशेषु धन्यः सदाचारवृत्तेषु भक्तो न चान्यः।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥४॥
क्षमामण्डले भूपभूपालवृन्दैः सदा सेवितं यस्य पादारविन्दम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥५॥
यशो मे गतं दिक्षु दानप्रतापाज्जगद्वस्तु सर्वं करे मत्प्रसादात्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥६॥
न भोगे न योगे न वा वाजिराजौ न कान्तामुखे नैव वित्तेषु चित्तम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥७॥
अरण्ये न वा स्वस्य गेहे न कार्ये न देहे मनो वर्तते मे त्वनर्घ्ये।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥८॥
अनर्घ्याणि रत्नानि भुक्तानि सम्यक् समालिङ्गिता कामिनी यामिनीषु।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥९॥
गुरोरष्टकं यः पठेत् पुण्यदेही यतिर्भूपतिर्ब्रह्मचारी च गेही।
लभेद्वाञ्छितार्थं पदं ब्रह्मसंज्ञं गुरोरुक्तवाक्ये मनो यस्य लग्नम् ॥१०॥

॥ इति श्रीमच्छंकराचार्यकृतं गुर्वष्टकं सम्पूर्णम् ॥

श्रीसद्गुरुको नमस्कार है। आचार्य शंकर कहते हैं कि यदि शरीर सुन्दर, स्त्री भी सुन्दरी, अद्भुत विशद यश और सुमेरुपर्वतके समान विपुल धन प्राप्त है, पर मन श्रीसद्गुरुके चरणकमलमें नहीं लगा तो उससे

क्या लाभ ? जिसे स्त्री, धन, पुत्र-पौत्र आदि सारा कुटुम्ब, गृह, बान्धव—ये सब भले ही प्राप्त हो गये, जिसके मुखमें छहों अङ्गोंसहित वेद तथा छहों शास्त्रोंकी विद्या विद्यमान है और जो सुन्दर गद्य-पद्यवाली कविता भी करता है, जिसका विदेशोंमें भारी सम्मान है, स्वदेशमें भी जो धन्य माना जाता है तथा जिसके समान दूसरा कोई सदाचारी भक्त नहीं है, भूमण्डलके सभी राजसमूहोंद्वारा जिसका चरणकमल सदा सेवित है, दानके प्रतापसे दिशाओंमें यश व्याप्त है, सारी वस्तुएँ करतलगत हैं, चित्त न भोगमें लगता है न योगमें, न धनमें आसक्त होता है, उसका मन यदि श्रीसद्गुरुके चरणोंमें नहीं लगा तो उससे क्या लाभ ? यद्यपि मेरा मन न वनमें न अपने घरमें, न कार्यमें और न बहुमूल्य शरीरमें ही लगता है, फिर भी यदि वह श्रीसद्गुरुके चरणकमलमें न लगा तो उससे क्या लाभ ? जिसका मन गुरुके उपर्युक्त वाक्यमें लगा हुआ है, ऐसा जो पवित्रकाय संन्यासी, राजा, ब्रह्मचारी और गृहस्थ इस गुर्वष्टक स्तोत्रका पाठ करेगा, उसे अभीप्सित ब्रह्मनामक पदकी प्राप्ति होगी ॥

॥ इस प्रकार श्रीमच्छंकराचार्यविरचित गुर्वष्टक सम्पूर्ण हुआ ॥

बालक श्रीरामका स्तवन

मातुः पार्श्वे चरन्तं मणिमयशयने मञ्जुभूषाञ्चिताङ्गं
मन्दं मन्दं पिबन्तं मुकुलितनयनं स्तन्यमन्यस्तनाग्रम् ।
अङ्गुल्यग्रैः स्पृशन्तं सुखपरवशया सस्मितालिङ्गिताङ्गं
गाढं गाढं जनन्या कलयतु हृदयं मामकं रामबालम् ।।

मेरा हृदय बालकरूपमें श्रीरामकी झाँकी करे । वे मणिमयी शय्यापर माताके पास इधर-उधर सरक रहे हैं, उनका प्रत्येक अङ्ग सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित है, वे अधखुले नेत्रोंसे देखते हुए माताके एक स्तनका दूध धीरे-धीरे पी रहे हैं और दूसरे स्तनके अग्रभागका अँगुलियोंसे स्पर्श कर रहे हैं, माता कौसल्या आनन्द-विभोर होकर मन्द-मन्द मुसकराती हुई अपने लाड़ले लालको खूब कसकर छातीसे चिपका लेती हैं ।

शुद्धान्ते मातृमध्ये दशरथपुरतः संचरन्तं परं तं
काञ्चीदामानुविद्धप्रतिमणिविलसत्किङ्किणीनिक्वणाङ्गम्।
फाले मुक्तालालामं पदयुगनिनदन्नूपुरं चारुहासं
बालं रामं भजेऽहं प्रणतजनमनःखेदविच्छेददक्षम् ।।

जो अन्तःपुरमें राजा दशरथके आगे माताओंके बीच इधर-उधर संचरण कर रहे हैं, करधनीकी लड़ीमें पिरोयी हुई रत्नजटित क्षुद्रघण्टिकाओंके रवसे जिनका प्रत्येक अङ्ग झङ्कृत हो रहा है, जिनके वस्त्रके छोरमें बहुमूल्य मोती टँके हैं, जिनके दोनों चरणोंमें नूपुर निनादित हैं, जो अपनी सुन्दर हँसीसे शरणागत भक्तोंके हार्दिक क्लेशका विनाश करनेमें कुशल हैं, उन बालरूपधारी परमपुरुष श्रीरामजीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ।

ललाटदेशोज्ज्वलबालभूषणं
सताण्डवं व्याघ्रनखाङ्कन्धरम् ।
दिगम्बरं शोभितबर्बरालकं
श्रीबालरामं शिरसा नमामि ।।

जिन्होंने ललाटमें परम उज्ज्वल बालोचित आभूषण पहन रखे हैं, गलेमें बघनखा धारण किया है, जिनके सिरपर कुटिल अलकावली सुशोभित है, जो नंग-धड़ंग शरीरसे नाच-कूद रहे हैं, उन बालरूपधारी श्रीरामको मैं सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ ।

बालक श्रीकृष्णका स्तवन

अत्यन्तबालमतसीकुसुमप्रकाशं
दिग्वाससं कनकभूषणभूषिताङ्गम् ।
विस्रस्तकेशमरुणाधरमायताक्षं
कृष्णं नमामि शिरसा वसुदेवसूनुम् ।।

भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त छोटे नंग-धड़ंग बालकके रूपमें हैं । अलसीके फूल-जैसी उनके शरीरकी आभा है । उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सोनेके आभूषणोंसे विभूषित हैं, बाल बिखरे हुए हैं, लाल-लाल ओठ हैं, बड़ी-बड़ी आँखें हैं । उन वसुदेवनन्दनको मैं मस्तक नवाकर प्रणाम करता हूँ ।

हस्ताङ्घ्रिनिक्वणितकङ्कणकिङ्किणीकं
मध्येनितम्बमवलम्बितहेमसूत्रम् ।
मुक्ताकलापमुकुलीकृतकाकपक्षं
वन्दामहे व्रजचरं वसुदेवभाग्यम् ।।

उनके हाथोंमें कंगन और चरणोंमें नूपुर खन-खन कर रहे हैं । नितम्बभागमें सोनेकी करधनी सुशोभित है । सिरके बालोंमें मोतीकी लड़ियाँ गुँथी हुई हैं । श्रीकृष्ण क्या हैं—मानो वसुदेवका भाग्य ही मूर्तिमान् होकर व्रजमें क्रीडा कर रहा है । उन व्रजविहारीकी मैं वन्दना करता हूँ ।

सव्ये पायसभक्तमाहितरसं बिभ्रन् मुदा दक्षिणे
पाणौ शारदचन्द्रमण्डलनिभं हैयङ्गवीनं वहन् ।
कण्ठे कल्पितपुण्डरीकनखमप्युद्दामदीप्तं दधद्
देवो दिव्यदिगम्बरो दिशतु नः सौख्यं यशोदाशिशुः ।।

उन्होंने बायें हाथमें उल्लासपूर्वक परम मधुर दूधमें उबाले हुए भातका कौर ले रखा है और दाहिने हाथमें शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमण्डलके समान गोल-गोल ताजे मक्खनका लौंदा रख छोड़ा है । गलेमें चम-चम करता हुआ सोनेसे मँढा बघनखा धारण किये हुए हैं । वे यशोदाके दिव्य शिशु दिगम्बर भगवान् श्रीकृष्ण हमें आनन्दित करें ।

शिक्षासूक्ति-सुधा-सार

पापानां वाशुभानां वा वधार्हाणामथापि वा ।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ।।
लोकहिंसाविहाराणां क्रूराणां पापकर्मणाम् ।
कुर्वतामपि पापानि नैव कार्यमशोभनम् ।।

(वा० रा०, यु० का० ११५।४३-४४)

आर्य (श्रेष्ठ) पुरुषको चाहिये कि वह पापियोंपर, दुष्टोंपर अथवा जो मार डालने योग्य हैं—ऐसे लोगोंपर भी दया ही करे; क्योंकि अपराध किससे नहीं बनते ? जो लोगोंकी हिंसा करनेमें ही प्रसन्नताका अनुभव करते हैं, जो अत्यन्त निर्दय एवं पापाचारी हैं तथा जो अभी-अभी पाप करनेमें लगे हैं—ऐसे लोगोंका भी अनिष्ट न करे ।

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ।।

(श्रीमद्भा० ७।९।४५)

स्त्री-सम्भोगादि जो गृहस्थके सुख हैं, वे अत्यन्त तुच्छ ही नहीं, अपितु हाथोंको परस्पर खुजलानेके समान परिणाममें अत्यन्त दुःखरूप हैं, परंतु बहुत दुःख पानेपर भी अज्ञानी जीव इन विषय-सुखोंसे अघाते नहीं । कोई विवेकी पुरुष ही खुजलाहटकी भाँति कामादिके वेगको भी सह लेता है ।

अहर्निशं श्रुतेर्जाप्याच्छौचाचारनिषेवणात् ।
अद्रोहवत्या बुद्ध्या च पूर्वं जन्म स्मरेद् बुधः ।।

(स्क० पु०, का० ख० ३८।८९)

रात-दिन वेदोंका पाठ करनेसे, बाहर-भीतरकी पवित्रता

और सदाचारके सेवनसे तथा द्रोहशून्य बुद्धिसे बुद्धिमान् मनुष्य पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण कर सकता है ।

दयालुरमदस्पर्श उपकारी जितेन्द्रियः ।
एतैश्च पुण्यस्तम्भैश्च चतुर्भिर्धार्यते मही ॥

(शि० पु०, कोटिरु० सं० २४ । २६)

दयालु मनुष्य, अभिमानशून्य व्यक्ति, परोपकारी और जितेन्द्रिय—ये चार ऐसे पवित्र खम्भे हैं, जो पृथ्वीको थामे हुए हैं ।

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥

(बृहन्ना० पु० ६० । ४३)

विद्याके समान दूसरा नेत्र नहीं है, सत्यके समान कोई तप नहीं है, रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है ।

धर्मः कामदुघा धेनुः संतोषो नन्दनं वनम् ।
विद्या मोक्षकरी प्रोक्ता तृष्णा वैतरणी नदी ॥

(बृहन्ना० पु० २७ । ७२, चाणक्यनीति ८ । १३)

धर्म ही कामधेनुके समान सारी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाला है, संतोष ही स्वर्गका नन्दन-कानन है, विद्या (ज्ञान) ही मोक्षकी जननी है और तृष्णा वैतरणी नदीके समान नरकमें ले जानेवाली है ।

अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः ।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम् ॥

(वायुपु० ५७ । ११७)

किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करना, लोभसे दूर रहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, प्राणिमात्रके प्रति दयाका भाव रखना, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, सच बोलना, दुखियोंसे सहानुभूति रखना, अपराधीको क्षमा कर देना और कष्ट पड़नेपर धैर्य धारण करना—सनातनधर्मकी जड़ यही है, जो अन्यत्र दुर्लभ है ।

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

(अग्नि० ४३ । २३)

अच्युत, अनन्त एवं गोविन्द—इन नामोंका उच्चारण ही एक ऐसी दवा है, जिससे सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं । मैं दावेके साथ यह कह रहा हूँ ।

यत् क्रोधनो यजति यच्च ददाति नित्यं
यद् वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य ।
प्राप्नोति नैव किमपीह फलं हि लोके
मोघं फलं भवति तस्य हि कोपनस्य ॥

(वामनपु० ४३ । ८९)

क्रोधी मनुष्य जो कुछ भी यजन-पूजन करता है, जो कुछ नित्यप्रति दान करता है, जो कुछ तपश्चर्या करता है और जो कुछ भी हवन करता है, उसका इस लोकमें उसे कोई फल नहीं मिलता, उस क्रोधीका सब कुछ किया-कराया व्यर्थ होता है ।

वरं प्राणास्त्याज्या न बत परहिंसा त्वभिमता
वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतम् ।
वरं क्लीबैर्भाव्यं न च परकलत्राभिगमनं
वरं भिक्षार्थित्वं न च परधनानां हि हरणम् ॥

(वामनपु० ५९ । २९)

स्वयं मर जाना अच्छा है, किंतु किसी दूसरे जीवकी हिंसा कदापि मान्य नहीं होनी चाहिये । चुप हो रहना अच्छा है, पर झूठ बोलना किसी भी दशामें ठीक नहीं । नपुंसक होकर रहना अच्छा है , किंतु परस्त्रीगमन कदापि वाञ्छनीय नहीं । इसी प्रकार भीख माँगकर जीवन बिताना दूसरेके धनको हड़पनेकी अपेक्षा कहीं उत्तम है ।

नाश्चर्यं यन्न पश्यन्ति चत्वारोऽमी सदैव हि ।
न पश्यतीह जात्यन्धो रागान्धोऽपि न पश्यति ।
न पश्यति मदोन्मत्तो लोभाक्रान्तो न पश्यति ॥

नीचे लिखे चार व्यक्ति सदा ही अन्धे बने रहते हैं—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । जैसे जन्मके अंधेको नहीं सूझता, उसी प्रकार रागान्ध व्यक्ति भी देख नहीं पाता । इसी प्रकार घमंडमें चूर व्यक्ति भी अंधा होता है और लोभी मनुष्यको भी आँखसे नहीं सूझता ।

भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां
सुतदुहितृकलत्रत्राणभारार्दितानाम् ।

विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां
भवति शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम्॥
(वामनपु० ९४।२९)

जो मनुष्य संसाररूपी समुद्रमें पड़कर सुख-दुःख, हर्ष-शोक, गर्मी-सर्दी आदि पवनके झकोरोंसे पीड़ित रहते हैं, लड़के, लड़की, पत्नी आदिकी रक्षाके बोझसे दबे रहकर तथा तैरनेका कोई साधन न पाकर विषयरूपी अगाध जलमें डूबते-उतराते हैं, ऐसे लोगोंकी भगवान् विष्णु ही नौका बनकर रक्षा करते हैं।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यस्य ते हितमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्॥
(महा० उद्यो० ३५।४४)

देवतालोग चरवाहेकी भाँति डंडा लेकर हमारी रक्षा थोड़े करते हैं। वे तो जिसका भला करना चाहते हैं, उसे उत्तम बुद्धि (समझ) दे देते हैं।

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित्।
कालस्य बलमेतावद् विपरीतार्थदर्शनम्॥
(महा० स० ८१।११)

कालभगवान् डंडा उठाकर किसीका सिर थोड़े ही तोड़ देते हैं। कालका बल तो इसीमें है कि वह वस्तुके स्वरूपको विपरीत करके दिखा देता है (और यही उसके विनाशका कारण होता है)।

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत्।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥
(महा० वनपर्व० १३१।११)

सत्यविक्रम! जो धर्म किसी दूसरे धर्मका विरोधी होता है, वह धर्म नहीं, कुमार्ग है, धर्म वही है, जिसका किसी भी दूसरे धर्मसे विरोध नहीं होता।

नरस्य बन्धनार्थाय शृङ्खला स्त्री प्रकीर्तिता।
लोहबद्धोऽपि मुच्येत स्त्रीबद्धो नैव मुच्यते॥
(दे० भा० ५।१६।४९)

मनुष्यको मोहरूपी बन्धनमें डालनेके लिये स्त्रीको ही साँकल कहा गया है। लोहेकी बेड़ीसे जकड़ा हुआ मनुष्य तो छूट भी सकता है, पर स्त्रीके मोहजालमें फँसे हुए मनुष्यका छुटकारा नहीं है।

अधीत्य वेदशास्त्राणि संसारे रागिणश्च ये।
तेभ्यः परो न मूर्खोऽस्ति सधर्माः श्वाश्वसूकरैः॥
(दे० भा० १।१४।४)

वेद-शास्त्रोंका अध्ययन कर लेनेपर भी जिनका सांसारिक सुखोंमें राग (प्रेम) बना हुआ है, उनसे बढ़कर मूर्ख कोई नहीं है। वे तो कुत्ते, घोड़े और सूअर-जैसे ही हैं।

द्रोहार्जितेन द्रव्येण यत् करोति शुभं नरः।
विपरीतं भवेत् तत् तु फलकाले नृपोत्तम॥
देशकालक्रियाद्रव्यकर्तॄणां शुद्धता यदि।
मन्त्राणां च तदा पूर्णं कर्मणां फलमश्नुते॥

नृपश्रेष्ठ! दूसरोंसे द्रोह करके कमाये हुए धनसे मनुष्य जो यज्ञ, दान आदि शुभ कर्म करता है, फलका समय आनेपर उसका परिणाम विपरीत अर्थात् अशुभ होता है। यदि स्थान, समय, क्रिया, द्रव्य, कर्ता और मन्त्र—इन सबकी शुद्धता होती है, तभी किसी सकाम कर्मका पूरा-पूरा फल मिलता है।

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति कर्तव्यः सैव तस्यापि भेषजम्॥
(मार्क० पु० ३७।२४-२५)

आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, परंतु यदि वह न छूट सके तो संत-महात्माओंके प्रति करे। सत्पुरुषोंके प्रति किया हुआ प्रेम ही संसारासक्तिकी एकमात्र औषध है। इसी प्रकार कामना भी सब प्रकारसे हेय है, परंतु यदि कामना न छूटे तो मोक्षकी इच्छा जाग्रत् होनेकी कामना करे; क्योंकि मोक्षकी कामना ही अन्य सारी कामनाओंसे छूटनेकी एकमात्र दवा है।

धिक् तस्य जीवितं पुंसः शरणार्थिनमागतम्।
यो नार्तमनुगृह्णाति वैरिपक्षमपि ध्रुवम्॥
(मार्क० पु० १३१।२५)

जो मनुष्य शरण चाहनेवाले दुखियाको निश्चितरूपसे आश्रय नहीं देता, चाहे वह शत्रुपक्षका ही क्यों न हो, उसके जीवनको धिक्कार है।

न तथा शीतलसलिलं न चन्दनरसो न शीतला छाया ।
प्रह्लादयति च पुरुषं यथा मधुरभाषिणी वाणी ॥

(भवि० पु० ब्राह्मपर्व ७३ । ४८)

ठंडा जल, चन्दनका रस अथवा ठंडी छाया भी मनुष्यके लिये उतनी आह्लादजनक नहीं होती, जितनी मीठी वाणी ।

अन्धं तमो विशेयुस्ते ये चैवात्महनो जनाः ।
भुक्त्वा निरयसाहस्रं ते च स्युर्ग्रामसूकराः ॥
आत्मघातो न कर्तव्यस्तस्मात् क्वापि विपश्चिता ।
इहापि च परत्रापि न शुभान्यात्मघातिनाम् ॥

(स्क०पु० काशीख० १२ । १३)

जो लोग आत्महत्यारे हैं, वे लोग घोर नरकोंमें जाते हैं और हजारों नरकयातनाएँ भोगकर पुनः देहाती सूअरोंकी योनिमें जन्म लेते हैं । इसलिये समझदार मनुष्यको कभी भूलकर भी आत्महत्या नहीं करनी चाहिये; क्योंकि आत्मघातियोंका न इस लोकमें और न परलोकमें ही कल्याण होता है ।

परस्वानां च हरणं परदाराभिमर्शनम् ।
सुहृदामतिशङ्का च त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥

(वा० रा० यु० का० ८७ । २३)

परायेका हक छीन लेना, परस्त्री-संसर्ग और अपने हित-मित्रोंसे अत्यधिक सशङ्कित रहना—ये तीन दोष सर्वनाश करनेवाले हैं ।

पितुरर्थे हता ये तु मातुरर्थे हतास्तथा ।
गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा प्रमदार्थे महीपते ॥
भूम्यर्थे पार्थिवार्थे वा देवतार्थे तथैव च ।
बालार्थे विकलार्थे च यान्ति लोकान् सुभास्वरान् ॥

(बृहन्ना० महापु० उत्तरभा० ३३ । ६३-६४)

महीपते ! जो लोग पिताके लिये, माताके लिये, गायके लिये, ब्राह्मणके लिये, युवती स्त्रीकी रक्षाके लिये, अपनी जन्मभूमिके लिये, राजाके लिये, देवताके लिये, बालकके लिये अथवा अङ्गहीनके लिये प्राण गवाँ देते हैं, उन्हें अत्यन्त प्रकाशयुक्त (स्वर्गादि) लोकोंकी प्राप्ति होती है ।

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया बाधितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥

(म० भा०, शा० प० १०९ । ३०)

जो मनुष्य जिसके साथ जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करे—यही धर्मसंगत है । कपटीको कपटके द्वारा परास्त करे और सच्चरित्रके साथ साधुताका व्यवहार करना चाहिये ।

श्रीवागीश्वरीस्तोत्रम्

अमलकमलाधिवासिनि मनसो वैमल्यदायिनि मनोज्ञे ।
सुन्दरगात्रि सुशीले तव चरणाम्भोरुहं नमामि सदा ॥१॥
अचलात्मजा च दुर्गा कमला त्रिपुरेति भेदिता जगति ।
या सा त्वमेव वाचामीश्वरि सर्वात्मना प्रसीद मम ॥२॥
त्वच्चरणाम्भोरुहयोः प्रणामहीनः पुनर्द्विजातिरपि ।
भूयादनेडमूकस्त्वद्भक्तो भवति देवि सर्वज्ञः ॥३॥
मूलाधारमुखोद्गतविसतन्तुनिभप्रभाप्रभावतया ।
विसृतलिपिव्राताहितमुखकरचरणादिके प्रसीद मम ॥४॥
वर्णतनोऽमृतवर्णे नियतमतिभिर्वर्णितेऽपि योगीन्द्रैः ।
निर्णीतिकरणदूरे वर्णयितुं देहि देवि सामर्थ्यम् ॥५॥
ससुरासुरमौलिलसन्मणिप्रभादीपिताङ्घ्रियुगनलिने ।
सकलागमस्वरूपे सर्वेश्वरि संनिधिं विधेहि मयि ॥६॥
पुस्तकजपवटहस्ते वरदाभयचिह्नचारुबाहुलते ।
कर्पूरामलदेहे वागीश्वरि विशोधयाशु मम चेतः ॥७॥
क्षौमाम्बरपरिधाने मुक्तामणिविभूषणे मुदावासे ।
स्मितचन्द्रिकाविकसितमुखेन्दुबिम्बेऽम्बिके प्रसीद मम ॥८॥
विद्यारूपेऽविद्याविनाशिनि विद्योतितेऽन्तरात्मविदाम् ।
गद्यैः सपद्यजातैराद्यैर्मुनिभिः स्तुते प्रसीद मम ॥९॥
त्रिमुखि त्रयीस्वरूपे त्रिपुरे त्रिदशाभिवन्दिताङ्घ्रियुगे ।
त्रीक्षणविलसितवक्त्रे त्रिमूर्तिमूलात्मिके प्रसीद मम ॥१०॥

वेदात्मिके निरुक्तज्योतिर्व्याकरणकल्पशिक्षाभिः।
सच्छन्दोभिः संततक्लृप्तषडङ्गेन्द्रिये प्रसीद मम ॥११॥
त्वच्चरणसरसि जन्मस्थितिमहितधियां न लिप्यते दोषः।
भगवति भक्तिमतस्त्वयि परमां परमेश्वरि प्रसीद मम ॥१२॥
बोधात्मिके बुधानां हृदयाम्बुजचारुरङ्गनटनपरे।
भगवति भवभङ्गकरीं भक्तिं भद्रार्थदे प्रसीद मम ॥१३॥
वागीशीस्तवमिति यो जपार्चनाहवनवृत्तिषु प्रजपेत्।
स तु विमलचित्तवृत्तिर्देहापदि नित्यशुद्धमेति पदम् ॥१४॥

॥इति भगवत्पाद श्रीमच्छङ्कराचार्यकृतं वागीश्वरीस्तोत्रं सम्पूर्णम्॥

मनोहर रूपवाली देवि! आप निर्मल श्वेत कमलपर निवास करनेवाली और मनकी निर्मलता प्रदान करनेवाली हैं तथा आपका शरीर सुन्दर और स्वभाव उत्तम है, मैं आपके चरण-कमलको सदा नमस्कार करता हूँ।

जो पर्वत-पुत्री—पार्वती, दुर्गा, कमला, त्रिपुरा—इन नामोंसे जगत्में प्रसिद्ध हैं, वही आप वाणीकी अधीश्वरी हैं, अतः देवि! मुझपर सब प्रकारसे कृपा कीजिये।

देवि! द्विज होते हुए भी जो आपके चरणकमलोंमें प्रणाम नहीं करता, ऐसा कुटिल व्यक्ति भी यदि आपका भक्त हो जाय तो वह सर्वज्ञ हो जाता है।

देवि! मूलाधारके मुखसे उद्भूत कमल-तन्तुके सदृश प्रभाके प्रभावसे युक्त होनेके कारण आपके मुख, हाथ, चरण आदिमें सुरक्षित वर्णमालाका प्रसार हो रहा है, अतः आप मुझपर प्रसन्न होइये।

देवि! आपका शरीर वर्णमय है, आप अमृत-सदृश उज्ज्वल वर्णवाली हैं तथा निर्णायक इन्द्रियोंसे दूर रहती हैं, यद्यपि निश्चित बुद्धिवाले योगीन्द्रोंने आपका वर्णन किया है, तथापि मुझे भी उसका वर्णन करनेकी शक्ति प्रदान कीजिये।

देवि! आपके युगल चरणकमल देवताओं और असुरोंके मस्तकोंपर सुशोभित मणियोंकी प्रभासे उद्दीप्त होते रहते हैं, आप समस्त आगमस्वरूपा और सर्वेश्वरी हैं, आप मेरे हृदयमें प्रकट होइये।

वागीश्वरि! आपके दो हाथ पुस्तक और जपमालासे सुशोभित हैं और दो सुन्दर बाहुलताएँ वरद एवं अभय मुद्राओंसे विभूषित हैं तथा आपका शरीर कपूरकी भाँति निर्मल है, आप मेरे चित्तको शीघ्र ही विशुद्ध कर दीजिये।

अम्बिके! आप रेशमी वस्त्र धारण करती हैं, आपके आभूषण मुक्ताओं और मणियोंके बने हुए हैं, आप आनन्दकी आश्रयस्थान हैं तथा आपका चन्द्रमण्डल-सा मुख मुसकानकी चन्द्रिकासे विकसित रहता है, आप मुझपर प्रसन्न होइये।

देवि! आप विद्यास्वरूपा, अविद्याकी विनाशिका और आत्मज्ञानियोंके अन्तःकरणको उद्भासित करनेवाली हैं तथा आदिकालीन मुनियोंने गद्यों एवं पद्योंद्वारा आपकी स्तुति की है, आप मुझपर कृपा कीजिये।

देवि! आप तीन मुखोंसे सुशोभित, वेदत्रयीस्वरूपा और त्रिपुरा नामसे विभूषित हैं, आपके युगल चरण देवताओंद्वारा अभिवन्दित हैं, आपका मुख तीन नेत्रोंसे सुशोभित है तथा आप त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की मूलात्मिका हैं, आप मुझपर प्रसन्न होइये।

वेदस्वरूपे! निरुक्त, ज्योतिष, व्याकरण, कल्प, शिक्षा, छन्द—इन छः वेदाङ्गोंसे आपके शरीरकी छः इन्द्रियाँ सदा मिश्रित रहती हैं, आप मुझपर कृपा कीजिये।

भगवति! आपके चरण-सरोवरमें जिनकी जन्मस्थिति हो गयी है तथा जिनकी बुद्धि आपके चरणोंमें लगी हुई है, वे दोषसे लिप्त नहीं होते। अतः परमेश्वरि! मुझपर प्रसन्न हो जाइये, जिससे आपके प्रति मेरी परमभक्ति हो जाय।

ज्ञानस्वरूपा भगवति! आप बुद्धिमानोंके हृदय-कमलरूपी सुन्दर रंगमञ्चपर नृत्य करनेवाली हैं। कल्याणप्रदे! मुझपर कृपा कीजिये और आवागमनको नष्ट करनेवाली अपनी भक्ति प्रदान कीजिये।

जो मनुष्य शरीरके आपत्तिग्रस्त होनेपर इस वागीशीस्तोत्रका जप, पूजन, हवन आदि कर्मोंके समय पाठ करता है, उसकी चित्तवृत्ति निर्मल हो जाती है और वह नित्यशुद्ध पदको प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार भगवत्पाद श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत वागीश्वरीस्तोत्र सम्पूर्ण हुआ।

ऋग्वेदीय

सरस्वतीरहस्योपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ।।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

हरिः ॐ । कथा है कि एक समय ऋषियोंने भगवान् आश्वलायनकी विधिपूर्वक पूजा करके पूछा—'भगवन् ! जिससे '**तत्**'पदके अर्थभूत परमात्माका स्पष्ट बोध होता है, वह ज्ञान किस उपायसे प्राप्त हो सकता है ? जिस देवताकी उपासनासे आपको तत्त्वका ज्ञान हुआ है, उसे बतलाइये ।' भगवान् आश्वलायन बोले—'मुनिवरो ! बीजमन्त्रसे युक्त दस ऋचाओंसहित सरस्वती-दस-श्लोकी-महामन्त्रके द्वारा स्तुति और जप करके मैंने परासिद्धि प्राप्त की है ।' ऋषियोंने पूछा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनीश्वर ! किस प्रकार और किस ध्यानसे आपको सारस्वत-मन्त्रकी प्राप्ति हुई है तथा जिससे भगवती महासरस्वती प्रसन्न हुई हैं, वह उपाय बतलाइये ।' तब वे प्रसिद्ध आश्वलायन मुनि बोले—

अस्य श्रीसरस्वतीदशश्लोकीमहामन्त्रस्य अहमाश्वलायन ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । श्रीवागीश्वरी देवता । यद्वागिति बीजम् । देवीं वाचमिति शक्तिः । प्र णो देवीति कीलकम् । विनियोगस्तत्प्रीत्यर्थे । श्रद्धा मेधा प्रज्ञा धारणा वाग्देवता महासरस्वतीत्येतैरङ्गन्यासः ।। 'इस श्रीसरस्वती-दशश्लोकी- महामन्त्रका मैं आश्वलायन ही ऋषि हूँ, अनुष्टुप् छन्द है, श्रीवागीश्वरी देवता हैं, '**यद्वाग्**' यह बीज है, '**देवीं वाचम्**' यह शक्ति है, '**प्र णो देवी**' यह कीलक है, श्रीवागीश्वरी देवताके प्रीत्यर्थ इसका विनियोग है । श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धारणा, वाग्देवता तथा महासरस्वती—इन नाम-मन्त्रोंके द्वारा अङ्गन्यास किया जाता है । (जैसे— **ॐ श्रद्धायै नमो हृदयाय नमः, ॐ मेधायै नमः शिरसे स्वाहा, ॐ प्रज्ञायै नमः शिखायै वषट्, ॐ धारणायै नमः कवचाय हुम्, ॐ वाग्देवतायै नमो नेत्रत्रयाय वौषट्, ॐ महासरस्वत्यै नमः अस्त्राय फट् ।**)

ध्यान

नीहारहारघनसारसुधाकराभां
कल्याणदां कनकचम्पकदामभूषाम् ।
उत्तुङ्गपीनकुचकुम्भमनोहराङ्गीं
वाणीं नमामि मनसा वचसा विभूत्यै ।।

हिम, मुक्ताहार, कपूर तथा चन्द्रमाकी आभाके समान शुभ्र कान्तिवाली, कल्याण प्रदान करनेवाली, सुवर्णसदृश पीत चम्पक पुष्पोंकी मालासे विभूषित, उठे हुए सुपुष्ट कुचकुम्भोंसे मनोहर अङ्गवाली वाणी अर्थात् सरस्वतीदेवीको मैं विभूति (अष्टविध ऐश्वर्य एवं निःश्रेयस्) के लिये मन और वाणीद्वारा नमस्कार करता हूँ ।

(१) '**ॐ प्र णो देवी**'— इस मन्त्रके भरद्वाज ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, श्रीसरस्वती देवता हैं । **ॐ नमः**— यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है । इष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये इसका विनियोग है । मन्त्रके द्वारा अङ्गन्यास होता है ।

'वस्तुतः वेदान्त-शास्त्रका अर्थभूत ब्रह्मतत्त्व ही एकमात्र जिनका स्वरूप है और जो नाना प्रकारके नाम-रूपोंमें व्यक्त हो रही हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें ।'—

ॐ प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । धीनामवित्र्यवतु ॥ १ ॥

ॐ-दानसे शोभा पानेवाली, अन्नसे सम्पन्न तथा स्तुति करनेवाले उपासकोंकी रक्षा करनेवाली सरस्वतीदेवी हमें अन्नसे सुरक्षित करें (अर्थात् हमें अधिक अन्न प्रदान करें) ॥ १ ॥

(२) **'आ नो दिवः०'**— इस मन्त्रके अत्रि ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं, **ह्रीं**—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है । अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धिके लिये इसका विनियोग है । इसी मन्त्रके द्वारा अङ्गन्यास करे ।

'अङ्गों और उपाङ्गोंके सहित चारों वेदोंमें जिन एक ही देवताका स्तुति-गान होता है, जो ब्रह्मकी अद्वैत-शक्ति हैं, वे सरस्वतीदेवी हमारी रक्षा करें ।'—

'ह्रीं' आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा
सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम् ।
हवं देवी जुजुषाणा घृताची
शग्मां नो वाचमुशती शृणोतु ॥ २ ॥

ह्रीं—हमलोगोंके द्वारा यष्टव्य सरस्वतीदेवी प्रकाशमय द्युलोकसे उतरकर महान् पर्वताकार मेघोंके बीचमें होती हुई हमारे यज्ञमें आगमन करें । हमारी स्तुतिसे प्रसन्न होकर वे देवी स्वेच्छापूर्वक हमारे सम्पूर्ण सुखकर स्तोत्रोंको सुनें ॥ २ ॥

(३) **'पावका नः'**—इस मन्त्रके मधुच्छन्दा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, सरस्वती देवता हैं, **'श्रीं'** यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है । इष्टार्थसिद्धिके लिये इस मन्त्रका विनियोग है । मन्त्रके द्वारा ही अङ्गन्यास करे ।

'जो वस्तुतः वर्ण, पद, वाक्य तथा इनके अर्थोंके रूपमें सर्वत्र व्याप्त हैं, जिनका आदि और अन्त नहीं है, जो अनन्त स्वरूपवाली हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें ।'—

'श्रीं' पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥ ३ ॥

श्रीं—जो सबको पवित्र करनेवाली, अन्नसे सम्पन्न तथा कर्मोंद्वारा प्राप्त होनेवाले धनकी उपलब्धिमें कारण हैं, वे सरस्वतीदेवी हमारे यज्ञमें पधारनेकी कामना करें (अर्थात् यज्ञमें पधारकर उसे पूर्ण करनेमें सहायक बनें) ॥ ३ ॥

(४) **'चोदयित्री०'**—इस मन्त्रके मधुच्छन्दा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, सरस्वती देवता हैं । **'ब्लूं'**—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है । अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये विनियोग है । मन्त्रके द्वारा ही अङ्गन्यास करे ।

'जो अध्यात्म और अधिदैवरूपा हैं तथा जो देवताओंकी सम्यक् ईश्वरी अर्थात् प्रेरणात्मिका शक्ति हैं, जो हमारे भीतर मध्यमा वाणीके रूपमें स्थित हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें ।'—

'ब्लूं' चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती
सुमतीनाम् यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ४ ॥

ब्लूं—जो प्रिय एवं सत्य वचन बोलनेके लिये प्रेरणा देनेवाली तथा उत्तम बुद्धिवाले क्रियापरायण पुरुषोंको उनका कर्तव्य सुझाती हुई सचेत करनेवाली हैं, उन सरस्वतीदेवीने इस यज्ञको धारण किया है ॥ ४ ॥

(५) **'महो अर्णः'**—इस मन्त्रके मधुच्छन्दा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, सरस्वती देवता हैं, **'सौः'**—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है । मन्त्रके द्वारा न्यास करे ।

'जो अन्तर्यामीरूपसे समस्त त्रिलोकीका नियन्त्रण करती हैं, जो रुद्र-आदित्य आदि देवताओंके रूपमें स्थित हैं, वे सरस्वतीदेवी हमारी रक्षा करें ।'—

'सौः' महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना ।
धियो विश्वा वि राजति ॥ ५ ॥

सौः—(इस मन्त्रमें नदीरूपा सरस्वतीका स्तवन किया गया है) नदीरूपमें प्रकट हुई सरस्वतीदेवी अपने प्रवाहरूप कर्मके द्वारा अपनी अगाध जलराशिका परिचय देती हैं और ये ही अपने देवतारूपसे सब प्रकारकी कर्तव्यविषयक बुद्धिको उद्दीप्त (जाग्रत्) करती हैं ॥ ५ ॥

(६) **'चत्वारि वाक्०'**—इस मन्त्रके उचथ्यपुत्र दीर्घतमा ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं, **ऐं**—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है । इष्टसिद्धिके लिये इसका विनियोग है । मन्त्रके द्वारा न्यास करे ।

'जो अन्तर्दृष्टिवाले प्राणियोंके लिये नाना प्रकारके

रूपोंमें व्यक्त होकर अनुभूत हो रही हैं। जो सर्वत्र एकमात्र ज्ञप्ति—बोधरूपसे व्याप्त हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'—

'ऐं' चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ ६॥

ऐं—वाणीके चार पद हैं अर्थात् समस्त वाणी चार भागोंमें विभक्त है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इन सबको मनीषी—विद्वान् ब्राह्मण जानते हैं। इनमें तीन—परा, पश्यन्ती और मध्यमा तो हृदयगुहामें स्थित हैं, अतः वे बाहर प्रकट नहीं होतीं। परंतु जो चौथी वाणी वैखरी है, उसे ही मनुष्य बोलते हैं। (इस प्रकार वाणीरूपमें सरस्वतीदेवीकी स्तुति है)॥ ६॥

(७) 'यद्वाग्वदन्ति॰'— इस मन्त्रके भार्गव ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं। **क्लीं**—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'जो नाम-जाति आदि भेदोंसे अष्टधा विकल्पित हो रही हैं तथा साथ ही निर्विकल्पस्वरूपमें भी व्यक्त हो रही हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'—

'क्लीं' यद् वाग्वदन्त्यविचेतनानि
राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि
क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥ ७॥

क्लीं—राष्ट्री अर्थात् दिव्यभावको प्रकाशित करनेवाली तथा देवताओंको आनन्दमग्न कर देनेवाली देवी वाणी जिस समय अज्ञानियोंको ज्ञान देती हुई यज्ञमें आसीन (विराजमान) होती हैं, उस समय वे चारों दिशाओंके लिये अन्न और जलका दोहन करती हैं। इन मध्यमा वाक्‌में जो श्रेष्ठ है, वह कहाँ जाता है?॥ ७॥

(८) 'देवीं वाचम्॰'—इस मन्त्रके भार्गव ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं, **'सौः'**—यह बीज शक्ति और कीलक तीनों है। मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'व्यक्त और अव्यक्त वाणीवाले देवादि समस्त प्राणी जिनका उच्चारण करते हैं, जो सब अभीष्ट वस्तुओंको दुग्धके रूपमें प्रदान करनेवाली कामधेनु हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'—

'सौः' देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां
विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना
धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥ ८॥

सौः—प्राणरूप देवोंने जिस प्रकाशमान वैखरी वाणीको उत्पन्न किया, उसको अनेक प्रकारके प्राणी बोलते हैं। वे कामधेनु-तुल्य आनन्ददायक तथा अन्न और बल देनेवाली वाग्रूपिणी भगवती उत्तम स्तुतियोंसे संतुष्ट होकर हमारे समीप आयें॥ ८॥

(९) 'उत त्वः॰'—इस मन्त्रके बृहस्पति ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं, **'सं'**—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। (विनियोग पूर्ववत् है) मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'जिनको ब्रह्मविद्यारूपसे जानकर योगी सारे बन्धनोंको नष्ट कर डालते और पूर्ण मार्गके द्वारा परम पदको प्राप्त होते हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'—

'सं' उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच-
मुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ ९॥

सं—कोई-कोई वाणीको देखते हुए भी नहीं देखता (समझकर भी नहीं समझ पाता), कोई इन्हें सुनकर भी नहीं सुन पाता, किंतु किसी-किसीके लिये तो वाग्देवी अपने स्वरूपको उसी प्रकार प्रकट कर देती हैं, जैसे पतिकी कामना करनेवाली सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित भार्या अपनेको पतिके समक्ष अनावृतरूपमें उपस्थित करती है॥ ९॥

(१०) अम्बितमे॰—इस मन्त्रके गृत्समद ऋषि हैं, अनुष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं, **ऐं**—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'ब्रह्मज्ञानीलोग इस नाम-रूपात्मक अखिल प्रपञ्चको जिनमें आविष्टकर पुनः उनका ध्यान करते हैं, वे एकमात्र ब्रह्मस्वरूपा सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'ऐं' अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति ।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥ १० ॥

ऐं—(परम कल्याणमयी)—माताओंमें सर्वश्रेष्ठ, नदियोंमें सर्वश्रेष्ठ तथा देवियोंमें सर्वश्रेष्ठ हे सरस्वती देवि ! धनाभावके कारण हम अप्रशस्त (निन्दित)-से हो रहे हैं, मातः ! हमें प्रशस्ति (धन-समृद्धि) प्रदान करो ॥ १० ॥

चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम ।
मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥ १ ॥
नमस्ते शारदे देवि काश्मीरपुरवासिनि ।
त्वामहं प्रार्थये नित्यं विद्यादानं च देहि मे ॥ २ ॥
अक्षसूत्राङ्कुशधरा पाशपुस्तकधारिणी ।
मुक्ताहारसमायुक्ता वाचि तिष्ठतु मे सदा ॥ ३ ॥
कम्बुकण्ठी सुताम्रोष्ठी सर्वाभरणभूषिता ।
महासरस्वतीदेवी जिह्वाग्रे सन्निविश्यताम् ॥ ४ ॥
या श्रद्धा धारणा मेधा वाग्देवी विधिवल्लभा ।
भक्तजिह्वाग्रसदना शमादिगुणदायिनी ॥ ५ ॥
नमामि यामिनीनाथलेखालङ्कृतकुन्तलाम् ।
भवानीं भवसंतापनिर्वापणसुधानदीम् ॥ ६ ॥
यः कवित्वं निरातङ्कं भुक्तिमुक्ती च वाञ्छति ।
सोऽभ्यर्च्यैनां दशश्लोक्या भक्त्या स्तौति सरस्वतीम् ॥ ७ ॥
तस्यैवं स्तुवतो नित्यं समभ्यर्च्य सरस्वतीम् ।
भक्तिश्रद्धाभियुक्तस्य षण्मासात् प्रत्ययो भवेत् ॥ ८ ॥
ततः प्रवर्तते वाणी स्वेच्छया ललिताक्षरा ।
गद्यपद्यात्मकैः शब्दैरप्रमेयैर्विवक्षितैः ॥ ९ ॥
अश्रुतो बुध्यते ग्रन्थः प्रायः सारस्वतः कविः ।
इत्येवं निश्चयं विप्राः सा होवाच सरस्वती ॥ १० ॥
आत्मविद्या मया लब्धा ब्रह्मणैव सनातनी ।
ब्रह्मत्वं मे सदा नित्यं सच्चिदानन्दरूपतः ॥ ११ ॥
प्रकृतित्वं ततः सृष्टं सत्त्वादिगुणसाम्यतः ।
सत्यमाभाति चिच्छाया दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ॥ १२ ॥
तेन चित्प्रतिबिम्बेन त्रिविधा भाति सा पुनः ।
प्रकृत्यवच्छिन्नतया पुरुषत्वं पुनश्च ते ॥ १३ ॥
शुद्धसत्त्वप्रधानायां मायायां बिम्बितो ह्यजः ।
सत्त्वप्रधाना प्रकृतिर्मायेति प्रतिपाद्यते ॥ १४ ॥

सा माया स्ववशोपाधिः सर्वज्ञस्येश्वरस्य हि ।
वश्यमायत्वमेकत्वं सर्वज्ञत्वं च तस्य तु ॥ १५ ॥
सात्त्विकत्वात् समष्टित्वात् साक्षित्वाज्जगतामपि ।
जगत्कर्तुमकर्तुं वा चान्यथा कर्तुमीशते ॥ १६ ॥
यः स ईश्वर इत्युक्तः सर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैः ।
शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम् ॥ १७ ॥
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत् ।
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः ॥ १८ ॥
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ।
साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गदेहेन संयुतम् ॥ १९ ॥
चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद्व्यावहारिकः ।
अस्य जीवत्वमारोपात् साक्षिण्यप्यवभासते ॥ २० ॥
आवृतौ तु विनष्टाया भेदे भाते प्रयाति तत् ।
तथा सर्गब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति ॥ २१ ॥
या शक्तिस्तद्वशाद्ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ।
अत्राप्यावृतिनाशेन विभाति ब्रह्मसर्गयोः ॥ २२ ॥
भेदस्तयोर्विकारः स्यात् सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित् ।
अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ॥ २३ ॥
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ।
अपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः ॥ २४ ॥
समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाथ वा बहिः ।
सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि ॥ २५ ॥
दृश्यशब्दानुभेदेन सविकल्पः पुनर्द्विधा ।
कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम् ॥ २६ ॥
ध्यायेद्दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ।
असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः ॥ २७ ॥
अस्मीतिशब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ।
स्वानुभूतिरसावेशाद्दृश्यशब्दाद्यपेक्षितुः ॥ २८ ॥
निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत् ।
हृदीयं बाह्यदेशेऽपि यस्मिन् कस्मिंश्च वस्तुनि ॥ २९ ॥
समाधिराद्यदृङ्मात्रा नामरूपपृथक्कृतिः ।
स्तब्धीभावो रसास्वादात् तृतीयः पूर्ववन्मतः ॥ ३० ॥
एतैः समाधिभिः षड्भिर्नयेत् कालं निरन्तरम् ।
देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परामृतम् ॥ ३१ ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ ३२॥
मयि जीवत्वमीशत्वं कल्पितं वस्तुतो नहि।
इति यस्तु विजानाति स मुक्तो नात्र संशयः॥ ३३॥

।। ॐ वाङ् मे मनसीति शान्तिः॥

जो ब्रह्माजीके मुखरूपी कमलोंके वनमें विचरनेवाली राजहंसी हैं, वे सब ओरसे श्वेतकान्तिवाली सरस्वतीदेवी हमारे मनरूपी मानसमें नित्य विहार करें। हे काश्मीरपुरमें निवास करनेवाली शारदादेवी! तुम्हें नमस्कार है। मैं नित्य तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ। मुझे विद्या (ज्ञान) प्रदान करो। अपने चार हाथोंमें अक्षसूत्र, अङ्कुश, पाश और पुस्तक धारण करनेवाली तथा मुक्ताहारसे सुशोभित सरस्वतीदेवी मेरी वाणीमें सदा निवास करें। शङ्खके समान सुन्दर कण्ठ एवं सुन्दर लाल ओठोंवाली, सब प्रकारके भूषणोंसे विभूषिता महासरस्वतीदेवी मेरी जिह्वाके अग्रभागमें सुखपूर्वक विराजमान हों। जो ब्रह्माजीकी प्रियतमा सरस्वतीदेवी श्रद्धा, धारणा और मेधा-स्वरूपा हैं, वे भक्तोंके जिह्वाग्रमें निवासकर शम-दमादि गुणोंको प्रदान करती हैं। जिनके केश-पाश चन्द्रकलासे अलङ्कृत हैं तथा जो भव-संतापको शमन करनेवाली सुधा-नदी हैं, उन सरस्वतीरूपा भवानीको मैं नमस्कार करता हूँ। जिसे कवित्व, निर्भयता, भोग और मुक्तिकी इच्छा हो, वह इन दस मन्त्रोंके द्वारा सरस्वतीदेवीकी भक्तिपूर्वक अर्चना करके स्तुति करे। भक्ति और श्रद्धापूर्वक सरस्वतीदेवीकी विधिपूर्वक अर्चना करके नित्य स्तवन करनेवाले भक्तको छः महीनेके भीतर ही उनकी कृपाकी प्रतीति हो जाती है। तदनन्तर उसके मुखसे अनुपम अप्रमेय गद्य-पद्यात्मक शब्दोंके रूपमें ललित अक्षरोंवाली वाणी स्वयमेव निकलने लगती है। प्रायः सरस्वतीका भक्त कवि बिना दूसरोंसे सुने हुए ही ग्रन्थोंके अभिप्रायको समझ लेता है। ब्राह्मणो! इस प्रकारका निश्चय सरस्वतीदेवीने अपने श्रीमुखसे ही प्रकट किया था। ब्रह्माके द्वारा ही मैंने सनातनी आत्मविद्याको प्राप्त किया और सत्-चित्-आनन्दसे मुझे नित्य ब्रह्मत्व प्राप्त है॥ १—११॥

तदनन्तर सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके साम्यसे प्रकृतिकी सृष्टि हुई। दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान प्रकृतिमें पड़ी चेतनकी छाया ही सत्यवत् प्रतीत होती है। उस चेतनकी छायासे प्रकृति तीन प्रकारकी प्रतीत होती है, प्रकृतिके द्वारा अवच्छिन्न होनेके कारण ही तुम्हें जीवत्व प्राप्त हुआ है। शुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृति माया कहलाती है। उस शुद्ध सत्त्वप्रधाना मायामें प्रतिबिम्बित चेतन ही अज (ब्रह्मा) कहा गया है। वह माया सर्वज्ञ ईश्वरकी अपने अधीन रहनेवाली उपाधि है। मायाको वशमें रखना, एक (अद्वितीय) होना और सर्वज्ञत्व—ये उन ईश्वरके लक्षण हैं। सात्त्विक, समष्टिरूप तथा सब लोकोंके साक्षी होनेके कारण वे ईश्वर जगत्की सृष्टि करने, न करने तथा अन्यथा करनेमें समर्थ हैं। इस प्रकार सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त वह चेतन ईश्वर कहलाता है। मायाकी दो शक्तियाँ हैं—विक्षेप और आवरण। विक्षेप-शक्ति लिङ्ग-शरीरसे लेकर ब्रह्माण्डतकके जगत्की सृष्टि करती है। दूसरी आवरण-शक्ति है, जो भीतर द्रष्टा और दृश्यके भेदको तथा बाहर ब्रह्म और सृष्टिके भेदको आवृत करती है। वही संसार-बन्धनका कारण है, साक्षीको वह अपने सामने लिङ्ग-शरीरसे युक्त प्रतीत होती है। कारणरूपा प्रकृतिमें चेतनकी छायाका समावेश होनेसे व्यावहारिक जगत्में कार्य करनेवाला जीव प्रकट होता है। उसका यह जीवत्व आरोपवश साक्षीमें भी आभासित होता है। आवरण-शक्तिके नष्ट होनेपर भेदकी स्पष्ट प्रतीति होने लगती है (इससे चेतनका जडमें आत्मभाव नहीं रहता, अतः) जीवत्व चला जाता है तथा जो शक्ति सृष्टि और ब्रह्मके भेदको आवृत करके स्थित होती है, उसके वशीभूत हुआ ब्रह्म विकारको प्राप्त हुआ-सा भासित होता है, वहाँ भी आवरणके नष्ट होनेपर ब्रह्म और सृष्टिका भेद स्पष्टरूपसे प्रतीत होने लगता है। उन दोनोंमेंसे सृष्टिमें ही विकारकी स्थिति होती है, ब्रह्ममें नहीं। अस्ति (है), भाति (प्रतीत होता है), प्रिय (आनन्दमय), रूप और नाम—ये पाँच अंश हैं। इनमें अस्ति, भाति और प्रिय—ये तीनों ब्रह्मके स्वरूप हैं तथा

नाम और रूप—ये दोनों जगत्के स्वरूप हैं । इन दोनों नाम-रूपोंके सम्बन्धसे ही सच्चिदानन्द परब्रह्म जगत्-रूप बनता है ॥ १२—२४ ॥

साधकको हृदयमें अथवा बाहर सर्वदा समाधि-साधन करना चाहिये । हृदयमें दो प्रकारकी समाधि होती है—सविकल्प और निर्विकल्परूप । सविकल्प समाधि भी दो प्रकारकी होती है—एक दृश्यानुविद्ध और दूसरी शब्दानुविद्ध । चित्तमें उत्पन्न होनेवाले कामादि विकार दृश्य हैं तथा चेतन आत्मा उनका साक्षी है—इस प्रकार ध्यान' करना चाहिये । यह दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है । मैं असङ्ग, सच्चिदानन्द, स्वयम्प्रकाश, अद्वैतस्वरूप हूँ—इस प्रकारकी सविकल्प समाधि शब्दानुविद्ध कहलाती है । आत्मानुभूति-रसके आवेशवश दृश्य और शब्दादिकी उपेक्षा करनेवाले साधकके हृदयमें निर्विकल्प समाधि होती है । उस समय योगीकी स्थिति वायुशून्य प्रदेशमें रखे हुए दीपककी भाँति अविचल होती है । यह हृदयमें होनेवाली निर्विकल्प और सविकल्प समाधि है । इसी तरह बाह्यदेशमें भी जिस-किसी वस्तुको लक्ष्य करके चित्त एकाग्र हो जाता है, उसमें समाधि लग जाती है । पहली समाधि द्रष्टा और दृश्यके विवेकसे होती है, दूसरी प्रकारकी समाधि वह है, जिसमें प्रत्येक वस्तुसे उसके नाम और रूपको पृथक् करके उसके अधिष्ठानभूत चेतनका चिन्तन होता है और तीसरी समाधि पूर्ववत् है, जिसमें सर्वत्र व्यापक चैतन्य रसानुभूतिजनित आवेशसे स्तब्धता छा जाती है । इन छः प्रकारकी समाधियोंके साधनमें ही निरन्तर अपना समय व्यतीत करे । देहाभिमानके नष्ट हो जाने और परमात्म-ज्ञान होनेपर जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं परम अमृतत्वका अनुभव होता है । हृदयकी गाँठें खुल जाती हैं, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, उस निष्कल और सकल ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर विद्वान् पुरुषके समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं । 'मुझमें जीवत्व और ईश्वरत्व कल्पित हैं, वास्तविक नहीं' इस प्रकार जो जानता है, वह मुक्त है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ॥ २५—३३ ॥

॥ ऋग्वेदीय सरस्वती-रहस्योपनिषद् समाप्त ॥

सरस्वती-वन्दना

शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे । सर्वदा सर्वदास्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात् ॥
सरस्वतीं च तां नौमि वागधिष्ठातृदेवताम् । देवत्वं प्रतिपद्यन्ते यदनुग्रहतो जनाः ॥
पातु नो निकषग्रावा मतिहेम्नः सरस्वती । प्राज्ञेतरपरिच्छेदं वचसैव करोति या ॥
लक्ष्मीर्मेधा धरा पुष्टिर्गौरी तुष्टिः प्रभा धृतिः । एताभिः पाहि तनुभिरष्टाभिर्मां सरस्वति ॥
सरस्वत्यै नमो नित्यं भद्रकाल्यै नमो नमः । वेदवेदान्तवेदाङ्गविद्यास्थानेभ्य एव च ॥
सरस्वति महाभागे विद्ये कमललोचने । विद्यारूपे विशालाक्षि विद्यां देहि नमोऽस्तु ते ॥

शरत्कालमें उत्पन्न कमलके समान मुखवाली और सब मनोरथोंको देनेवाली शारदा सब सम्पत्तियोंके साथ मेरे मुखमें सदा निवास करें । मैं उन वचनकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वतीको प्रणाम करता हूँ, जिनकी कृपासे मनुष्य देवता बन जाता है । बुद्धिरूपी सोनेके लिये कसौटीके समान सरस्वतीजी, जो केवल वचनसे ही विद्वान् और मूर्खोंकी परीक्षा कर देती हैं, हमलोगोंका पालन करें । सरस्वति ! लक्ष्मी, मेधा, धरा, पुष्टि, गौरी, तुष्टि, प्रभा, धृति—इन आठ मूर्तियोंसे मेरी रक्षा करो । सरस्वतीको नित्य नमस्कार है, भद्रकालीको नमस्कार है और वेद, वेदान्त, वेदाङ्ग तथा विद्याओंके स्थानोंको प्रणाम है । हे महाभाग्यवती ज्ञानस्वरूपा कमलके समान विशाल नेत्रवाली ज्ञानदात्री सरस्वति ! मुझे विद्या दो मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ ।



प्रसाद

भगवान् वेदव्यास और उनकी दिव्य शिक्षा

विद्यावन्तं विपुलमतिदं वेदवेदान्तवेद्यं
श्रेष्ठं शान्तं शमितविषयं शुद्धतेजो विशालम् ।
वेदव्यासं सततविनतं विश्ववेद्यैकयोनिं
पाराशर्यं परमपुरुषं सर्वदाहं नमामि ॥

(स्क० वैष्ण० १ । २४)

'विद्वान्, विपुल बुद्धिदाता, वेद-वेदान्तके द्वारा ज्ञेय, श्रेष्ठ, शान्त, विषयोंसे उपरत, विशाल शुद्ध तेजसे युक्त, सदा विनीत, संसारके समस्त ज्ञानके आदिस्रोत पराशरके सुपुत्र, परम परमात्मस्वरूप भगवान् वेदव्यासको मैं सर्वदा नमस्कार करता हूँ ।'

ज्ञान—विद्यार्जनद्वारा शोक-मोहका निराकरण तथा कामना-निरासपूर्वक स्वरूप-प्रतिष्ठा सभी शिक्षाओंका एकमात्र तात्पर्य है । **'शिक्ष-'**[1]धातु विद्योपादान-अर्थमें ही पठित है । विद्याबलसे भगवान् व्यास सदा अजर-अमर हैं । विद्यासे अमृतत्व प्राप्त होता है—**'विद्ययामृतमश्नुते'**के (ईशोप० १४, मनुस्मृति १२ । १०४) भगवान् वेदव्यास प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । भगवान् गणेशको उन्होंने अपना लेखक बनाया और वेदोंके व्यसनसे लेकर महाभारतसहित १८ महापुराण, शताधिक उपपुराण, वेदान्त-दर्शन (ब्रह्मसूत्र), सैकड़ों गीताएँ (देखिये महाभारत-परिचयकी सूची), दानव्यास, स्नानव्यासादि प्रकरणोंसहित बृहद्व्यासस्मृति, लघुव्याससस्मृति, व्यासभाष्यादि बहुत-से ग्रन्थ रच डाले और यह प्रसिद्धि हो गयी—**'यन्न भारते तन्न भारते'**, **'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'**, **'व्यदधाद्यज्ञसंतत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्'** ।

ये दिव्य महर्षि जन्मते ही बढ़कर युवा हो गये,[2] स्वतः बिना किसीके द्वारा पढ़ाये ही समस्त अङ्गोंसहित वेदादि शास्त्रमें तथा परमात्मतत्त्वके ज्ञानमें निष्णात थे तथा प्रकट होते ही वेदपाठ करने लगे थे—

जातमात्रश्च यः सद्य इष्ट्या देहमवीवृधत् ।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान् सेतिहासान् महायशाः ॥
परावरज्ञो ब्रह्मर्षिः कविः सत्यव्रतः शुचिः ॥

(महाभारत, आदिपर्व ६० । ३,५)

इनके आशीषसे गांधारीको १०१ संततियाँ हुईं और प्रतिस्मृति-विद्याके प्रभावसे इन्होंने महाभारतमें मरे सभी वीरोंको पुनः जिलाकर दिखाया तथा जनमेजयको राजा परीक्षित्‌का दर्शन कराया (महा० आश्रमवासिकपर्व, पुत्रदर्शनपर्व २९ । ३४) । इन्होंने यह विद्या युधिष्ठिरको

---

१. वेदोंमें प्रायः 'शिक्षा' शब्द 'शक् मर्षणे' धातुका सन्नन्तरूपमें है, सहनेकी शक्ति-अर्थमें प्रयुक्त है । मुरारिके भी यही भाव हैं—जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः । अतः तपसे विद्या-प्राप्तिकी बात सत्य है । वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, ध्रुव, प्रह्लाद, तुलसीदासादिको तपद्वारा वह विद्या प्राप्त हुई, जो विश्वविद्यालयोंमें भी लोगोंको सम्भव नहीं दीखती । शिक्षेर्जिज्ञासायाम् (१ । ३ । २१ वार्तिक) ।

२. इनका जन्म आषाढ़शुक्ला पूर्णिमाको उत्तराषाढ़ नक्षत्रमें हुआ था, अतः वह गुरु-पूर्णिमा या व्यासपूर्णिमा नामसे प्रसिद्ध है । गुरुका अर्थ भारी तथा द्रोणाचार्य और व्यासजी भी है । यतिधर्मसंग्रह एवं समुच्चयादिमें इन्हें गुरुओंका गुरु कहा है । भागवतमें शुकदेवजीको भी 'तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम्'—मुनियोंका गुरु कहा है । फिर ये तो उनके भी गुरु एवं शिक्षक होनेसे सभी मुनियोंके गुरु हैं । 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' का भी यही भाव है । अतः इनकी जन्म-तिथिका गुरुपूर्णिमा नाम अन्वयार्थक ही है ।

भी अंशतः प्रदान की थी और इसे परासिद्धिकी संज्ञा दी थी— **'सिद्धिं मूर्तिमतीमिव'** (महा० वन० ३६ । ३०)।

इस प्रकार ये सभी सिद्धियोंके आश्रय थे । इनका योग-दर्शनपर व्यासभाष्य सिद्धियोंका भण्डार है । वाचस्पति मिश्रादि सभी व्याख्याताओंने योगभाष्यको वेदव्यासकी रचना मानकर ही व्याख्या लिखी और तदनुसार यम, नियम, ब्रह्मचर्यका पालन कर सिद्ध हुए—'भामती'- जैसे अद्वितीय ग्रन्थके रचयिता हुए—**'वेदव्यासेन भाषिते··· भाष्ये व्याख्या विधीयते'** (१ । १ की प्रस्तावना) । विष्णुसहस्रनाम-जैसा (कीलितादि समस्त दोषोंसे मुक्त) दिव्यस्तोत्र भी इन्हींकी रचना और शुभ प्रसाद है, यद्यपि ऊपरसे भीष्मप्रोक्त ही समझा जाता है—

इमं स्तवं भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम् ।

(महा० अनु०१४९ । १४१)

व्यासदेवके प्रसादसे संजयको दिव्यदृष्टि-योगदृष्टि मिली और विश्वको गीता मिली—**'व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।'** (गीता १८ । ७५)

ये महाशाल शौनकादि कुलपतियों तथा गुरुओंके भी परम गुरु साक्षात् बादरायण परमपूज्य हैं ।—**'देवं कृष्णं मुनिं व्यासं भाष्यकारं गुरोर्गुरुम् ।'** (यतिधर्मसमुच्चय, यतिधर्मसंग्रह, पृ० ९४-१०० आनन्द-आश्रम सं० पूना), व्रतरत्नाकर एवं कल्पद्रुम, पृष्ठ ७१३ से ७१५ तकमें इनकी विस्तृत पूजाविधि है । साथमें पञ्चकृष्ण, सुमन्तु, जैमिनी, पैल, वैशम्पायन आदि पञ्चव्यास, वामभागमें आचार्य शंकर, विश्वरूपादि आचार्यपञ्चक, श्रीकृष्णपार्श्वमें शिव-ब्रह्मा, सनत्कुमार (सनकादि चारों) तथा सनत्सुजात, शुकदेवजी, रोमहर्षण, उग्रश्रवा सूतादिकी पूजा होती है । फिर गुरु, परमगुरु, परमेष्टि गुरु, परात्पर गुरुओंकी पूजा होती है । साथमें विवरणकार, भाष्यकार, टीकाकार, समस्त विद्याप्रवर्तकोंकी भी पूजा होती है, सभीके नमस्कार-श्लोक भिन्न हैं, व्यासजीको—

वेदव्यासं स्वात्मरूपं सत्यसिन्धुं परायणम् ।
जितेन्द्रियं जितक्रोधं सशिष्यं प्रणमाम्यहम् ॥

साक्षात् परमात्मास्वरूप, सत्य, ज्ञान, विद्याके समुद्र, क्रोधादिशून्य, इन्द्रियजयी भगवान् व्यासदेवको उनके शिष्योंके साथ-साथ (सादर) प्रणाम करता हूँ कहकर प्रणाम करनेकी विधिका निर्देश प्राप्त होता है ।

मन्त्रमहोदधिमें (१५ । १०१-६ पर) व्यासजीके मन्त्र-ध्यानादि विस्तारसे निरूपित हैं । **'व्यां वेदव्यासाय नमः'** यह उनका अष्टाक्षर मन्त्र है । वहीं इनका ध्यान भी यों निर्दिष्ट है—

व्याख्यामुद्रिकया लसत्करतलं सद्योगपीठस्थितं
वामे जानुतले दधानमपरं हस्तं सुविद्यानिधिम् ।
विप्रव्रातवृतं प्रसन्नमनसं पाथोरुहाङ्गद्युतिं
पाराशर्यमतीव पुण्यचरितं व्यासं स्मरेत् सिद्धये ॥

(मन्त्रमहो० १५ । १०३)

अर्थात् पराशरजीके पुत्र (महर्षि वसिष्ठके पौत्र) भगवान् व्यास श्रेष्ठ योगपीठपर विराजमान हैं । उनके दाहिने हाथसे शिक्षा-उपदेश-ज्ञानदान व्याख्याका भाव सूचित होता है । उनका बायाँ हाथ बायें घुटनेपर टिका है, वे ज्ञान-विद्याके समुद्र हैं । उनके चारों ओर विद्वान् ब्राह्मणोंका समूह है । उनका मन प्रसन्न है । उनकी अङ्गकान्ति कमलके समान है । उनके चरित्र परम दिव्य हैं । ज्ञान-शिक्षा-विद्यादिकी सिद्धिके लिये इस प्रकार उनका ध्यान करना चाहिये, इससे सभी सिद्धियाँ मिलती हैं ।

भगवान् व्यासने आचार्य शंकर, विद्यारण्यादि पश्चाद्वर्ती अनेक उपासकोंको दर्शन देकर कृतार्थ किया है और वे अनुग्रहमूर्ति आज भी जीवित हैं । इसीलिये उनकी श्रद्धापूर्वक उपासना की जाती है । इन्होंने पुराणोपपुराण, महाभारतादिमें प्रायः १० लाख श्रेष्ठ सूक्तियोंकी रचना की है । 'कल्याण'का श्रीकृष्णवचनामृताङ्क भी एक प्रकारसे व्यासवचनामृत ही है । विद्याकर, वल्लभदेव, श्रीधरदासादिने व्यासवचनामृत या सुभाषित नामसे इनके पाँच हजार चुने श्लोकोंका संग्रह किया है । व्यास-सुभाषित ग्रन्थ श्रीलंका, जावा, श्याम, चम्पा, हिंदचीन आदिमें नीति-शास्त्र, लोकनीति आदि अनेक नाम-रूपोंमें प्रचलित है । व्यासगीता, हंसगीता भी व्याससूक्ति-संग्रह है ।

वल्लभदेवकी सुभाषितावलि, विद्याकरके सुभाषितरत्न-कोश, शार्ङ्गधरकी पद्धति, श्रीधरदासके सूक्तिकणादि, सूर्यपण्डितके सूक्तिरत्नहार आदिमें व्यासदेवके हजारों वचन

सूक्ति नामसे या **'व्यासमुनेर्वचनानीमानि'** कहकर उद्धृत हैं । इन सभी लोगोंने व्यासवचनोंसे अपने ग्रन्थोंकी प्रतिष्ठा बढ़ायी है । वस्तुतः इनका मूल ध्यान ब्रह्मपर ही रहा, अतः इन्होंने ब्रह्मसूत्र, भविष्यपुराणका ब्रह्मपर्व, स्कन्दपुराण, पद्मपुराणादिके ब्रह्मखण्डादिके साथ-साथ समग्र ब्रह्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण तथा भागवत, विष्णु आदि पुराण भी ब्रह्मप्राप्तिपर ही रचे । ब्रह्मचर्यपूर्वक वेद-पुराणाभ्याससे ब्रह्म (वेद), ब्रह्मज्ञान एवं परमात्म-प्राप्ति शक्य है । महाभारत-शान्तिपर्व २४० । १५,१७७ । १६ तथा ब्रह्मपुराण २४० में इन्द्रियजय (सर्वकामना-शून्यता) रूप ब्रह्मचर्यको ही सब कुछ माना गया है । एक इन्द्रिय भी बहिर्मुख हुई तो ब्रह्मचर्य पूरा नहीं, ब्रह्म-वेद-भगवत्प्राप्ति तो दूर रहे अन्य साधन भी व्यर्थ ही होंगे—**'यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् । तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्॥'**

यह बात विष्णुधर्मोत्तर ३ । २३३ । ७३, ब्रह्मपुराण २५ । ६ तथा मनुस्मृति २ । ९३-१०० तकमें निर्दिष्ट है । इस प्रकार इन्द्रियजय—विशुद्ध ब्रह्मचर्यद्वारा सर्वत्र भगवद्दर्शन, ब्रह्म-साक्षात्कार, आत्मस्वरूप-प्रतिष्ठा तथा सभीमें ईश्वर-बुद्धिसे विश्वमें सेवा-भावना ही इनकी शिक्षाओंका सार है । ***'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'*** (रा० च० मा० ४ । ३) में अनन्य सेवा-भावनाकी बात गोस्वामीजीने पुराणों तथा भागवत ११ । ३ के आधारपर लिखी है। मन, इन्द्रियोंके वशमें होनेसे दिव्य प्रज्ञाऽऽलोक[1], ऋतम्भरा प्रज्ञा, सवत्र भगवद्दर्शन एवं पराशान्तिकी प्राप्ति होती है। सबसे बड़ी बात यह है कि भगवान् व्यासकी कृपासे अब भी इस दिशामें प्रत्यक्ष अपार सहायता मिलती है । इन्होंने एक कीटपर कृपा की और उसे धीर-धीरे मैत्रेय महर्षि बनाकर जीवन्मुक्त बना दिया । (विस्तारसे जाननेके लिये 'कल्याण' का सत्कथाङ्क देखिये ।)

शिक्षाके लिये इनके प्रयाससे पूरा महाभारत व्याप्त है । द्रोण, कृपाचार्य आदि शिक्षक इनके कृपापात्र थे । युधिष्ठिरके शिक्षक धौम्य आदि इनके शिष्य थे। इन्होंने उन्हें युधिष्ठिरसे मिलाया और स्वयं युधिष्ठिरके साथ रहनेवाले विद्वान् ब्राह्मणोंको— 'शिक्षाक्षरविशारद'— **'शिक्षाक्षरविशारदाः'** (महा० वन० ३६ । ४२) कहकर समादृत किया है । ये स्वयं संसारके सबसे श्रेष्ठ शिक्षक थे । महाभारत १२ । १७ । २० में ये शिक्षित-प्रज्ञा-प्रासादपर आरूढ़को योगारूढ़ और अशोच्य सिद्ध मानते हैं । वह अति ऊँचे पर्वतपर बैठा हुआ मानो पूरे विश्वको अपने नीचे देखता है ।

व्यास-शिक्षासुधासार-संग्रह

शिक्षा और शास्त्र—शिक्षाप्राप्त डी० लिट्० डिग्री आदियुक्त व्यक्ति अक्षर, पद, वाक्य, अर्थसहित अनेक भाषाओंको सुचारुरूपसे पढ़ता, समझता और लिखता है । पर उन सबमें तथा सारे विश्वमें भगवद्दर्शनका भाव लाखों जन्मोंमें भी सिद्ध नहीं होता, जो परम साध्य है—**'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'** (गीता ७ । १९) । इसीके अभ्यासको योगवासिष्ठमें ब्रह्माभ्यास कहा गया है । भगवान् व्यास कहते हैं कि सच्चा शिक्षित व्यक्ति उसे ही देखे, उस सारतत्त्व परमात्माको छोड़कर कुछ भी न कहे; क्योंकि ऐसी विवक्षा व्यर्थ होती है। उसकी बुद्धि हवाके झोंकेसे नाव-जैसी डूबती-उतराती है, अतः केवल भगवद्दर्शन, श्रवण, कथन ही करें—

ततोऽन्यथा किंचन यद्विवक्षतः
पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।
न कुत्रचित् क्वापि च दुःस्थिता मति-
र्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ५ । १४)

तथापि भगवान्के स्वरूप-निर्णयमें शास्त्र ही प्रमाण है । परमानन्दस्वरूप भगवान् हैं या नहीं, स्वप्नरूप संसार है या नहीं, इसका निर्णय भी शास्त्र ही करते हैं, अतः वे परमात्मप्रतिपादक हैं और परमात्मा स्वयं—'शास्त्रयोनि' हैं, अतः सभी शास्त्रोंकी परिपूर्ण शिक्षा भी भगवान् व्यास परमावश्यक मानते हैं । वे वेदान्तसूत्र १ । १ । ३ में कहते हैं— **'शास्त्रयोनित्वात्'** तथा स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्डमें कहते

१. 'तज्जयात्प्रज्ञालोकः'— धारणाध्यानसमाधिसंयमात् प्रज्ञा विशारदीभवति । (योगसूत्र ३ । ७ व्यासभाष्य) भागवत १ । ३ । ३४ पर भी इनका प्रभाव है ।

हैं—वेद, इतिहास, पुराण, रामायण, भारतादि सभी शास्त्र पठनीय, शिक्षणीय हैं, इनके जाने बिना भगवान्‌का ज्ञान, उनकी प्राप्ति सम्भव नहीं । अस्तु !

इनके अनुसार सदा भगवच्चर्चा एवं भगवद्दर्शन ही उन्नतिप्रद है । मुख्य भगवत्तत्त्वदर्शनकी साधन-प्रक्रियारूप नीतिका उपदेश करते हुए वे कहते हैं कि अपनेको अजर-अमर समझकर बालकवत् शिक्षाग्रहण और ज्ञानार्जनमें निरन्तर लगाये रखे, पर धर्मार्जनमें यह सोचकर तुरंत तत्पर हो जाय कि मानो काल—मृत्यु उसके केश पकड़ रखे है—

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

(शार्ङ्ग॰ पद्धति ६६९, हितो॰१ । १४)

शिक्षा, शील और विनय—महाभारत, शान्तिपर्व १२४ । १ में व्यासदेव कहते हैं कि शील एवं विनयसे मनुष्य विश्वको एक दिनमें वश कर सकता है । मान्धाताने मात्र एक रातमें, जनमेजयने कुल ३ दिनोंमें और नाभागने केवल ७ दिनोंमें पृथ्वीको जीत लिया—

एकरात्रेण मान्धाता त्र्यहेण जनमेजयः ।
सप्तरात्रेण नाभागः पृथिवीं प्रतिपेदिरे ॥

पर शील क्या हैं ? इसके उत्तरमें शिक्षाकी प्रतिमूर्ति भगवान् व्यास कहते हैं कि मन, क्रम, वचनसे किसीसे द्वेष न करना, सबपर प्रेम, अनुग्रह और दान—बस यही शील है—

अद्रोहः सर्वभूतानां कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ॥

(महा॰ शान्तिपर्व १२४ । ६६)

वे इसी प्रकार यही बात विनयके लिये भी कहते हैं—

वनस्था अपि राज्यानि विनयात् प्रतिपेदिरे ॥

(विष्णुधर्मो॰ पुराण ३ । ३३९)

—विनय भी मनुष्यको तत्काल राज्यासनपर बिठानेमें समर्थ है ।

शिक्षा और बुद्धि—भगवान् व्यासका कथन है कि श्रेष्ठ शिक्षाके लिये शुद्धतम बुद्धि ही आधार है । अमरकोशके धीवर्ग, ब्रह्मवर्ग, शब्दादिवर्ग, नाट्यवर्गादिमें बुद्धिपर विशद विचार हैं । बुद्धिके लिये प्रज्ञा, मनीषा, धी, मति, संविद आदि प्रसिद्ध पर्याय हैं । विशुद्ध बुद्धिमें ही शिक्षा ठीक-ठीक प्रतिष्ठित होती है । बिना शिक्षाके बुद्धि दुर्बल होती है । गीता ६ । ४३ में बुद्धिको व्यासदेवने (भगवान् श्रीकृष्णकी वाणीमें) जन्मान्तर-साधनाका फल कहा है—'**तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।**' इसीलिये बुद्धिवादी बौद्धोंने 'अधिचित्त शिक्षा' (संस्कृत बुद्धिमें उच्चतर शिक्षा पाना), 'अधिशील शिक्षा' (आचार-सम्बन्धी सज्जनोंद्वारा शिक्षा-ग्रहण), 'अधिप्रज्ञा शिक्षा' (विद्या-ज्ञान-सम्बन्धी तप एवं स्वाध्यायद्वारा शिक्षा-ग्रहण)—ये तीन मुख्य शिक्षाएँ मानी हैं—(अभिधम्मकोश, धर्मसंग्रह १४० आदि) ।

भगवान् व्यास तथा मनुने (४ । १७) स्वाध्याय-द्वारा बुद्धि, स्वास्थ्य, धन, कल्याणकी अभिवृद्धिकी बात कही है । इनमें उन्होंने न्याय, मीमांसा, वेद-पुराणादिको विशेष बुद्धिवर्धक माना है, शेषके लिये आयुर्वेद, ज्योतिष, योगशास्त्र, अर्थशास्त्रका स्वाध्याय आवश्यक माना है—

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥

(विष्णुधर्मोत्तरपु॰ ३ । २३३)

धारणामयी बुद्धि मेधा कहलाती है । समझनेकी चेष्टामें तर्क होता है । न समझनेपर संशय होता है । भगवान् व्यासके अनुसार योगसाधना एवं तर्कादि प्रमाणोंसे संशय निरस्त होकर परात्परका ज्ञान होकर परमात्म-साक्षात्कार होता है । यही बुद्धिका वास्तविक चमत्कार है । समाधि-दृष्ट प्रज्ञालोकमें परमात्मदर्शन करनेसे हृदय-ग्रन्थिका भेद, कामनाओंका नाश, पूर्णज्ञान, पूर्ण निष्कामता, सर्व-संशयनाश एवं कर्मजालसे मुक्ति, सर्वत्र परमात्मदर्शन—जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है ।

गीता २ । ५० से ७२ तकमें स्थिर-बुद्धिकी पूर्ण प्रक्रिया द्रष्टव्य है । वहाँ इस ब्राह्मी स्थितिकी कृतकृत्यताकी अवस्था नहीं है ।

शिक्षा और स्वाध्याय—ब्रह्मचर्य, साधना, गायत्री-जप एवं शौच-स्नानाहारादिकी शुद्धिसे बुद्धि शुद्ध होती है । शुद्ध एवं कुशाग्र-बुद्धिमें शिक्षा शीघ्र प्रतिष्ठित

होती है। तथापि एतदर्थ स्वाध्यायाभ्यास भी आवश्यक है। यह योगवासिष्ठ ३। २०, महाभारतादिमें प्रतिपादित है।

भगवान् व्यास तो विष्णुधर्ममें स्वाध्यायसे ही सर्वसिद्धि-प्राप्तिकी बात कहकर तद्विरोधी सभी अर्थोंतकको त्याज्य कहते हैं—

स्वाध्यायेन हि संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्चते॥

तथा—

सर्वान् परिहरेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः॥

अर्थात् स्वाध्यायके विरोधी सभी अर्थ-विचार त्याज्य हैं।

गीतामें इसे वाङ्मय तप कहा गया है—

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।

शिक्षा और पाण्डित्य—स्वाध्यायादि साधनोंसे पूर्ण शिक्षित व्यक्तिको कोशोंमें निपुण, प्रवीण, विज्ञ, भिज्ञ, सुधी, पण्डित आदि कहा गया है। पर यह पाण्डित्य बुद्धियोग एवं संशय-नाशक गुरुशास्त्र-वचनोंके सहारे ही होता है'**अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्। सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्**'। शास्त्रोंमें शिक्षा और स्वाध्यायका फल पाण्डित्य, भगवत्प्राप्ति कहा गया है—योग० व्यासभाष्य १। ८२, २। ५१ तथा महाभारत, विदुर-प्रजागर ३३। ५। ३० में पण्डितका लक्षण निर्दिष्ट है। गीता ५। १९ आदिमें सच्चे पण्डितको भगवत्प्राप्त या भगवत्प्राप्तको सच्चा पण्डित कहा गया है। शुक्रनीति तथा विष्णुधर्मादिमें भगवान् व्यासद्वारा प्रशस्त धर्मगुणसेवी, निन्द्य राग-दोषके परित्यागी, श्रद्धालु, आस्तिक व्यक्तिको पण्डित कहा गया है। विदुरजी भी यही कहते हैं—

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम्॥

(वि० नी० ३३)

जो श्रेष्ठ आचार-पदार्थको ग्रहण करे, दुर्गुण, दुराचारको त्यागकर, ईश्वर-शास्त्रादिमें श्रद्धा करे वही पण्डित है। विदुरके अनुसार जिस दृढ़ व्यक्तिको शीत, ताप, भय, राग, हर्ष, विषाद कर्तव्य-कार्यमें बाधा नहीं डालते वही पण्डित है—

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते॥

(वि० नी० १९)

सारांश यह है कि पण्डितके लिये भगवत्प्राप्तिपूर्वक शुद्ध ज्ञानार्जन, सर्वसंशयनाश परमावश्यक है।

कर्मफल—भगवान् व्यासके अनुसार मनुष्यको अपने किये शुभाशुभ कर्मोंका फल अवश्य भोगना पड़ता है। बिना भोगे वह करोड़ों कल्पोंतक नष्ट नहीं होता, अतः अशुभ कर्म भूलकर भी न करे। प्रायः काम, क्रोध, लोभसे बुद्धि मारी जाती है—'**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**'।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि॥

(ब्रह्मवैवर्त० १। ४४। ७४)

उपसंहार

भगवान् व्यास साक्षात् परमात्मा हैं। फिर भी सर्वत्र केवल भगवदुपासनासे भगवत्साक्षात्कारकी शिक्षा देते हैं। जो अनन्यभावसे इनके ग्रन्थोंका चिन्तन करता हुआ तदनुसार भगवत्स्मरण, ध्यान, दर्शनकी साधना करता है, उसे इनकी कृपासे पूर्ण सिद्धि, पूर्णानन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार ये स्वयं गुरु, ब्रह्म, विद्या, शिक्षा एवं शिक्षक सभी रूपोंमें वन्दनीय हैं। आज जो भी ज्ञान, सुशिक्षा-रूपी निधि हमें प्राप्त है, वस्तुतः सब इन्हींका कृपाप्रसाद, उच्छिष्ट है। भास, कालिदास, बाण, तुलसीदास, सूरदास आदि सभी इन्हींके उपजीवी हैं। अतः सभीने इनका मुक्तकण्ठसे गुणगान किया है।

असंतुष्ट मनुष्य किसीको भी संतुष्ट नहीं कर सकता, जो सर्वदा संतुष्ट रहता है, वह सबको प्रफुल्ल कर सकता है। जिह्वा पापकी बातें कहनेमें बहुत ही तत्पर रहती है, उसे संयत करना आवश्यक है।

आचार्य पाणिनिकी महत्त्वपूर्ण शिक्षा

महर्षि पाणिनि शिक्षाके परम प्रेमी एवं यावज्जीवन शिक्षापरायण ही रहे ।[१] उनकी पाणिनीय शिक्षा तो प्रसिद्ध ही है, जो स्वर तथा उच्चारणके लिये पूर्ण मार्गदर्शिका है । उन्होंने लौकिक-वैदिक सभी प्रकारके शिक्षाङ्गोंपर भी साङ्गोपाङ्ग विचार किया है । अतः यहाँ उनपर एक स्वतन्त्र प्रबन्ध प्रस्तुत है ।

पाणिनिके अनुसार 'शिक्षा' शब्दकी अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं ।[२] उन्होंने मानो शिक्षाको ही परब्रह्म मान रखा था । उनके धातुपाठमें भी 'शिक्ष' धातुएँ दी गयी हैं ।

पाणिनिके समयमें शिक्षाकाल ब्रह्मचर्य कहलाता था—**'तदस्य ब्रह्मचर्यम्'** (पा॰ ५ । १ । ९४) । इसमें शास्त्रीय ब्रह्मचर्यके नियमोंको पूर्णतया पालन करना पड़ता था । आचार्य—उपाध्यायादिसे विद्यार्थी— शिक्षार्थीका सम्बन्ध विद्यासम्बन्ध कहलाता था ।[३] **'विद्यासम्बन्धेभ्यस्तावद् उपाध्यायादागतम् औपाध्यायकम्, आचार्यादागतम् आचार्यकम्, शिष्यादागतं शैष्यकम्** (४ । ३ । ७७ काशिका)' । इस प्रकार इस सम्बन्धसे प्राप्त पदार्थ-ज्ञान शिक्षादिमें **'वुञ्'** (अक्) प्रत्ययका प्रयोग होता था । शिष्यका गुरूपसदन—गुरुके पास शिक्षार्थ जाना 'आचार्यकरण' कहलाता था और उपनयन भी (पाणि॰ १ । ३ । ३६) । शिष्योंके माणव और अन्तेवासि दो भेद थे । उन्हें दण्ड रखना पड़ता था—**'दण्डप्रधाना माणवाः ।'** पतञ्जलिके अनुसार वेदमें अपवृत् छात्र माणव कहलाता था ।[४] गुरुके पास गुरुगृहमें वास करनेसे अन्तेवासी कहलाना युक्त ही था (४ । ३ । १३०) । **'चरणे ब्रह्मचारिणि'** के अनुसार ये ग्रन्थरूपसे ब्रह्मचारी ही कहे जाते थे । गुरुकी छत्रवत् रक्षा करनेसे ये छात्र भी कहलाते थे (४ । ४ । ६२) **'छत्रादिभ्यो णः' 'छादनादावरणाच्छत्रम् । गुरुकार्येणावहितः छिद्रावरणप्रवृत्तश्छत्रशीलः शिष्यश्छात्रः ।'** (काशिका) । छात्रोंको अजिन (मृगचर्म) एवं कमण्डलु सदा साथ रखना पड़ता था (द्र॰ सूत्र ४ । १ । ७१ तथा ६ । २ । १९४) ।

योग्य शिक्षक उन दिनों अनूचान (३ । ४ । ६८) और प्रवचनीय कहलाते थे (३ । २ । १०९) । वे दोनों प्रायः सदा उपस्थानीय (३ । ४ । ६८) एक साथ ही रहते थे । राजपुत्र, ऋत्विज्पुत्र, आचार्यपुत्र साथ-साथ शिक्षा प्राप्त करते थे (६ । २ । १३३) । गुरुओंके आचार्य, उपाध्याय, प्रवक्ता, श्रोत्रिय, अध्यापक आदि भेद भी थे । अथर्ववेदका ११ । ५ वाँ पूरा सूक्त आचार्य और ब्रह्मचारीके सम्बन्धकी महत्ताका ही प्रतिपादक है । अष्टाध्यायीमें अयोग्य, उच्छृङ्खल, अनवहित शिष्योंके लिये तीर्थध्वाङ्क्ष, तीर्थकाल, जाल्म आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं (२ । १ । २६, ४१ आदि) । भागवतमें भी ऐसी बातें आयी हैं ।

---

१. यावज्जीवति तावदधीते । (काशिका, बालमनोरमा)

२. सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् (पा॰ ७।४ ।५४) की व्याख्यामें दीक्षित आदि लिखते हैं—शक्लृ-शिक्षति, शक मर्षणे इति दिवादिः । शिक्षति अर्थात् शक्लृ शक्तौ, शक-मर्षणे—दोनोंके सन्नन्तमें 'शिक्षा' पद बनता है । ननु निरनुबन्धपरिभाषया 'शक मर्षणे' इत्यस्यैव ग्रहणमुचितमिति चेत् । अत्राहुः—इयं हि परिभाषा प्रत्ययग्रहणविषया । इससे अक्ष-गजकी शिक्षण-चेष्टा, गुरुगृहमें रहनेकी शिक्षाकी चेष्टा एवं अभ्यास भी गृहीत हैं । शङ्का और जिज्ञासार्थमें भी शिक्षा शब्द है । 'शक्ति शङ्कायाम्', 'शिक्षेर्जिज्ञासायाम्' १ । ३ । २१ पा॰ वार्त्तिकके अनुसार इस जिज्ञासा - अर्थमें—'शिक्षते' आत्मनेपद ही होता है ।

३. मनु भी शिक्षाके द्वारा ज्ञानी, जीवन्मुक्त, निष्कामी बनकर परमपद प्रदान करनेवाले विद्यासम्बन्धको ही सर्वोत्तम सम्बन्ध मानते हैं । उसे ही विद्यायोनिजन्मद आचार्यको सर्वोत्तम, सभी माता-पिताओंसे श्रेष्ठ वास्तविक माता-पिता मानते हैं—

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः । सम्भूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः । उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा ॥

(मनु॰ २ । १४७-४८)

४. ऐसे विद्यार्थियोंका सङ्घ माणव्य कहलाता था ।

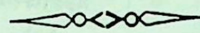
आचार्यकी शास्त्रोंमें अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं । पाणिनिकी परम्परावालोंने आचार्य शब्दकी—

आचिनोति च शास्त्रार्थानाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरेत यस्मात् तस्मादाचार्य ईष्यते ॥

—यह व्युत्पत्ति प्रदिष्ट की है ।

आचार-चरित्रप्रधान होनेके कारण, सदाचारके मुख्य शिक्षणके कारण उसे श्रद्धापूर्वक आचार्य कहते थे । एकदेशके—विद्याके एक प्रविभागके अध्यापन करानेवालेको उपाध्याय भी कहते थे । उसे ही अध्यापक, प्रवक्ता आदि भी कहा गया है ।

श्रोत्रिय संस्कार, विद्या, अनुष्ठानादिके अनुभवादिसे संयुक्त होते थे । पाणिनिने शिक्षाशास्त्र तथा सभी शिक्षाङ्गोंका भी विस्तारसे विचार किया है । उन्हें ज्योतिष भी पूरा ज्ञात था—'**कालाड्डञ्**' '**नक्षत्रेण युक्तः कालः ।**' साथ ही इसका अनेक ग्रन्थोंमें भी उल्लेख किया है, अनेक श्रेष्ठ विद्वानोंकी भी चर्चा की है । उसकी पूरी जानकारीके लिये समग्र ग्रन्थका अवलोकन आवश्यक है । इसमें काशिका, जिनेन्द्रबुद्धि, हरदत्त, पतञ्जलि, कैय्यट तथा वर्धमान आदिकी व्याख्याएँ भी परम सहायक हैं ।



जगद्गुरु भगवान् आद्य शंकराचार्यका शिक्षा-दर्शन

आदिगुरु भगवान् शंकराचार्य ज्ञानावतार तथा आनन्द एवं साक्षात् ब्रह्मके स्वरूप ही थे । स्वयं भगवती शारदाने कहा था—

शंकरः शंकरः साक्षाद् व्यासो नारायणः स्वयम् ।
तयोर्विवादे सम्प्राप्ते न जाने किं करोम्यहम् ॥[1]

अतः वे साक्षात् ज्ञानमूर्ति शिवके ही विग्रह थे । शैवागमों एवं शैव पुराणोंमें शिवको स्वतः विज्ञानविग्रह और बोधस्वरूप कहा गया है ।

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः
स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥

(वायुपुराण १२ । ३३, शिवपुराण १ । १८ । १२)

वस्तुतः समता, सर्वज्ञता, तृप्ति, शान्ति, अलुप्तक्रियाशक्तिता एवं ब्रह्मैकात्म्यबोध—ये आचार्यके जन्मजात गुण थे । उन्होंने यावज्जीवन शिक्षाग्रहण, शिष्योंका प्रशिक्षण, शास्त्रावगाहन, शताधिक गम्भीर ग्रन्थोंका लेखन, उपदेशादिके ही कार्य किये । अतः उनके शिक्षासम्बन्धी विचार अवश्य अनुसंधेय हैं ।[2]

आचार्यके मतसे शिक्षाके हजारों भेद हैं । किसी प्रकारकी भी प्रवृत्तिमें प्रयोजक तत्त्वोंके इष्ट साधन, ज्ञान या प्रयत्नको शिक्षा, शिक्षण या प्रशिक्षण कहते हैं—'**विभिन्नप्रवृत्तिप्रयोजकेष्टसाधनताज्ञानाख्यशिक्षायाः प्रयत्नः शिक्षणं कथ्यते ।**' पर वे इस शिक्षाको 'विद्या' पदसे विशेषतया अभिहित करते हैं । इस विद्या (शिक्षा) पद और उसकी विशिष्ट व्याख्याका वर्णन उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें विशद रूपसे किया है । आचार्यचरणने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्यादि ग्रन्थोंमें अक्षरविद्या, अग्निविद्या, अन्तर्यामिविद्या, अश्वपतिविद्या, आनन्दविद्या, उद्गीथविद्या, उपकोसलविद्या, गार्ग्यक्षरविद्या, दहरविद्या, पर्यङ्कविद्या,

---

१. माधवाचार्यकृत शंकरविजयमें यह साक्षात् नारायणावतार पद्मपादाचार्यकी उक्ति है—
त्वं शंकरः शंकर एव साक्षाद् व्यासस्तु नारायण एव नूनम् । तयोर्विवादे सततं प्रसक्ते किं किंकरोऽहं करवाणि सद्यः ॥ (२ । ११)

२. आचार्यकी गीता-वेदान्तभाष्य, उपदेशसाहस्री आदि कृतियों एवं जीवनीपर अबतक हजारों अनुसंधान हुए हैं । उनके शिष्य-प्रशिष्यों, मठ-मन्दिरोंकी सीमा नहीं । संस्कृतके वेद-वेदाङ्ग, दर्शनादि सभी क्षेत्रोंके पचहत्तर प्रतिशत ग्रन्थ उन्हींकी परम्परामें रचित हैं । इनके वेदान्त, गीतादि भाष्योंकी छाया, अनुवृत्ति, व्याख्याओंकी गणना अशक्य है । यही उनका जगद्गुरुत्व है ।

पञ्चाग्निविद्या, नाचिकेतसविद्या, त्रिणाचिकेतसविद्या, प्रतर्दनविद्या, प्रवाहणविद्या, प्राणविद्या, बालाकिविद्या, बाध्वविद्या, भूमाविद्या, मन्त्रविद्या, मधुविद्या, महाभाग्यविद्या, मैत्रेयीविद्या, वैश्वानरविद्या, शाण्डिल्यविद्या, संवर्गविद्या आदि शताधिक विद्याओंपर विचार करते हुए अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्याको ही प्रधान विद्या बताया है । श्रीमद्भागवतकारके मतमें भी यह विद्या, ज्ञान, शिक्षा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

तत्त्वबोध, तत्त्वप्राप्ति, सानुभव अद्वैतदृष्टि आदि परमात्माके ही पर्याय हैं । उसकी दृष्टिमात्रमें संसारके जीव मुक्त होते हैं—

तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः ।

हृदयग्रन्थिभेद, कामसंशयादि सर्वदोषोपशान्तिपूर्वक कर्मजालसे मोक्ष, परमानन्दस्वरूप शान्त शाश्वत परमात्मपदमें प्रतिष्ठा विद्याका प्रयोजन या फल है ।

आचार्य विज्ञान एवं शिक्षाके प्राण थे । उन्होंने ज्ञानको ईश्वररूप माना और जीवनभर शिक्षाके लिये ही सब कुछ किया । वे सुखभोगको छोड़कर धर्माचरण तथा ब्रह्मात्मैक्य-दर्शनमें निष्ठित रहे । तीव्र वैराग्यरूप धर्मफलमें उन्होंने ज्ञानरूप सम्यग्दर्शन और परमात्मदृष्टि प्राप्त की ।

सम्यग्दर्शन या अद्वैतदर्शन

अज्ञानमूलक अशिक्षाकी निवृत्तिके लिये वे शिक्षारूप ज्ञानाप्तिको सम्यग्दर्शनसे ही अभिहित करते हैं— **'न ह्यस्याः (अविद्याया अशिक्षायाः) सम्यग्दर्शनादन्यन्निवारकम् । प्राक् तु सम्यग्दर्शनाद् प्रततैषा भ्रान्तिः सर्वजन्तुषु । सम्यग्दर्शिनः कृतार्थत्वात् अभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिनः** (ब्रह्मसूत्रभाष्य २ । ३ । ४८) । **अत्र तु सम्यग्दर्शनं ज्ञानयज्ञशब्दितम् । · · · समर्थमिदं वचनं ब्रह्मार्पणम् । सम्यग्दर्शनं च प्रकृतं कर्मण्यकर्म यः पश्येत्** (गीता ४ । १८) · · · **सम्यग्दर्शनं तथैवोपसंहारात्'** (गीता ४ । २४-२५ शां॰ भा॰) मनुस्मृतिमें सम्यग्दर्शनको ही तात्त्विक शिक्षा कहा गया है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥

(६ । ७४)

कुल्लूभट्टके अनुसार इसमें मुण्डक॰ (२ । ८), एवं वेदान्तसूत्र (४ । १ । १३) **'तदधिगमश्लेषविनाशौ · · · तदव्यपदेशात्'** सूत्र भी भावित है । मनुने सारी शिक्षाओंका मूल तथा पर्यवसान परमात्मोपलब्धि एवं आत्मज्ञानमें प्रशिक्षण ही बताया है । वे कहते हैं—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥

(मनु॰ १२ । ८५)

'निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु' (मनु॰ १२ । ८९), **'समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति'** ॥ (मनु॰ १२ । ९१), **'यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः । आत्मज्ञाने शमे च स्याद् वेदाभ्यासे च यत्नवान्** ॥ (मनु॰ १२ । ९२), **'सर्वमात्मनि सम्पश्येत्'** (मनु॰ १२ । ११८), **' विद्यात् तं पुरुषं परम् । '** (मनु॰ १२ । १२२) । अर्थात् द्विजोत्तमको वेदाभ्यास एवं ज्ञान-सिद्धिमें विशेष यत्नवान् होना चाहिये ।

आचार्यने मनुके वचनोंको प्रमाणस्वरूप उद्धृत करते हुए उस परमात्माको अन्तर्हृदय एवं बाहर-भीतर सर्वत्र देखनेके लिये बार-बार अनुरोध किया है ।

आचार्यकी दृष्टिमें वैराग्य ही कैवल्यप्रद एवं समस्त शिक्षा-ज्ञानका फल है । इसीसे सम्यग्दर्शन एवं कृतार्थता होती है । परमज्ञेय-शिक्ष्य भगवत्तत्त्वको अधिगतकर विद्वान् कृतकृत्य हो जाता है ।

ज्ञेयं ज्ञेयाभ्यतीतं परमधिगतं तत्त्वमेकं विशुद्धं
विज्ञायैतद् यथावच्छ्रुतिमुनिगदितं शोकमोहावतीतः ।
सर्वज्ञः सर्वकृत् स्यादभवभयरहितो ब्राह्मणोऽवाप्तकृत्यः ॥

(उपदेशसाहस्री, सम्यङ् मतिप्रकरण १७ । ८२)

ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यं तस्यैव नान्तरीयं हि कैवल्यम् ।

(द्रष्ट॰ योग॰ भाष्य शांकरभाष्यविवरणादि)

जो शिक्षा शाश्वत शान्ति, मुक्ति, ग्राह्याग्राह्य-निर्णय, सुख-दुःख-विवेचन, भूत, भव्यका ज्ञान न कराये, वह आचार्यकी दृष्टिमें शिक्षा ही नहीं है ।

शिक्षाके लिये सद्गुरुकी शरण परमावश्यक है। सच्चे गुरुकी महिमा सर्वथा अवर्णनीय है (शतश्लोकी १-३, विवेकचूडामणि ४-१४)। यद्यपि अधिकारीको आधी बातें पूर्व ही भासित होती रहती हैं, पर शास्त्र और गुरुकी कृपासे शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान, तीव्र विरक्ति, भगवद्धाम-तत्त्वज्ञान, शुद्धबोध, तत्त्वनिष्ठा-दार्ढ्य होकर साधक शीघ्र ही परमात्मसाक्षात्कार कर कृतार्थ हो जाता है।

अद्वैत-दर्शन ही सम्यग्दर्शन है

आचार्यने विशुद्ध ज्ञानात्मा परब्रह्ममें नित्यनिष्ठ होकर यावज्जीवन अद्वैतको ही देखा। द्वैतमें अशिक्षा, अविद्या, भ्रम, मोह, संशय, अज्ञान, अशुद्धि एवं भयादि दोष नित्य संनिहित हैं। शिक्षादिसे परमात्माको प्राप्त किये बिना, देखे बिना, भ्रम, अज्ञान, अशिक्षाकी निवृत्ति हुए बिना सुख-शान्ति असम्भव है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(गीता २।६६, ४।४०)

समस्त गीताका भी यही अन्तिम निर्देश है।

हजारों भाषा, कलाविज्ञानकी डी० लिट्० उपाधियाँ मायामय हैं। पर आचार्य-प्रवरने भगवद्दर्शन या विशुद्धज्ञानके नित्य साक्षात्कारको ही सर्वोपरि सफलता माना, उपाधि माना, जो अति कठिन है। यह सभी जानते हैं। सर्वत्र इसीका प्रतिपादन किया, वस्तुतः यही उनका (और विशेषकर उनका ही) तत्त्वतया जगद्गुरुत्व है। इससे भारतका सिर सर्वाधिक ऊँचा हुआ है।

सर्वत्र एकमात्र शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माकी दृष्टि सम्यग्दर्शन या साक्षात् भगवद्दर्शन अत्यन्त पवित्र भावना है। (**'एकमेवाद्वितीयम्'**, **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छा०) **'एकं सद्'**, **''वासुदेवः सर्वं'**(गीता ७।२९, १३।२), **'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च'** (वेदा० ४।१।१३) आदि वचनोंसे सभी वेद-वेदान्त-पुराण आदि यही कहते हैं।

'ग्यान अखंड एक सीताबर', ***'सोइ सच्चिदानंदघन रामा'***, ***'अज बिग्यान रूप बल धामा।'*** ***व्यापक ब्रह्म अखंड अनंता'***, ***'अज अद्वैत अगुन हृदयेसा'***, ***'द्वैतरूप तम कूप परब एहि लागे'*** आदिमें तुलसीदास आदि महान् संत भी यही कहते हैं। इस भावनामें सभी देवता, सभी तीर्थ, सभी वेद-ज्ञान एकत्र होते हैं। यहीं शान्तिनिर्वाण है। तथापि इस शिक्षाके लिये अन्य साधन गुरूपसदन, शास्त्रश्रवण, मनन, विद्याभ्यास आदि आवश्यक हैं। यह **'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'** आदिके वेदान्त-भाष्य, सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह, प्रबोधसुधाकर, विवेकचूडामणि, आत्मबोध, अपरोक्षानुभूति आदिमें आचार्यने विस्तारसे बतलाया है।

इस शिक्षा-ज्ञानसिद्धिके लिये सभी पवित्र धर्माचरण, योग, भक्ति, वेदान्तादि शास्त्रज्ञानका शिक्षण, अवलोकन, मनन, आवृत्ति तदनुसार आचरण आवश्यक है। उन्होंने ३२ वर्षोंमें ही विशाल ग्रन्थराशिकी रचना कर बौद्धधर्म-जैसे बुद्धि-विद्याके पक्षपाती विद्वानोंको परास्तकर अहिंसावादी भारतको परास्त करनेवाले सारे विदेशियोंको भी परास्त करते रहनेका शाश्वत मन्त्र इस प्रकार फूँका जो अन्योंके लिये ३२ जन्मोंमें भी सम्भव न था। उनके भाष्योंके प्रश्नोत्तर, मोहमुद्गर, प्रश्नोत्तररत्नमणिमालिका एवं प्रश्नोत्तरीसे लेकर उपदेशसाहस्रीतक उनके शिक्षा-ग्रन्थ २००के लगभग हैं। व्याख्याताओंकी परम्पराने तो उससे विश्वको ही आच्छादित कर दिया। इनमें सभी प्रकारकी शिक्षाएँ हैं, पर ये सभी एक ही मुख्य कल्याणमार्गकी शिक्षा—उपदेश देते हैं। पूर्ण शुद्ध तत्त्व-ज्ञान या एक परमात्माका अद्वैत ज्ञान या सब शुद्ध पूर्ण शिक्षा या परमात्मासे कोई भेद नहीं। इससे सारे विश्वके प्राणी अपने सहित परमात्मामें दीखते हैं। ऐसा देखते ही सारे रोग, शोक, मनोदोष, दुःख, व्याधियाँ सदाके लिये समाप्त हो जाती हैं और साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदाके लिये बाहर-भीतर सर्वत्र दीखने लग जाते हैं—प्राप्त हो जाते हैं और—**'नाहं न त्वं नो जगत्।'** को भूलकर केवल एक ज्ञानानन्द—परमानन्द अखण्डज्ञानस्वरूप परमात्माका ही भान होने लगता है। यही आचार्यकी शिक्षाका सारसर्वस्व है। इसके निरन्तर अभ्यासमें कृतकृत्यता है।

आचार्य विद्यारण्यकी सर्वोत्तम शिक्षाएँ

जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यकी परम्परामें एक-से-एक श्रेष्ठ विद्वान् हुए हैं। उन विद्वानोंमें आचार्य विद्यारण्य भी अन्यतम हैं। इन्होंने आचार्यके अधूरे कार्यों—नृसिंहतापनी आदिके भाष्योंको पूरा किया । इसी प्रकार इनकी भी अधूरी पञ्चदशीका कार्य इनके गुरु विद्यातीर्थने पूरा किया ।

आचार्य विद्यारण्यके द्वारा निर्मित पचासों ग्रन्थ हैं। शिक्षा तथा उपदेशकी दृष्टिसे पञ्चदशी, विवरणप्रमेयसंग्रह, जीवन्मुक्तिविवेकादि श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। जीवन्मुक्तिविवेक सर्वाधिक मधुर एवं सरल है। इनके अनुसार मोक्षमें ही स्थायी सुख एवं शान्ति है; पर वह स्थिति यदि जीते-जी प्राप्त कर ली जाय तो विशेष बुद्धिमत्ता है। बुद्धि एवं शिक्षाके सहारे ज्ञानद्वारा यह स्थिति सहज प्राप्य है। शुद्ध ज्ञान होनेपर नित्य-अनित्यके विवेकसे संसारकी दुःखरूपता समझमें आने लगती है और दीखने लग जाती है। संसारकी निःसारता जाननेपर सार एवं सुखमय पदार्थकी खोजमें प्राणी परमात्माकी ओर प्रवृत्त होता है। परमात्माकी जानकारीसे ही उसकी प्राप्तिकी साधनामें तीव्रता आती है। परमात्माकी प्राप्तिसे हृदयग्रन्थिरूप अविद्या-वासनाजाल—कामनाओंके उच्छेद, संशय, ज्ञान, अशिक्षाके अन्त और ज्ञानोदयपूर्वक जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है। परमात्मपद हिरण्यगर्भादिसे भी श्रेष्ठ है। हृदयस्थ आत्मा कर्ता है या साक्षी? यदि साक्षी है तो वह साक्षात् परब्रह्म है या नहीं? इत्यादि संशय नष्ट होकर आत्मामें परमात्माका दर्शनकर द्रष्टाको विशुद्ध बोध, कृतार्थता एवं परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(मुण्डकोपनिषदादि)

शिक्षा-ज्ञानाभ्यासद्वारा चित्तके अविद्या, विपर्यय, क्लेश, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि दोषकी निवृत्ति ही जीवन्मुक्ति है। अतः शिक्षाद्वारा पुरुषार्थ-सम्पादनसे परम श्रेयकी प्राप्ति ही वास्तविक बुद्धिमत्ता है। बाल्यकालसे ही सत्-शास्त्रोंकी शिक्षा एवं अभ्याससे, सत्सङ्ग एवं सद्गुणोंद्वारा यह परम कल्याणकारी श्रेष्ठ अर्थ प्राप्त होता है—

आबाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्संगमादिभिः ।
गुणैः पुरुषयत्नेन सोऽर्थः सम्पाद्यते हितः ॥

(योगवासिष्ठ २। ५। १३, जीवन्मुक्तिविवेक, प्रमाणप्रकरणम् २४-३५)

वासनाओंमें बँधा अज्ञानी, अशिक्षित, संशयभ्रमग्रस्त पुरुष संसरणको प्राप्त होता है। शास्त्रोंकी शिक्षासे नरकरूप संसारसे निकलनेके लिये सत्सङ्गद्वारा शास्त्रसिद्ध ईश्वरकी प्राप्तिमें प्रयत्नशील होना ही कल्याणका मार्ग है। अशुभ वासनाओंमें लगे चित्तको शुद्ध शास्त्रज्ञान-वासना-ईश्वरप्राप्तिमें प्रेमसे प्रवृत्त करना चाहिये। सहसा तीव्र वासना-नदीका वेग अनुपरोध्य ही है। जैसे बच्चेको मृद्भक्षणसे हटाकर फलभक्षणमें, मणि-मुक्तासे हटाकर कन्दुकक्रीडामें लगाते हैं, वैसे ही चित्तको भी सत्सङ्गमें लगाकर, सत्-शास्त्राभ्यासमें लगाकर मोह, अविद्यादिका अपाकरण कर, बोधस्वरूप ईश्वरतत्त्वको जानकर उनकी प्राप्तिमें लगाना चाहिये। ईश्वर क्या है?, कैसा है? इसे ठीक-ठीक शास्त्र ही बतलाते हैं। अतः शास्त्रोंका पूरा स्वाध्याय कर परमात्मरूपको जानते-न-जानते परमात्माकी प्राप्ति और जीवन्मुक्ति-अवस्था सहजमें आ जाती है—

गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर ॥
शुभमनुसृत्य मनोज्ञभावबुद्ध्या अधिगमय
पदं यदद्वितीयं तदनु तदप्यवमुच्य साधु तिष्ठ ।

(योगवा० ५, जीवन्मुक्तिप्रमाण प्र० पृ० ४०)

योगवासिष्ठ ३। ९। ४-१३ में तथा गीता २। २६-७२ एवं १२, १४ आदि अध्ययोंमें सौम्य, शान्तमुखप्रभा, स्वच्छान्तर्हृदय, वासनाशून्य ज्ञानीको जीवन्मुक्त कहा गया है। उससे लोकको उद्वेग नहीं होता। वह सचित्त होकर भी निश्चित्त या ईश्वरचित्त होता है—

यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ।
असम्मानात् तपोवृद्धिः सम्मानात् तु तपःक्षयः ।

(पृ० ८३)

अतः मनुष्यको नरकके कारणभूत भोगोंसे दूर रहकर वैराग्याभास-प्रदर्शक शास्त्रोंमें ही लीन रहना चाहिये। उसे श्रेष्ठ शास्त्रोंकी ज्ञानामृतपूर्ण वाणियोंकी शिक्षासे निरन्तर परितृप्त होकर कृतकृत्यता एवं जीवन्मुक्तिका साक्षात् अनुभव करते रहना चाहिये।

संत गोस्वामी तुलसीदासजीकी शिक्षा-दृष्टि

गोस्वामीजीका नाना-पुराण-निगमागमसम्मत रामचरित-मानस भक्ति, योग तथा ज्ञानकी शिक्षाका स्वच्छ दर्पण है। उसमें वेदान्तवेद्य श्रीराम-रूप सुस्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। उन्होंने संतोंसे, शिवादि देवताओंसे, तीर्थाटनसे तथा गम्भीर शास्त्रावगाहनसे संशयसंकटपाशमोचिनी दिव्य शिक्षा प्राप्त की थी, अतः उनका काव्य विश्वमें सर्वाधिक लोकप्रिय और जन-जनका कण्ठहार बन गया है। वे योगवासिष्ठ, उपनिषद्, गीतादिके अनुसार शिक्षासाररूप पूर्णब्रह्म श्रीरामको सदा सर्वत्र देखते हैं—

सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥

श्रीरामके अवतारका मुख्य प्रयोजन मनुष्योंको ज्ञान देना—शिक्षित करना था। उन्होंने पिता-माता, गुरु, परिजन, राजा-प्रजाका व्यवहार कैसा हो, इसका आदर्श रखा। विशेषकर उनके श्रीराम शिक्षा-ज्ञानरूप ही हैं। वे तत्त्वतः अखण्ड ज्ञानरूप हैं—

ग्यान अखंड एक सीताबर।
नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥

गोस्वामीजीकी दृष्टिमें शिक्षा वही है, जिससे सदा, सर्वदा, सर्वत्र परमात्मा श्रीराम ही दीखें तथा प्रतिक्षण परिणामी असद्-रूप यह सारा संसार सदाके लिये समाप्त हो जाय। ऐसी सत्-शिक्षा वेद-शास्त्रादिद्वारा तथा गुरु हुए संतोंके उपदेशोंसे प्राप्त हो सकती है।

तुलसीके श्रीराम नित्य सर्वत्र प्रत्यक्ष हैं, पर व्यसन, कामना आदिके कारण सामने होते हुए भी नहीं दीखते।

जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सके रबि रजनी एक ठाम॥

(तु॰ सतसई)

ज्ञान-वैराग्यकी शिक्षासे तीव्र ध्यान-वैराग्यसे वे तुरंत दीखते हैं—**तीव्रसंवेगानामासन्नः**। (योग॰) यहाँ उनकी शिक्षापर कुछ विचार प्रस्तुत है।

श्रीरामकी शिक्षा और तुलसीदास

मानस-शब्दसागर, तुलसीशब्दसागर, रामायणकोश आदि विभिन्न शब्दकोशोंके अनुसार गोस्वामीजीके काव्योंमें शिक्षा शब्द तत्समरूपमें नहीं आया है, पर वे शिक्षाके पर्यायभूत सीख, सिखवन, उपदेश (स)[1], विद्या आदि शब्दोंका भरपूर प्रयोग करते हैं। माता सुमित्रा लक्ष्मणजीको शिक्षा देती हैं कि श्रीरामरूपी सूर्य जहाँ है, वहीं अयोध्या नगर-रूप सुखकर प्रकाश है। श्रीराम प्राणोंके प्राण, जीवके जीव और सबके स्वार्थ-रहित मित्र हैं। सब पुण्योंका फल श्रीराम-प्रेम है। राग-द्वेष, ईर्ष्या, प्रमादादि विकारोंसे बचकर मन, क्रम, वचनसे श्रीरामकी सेवा करो। यही हमारी शिक्षा, उपदेश और आशीर्वाद है—

अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवस जहँ भानु प्रकासू॥
गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥
सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥
रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥
उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं।

× × ×

तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।

(रा॰च॰मा॰ २। ७३-७५)

गोस्वामीजी विनयपत्रिकामें कहते हैं—'मैं दूसरोंको सुन्दर उपदेश देता हूँ, मनको भी कभी सिखाता हूँ, पर वह नहीं मानता। यह मेरे मनकी या मेरी ही विचित्र मूर्खता है, जो शिक्षाका उपयोग नहीं करता।

देत सिख सिखयो न मानत, मूढ़ता असि मोरि॥

(विनयपत्रिका १५८। २)

उपदेशके लिये 'सिखावन' शब्द उन्हें बहुत प्रिय रहा है। वे वनवासी स्त्रियोंद्वारा सीताजीको कहलाते हैं—

१. उपदेशके उदाहरणमें बालकाण्ड १। ७२-७३में पार्वतीके स्वप्नमें ब्राह्मणका उपदेश तथा अयोध्याकाण्डमें इन्द्रसे बृहस्पतिका दिव्य उपदेश परम ध्येय है। इनसे अध्यात्मप्रेरणा ग्राह्य है।

राजकुमारि सिखावन सुनहू। आन भाँति जियँ जनि कछु गुनहू॥

इसमें वनवासी स्त्रियोंकी श्रेष्ठ प्रार्थना है । ऐसे ही—*'सखिन्ह सिखावन दीन्ह'* आदि प्रयोग भी बहुत हैं ।

ऐसा ही एक पद विनयपत्रिकामें भी आता है—

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो ।
हरि-पद-बिमुख लह्यौ न काहु सुख, सठ ! यह समुझ सबेरो॥
बिछुरे, ससि-रबि मन-नैननितें, पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत श्रमित निसि-दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो॥
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता, तिहुँ पुर सुजस घनेरो।
छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति श्रुति संदेहु निबेरो।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि, होहु रामको चेरो॥

(विनयपत्रिका ८७)

महाराज जनक विवाहके बाद सीताजीको पति, सास, ससुर आदिकी परिचर्याकी शिक्षा[1] देते हैं—*'जनक जानकिहिं भेटि सिखाइ सिखावन'*। (जानकी-मंगल १७०) ।

पार्वतीका मन शिवानुरागमें हठ पकड़े है, कोई शिक्षा नहीं सुनता *'मनु हठ परा न सुनइ सिखावा'* (मानस १।७८।३) । स्वयं भगवान् श्रीराम शिक्षाके लिये गुरुकी श्रद्धासे अद्भुत परिचर्या करते हैं—

जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥

परिणामतः विद्या-विनय-शीलसे युक्त होकर नित्यके लिये विश्वसम्राट् बनते हैं—*बिद्या बिनय निपुन गुनसीला ।*

बिनयसील करुना गुन सागर। जयति बचन रचना अति नागर॥

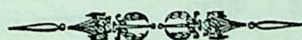
गोस्वामीजीके मतसे ईश्वरानुग्रह, संत-शास्त्र-गुरुकी परिचर्यासे ही दिव्य ज्ञान होता है ।

श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥
दलन मोह तम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥

सुख अद्वैत ज्ञानमें है, स्वरूपावस्थितिमें है ।—*'भक्त भैषज्यमद्वैतदरसी'* (विनय० ५७।९) अद्वैतदर्शी भक्त ही अज्ञानजनित भवरोगका वैद्य है । *'जाते छूटे भव-भेद-ग्यान॥' (६४।१), तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख (१२४।१), द्वैत मूल, भय-सूल, सोक-फल, भवतरु टरै न टर्‌यो (२०२।२) दुइज द्वैत-मति छाड़ि (२०३।३) सेवत साधु द्वैत-भय भागै (१३६।११।१), सपनेहुँ नहीं सुख द्वैत-दरसन (१३६।१२) द्वैतरूप तम-कूप (११३।४)* तथा मानस आदिके **'निज प्रभुमय देखहिं जगत'** आदिका भी यही भाव है । —पर स्त्री आदिका तनिक भी चिन्तन सर्वनाशक, नरकदायक एवं आत्माको भीषण क्लेशप्रद है—

मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता।
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥

उन्होंने वेदान्तसूत्र[2] (४।१।१३) में निर्दिष्ट शिक्षा-ज्ञान-भगवत्तत्त्वप्राप्तिको एवं सर्वसिद्धिप्राप्तिको भावपूर्ण ढंगसे व्यक्त किया है और वस्तुतः यही मानव-जीवन एवं उसकी शिक्षाका परम फल है और सभी साधनाओं तथा पुरुषार्थोंका भी फल-पर्यवसान यहीं होता है ।



आलस्य सब अनर्थोंका मूल है, अतः यत्नपूर्वक आलस्यका परित्याग करो । संसार धर्माधर्मकी परीक्षाकी भूमि है, इसलिये सावधान होकर धर्माधर्मकी परीक्षा करके कार्य अवलम्बन करो ।



१. केवल मानसमें 'शिक्ष' धातुसे बने तद्भव शब्द लगभग १५० बार प्रयुक्त हैं । उपदेश, विद्या, ज्ञान, विज्ञान, कलादि सभी पर्यायसहित पूरे तुलसी-साहित्यमें ये डेढ़ हजार बारके लगभग ओतप्रोत हैं । सर्वत्र भाव अनोखा है, यहाँ अति संक्षेपमें कुछ ही उदाहरण दिये गये हैं ।

२. तदधिगम्य उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशो तद्व्यपदेशात् ।   (वेदान्तदर्शन, फलकाण्ड सू०१)

भगवान् शिवके कार्योंसे शिक्षा

(पूज्यपाद अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

भगवान् भूतभावन श्रीविश्वनाथके मङ्गलमय नामोंका माहात्म्य एवं नामानुकूल चरित्रोंका वर्णन वेद, उपनिषद्, शिवपुराण तथा स्कन्द, कूर्मादि अन्य १२ महापुराणोंमें अमृतमय पदोंमें विस्तारसे हुआ है। उनके श्रवण, मननसे सबका परम मङ्गल होता है। उनके पावन चरित्रसे प्राणियोंको नैतिक, सामाजिक, कौटुम्बिक आदि अनेक प्रकारकी शिक्षाएँ भी प्राप्त होती हैं। केवल एक उदाहरण देखिये— समुद्र-मन्थनके समय स्वयं तो आपने (भगवान् विष्णुके परामर्शानुसार) वासुकि नागके मुखसे प्रसूत घनीभूत विषपुञ्ज कालकूटको पान कर लिया और देवताओं-को अमृत प्रदान किया। राष्ट्रके नेता और समाज एवं कुटुम्बके स्वामीका भी यही कर्तव्य है—उत्तम वस्तु राष्ट्रके अन्यान्य लोगोंको देनी चाहिये और अपने लिये परिश्रम, त्याग तथा तरह-तरहकी कठिनाइयोंको ही रखना चाहिये। विषका भाग राष्ट्र या बच्चोंको देनेसे वैमनस्य होगा और उससे सर्वनाश हो जायगा। भगवान् शिवने विषको न हृदय (पेट) में उतारा और न उसका वमन ही किया, किंतु उसे कण्ठमें ही रोक रखा। इसीलिये विष और कालिमा भी उनके लिये भूषण हो गये—

यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम् ॥

(श्रीमद्भा० ८।७।४३)

जो संसारके हितके लिये विषपानसे भी नहीं हिचकते, वे ही राष्ट्र या जगत्‌के ईश्वर हो सकते हैं। परिवार, समाज या राष्ट्रकी कटुताको पानकर ही कोई नेता राष्ट्र या परिवारका कल्याण कर सकता है। उस कटुताका विष कभी आगे भी वमन करनेसे फूट और उपद्रव हो सकता है। साथ ही उस विषको हृदयमें रखना भी बुरा है। अमृतपानके लिये सभी उत्सुक होते हैं, परंतु विषपानके लिये एकमात्र भगवान् शिव ही हैं। वैसे ही फलभोगके लिये सभी लालायित रहते हैं, परंतु त्याग तथा परिश्रमको स्वीकार करनेके लिये महापुरुष ही प्रस्तुत होते हैं। जैसे अमृतपानके अनुचित लोभसे देव-दानवोंका विद्वेष स्थिर हो गया, वैसे ही अनुचित फल-कामनासे समाजमें विद्वेष स्थिर हो जाता है।

भगवान् शिवका कुटुम्ब भी विचित्र है। अन्नपूर्णाका भण्डार सदा भरा, पर भोले बाबा सदासे भिखारी! कार्तिकेय सदा युद्धके लिये उद्यत, पर गणपति स्वभावसे ही शान्तिप्रिय। फिर कार्तिकेयका वाहन मयूर, गणपतिका मूषक, पार्वतीका सिंह और स्वयं अपना नन्दी और उसपर आभूषण सर्पोंके। सभी एक-दूसरेके शत्रु, पर गृहपतिकी छत्रच्छायामें सभी सुख तथा शान्तिसे रहते हैं। घरमें भी प्रायः विचित्र स्वभाव और रुचिके लोग रहते हैं, जिसके कारण आपसमें खटपट चलती ही रहती है। घरकी शान्तिके आदर्शकी शिक्षा भी भगवान् शिवसे ही मिलती है। भगवान् शिव और अन्नपूर्णा अपने-आप परम विरक्त रहकर संसारका सम्पूर्ण ऐश्वर्य श्रीविष्णु और लक्ष्मीको अर्पण कर देते हैं।

श्रीविष्णु और लक्ष्मी भी संसारके सभी कार्योंको सँभालने-सुधारनेके लिये अपने-आप ही अवतीर्ण होते हैं। गौरी-शंकरको कुछ भी परिश्रम न देकर आत्मानुसंधानके लिये उन्हें निष्प्रपञ्च रहने देते हैं। ऐसे ही कुटुम्बियोंके हाथमें समाज और कुटुम्बका सब ऐश्वर्य दे दें और उन योग्य अधिकारियोंको चाहिये कि समाजके प्रत्येक कार्य-सम्पादनके लिये स्वयं ही अग्रसर हों, वृद्धोंको निष्प्रपञ्च होकर आत्मानुसंधान करने दें।

महापार्थिवेश्वर हिमालयकी महाशक्तिरूपा पुत्रीका भगवान् शिवके साथ परिणय होनेसे ही विश्वका कल्याण हो सकता है। किसी प्रकारकी भी शक्ति क्यों न हो, जबतक वह धर्मसे परिणीत-संयुक्त नहीं होती, तबतक कल्याणकारिणी नहीं होती, परंतु आसुरी शक्ति तो तपस्या चाहती ही नहीं, फिर उसे शिव या धर्म कैसे मिलेंगे? धर्मसम्बन्धके बिना शक्ति आसुरी होकर अवश्य ही संसारका हेतु बनेगी। प्रकृति माताकी यह प्रतिज्ञा है—

यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति ॥

अर्थात् 'संर्घषमें जो मुझे जीत लेगा, जो मेरे दर्पको चूर्ण कर देगा और जो मेरे समान या मुझसे अधिक बलशाली होगा, वही मेरा पति होगा।' यह स्पष्ट है कि रक्तबीज, शुम्भ, निशुम्भ आदि कोई भी दैत्य या दानव प्रकृति-विजेता नहीं हुए, किंतु सभी प्रकृतिसे पराजित एवं प्रकृतिके अंश काम, क्रोध, लोभ, मोह, दर्प आदिसे पद-पदपर भग्नमनोरथ होते रहे हैं। हाँ, गुणातीत प्रकृतिपर भगवान् शिव ही विजयी होते हैं। तभी तो माताने उन्हें ही अपना पति बनाया है। यही क्यों, कन्दर्पविजयी शिवकी प्राप्तिके लिये तो उन्होंने घोर तपस्या भी की है।

आजका संसार शुम्भ-निशुम्भकी तरह विपरीत मार्गसे प्रकृतिपर विजय चाहता है। इसीलिये प्रकृति अनेक तरहसे उसका संहार कर रही है। पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य, विविध तत्त्वोंका अन्वेषण, जल, स्थल, नभपर शासन करना, समुद्रतलके जन्तुओंकी शान्तिको भङ्ग करना, तरह-तरहके यन्त्रोंका आविष्कार और उनसे काम लेना ही आजका प्रकृतिजन्य कार्य है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और उनके विकारोंपर नियन्त्रण करनेका आज कोई भी मूल्य नहीं। प्रकृति भी कोयला, लोहा, तेल आदि साधारण-से-साधारण वस्तुओंको निमित्त बनाकर उन्हीं यन्त्रोंसे उनका संहार करा रही है।

खेद है, आजके शिक्षित भगवान् शिवको 'अनार्य' देवता बतला रहे हैं। भगवान् शिवकी आराधना भूल जानेसे आज राष्ट्रका भी शिव (मङ्गल) नहीं हो रहा है। भगवान् शिवकी आराधनापर शैवागमों एवं शैव पुराणोंमें अपार सामग्री है, उन्हें देखकर उनकी विधिपूर्वक आराधना कर्तव्य है। श्रीगोस्वामीजी महाराज भी उनका भजन आवश्यक बतलाते हैं—

जरत सकल सुर बृंद बिषम गरल जेहिं पान किय।
तेहि न भजसि मन मंद को कृपाल संकर सरिस॥

भगवान् शिवकी आराधना

चन्द्रोद्भासितशेखरे स्मरहरे गङ्गाधरे शंकरे
सर्पैर्भूषितकण्ठकर्णविवरे नेत्रोत्थवैश्वानरे।
दन्तित्वक्कृतसुन्दराम्बरधरे त्रैलोक्यसारे हरे
मोक्षार्थं कुरु चित्तवृत्तिमखिलामन्यैस्तु किं कर्मभिः॥
किं वानेन धनेन वाजिकरिभिः प्राप्तेन राज्येन किं
किं वा पुत्रकलत्रमित्रपशुभिर्देहेन गेहेन किम्।
ज्ञात्वैतत्क्षणभङ्गुरं सपदि रे त्याज्यं मनो दूरतः
स्वात्मार्थं गुरुवाक्यतो भज भज श्रीपार्वतीवल्लभम्॥

'चन्द्रकलासे जिनका ललाट-प्रदेश भासित हो रहा है, जो कन्दर्पदर्पहारी हैं, गङ्गाधर हैं, कल्याणस्वरूप हैं, सर्पोंसे जिनके कण्ठ और कर्ण भूषित हैं, नेत्रोंसे अग्नि प्रकट हो रहा है, हस्तिचर्मकी जिनकी कन्था है तथा जो त्रिलोकीके सार हैं, उन शिवमें मोक्षके लिये अपनी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंको लगा दें, अन्य कर्मोंसे क्या प्रयोजन? इस धन, घोड़े, हाथी और राज्यादिकी प्राप्तिसे क्या? पुत्र, स्त्री, मित्र, पशु, देह और घरसे क्या? इनको क्षणभङ्गुर जानकर रे मन! दूरसे ही त्याग दे और आत्मानुभवके लिये गुरुवचनानुसार पार्वतीवल्लभ श्रीशंकरका भजन कर।'

बालकोंकी सच्ची उन्नतिका उपाय

(अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य, ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

करारविन्देन पदारविन्दं
मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं
बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥

परमात्माकी सृष्टिमें दैव और आसुरभावको प्राप्त—दो प्रकारके जीव मिलते हैं।

उभे प्राजापत्या देवाश्चासुराश्चेति । ते पस्पर्धिरे दैत्या ज्यायांसो देवाश्च महीयन्त ।

इस दैव और आसुर सृष्टिमें अनादि कालसे द्वेष-भावना, स्पर्धा अक्षुण्ण चली आ रही है। दैत्योंकी विजय और देवताओंकी हार बहुत बार होती देखी गयी है। सत्त्वप्रधान जीव देव और तमःप्रधान जीव असुर माने जाते हैं। गीतामें लिखा है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(१६। १-३)

अर्थात् दैवी सम्पत्तिमें उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंमें अभय, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञान, योग, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, पिशुनताका अभाव, प्राणियोंके प्रति दया, अलोलुपता, मृदुता, लज्जा, अचापल्य, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, अभिमानाभाव आदि सद्गुण स्वभावसे रहते हैं। इसके विपरीत आसुरी सृष्टिवाले जीवोंमें—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥

(गीता १६। ७)

—प्रवृत्ति और निवृत्तिका तात्त्विक ज्ञान न होना, शौचाभाव, आचाराभाव, सत्याभाव आदि असद्गुणोंका बाहुल्य दीख पड़ता है। आजके बालकका गर्भाधानमें आनेके क्षणसे ही माता-पिताके अशास्त्रीय व्यवहारोंके कारण दैवी सृष्टिमें जन्म कठिन ही नहीं, प्रायः असम्भव-सा प्रतीत होता है; क्योंकि गार्भिक संस्कारोंका प्रायः अभाव ही रहता है। गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन एवं पुंसवन संस्कारोंके न होनेसे माता-पिता तत्कालीन शिक्षा और तदनुकूल आचरणसे वञ्चित रह जाते हैं। लिखा है—

हरिद्रां कुङ्कुमं चैव सिन्दूरं कज्जलं तथा।
कूर्पासकं च ताम्बूलं मङ्गलाभरणं शुभम्॥
केशसंस्कारकबरीकण्ठकर्णविभूषणम् ।
भर्तुरायुष्यमिच्छन्ती दूरयेद् गर्भिणी न हि॥
चतुर्थे मासि षष्ठे वाप्यष्टमे गर्भिणी यदा।
यात्रा नित्यं विवर्ज्या स्यादाषाढे तु विशेषतः॥

(बृहस्पति)

अर्थात् गर्भिणी स्त्रीको चौथे, छठे, आठवें मासमें यात्रा कभी नहीं करनी चाहिये। पतिकी आयु चाहनेवाली स्त्रीको माङ्गलिक शृंगार, केश-संस्कार, कर्ण-विभूषणका त्याग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार गर्भिणीके पतिको भी—

वपनं मैथुनं तीर्थं वर्जयेद् गर्भिणीपतिः।
नौकारोहणं चैव तथा च गिरिरोहणम्॥

(रत्नसंग्रह)

अर्थात् गर्भिणीपति मुण्डन, मैथुन, तीर्थसेवन, नावकी सवारी और पर्वत आदिका आरोहण न करे। इस प्रकार धर्मशास्त्रानुकूल सदाचरणोंद्वारा उत्तम संतति उत्पन्न की जा सकती है। इसके विपरीत आजके पुरुष और स्त्री नियमपूर्वक नहीं रहते, जिसके कारण उत्तम संतान उत्पन्न ही नहीं होती।

जातकर्म

उत्पत्तिके समय पिताको बालकका नालच्छेदनसे पूर्व जातकर्म-संस्कार करना चाहिये । जातकर्म-संस्कारके प्रमाणसे बालक गुणवान् और दीर्घायु होता है—

स यदि कामयेत सर्वमायुरियादिति वात्सपेयेनैनमभिमृशेत् ।

(पा० गृ० सूत्र जातकर्म सू० ८)

'यदि पिता चाहे कि इस बालककी पूर्ण आयु हो तो वात्सपेय अनुवाकसे बच्चेपर हाथ फिराये ।' इससे वह दीर्घजीवी होता है । जातकर्म-संस्कारके समय बालककी दीर्घायुके लिये सुवर्ण-भूमि-गोदानादि करना चाहिये—

आयान्ति पितरो देवा जाते पुत्रे गृहं प्रति ।
तस्मात् पुण्यमहः प्रोक्तं भारते चादिपर्वणि ॥

'पुत्रकी उत्पत्तिके साथ-साथ देव और पितर जनिताके घर आते हैं । अतएव उनकी तृप्तिके लिये पिताको दान-पुण्य करना आवश्यक है ।' इसके पश्चात् **'दशम्यां पुत्रस्य'** के अनुसार बालकका नामकरण-संस्कार, अन्नप्राशन, बहिर्निष्क्रमण, चूडाकरण-संस्कार शास्त्रविधिसे यथाकाल करने चाहिये ।

माताका अधिकार

पूर्वकथनानुसार गर्भगत बालक मातासे अधिकृत रहता है । उत्पत्तिके पश्चात् भी जबतक बालकका निष्क्रमण-संस्कार नहीं होता, तबतक वह माताके ही अधिकारमें रहता है । इस अवस्थामें बालकको भय दिखाना, अपवित्र रखना, उसके सामने कामजन्य चेष्टाएँ करना, नींद आदिके लिये मादक द्रव्य देना, रोते हुए बच्चेको नशा खिलाना आदि बातें बालकके भविष्यमें महान् 'खाई' बन जाती हैं । जैसी आदत बालककी हो जाती है, वैसी ही अन्ततक चलती है । इसके पश्चात् पिताका अधिकार आता है ।

पिताका अधिकार

पिताको चाहिये कि बालकका लालन-पालन प्रेमसे करे और उसे शिक्षाकी उत्तम-उत्तम बातोंका उपदेश करे । अपशब्द, गंदी बातें, गाली आदिका प्रयोग भूलकर भी बालकके सामने न करे । जब बालक बोलना शुरू करे, तब उसे राम-कृष्णके सुन्दर नामोंका उच्चारण कराये और उत्तम-उत्तम बातोंका उपदेश करता रहे । इसके पश्चात् जब बालककी आयु पाँच वर्षकी हो जाय, तब उसका उपनयन-संस्कार कराकर गुरुको सौंप देना चाहिये ।

उपनयन-संस्कार

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥

अर्थात् 'ब्रह्मतेजको धारण करनेवाले ब्राह्मण-बालकका पाँचवें, बलार्थी क्षत्रिय-बालकका छठे, धनार्थी वैश्य-बालकका आठवें वर्षमें उपनयन करे ।' आपस्तम्बसूत्रकार भी लिखते हैं—

अथ काम्यानि सप्तमे ब्रह्मवर्चस्कामम्, अष्टमे आयुष्कामम्, नवमे तेजस्कामम्, दशमे ज्ञानादिकामम्, एकादशे इन्द्रियकामम्, द्वादशे पशुकाममुपनयेत् ॥

—इत्यादि उपनयन-संस्कारका मुख्य उपदेश कामचार, कामवाद और कामभक्षणका परित्याग करके अपनेको ब्रह्मबल-क्षात्रबल-प्राप्तिके योग्य बनाना है ।

कामचार

उपनयन-संस्कारके पूर्व बालक इच्छित स्थानपर बैठना-उठना, आना-जाना आदि करता रहता है । स्वेच्छापूर्वक कहीं चले जाना, शुद्ध या अशुद्धका विचार न करना, शौचाचारका ध्यान न रखना आदि कामचारके अन्तर्गत हैं । इसीलिये उपनयनके पश्चात् आचार्यको शौचाचार सिखानेके लिये शास्त्र आज्ञा देता है ।

कामवाद

उपनयनके पूर्व बालक स्वेच्छानुसार चाहे जैसे बोलता और कहता रहता है, उसपर आक्षेप तथा किसी प्रकारका दबाव नहीं दिया जाता, परंतु उपनयनके पश्चात् गुरु उपदेश देता है । **'सत्यं वद'**, **'प्रियं वद'**, **'सत्यमप्रियं मा वद'**, **'प्रियं चासत्यं मा ब्रूहि'** इत्यादि । अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य मत बोलो, प्रिय असत्य मत बोलो आदि । अतएव श्रीमद्भगवद्गीतामें 'वाङ्मय तप'के प्रसङ्गमें कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
(१७।१५)

यही वाणीका सदुपयोग है। इसके विपरीत—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥
(मनु० १२।६)

कठोर वचन, मिथ्या-भाषण, चुगलखोरी, बेतुकी बातें कहना—जिससे कहनेवाले और सुननेवालेका कोई लाभ न हो, इसमें वाणीका दुरुपयोग होता है तथा परलोकमें पशु-पक्षियोंकी योनि प्राप्त होती है—

वाचिके पक्षिमृगता दुर्योनिप्राप्तिः साम्प्रतम्।

आजकल शिक्षित समुदायमें बहुधा देखा जाता है कि कोई बात कहकर उसके पालनमें थोड़ी-सी आपत्ति होनेपर कह देते हैं कि 'हम अपना वचन वापस लेते हैं।' ऐसा कहना अपने भारतीय आदर्शको भूल जाना है। **'रामो द्विर्नाभिभाषते'**। 'चंद टरै, सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।' इसलिये जो व्यक्ति कामवादको छोड़कर 'हित', 'मित', 'सत्य' बोलता है, उसकी वाणीमें **'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'**—इस प्रमाणके अनुसार जो बात निकलती है, वह तत्क्षण फलदायिनी हो जाती है। इसलिये गुरुकुलमें आचार्यद्वारा स्वयं अनुद्वेगकर, सत्य, प्रिय, हितवाक्य बोलते हुए बालकोंको प्रारम्भसे ही वैसा ही बोलनेका अभ्यास कराना चाहिये।

कामभक्षण

उपनयनसे पहले शिशु इच्छानुसार अनेक बार खाता-पीता रहता है, परंतु उपनयनके अनन्तर आचार्य काम-भक्षणपर नियन्त्रण रखता हुआ आदेश देता है—

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिचोदितम्।
नान्तरा भोजनं कार्यमग्निहोत्रसमो विधिः ॥
द्विर्भोजनं न कर्तव्यं स्थिते सूर्ये द्विजातिभिः ॥

अर्थात् **'सायं प्रातर्वा भोजनम्'** इस वेद-प्रमाणसे एक बार दिनमें, एक बार रात्रिमें भोजन करना ही द्विजातिके लिये विहित है। बीचमें भोजन नहीं करना चाहिये। सूर्यके रहते दो बार भोजन करना उचित नहीं। प्रायः आजके शिक्षित समाजकी यह धारणा बन गयी है कि खाने-पीनेसे धर्म और शिक्षाका कोई सम्बन्ध नहीं है।

परंतु यदि विचारदृष्टिसे देखा जाय तो यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। दीपक अन्धकारको खाता है और परिणामतः कज्जलको उगलता है। श्रुति अन्वय-व्यतिरेकरूप तर्कसे इस सिद्धान्तको दिखाती है—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः। आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यो स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः। तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः सा मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक्।

अर्थात् खाया हुआ अन्न शरीरमें जाकर मल, मांस तथा मनरूप परिणामको प्राप्त होता है। इसी प्रकार पीया हुआ जल मूत्र-रक्त-प्राणरूप एवं खाये हुए तेजोमय घृतादिक पदार्थ अस्थि-मज्जा-वाणीरूप हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अन्नका सूक्ष्मतम परिणाम मन हुआ, जलका प्राण और घृतादिकोंका वाणी।

इसलिये जो लोग अन्न, जल और घृत आदिका शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्य-अभक्ष्यका विचार न करते हुए मनमाना उपयोग करते हैं, उनके मन, प्राण, वाणी किस रूपमें परिणत होते हैं—यह बात आज प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है। आजका शिक्षित समुदाय करोड़ोंकी संख्यामें अपने भारतीय आदर्शसे विमुख होकर पशुओंके समान उच्छृङ्खल होता जा रहा है। किसी व्यक्ति और समाज तथा राष्ट्रके पतनके हेतु—विहित कर्मोंका त्याग, निन्दित कर्मोंका आचरण और विषयासक्ति ही होते हैं—

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसजन्निन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति ॥
न कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कोई लौकिक प्राणी क्षणमात्र भी वाचिक-मानसिक चेष्टाओंके बिना नहीं रह सकता। इसलिये शास्त्रविहित

कर्मोंका परित्याग करनेसे लक्षित होता है कि निन्दित आचरण अर्थात् कामचार, कामवाद, कामभक्षण हो रहा है । इन्द्रियोंके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धमें फँसा हुआ मनुष्य मारा जाता है—

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीन-
भृङ्गा हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥

'वीणाके शब्दसे मृग, स्पर्शदोषसे हस्ती, रूपसे पतङ्ग, रससे मत्स्य, गन्धसे लोलुप भृङ्ग मृत्युके मुखमें चले जाते हैं ।' इसी प्रकार व्यक्ति और समाज तथा राष्ट्रका पतन होता है । विशेषकर बालकोंके कोमल स्वच्छ अन्तःकरणपर शिक्षाके द्वारा जो छाप पड़ती है, वह तो आमरण अमिट हो जाती है—

यन्नवे भाजने लग्नं तत् क्वचिन्नान्यथा भवेत् ।

मनुजी कहते हैं—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥

अर्थात्'अन्नके दोष, धर्मसे विमुखतारूप आलस्य, आलस्यसे सदाचारका त्याग और वेदादि सच्छास्त्रोंके अनभ्याससे ब्राह्मणोपलक्षित द्विजातियोंके बालक अविद्या-काम-कर्मरूप मृत्युके मुखमें चले जाते हैं ।' बालक ही भविष्यमें राष्ट्रके संचालक तथा नागरिक बनते हैं । जिस देशके बालक शिक्षाद्वारा कामचार, कामवाद, कामभक्षणकी पराकाष्ठापर पहुँचाये जा रहे हैं, क्या वह राष्ट्र भी कभी ऐहिक, आमुष्मिक अभ्युदयका भागी होगा—ऐसा कोई विचारशील माननेको तैयार नहीं हो सकता । आजकल बालक-बालिकाओंका सहशिक्षण चल रहा है, इसका दुष्परिणाम भी किसी विचारशीलसे छिपा नहीं है । प्रायः गृहस्थ-आश्रममें आनेसे पहले ही बालक-बालिकाएँ अनाचारका शिकार बन जाती हैं । इसीलिये मनुजी लिखते हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

'माता, बहिन और बेटीके साथ भी एकान्तमें (एक आसनपर) न बैठे । इन्द्रियोंका प्राबल्य विद्वान्को भी विषयोंमें खींच लेता है ।' इसलिये हमारी शिक्षाके आदर्शानुसार बालकोंको आचार्यकुलमें जाते ही अखण्ड ब्रह्मचर्यका व्रत धारण कराया जाता था—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

अर्थात् 'ब्रह्मचर्य-अवस्थामें कामबुद्धिसे स्मरण, कीर्तन, केलि (हास्य), अङ्गप्रेक्षण, एकान्त-भाषण, संकल्प, बुद्धिका निश्चय तथा समागमरूप—ये अष्टविध मैथुन ब्रह्मचारीके लिये विवर्जित हैं ।' तद्विपरीत अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना शास्त्रविहित है । पाँच यमोंमें ब्रह्मचर्यका चतुर्थ स्थान है और पाँच नियमोंमें स्वाध्यायका चतुर्थ स्थान है । इससे सिद्ध हुआ कि वेदादि सच्छास्त्रोंके अध्ययन तथा संध्यापूर्वक गायत्री आदि पवित्र मन्त्रोंके जपरूप स्वाध्यायसे ब्रह्मचर्यकी अखण्डता अक्षुण्ण रहती है । और भी—

'सत्सङ्गसंनिधित्यागदोषदर्शनतो भवेत् ।'
'भवेद् ब्रह्मचर्यम् ।'

अर्थात् विषयोंमें शास्त्र-प्रतिपादित दोष देखते हुए ब्रह्मचर्यके विघातक गंदे साहित्य और सिनेमा आदिसे बचते हुए तथा मादक द्रव्यसेवी एवं विषयी पुरुषोंकी संनिधिके त्यागपूर्वक सत्-शास्त्र एवं सत्पुरुषोंका समागम भी ब्रह्मचर्यरक्षाका अमोघ उपाय है । बालकोंको वेदकी आज्ञा है—**'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव ।'** अतः माता-पिता जिस प्रकार लालायित रहते हैं कि हमारे घरमें पुत्र-जन्म हो तथा गुरुजन आशा करते हैं कि हमारे यहाँ अधिक संख्यामें विद्यार्थी अध्ययनार्थ प्रविष्ट हों, उससे भी अधिक उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि जो बालक हमारे प्रभुकी कृपासे पुत्र तथा शिष्यरूपसे प्राप्त हुए हैं, उन्हें सच्चरित्र एवं आदर्श बनायें । बालककी सबसे प्रथम आदर्श माता है । माता यदि चाहे तो बालकको मदालसाकी तरह शैशवकालमें ही ब्रह्मनिष्ठ अथवा धर्मनिष्ठ बना

सकती है । मदालसोपाख्यानमें मदालसाका उल्लापन (लोरी) ही तीन पुत्रोंको ब्रह्मनिष्ठ बनानेमें कृतकार्य हुआ था—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसावाक्यमवेहि पुत्र ॥

चतुर्थ बालकके पतिकी आज्ञासे प्रवृत्तिनिष्ठ गृहस्थाश्रममें रहते हुए वंशवृद्धिके लिये उल्लापन प्रसिद्ध है—

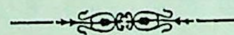
धरामरान् पर्वसु तर्पयेथाः
समीहितं बन्धुषु पूरयेथाः ।
हितं परस्मै हृदि चिन्तयेथा
मनः परस्त्रीषु निवर्त्तयेथाः ॥
सदा मुरारिं हृदि चिन्तयेथा-
स्तद्ध्यानतोऽन्तः षडरीञ्जयेथाः ।
मायां प्रबोधेन निवारयेथा
ह्यनित्यतामेव विचिन्तयेथाः ॥

अर्थात् संक्रान्ति आदि पर्वोंपर ब्राह्मणोंकी भोजनादिसे तृप्ति, अपने बन्धुवर्गोंकी समीहित वस्तुकी पूर्ति, अन्य पुरुषोंका हितचिन्तन, परस्त्रियोंसे मनका नियन्त्रण, श्रीमुरारिका सदा हृदयमें चिन्तन तथा उनके ध्यानसे काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यरूप षट् शत्रुओंपर विजय, सद्गुरुके ज्ञानोपदेशसे मायापर विजय तथा वैभवका उपभोग करते हुए भी उसमें क्षण-भङ्गुरत्व-दृष्टि—यही गृहस्थधर्मका आदर्श है ।

माताके पश्चात् बालकका सम्पर्क पिता और आचार्यसे होता है । वे भी यदि अपने कर्तव्यका समुचित पालन करें तो बालकोंके सच्चरित्र और आदर्शवादी होनेमें कोई शंकाका अवकाश नहीं है । अतएव वेदमें शिष्यके प्रति गुरुका अनुशासन है—

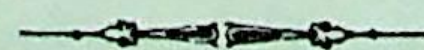
सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः, देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, श्रद्धया देयम्, अश्रद्धयादेयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम् संविदा देयम् आदि ।

अर्थात् जैसा देखा, जैसा सुना और जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा-का-वैसा ही वाणीके द्वारा अन्यके हृदयमें बोध कराना तथा श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कायिक, वाचिक, मानसिक चेष्टारूप धर्मका पालन; अध्ययन-विधिसे गृहीत वेदादि सच्छास्त्रके स्वाध्यायमें प्रमाद न करना, आचार्यके लिये गो-सुवर्ण-वस्त्रादिरूप धन विद्याकी दक्षिणारूपसे देना, पुत्र-पौत्रादिरूप संततिका उच्छेद न होने देना, देवकर्म-पितृकर्ममें कभी आलस्यको स्थान न देना, माता-पिता, आचार्य, अतिथिको देववत् पूजना, शास्त्रविहित कार्योंका सेवन करना, शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका परित्याग करना, श्रद्धासे दान करना, अश्रद्धासे न देना, विभव होनेपर देना, लोक-लज्जासे देना, शास्त्रभयसे देना, देशविशेष, कालविशेष, पात्रविशेषको जानकर देना इत्यादि । इस प्रकार बालकोंके लिये यह लेख उपयुक्त हो एवं तदनुसार हमारे राष्ट्रके बालक सच्चरित्र और आदर्शवादी बनते हुए, भारतके मस्तकको ऊँचा करते हुए भारतको जगद्गुरुपदपर समासीन करनेमें सफल हों—यही हमारा शुभाशीर्वाद है ।



आत्मज्ञान, सत्पात्रमें दान और संतोषका आश्रय करनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है । किसी भी कार्यके अनुष्ठानके मूलमें धर्म होना चाहिये, नहीं तो सिद्धि न होगी ।

संग्राममें जिसने लाखों मनुष्योंको जीत लिया है, वह मनुष्य वास्तविक विजयी नहीं है । जिसने अपने-आपको जीत लिया है, वही वास्तविक विजयी है ।



छात्र और अध्यापक

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य सुमेरुपीठाधीश्वर स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी सरस्वती)

बाल्यावस्थामें शारीरिक और बौद्धिक विकासकी क्षमता अत्यधिक रहती है । इस समय साधारण आहारसे ही शरीरका उतना उपचय होता है, जितना बादमें असाधारण आहारसे भी सम्भव नहीं । ठीक इसी भाँति ज्ञानकी उपलब्धि इस अवस्थामें जितनी हो सकती है, उतनी दूसरे समय शक्य नहीं है । इसीलिये बाल्यावस्था ही शिक्षाका समुचित समय माना गया है । यद्यपि जीवनके अनिवार्य व्यवहारोंकी शिक्षा जगत्‌के दैनन्दिन प्रयोगोंसे भी मिल जाती है, किंतु आहार-विहारके सामान्य धरातलसे ऊपर उठनेके लिये शास्त्रीय क्षेत्रमें प्रवेश करना पड़ता है, किंतु शास्त्रीय क्षेत्रके प्रवेशद्वारपर 'आचार्य' अन्तःप्रवेशके इच्छुकोंको अपने संनिधानमें रखकर आचार और विचारकी वह पूँजी देता है, जिससे दुर्गम शास्त्रमें प्रविष्ट होने तथा उसमें सुखपूर्वक विचरण करनेकी सुविधाएँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं । बिना आचार्यके उपदेशके कोई भी इस शास्त्र-जगत्‌में प्रवेशका अधिकारी नहीं हो सकता । गुरु-परम्परासे प्राप्त की हुई विद्या ही फलवती होती है । गुरुके अंदर रहनेवाली गोप्यतम विद्या भी श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शुश्रूषा करनेवाले छात्रमें उपसंक्रान्त हो जाती है । इसलिये गुरुके सम्बन्धमें सामान्य ज्ञान कर लेना आवश्यक हो जाता है । मनुने गुरुओंके तीन भेद किये हैं—आचार्य, उपाध्याय और गुरु । इन तीनोंका स्वरूप भी उन्हींके शब्दोंसे समझ लेना चाहिये—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥
(२ । १४०)

अर्थात् 'जो ब्राह्मण शिष्यका उपनयन कर यज्ञ, विद्या एवं उपनिषद्‌के सहित वेद पढ़ावें, उन्हें आचार्य कहा जाता है ।'

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥
(२ । १४१)

अर्थात् 'जीविकाके लिये जो वेदके एकदेश या वेदाङ्गोंको पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहलाता है ।'

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्येन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥
(२ । १४२)

अर्थात् 'जो विप्र निषेक आदि कर्मोंको विधिपूर्वक करता है और दूसरे उपायोंसे भी सम्माननीय बनाता है, वह गुरु कहलाता है ।'

शिक्षकके इन तीनों भेदोंमें शिष्यको पूर्ण विद्वान् बनानेकी प्रवृत्ति है । केवल इतनी ही बात शिक्षकमें आवश्यक नहीं है कि वह शिष्योंको जिस किसी भाँति शास्त्रीय ज्ञानसे परिचित या संयुक्त कर दे, अपितु उन उदात्त वृत्तियोंको जीवनके साँचेमें ढालनेकी श्रद्धा भी उनमें पैदा कर दे, जिससे ज्ञान और क्रियाका संयोग हो जाय । क्रियाके बिना ज्ञान तो भार हो जाता है । इसीलिये आचार्यको शास्त्रोक्त धर्मका अनुष्ठाता होना चाहिये; क्योंकि आचरणसे ही शिष्योंमें धर्मानुष्ठानकी भावना स्थिर की जा सकती है । उत्तम आचार और विचारकी शिक्षा पानेपर ही चरित्र-बल और बौद्धिक प्रकर्ष आ सकता है ।

इसी प्रसङ्गमें छात्रोंके अनिवार्य गुणोंका भी ज्ञान कर लेना आवश्यक है । उनमें उत्कट जिज्ञासासे भी अधिक 'गुरु-भक्ति' होनी चाहिये । शुश्रूषासे विद्या तो प्राप्त ही होती है, विनय और कर्मण्यता भी मिल जाती है । ब्रह्मचर्य, संध्योपासन, अग्निहोत्र और गुरु-शुश्रूषासे प्राप्त की हुई विद्या सहस्रगुणा उत्कर्ष लाती है । छात्र शब्द ही गुरुके दोषोंको छिपानेका स्वभाववाला होना बतलाता है । मनुस्मृतिके दूसरे अध्यायमें छात्रोंके कर्तव्योंका विस्तारसे विवेचन है । यदि छात्र उन गुणोंको अपनाकर विद्याभ्यास करें तो अर्जित विद्या उनमें वह चमक पैदा कर देगी, जिसके आलोकसे आधुनिकताके भक्तोंका गाढान्धकार हट जायगा । श्रद्धालु शिष्य और वत्सल आचार्यके तपसे

ज्ञानकी रश्मियाँ केवल संसारके अन्धकारको ही नहीं हटातीं; प्रत्युत अपनी शीतलतासे त्रिविध तापकी ऊष्माका भी अपसारण करती हैं। जैसे शिष्योंको अपने कर्तव्य-पालनका कठोर आदेश है, वैसे ही गुरुओंको भी कर्तव्योन्मुख करनेका प्रयास दृष्टिगोचर होता है । कहा है—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥
(मनु० २।१०९)

अर्थात् 'आचार्यके पुत्र, सेवा करनेवाले, अन्य विद्याकला सिखानेवाले, धार्मिक, पवित्र रहनेवाले, बान्धव, उपदेश धारण करनेमें समर्थ, धन देनेवाले, साधु और स्वजन—इन दस व्यक्तियोंको धर्मतः पढ़ाना—शिक्षा प्रदान करना चाहिये ।' इस तरह गुरु-शिष्यके सम्बन्धको सम्बन्धविद्या कहते हैं। विद्याके भी अनेक भेदोपभेद किये गये हैं। मूलतः आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति—ये चार विद्याएँ हैं। आगे चलकर इन्हें ही चतुर्दश संख्यामें विभक्त किया गया है। जैसे पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, ऋग्, यजुः, साम, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और व्याकरण—ये छः वेदाङ्ग, इसीमें चार उपवेदोंको जोड़ देनेसे अष्टादश विद्याएँ भी कही गयी हैं। इन समस्त विद्याओंका गम्भीर ज्ञान और चौंसठ कलाओंका पूर्ण परिचय विद्यार्थियोंको करा दिया जाता था । जीवनके उत्कर्षमें जितना विद्याओंका महत्त्व है, इससे कम कलाओंका नहीं। इसीलिये तो वीतराग भर्तृहरिने कहा है—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः ।

अर्थात् 'साहित्य, संगीत और कलाओंसे विहीन व्यक्ति सींग-पूँछसे हीन साक्षात् पशु है।' इस प्रकार प्राचीन कालमें गुरुके संरक्षणमें पला हुआ छात्र विविध ज्ञान-विज्ञानके साथ-साथ ललित कलाओंमें पारङ्गत होता था। पुराने विश्वविद्यालयोंमें जो विप्रर्षि दस सहस्र ऋषियोंकी अशन, वसन, निवसन आदिकी सुविधा करके उन्हें उपर्युक्त विद्याओंमें निष्णात करता था, वह 'कुलपति' कहलाता था । ऐसे कुलपतिके संरक्षणमें पलकर निकले हुए छात्र वैयक्तिक तथा राष्ट्रिय आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेमें स्वावलम्बी होते थे। उच्च-कोटिके ज्ञानी और सदाचारी स्नातकोंसे राष्ट्रका गौरव था । किसी भी स्थानकी शोभाका संवर्धन कोई भी शिक्षित व्यक्ति कर सकता था। आजकी शिक्षामें पले हुए छात्रोंमें न प्रौढ़ ज्ञान आ पाता है और न तो चरित्रकी निर्मलता ही। संयम और सादगी तो परिहासास्पद हैं। आचार्योंका सम्मान करना इनके आत्माभिमानके विरुद्ध है। इनकी अनुशासनहीनता ही कर्मण्यताका प्रतीक है । आहार-विहारका अनियन्त्रण ही औदार्यका पर्याय है। विलासिता ही छात्रजीवनकी सहचरी है। इस तरह आधुनिक शिक्षा-संस्थानोंसे शिक्षित व्यक्ति नौकरीके लिये लालायित, इन्द्रिय-दासतासे जर्जर और भोगैषणाके शिकार होकर निकल रहे हैं। इन स्नातकोंके शरीरमें न बल है और न बुद्धिमें तेज। इस तरह निर्बल और निष्प्रभ स्नातक ढालनेवाले विद्यामन्दिरोंके आदर्शमें आमूलचूल परिवर्तन न हुआ तो इस शिक्षासे लाभके बदले हानि ही अधिकतर भोगनी पड़ेगी।

आजकी शिक्षाका उद्देश्य केवल अर्थ है और वह अर्थ भी है कामका पूरक । इस तरह अर्थ और कामको ध्यानमें रखकर ही शिक्षाप्राप्तिके लिये छात्र यत्नशील हैं, पर प्राचीन युगमें शिक्षाका लक्ष्य धर्म और मोक्ष था। साथ ही अर्थ और काम भी सर्वथा उपेक्षित न थे। अर्थकरी विद्या और भोगफल-अर्थकी प्रचुर चर्चा प्राचीन शास्त्रोंमें है, किंतु अर्थ और कामकी उपासनासे न शान्ति आ पाती है और न संतोष ही। **'अशान्तस्य कुतः सुखम्'**—गीताका यह उद्घोष किसे मान्य नहीं। सुख ही तो सबका साध्य है और वह सुख शान्तिके गर्भसे प्रसूत होता है; अतः सुखेच्छुको शान्तिका पुजारी बनना ही पड़ेगा। वह शान्ति धर्मकी उपासनासे प्राप्य है और धर्मकी निर्व्याज सेवा मुमुक्षा पैदा ही कर देती है। इस प्रकार संक्षेपमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति कर लेना ही समस्त साधनोंका फल है।

इस अर्थप्रधान युगमें मानवीय मान्यताका निकष है अर्थ। ठीक है, पहले भी वित्त मान्यताका प्रयोजक था, किंतु उससे कई गुनी महत्ता थी विद्याकी। मनुने स्पष्ट

कहा है—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥

(२ । १३६)

अर्थात् 'वित्त, बन्धु, वय, कर्म और पाँचवीं विद्या—ये मानके स्थान हैं, परंतु इनमें उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्वसे गुरुतर हैं।' यदि विद्याका उपार्जन ठीक-ठीक हो तो आज भी इस क्रमका व्यावहारिक रूप सामने आ सकता है। विद्या तो मनुष्यको इतने उच्च आसनपर बैठा देती है कि बरबस सभी लोगोंका मस्तक उसके सामने नत हो ही जाता है। प्रमाणपत्रोंकी प्राप्ति और बात है तथा विद्याकी प्राप्ति और ही बात है। यह प्रतिष्ठा विद्यासे मिलती है, डिग्रियोंसे नहीं। विद्याके साथ डिग्रियोंका रहना अशोभन नहीं है। पर विद्याके बिना डिग्रियोंकी दुर्दशा तो सर्वविदित है। अतः शिक्षाके क्षेत्रमें विद्याका अनुराग पैदा करना परमावश्यक है।

आधुनिक शिक्षामें मनोवैज्ञानिकताकी बड़ी चर्चा सुनायी पड़ती है। ठीक ही है, बिना मनोविज्ञानके सहारे शिक्षाका आरम्भ और उचित विनियोग सम्भव ही नहीं। प्राचीन समयमें भी मनोविज्ञानका बड़ा उपयोग था। बच्चोंकी रुचि और प्रवृत्तिका सूक्ष्म अध्ययन करके उन्हें उस दिशामें अग्रसर करनेकी प्रणाली प्रचलित थी। मौहूर्तिकोंको बाल-मनोविज्ञानकी शिक्षा देकर फलादेशकी आज्ञा है—

तस्मिन् काले स्थापयेत् तत्पुरस्ताद्
वस्त्रं शस्त्रं पुस्तकं लेखनीं च।
स्वर्णं रौप्यं यच्च गृह्णाति बाल-
स्तैराजीवैस्तस्य वृत्तिः प्रदिष्टा ॥

(मुहूर्तचिन्तामणि, संस्कारप्रक० २२)

अर्थात् 'बच्चा जब पृथ्वीपर बैठने लगे, तब उसके सामने वस्त्र, शस्त्र, पुस्तक, लेखनी, सोना और चाँदी रख देने चाहिये। उनमेंसे बच्चा जो उठा ले उसीसे उसकी जीविकाका निर्देश करना चाहिये।' कितनी सूक्ष्म निरीक्षा है। जाबालकी परीक्षामें गुरुको सत्यवादिता मिली, जिससे गुरुने उसे 'ब्राह्मण' कहा और सत्य विद्याका उपदेश किया। इसी तरह भार्गव बनकर शस्त्र-विद्या सीख लेनेवाले कर्णको भी परशुरामने उसके धैर्य और साहससे झट पहचान लिया और शाप भी दे दिया। इस प्रकारके अनेक उपाख्यानोंसे मनोवैज्ञानिक पद्धतिकी परम्पराका स्पष्ट पता चलता है। मनोविज्ञानका केवल शिक्षाके ही क्षेत्रमें नहीं, अपितु जीवनके अन्य अवसरोंपर भी प्रयोग होता था। हनूमान्‌को स्वपौरुषका स्मरण कराना मनोविज्ञानकी प्रणाली है। शल्यके द्वारा कर्णका अवमान करना भी मनोवैज्ञानिक विधान ही है। इस तरह मनोविज्ञानकी चर्चा आजकी तरह चाहे न रही हो, पर उसका प्रयोग तो प्रचलित ही था।

इस क्रममें सहशिक्षापर भी कुछ विचार करना अनुचित न होगा। वस्तुतः इसका प्रभाव छात्र और छात्राओंके चरित्रपर बहुत बुरा होता है। प्रकृतिका प्रभाव और प्राकृतिक नियमोंका अपलाप सम्भव नहीं। यदि आध्यात्मिक शिक्षा भी हो तो भी इसके दोष उभड़ आते हैं, फिर भौतिक विज्ञानके विलासितापूर्ण वातावरणमें सङ्ग-दोषका परिहार कैसे सम्भव है। यद्यपि आज यह कहना लोगोंको खटकेगा, पर यह कटु सत्य है और उपेक्षणीय नहीं है।

उपसंहारमें मैं पाठकोंका ध्यान पुनः एक बार प्राचीन शिक्षाकी ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। गुरु-शिष्यके पावन सम्बन्धका फल ही तो ये युग्मक हैं, जिनका स्मरण सदैव आदरपूर्वक होता रहेगा। नारद-सनत्कुमार, भृगु-वरुण, श्वेतकेतु-उद्दालक, राम-वसिष्ठ, कृष्ण-सान्दीपनि, युधिष्ठिर-धौम्य आदि जोड़े हमारे गुरु-शिष्यके सम्बन्धके स्मारक हैं। ज्ञानियों, वृद्धों और मनीषियोंका साहचर्य बालकोंको भी बहुज्ञ बना देता था। लिपिकी शिक्षा भी पूरी नहीं हो पाती थी कि उनमें शासनका सफल कौशल प्रस्फुटित हो जाता था। महाकवि कालिदासने रघुवंशमें सुदर्शन नामक राजाका वर्णन किया है, जिसकी अवस्था छः वर्षके लगभग थी—

न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां
कात्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्
फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥

(१९ । ४६)

अर्थात् 'जबतक वह वर्णमालाकी लिपियोंको भी पूरा-पूरा न सीख पाया था, तबतक उसने ज्ञानवृद्धोंके सहयोगसे दण्डनीतिके समस्त फलोंका उपयोग आरम्भ कर दिया ।' इसी तरह—

बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती ।
अपूर्णे पञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम् ॥

अर्थात् 'महाराज ! मैं बच्चा हूँ, पर मेरी सरस्वती बच्ची नहीं है । मैं पूरे पाँच सालका भी नहीं हूँ, पर तीनों लोकोंका वर्णन करता हूँ'— यह उक्ति भोजराजकी धारा नगरीकी ज्ञानधाराके अजस्र प्रवाहका संकेत करती है । पुस्तकों और शिक्षकोंसे जितना ज्ञान मिलता है, उससे भी अधिक अपने-अपने विषयके पारङ्गत मनीषियोंके सांनिध्यसे जिज्ञासुको प्राप्त होता है । प्राचीन युगमें वृद्ध-सेवाका बड़ा महत्त्व था । आज उसे हम भूल गये हैं । यदि अपने अन्तरमें प्रौढ़ अनुभूति और अदम्य उत्साह लाना हो तो वृद्ध-सेवा प्रारम्भ कर देनी चाहिये । देशके गौरव, अपनी प्रतिष्ठा और समाजके सुखको ध्यानमें रखकर प्रत्येक छात्र और गुरुको अपने कर्तव्यका पालन धर्मपूर्वक आरम्भ कर देना चाहिये । शिक्षाका ध्येय नौकरी नहीं, ज्ञान होना चाहिये । संयम और चरित्रकी रक्षाका व्रत लेना चाहिये । धर्मकी भावनाको जाग्रत् करना चाहिये । देशमें फैले हुए अनाचारका निवारण वैयक्तिक सुधारसे ही सम्भव है । अपनेको सच्चरित बना लेनेके बाद ही दूसरोंको उपदेश देना लाभप्रद होता है । अतः छात्र और अध्यापक अपने-अपने कर्तव्योंका तत्परतापूर्वक पालन करके भारतीय गौरवको पुनः प्रतिष्ठित कर सकते हैं । भगवान् इन्हें इस पावन व्रत तथा इसके निर्वाहकी शक्ति दें ।

सर्वत्र ब्रह्म-दृष्टिकी महिमा

अज्ञानपङ्कपरिमग्नमपेतसारं दुःखालयं मरणजन्मजरावसक्तम् ।
संसारबन्धनमनित्यमवेक्ष्य धन्या ज्ञानासिना तदवशीर्य विनिश्चयन्ति ॥
शान्तैरनन्यमतिभिर्मधुरस्वभावैरेकत्वनिश्चितमनोभिरपेतमोहैः ।
साकं वनेषु विजितात्मपदस्वरूपं शास्त्रेषु सम्यगनिशं विमृशन्ति धन्याः ॥
अहिमिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद्यः कुणपमिव सुनारीं त्यक्तुकामो विरागी ।
विषमिव विषयान् यो मन्यमानो दुरन्तान् जयति परमहंसो मुक्तिभावं समेति ॥
सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमा गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः ।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परब्रह्मणि ॥

जो पङ्कमें सने हुए अज्ञान, निःसार, दुःखरूप, जन्म-जरा-मरणादिसमन्वित, संसार-बन्धनको अनित्य देखकर उसे ज्ञानरूपी खड्गसे काटकर आत्मतत्त्वका निश्चय करते हैं, वे पुरुष धन्य हैं । जिन्होंने मनके द्वारा एकत्वका निश्चय किया है और मोहको त्याग दिया है ऐसे शान्त, अनन्यमति और कोमलचित्त महात्माओंके साथ जो लोग वनमें शास्त्रोंद्वारा आत्मतत्त्वका निरन्तर विचार करते हैं, वे धन्य हैं । जो जनसमूहको सदा सर्प-सहवासके समान त्यागता है, सुन्दर स्त्रीकी वैराग्यभावसे शवके समान उपेक्षा करता है, दुस्त्यज विषयोंको विषके समान छोड़ता है, वही मुक्तिको प्राप्त होता है । उस परमहंसकी जय हो, जय हो । जिसने परब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया है, उसके लिये सारा संसार नन्दनवन है, समस्त वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, सम्पूर्ण जल गङ्गाजल है, उसकी सारी क्रियाएँ पवित्र हैं, उसकी वाणी प्राकृत हो अथवा संस्कृत हो वेदकी सारभूत है, उसके लिये सम्पूर्ण भूमण्डल काशी (मुक्तिक्षेत्र) ही है तथा और भी उसकी जो-जो चेष्टाएँ हैं, सब परमार्थमयी ही हैं ।

साधन-शिक्षाका विज्ञान

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

(१)

सम्पूर्ण लौकिक एवं वैदिक संस्कृत-वाङ्मयमें चिरकालसे 'विज्ञान' शब्दका व्यवहार होता रहा है। शिल्प-नैपुण्यसे लेकर अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वपर्यन्त-अर्थमें इसका प्रयोग मिलता है। विज्ञान ब्रह्म है, विज्ञान अन्तःकरण है, विज्ञान अनुभवात्मक ज्ञान है—यह सब प्रसंग आकर-ग्रन्थोंमें देखने योग्य है। आजकल लौकिक साहित्यमें इसका प्रयोग भूत-भौतिक वस्तुओंमें अनुलोम-प्रतिलोम-परिणाम, उसकी प्रक्रिया और फल आदिके सम्बन्धमें होता है। यदि साधन-विज्ञानका अर्थ भौतिक पद्धतिसे साधनोंकी गुणवत्ता और फलवत्ताका अनुसंधान हो तो साधनच्युतिकी ही अत्यधिक आशङ्का है; क्योंकि जडके चूडान्त वैज्ञानिक भी साधन-परायण अथवा साध्योन्मुख देखनेमें नहीं आते। इसका कारण यह है कि वे नाम-रूपात्मक प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय जड पदार्थसे मानते हैं और उसीके अनुसंधानमें संलग्न रहते हैं। उन्हें भी एकान्त, एकाग्रता, लगन, तन्मयता आदिकी अपेक्षा तो होती ही है और भोग तथा दूसरे कर्मोंसे अलग भी होना ही पड़ता है। आध्यात्मिक साधन-प्रणाली चैतन्य-विज्ञानके आधारपर होती है और जड विज्ञान उसके सर्वथा विपरीत बहिर्मुख होता है। इसलिये पहले ही यह बात मनमें निश्चित कर लेना आवश्यक है कि हम चैतन्य या जड किस वस्तुको प्राप्त करनेके लिये साधनामें संलग्न हैं; क्योंकि लक्ष्यहीन साधना निष्फल हो जाती है।

(२)

यदि हम यह मान लेते हैं कि यह जीवन और जीव भी जडसे ही निकलते एवं उसीमें लीन होते हैं तो साधनाका अधिक-से-अधिक अर्थ यह हो सकता है कि हम अधिक दिनोंतक जीयें, करें, भोगें और अपने अहंकी पूजामें लगे रहें। तब तो जीवनके पूर्व क्या है? उत्तर क्या है? अन्तर्देशमें क्या है? और अन्तर्ज्ञान-स्वरूप आत्मा क्या है? इन प्रश्नोंके समाधानकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है और हम जीवनके अनेक गूढ़तम तत्त्वों तथा रहस्योंसे वञ्चित ही रह जाते हैं। यह अतीन्द्रिय तत्त्वके ज्ञानसे कतराने और मुकरनेकी प्रवृत्ति बुद्धिकी स्थूलताको सूचित करती है और अपने-आपको प्रकाशसे दूर करके अन्धकारमें निक्षिप्त करती है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे भूत-भौतिक विज्ञानको ही सर्वस्व न मान बैठें, अपितु आत्मतत्त्व-विज्ञानके लिये भी अवश्य प्रयत्नशील हों—**'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।'**

(३)

हम अपने जीवनमें रहनेवाली उच्छृङ्खलताओंको तीन विभागोंमें बाँट सकते हैं — (क) देहकी उच्छृङ्खलता, (ख) मनकी उच्छृङ्खलता और (ग) वाणीकी उच्छृङ्खलता।

इनको नियमित न करनेका अर्थ होता है दैहिक जीवनमें डूब जाना। देहकी उच्छृङ्खलतामें कर्म और भोगकी उच्छृङ्खलता भी सम्मिलित है। शरीरसे दूसरेकी अदत्त वस्तुको ग्रहण करना, अवैध हिंसा करना और परस्त्रीसे सम्बन्ध—ये मुख्य रूपसे दैहिक कुकर्म हैं। रूक्षता, झूठ, चुगली और असंगत प्रलाप वाचिक कुकर्म हैं। दूसरेका धन हड़पनेके उपायका चिन्तन, अनिष्ट-चिन्तन और अर्थके अभिनिवेश मानसिक कुकर्म हैं। यदि इन तीनोंपर नियन्त्रण न किया जाय और काम-क्रोध-लोभ शरीरमें क्रियाशील होते रहें तो इस अनियन्त्रित जीवनको जडत्व-प्राप्तिके सिवाय और क्या फल मिल सकता है? यह सर्वथा युक्तियुक्त है कि अपने जीवनकी दुष्प्रवृत्तियोंको नियन्त्रित किया जाना चाहिये। थोड़े ही दिनोंमें इससे स्पष्ट हो जाता है कि देह नियम्य है और मैं नियन्ता। मैं इस जड देहमें विलक्षण कर्त्ता, भोक्ता, वक्ता एवं मन्ताके रूपमें जीव हूँ, शरीर नहीं। इसका अभिप्राय है कि देहसे पृथक् आत्माका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये धर्मानुष्ठान एक वैज्ञानिक प्रणाली है और इससे हमें अपने

चेतन रूपके सत्त्व, महत्त्व और तत्त्वके बोधमें पर्याप्त उन्नति प्राप्त होती है। यही एक ऐसी प्रक्रिया है, जो जडभावापत्तिसे रक्षा करती है और परलोक, पुनर्जन्म, यज्ञ, श्राद्ध, होम आदिकी अर्थवत्ता एवं प्रयोजनवत्ता सिद्ध करती है।

(४)

स्वाध्याय, मौन, वाक्संयम, सत्यनिष्ठासे यह अनुभव होने लगता है कि वाणी मेरी है, मैं वाणीका नहीं हूँ। निषिद्ध कर्म, भोग और संग्रहके त्यागसे स्पष्ट हो जाता है कि देह मेरी है, मैं देहका नहीं हूँ। देह और वाणीको व्यवस्थित करनेके लिये आसन, प्राणायाम, व्रत, दान, यज्ञ, नाम-जप आदि साधन हैं। इन साधनोंका फल गणितके हलके समान तत्काल ही समझमें आने लगता है। भिन्न-भिन्न अधिकारियोंद्वारा, भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे, भिन्न-भिन्न इन्द्रियों और सामग्रियोंसे सम्पन्न होनेवाला यज्ञ आदि भी भिन्न-भिन्न फल देनेवाला होता है। इन्द्रियाँ अनेक हैं, वस्तुएँ अनेक हैं, देवता अनेक हैं, इसलिये स्वर्गादिमें स्रक्, चन्दन, वनितादि भी अनेक हैं। यज्ञ-यागादिकी साधना भेदकी कक्षामें होती है और भेदरूप फल देती है। फलमें भेद होनेके कारण इसे मुख्य साधना नहीं माना जाता। इसमें स्थान-विशेष, काल-विशेष, द्रव्य-विशेष, देवता-विशेष, सामग्री-विशेष, मन्त्र-विशेष, अधिकारी-विशेष—विशेषोंका साम्राज्य है। इसलिये यह एकेश्वर-उपासना और आत्मनिष्ठ समाधि—दोनोंकी अपेक्षा निम्नकोटिका साधन है।

(५)

अन्तःकरणसे होनेवाली साधनाओंकी भी एक वैज्ञानिक प्रक्रिया होती है। वेदान्तके ग्रन्थोंमें जिसे भूतसूक्ष्म कहा गया है, सांख्यमें उसे तन्मात्रा और न्याय-वैशेषिकमें उसे परमाणु कहा गया है। वेदान्तकी रीतिसे आकाश भी सावयव है और व्याकरण-शास्त्रकी रीतिसे शब्दके भी परमाणु होते हैं। ऐसी स्थितिमें भूतसूक्ष्मसे बना हुआ हमारा अन्तःकरण जिन संस्कारोंसे युक्त रहता है, उन्हींके अनुसार साधनाकी आवश्यकता होती है। अन्तःकरणमें ही आकाशकी तन्मात्रासे शोक, वायुकी तन्मात्रासे काम, तेजस्की तन्मात्रासे क्रोध, जलकी तन्मात्रासे मोह और पृथ्वीकी तन्मात्रासे भयकी उत्पत्ति होती है। किसीमें किसीकी और किसीमें किसीकी प्रधानता होती है। यह न आत्माका है और न आत्मा है। अन्तःकरणकी वृत्तियोंका तन्मात्राके अनुसार यह वर्गीकरण वैज्ञानिक प्रणालीके अन्तर्गत ही आ सकता है। अवश्य ही यह यान्त्रिक विज्ञान नहीं, आध्यात्मिक विज्ञान है। वेदान्तके ग्रन्थोंमें इसका अनुसंधान किया जा सकता है।

(६)

भक्ति-सिद्धान्तके अनुसार साधना-प्रणाली पूर्णरूपसे वैज्ञानिक है। पूजासे मन संसारका विस्मरण करके भगवत्स्मरणकी ओर अग्रसर होता है। आलम्बन स्थूल होनेपर भी मन स्थूल नहीं होता; क्योंकि सूक्ष्म रूपसे ईश्वर-भावना अपना काम करती रहती है। भावना मनमें ही होती है। **'भगवते अर्घ्यः', 'भगवते पाद्यम्', 'भगवते आचमनीयम्'**—सबमें भगवान् हैं। शरीर, वाणी और मन—तीनों भगवान्के उद्देश्यसे क्रियाशील हैं। पूजाकी क्रिया, मन्त्रका उच्चारण और मनकी भावना—तीनों क्षण-क्षण बार-बार संसारकी स्मृतिको दबाते हैं और भगवत्स्मृति उत्पन्न करते हैं। नाम भी क्रियात्मक होनेके साथ-ही-साथ अर्थ-प्रकाशक और भावनोत्पादक है। इसलिये नाम-जप या मन्त्र-जपकी साधना भी वैज्ञानिक ही है। कई मन्त्र ऐसे होते हैं जिनसे शरीरमें गर्मी बढ़ती है, रक्तका ऊर्ध्वाभिसरण होता है। वे निरन्तर समगतिसे उच्चारित होनेके कारण प्राणको स्थिर एवं मनको एकाग्र कर देते हैं। अनेक मन्त्रोंके जपसे मुखपर भिन्न-भिन्न प्रकारके तेजका प्राकट्य और आकृतिमें परिवर्तन होता है। मन्त्र-जपसे शरीरके रंगमें निखार, स्वरमें सौष्ठव, मूत्र-पुरीषमें अल्पता, आरोग्य, लाघव आदि गुण भी शरीरमें आते हैं, अपने लक्ष्यके सम्बन्धमें विवेककी जागृति होती है, आवरण भङ्ग होता है और समाधि लगती है। अनेक मन्त्रोंके जापकका मुख देखकर बताया जा सकता है कि वे किस मन्त्रका जप करते हैं। वस्तुतः बात यह है कि नस-नाडियों, रक्त, प्राणकी वृद्धि छेनी-हथौड़ेसे या ऑपरेशनके औजारोंसे नहीं की जा सकती। उसके लिये ध्वनिसे शरीरमें ही सूक्ष्म तरंगें उत्पन्न करके उनमें

परिवर्तन किया जा सकता है। **'ॐ', 'राम', 'सोऽहं', 'कृष्ण', 'ह्रीं', 'क्लीं'** आदि भिन्न-भिन्न ध्वनियाँ शरीरके अंदर भिन्न-भिन्न परिणाम उत्पन्न करती हैं। यह बात सर्वथा वैज्ञानिक है कि तत्त्वोंके ध्वनियुक्त कम्पनसे उत्पन्न पदार्थ ध्वनियोंके द्वारा परिवर्तित किये जा सकते हैं। सृष्टिमें कम्पन और ध्वनिसे रहित कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये मन्त्र-जपकी साधना सर्वथा वैज्ञानिक है और अज्ञातरूपसे यह प्राणोंकी गतिका नियमन करके समाधि लगा देती है।

(७)

भक्तिके आचार्य इस विषयके निरूपणमें असावधान या इससे अनभिज्ञ रहे हों, ऐसी बात नहीं है। 'भक्तिरसामृत-सिन्धु'के दक्षिण विभागान्तर्गत तृतीय लहरीमें सात्त्विक भावोंका निरूपण देखने योग्य है।

श्रीरूपगोस्वामीजी महाराजने कहा है कि जब अपने प्राणधन श्रीकृष्णसे सम्बन्ध रखनेवाले भावोंसे साक्षात् अथवा किंचित् व्यवहित रूपमें चित्त आक्रान्त हो जाता है, तब उसे सत्त्व कहते हैं। ऐसे चित्तमें जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें सात्त्विक कहते हैं। वे तीन प्रकारके होते हैं—स्निग्ध, दिग्ध और रूक्ष। जब चित्त अत्यन्त वेगशाली सत्त्वसे आक्रान्त हो जाता है तब वह अपने-आपको प्राणोंसे मिला देता है। प्राण विकार-क्रमसे शरीरको क्षुब्ध करता है। इसीसे भक्तके शरीरमें बिना उसकी जानकारीके ही स्तम्भ आदि भाव प्रकट होते हैं। जब प्राण अपनेको शरीर-स्थित पृथ्वीसे मिला देता है, तब भक्तका शरीर स्तम्भकी तरह ज्यों-का-त्यों खड़ा रह जाता है। जब प्राण जलसे मिलता है, तब आँसूकी धारा बहने लगती है और तेजसे मिलनेपर स्वेद और विवर्णता तथा आकाशसे मिलनेपर प्रलय होता है। प्राण जब इन तीन भूतोंसे न मिलकर अपनी प्रधानतासे रहता है, तब उसकी तीन गति होती है—मन्द, मध्यम और तीव्र। रोमाञ्च, कम्प और स्वरकी विकृति इन्हीं तीनोंसे होती है। ये ही भक्तके शरीरको बाहर-भीतरसे क्षुब्ध करते हैं और उसमें सात्त्विक भावोंकी भिन्न-भिन्न स्थितियोंको प्रकट करते हैं।

स्पष्ट है कि हमारे रसिकगण भावोंकी वैज्ञानिक स्थितिका ध्यान रखते थे और उसका निरूपण करते थे। इन भावोंका ऐसा ही निरूपण अति प्राचीन विद्वान् श्रीहेमचन्द्र सूरिके 'काव्यानुशासन'में भी प्राप्त होता है। यहाँ केवल उदाहरणके रूपमें इसका उल्लेख किया गया है। वैसे इस प्रकारके बहुत अधिक वर्णन प्राप्त होते हैं।

(८)

योगदर्शनमें शरीरको स्थिर और मनको एकाग्र करनेके लिये जिन उपायों एवं युक्तियोंका वर्णन किया गया है, वे भी वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर सर्वथा खरी उतरती हैं; क्योंकि अनुभवसे वे यथार्थ सिद्ध होती हैं। प्रश्न यह है कि अतीन्द्रिय वस्तुका साक्षात्कार करनेके लिये जड यान्त्रिक अथवा इन्द्रियोंमें ही उत्कर्षका आधान करनेवाला विज्ञान कहाँतक सहायक हो सकता है? पञ्चभूतोंके पीछे कौन है, इस विचारको तो अलग रहने दीजिये, बुद्धि और सुषुप्तिके पीछे ही कौन है, यह बात भी विज्ञानका विषय नहीं हो सकती।

शास्त्रोक्त साधन अन्तःकरणको शुद्ध करके किस युक्तिसे असत्त्वापादक और अभानापादक आवरणको दूर कर सकता है, यह एक विलक्षण विद्या है। प्राचीन ऋषि-मुनियोंके सामने भी यह प्रश्न जागरूक था। योगदर्शनके व्यासभाष्यमें यह कहा गया है कि यद्यपि शास्त्रीय अनुमान और आचार्योपदेशके द्वारा जिस वस्तुका निरूपण होता है, वह सत्य ही होता है, परंतु जबतक उसका अंश भी अपने अन्तःकरण और इन्द्रियोंका विषय न हो तबतक सब कुछ परोक्ष-सा ही रहता है तथा मोक्ष आदि सूक्ष्म वस्तुओंके सम्बन्धमें दृढ़ बुद्धिका उदय नहीं होता। इसलिये उनके द्वारा बतायी हुई वस्तुओंका ही उपोद्बलन अर्थात् समर्थन करनेके लिये किसी-न-किसी वस्तुका साक्षात्कार होना चाहिये। एकदेशका भी प्रत्यक्ष हो जानेपर मोक्षपर्यन्त सम्पूर्ण सूक्ष्म विषयोंमें आस्था हो जाती है। इसीके लिये चित्त-परिकर्मका उपदेश किया जाता है। इससे अन्तःकरणमें श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधिकी निर्विघ्न प्रतिष्ठा हो जाती है। यह चित्त-परिकर्म क्या है? नासाग्रमें धारणा करनेपर दिव्य गन्धकी, जिह्वाग्रमें रसकी, नेत्रमें रूपकी, जिह्वा-मध्यमें स्पर्शकी और

जिह्वामूलमें शब्दकी संवित् होती है। यह थोड़े ही परिश्रमसे सम्पन्न होता है। इससे चित्त स्थिर होता है, संशय कट जाते हैं और समाधि-प्रज्ञाका उदय होता है। चन्द्र-सूर्य आदिमें संयम करनेसे भी ऐसा होता है। थोड़े ही दिनोंमें अभ्याससे जब विलक्षण दृश्य और रसका अनुभव होने लगता है, तब साधकके चित्तमें अपने-आप ही दृढ़ता पाँव जमा लेती है।

अपने मनको इन्द्रियोंके द्वारा बाहर न निकलने देकर हृदयकमलपर ही स्थिर कीजिये। वहीं बुद्धि-सत्त्वका अनुभव होगा। वह अत्यन्त प्रकाशमान और आकाशके समान प्रथमान है। उसमें स्पष्ट स्थिति हो जानेपर सूर्य, चन्द्रमा, ग्रहके विषयमें मनःप्रवृत्ति मणिके रूपमें विकल्पमान होती है। वैसी स्थितिमें चित्त निस्तरङ्ग महोदधिके समान शान्त, अनन्त अस्मितामात्र हो जाता है। इस अवस्थामें स्पष्ट अनुभव होगा कि संसारके शोक और दुःख मेरा स्पर्श नहीं कर सकते। अभ्यासके इस प्रत्यक्ष फलका अनुभव होनेपर दूसरे भी अननुभूत विषयोंकी ओर साधक अग्रसर हो सकता है।

(१) आसन यदि स्थिर न होता हो तो भूत एवं भविष्यके कृत और कर्तव्योंको भुलाकर अपने फणपर पृथ्वी धारण किये हुए शेषनागका ध्यान कीजिये, आसन स्थिर करनेका यह चमत्कारी प्रयोग है।

(२) आप अपनी आँखोंकी पुतलियोंको बिना जोर लगाये जहाँ-की-तहाँ स्थिर छोड़ दीजिये। ध्यान रखिये वे चञ्चल न हों। आपका मन स्थिर हो जायगा।

(३) मुँह बंद रखिये, परंतु दाँत छू न जाय। जीभ न ऊपर लगे और न नीचे। मुखाकाशमें उसकी नोंक खड़ी कर दीजिये। आपका मन स्थिर हो जायगा।

हमारा कहनेका अभिप्राय यह है कि आप साधनके मार्गमें एक-दो कदम चलें और फिर भी आपको चमत्कार न मालूम पड़े तो पूछिये कि क्या बात है? सभी साधनोंका एक विज्ञान है, परंतु वह यन्त्रके द्वारा साधित होनेपर आपके जीवनमें फलप्रद नहीं होगा। कम्प्यूटरके गणितसे बाधित द्वैत-भ्रम आपके भ्रमको निवृत्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

(९)

योगदर्शनमें मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाके रूपमें चित्तको प्रसन्न करनेके लिये जिन साधनोंका उल्लेख किया गया है, वे सर्वथा व्यवहार-विज्ञानके अनुरूप हैं। जैनोंका 'त्रिरत्न' और बौद्धोंका 'पञ्चशील' भी उसी कक्षाके हैं। श्रीरामानुजाचार्यके 'साधन-सप्तक' और श्रीशंकराचार्यके 'साधनचतुष्टय' भी अपने-अपने लक्ष्यके अनुरूप ही हैं। उपनिषद्, गीता, भागवत आदिमें भक्तोंके जो लक्षण बताये गये हैं, वे कहीं भी सामाजिक या भौतिक मनोविज्ञानके विपरीत नहीं हैं। सृष्टिमें ऐसा कौन है जो कह दे कि भक्तके अद्वेष्टा आदि लक्षण वैज्ञानिक नहीं हैं या शंकराचार्यके साधनचतुष्टय आत्म-साक्षात्कारके अनुरूप नहीं हैं। जब लक्षण लक्ष्यको, साधन साध्यको, प्रमाण प्रमेयको ठीक-ठीक दिखा रहा है, तब उसके अवैज्ञानिक होनेकी शङ्का ही कहाँ रहती है?

(१०)

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि परमात्मा ही जीवके शरीरमें प्रविष्ट होकर वाणी, कर्म, गति, विसर्ग, घ्राण, रस, दृक्, स्पर्श, श्रुति, संकल्प, विज्ञान, अभिमान, सूत्रात्मा आदिके रूपमें प्रकट होता है। जैसे बीज भिन्न-भिन्न खेतोंमें पड़कर अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार विकसित होते हैं, वैसे ही संसारकी सब वस्तुएँ विकसित हो रही हैं। ये देखनेमें अनेक रूप हैं, परंतु वस्तुतः एकरूप हैं। कार्य-कारण, प्रमेय-प्रमाण अथवा ज्ञान-ज्ञेयके जितने भी भेद प्रतीत होते हैं, वे सब-के-सब सापेक्ष हैं। उनके सम्बन्धका ग्रहण पहले होता है, फिर उनके भेदकी प्रतीति होती है। उपासकोंका कहना है कि विश्व सापेक्ष है और ईश्वर निरपेक्ष। वेदान्तियोंका कहना है कि जीव-ईश्वरका भेद भी सापेक्ष ही है। भेदमात्र अध्यस्त है। अधिष्ठानके ज्ञानसे वह बाधित हो जाता है। भेदाभावोपलक्षित अधिष्ठान ही प्रत्यगात्मा है। यह बात सर्वथा सत्य है कि उत्पत्ति-विनाशशील अनेकरूप, नाम-रूपात्मक प्रपञ्च अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें ही कल्पित है। जो अद्वय-तत्त्व प्रपञ्चाभावसे उपलक्षित है, वही प्रपञ्च-कल्पनाके अभावसे भी उपलक्षित है। इससे

परमार्थ-सत्ताके स्वरूपका संकेत मिलता है। वह असत्यविरोधी सत्य नहीं है, जड-विरोधी ज्ञान नहीं है, सान्त-विरोधी अनन्त नहीं है और परिच्छेद-विरोधी ब्रह्म नहीं है। वह अपनेमें अध्यस्त भेदमात्रका अवरोधी है। वह विरोधीका विरोध अवरोधी नहीं, उसका भी अविरोधी है। इसलिये ब्रह्ममें सत्य और मिथ्याका भी द्वन्द्व अथवा सापेक्षता नहीं है। श्रुतिने स्पष्ट कहा है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

(केन उ० २। ३)

जिसने मतिके अविषय रूपसे परमात्माको पहचान लिया उसने सचमुच पहचान लिया। जिसने ऐसा समझा कि मैंने पहचान लिया, उसने नहीं पहचाना। जिन्हें ब्रह्म-विज्ञानका अभिमान है, ब्रह्म उनके विज्ञानका विषय नहीं है। जिन्होंने अनुभव कर लिया कि ब्रह्म विज्ञानका विषय नहीं है, उन्होंने वस्तुतः ब्रह्म-विज्ञान प्राप्त कर लिया। ज्ञान और ज्ञेयके अथवा ज्ञाता और ज्ञेयके भेदका बाधित हो जाना ही वस्तुतः ब्रह्मविज्ञान है, परंतु वह भेद और अभेदकी सापेक्षताके संघर्षसे बाधित नहीं होता, प्रत्युत अधिष्ठान-ज्ञानसे ही बाधित होता है।

(११)

अद्वैत-वेदान्तमें 'मिथ्या' शब्दका अर्थ दो प्रकारसे मानते हैं—अपह्नव और अनिर्वचनीयता। पहलेका अर्थ है सर्वथा प्रतीत न होना और दूसरेका अर्थ है प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः न होना। 'मिथ्या' शब्दकी इसी द्व्यर्थकताके कारण द्वैतवादियोंसे मतभेद हो गया है। द्वैतवादियोंका कहना है कि या तो तुम प्रपञ्चको ब्रह्मवत् सत्य स्वीकार करो या तो आकाश-कुसुमके समान असत्य, या त्रिकालाबाधित सत्त्व अथवा त्रिकालासत्त्व। यह बीचमें अनिर्वचनीयता क्या बला है? अद्वैतवादी इस नियमको नहीं मानते। वे कहते हैं कि एक तृतीय कक्षा भी हो सकती है। त्रिकालाबाध्य सत्ता ब्रह्म है। त्रिकालमें अप्रतीयमानतारूप असत्ता आकाश-कुसुममें है और उन दोनों प्रकारके सत्त्व-असत्त्वका अभाव शुक्ति-रजतमें है। प्रपञ्च आकाश-कुसुमके समान नितान्त असत् नहीं है और ब्रह्मके समान नितान्त सत् भी नहीं है, प्रपञ्चका व्यावहारिक सत्त्व है।

विचार करके देखें तो इस प्रसंगमें अद्वैतवादी और द्वैतवादियोंमें कोई विशेष मतभेदका कारण नहीं है; क्योंकि द्वैतवादियोंके मतमें प्रपञ्च ईश्वर-सापेक्ष है, परंतु ईश्वर प्रपञ्च-निरपेक्ष है। अवश्य ही प्रपञ्च ईश्वरकी अपेक्षासे न्यून-सत्ताक है; क्योंकि प्रपञ्चका उत्पत्ति-विनाश है। उनके मतमें भी प्रथम सत्य ईश्वर और द्वितीय सत्य प्रपञ्च—ऐसा मानना पड़ेगा। इस प्रकार प्रपञ्चमें सत्यका किञ्चित् अवमूल्यन अवश्य हो गया है। दो नम्बरका सत्य वास्तविक सत्य नहीं होता। किञ्चिन्न्यूनसत्ताकत्व ही तो अनिर्वचनीयत्व है, फिर मतभेद किस बातका?

हमारा कहना यह है कि अपने-अपने स्थानपर बैठकर जिसने साध्यको जिस रूपमें देखा है और उसकी उपलब्धिके लिये अनुभवपूर्वक जिस साधनका निश्चय किया है, वह सर्वथा युक्तियुक्त एवं वैज्ञानिक ही है। प्राचीनकालमें भी प्रवृत्तिविज्ञान, मनोविज्ञान, आलय-विज्ञान और ब्रह्म-विज्ञान आदिकी दृष्टिसे साधन-साध्यके सम्बन्धका निर्णय होता रहा है और वह ठीक है। अवश्य ही यन्त्र-विज्ञान, भूत-भौतिक विज्ञान या चित्त-चैत्त्य-विज्ञान साधन-विज्ञान नहीं हैं। साधनाका एक स्वतन्त्र विज्ञान है। विज्ञानकी शाखाओंमें इसका भी समावेश होना चाहिये और शास्त्रोक्त पद्धतिसे इसका अनुसंधान होना चाहिये।

जो व्यक्ति सत्यव्रती, मधुरभाषी और अप्रमत्त होकर क्रोध, मिथ्या-वाक्य, कुटिलता और लोक-निन्दाका सर्वथा त्याग कर देता है उसकी वाणीका द्वार सर्वथा सुरक्षित रहता है।

किसीको कठोर वचन मत कहो, क्योंकि कठोर वचन कहनेसे कठोर बात सुननी पड़ेगी। चोट करनेपर चोट सहन करनी पड़ेगी और रुलानेसे रोना पड़ेगा।



आशीर्वाद

शिक्षणसे ही विकास

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृंगेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराज)

हीरा खानोंसे निकलता है। खानसे तुरंत निकले हीरेका प्रकाश और मूल्य साधारण लोग नहीं पहचान पाते। जौहरी लोग ही बादमें उन्हें परखकर निश्चित करते हैं कि इन्हें कैसे काटना और कौन-सा आकार देना है। अपने निश्चयके अनुसार सावधानीसे काटकर सानपर रगड़कर मलापनयन एवं अतिशयाधान-संस्कारपूर्वक रम्य आकार देनेपर उनकी चमक और सुन्दरता सबको मोह लेती है। उनका मूल्य भी बढ़ जाता है। लोगोंमें उन्हें अपनानेकी इच्छा जाग्रत् हो जाती है।

मनुष्यका जीवन भी इसी प्रकार है। शिक्षणके पूर्व वह साधारण-सा रहता है। शिक्षा ही मलापनयन एवं अतिशयाधान है। शिक्षणसे वह लौकिक, पारलौकिक और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। सभी मानवोंका स्वभाव और शक्ति एक-सी नहीं होती। स्वभाव और शक्तिको परखकर शिक्षण दें तो वह शिक्षित मानव अपने ज्ञानकी परिधिमें बहुत कुछ साध सकेगा तथा सत्सङ्ग और सच्छास्त्राध्ययनसे अध्यात्मज्ञान भी प्राप्त कर सकेगा, जिससे इसी जन्ममें भवबन्धनसे मोक्ष प्राप्त कर लेगा। श्रीनीलकण्ठ दीक्षितजीने ठीक ही कहा है—

अपि मानुषकं लब्ध्वा भवन्ति ज्ञानिनो न ये।
पशुतैव वरं तेषां प्रत्यवायाप्रवर्तनात्॥

धर्म और अधर्म केवल मानवके लिये हैं। इतर जीवोंमें धर्म-अधर्मकी बात नहीं है। मानव होकर भी अपने कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान न प्राप्त करे और यथेष्टाचरण करता रहे तो उसका पशु होना ही अच्छा था; क्योंकि पशु-जन्ममें पाप लगता नहीं। मनु महाराजने कहा है—

लौकिकं वैदिकं वापि तथाऽऽध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्॥
(२।११७)

ज्ञान इस लोकका हो, परलोकका हो या आत्माका हो, जिससे उसे प्राप्त करना है, उसे सबसे पहले नमस्कार करे। शिक्षक और शिष्यका सम्बन्ध ऐसा होना चाहिये कि शिक्षकके प्रति शिष्यको गौरव और श्रद्धा हो तथा शिष्यके प्रति गुरुमें वात्सल्य हो, तभी शिक्षणका अच्छा फल मिलेगा। पूर्वकालके आश्रमोंमें गुरु-शिष्योंमें यही सम्बन्ध था। आजकलके बहुत-से विद्यालयोंमें ऐसा सम्बन्ध न होनेसे प्रजा शिक्षण प्राप्त करके भी शान्त और सुखी नहीं है।

निरुक्तकार यास्कमुनिने शिक्षणका सुन्दर ढंगसे वर्णन किया है—

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत कतमच्चनाह॥

शिक्षण कर्णवेध-संस्कार-जैसा है। कर्णवेधके समय पीडाके भयसे बालक सिर इधर-उधर न घुमाये, इसलिये मीठी बातोंसे उसका चित्त आकृष्ट करके सुई इस तरह चुभाते हैं कि उसे पीडा न मालूम हो, ठीक स्थानपर छेद हो, जिससे कर्णाभरण ठीकसे बैठ जाय और मुखकी शोभा बढ़े। इसी तरह गुरुजन सत्यवचनसे विद्या प्रदान करें, जिससे शिष्यको कष्ट न हो, ऐसा प्रतीत हो, मानो उसे अमृत प्रदान करते हों। शिष्य भी विद्याप्रदाताको माता-पिता समझे, कभी उन्हें दुःख न पहुँचावे। इस प्रकार शिक्षण पाया हुआ मानव जीवनमें प्रकाश पायेगा और विकास कर सकेगा।

शिक्षासे ही मानवताकी रक्षा

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशी-(सुमेरु)पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीशंकरानन्द सरस्वतीजी महाराज)

किसी कार्यमें प्रवृत्तिके प्रति साक्षात् ज्ञान ही कारण है। जैसा ज्ञान होता है, वैसी ही इच्छा होती है और इच्छाके अनुसार ही कृति होती है। कृतिसे शरीरादि-सम्बन्धी चेष्टाएँ होती हैं और तदनुसार फल होता है।

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा चेष्टाजन्या कृतिर्भवेत्।
कृतिजन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्यं फलं भवेत्॥

अतः किसी भी उद्देश्यकी प्राप्ति या साध्य-सिद्धिके लिये तद्विषयक जानकारी होना आवश्यक है। उत्तम फलके लिये उत्तम साधनका होना भी परमावश्यक है; क्योंकि आम्रफलकी निष्पत्ति बबूल-वृक्षसे नहीं हो सकती। मानव-जीवनके सच्चे लक्ष्यकी जानकारी और उसकी प्राप्तिके लिये भी तदनुकूल साधन मानवके लिये परम अपेक्षित है। यह सब शिक्षाके बिना सम्भव नहीं है, अतः शिक्षासम्बन्धी विशेष अङ्ककी योजना बनाकर 'कल्याण' जो मनुष्यमात्रके कल्याणका मार्ग स्फुट कर राष्ट्र, समाज एवं विश्वका सच्चा कल्याण करने जा रहा है, यह उसके नामानुसार सर्वोत्तम कार्य है।

शिक्षा-शब्दार्थ

'शिक्ष विद्योपादाने' (भ्वा०आ०से०) धातुसे 'अ' प्रत्यय कर 'टाप्' करनेसे शिक्षा शब्द निष्पन्न होता है। **'शिक्ष्यते विद्योपादीयतेऽनयेति शिक्षा।'** अर्थात् प्राणी जिस साधन-प्रणालीसे ज्ञान उपार्जित करता है उसीका नाम शिक्षा है।

व्यक्ति या समाजके आभ्यन्तर विद्यमान स्वाभाविक मौलिक सत्ताका परिस्फुटीकरण शिक्षाका लक्ष्य है। हाथीको तदनुरूप कला-कौशल-सम्पन्न हाथी बनाना ही हाथीकी उत्तम शिक्षाका लक्ष्य है। इसी प्रकार मनुष्यको पूर्ण मानवतासम्पन्न बनाना मानव-शिक्षाका उद्देश्य है। मानवके भीतर जब मानवताका बीज विद्यमान है तब उसे पूर्ण मानवतातक पहुँचाना या पूर्ण मानवताके स्वरूपका स्फुटीकरण मानव-शिक्षाका मूल उद्देश्य होना चाहिये। प्रत्येक जीवमें बीजरूपसे परतत्त्व या परब्रह्म विद्यमान है। अतः जीवभाव-अपनोदनपुरस्सर ब्रह्मभावस्थितिको प्राप्त कराना ही मानव-शिक्षाका मूल उद्देश्य है।

जिन लोगोंमें अध्यात्म-तत्त्वपर पूर्णरूपसे विचार-मन्थन नहीं हुआ है, जो ऐसा मानते हैं कि पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरका ही नाम मानव है और जिनके समस्त पुरुषार्थका भौतिक जगत्की उन्नति तथा शरीरकी परिपुष्टिमें ही पर्यवसान होता है, उन लोगोंमें सांसारिक सुखादिके साधनोंका उन्नयन करना ही शिक्षाका उद्देश्य होता है; परंतु भारतमें स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीरत्रयोपाधिसंवलित जीवका नाम मानव है। अतः स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरत्रयका क्रमशः संस्करण-परिशोधन करते हुए मनुष्य अपने मूलस्वरूप ब्रह्ममें स्थित होकर परिपूर्णता प्राप्त करे—वस्तुतः इसी विद्याकी साधन-प्रणाली आदर्श शिक्षा है।

यद्यपि हमारे यहाँ लौकिक उन्नति त्याज्य नहीं है, अपितु साधनरूपसे ग्राह्य है, अतएव **'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च। तत्रापरा— ऋग्वेदो यजुर्वेदः ····· अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'** श्रुतिमें कहा है।

भावार्थ यह है कि ऐहिक-आमुष्मिक सुख-शान्ति एवं अभ्युदयप्रद समस्त विद्या अपरा है, पर परिपूर्ण अक्षर तत्त्व परमात्माकी उपलब्धिको करानेवाली सर्वोत्तमा विद्या परा नामसे आदृत है। उपर्युक्त विवरणसे यह सुस्पष्ट है कि भारतीय महर्षियोंकी विचारधारामें नियन्त्रित भौतिक विज्ञान-कला-कौशलादिकी उन्नतिपूर्वक आध्यात्मिक उन्नयन करते हुए परमात्मतत्त्वकी उपलब्धि जिस शिक्षाके द्वारा हो, वही शिक्षा सर्वाङ्गपूर्ण आदर्श शिक्षा है।

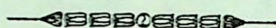
स्त्री-शिक्षा

पाश्चात्त्य शिक्षा-दीक्षासम्पन्न भारतीय बुद्धिजीवी समाज दृश्य जगत्में समानताका स्वप्न देखते हुए स्त्री-पुरुष-वर्गमें समानशिक्षा-प्रणालीकी ही उपयोगिता मानता है, परंतु इस ढंगसे अशान्ति, कलह, वैमनस्य उत्तरोत्तर बढ़ेगा, अतः

नारी-शिक्षा इस ढंगकी होनी चाहिये, जिस शिक्षाके द्वारा नारी अपनी पवित्रताकी रक्षा करती हुई पूर्णता अर्थात् जगन्मातृत्व प्राप्त कर सके। कारण, प्रत्येक स्त्रीमें बीजरूपसे जगन्माताका अंश विद्यमान है, अतः जगन्माताका पूर्णतया स्फुटीकरण जिस शिक्षासे हो सके वही शिक्षा नारीके लिये आदर्श शिक्षा है। स्त्री-पुरुषका सहाध्ययन-मिलन वस्तुतः तात्त्विक शिक्षा या कल्याणका बाधक, श्रेयोविघातक ही है साधक नहीं, यह सर्वथा सत्य है।

आधुनिक शिक्षाका सम्बन्ध अध्यात्म एवं धर्मसे न होनेके कारण शिक्षक एवं छात्रोंके परस्परमें अर्थके साथ विद्याका विनिमयमात्र समझा जाने लगा है। शिक्षाका उद्देश्य भृत्यवृत्ति (नौकरी) मात्र होनेके कारण समाज धर्मभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट एवं उत्तरोत्तर लक्ष्यहीन पथभ्रष्ट होता जा रहा है। इसका राजनीतिक गँठबन्धन तो दोनोंके साथ राष्ट्रको भी पीड़ित करने लगा है।

शिक्षा-जगत्का परिचालन एवं नियन्त्रण सदाचारशील तथा निःस्पृह ज्ञानवृद्ध मनीषियोंके द्वारा ही होना चाहिये। सरकारी तन्त्रका सम्बन्ध होनेपर शैक्षणिक जगत्में प्रतिबन्ध आनेसे ज्ञानोपार्जन सम्यक् नहीं हो सकता। अतः शिक्षा ऐसी हो जिसमें अध्यात्मवाद, धर्म एवं मानवोचित पूर्णताकी अभिव्यक्तिका समन्वय हो—मानव दानव न बन सके।



शिक्षाका मूल उद्देश्य और इसका महत्त्व

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायी श्रीगोपाल-वैष्णवपीठाचार्यवर्यश्री १०८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

तीनों लोकोंमें सप्तद्वीपवती पृथ्वी धन्य है। सातों द्वीपोंमें जम्बूद्वीप धन्य है। उसके नौ खण्डोंमें भरतखण्ड सर्वश्रेष्ठ है। आर्यावर्त, भारतवर्ष आदि नामोंसे यही पुकारा जाता है। इस भारतभूमिको कर्मभूमि भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त भूमि भोगभूमि है। इस कर्मक्षेत्रमें पुण्य-पाप-मिश्रित कर्मरूपी जैसे बीजोंका वपन करेंगे वैसा ही सुख-दुःख और मिश्रित फलोंका कर्म करनेवाले प्राणी उपभोग करेंगे।

मानवमात्र ही कर्म करनेका अधिकारी होता है। पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि जलचर-थलचर-नभचर प्राणी पूर्वजन्मोपार्जित कर्मोंके फलका उपभोग करनेवाले होते हैं। शास्त्रोंमें मानवमात्रका अधिकार है, पश्वादिकोंका नहीं, अतः मानवमात्रका परम कर्तव्य है—इस भारतवर्षके प्राङ्गणमें पैदा हुए अग्रजन्मा ब्राह्मणसे अपने-अपने चरित्रोंकी शिक्षा ग्रहण करना—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनुस्मृति २। २०)

पृथ्वीपर सभी मनुष्योंके लिये स्वधर्मका पालन करना ही श्रेयस्कर है। स्वधर्मकी शिक्षा भी ब्राह्मणोंद्वारा सम्पन्न हो सकती है।

मानवोंमें चार वर्ण होते हैं— १-ब्राह्मण, २-क्षत्रिय, ३-वैश्य, ४-शूद्र। इस प्रकारकी वर्ण-व्यवस्था अनादिकालसे चली आ रही है, सनातन वेदविहित है। वेद आर्योंका स्वतन्त्र प्रामाणिक शास्त्र है। तदनन्तर वेदानुकूल स्मृतिग्रन्थोंका प्रामाण्य है। उनमें भी मनु, गौतम, शंख, लिखित और पराशरकी स्मृतियाँ क्रमशः चतुर्युगीय प्रामाणिक धर्मग्रन्थ हैं। उनमें चतुर्युगी जीवोंके धर्मोंमें तारतम्यता दिखायी गयी है। मनु महाराजने सभी मानवोंके कल्याणके लिये महर्षियोंके प्रति वर्णाश्रम-धर्मका प्रतिपादन किया है। वेद-प्रतिपादित चारों वर्णोंको अपने-अपने धर्मोंकी शिक्षा ग्रहण करना अनिवार्य है।

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास—ये चार आश्रम हैं। बिना वर्णाश्रम-व्यवस्थाके स्वधर्मका पालन करना कठिन है। स्वधर्ममें मर मिटना ही श्रेयस्कर है। पराया धर्म भयावह होता है। ऐसा गीतामें जगद्गुरु

योगेश्वर श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ (३। ३५)

खान-पान, आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषादिमें स्वच्छन्दतापर अंकुश लगाना ही शिक्षाका मूल उद्देश्य है। शिक्षा भी धार्मिक होनी चाहिये, जिसके अभावमें वर्ण-व्यवस्था लुप्त-सी हो रही है। पाश्चात्त्य शिक्षा अर्थपरक है। उसमें स्वधर्मका लवलेश भी नहीं है। सुशिक्षा सद्बुद्धिसे गृहीत होती है। सद्बुद्धि भी सदन्नभक्षणसे होती है; क्योंकि बुद्धि अन्नपर अधिरूढ है। कुत्सित अन्न भक्षण करनेसे कुबुद्धिद्वारा कुकर्म करनेसे कुगति होती है और शुद्ध अन्नके सेवनसे सद्बुद्धिद्वारा सदाचारमें तत्पर होकर आत्मकल्याण करना ही शिक्षाका महत्त्व है। सुशिक्षित मनुष्य ही सर्वत्र आदरणीय होता है। अतः भारतीय शिक्षाके बिना भारतीयता धूमिल है। भारतीय शिक्षासे ही भारतीय संस्कृतिकी सुरक्षा सम्भव है और भारतीय संस्कृति भी संस्कृत-भाषाके अध्ययन-अध्यापन बिना सुरक्षित नहीं रह सकती; क्योंकि संस्कृत-भाषाके ग्रन्थों—रामायण, महाभारत, पुराण आदिमें ही भारतीय संस्कृति कूट-कूटकर निहित है। उसकी शिक्षाके अभावमें स्वधर्म-कर्मका ज्ञान ही अशक्य है, जिसके बिना आजके भारतीय शिक्षा-सूत्र-परिधानादिसे विहीन होते जा रहे हैं। पाश्चात्त्य सभ्यतावश भारतीयताका स्वरूप तिरोहित होता जा रहा है। अतः जबतक भारतीय प्रथा विद्यमान रहेगी तबतक भारत भारत ही रहेगा, अन्यथा भारत भारत-सा रह जायगा। इसलिये भारतीय धर्मकी शिक्षा ग्रहण करना भारतीय मानवोंका मुख्य कर्तव्य है। स्वकर्म करना और स्वकर्मका परित्याग करना—इन दोनोंमें स्वकर्म-परायणता ही विशिष्ट है। जगद्गुरु श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

(५। २)

शिक्षाद्वारा सम्पन्न स्वधर्म-कर्मोंमें कुशलता प्राप्त करना ही योग है। कुशलता भी कर्तव्यकी शिक्षा बिना अलभ्य है। प्राचीन महर्षियोंने कठोर तपस्या करके तपोबलसे मानवोंके हितार्थ जिन साधनोंका विधान बताया है, उनकी जानकारी न होनेसे भारतीय मानव आध्यात्मिक ताप (ज्वर-चिन्ता-विषाद आदि), आधिभौतिक ताप (चोरी-डकैती-हिंसा-सर्प आदिका भय) और आधिदैविक ताप (अतिवृष्टि-अनावृष्टि, अकाल-बाढ़-सूखा आदि दैवी प्रकोप)—इन त्रिविध तापोंसे संतप्त हो रहा है। उपर्युक्त त्रितापोंके नाशक उपाय संस्कृत-भाषामें निबद्ध इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, आयुर्वेद आदि आर्ष ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। उनका ज्ञान न होनेसे त्रिताप-तापित प्राणी सुख-शान्ति कैसे प्राप्त कर सकता है? जिस देशका जो जन्तु होता है, उसके रोगका निदान उसी देशकी औषधसे हितकर है—

यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम् ।

(सुश्रुत०)

इसी प्रकार स्वदेशी अन्न, वस्त्रादिका उपयोग करना भी गुणकारी है। स्वदेशी अन्न, वस्त्रादि वस्तुओंका विदेशोंमें निर्यात तथा विदेशी अन्न-वस्त्रादिका आयात होनेसे संकीर्णतावश स्वभाव-परिवर्तन हो जाता है। इस स्वर्णभूमि भारतमें श्रेष्ठ आम्रफल, चावल आदि वस्तुएँ भारतीयोंको सस्ते मूल्यमें उपलब्ध नहीं होतीं, जिससे भारतीय वञ्चित हो जाते हैं। जिन्हें ईश्वरने भारतीयोंके जीवनके लिये भारतमें उपजाये हैं, उनका उपभोग विदेशी कर रहे हैं तथा भारतीय प्रतिभा भी लोभवश विदेशोंमें चली जा रही है। इसी कारण भारत संकटग्रस्त होता जा रहा है। इन संकटोंके निवारणके लिये भारतीय शिक्षा, भारतीय औषध-सेवन, भारतीय परिधान, भारतीय आचरण, भारतीय आहार-विहारकी परमावश्यकता है। इनके बिना भारत सम्पन्न देश नहीं हो सकता।

अतः जगद्गुरु श्रीकृष्णने मानवोंको जो शिक्षा दी है, उसीमें मानवमात्रका कल्याण निहित है। दूसरोंका अनुकरण करनेसे पतन हो जाता है। इसलिये भगवन्निर्दिष्ट भारतीय धर्मकी शिक्षा ग्रहण करना प्रत्येक भारतीयका मुख्य लक्ष्य है। यही शिक्षाका मूल उद्देश्य एवं महत्त्व है। **'शौचाचारांश्च शिक्षयेत्'**—इस स्मृति-वाक्यसे शुद्ध

आचारकी शिक्षा लेना-देना भी ऐहलौकिक एवं पारलौकिक हितका परम साधन है । अशुद्ध और शास्त्रीय विधिसे रहित स्वेच्छावश कर्म करनेवाला मनुष्य न तो इस लोकमें सुखी हो सकता है और न परमगतिको प्राप्त कर सकता है । इसे भी जगद्गुरु श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

(गीता १६ । २३)

अतः शास्त्रीय दृष्टिसे सभी व्यवहार करना ही परम धर्म है, लौकिक अनुकरण करना नहीं । वेदव्यासजीने ब्रह्मसूत्रमें कहा है कि—'**शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशः**' अर्थात् शास्त्रदृष्टिसे शिक्षा देनी चाहिये, न कि लोकदृष्टिसे । शास्त्रकी शिक्षाका लक्ष्य अर्थ नहीं है, किंतु अध्यात्म-तत्त्वका ज्ञानोपार्जन करना है । उस आध्यात्मिक विद्याका केन्द्र भारत ही है, विदेश नहीं । इसलिये भारतीय शास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापनद्वारा अध्यात्म-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना ही शिक्षाका मुख्य उद्देश्य है । अर्थकरी विद्या अनर्थकारिणी भी हो सकती है, क्योंकि अर्थ ही अनर्थरूप है । अपना कल्याण चाहनेवालेको अर्थासक्तिका परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर है—'**तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ।**' (श्रीमद्भा० ११ । २३ । १९) । जिस अर्थके उपार्जनमें दुःख, अर्जित धनकी सुरक्षामें दुःख, नष्ट हो जानेपर दुःख, अधिक खर्च हो जानेपर दुःख हो ऐसे अर्थसे सुख ही क्या मिलेगा ?—

अर्थानामर्जने दुःखं संचितानां च रक्षणे ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशसंश्रयान् ॥

(हितोपदेश)

शास्त्र और शस्त्रकी शिक्षाओंमें शास्त्र-शिक्षा श्रेष्ठ होती है । धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके परस्पर विरोधमें धर्मशास्त्रका पक्ष ही बलिष्ठ है । उदाहरणार्थ श्रीकृष्ण-अर्जुनका प्रसङ्ग देखिये—अश्वत्थामा रातमें द्रौपदीके सोते हुए पाँचों पुत्रोंके सिर काटकर ले गया । द्रौपदी विलाप करने लगी । उसे सान्त्वना देते समय अर्जुनने प्रतिज्ञा की कि 'मैं हत्यारेकी गर्दन काटकर लाऊँगा और उसके ऊपर तुझे बिठाकर आँसू पोछूँगा ।' इस प्रणको सुनकर श्रीकृष्ण अर्जुनको रथमें बैठाकर ले गये । बहुत दूर भागनेसे अश्वत्थामाका अश्व मर गया । वह उसे छोड़कर प्राण बचानेके लिये भागा । अर्जुनने दौड़कर उसे पकड़ लिया और वे रथके पृष्ठभागमें उसे बाँधने लगे । तब श्रीकृष्णने कहा कि 'इसे मारकर अपना प्रण पूरा करो । आततायीके मारनेसे दोष नहीं लगेगा ।' यह सुनकर भी अर्जुनने उसका वध नहीं किया प्रत्युत उसे बाँधकर शिविरमें ले गये और द्रौपदीके सामने उपस्थित किया, तब द्रौपदीने गुरुपुत्रको छोड़ देनेके लिये कहा तथा उसे प्रणाम किया । इसपर धर्मराज युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण, नकुल और सहदेव तो सहमत हो गये, किंतु केवल भीमसेनने विरोध किया । तब भाइयों एवं श्रीकृष्णका अभिप्राय समझकर अर्जुनने उसके शिरोरत्नको काटकर निकाल लिया तथा उसे जीवित शिविरसे बाहर निकाल दिया । इसमें '**मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि**' अर्थात् किसी भी प्राणीकी हिंसा न करें,—यह धर्मशास्त्र-पक्ष है और '**जिघांसन्तं जिघांसीयान्नैतेन ब्रह्महा भवेत्**'—यह अर्थशास्त्र है कि मारनेवालेको मार डाले तो ब्रह्महत्या नहीं लगती । इन दोनोंका विरोध होनेपर अहिंसा-पक्ष ही प्रबल हुआ । अहिंसा ही परमधर्म है । जिस धर्ममें दया नहीं वह धर्म वर्जित है । '**त्यजेद्धर्मं दयाहीनम्**'—यह नीति-वाक्य है । धर्म और नीतिका परस्पर सम्बन्ध होना अत्यावश्यक है । धर्मके बिना नीति विधवाके समान और नीतिके बिना धर्म विधुरके समान है । आजकल धर्म-न्याय-व्यवस्थामें बलका प्रयोग होता है । इसमें शिक्षाका अभाव ही कारण है । शिक्षामें भी गुरु-शिष्यभावकी आवश्यकता है, उद्दण्डताकी नहीं । गुरुभावसे गुरुकी कृपाद्वारा तत्त्वका ज्ञान प्राप्त होता है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

(गीता ४ । ३४)

इस भगवद्वाक्यसे तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष ही उपदेष्टा होता है । भारतीय शास्त्रोंके पठन-पाठनके बिना भविष्यमें उपदेशक शिक्षकोंकी उपलब्धि न होनेपर सभी शास्त्र जीर्ण

गृहके समान रह जायँगे । पुनः शास्त्रशिक्षा कहाँसे उपलब्ध हो सकेगी । इसलिये नीचेसे ऊपरतक पाठ्य पुस्तकोंमें भारतीय शिक्षाका समावेश होना नितान्त आवश्यक है । तभी महर्षि-ब्रह्मर्षि-राजर्षियोंके अधूरे उद्देश्य पूरे हो सकेंगे और नवीन विद्वानोंका अभ्युदय हो सकेगा । जिस शिक्षासे लोक-परलोक नष्ट हो, वह शिक्षा नहीं । स्वधर्मपर निष्ठावान् पुरुष ही गुणी कहलाते हैं । दत्तात्रेयजीने चौबीस गुरुओंसे भिन्न-भिन्न विषयोंकी शिक्षा ग्रहण की थी, जिससे आत्मकल्याण एवं आत्मानन्दका अनुभव होता है । इसी प्रकार सभी मनुष्योंको सुख-शान्ति-समृद्धिके लिये शास्त्रीय अध्ययनद्वारा अपने ही घटमें आत्मानुभूति प्राप्त करनी चाहिये । सांसारिक बन्धनोंसे मुक्ति पानेके हेतु अध्यात्मज्ञान ही मूल कारण है । शास्त्रीय ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है और अनुभव ही विज्ञान है ।

भक्तप्रवर प्रह्लादजीने सन्मार्गके विरुद्ध दैत्यगुरुकी आसुरी शिक्षाका बहिष्कार कर दिया था तो उनपर दैत्योंने जघन्य अत्याचार किये थे । तब नारद गुरुकी सत्-शिक्षासे प्रभावित होकर भगवान्ने श्रीनृसिंह-अवतार धारणकर भक्तकी रक्षा की थी । यही सत्-शिक्षाका महत्त्व है । आजके प्रलयंकारी युगमें प्रारम्भिक शिक्षासे लेकर महाविद्यालयीय उच्च शिक्षातक भारतीय शिक्षाके शिक्षणका अभाव है । अध्यात्मवादपर भौतिकवाद कुठाराघात करता जा रहा है । जिसका कुपरिणाम भविष्यमें न जाने क्या होगा, ईश्वर जाने ।

दूसरा कलंक भारतपर सहशिक्षाका है, जो कालेजोंमें कुरीतिको जन्म देती है । छात्र-छात्राओंपर परस्पर कुप्रभाव पड़ता है, जिससे प्रेमबन्धनमें फँसकर अभिभावकोंके अनिच्छावश आत्महत्याएँ होती हैं तथा वर्ण-संकीर्णता फैलती है । इस कुप्रथासे सनातन धर्मपर कुठाराघात होता है, अतः निषिद्ध है । जबसे भारतमें पाश्चात्त्य शिक्षा-सभ्यताका प्रचार-प्रसार हुआ तभीसे आध्यात्मिकताका ह्रास होने लगा है । सदाचारवादपर अनाचारवाद कदम बढ़ाता जा रहा है । इसे रोकनेके लिये शास्त्र-शिक्षाकी व्यवस्था करना प्रत्येक भारतीयका कर्तव्य है । भारतीय बालक ही भविष्यके निधि हैं । उनमें बाल्यकालसे ही भारतीय संस्कारोंके बीज वपन करने चाहिये, तभी भारतीयोंका उज्ज्वल स्वरूप उभरकर सामने आयेगा । अन्यथा इक्कीसवीं सदीमें भारतीय नाममात्र रह जायेंगे । उनका स्वरूप ही परिवर्तित हो जायगा तथा भारतीय संस्कृति इतिहासमात्र रह जायगी । इसलिये भारतीय भाषा संस्कृत-हिंदीकी शिक्षा प्रत्येक गाँव, प्रत्येक शहरमें पाठशालाओंसे लेकर महाविद्यालयोंतक दी जानी चाहिये । यही शिक्षाका मूल उद्देश्य एवं महत्त्व है ।

आत्मज्ञान

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥

(कठ १।२।२)

श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही मनुष्यके सामने आते हैं । बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनोंके स्वरूपपर भलीभाँति विचार करके उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है और वह श्रेष्ठबुद्धि मनुष्य परम कल्याणके साधनको ही भोग-साधनकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करता है । परंतु मन्दबुद्धिवाला मनुष्य लौकिक योगक्षेमकी इच्छासे भोगोंके साधनरूप प्रेयको अपनाता है ।

शिक्षाका मूल उद्देश्य एवं महत्त्व

(श्रीसम्प्रदायाचार्य श्रीभाष्य-भगवद्विषय उभयसिंहासनाधिपति विश्वाचार्य श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी तर्कशिरोमणि)

'शिक्षा' शब्दका मूल **'शिक्ष विद्योपादाने'** धातु है । तदनुसार **'शिक्षते उपादीयते विद्या यया सा शिक्षा'** अर्थात् 'जिसके द्वारा विद्याका उपादान किया जाय वह शिक्षा है । शिक्षासे जिस विद्याकी प्राप्ति की जाती है, उसके स्वरूपका विवेचन करते हुए श्रीगुरुचरण मधुसूदनझा महाभाग 'ब्रह्मसमन्वय'में कहते हैं कि **'विद्यास्ति ज्ञानविज्ञानदर्शनः संस्क्रियात्मनि'** अर्थात् शिक्षाके लक्ष्य ज्ञान-विज्ञान एवं दर्शनोंसे आत्मामें एक प्रकारका संस्कार उत्पन्न करना विद्या है । दूसरे शब्दोंमें आत्माको संस्कृत करना ही शिक्षाका मुख्य लक्ष्य है । आर्य शास्त्रोंमें अश्व-शिक्षा, गज-शिक्षा, मृग-शिक्षा, पक्षि-शिक्षा आदि अनेक उपादेय शिक्षाएँ प्रसिद्ध हैं । मानव विभिन्न मतवादोंकी परस्पर विरुद्ध शिक्षाओंसे शिक्षित होनेपर भी जबतक सत्-शिक्षासे शिक्षित नहीं होता, तबतक वह यथाजात असंस्कृत, अपूर्ण, अनुन्नत, रुग्ण होनेसे अज्ञ (अशिक्षित) कोटिमें परिगणित होता है । दूसरे शब्दोंमें वह अशिक्षित ही है । अतः वेदकी दृष्टिसे यथाजात अप्रबुद्ध, असंस्कृत, अविकसित, अनुन्नत एवं रुग्ण मानवको प्रबुद्ध, संस्कृत, विकसित, उन्नत, नीरोग एवं पूर्ण मानव बनाना ही शिक्षाका मूल उद्देश्य एवं महत्त्व है ।

'मानव-शिक्षा'में घटक 'मानव' शब्द केवल परमाणुपुञ्जके भौतिक शरीरका ही वाचक न होकर मानव-शरीरके शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा—इन चार पर्वोंकी समष्टिका वाचक है । दूसरे शब्दोंमें शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा—इन चार पर्वोंकी समष्टिको वेदमें 'मानव' शब्दसे अभिहित किया गया है । अतः मानव-शिक्षाके मूल उद्देश्योंमें इन चारोंका विकास, उन्नति, संस्कार, नीरोगता एवं पूर्णता आदि सब समाविष्ट हैं । मानवके इन चारों पर्वोंमेंसे एक भी पर्व यथाजात असंस्कृत, अनुन्नत, अविकसित, रुग्ण एवं अपूर्ण रह जाय तो वह इतर तीन पर्वोंको भी रुग्ण बना देगा, अतः शिक्षासे चारों पर्वोंका विकास अपेक्षित है । आर्य शिक्षामें इस अपेक्षाका पूर्णरूपसे ध्यान रखा गया है ।

आर्य शिक्षा ही सभी संस्कारोंमें मुख्यतम है । शिक्षारूपी संस्कार मानवके शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा—इन चारों पर्वोंको निर्दोष, गुणवान्, इतर-विलक्षण, विकसित, नीरोग एवं पूर्ण बनाता है । इन चारों पर्वोंकी समष्टि ही मानव है । मानवका पूर्ण विकास ही तो शिक्षाका मूल उद्देश्य है । वेदकी दृष्टिमें विश्वका कोई भी असंस्कृत पदार्थ किसी भी कार्यके लिये उपयुक्त नहीं होता, अतः उसे कार्यान्तरके उपयोगके लिये संस्कृत बनाना अनिवार्य है । कच्चा घड़ा असंस्कृत होनेपर जल-धारण-कार्यके लिये योग्य नहीं होता, अतः उसे अग्निमें संस्कृत बनाया जाता है । ताप-संस्कारसे उसमें जल-धारणकी योग्यता आ जाती है । श्रीभगवद्रामानुज मुनिने श्रीभाष्यमें **'कार्यान्तरयोग्यतापादनं हि संस्कारः'**—संस्कारका यह लक्षण किया है, जो सर्वथा यथार्थ है। इसी प्रकार शिक्षा-संस्कारसे संस्कृत मानव चारों पर्वोंमें निर्दोष, गुणवान्, इतर-विलक्षण, नीरोग एवं पूर्ण बनता हुआ राष्ट्र-सेवा, संस्कृतिसेवा, विश्वसेवा आदि कार्योंमें उपयोगी होता है । अतः हम आर्योंको आर्यशिक्षा (मानव-शिक्षा)से शिक्षित करना परम आवश्यक है। जो शिक्षाएँ मानवके शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा—इन चारों पर्वोंमें एकको भी संस्कृत, पूर्णविकसित एवं नीरोग बनानेकी क्षमता नहीं रखतीं वे शिक्षा न होकर शिक्षाभास हैं । उनसे तो यथाजात शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा—ये सब विकृततम हो जाते हैं, अतः ऐसी शिक्षा मानव, राष्ट्र एवं आर्यभाव आदिके लिये अभिशाप है । इस शिक्षाभासने हमारी आर्यता एवं मानवता—इन दोनोंका अभिभव कर दिया है । उसका कुफल हम भोग रहे हैं ।

मानवके ये चारों पर्व शिक्षासे निर्दोष, गुणवान्, इतर-विलक्षण, नीरोग एवं पूर्ण हो गये हैं, इसमें शरीरकी

पुष्टि, नीरोगता, मनकी तुष्टि, बुद्धिकी धृति एवं आत्माकी शान्ति—ये चारों क्रमशः प्रमाण हैं। शरीरकी पुष्टि (नीरोगता) यह प्रमाणित करती है कि इस मानवका शरीर शिक्षासे संस्कृत हुआ है, अतः यह शारीरिक दोषों एवं अशक्ति आदिसे आक्रान्त न होनेसे निर्दोष है। बल, वीर्य एवं दृढ़ता आदि गुणोंसे सम्पन्न होनेसे शरीर गुणवान् भी है। यथाजात अविकसित, असंस्कृत शरीरसे यह विलक्षण भी है, अतएव नीरोग तथा पूर्ण भी है। शिक्षासे संस्कृत मनके निर्दोष, गुणवान्, विचित्र, विकसित एवं नीरोग होनेमें उसकी तुष्टि प्रमाण है। आर्य शिक्षासे शिक्षित नीरोग, निर्दोष, गुणवान्, विलक्षण एवं विकसित मनका वर्णन श्रीवेदान्तदेशिकस्वामीने इस प्रकार किया है। आर्य शिक्षा (मानव-शिक्षा) के प्रभावसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषोंके अपगत होनेसे मन निर्दोष है। शम, दम आदि गुणोंसे वह गुणवान् है। जो मैत्री, दया, उपेक्षा, मुदिता आदि गुणोंसे इतर-विलक्षण है। धृति एवं तत्त्व-चिन्तन—ये दोनों शिक्षासे शिक्षित बुद्धिको निर्दोषा, गुणवती, संस्कारवती, आरोग्यवती एवं पूर्णता-सम्पन्ना प्रमाणित करते हैं। अधृति, अधर्म, अज्ञान, राग, अस्मिता आदिके नष्ट हो जानेसे वह दोषरहित है। धर्म-ज्ञान-विराग-ऐश्वर्य एवं धृतिके विकाससे बुद्धि गुणवती है, तत्त्वचिन्तनसे बुद्धि यथाजात मानवकी बुद्धिसे विलक्षण है। इसे धृति एवं तत्त्व-चिन्तन—ये दो गुण प्रमाणित करते हैं। आर्य-शिक्षासे शिक्षित आत्मा मोह, राग, द्वेष, असूया, अहंकार आदिसे रहित होनेसे निर्दोष हैं। विवेक, सुमति, भक्ति, विराग, भक्ति (प्रीति), अनसूया, विनय आदि गुणोंसे अलंकृत होनेसे वह गुणवान् है। ध्यान, समाधि आदि दिव्य गुणोंसे वह इतर-विलक्षण है। संयम आदि गुणोंसे पूर्ण होनेपर वह नीरोग है। तृप्त (आत्माराम होने)से वह पूर्ण है। इसमें शिक्षासे प्राप्त उसकी शान्ति प्रमाण है।

शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा—इन चार पर्वोंके साथ चार शास्त्रोंका भी सम्बन्ध है। शरीरके साथ अर्थशास्त्र—आयुर्वेदका सम्बन्ध है। मनके साथ कामशास्त्र, योगशास्त्र एवं गान्धर्व (संगीत) शास्त्रका सम्बन्ध है। बुद्धिके साथ धर्मशास्त्र एवं दर्शनशास्त्रका, आत्माके साथ मोक्षशास्त्र (वेदान्त) का सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं मोक्षशास्त्र—इन चारोंमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। अर्थशास्त्रमें अर्थका इतर शास्त्रोंके अविरोधसे वर्णन है। कामशास्त्रमें भी कामका मोक्षशास्त्र आदि इतर तीन शास्त्रोंके अविरोधसे वर्णन है। धर्मशास्त्रमें भी धर्मका इतर शास्त्रोंके अविरोधसे वर्णन है। मोक्षशास्त्रमें भी मोक्षका इतर शास्त्रोंके अविरोधसे मुख्यतया मोक्षका वर्णन है—**'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः'** (ब्रह्ममीमांसा)।

वही शिक्षा मानवके चारों पर्वोंको उन्नत अथवा संस्कृत कर सकती है, जिसमें अर्थ-कामकी तरह धर्म-मोक्षके शिक्षणकी भी पूर्ण व्यवस्था हो। जिस शिक्षाने अपने यहाँ केवल अर्थ-कामको रखकर धर्म-मोक्षको निकाल दिया हो वह शिक्षा कदापि मानवके चारों पर्वोंमेंसे किसीको भी विकसित नहीं कर सकती, अपितु उन्हें अधिक दोषपूर्ण बना देती है। ऐसी शिक्षासे शिक्षित मानव वेदान्त-तीर्थ बनकर भी विषयी ही रहते हैं, योगाचार्य होकर भी साधनशून्य रहते हैं, विदुरनीति आदि सीखकर नीतिभ्रष्ट रहते हैं और धर्मशास्त्र पढ़कर भी धृतिभ्रष्ट होते हैं। अतः शिक्षामें अर्थ-कामके साथ-साथ धर्म एवं मोक्षका भी शिक्षण होना परम आवश्यक है।

मानव-कर्तव्य

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु। दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ३। २३)

पहले शरीर, संतान आदिमें मनकी अनासक्ति सीखे। फिर भगवान्‌के भक्तोंसे प्रेम कैसे करना चाहिये—यह सीखे। इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया, मैत्री और विनयकी निष्कपट भावसे शिक्षा ग्रहण करे।

जीवनकी सफलताके लिये अनुपम शिक्षा

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

(गीता १३।८)

—इस श्लोकके भावको हृदयङ्गम करानेके लिये नीचे एक कहानीकी कल्पना की जाती है—

अवन्तिकापुरीका राजा विष्वक्सेन बड़ा ही धर्मात्मा था। उसका राज्य धन-धान्यसे परिपूर्ण था। प्रजा उसकी आज्ञामें थी। उसके यहाँ किसी भी पदार्थकी कमी नहीं थी, किंतु उसके कोई संतान नहीं थी। वह एक बड़े सद्गुणसम्पन्न, सदाचारी और विरक्त महात्मा पुरुषके पास जाया करता था और उन महात्माकी सेवा-शुश्रूषा किया करता था। एक दिन महात्माने पूछा—'तुम बहुत दिनोंसे हमारे पास आते हो, तुम्हारे आनेका उद्देश्य क्या है?'

विष्वक्सेनने कहा—'महाराजजी! मेरे यहाँ किसी भी वस्तुकी कमी नहीं है। आपकी कृपासे मेरा राज्य धन-धान्यसे पूर्ण है, पर मेरे कोई पुत्र नहीं है, यही एक अभाव है। आप कृपापूर्वक ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मुझे एक बार उत्तम पुत्रकी प्राप्ति हो जाय।'

महात्माने कहा—'तुम पुत्र-प्राप्तिके लिये विष्णुयाग करो। भगवान् उचित समझेंगे तो तुम्हें पुत्र दे सकते हैं।'

राजा विष्वक्सेनने महात्माके कथनानुसार यथाशास्त्र विष्णुयागका अनुष्ठान किया। उस यज्ञशेष भोजनके फलस्वरूप उसकी स्त्रीके गर्भ रह गया और दस महीनेके पश्चात् उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बालक बहुत ही सुन्दर और बुद्धिमान् था, मानो कोई योगभ्रष्ट पुरुष हो। उसके पैदा होनेपर राजाने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार उसके जातकर्मादि संस्कार कराये और उसका नाम रखा 'जनार्दन'। कुछ बड़ा होनेपर जनार्दनको घरपर ही अध्यापक बुलाकर विद्याभ्यास कराया गया। कुशाग्रबुद्धि होनेके कारण जनार्दन शीघ्र ही विद्यामें पारङ्गत हो गया। वह संस्कृत आदि भाषाओंका एक अच्छा विद्वान् हो गया। वह सभी लड़कोंके साथ बड़ा प्रेम करता था, किसीके साथ भी कभी लड़ाई-झगड़ा और गाली-गलौज नहीं करता था। वह स्वाभाविक ही सीधे सरल स्वभावका, सद्गुण-सदाचारसम्पन्न और मेधावी था।

एक दिन राजा विष्वक्सेन महात्माजीके पास गया तो अपने पुत्रको साथ लेते गया। राजाने महात्माके चरणोंमें अभिवादन किया, यह देखकर लड़केने भी वैसे ही प्रणाम किया।

राजाने कहा—'महाराजजी! आपने जो अनुष्ठान बतलाया था, उसके फलस्वरूप आपकी कृपासे ही मेरे यह बालक पैदा हुआ है। अतः इसे कुछ शिक्षा देनेकी कृपा करें।'

महात्मा बोले—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना।'

फिर महात्माजीने उस लड़केके हाव-भावको देखकर कहा कि 'यह लड़का योगभ्रष्ट पुरुष प्रतीत होता है। अतः यह आगे चलकर बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बन सकता है।'

यह सुनकर राजा अपने घरपर चला आया और अपनी पत्नी, मन्त्रीगण तथा सेवकोंको एकान्तमें बुलाकर उसने सारी बातें बतलायीं एवं समझा दिया कि इस लड़केको सदा-सर्वदा ऐशो-आराम और स्वाद-शौकीनीके ही वातावरणमें रखना चाहिये। भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातोंसे ही इसे सर्वथा दूर रखना चाहिये। इस बातका पूरा ध्यान रखा जाना चाहिये कि जिससे कोई भी वस्तु इसके भक्ति-विवेक-वैराग्यका कारण न हो जाय।

राजाके आज्ञानुसार सारी व्यवस्था हो गयी, किंतु

जनार्दनके अन्तःकरणमें जो पूर्वजन्मके संस्कार भरे थे, वे कैसे रुक सकते थे। इसके सिवा उसके हृदयपर महात्माजीकी शिक्षाका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। जनार्दन अपने समान आयुवाले लड़कोंके साथ खेलता था, किंतु उसका मन खेल-तमाशों और भोग-आराममें कभी लगता नहीं था। वह जब कभी पर्यटनके लिये बाहर जाता, तब राजाके सिखाये-समझाये हुए बुद्धिमान् मन्त्री विद्यासागर सदा उसके साथ रहते थे।

जब जनार्दनकी आयु १८ वर्षकी हो गयी, तब उसका विवाह कर दिया गया और वह अपनी पत्नीके साथ रहने लगा। कुछ दिनों बाद उसकी स्त्री गर्भवती हुई। जब संतान होनेका समय आया, तब दिनमें स्त्रीको बड़ा कष्ट हुआ। उसी रातमें लड़का पैदा हुआ, उस समय जर्नादन अपनी स्त्रीके पास ही था। प्रसव-कष्टको देखकर वह बहुत ही घबराया। जेर और मैलेके साथ बच्चेका पैदा होना देखकर उसे बड़ी ही ग्लानि हुई और उसीके साथ सहज ही वैराग्यका भाव भी प्रकट हुआ।

सबेरा होनेपर मन्त्री आ गये। सब घरवाले एकत्र हुए। रात्रिमें जनार्दनकी पत्नीकी प्रसव-वेदनाका हाल सुनकर सबको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने वैद्योंको बुलाकर दिखलाया। वैद्योंने कहा—'कष्ट तो लड़केको अधिक हुआ, पर कोई चिन्ताकी बात नहीं है।'

तब जनार्दनने मन्त्री विद्यासागरसे पूछा—'मन्त्रीजी! पैदा होते ही लड़का बहुत ही चिल्लाया और तड़फड़ाया, ऐसा क्यों हुआ?'

विद्यासागर बोले—'जब बच्चा गर्भमें रहता है, तब सब द्वार बंद रहते हैं और जब वह बाहर निकलता है, तब एक बार उसे बहुत कष्ट होता है।'

जनार्दन—'यह जेर और मैला क्यों रहता है?'

विद्यासागर—'ये सब तो गर्भमें इसके साथ रहते हैं।'

जनार्दन—'तब तो गर्भमें बड़ा कष्ट रहता होगा?'

विद्यासागर—'इसमें क्या संदेह है। गर्भकष्ट तो भयानक होता ही है।'

जनार्दन—'गर्भमें यह कष्ट क्यों होता है?'

विद्यासागर—'पूर्वजन्मके पापोंके कारण।'

जनार्दन—'पूर्वजन्म क्या होता है?'

विद्यासागर—'जीव पहले जिस मनुष्य-शरीरमें था, वह इसका पूर्वजन्म था। वहाँ इसने कोई पाप किया था, उसीके कारण इसे विशेष कष्ट हुआ।'

जनार्दन—'पाप किसे कहते हैं?'

विद्यासागर—'झूठ बोलना, कपट करना, चोरी करना, परस्त्रीगमन करना, मांस-मदिरा खाना, दूसरोंको कष्ट पहुँचाना आदि जिन आचरणोंका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है, वे सभी पाप हैं।'

जनार्दन—'शास्त्र क्या होते हैं?'

विद्यासागर—'श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराण आदि धर्मग्रन्थ शास्त्र हैं।'

जनार्दन—'अपने घरमें ये हैं?'

विद्यासागर—'नहीं।'

जनार्दन—'तो मँगा दो मैं उन्हें पढ़ूँगा।'

मन्त्री विद्यासागर चुप रहे। उन्होंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। मन्त्रीकी उपर्युक्त बातोंको सुनकर जनार्दनका चित्त उदास-सा हो गया। वह गर्भ और जन्मके दुःखको समझकर मन-ही-मन चिन्ता करने लगा—'अहो! कैसा कष्ट है।' उसका प्रफुल्ल मुखकमल कुम्हला गया। उसके मुखपर विषादकी रेखा प्रत्यक्ष दिखलायी देने लगी। यह देखकर राजाने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्रिवर! राजकुमारका चेहरा उदास क्यों है?'

विद्यासागरने कहा—'लड़का पैदा हुआ है, इससे इनके चित्तमें कुछ ग्लानि-सी है।'

राजा बोला—'लड़का होनेसे तो उत्साह और प्रसन्नता होनी चाहिये', फिर उन्होंने जनार्दनसे पूछा—'तुम्हारे चेहरेपर उदासी क्यों है?'

जनार्दन—'ऐसे ही है।'

राजा विष्वक्सेनने फिर मन्त्रीको आदेश दिया कि इसे हवाखोरीके लिये ले जाओ और चित्तकी प्रसन्नताके लिये बाग-बागीचोंमें घुमा लाओ।

विद्यासागरने वैसा ही किया। बढ़िया घोड़ोंसे जुती हुई एक सुन्दर बग्गीमें बैठाकर वह उसे हवाखोरीके लिये शहरके बाहर बगीचेमें ले गया। शहरसे बाहर निकलते

ही जनार्दनकी एक गलित कुष्ठीपर दृष्टि पड़ी। उस कुष्ठग्रस्त मनुष्यके हाथकी अङ्गुलियाँ गिरी हुई थीं, पैर, कान, नाक, आँख बेडौल थे। वह लँगड़ाता हुआ चल रहा था।

जनार्दनने पूछा—'मन्त्रीजी! यह क्या है?'

विद्यासागर—'यह कुष्ठरोगी है।'

जनार्दन—'इसकी ऐसी दशा क्यों हो गयी?'

विद्यासागर—'पूर्वजन्मके बड़े भारी पापोंके कारण।'

जनार्दन—'क्या मेरी भी यह दशा हो सकती है?'

विद्यासागर—'परमात्मा न करे, ऐसा हो। आप तो पुण्यात्मा हैं।'

जनार्दन—'हो तो सकती है न?'

विद्यासागर—'कुमार! जो बहुत पापी होता है, उसीके यह रोग होता है। आपके विषयमें कैसे क्या कहूँ। इतना अवश्य है कि आपके भी यदि पूर्वके बड़े-बड़े पाप हों तो आपकी भी यह दशा हो सकती है।'

जनार्दन—'इन भारी-भारी पापोंका तथा उनके फलोंका वर्णन जिन ग्रन्थोंमें हो, उन ग्रन्थोंको मेरे लिये मँगवा दीजिये। मैंने पहले भी आपसे कहा था। अब शीघ्र ही मँगा दें।'

विद्यासागर—'आपके पिताजीका आदेश होनेपर मँगवाये जा सकते हैं।'

इतनेमें ही आगे एक दूसरा ऐसा मनुष्य मिला, जिसके शरीरपर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं, बाल पककर सफेद हो गये थे, अङ्ग सूखे हुए थे, आँखोंकी ज्योति मन्द पड़ गयी थी, कमर झुकी थी, वह लकड़ीके सहारे कुबड़ाकर चल रहा था, उसके हाथ-पैर काँप रहे थे एवं बार-बार कफ और खाँसीके कष्टके कारण वह बहुत तंग हो रहा था। उसे देखकर राजकुमारने पूछा—'यह कौन है?'

विद्यासागर— 'यह एक नब्बे वर्षका बूढ़ा आदमी है।'

जनार्दन—'जब मैं नब्बे वर्षका हो जाऊँगा, तब क्या मेरी भी यही दशा होगी?'

विद्यासागर—'कुमार! आप दीर्घायु हों। मनुष्य जब वृद्ध होता है, तब सभीकी यही दशा होती है।'

यह सुनकर राजकुमार जनार्दनको बड़ी ही चिन्ता हुई कि मेरी भी ऐसी दशा हो सकती है। इस प्रकार व्याधि तथा जरासे पीड़ित पुरुषोंको देखकर राजकुमारके मनमें शरीरकी स्वस्थता और सुन्दरतापर अनास्था हो गयी।

तदनन्तर लौटते समय रास्तेमें श्मशान-भूमि पड़ी। वहाँ एक मुर्दा तो जल रहा था और एक दूसरे मुर्देको कितने ही लोग 'राम-नाम सत्य है' पुकारते हुए मरघटकी ओर लिये जा रहे थे और कुछ मनुष्य उनके पीछे रोते हुए चल रहे थे।

कुमारने पूछा—'यह कौन स्थान है?'

विद्यासागर—'यह श्मशान-भूमि है।'

जनार्दन—'यहाँ यह क्या होता है?'

विद्यासागर—'जो आदमी मर जाता है, उसे यहाँ लाकर जलाया जाता है।'

जनार्दन—'यह जुलूस किसका आ रहा है? जुलूसके पीछे चलनेवाले लोग रोते क्यों हैं?'

विद्यासागर—'मालूम होता है, किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है, उसके घरवाले श्मशान-भूमिमें उसके शवको ला रहे हैं। ये रोनेवाले लोग उसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं।'

जनार्दन—'मृत्यु और शव किसे कहते हैं?'

विद्यासागर—'इस शरीरसे मन, इन्द्रिय और प्राणका निकल जाना 'मृत्यु' है। जब आदमी मर जाता है, तब उसके शरीरको 'शव' कहा जाता है और फिर घरवाले उसे यहाँ लाकर जला देते हैं एवं फिर वापस घर चले जाते हैं।'

जनार्दन—'तो फिर ये रोते क्यों हैं?'

विद्यासागर—'मालूम होता है, मरनेवालेका इन सबके साथ बहुत प्रेम रहा है। अब वह पुरुष सदाके लिये इनसे बिछुड़ गया है, इस बिछोहके दुःखसे ये घरवाले रो रहे हैं।'

जनार्दन—'क्या हम भी एक दिन मरेंगे?'

विद्यासागर—'कुमार! ऐसा न कहें। परमात्मा आपको सौ वर्षकी आयु दें।'

जनार्दन—'जो कुछ भी हो, पर अन्तमें एक दिन

तो मरना ही होगा न ?'

विद्यासागर—'कुमार ! एक दिन तो सभीको मरना है । जो पैदा हुआ है, उसका एक दिन मरना अनिवार्य है ।'

मन्त्रीके वचन सुनकर राजकुमार चिन्तामग्न हो गया । तदनन्तर आगे चलनेपर मार्गमें एक विरक्त महात्मा दिखलायी पड़े । राजकुमारने पूछा—'यह कौन है ?'

विद्यासागर— 'ये एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा हैं ।'

जनार्दन— 'जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा किसे कहते हैं ?'

विद्यासागर—'जिन्होंने भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है ।'

जनार्दन—'कल्याण किसे कहते हैं ?'

विद्यासागर—'विवेक-वैराग्य और भजन-ध्यान आदिके साधनोंद्वारा होनेवाली परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्तिको 'कल्याण' कहते हैं । कल्याणप्राप्त मनुष्यको ही 'जीवन्मुक्त महात्मा' कहते हैं । वह सदाके लिये परमात्माको प्राप्त हो जाता है और फिर वह लौटकर जन्म-मृत्युरूप असार संसारमें नहीं आता । वस्तुतः संसारमें ऐसे ही पुरुषका जन्म लेना धन्य है ।'

जनार्दन—'क्यों मन्त्री महोदय ! क्या मैं भी ऐसा बन सकता हूँ ?'

विद्यासागर—'क्यों नहीं, जो हृदयसे चाहता है, वही बन सकता है; किंतु आप अभी बालक हैं, आपको तो संसारके सुख-विलास और भोग भोगने चाहिये । यह तो शेष कालकी बात है ।'

जनार्दन—'तो क्या युवावस्थामें आदमी मर नहीं सकता ? अभी रास्तेमें जो जुलूस जाता था, उसके विषयमें तो आपने बतलाया था न कि यह जवान लड़का मर गया है ?'

विद्यासागर—'मर सकता है । पर पूर्वका कोई बड़ा भारी पाप होता है, तभी मनुष्य युवावस्थामें मरता है ।'

जनार्दन—'तो क्या मेरे युवावस्थामें न मरनेकी कोई गारंटी है ?'

विद्यासागर—'गारंटी किसीकी भी नहीं हो सकती । मरनेमें प्रधान कारण प्रारब्ध ही है ।'

यह सुनकर राजकुमार जनार्दन बहुत ही शोकातुर हो गया और मन-ही-मन विचारने लगा कि मेरा जल्दी-से-जल्दी कल्याण कैसे हो । वह घरपर आया । उसके चेहरेपर पहलेकी अपेक्षा अधिक उदासी देखकर राजा विष्वक्सेन चिन्ता करने लगा । तीसरे दिन फिर राजकुमारकी वही अवस्था देखकर विष्वक्सेनने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्रीजी ! मैं देखता हूँ, राजकुमारका चेहरा नित्य मुरझाया हुआ रहता है, इसपर प्रसन्नताका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता । ऐसा क्यों हो गया ?'

विद्यासागर—'राजन् ! क्या कहा जाय ? तीन दिन हो गये, जबसे कुमारके पुत्र हुआ है, तभीसे इनकी यही अवस्था है ।'

राजाने मन्त्रीसे पुनः कहा—'इसे खूब सुख-विलास और विषयभोगमें लगाओ । इसके साथी मित्रोंको समझाकर उनके साथ इसे नाटक-खेल और कौतुक-गृहोंमें ले जाओ । खानेके लिये नाना प्रकारके स्वादिष्ट पदार्थ और मेवे-मिष्ठान्न दो । सुन्दर-सुन्दर चित्ताकर्षक दृश्य दिखाओ । इत्र, फुलेल आदि इसके सिरपर छिड़को । नृत्य-वाद्य आदिका आयोजन करके इसके मनको रागरंगमें लगाओ ।'

मन्त्रीने राजाके आज्ञानुसार सारी व्यवस्था की, किंतु सब निष्फल । राजकुमारको तो अब संसारकी कोई भी वस्तु सुखदायक प्रतीत नहीं होती थी । उसे सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर, दुःखदायी और अत्यन्त रूखे प्रतीत होते थे । भोगोंसे ग्लानि हो जानेसे वे त्याज्य प्रतीत होते थे । भोगोंका सेवन राजकुमारको एक महान् झंझट-सा प्रतीत होता था । इत्र, फुलेल आदि उसे पेशाबके तुल्य मालूम होते थे । पुष्पोंकी शय्या, पुष्प और मालाएँ तथा चन्दन उसे वैसे ही नहीं सुहाते थे, जैसे कफ-खाँसीके रोगीको गीले वस्त्र । वीणा-सितारका बजाना, सुनना उसके कानोंको एक कोलाहल-सा प्रतीत होता था । नाटक-खेल, कौतुक-तमाशे व्यर्थके झंझट दीखने लगे । बढ़िया-बढ़िया फल, मेवे, मिष्ठान्न आदि पदार्थ ज्वराक्रान्त रोगीकी तरह अरुचिकर और बुरे मालूम देने लगे । शरीर और विषयोंमें उसका तीव्र वैराग्य होनेके कारण संसारका कोई भी पदार्थ उसे सुखकर नहीं प्रतीत होता था । उसका कहीं किसी भी विषयमें कोई भी आकर्षण नहीं रह गया था ।

उसके मुखमण्डलकी विशेष विषण्ण तथा चिन्तायुक्त उदासीन मुद्राको देखकर राजाने पूछा—'तीन दिन हुए, जबसे तुम्हारे लड़का पैदा हुआ है, मैं तुम्हारे मुखको ग्लानियुक्त और चिन्तामग्न देख रहा हूँ, इसका क्या कारण है? हर्ष और उत्साहके अवसरपर यह ग्लानि और चिन्ता कैसी?'

जनार्दनने कहा—'पिताजी! आपका कहना सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य है। जब लड़का पैदा हुआ, तब गंदी झिल्ली और मलसे संयुक्त उसकी उत्पत्तिको देखकर तथा उसके अत्यन्त दुःखभरे रुदनको सुनकर मुझे बहुत ही दुःख तथा आश्चर्य हुआ और मैंने बड़े ही आग्रहसे मन्त्रीजीसे पूछा। मन्त्रीजीने बतलाया कि 'इसे यह कष्ट इसके पूर्वजन्मके पापोंके कारण हुआ है।' यह सुनकर मुझे यह चिन्ता हुई कि यदि मैं झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, हिंसा, मांस-मदिरा आदिके सेवनरूप पाप करूँगा तो मुझे भी इसी तरह गर्भवास और जन्मका दुःख भोगना पड़ेगा।'

राजा विष्वक्सेनने कहा—'यह सब झूठ है, कपोलकल्पना है। मरनेके बाद फिर जन्म होता ही नहीं।' तदनन्तर राजाने झिड़ककर मन्त्रीसे कहा—'क्यों जी! क्या तुमने ये सब बातें इससे कही थीं?'

मन्त्री काँपता हुआ बोला—'सरकार! मुझसे कही गयीं।'

जनार्दन कहने लगा—'आपकी आज्ञासे मन्त्रीजी मुझे हवाखोरीके लिये शहरसे बाहर ले गये थे तब मैंने मार्गमें एक कुष्ठरोगीको देखा। उसे देखकर मैं उदास हो गया और मैंने इनसे पूछा, तब पता लगा कि पूर्वके बड़े भारी पापोंके कारण यह रोग होता है।'

राजा बोला—'पाप कोई वस्तु नहीं है। यह तो इस मन्त्री-जैसे मूर्खोंकी कल्पना है। तुमने जिस कुष्ठीको देखा है, वह वैसा ही जन्मा है और वैसा ही रहेगा। तुमसे उसकी क्या तुलना? तुम जैसे हो, वैसे ही जन्मे थे और वैसे ही रहोगे।'

फिर राजाने कुपित होकर मन्त्रीसे कहा—'तुम्हारी बुद्धिपर बड़ी तरस आती है, तुमने इस लड़केको क्यों बहका दिया?'

मन्त्री बोला—'सरकार! इस विषयमें मैं जैसा समझता था वैसा ही कहा।'

जनार्दनने फिर कहा—'उसके बाद रास्तेमें मुझे एक अत्यन्त दुःखी बूढ़ा आदमी दिखायी दिया। मैंने पहले कभी वैसा आदमी नहीं देखा था। जानकारीके लिये मन्त्रीजीसे पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि यह वृद्ध है। जब मनुष्य बहुत बड़ी आयुका हो जाता है, तब सभीकी ऐसी ही दशा होती है। यह देखकर मुझे चिन्ता हुई कि एक दिन मेरी भी यही दशा होगी।'

राजा बोला—'नहीं, कभी नहीं। जो वृद्ध होते हैं, वे वृद्ध ही रहते हैं और जो जवान होते हैं, वे जवान ही रहते हैं।'

राजाने फिर क्रोधमें भरकर मन्त्रीसे कहा—'क्या तुम्हें यही सब शिक्षा देनेके लिये यहाँ नियुक्त किया गया था?'

मन्त्री बोला—'राजकुमारके पूछनेपर मेरी जैसी जानकारी थी, वैसा ही मेरे द्वारा कहा गया।'

राजाने कहा—'धिक्कार है तुम्हारी जानकारीको! क्या ये सब बातें बालकोंसे कहनेकी होती हैं?'

फिर जनार्दन कहने लगा—'पिताजी! उसके बाद हम सब भ्रमण करके वापस लौट रहे थे, तब मैंने देखा कि बहुत-से आदमी एक मरे हुए आदमीको लेकर जला रहे हैं और सब उसके चारों ओर खड़े हैं। उसी समय मैंने देखा कि नगरसे एक जुलूस वहाँ आ रहा है। चार आदमियोंने एक किसी वस्तुको कंधोंपर उठा रखा है। कुछ लोग 'रामनाम सत्य है' चिल्ला रहे हैं और उसके पीछे-पीछे कुछ आदमी रोते चले आ रहे हैं। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मन्त्रीजीसे पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि 'किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है, इसके घरवाले इसे श्मशान-भूमिमें ला रहे हैं और ये रोनेवाले इसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं। ये लोग इसके वियोगमें दुःखके कारण रो रहे हैं।' इस दृश्यको जबसे मैंने देखा, तबसे मुझे मृत्युकी चिन्ता लग रही है। मैं समझता हूँ कि जब मेरी मृत्यु होगी, तब मेरी भी यही दशा होगी।'

विष्वक्सेन बोला—'इस मूर्ख मन्त्रीकी बातपर तुम्हें ध्यान न देना चाहिये । जवान आदमीकी कभी मृत्यु हो ही नहीं सकती । इन्होंने जो कुछ कहा है, सब बेसमझीकी बात है ।'

फिर उसने मन्त्रीसे कहा—'क्या तुम्हें हमारे लड़केको इस प्रकार बहकाना उचित था? तुमने सचमुच मुझे बड़ा धोखा दिया ।'

विद्यासागरने हाथ जोड़कर कहा—'सरकार ! पूछनेपर जो बात उस समय समझमें आयी, वही कही गयी ।'

जनार्दनने कहा—'उसके बाद जब हमलोगोंने लौटकर शहरमें प्रवेश किया तब एक गेरुआ वस्त्रधारी पुरुष मिले । पूछनेपर मन्त्रीजीने बतलाया कि 'ये एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा हैं । इन्होंने भजन-ध्यान और सत्सङ्ग-स्वाध्याय करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है, जिससे इन्हें हर समय परम शान्ति और परम आनन्द रहता है । ये भगवान्के परम धाममें चले जायँगे और फिर लौटकर कभी दुःखरूप संसारमें नहीं आयेंगे । वहीं नित्य परम शान्ति और परम आनन्दमें मग्न होकर रहेंगे । इन्हींका जन्म धन्य है ।' उसी समयसे मेरे मनमें बार-बार यही आता है कि क्या कभी मैं भी ऐसा बन सकूँगा । पूछनेपर पता लगा कि ये सब बातें श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंमें लिखी हैं । अतः मैंने इन पुस्तकोंको मँगानेके लिये मन्त्रीजीसे कहा था, किंतु उन्होंने उत्तर दिया कि मैं आपके पिताजीका आदेश लेकर ही मँगा सकता हूँ । अतएव पिताजी ! अब ये पुस्तकें मेरे लिये शीघ्र मँगवा दीजिये ।'

विष्वक्सेन बोला—'बेटा ! ये सब पुस्तकें तुम्हारे देखने लायक नहीं हैं ।'

राजाने फिर मन्त्रीसे कहा—'मालूम होता है, तुमने इन पुस्तकोंके नाम बतलाकर लड़केका मस्तक बिगाड़ दिया । तुम्हारी ही शिक्षाका यह फल है, जो मेरा यह सुकुमार सुन्दर राजकुमार इतनी छोटी उम्रमें ही संसारके विषयभोगोंसे विरक्त होकर रात-दिन वैराग्य और ज्ञानकी चिन्तामें डूबा रहता है । मैंने जिस उद्देश्यसे तुम्हें नियुक्त किया था, उसका विपरीत परिणाम हुआ । तुम मेरे यहाँ रहने योग्य नहीं हो । तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहीं जा सकते हो ।'

विद्यासागर हाथ जोड़कर बोला—'सरकार ! मेरी बेसमझीके कारणसे ही यह सब हुआ । लड़केने जो कुछ पूछा, मैंने अपनी समझके अनुसार ठीक-ठीक कह दिया, इसके लिये आप मुझे क्षमा करें ।'

विष्वक्सेनने कहा—'आग लगे तुम्हारी ऐसी समझपर । मेरा तो बसता हुआ घर ही तुमने उजाड़ दिया । मेरे यहाँ अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं है !' यह कहकर उसे मन्त्रीपदसे हटा दिया ।

जनार्दन बोला—'पिताजी ! आप ऐसा क्यों कह रहे हैं? इसमें मन्त्रीजीका कुछ भी दोष नहीं है । इन्होंने तो जो कुछ कहा, उचित ही कहा और वह भी मेरे पूछनेपर ही कहा । मुझमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिका लेशमात्र नहीं है । हाँ, मैं चाहता हूँ कि मुझे ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी प्राप्ति हो जाय तो मैं भी जीवन्मुक्त महात्मा बनकर अपने आत्माका उद्धार कर लूँ । धन्य है उन पुरुषोंको जिन्होंने संसारसे विरक्त होकर परमात्माके भजन, ध्यान, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें अपना जीवन बिताकर अपने आत्माका कल्याण कर लिया है । आप मुझे आशीर्वाद दें, जिससे इस शरीर और संसारसे विरक्त होकर मेरा मन नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही लगा रहे ।'

इसपर राजा विष्वक्सेनने राजकुमार जनार्दनको इसके विरुद्ध बहुत कुछ समझाया, परंतु उसके एक भी नहीं लगी; क्योंकि राजकुमार योगभ्रष्ट पुरुष तो था ही, मन्त्रीकी शिक्षाने भी उसके हृदयमें विशेष काम किया था । राजकुमार वैराग्यके नशेमें चूर हो गया । वह अहङ्कार और ममतासे रहित होकर संसारसे उपरत रहता हुआ परमात्माकी खोजमें जीवन बिताने लगा ।

कुछ दिनों बाद जब उसे तीव्र वैराग्य और उपरति हो गयी, तब वह सहज ही राज्यकी ओरसे सर्वथा बेपरवाह होकर उन महात्माजीके पास चला गया, जिससे बाल्यावस्थामें उसने यह श्लोक सुना था—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

इस श्लोकका भाव राजकुमार जनार्दनमें अक्षरशः संघटित था। उसने भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके लिये महात्माजीसे प्रार्थना की। तब महात्माजीने उसे आश्वासन देते हुए भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा दी। उन्होंने कहा—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्॥

(गीता १३। ९-११)

अभिप्राय यह है कि स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इन्हींमें उसकी विशेष आसक्ति होती है। इन्द्रियोंके शब्दादि साधारण विषयोंमें वैराग्य होनेपर भी इनमें छिपी आसक्ति रह जाया करती है, इसलिये मनुष्यको इनमें छिपी आसक्तिका सर्वथा अभाव करना चाहिये।

यहाँ '**अनभिष्वङ्ग**' का अर्थ है— 'ममताका अभाव।' ममत्वके कारण ही मनुष्यका स्त्री-पुत्रादिसे घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। उससे उनके सुख-दुःख और लाभ-हानिसे वह स्वयं सुखी-दुःखी होता रहता है। ममताके अभावसे ही इसका अभाव हो सकता है। इसलिये मनुष्यको इन सब पदार्थोंमें ममताका अभाव करना चाहिये।

अनुकूल व्यक्ति, क्रिया, घटना और पदार्थोंका संयोग तथा प्रतिकूलताका वियोग सबको 'इष्ट' है। इसी प्रकार अनुकूलका वियोग और प्रतिकूलताका संयोग 'अनिष्ट' है। इन 'इष्ट' और 'अनिष्ट' के साथ सम्बन्ध होनेपर हर्ष-शोकादिका न होना अर्थात् अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें राग, काम और हर्ष आदि न होना तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके द्वेष, शोक, भय और क्रोध आदिका न होना—सदा ही निर्विकार, एकरस सम रहना—इसे इष्ट और अनिष्टकी उत्पत्तिमें 'समचित्तता' कहते हैं।

भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करने योग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं, उन्हें छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्ययोग' है। इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्का ही भजन, ध्यान करते रहना ही 'अनन्ययोगके द्वारा भगवान्में अव्यभिचारिणी भक्ति करना है।'

इस प्रकारकी भक्ति करनेवाले मनुष्यमें न तो स्वार्थ और अभिमानका लेश रहता है और न संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका ममत्व ही रह जाता है। संसारके साथ उसका भगवान्के सम्बन्धसे ही सम्बन्ध रहता है, किसीसे भी किसी प्रकारका स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं रहता। वह सब कुछ भगवान्का ही समझता है तथा श्रद्धा और प्रेमके साथ निष्कामभावसे निरन्तर भगवान्का ही चिन्तन करता रहता है। उसकी जो भी क्रिया होती है, वह सब भगवान्के लिये ही होती है।

साधकको सदा विविक्त देशका सेवन करना चाहिये। जहाँ किसी प्रकारका होहल्ला या भीड़-भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जहाँके जल-वायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों—ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन, एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्त देश' कहते हैं तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

साधकका कभी भी प्रमादी और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेम नहीं होना चाहिये। यहाँ '**जनसंसदि**' पद 'प्रमादी' और 'विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके सङ्गको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उनसे विरक्त रहना ही उनमें प्रेम नहीं

करना है । संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका सङ्ग तो साधनमें सहायक होता है, अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ **'जनसंसदि'** पद नहीं समझना चाहिये ।

आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है, उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं, वे सब अनात्मा हैं, आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है— शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्मज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्मतत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है ।

तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है । उन सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर ध्यान करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है ।

इस प्रकार उपदेश देकर महात्माजी चुप हो गये । राजकुमार पात्र तो था ही, महात्माजीकी शिक्षाके अनुसार साधन करनेसे उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी ।

इधर दूसरे दिन प्रातःकाल जब राजा उठा, तब पता लगा कि राजकुमार आज रातमें महलसे निकलकर कहीं चला गया । इधर-उधर चारों ओर बड़ी खोज करायी गयी, किंतु कहीं भी पता नहीं लगा । तब राजा विष्वक्सेन बहुत दुःखित हो गया ।

कुछ दिनों बाद राजा उन महात्माजीका दर्शन करने गया, जिनके बतलाये हुए अनुष्ठानसे राजकुमार उत्पन्न हुआ था । राजाने महात्माजीको साष्टाङ्ग अभिवादन किया और कहा—'महाराजजी ! आपने मुझे जो लड़का दिया था, वह कई दिनोंसे लापता हो गया है ।'

महात्माजीने कहा—'क्या तुम्हें पता नहीं, वह तो कई दिनोंसे मेरे पास है । वह सदा-सर्वदा ज्ञान-ध्यानमें निमग्न रहता है । उसने तो अपने जीवनको सफल बना लिया । मैंने तो तुमसे पहले ही कहा था कि यह लड़का एक बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बननेवाला है, वही बात आज प्रत्यक्ष हो गयी । राजन् ! तुम्हारा जन्म भी धन्य है, जो तुमने ऐसे पुत्रको जन्म दिया और यह लड़का तो सौभाग्यशाली है ही ।'

राजकुमारकी इतनी शीघ्र और आशातीत उन्नति सुनकर तथा उसकी स्थितिको प्रत्यक्ष देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ । उसे जो पुत्रके घरसे निकल जानेका दुःख था, वह सब शान्त हो गया । उसने अपना बड़ा सौभाग्य समझा ।

तदनन्तर राजाने महात्माजीसे प्रार्थना की कि मुझे ऐसा कोई उपदेश करें जिससे शरीर और संसारसे वैराग्य हो जाय । इसपर महात्माजीने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

अभिप्राय यह है कि इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिन्हें मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किंतु वास्तवमें जो दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना**'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्'** अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य होना है ।

मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहं'- बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्म-वस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहङ्कार' कहलाता है ।

जन्मका कष्ट सहज नहीं है । पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लम्बे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश सहन करने पड़ते हैं, फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है । नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं । मृत्युकालमें भी महान् कष्ट होता है । जिस शरीर और घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्कारसे छोड़कर जाना पड़ता है । मरण-समयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है । बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती, इन्द्रियाँ शिथिल

और शक्तिहीन हो जाती हैं, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरङ्गें उठती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है। इस अशक्त अवस्थामें जो कष्ट होता है वह बड़ा ही भयानक होता है। इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है। शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है, निरुपाय स्थिति है, यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं। इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है।

यों तो एक चेतन आत्माको छोड़कर वस्तुतः संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसमें ये चारों दोष न हों। जड मकान एक दिन बनता है, यह उसका जन्म हुआ; कहींसे टूट-फूट जाता है, यह व्याधि हुई; मरम्मत करायी, इलाज हुआ; पुराना हो जाता है, बुढ़ापा आ गया; अब मरम्मत नहीं हो सकती। फिर जीर्ण होकर गिर जाता है, मृत्यु हो गयी। छोटी-बड़ी सभी वस्तुओंकी यही अवस्था है। इस प्रकार जगत्‌की प्रत्येक वस्तुको ही जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिमय देख-देखकर उनसे वैराग्य करना चाहिये।

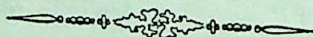
महात्माजीके इस सुन्दर उपदेशको सुनकर राजा अपने राजमहलपर लौट आया और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न करने लगा। इससे थोड़े ही समयमें राजाको शरीर और संसारसे तीव्र वैराग्य हो गया। तब रानीको साथ लेकर राजा पुनः महात्माजीके पास गया और बोला—'आपके उपदेशसे मुझे बहुत लाभ हुआ। अब मेरी यह इच्छा है कि जनार्दनका युवराजपदपर अभिषेक करके मैं भक्ति, ज्ञान, वैराग्यमें ही अपना शेष जीवन बिताऊँ।' इसपर महात्माजीने जनार्दनको बुलाकर कहा—'वत्स! तुम राज्यका काम करो, अब तुम्हें कोई भय नहीं है। अतः अब अपने पिताजीको अवकाश दो, जिससे ये भी भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण करें।'

जनार्दन नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित था ही, वह बड़ी प्रसन्नतासे पिताके आज्ञानुसार राज्यकार्य करने लगा। अब रानीके सहित राजा विष्वक्सेन समय-समयपर महात्माजीका सत्सङ्ग करने लगा और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार तत्परतासे चेष्टा भी करने लगा।

एक दिन राजा विष्वक्सेनने महात्माजीके चरणोंमें नमस्कार करके उनसे विनय और करुणाभावपूर्वक प्रार्थना की—'महाराजजी! मुझे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी ऐसी शिक्षा दीजिये, जिससे मेरी भी स्थिति जनार्दनकी भाँति नित्य-निरन्तर अटल हो जाय।'

तब महात्माजीने जो शिक्षा विस्तारपूर्वक जनार्दनको दी थी, वही राजाको भी दी। महात्माजीकी शिक्षा सुनकर राजा और रानी—दोनोंने श्रद्धा और प्रेमपूर्वक बड़ी लगनके साथ उनके बतालाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न किया, जिसके फलस्वरूप राजा और रानी दोनोंको ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भी शरीर और संसारसे विरक्त राजकुमार जनार्दनकी भाँति ऊपर बतलाये हुए साधनके अनुसार अपने बचे हुए जीवनको ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें लगाकर सफल बनावें।



धर्म, अर्थ और काम एक साथ ही रहते हैं—इस विषयमें कोई संशय नहीं है। पर यदि धर्म किसी रास्तेसे जा रहा हो और अर्थ एवं काम किसी दूसरे रास्तेसे तो अर्थ और कामका साथ छोड़कर धर्मका ही साथ देना चाहिये। कारण, धर्म ही अर्थ और कामका नियामक है, अर्थ और काम धर्मके नियामक नहीं।

योगिराज श्रीदेवराहा बाबाके अमृत-वचन

'सा विद्या या विमुक्तये'—संसार-सम्बन्धको छुड़ानेवाली विद्या ही सच्ची विद्या है । भक्तिहीन विद्यासे मनुष्यको कोई लाभ नहीं हो सकता । ज्ञान ईश्वरका आराधन करनेके लिये है ।

श्रीशंकराचार्यने कहा है—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ।
प्राप्ते संनिहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे ॥

अर्थात् हे मूर्ख ! भगवान्का बार-बार भजन कर । मृत्युके समीप आनेपर सीखी हुई सभी विद्याएँ निरर्थक हो जाती हैं । अतः तू भगवान्की ही शरण ले, उन्हींको पुकार । ईश्वर-भक्तिके बिना पठन-पाठन या कोई भी विद्या व्यर्थ है । विद्यासे यदि भगवद्भक्ति न जाग्रत् हो तो केवल श्रम ही रह जाता है । विद्याका फल मोक्ष है, धन नहीं, जीवके जीवनकी पूर्ण सफलता ईश्वर-प्राप्ति है । श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

बिद्या बिनु बिबेक उपजाएँ । श्रम फल पढ़ें किएँ अरु पाएँ ॥
(रा० च० मा० ३ । २० । ९)

गोविन्द भगवान्के प्रति एकान्त भक्ति करना और चराचर समस्त प्राणियोंमें भगवान् हैं—ऐसी भावना करना ही समस्त शास्त्रादिके अध्ययनका सार है—

भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः ।
एतज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम् ॥
(श्रीमद्भा०)

मौक्तिकोपनिषद्में कहा है—

अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः ।
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा ॥
(२ । १ । ६५)

कुछ लोग चारों वेद और अनेक धर्मशास्त्रोंको पढ़ते हैं, परंतु अपने स्वरूपको जानकर सत्याचरण नहीं करते, तो वे कड़छीके समान हैं, जो नित्य अनेक बार दाल-सब्जियोंमें जाती है, परंतु उसका स्वाद नहीं जानती ।

भारतवर्ष तत्त्वज्ञानमें समग्र विश्वके लिये गुरुस्थानीय था । वही भारतवर्ष आज अनाचार और दुराचारमें सर्वोपरि हो रहा है । इसका मूल कारण शास्त्रानुकूल शिक्षाका अभाव ही है ।

हम जैसे हैं या बनेंगे, हमारे बच्चे भी उसी अनुरूप होंगे । अतः यदि देशकी भावी प्रगति अभीष्ट है और राष्ट्रका चरित्र उज्ज्वल बनाना है तो आजके शिक्षणमें सुधार लानेकी नितान्त आवश्यकता है । इस क्षेत्रकी त्रुटियोंमें सुधार करनेके लिये प्रयत्न करना प्रत्येक शिक्षाप्रेमी तथा देशभक्तका परम कर्तव्य है । जिस शिक्षासे मनुष्यका चारित्रिक उत्कर्ष न हो, वह भक्तिशील न बने, वह शिक्षा अधूरी है ।

[प्रेषक— श्रीमदनजी शर्मा शास्त्री]

उपदेशका सार-तत्त्व

तन्नामरूपचरितादिसुकीर्तनानुस्मृत्योः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य ।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागिजनानुगामी कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारम् ॥
(उपदेशामृत ८)

श्रीकृष्णके नाम, रूप, चरितादिकोंके कीर्तन और स्मरणमें क्रमसे रसना और मनको लगा दे—जिह्वासे श्रीकृष्ण-नाम रटता रहे और मनसे उनकी लीलाओंका स्मरण करता रहे तथा श्रीकृष्णके अनन्यभक्तोंका दास होकर व्रजमें निवास करते हुए अपने जीवनके सम्पूर्ण कालको व्यतीत करे । यही सारे उपदेशोंका सार है ।

वर्तमान शिक्षा

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

आर्यसभ्यताके अनुसार शिक्षाका उद्देश्य है उसके द्वारा इहलोकमें सर्वाङ्गीण (शारीरिक, मानसिक, साम्पत्तिक और नैतिक) अभ्युदय और परलोकमें परम निःश्रेयस्—मोक्षकी प्राप्ति। ऋषियोंकी दृष्टिमें विद्या वही है जो हमें अज्ञानके बन्धनसे विमुक्त कर दे—**'सा विद्या या विमुक्तये'**। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें **'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'** कहकर इसी सिद्धान्तका समर्थन किया है। इसी उद्देश्यसे आर्यजातिके पवित्रहृदय और समदर्शी त्रिकालज्ञ ऋषियोंने चार आश्रमोंकी (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) सुन्दर व्यवस्था की थी। ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोंका पालन करता हुआ ब्रह्मचारी विद्यार्थी जब संयमकी व्यावहारिक शिक्षाके साथ-ही-साथ लौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी विद्याओंको पढ़कर, सब प्रकारसे शरीर, मन और वाणीसे स्वस्थ एवं संयमी होकर गुरुकुलसे निकलता था, तब वह गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश कर क्रमशः जीवनको और भी संयममय, सेवामय और त्यागमय बनाता हुआ अन्तमें सर्वत्याग करके परमात्माके स्वरूपमें निमग्न हो जाता था। यही आर्यसंस्कृतिका स्वरूप था। जबतक देशमें यह आश्रम-सम्मत शिक्षा-पद्धति प्रचलित थी, तबतक आर्यसंस्कृति सुरक्षित थी और सभी श्रेणीके लोग प्रायः सुखी थे। जबसे अनेक प्रकारकी विपरीत परिस्थितियोंमें पड़कर मोहवश हमने अपनी इस आश्रम-सम्मत शिक्षा-पद्धतिको ठुकराया, तभीसे हमारी आदर्श आर्यसंस्कृतिमें विकार आने लगे। आज बीसवीं शताब्दीमें तो हमारी उस संस्कृतिकी सुदृढ़ नौका हमारे ही हाथों नष्ट-भ्रष्ट होकर डूबने जा रही है। ऐसा मतिभ्रम हुआ है कि विनाशके गहरे गर्तमें गिरना ही आज हमारे उन्नयनका निदर्शन हो गया है। जिस चोटी और जनेऊको मुसलमानोंकी तलवार नहीं काट सकी, उसीको आज हम शिक्षाभिमानी हिंदू स्वयं ही उन्नतिके नामपर कटवा रहे हैं। अग्निकुण्डकी लाल-लाल लपटोंमें पड़कर भी हिंदू-नारीके जिस सतीत्वको जरा-सी भी आँच नहीं लगी, अपितु उससे वह और भी चमक उठा, वही सतीधर्म आज शिक्षाके फलस्वरूप हमारी बहन-बेटियोंके लिये भाररूप हो चला है और उसे उतार फेंकनेके लिये चारों ओर सुसंगठितरूपसे कमर कसी जा रही है।

जिस धर्म और ईश्वरको हमने अपने समाज-शरीरका मेरुदण्ड समझ रखा था, आज उसी धर्मकी आवश्यकता और ईश्वरके अस्तित्वको अपने शिक्षित-समुदायके सामने स्वीकार करनेमें हमारे शिक्षित युवकोंको संकोच और लज्जाका अनुभव होता है। मानो वे किसी मूर्खतापूर्ण कुसंस्कारका समर्थन कर अपनी विद्वत्तामें बट्टा लगा रहे हैं अथवा कोई गुरुतर अपराध कर रहे हैं। कामोपभोग ही आज हमारे जीवनका चरम लक्ष्य बन गया है। कामपरायण होकर आज हम अदूरदर्शी शिक्षाभिमानी लोग आपात-इन्द्रियसुखको ही परम सुख समझकर अग्निशिखामें पड़कर भस्म हो जानेवाले मूढ़ पतंगोंकी भाँति कामाग्निमें भस्म होनेके लिये अन्धे होकर उड़ने लगे हैं। इसमें युगप्रभाव तो प्रधान कारण है ही, परंतु उसकी सिद्धिमें एक बड़ा निमित्त है हमारी यह वर्तमान धर्महीन शिक्षा-पद्धति। इस शिक्षाके पीछे एक प्रबल 'संस्कृति' की प्रेरणा है, जिसने हमारी आँखोंको चौंधिया दिया है और इसीसे हम आज मायामरीचिकामें फँसकर उसे अपनानेके लिये बेतहाशा दौड़ लगा रहे हैं, इसीसे आज हम अपने सरलहृदय बालक-बालिकाओंके हृदयमें कामोपभोगमयी उस सभ्यताका भीषण विष प्रवेश कराकर उन्हें ध्वंसके मुखमें ढकेल रहे हैं तथा इसीमें उनका और अपना कल्याण मान रहे हैं। जिन देशोंकी यह 'सभ्यता' है, वे तो आज तंग आकर इससे मुक्त होनेकी राह ढूँढने लगे हैं और हम भाग्यहीन उसीको अपनानेके लिये आँख मूँदे दौड़ रहे हैं। भगवान् हमारी बुद्धिका यह विभ्रम कब दूर करेंगे?

वर्तमान शिक्षासे उत्पन्न दोष

आजकलके कालेजोंमें पढ़नेवाले अधिकांश विद्यार्थियोंमें न्यूनाधिक रूपसे—क्रियारूपमें अथवा विचाररूपमें आपको निम्नलिखित दोष प्रायः मिलेंगे, जो विद्यार्थी—ब्रह्मचारी—जीवनसे सर्वथा प्रतिकूल हैं—१. ईश्वर और धर्ममें अविश्वास। २. संयमका अभाव। ३. ब्रह्मचर्यका अभाव। ४. माता-पिता आदि गुरुजनोंमें अश्रद्धा। ५. प्राचीनताके प्रति विद्वेष। ६. विलासिता और फिजूलखर्ची। ७. खेती, दुकानदारी और घरेलू कलाकौशलके कार्योंके करनेमें लज्जा और ८. सरलताका अभाव।

स्त्री-शिक्षा

पुरुषोंकी भाँति ही स्त्री-शिक्षाका भी पर्याप्त प्रचार बढ़ रहा है। पुरुषोंमें शिक्षा बढ़नेके साथ-ही-साथ हमें स्त्री-शिक्षाकी भी आवश्यकता प्रतीत हुई। स्त्रियोंके लिये विद्यालय, स्कूल और कालेजोंकी स्थापना हुई। स्त्री-शिक्षाका भी वही आदर्श माना गया जो पुरुषोंके लिये था; क्योंकि दृष्टिकोण ही ऐसा था। उच्च शिक्षा होनी चाहिये और उच्च शिक्षाका अर्थ ही है कालेजोंकी शिक्षा, बी०ए०, एम्०ए० की डिग्री प्राप्त करना, वकालत या डाक्टरी पास करना। स्त्रियाँ भी इसी पथपर चलीं और चल ही रही हैं। वे भी पढ़-लिखकर अध्यापक, क्लर्क, वकील, बैरिस्टर, लेखिका, नेता, म्युनिसिपलिटी या कौंसिलोंकी मेम्बर बन रही हैं। यही उन्नतिका स्वरूप है। चारों ओर इस उन्नतिके लिये उल्लास प्रकट किया जा रहा है और यह उन्नति पूर्णरूपसे हो जाय इसके लिये अथक चेष्टा हो रही है। ऐसी स्त्री-शिक्षा देनेवाले स्कूल-कालेजोंकी और छात्राओंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। शिक्षाके साथ-साथ शिक्षाके अवश्यम्भावी फलरूप उपर्युक्त दोष स्त्रियोंमें भी आ रहे हैं। वे भी ईश्वर और धर्मका विरोध करने लगी हैं। सरलता, कोमलता, श्रद्धा, संकोच, प्राचीनतासे प्रेम आदि स्वाभाविक गुणोंके कारण यद्यपि पुरुषोंकी तरह ईश्वर और धर्मका खुला और आत्यन्तिक विरोध करनेवाली स्त्रियाँ अभी नहीं पैदा हुई हैं, परंतु सूत्रपात हो चला है। संयमका अभाव भी बढ़ रहा है। पुरुषोंकी अपेक्षा स्वभावसे ही स्त्री कई बातोंमें अधिक संयमी होती है, इससे उसकी इधर प्रगति यद्यपि रुक-रुककर होती है, परंतु उसका देखा-देखी करनेका स्वभावदोष उसे असंयमकी ओर खींचे लिये जाता है, इसीसे आज शिक्षित स्त्रियोंमें असंयमकी मात्रा बढ़ रही है। जिस बातको मनमें लानेमें भी स्वभावसे ही शुद्ध और लज्जाशील स्त्रीका हृदय काँप उठता था, आज वही बात पुकार-पुकारकर कहनेमें उसे लज्जा नहीं आती।

याद रखना चाहिये कि सौन्दर्य फैशनमें नहीं है, सौन्दर्य हृदयके आदर्श गुणोंमें है। सौन्दर्य बोल-चाल, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, विनय-नम्रता, सचाई-सफाई, स्वास्थ्य और शक्ति आदिकी स्वाभाविक उच्चतामें है। जिसका हृदय सुन्दर और मधुर हैं, जिसके कार्य सुन्दर और मधुर हैं, वही सबसे बढ़कर सुन्दर है, फिर शारीरिक सौन्दर्यकी रक्षाके लिये भी उचित और कमखर्चीले पदार्थोंका यथासाध्य उपयोग करनेमें कोई बुराई नहीं है। बुराई तो फैशनकी गुलामीमें है। जहाँ फैशनकी गुलामी होगी, वहाँ उसकी पूर्तिके लिये धनकी भी विशेष आवश्यकता होगी और वह धनकी आवश्यकता ही आज स्त्रियोंके स्वाभाविक गुण सरलताको कपटाचारके द्वारा पराजित करवा रही है।

उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त स्त्रियोंमें कुछ मुख्य दोष और आ गये हैं, जिनमें सबसे प्रधान विवाहविच्छेद और संततिनिरोधकी भावना, सब बातोंमें समान अधिकारकी अव्यावहारिक इच्छा और सिनेमाओंमें नाचनेका शौक है।

सिनेमा

सिनेमा भी आजकलकी सभ्यताका एक अङ्ग है और शिक्षित स्त्री-पुरुष सभ्यताके सभी अङ्गोंमें प्रवेश करना चाहते हैं, अतएव स्वाभाविक ही इधर भी उनका प्रवेश खूब हो रहा है। निःसंदेह चित्रपट एक कला है और संयमी, सदाचारी तथा निःस्वार्थ पुरुषोंके द्वारा इसका सदुपयोग हो तो इससे मनोरञ्जनके साथ ही बहुत कुछ उपकार भी हो सकता है, परंतु उपकारकी जितनी सम्भावना

है उससे अधिक अपकारकी है । जन्म-जन्मान्तरके बुरे संस्कारोंके कारण प्रायः मनुष्य बुरी बातोंको जितनी जल्दी ग्रहण करता है, उतनी अच्छी बातोंको नहीं करता ।

शिक्षा कैसी हो ?

बालकोंको वैसी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे उनमें ईश्वरभक्ति, धर्म, सदाचार, त्याग, संयम आदिका विकास हो । वे ईश्वरसे डरनेवाले, आत्मामें विश्वास करनेवाले, वीर, धीर और परदुःखकातर यथार्थ मनुष्य बनें और इसके साथ-साथ वे अन्यान्य सभी आवश्यक बातोंको भी सीखें । खर्चीली शिक्षा कम हो जाय तो अच्छा है, परंतु उसकी सम्भावना बहुत कम प्रतीत होती है । विचारशील विद्वानोंको इस ओर विशेषरूपसे ध्यान देकर शिक्षाके सुधारका कोई क्रियात्मक उपाय शीघ्र-से-शीघ्र निकालना चाहिये । मेरी तुच्छ सम्मतिमें नीचे लिखी बातोंपर ध्यान देनेसे शिक्षा-प्रणालीके बहुत-से दोष नष्ट हो सकते हैं और शिक्षाके असली उद्देश्यकी किसी अंशमें पूर्ति हो सकती है ।

१. पाठ्य-पुस्तकोंमें हमारी प्राचीन आर्य-संस्कृतिका सच्चा महत्त्व बतलाया जाय, पौराणिक और ऐतिहासिक महापुरुषोंके जीवनकी प्रभावोत्पादक और शिक्षाप्रद घटनाओंका सच्चा वर्णन रहे और प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंके उपयोगी अंशोंका समावेश किया जाय ।

२. ईश्वर और धर्मके ठोस संस्कार बालकोंके हृदयमें जमें, ऐसी बातें पाठ्य-पुस्तकोंमें अवश्य रहें । गीता-जैसे सर्वमान्य ग्रन्थको उच्च शिक्षामें रखा जाना चाहिये ।

३. सदाचार और दैवी सम्पत्तिको बढ़ानेवाले उपदेश सदाचारी और दैवी सम्पत्तिसम्पन्न पुरुषोंके चरित्रसहित पाठ्यपुस्तकोंमें रहें और उनका विशेषरूपसे महत्त्व बतलाया जाय ।

४. धार्मिक शिक्षाकी स्वतन्त्र व्यवस्था भी हो जिसमें १. ईश्वर-भक्ति, २. माता-पिताकी भक्ति, ३. शास्त्र-भक्ति और देश-भक्ति,४. सत्य, ५. प्रेम, ६. ब्रह्मचर्य, ७. अहिंसा, ८. निर्भयता, ९. दानशीलता, १०. निष्कपट व्यवहार, ११. परस्त्रीको माँ-बहन समझना, १२. किसीकी निन्दा न करना, १३. किसी भी दूसरे धर्म या धर्माचार्यको नीची दृष्टिसे न देखना, १४. आजीविका आदिके कार्योंमें छल, कपट और चोरीका त्याग, १५. शारीरिक श्रम या मेहनतकी कमाईका महत्त्व और १६. सबसे प्रीति करना—इन १६ गुणोंपर विशेष जोर दिया जाय और बालकोंके हृदयमें इनके विकास और विस्तार करनेकी चेष्टा की जाय । प्रतिदिन पढ़ाई आरम्भ होनेके समय सब अध्यापक और विद्यार्थी मिलकर ऐसी ईश्वर-प्रार्थना करें, जिसके करनेमें किसी भी धर्मके बालकको आपत्ति न हो ।

५. अवतारों और महापुरुषोंकी जन्मतिथियोंपर उत्सव मनाये जायँ और उनके जीवनकी महत्त्वपूर्ण बातोंपर प्रकाश डाला जाय ।

६. खान-पानकी शुद्धि और संयमके महान् लाभ बालकोंको समझाये जायँ ।

७. किसी भी पाठ्य-पुस्तकमें खुले शृंगारका वर्णन न हो । ऐसा कोई काव्य या नाटक पढ़ाना आवश्यक हो तो उसमेंसे उतना अंश पढ़ाईके क्रमसे निकाल दिया जाय । (मैंने सुना है कि कई पाठ्य-पुस्तकोंके ऐसे पाठ अच्छे अध्यापक अपने विद्यार्थियोंको नहीं पढ़ा सकते और बालिकाओंको तो वैसा पाठ आ जानेपर विचारशील प्रोफेसर जितने दिनोंतक वह पाठ चलता है, उतने दिनोंके लिये उस घंटेमें अनुपस्थित रहनेकी अनुमति देनेको बाध्य होते हैं ।)

८. साम्प्रदायिक विद्वेष बढ़ानेवाली बातें किसी भी पाठ्य-पुस्तकमें नहीं रहनी चाहिये ।

९. विलासिता और फिजूलखर्चीके दोष पाठ्य-पुस्तकोंमें बतलाये जायँ । जहाँतक हो विद्यार्थियोंका जीवन अधिक-से-अधिक सादा और निर्मल रहे, ऐसी चेष्टा हो ।

१०. जहाँतक हो शिक्षा देशी भाषामें देनेकी व्यवस्था की जाय ।

११. अध्यापक और छात्रावासके व्यवस्थापक ऐसे सज्जन हों जो स्वयं सदाचारी, धार्मिक, ईश्वरमें विश्वासी, विलासिताके विरोधी और मितव्ययी हों । (याद रहे, अध्यापकों और व्यवस्थापकोंके चरित्रका प्रभाव बालकोंपर सबसे अधिक पड़ता है ।)

१२. सभी शिक्षालयोंमें कुछ-न-कुछ हाथकी कारीगरीका काम अवश्य सिखाया जाय, जिससे कालेजोंसे निकले हुए विद्यार्थी शारीरिक परिश्रम तथा कारीगरीका काम हाथसे करनेमें सकुचायें नहीं, अपितु सम्मानका अनुभव करें ।

१३. छात्रावास बहुत सादे और संयमके नियमोंसे पूर्ण हों । वहाँ विद्यार्थीगण यथासाध्य सभी काम हाथसे करें, जिससे घर आनेपर हाथसे काम करना बुरा न मालूम हो । तन-मनसे पवित्र रहनेकी आदत डाली जाय । शरीरकी सफाई देशी तरीकेसे की जाय । अवकाशके समय कथा आदिकी व्यवस्था हो ।

१४. जहाँतक हो, स्कूल-कालेज प्राकृतिक शोभायुक्त स्थानोंमें हों, खास करके पवित्र नदीके तटपर । उनमें यथासाध्य खर्चीला सामान, विदेशी फैशनका फरनीचर आदि न रहे ।

१५. माता-पिता, गुरुके प्रति आदरबुद्धि हो, उनका सेवन और पोषण करना कर्तव्य समझा जाय, किसीका भी अनादर न हो, किसीका मखौल न उड़ाया जाय । ऐसी शिक्षा बालकोंको दी जाय ।

१६. लड़के-लड़कियोंको एक साथ बिलकुल न पढ़ाया जाय ।

१७. लड़कियोंको पढ़ानेके लिये सदाचारिणी और सद्गृहस्था अध्यापिका ही रहें और कन्यापाठशालाओंकी पढ़ाई स्वतन्त्र रहे तथा पढ़ाईका समय भी गृहस्थकी सुविधाके अनुकूल हो ।

१८. लड़कियोंकी शिक्षामें इस बातका प्रधानरूपसे ध्यान रखा जाय कि बड़ी होनेपर उनके सतीत्व, मातृत्व और सद्गृहिणीपनका नाश न होकर पूर्ण विकास हो ।

१९. आर्य-संस्कृतिके अनुकूल सद्व्यवहार, सेवा-शुश्रूषा और आहार-व्यवहारकी शिक्षा पाठ्य-पुस्तकोंमें रहे ।

२०. सात्त्विक त्याग, तितिक्षा और सात्त्विक दानकी शिक्षा दी जाय ।

२१. बलका संचय और सदुपयोग करना सिखाया जाय ।



सदुपदेश

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते । स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः । मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम् ॥

(मार्क० ३७ । २३-२४)

सङ्ग (आसक्ति)का सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये, किंतु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका सङ्ग ही उसकी ओषधि है । कामनाको सर्वथा छोड़ देना चाहिये, परंतु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मुक्तिकी इच्छा)के प्रति कामना करनी चाहिये; क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है ।



प्राचीन-अर्वाचीन भारतीय शिक्षा-पद्धतिका तुलनात्मक अध्ययन

(वीतराग स्वामी श्रीनन्दनन्दनानन्दजी सरस्वती एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, भूतपूर्व संसद्-सदस्य)

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक विश्वप्रपञ्चका आविर्भाव पूर्ण सत्ता-स्फुरताद्वारा **'एकोऽहं बहु स्यामिति'**—इस संकल्पसे आत्मशक्तिकी इयत्ता तथा ईदृक्ताके अनुभव-विनोदसे हुआ । चित् अर्थात् ज्ञानशक्ति ही सत्ताका एकमात्र प्रमाण है । इस कारण अनन्त सत्ता एवं अनन्त चित्से संवलित अपने स्वरूपमें परिपूर्णानन्दका निरन्तर अनुभव करे—यही उच्चतम विचारकोंका अन्तिम सिद्धान्त है, यह वेद-शिरःस्थानीय उपनिषदोंका निर्मथितार्थ है ।

उस चित्-शक्तिका अनुभव तीन रूपमें होता है, जिन्हें विचारक लोग इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामोंसे अभिहित करते हैं । इस चित्-शक्तिके अनुभवमें पूर्वानुभवके परिणामरूप उत्तरवर्ती इच्छा, ज्ञान, क्रियामें परिवर्तन, संशोधन, परिवर्धन अथवा संकोचकी प्रवृत्तिका नाम शिक्षा है । यह शिक्षा आत्म-प्रेरित अथवा गुरु-प्रेरित होती है । गुरु-प्रेरित शिक्षा अनियमित अथवा सुनियोजित तथा सोद्देश्य होती है । सुनियोजित तथा सोद्देश्य शिक्षाको ही शिक्षा-पद्धतिके नामसे व्यवहारमें लाया जाता है । भारतमें मुख्यरूपसे परमेश्वरको ही समस्त विश्वका प्रथम गुरु माना गया है । व्यष्टिरूपसे वह परमात्मा सबके हृदयमें बैठकर जीवमात्रको बाह्य परिस्थितियोंकी प्रतिक्रियाके लिये प्रेरित करता है । भौतिकवादी इसी आत्म-प्रेरणाको 'प्रकृति' अथवा स्वभाव-प्रेरित मानते हैं । समष्टि जगत्में परमात्मा जीवमात्रके लिये समष्टि गुरु तथा समष्टि बन जाता है, जिसे तन्त्र-शास्त्रोंमें 'प्रकाश' और 'विमर्श' अथवा 'शिव' और 'शक्ति' नामोंसे कहा गया है, इस सिद्धान्तसे श्रीसदाशिव सभी विद्याओं, कलाओं तथा ज्ञान-विज्ञानके आदिगुरु हैं ।

ब्रह्म-विद्याके क्षेत्रमें कुछ लोग 'नारायण'को आदिगुरु मानकर पुनः वसिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुक, गौडपादादि बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि, मुनि और आचार्यवर्गको ही समस्त लौकिक-अलौकिक विद्याओं, कला और विज्ञानका प्रवर्तक मानते हैं । अनादिकालसे मानव-समाज भारतीय संस्कृतिके अनुसार गुण, कर्म, स्वभावके आधारपर चार वर्णों और चार आश्रमोंमें विभक्त रहा । यह गुण, कर्म और स्वभाव एक व्यक्तिका नहीं अपितु जातिगत अर्थात् पितृ-पैतामहिक परम्परासे माना जाता रहा तथा वही व्यक्तिकी शिक्षाका निर्देशक रहा । इस प्रकार ब्राह्मणको यज्ञ-यागादिके साथ वेद तथा वेदानुसारी शास्त्रों, मर्यादाओं और परम्पराओं, सदाचार, धर्मशास्त्र, कर्तव्य और अधिकारकी शिक्षा विहित थी; क्षत्रियके लिये व्यक्ति, समाज और राष्ट्रकी रक्षा तथा तदर्थ आवश्यक युद्ध, अस्त्र-शस्त्र-विद्या तथा शासन और व्यवहार, राजनीति तथा समाजनीति एवं अभिव्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र-हितमें उपयोगी शिक्षा विहित थी । इसी प्रकार वैश्यके लिये कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य-व्यापारसे सम्बन्धित विद्याओंकी शिक्षा तथा शूद्रके लिये शिल्पकला, स्थापत्य, यान्त्रिकी, स्वर्णादिक धातु तथा रत्नादिका तक्षण और आभूषण-निर्माणकी शिक्षाका विधान है ।

मानवके दैनिक जीवनमें ज्ञान, इच्छा तथा क्रियाका समन्वय रहा है । जीवनका प्रथम भाग ब्रह्मचर्य-व्रत-पालनपूर्वक विद्याध्ययन, द्वितीय भाग गृहस्थाश्रम, तृतीय भाग पुनः शान्ति और निवृत्तिके अभ्यासपूर्वक वनमें निवास अर्थात् वानप्रस्थाश्रम और चौथा भाग ब्रह्मचिन्तन, एषणा-त्याग तथा ब्रह्म-विलयनके लिये निर्धारित किया गया है । ब्रह्मचर्यमें ही मुख्यतः शिक्षाका विधान है; किंतु यह शिक्षा केवल अक्षर-ज्ञान और पुस्तक पढ़ना मात्र नहीं है । ब्रह्मचर्य जीवनकी एक निराली पद्धति है । प्राचीन शिक्षा भारतमें जीवनकी साधना मानी गयी है, जो जीवनके चरम लक्ष्यतक पहुँचनेमें साधक हो । गुरुकुलमें निवास, गुरु-शुश्रूषा, ग्रन्थोंका अध्ययन-अभ्यास, ब्रह्मचर्य-व्रत-पालन, भिक्षाचर्या आदि ब्रह्मचारीकी शिक्षाके अभिन्न अङ्ग हैं । महाकवि कालिदासने रघुवंशी राजकुमार

ब्रह्मचारियोंकी तपोमयी जीवनीका वर्णन किया है। भारतीय प्राचीन शिक्षा-प्रणालीका अनुसरण समाजके सभी अङ्ग समान रूपसे करते थे।

धनवान्, धनहीन, राजा और रंकको शिक्षामें कोई भेद-भाव नहीं था। शिक्षाका क्षेत्र केवल धननिरपेक्ष ऋषियोंके हाथमें था और माता-पितापर ब्रह्मचारीके अध्ययनकालमें कोई आर्थिक बोझ नहीं पड़ता था। यह एक बहुत गम्भीर और ध्यान देने योग्य बात है कि भारतकी प्राचीन शिक्षा न तो शासकके हाथमें थी और न राजनीतिक अथवा अन्य संसारी नेताओंके प्रभावमें थी। एक राजा हो अथवा एक ब्रह्मचारी, विद्यार्थीकी शिक्षापर उसका कोई प्रभाव नहीं था। इसी कारणसे लाखों वर्षतक इस संस्कृतिका लोप नहीं हुआ। नेता लोग अपनी बुद्धि अथवा पूर्व धारणा-मान्यताके अनुसार शिक्षाके परिवर्तनमें समर्थ नहीं थे। शासकके हाथमें शिक्षाकी बागडोर न होनेसे देशकी संस्कृतिके अनुरूप शिक्षा रहनेमें कोई बाधा नहीं थी, इसी कारण लाखों वर्षसे भी प्राचीन वेदानुसारी प्राचीन आर्य संस्कृति अक्षुण्ण रही। पवित्र शिक्षा और निष्कलङ्क नित्य जीवनके कारण प्राचीन भारतका ब्रह्मचारी राजाके लिये भी पूजनीय माना जाता था। ब्रह्मचर्य-आश्रममें अर्थ, कामसे सर्वथा अस्पृष्ट होनेसे ब्रह्मचारीके प्रति सबकी श्रद्धा रही और उसे सम्मान प्राप्त था।

प्राचीन शिक्षाके केन्द्र ऋषिलोग थे। महर्षि दुर्वासाका चलता-फिरता विश्वविद्यालय प्रायः दस हजार शिक्षार्थियोंसे पूर्ण था। वाल्मीकि, वसिष्ठ, अघोर, अङ्गिरा, भरद्वाज आदि प्राचीन कुलपति थे। सांदीपनि ऋषि भगवान् श्रीकृष्ण और सुदामाके गुरु थे। तक्षशिला, राजगृह, नालन्दा आदि प्राचीन शिक्षा-केन्द्र थे।

भारतीय इतिहासका यह मध्यवर्ती भाग महाभारत-महायुद्धके अनन्तर प्रायः डेढ़ सहस्र वर्ष बादसे आरम्भ होता है। पश्चिमी राजनीतिज्ञ एवं इतिहासकार जिसे 'एशियाका प्रकाश' मानते हैं, वही वास्तवमें पश्चिमका प्रकाश और पूर्व (अर्थात् भारत) की अन्धकारमयी संध्याका सूत्रपात है। सम्राट् अशोकद्वारा कलिंग-युद्धके अनन्तर क्षात्रधर्मसे वैराग्य लेनेपर भारतीय सीमा-सुरक्षामें शिथिलता आयी। तदनन्तर बारहवीं शताब्दी ईस्वीसे लेकर प्रायः अठारहवीं शताब्दीतक भारतीय शिक्षाको फारसी, उर्दू तथा अरबी भाषाओं एवं इसी संस्कृतिसे अनुरञ्जित किया गया। प्राचीन भारतीय संस्कृतिसे सर्वथा भिन्न और विशेषतः विपरीत रहन-सहनवाली संस्कृति भारतपर अपनी छाप डालकर भी इसका उन्मूलन नहीं कर सकी तथा प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति अंशतः क्षीण होनेपर भी जीवित रही, किंतु अब कुछ ऐसे विचारक प्रकट हुए हैं जो एकके स्थानपर दो संस्कृति मानने लगे हैं।

ईस्ट-इंडिया-कम्पनीके पदार्पणके साथ धीरे-धीरे अंग्रेजी शासनकी नींव पड़ने लगी। उन्नीसवीं शतीके प्रारम्भकालसे ही शिक्षामें परिवर्तन होने लगा। लार्ड मैकालेने मदरसा स्थापित कर ऐसी शिक्षाकी नींव डाली जिसके फलस्वरूप भारतीय केवल रंगका भारतीय तथा मनसे यूरोपीय सभ्यताका अनुयायी रह गया, उसीका परिणाम हिंदी-संस्कृत तथा भारतीय परम्पराकी उपेक्षा है। शिक्षाका भी धर्म एवं परलोकसे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया और शिक्षाका उद्देश्य ऐहलौकिक जीवन, भोजन, आच्छादन, उत्पादन, वितरण और उपभोग मात्र ही रह गया।

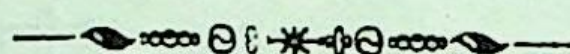
भारत-सरकार, प्रारम्भिक शिक्षा-मन्त्री आदि प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धतिके आदर्शोंकी कल्पना भी नहीं कर सके। भारत-सरकारद्वारा स्थापित आयोग भी प्रायः उन्हीं भौतिक लक्ष्योंकी ओर शिक्षाको मोड़नेमें व्यस्त हुए। वे पाश्चात्त्य भौतिक दर्शनोंसे प्रेरित जॉन स्टुअर्ट मिलके 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' के भौतिक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये शिक्षाको प्रेरित करने लगे तथा भारतीय परम्परामें भी प्राचीन सामाजिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्योंके विरोधी सभी प्राचीन शिक्षाओंका उन्मूलन करके उसके स्थानपर वर्गविहीन तथा वर्णविहीन समाजकी स्थापनाके लिये केवल भौतिकवादी शिक्षा-पद्धतिकी स्थापनाके लिये प्रवृत्त हुए।

भारत-सरकारद्वारा सन् १९८५ ई०में प्रकाशित 'नयी शिक्षा-नीति' नामक सरकारी पुस्तिकामें इस दृष्टिकोणका

स्पष्टीकरण मिलता है। इन प्रयासोंमें भारत-सरकारकी शिक्षा-पद्धति कितनी विफल रही है, यह प्रतिदिनके कटु अनुभव और समाचार-जगत्से स्पष्ट है। धर्म तथा आध्यात्मिकताकी शिक्षाको विदा कर देनेका प्रभाव भारतीय समाजके नैतिक स्तरपर बुरी तरह पड़ा है।

धर्म, नैतिकता, सत्यनिष्ठा तथा आध्यात्मिकतासे हीन वर्तमान शिक्षा राष्ट्रके प्रत्येक स्तरपर अस्थिरता एवं अशान्तिका निमित्त बन रही है। प्राचीन भारतीय ऋषियोंने शिक्षाको इसी कारण शासन और आर्थिक प्रभावसे मुक्त रखा था। इस समय वर्तमान शिक्षा-पद्धतिमें शिक्षाशास्त्री, शिक्षक तथा शिष्य सभी अर्थप्रेरित लोभसे संग्रस्त होनेके कारण शिक्षा-मन्दिरको ही सुरा-सुन्दरीसे दूषित कर रहे हैं। शिक्षा दूषित होनेसे शिक्षित भी दूषित होगा तथा जीवनके सभी क्षेत्र दूषित हो जायँगे। **'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा'**—इन सब दूषणोंसे राष्ट्र और समाज व्याप्त है। जैसे दुष्ट बीजसे दुष्ट अङ्कुर और सदोष फल होंगे, वैसे ही दोषयुक्त शिक्षासे सदोष नागरिक बनकर समाज, राष्ट्र एवं अन्ताराष्ट्रिय जगत्के लिये घातक होंगे।

इसी कारण यदि राष्ट्र और मानवको बचाना इष्ट हो तो तत्काल सावधान होकर वर्तमान शिक्षामें आमूल-चूल परिवर्तन एवं संशोधन करना चाहिये। शिक्षाको केवल अक्षर एवं पुस्तक-ज्ञानका माध्यम न बनाकर शिक्षितको केवल भौतिक उत्पादन-वितरणका साधन न बनाया जाय, अपितु नैतिक मूल्योंसे अनुप्राणित कर आत्मसंयम, इन्द्रियनिग्रह, प्रलोभनोपेक्षा तथा नैतिक मूल्योंका केन्द्र बनाकर भारतीय समाज, अन्ताराष्ट्रिय जगत्की सुख-शान्ति और समृद्धिको माध्यम तथा साधन बनाया जाय। ऐसी शिक्षा निश्चित ही **'स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।'** कामधेनु बनकर सभी कामनाओंको पूर्ण करनेवाली और सुख-समृद्धि तथा शान्तिका संचार करनेवाली होगी।



गुरु-शिष्य-सम्बन्ध और भारतीय संस्कृति

(काशी हिंदू विश्वविद्यालयमें पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीके भाषणका एक अंश)

कुछ वर्षों पूर्व काशी हिंदू विश्वविद्यालयकी विद्यार्थि-परिषद्का उद्घाटन करते हुए श्रीब्रह्मचारीजीने ओजस्वी भाषामें कहा था—

आज मैं विद्यार्थियोंके मध्यमें बैठकर अत्यन्त प्रसन्नताका अनुभव कर रहा हूँ। भारत राष्ट्रकी उन्नति आपलोगोंपर ही निर्भर है, आपलोग ही भावी भारतके सुयोग्य नागरिक होंगे, भारतकी उन्नतिके आपलोग ही प्रतीक हैं, हमलोगोंकी दृष्टि आपलोगोंपर ही लगी हुई है। इसलिये आपलोग साधारण नागरिक नहीं, आपलोगोंका एक विशिष्ट महत्त्व है।

भारतदेश स्वतन्त्र हो गया है। स्वतन्त्र देशके इतने लक्षण होते हैं—(१) उस देशकी प्राचीन परम्परा, (२) उस देशकी विशेष संस्कृति-धर्म, (३) उस देशकी अपनी भाषा, (४) उस देशका अपना निजी विधान और (५) अपनी मातृभूमिका एक विशिष्ट गौरव। स्वतन्त्र देशोंमें ये सब निजी परम्पराएँ होती हैं। मुझे अत्यन्त दुःखके साथ कहना पड़ता है कि हम कहनेको तो स्वतन्त्र हो गये हैं, किंतु हमारी मानसिक दासता अभी नहीं गयी है। हम अब भी पाश्चात्त्य परम्पराका अनुकरण करते हैं।

भारतवर्षकी प्राचीन परम्परा ही है, गुरु-शिष्यका सौहार्द—आदर। हमारे देशकी परम्परा यह है कि हमारे सभी कार्य भगवान्को लक्ष्य करके ही हों। आज हममें अनेक त्रुटियाँ आ गयी हैं। आज भारतीयोंमें गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भारतीय नहीं रहा। मेरी आपलोगोंसे प्रार्थना है कि आपलोग आस्तिकताको, जो हमारे देशका प्राण है, न भुलायें। करने-करानेवाले भगवान् ही हैं,

अतः आपलोग भगवान्‌को न भूलें। भगवान् तर्ककी वस्तु नहीं, प्रत्युत श्रद्धाकी वस्तु हैं। इसीलिये वेदोंमें बार-बार कहा गया है—'श्रद्धा करो, श्रद्धा करो।' भारतवर्ष धर्मप्रधान देश है। भारतकी प्रसिद्धि इसलिये नहीं है कि हमारे यहाँ मशीनें हैं, कारखाने हैं। हमारे देशका गौरव धर्मके कारण है, अतः आपलोग धर्मको न भूलें। भारतीय संस्कृति कहें या भारतीय धर्म कहें, दोनों एक ही बात है। हिंदू-धर्मको छोड़कर हिंदू-संस्कृतिके नामसे जो नर्तकियों और गायक-गायिकाओंके विशिष्ट मण्डल भेजे जाते हैं, यह भारतीय संस्कृतिका उपहास है। भारतीय संस्कृति तो धर्ममें संनिहित है। नृत्य, वाद्य और गान—ये भी भारतकी विशेष धार्मिक पद्धतियाँ हैं, किंतु नाचना-गाना ही भारतीय संस्कृति नहीं है। अतः आपलोग धर्मको न भूलें, अपनी धार्मिक भावनाओंकी अवहेलना न करें।

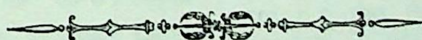
भारतकी मूल भाषा संस्कृत है। संस्कृतसे ही प्रायः सभी भारतीय भाषाओंकी उत्पत्ति हुई है। हिंदी संस्कृतकी पुत्री है। अतः आपलोग जहाँतक हो संस्कृत और हिंदी भाषामें सब विषयोंका अध्ययन करें। संस्कृत और हिंदीके अध्यापकों तथा छात्रोंको जो हेयकी दृष्टिसे देखनेकी एक चाल चल रही है, उसे मिटाइये। अपनी भाषाको पढ़ने-पढ़ानेवालोंको विदेशी भाषाओंके शिक्षकों और छात्रोंसे अधिक गौरवकी दृष्टिसे देखिये। अपने दैनिक व्यवहार, बोल-चाल, व्याख्यान, पत्र-व्यवहार हिंदीमें कीजिये, पुस्तकें-कविताएँ हिंदीमें ही लिखिये। भाषा अपनी राष्ट्रियताकी सबसे बड़ी निधि तथा प्राण है।

हमारा विधान वेद-शास्त्र-स्मृतियोंके आधारपर होना चाहिये। मुझे दुःख है कि आज जो विधान बना है, वह इंग्लैंड-अमेरिकाका उच्छिष्ट है। उसमें भारतीयता नहीं है। हमें अपना निजी विधान पुनः बनाना है और उसमें भारतीयताको लाना है।

हम भारतको एक निर्जीव भूमिका टुकड़ा नहीं मानते, अपितु हमने इसे माताका रूप दिया है। हिमालय उसका सिर है; कन्याकुमारी, मलयालम दक्षिणके देश उसके पैर हैं; उड़ीसा, बंगाल, पंजाब, सिंध उसके चार हाथ हैं, ऐसी हमारी भारतमाता है। इसके अङ्गोंका खण्ड कर दिया गया है। हमें पुनः अपनी खण्डित माताको अखण्डित करना है।

गौकी सेवा भारतीय संस्कृतिका मूलाधार है। सभी सम्प्रदाय, सभी वर्ग, सभी दल गौको सदासे अवध्या मानते रहे हैं। हमें देशसे गोवधको सर्वथा प्राणोंकी बाजी लगाकर बंद कराना है।

अन्तमें भाषण समाप्त करते हुए ब्रह्मचारीजीने कहा—'इन शब्दोंके साथ मैं आपलोगोंकी विद्यार्थि-परिषद्‌के कार्यका उद्घाटन करता हूँ। परमपिता परमात्माके पाद-पद्मोंमें मेरी यही प्रार्थना है कि वे हम सबको विशुद्ध भारतीय बनावें। हम सबमें धर्मके प्रति आस्था हो। मङ्गलमय भगवान् हम सबका सर्वत्र मङ्गल करें।'



सच्ची शिक्षा

सच्ची शिक्षा उस समय आरम्भ होती है, जब मनुष्य समस्त बाहरी सहारोंको छोड़कर अपनी अन्तरङ्ग अनन्तताकी ओर ध्यान देता है। उस समय मानो वह मौलिक ज्ञानका एक स्वाभाविक स्रोत बन जाता है अथवा महान् नवीन-नवीन विचारोंका चश्मा बन जाता है।



गीताकी अलौकिक शिक्षा

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

प्राणिमात्रके परम सुहृद् भगवान्के मुखसे निःसृत 'श्रीमद्भगवद्गीता' मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये व्यवहारमें परमार्थकी अलौकिक शिक्षा देती है। कोई भी व्यक्ति (स्त्री-पुरुष) हो और वह किसी भी वर्णमें हो, किसी भी आश्रममें हो, किसी भी सम्प्रदायमें हो, किसी भी देशमें हो, किसी भी वेशमें हो, किसी भी परिस्थितिमें हो, वहीं रहते हुए ही वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकता है। यदि वह निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे और निष्कामभावसे विहित कर्मोंको करता रहे तो इसीसे उसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पाप (बन्धन) को प्राप्त नहीं होगा।'

युद्धसे बढ़कर घोर परिस्थिति और क्या होगी? परंतु जब युद्ध-जैसी घोर परिस्थितिमें भी मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है, तो फिर ऐसी कौन-सी परिस्थिति होगी, जिसमें रहते हुए मनुष्य अपना कल्याण न कर सके?

सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि सब आते हैं और चले जाते हैं, पर हम ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं। अतः समतामें हमारी स्थिति स्वतःस्वाभाविक है। उसी समताकी ओर गीता लक्ष्य करा रही है कि ये जो तरह-तरहकी परिस्थितियाँ आ रही हैं, उनके साथ मिलो मत, उनमें प्रसन्न-अप्रसन्न मत होओ, प्रत्युत उनका सदुपयोग करो। अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो दूसरोंको सुख पहुँचाओ, दूसरोंकी सेवा करो और प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग करो। गीता कितनी अलौकिक शिक्षा देती है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (३।११)

'एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

सभी एक-दूसरेके अभावकी पूर्ति करें, एक-दूसरेको सुख पहुँचायें, एक-दूसरेका हित करें तो अनायास ही सबका कल्याण हो जाय—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (१२।४)। इसलिये दूसरेका हित करना है, दूसरेको सुख देना है, दूसरेको आदर देना है, दूसरेकी बात रखनी है, दूसरेको आराम देना है, दूसरेकी सेवा करनी है। दूसरा हमारी सेवा करे या न करे, इसकी परवाह नहीं करनी है अर्थात् हमें दूसरेका कर्तव्य नहीं देखना है, प्रत्युत निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करना है; क्योंकि दूसरेका कर्तव्य देखना हमारा कर्तव्य नहीं है। यहाँ एक खास बात समझनेकी है कि हमें मिलनेवाली वस्तु, परिस्थिति आदि दूसरे व्यक्तिके अधीन नहीं है, प्रत्युत प्रारब्धके अधीन है। प्रारब्धके अनुसार जो वस्तु, परिस्थिति आदि हमें मिलनेवाली है, वह न चाहनेपर भी मिलेगी। जैसे न चाहनेपर भी प्रतिकूल परिस्थिति अपने-आप आती है, ऐसे ही अनुकूल परिस्थिति भी अपने-आप आयेगी। दूसरे व्यक्तिको भी वही मिलेगा, जो उसके प्रारब्धमें है, पर हमें उसकी ओर न देखकर अपने कर्तव्यकी ओर देखना है अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन (सेवा) करना है। दूसरी बात, हमारी सेवाके बदलेमें दूसरा भी हमारी सेवा करेगा तो हमारी सेवाका मूल्य कम हो जायगा; जैसे—हमने दूसरेको दस रुपये दिये और उसने हमें पाँच रुपये लौटा दिये तो हमारा देना आधा ही रह गया! अतः यदि दूसरा बदलेमें हमारी सेवा न करे तो हमारा बहुत जल्दी कल्याण होगा। यदि दूसरा हमारी सेवा करे अथवा हमें दूसरेसे सेवा लेनी पड़ी तो उसका बड़ा उपकार माने, पर उसमें प्रसन्न न हो। प्रसन्न होना भोग है और भोग दुःखका कारण है—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (५।२२)।

मैं सुख ले लूँ, मेरा आदर हो जाय, मेरी बात रह जाय, मुझे आराम मिले, दूसरा मेरी सेवा करे—यह भाव महान् पतन करनेवाला है। अर्जुनने भगवान्से पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों करता है? तो भगवान्ने कहा कि 'मुझे मिले' यह कामना ही पाप कराती है (३। ३६-३७)। जहाँ व्यक्तिगत सुखकी कामना हुई कि सब पाप, संताप, दुःख, अनर्थ आदि आ जाते हैं। इसलिये अपनी सामर्थ्यके अनुसार सबको सुख पहुँचाना है, सबकी सेवा करनी है, पर बदलेमें कुछ नहीं चाहना है। हमारे पास जो बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता आदि है, उसे निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवामें लगाना है।

हमारे पास वस्तुके रहते हुए दूसरेको उस वस्तुके अभावका दुःख क्यों भोगना पड़े? हमारे पास अन्न, जल और वस्त्रके रहते हुए दूसरा भूखा, प्यासा और नंगा क्यों रहे? — ऐसा भाव रहेगा तो सभी सुखी हो जायँगे। एक-दूसरेके अभावकी पूर्ति करनेकी रीति भारतवर्षमें स्वाभाविक ही रही है। खेती करनेवाला अनाज पैदा करता था तो वह अनाज देकर जीवन-निर्वाहकी सब वस्तुएँ ले आता था। उसे सब्जी, तेल, घी, बर्तन, कपड़ा आदि जो कुछ भी चाहिये, वह सब उसे अनाजके बदलेमें मिल जाता था। सब्जी पैदा करनेवाला सब्जी देकर सब वस्तुएँ ले आता था। इस प्रकार मनुष्य कोई एक वस्तु पैदा करता था और उसके द्वारा वह सभी आवश्यक वस्तुओंकी पूर्ति कर लेता था। पैसोंकी आवश्यकता ही नहीं थी। परंतु अब पैसोंको लेकर अपनी आदत बिगाड़ ली। पैसोंके लोभसे अपना महान् पतन कर लिया। पैसोंका संग्रह करनेकी ऐसी धुन लगी कि जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुएँ मिलनी कठिन हो गयीं! कारण कि वस्तुओंको बेच-बेचकर रुपये पैदा कर लिये और उनका संग्रह कर लिया। इस बातका ध्यान ही नहीं रहा कि रुपये पड़े-पड़े स्वयं क्या काम आयेंगे! रुपये स्वयं किसी काममें नहीं आयेंगे, प्रत्युत उनका खर्च ही अपने या दूसरोंके काममें आयेगा। परंतु अन्तःकरणमें पैसोंका महत्त्व बैठा होनेसे ये बातें सुगमतासे समझमें नहीं आतीं। पैसोंकी यह भूख भारतवर्षकी स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत कुसंगतिसे आयी है।

एक मार्मिक बात है कि जो दूसरेका अधिकार होता है, वही हमारा कर्तव्य होता है। जैसे दूसरेका हित करना हमारा कर्तव्य है और दूसरोंका अधिकार है। माता-पिताकी सेवा करना, उन्हें सुख पहुँचाना पुत्रका कर्तव्य है और माता-पिताका अधिकार है। ऐसे ही पुत्रका पालन-पोषण करना और उसे श्रेष्ठ, सुयोग्य बनाना माता-पिताका कर्तव्य है और पुत्रका अधिकार है। गुरुकी सेवा करना, उनकी आज्ञाका पालन करना शिष्यका कर्तव्य है और गुरुका अधिकार है। ऐसे ही शिष्यका अज्ञानान्धकार मिटाना, उसे परमात्मतत्त्वका अनुभव कराना गुरुका कर्तव्य है और शिष्यका अधिकार है। अतः मनुष्यको अपने कर्तव्य-पालनके द्वारा दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करनी है। दूसरोंका कर्तव्य और अपना अधिकार देखनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है। इसलिये मनुष्यको अपने अधिकारका त्याग करना है और दूसरेके न्याययुक्त अधिकारकी रक्षाके लिये यथाशक्ति अपने कर्तव्यका पालन करना है। दूसरोंका कर्तव्य देखना और अपना अधिकार जमाना इहलोक और परलोकमें पतन करनेवाला है। वर्तमानमें जो अशान्ति, कलह, संघर्ष देखनेमें आ रहा है, उसका मुख्य कारण यही है कि लोग अपने अधिकारकी माँग तो करते हैं, पर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते। इसलिये गीता कहती है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (२।४७)

'अपने कर्तव्यका पालन करनेमें ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फलोंमें नहीं।'

संसारमें अपने-अपने क्षेत्रमें जो मनुष्य दूसरोंके द्वारा मुख्य, श्रेष्ठ माने जाते हैं, उन आचार्य, गुरु, अध्यापक, व्याख्यानदाता, महन्त, शासक, मुखिया आदिपर दूसरोंको शिक्षा देनेकी, दूसरोंका हित करनेकी विशेष जिम्मेवारी रहती है। अतः उनके लिये गीता कहती है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (३।२१)

'श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं और वह जो कुछ कहता है, दूसरे मनुष्य उसीके अनुसार करते हैं ।'

उपर्युक्त श्लोकमें श्रेष्ठ मनुष्यके आचरणके विषयमें तो **'यत्-यत्'**, **'तत्-तत्'** और **'एव'**—ये पाँच पद आये हैं, पर प्रमाण (वचन) के विषयमें **'यत्'** और **'तत्'**—ये दो ही पद आये हैं । इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यके आचरणोंका असर दूसरोंपर पाँच गुना (अधिक) पड़ता है और वचनोंका असर दो गुना (अपेक्षाकृत कम) पड़ता है । जो मनुष्य स्वयं कर्तव्यका पालन न करके केवल अपने वचनोंसे दूसरोंको कर्तव्य-पालनकी शिक्षा देता है, उसकी शिक्षाका लोगोंपर विशेष असर नहीं पड़ता । शिक्षाका लोगोंपर विशेष असर तभी पड़ता है, जब शिक्षा देनेवाला स्वयं भी निष्कामभावसे शास्त्र और लोककी मर्यादाके अनुसार चले । इसलिये भगवान् अपना उदाहरण देते हुए कहते हैं कि यद्यपि मेरे लिये त्रिलोकीमें कुछ भी कर्तव्य और प्राप्तव्य नहीं है, तो भी मैं जहाँ जिस रूपसे अवतार लेता हूँ, वहाँ उस अवतारके अनुसार ही अपने कर्तव्यका पालन करता हूँ । यदि मैं निरालस्य होकर, सावधानीपूर्वक कर्तव्यका पालन न करूँ तो मुझमें श्रद्धा-विश्वास रखनेवाले दूसरे लोग भी वैसा ही करने लग जायँगे, अर्थात् वे भी प्रमादसे, असावधानीसे अपने कर्तव्यकी उपेक्षा करने लग जायँगे, जिससे परिणाममें उनका पतन हो जायगा (३ । २२-२३) ।

मनुष्यमात्रमें तीन कमियाँ होती हैं— करनेकी कमी, जाननेकी कमी और पानेकी कमी । इन तीनों कमियोंको दूर करके अपना उद्धार करनेके लिये मनुष्यको तीन शक्तियाँ भी प्राप्त हैं— करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति । इन तीनों शक्तियोंके रहते हुए भी मनुष्य केवल बेसमझी और सुखासक्तिके कारण अपनेमें कमीका दुःख भोगता है ! यदि वह इन तीनों शक्तियोंका सदुपयोग करे तो अपनी कमियोंकी पूर्ति करके पूर्णताको प्राप्त कर सकता है, अपना मनुष्यजन्म सर्वथा सार्थक कर सकता है[१] । निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म (सेवा) करना 'करनेकी शक्ति' का सदुपयोग है, जो 'कर्मयोग' है । शरीरसे असङ्ग होकर अपने स्वरूपमें स्थित होना 'जाननेकी शक्ति' का सदुपयोग है, जो 'ज्ञानयोग' है । भगवान्‌को अपना और अपनेको भगवान्‌का मानना 'माननेकी शक्ति' का सदुपयोग है, जो 'भक्तियोग' है । गीता इन तीनों ही योगमार्गोंकी शिक्षा देती है; जैसे—

जो केवल यज्ञके लिये अर्थात् निष्कामभावपूर्वक दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करता है, वह कर्मयोगी कर्म-बन्धनसे छूट जाता है—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (४ । २३) । कारण कि शरीरादि पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानकर दूसरोंकी सेवामें लगानेसे इन पदार्थोंसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है ।

जो सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रकृतिके द्वारा होनेवाली देखता है और अपने-आपको किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं देखता, उस ज्ञानयोगीको अपने स्वरूपका बोध हो जाता है[२] ।

जो संसारसे विमुख होकर केवल भगवान्‌की ही शरण हो जाता है और भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं चाहता, उसके उद्धारकी सम्पूर्ण जिम्मेवारी भगवान्‌पर ही आ जाती है । इसलिये भगवान् स्वयं उस शरणागत भक्तके योगक्षेमका वहन करते हैं[३], उसके सम्पूर्ण पापोंका

---

१. एक विलक्षण बात है कि करनेकी कमी दूर होनेपर जानने और पानेकी कमी भी दूर हो जाती है, जाननेकी कमी दूर होनेपर करने और पानेकी कमी भी दूर हो जाती है तथा पानेकी कमी दूर होनेपर करने और जाननेकी कमी भी दूर हो जाती है ।

२. तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः । गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ (३ । २८)
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति । गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ (१४ । १९)
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः । यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ (१३ । २९)

३. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (९ । २२)

नाश कर देते हैं[४], उसका मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार कर देते हैं[५] और उसे तत्त्वज्ञान भी करा देते हैं[६], भक्तियोगमें यह विशेषता है कि भक्त भगवत्कृपासे भगवान्‌को तत्त्वसे जान भी जाता है, भगवान्‌के दर्शन भी कर लेता है और भगवान्‌को प्राप्त भी कर लेता है[७] ।

इस प्रकार गीतामें ऐसी अनेक अलौकिक शिक्षाएँ दी गयी हैं, जिनके अनुसार आचरण करके मनुष्य सुगमतासे अपने परम लक्ष्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है ।

शिक्षातत्त्व-विमर्श

(स्वामी श्रीनिश्चलानन्दसरस्वतीजी महाराज)

(१) शक्तिस्वरूपा शिक्षा—'सीतोपनिषद्‌के अनुसार परब्रह्मस्वरूपा पराम्बा पराचिति षडैश्वर्यसम्पन्ना मूलप्रकृति सीता 'शिक्षा'- स्वरूपा हैं । प्रपञ्च और प्रणवकी प्रकृति होनेके कारण वे 'प्रकृति' कही जाती हैं । श्रीरामवल्लभा सीता प्रपञ्चोपरत ब्रह्मजिज्ञासुओंके लिये ब्रह्मसूत्रादिके परम तात्पर्यरूपसे वरेण्य हैं । ये सृष्टि-स्थिति, संहार-तिरोधान और अनुग्रहादि समस्त सामर्थ्योंसे समलंकृत हैं । शक्तिस्वरूपा सीता श्रीदेवी, भूदेवी और नीलादेवीरूपा इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और साक्षात् शक्ति—इन तीनों रूपोंमें स्फुरित होती हैं । क्रियाशक्तिरूपा सीता श्रीहरिके मुखारविन्दसे नाद (ध्वनि) रूपमें प्रकट होती हैं । उस नादसे विन्दु (स्फुट अभिव्यक्तिके अभिमुख) और विन्दुसे ॐकार (अ, उ, म् रूप कलात्मक प्रणव) अभिव्यक्त होता है । प्रणव वेदात्मक है । प्रणव और प्रणवात्मक वेदकी तरह कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द, मीमांसा और न्याय, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, वास्तुवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा आयुर्वेद, दण्ड, नीति, व्यापार और विविध उपासना-सम्बन्धी विद्याओंकी अभिव्यक्ति क्रियाशक्तिस्वरूपा श्रीसीताजीसे होती है ।

उपर्युक्त विवेचनसे यह तथ्य सिद्ध है कि 'शिक्षा' पराचितिस्वरूपा भगवतीकी क्रिया और ज्ञानप्रधान अभिव्यक्ति है। क्रियामें विनियुक्त शिक्षा क्रियाशक्तिप्रधाना है और ज्ञानमें विनियुक्त शिक्षा ज्ञानशक्तिस्वरूपा । धर्मज्ञानका फल अभ्युदय (लौकिक और पारलौकिक सुख) है और ब्रह्मज्ञानका फल निःश्रेयस् । 'धर्म' भव्य (साध्य, अनुष्ठेय) है; अतः धर्मज्ञान क्रियामें विनियुक्त होता है । 'ब्रह्म' साक्षादपरोक्ष प्रत्यगात्मस्वरूप है; अतः ब्रह्मज्ञान आवरण-भङ्गमात्रसे श्रेयप्रद होता है । वह क्रियान्तरमें विनियुक्त नहीं होता । इस तरह अभ्युदयप्रधान धर्मशिक्षा क्रियाप्रधाना है और निःश्रेयस्प्रधान ब्रह्मशिक्षा ज्ञानशक्तिप्रधाना । शिक्षा नामक वेदाङ्ग तो शिक्षा है ही, सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्गादि और प्रभेदसहित लौकिक विद्या भी पारिभाषिक 'शिक्षा' ही है ।

(२) वेदाङ्ग- शिक्षा—शिक्षाशास्त्रका साररूप इस प्रकार है—वर्णोंकी संख्या तिरसठ अथवा चौंसठ मानी गयी है । इनमें इक्कीस 'स्वर' (अ, इ, उ, ऋ, ह्रस्व-दीर्घ और प्लुतभेदसे बारह; ए, ओ, ऐ और औ दीर्घ और प्लुतभेदसे आठ तथा स्वरोंके दुःस्पृष्ट मध्यवर्ती 'ल' एक,=इक्कीस),

४. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥(१८ । ६६)
५. तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥(१२ । ७)
६. तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥(१० । ११)
७. भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥(११ । ५४)

पचीस 'स्पर्श' (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग), आठ यादि (य, र, ल, व, श, ष, स, ह) एवं चार 'यम'[१] माने गये हैं। अनुस्वार, विसर्ग, दो पराश्रित (क, ख तथा प, फ परे रहनेपर विसर्गके स्थानमें क्रमशः ᳵक, ᳵख तथा ᳶप ᳶफ आदेश होते हैं, अतः ये दोनों 'पराश्रित' हैं। इन्हींको 'जिह्वामूलीय' और 'उपध्मानीय' कहते हैं।) वर्ण ᳵक, ᳶप और दुःस्पृष्ट लकार—ये तिरसठ ('लृ' का 'ऋ' में अन्तर्भाव मानकर) वर्ण हैं। इनमें प्लुत लृकारको सम्मिलित कर लेनेपर वर्णोंकी संख्या चौंसठ हो जाती है।

आत्मा (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) संस्काररूपसे अपने भीतर विद्यमान घट-पटादि पदार्थोंको अपनी बुद्धिवृत्तिसे संयुक्त करके अर्थात् उन्हें एक बुद्धिका विषय बनाकर बोलने या दूसरोंपर प्रकट करनेकी इच्छासे मनको उनसे संयुक्त करता है। संयुक्त हुआ मन कायाग्नि—जठराग्निको आहत करता है। फिर वह जठरानल प्राणवायुको प्रेरित करता है। वह प्राणवायु हृदयदेशमें विचरता हुआ धीमी ध्वनिमें उस प्रसिद्ध स्वरको उत्पन्न करता है, जो प्रातः-सवनकर्मके साधनभूत मन्त्रके लिये उपयोगी है तथा जो गायत्री नामक छन्दके आश्रित है। तदनन्तर वह प्राणवायु कण्ठदेशमें भ्रमण करता हुआ 'त्रिष्टुप्' छन्दसे युक्त माध्यन्दिन-सवनकर्म-साधन मन्त्रोपयोगी मध्यम स्वरको उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् उक्त प्राणवायु शिरोदेशमें पहुँचकर उच्चध्वनिसे युक्त एवं 'जगती' छन्दके आश्रित सायं-सवन-कर्मसाधन मन्त्रोपयोगी स्वरको प्रकट करता है। इस प्रकार ऊपरकी ओर प्रेरित वह प्राण मूर्धामें टकराकर अभिघात नामक संयोगका आश्रय बनकर, मुखवर्ती कण्ठादि स्थानोंमें पहुँचकर वर्णोंको उत्पन्न करता है। स्वरसे, कालसे, स्थानसे, आभ्यन्तर प्रयत्नसे और बाह्य प्रयत्नसे वर्ण पञ्च प्रकारके हो जाते हैं। हृदय, कण्ठ, मूर्धा, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठद्वय तथा तालु—ये आठ वर्णोंके उच्चारण-स्थान हैं। विसर्गका अभाव, विवर्तन (विवृत्ति), संधिका अभाव, शकारादेश, षकारादेश, सकारादेश, रेफादेश, जिह्वामूलीयत्व और उपध्मानीयत्व—'ऊष्मा वर्णोंकी ये आठ प्रकारकी गतियाँ हैं। इन आठोंके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—शिवो वन्द्यः, क ईशः, हरिश्शेते, आविष्कृतम्, कस्कः, अहर्पतिः, क ᳵ करोति, क ᳶ पचति।

जो उत्तमतीर्थ (कुलीन, सदाचारी, सुशील और सुयोग्य गुरु) से पढ़ा गया है, सुस्पष्ट उच्चारणसे युक्त है, सम्प्रदायशुद्ध है, सुव्यवस्थित है, उदात्तादि शुद्धस्वरसे तथा कण्ठ-ताल्वादि शुद्ध स्थानसे प्रयुक्त हुआ है, वह वेदाध्ययन शोभित होता है (अग्निपुराण, अ० ३३६ शिक्षा-निरूपण)।

(३) वैदिकी शिक्षा—'शिक्षा शिक्ष्यतेऽनयेति वर्णाद्युच्चारणलक्षणम्। शिक्ष्यन्त इति वा शिक्षा वर्णादयः। शिक्षैव शीक्षा। दैर्घ्यं छान्दसम्।' 'जिससे वर्णादिका उच्चारण सीखा जाय उसे 'शिक्षा' कहते हैं अथवा जो सीखे जायँ वे वर्ण आदि ही शिक्षा हैं। शिक्षाको ही 'शीक्षा' कहा गया है। शिक्षाके स्थानपर 'शीक्षा' वैदिक प्रक्रियाके अनुसार है।' (शांकरभाष्य तैत्तिरीयोपनिषद् १।२।१)

'कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक'के प्रपाठक ७ को 'सांहिती उपनिषद्' कहते हैं। इसीको 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की 'शीक्षावल्ली' कहते हैं। इसकी दार्शनिकता यह है कि सम्पूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म है। सम्पूर्ण अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवमण्डलके रूपमें वही अचिन्त्या, अनिर्वचनीया मायाशक्तिके योगसे विलसित हो रहा है। अधिदैवमण्डलके अनुग्रहसे जीवन सुखद होता है। देहेन्द्रिय, प्राण, मन और सम्पूर्ण जीवनकी सुपुष्ट तथा स्वस्थ उपलब्धि तथा अभिव्यक्ति सूर्य, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु, वायु आदि देवोंकी अनुकम्पासे सम्भव है। इनकी ब्रह्मरूपसे

---

१. श्रीभट्टोजिदीक्षित लिखते हैं—'वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः।' यथा-पलिक्क्नीः, चख्ख्नतुः आदि। वर्गोंके पञ्चम वर्णके परे रहते आदिके चार वर्णों तथा पञ्चमके मध्यमें जो उन्हींके सदृश वर्ण उच्चारित होते हैं, उन्हें 'यम' कहते हैं।

वन्दना करनी चाहिये । गुरु और शिष्य दोनोंके प्रीतिवर्धक, हितप्रद, योगक्षेमनिर्वाहक देववृन्द अवश्य ही आराध्य हैं । सुन्दर और सुखद प्रज्ञाशक्ति और प्राणशक्तिकी समुपलब्धिके लिये देवाराधन अवश्यकर्तव्य है ।

'सांहिती उपनिषद्' (शीक्षावल्ली) के अनुसार जीवनोपयोगी पञ्चविध दर्शन इस प्रकार हैं—

१-अधिलोकदर्शन—वायुके संधान (योग) से पृथ्वी और द्युलोक आकाशको द्योतित करते हैं । संहिताका प्रथम वर्ण पृथ्वी है, अन्तिम वर्ण द्युलोक है, मध्यभाग आकाश है और वायु संधान (उनका परस्पर सम्बन्ध) करानेवाला है ।

२-अधिज्योतिदर्शन—विद्युत्के योगसे अग्नि और आदित्य जलको व्यक्त करते हैं । संहिताका प्रथम वर्ण अग्नि है, अन्तिम वर्ण आदित्य है, मध्यभाग जल है और विद्युत् संधान है ।

३-अधिविद्यदर्शन—प्रवचन (प्रश्नोत्तररूपसे निरूपण) के योगसे गुरु-शिष्य विद्याको व्यक्त करते हैं । संहिताका प्रथम वर्ण आचार्य है, अन्तिम वर्ण शिष्य है, विद्या संधि है और प्रवचन संधान है ।

४ – अधिप्रजदर्शन—प्रजनन (ऋतुकालमें उपयुक्त मुहूर्त और तिथिमें) के योगसे माता-पिता प्रजाको व्यक्त करते हैं । संहिता (संधि) का प्रथम वर्ण माता है, अन्तिम वर्ण पिता है, प्रजा (संतान) संधि है और प्रजनन संधान है ।

५ – अध्यात्मदर्शन—जिह्वाके योगसे नीचे और ऊपरके हनु (होंठ) वाणीको व्यक्त करते हैं । संहिताका प्रथम वर्ण नीचेका हनु है, अन्तिम वर्ण ऊपरका हनु है, वाणी संधि है और जिह्वा संधान है ।

अभिप्राय यह है कि पुरुषार्थचतुष्टयकी सिद्धिके लिये जिन हेतुओंके संधानसे जिस संधि (फल) की प्राप्ति होती है, उसका परिज्ञान अत्यावश्यक है । 'कपालद्वयके संधानसे घट-संधि (कार्य) की सिद्धि होती है ।' इस तथ्यका ज्ञान हुए बिना कुलाल घट नहीं बना सकता । 'उपादान और निमित्तके योगसे कार्योत्पत्ति होती है' ऐसा बोध परमावश्यक है । क्रिया और ज्ञानकी सिद्धिमें अभिव्यञ्जक हेतुओं और उपयुक्त संधानोंका बोध अपेक्षित है । अधिलोक और अधिज्योति-दर्शन अर्थ-पुरुषार्थके साधक हैं । अधिविद्यदर्शन मोक्ष-पुरुषार्थका साधक है । अधिप्रज-दर्शन काम-पुरुषार्थका साधक है । अध्यात्मदर्शन धर्मका साधक है । दर्शन अपने-आपमें उपासना है । उपर्युक्त दर्शनसे अर्थार्थीको अभीष्ट पशु (वाहन) और अन्नकी प्राप्ति होती है । कामार्थीको प्रजाकी प्राप्ति होती है । धर्मार्थीको स्वर्गकी सिद्धि होती है । मोक्षार्थीको ब्रह्मतेज (मोक्ष) की सिद्धि होती है ।

(४) शिक्षान्त- शिक्षा—वेदाध्ययन करानेके अनन्तर आचार्य शिष्यको उद्बोधित करते हुए सदाचार, संयम, शील, सत्य, स्वाध्याय, सत्संग और सन्मार्गदर्शनकी शिक्षा अनुपम रीतिसे प्रदान करते हैं । वे धर्मनियन्त्रित अर्थ और कामके द्वारा मोक्षोपयोगी जीवन जीनेकी अद्भुत विद्याका दिग्दर्शन कराते हैं । साथ ही 'श्रद्धा वह है जो श्रद्धेयमें स्थित दोषोंका दर्शन कर श्रद्धेयके प्रति हेयभाव उदित न होने दे और हेयगुणोंमें गुणबुद्धि न कराये ।' इस अनुपम रहस्यका भी प्रतिपादन करते हैं । प्रायः आचार्य बल-विशेषके बलपर स्वभावसिद्ध दोष और दुर्बलताओंसे शिष्यको अवगत न कराकर अन्धानुकरणकी अपेक्षा रखते हैं । साथ ही अपनेसे भिन्न किन्हीं सन्मार्गगामी सत्पुरुषके मार्गदर्शनका भी निषेध करते हैं । श्रौत आचार्य ऐसा नहीं करते । वे देव-पितृकार्योंसे विमुख नहीं करते । माता-पिता-आचार्यके प्रति कृतज्ञ तथा अतिथिके प्रति अनुरक्त बनाते हैं—

'देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः ।'
(तैत्तिरीयोपनिषद् १ । ११)

(५) वेदान्त- शिक्षा— ज्ञानी तत्त्वदर्शी

सद्गुरुदेवके कृपाकटाक्षका आलम्बन प्राप्तकर भगवत्कथा-श्रवण और ध्यानादिमें श्रद्धाकी अभिव्यक्ति होती है । उससे हृदयस्थित अनादि दुर्वासना-ग्रन्थिका विनाश होता है । उससे हृदयस्थित सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं । उससे हृदय-कमलकी कर्णिकामें हृदयेश्वरका आविर्भाव होता है । उससे दृढतरा वैष्णवी भक्तिकी अभिव्यक्ति होती है । उससे उत्कृष्ट वैराग्य होता है । वैराग्यसे बौद्धविज्ञानका आविर्भाव होता है । अभ्याससे क्रमशः वह ज्ञान परिपक्व होता है । परिपक्वविज्ञानसे जीवन्मुक्त होता है । उससे शुभाशुभ सर्वकर्मोंका वासनासहित नाश होता है—

'यदा सद्गुरुकटाक्षो भवति तदा भगवत्कथा-श्रवणध्यानादौ श्रद्धा जायते । तस्माद्धृदयस्थिताना-दिदुर्वासनाग्रन्थिविनाशो भवति । ततो हृदयस्थिताः कामाः सर्वे विनश्यन्ति । तस्माद्धृदयपुण्डरीककर्णिकायां परमात्माविर्भावो भवति । ततो दृढतरा वैष्णवी भक्तिर्जायते । ततो वैराग्यमुदेति । वैराग्याद्बुद्धिविज्ञाना-विर्भावो भवति । अभ्यासात्तज्ज्ञानं क्रमेण परिपक्वं भवति । पक्वविज्ञानाज्जीवन्मुक्तो भवति । ततः शुभाशुभकर्माणि सर्वाणि सवासनानि नश्यन्ति ।।'
(त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् ५)

(६) सारांश और उद्बोधन—इस प्रकार 'शिक्षा' पराचितिस्वरूपा भगवतीकी क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिप्रधान अभिव्यक्ति है । पराचितिरूपसे अवस्थितिमें ही शिक्षाकी सार्थकता है । इस योग्यताके लिये ही समस्त प्रवृत्तियों और निवृत्तियोंका शास्त्रोंमें विधान है । प्रवृत्तिका फल निवृत्ति और निवृत्तिका फल निर्वृति (परमानन्द) की प्राप्ति है ।

आजके इस वैज्ञानिक युगमें भी व्यक्तिका परम कल्याण वेदोक्त शिक्षा-प्रणालीसे ही सम्भव है। धर्मनियन्त्रित शिक्षापद्धतिके बिना वेदोक्त ज्ञान-विज्ञानकी अभिव्यक्ति असम्भव है । दूषित शिक्षा व्यक्तिको विनाशोन्मुख करनेमें समर्थ है । वह वस्तुतः शिक्षा कहने योग्य ही नहीं है ।

सेवा, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य और शिक्षाविभागमें हुए आश्चर्यजनक आविष्कारोंका उपयोग भी 'जीविका है जीवनके लिये और जीवन है जीवनधन कमनीय, वरणीय, परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये' इसी उद्देश्यसे होना चाहिये ।

सत्सम्प्रदायके अनुगत होकर अधिदैवमण्डलसे दिव्य सम्बन्ध स्थापित कर यान्त्रिक, मान्त्रिक और तान्त्रिक विधाओंका परिज्ञान प्राप्तकर सम्पूर्ण विश्वको अभ्युदय—निःश्रेयस्प्रद स्वस्थ मार्गदर्शन प्रदान करना भारतीय मनीषियोंका अनुग्रहपूर्ण दायित्व है ।

आध्यात्मिक सुखका महत्त्व

मानव-जीवनकी सार्थकता और कृतकृत्यता आध्यात्मिक सुख-शान्तिमें है । उसके लिये सदैव जागरूक रहना चाहिये । चित्तका संशोधन अनेक उपायोंसे करना चाहिये । परदोष, पर-निन्दा, परस्वापहरणकी भावनाओंसे, जो आज मानवको दानव बना रही हैं, बचना चाहिये । असत्यभाषणका अवरोध और सत्यभाषणकी चेष्टा सदैव करनी चाहिये, तभी मनुष्य अपने लक्ष्यकी पूर्ति कर सकता है और मानव-शरीरकी सफलता प्राप्त कर सकता है । अन्यथा—'तस्यामृतं क्षरति हस्तगतं प्रमादात् ।'के अनुसार मानव अमृतके हस्तगत घटको अपने हाथसे गिराकर प्रमादका परिचय देगा । अतः आध्यात्मिक सुखकी प्राप्तिके लिये सदैव प्रयत्न करना चाहिये ।

मानवता प्राप्त करना ही शिक्षा है

(स्वामी श्रीमाधवाश्रमजी महाराज 'श्रीशुकदेव स्वामीजी')

'शिक्ष विद्योपादाने' धातुसे **'अङ्'** प्रत्ययसे **'टाप्'** प्रत्यय होकर 'शिक्षा' शब्द निष्पन्न होता है । **'शिक्ष्यते अनया इति शिक्षा'**— अर्थात् जिसके द्वारा वर्णादिके उच्चारणका ज्ञान हो अथवा **'शिक्ष्यन्ते इति शिक्षा'**—जिसके द्वारा अकारादि वर्ण, उदात्तादि स्वर, ह्रस्व, दीर्घ, मात्रा आदिका ज्ञान हो, उसे शिक्षा कहा जाता है । स्वर-वर्णादिका ठीक प्रकारसे उच्चारण न होनेपर वह अनर्थमूलक होता है । जैसे—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

स्वर-वर्ण-उच्चारणसे हीन मन्त्रको ही मिथ्या-प्रयुक्त कहा गया है । असाधु-उच्चरित शब्द मन्त्र-पदार्थका बोध न कराकर विपरीत अर्थका बोध कराता है । वही असाधु शब्द यजमानके लिये वाग्वज्र बनकर विनाश करनेवाला होता है । जैसे—इन्द्रका शत्रु (वृत्रासुर) स्वरापराधसे मारा गया । अतएव शिक्षामें मात्रा आदिका साधु ज्ञान होना ही अदृष्ट (पुण्य)-जनकता है । एतावता अपने यहाँ आचारवान् होकर शिक्षा-ग्रहणकी परम्परा रही है ।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥

(मनु॰ २।९)

गुरु शिष्यका उपनयन-संस्कार करके बाह्य-आभ्यन्तरकी पवित्रताकी शिक्षा देकर स्नान, आचमन, संध्यावन्दनादि, समिधाधानकी शिक्षा देते थे । यही नहीं, अपितु शिक्षा प्राप्त करनेके अधिकारीके लिये यह परम्परा रही है—

छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत् सुयन्त्रितः ।
उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत् ॥

(श्रीमद्भा॰ ७।१२।३)

अपनी संस्कृतिके अनुसार शिक्षा-प्राप्तिका क्रम ग्रन्थोंमें उक्तरीत्या प्राप्त है । पूज्य गुरुदेवके बुलानेपर सुनियन्त्रित होकर वेदाध्ययन करें । प्रारम्भ और समापनपर गुरुजीके चरणोंमें प्रणाम करें ।

अपने पितृ-पितामहसे अनवच्छिन्न प्राप्त स्वशाखा एवं वेदोंका अध्ययन ब्रह्मचर्यव्रतपूर्वक करें । विद्यासे स्नातक होनेपर पुनः आचार्य उपदेश (शिक्षा) ग्रहण कराते हैं—

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।
मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव ।

सत्य बोलो । धर्माचरण करो । स्वाध्यायमें प्रमाद मत करो । माताको देवता समझो । पिताको देवता मानो । आचार्यको देवता समझो । इन वाक्योंद्वारा सर्वाङ्गीण शिक्षा प्राप्त करता हुआ शिष्य मानवीय जीवन व्यतीत करके पुण्यका भागी बनता है । उक्त वाक्योंका निष्कर्ष यही निकला कि पाशविक प्रवृत्तिसे निवृत्त होकर मानवताको प्राप्त करना ही शिक्षाका उद्देश्य है ।

मानवताकी सफलता

मानवता भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है । इसीसे स्वयं परात्पर ब्रह्म साक्षात् भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्ण मानवरूपमें ही अपनी दिव्य लीला करनेके लिये लीलाधाममें प्रकट होते हैं और अपनी लीलामाधुरीसे परमहंस मुनियोंके मनोंको मोहित करते, प्रेमी भक्तोंको दिव्य रसका आस्वादन कराते, उनके प्रेमसुधारसका समास्वादन करते, साधु-पुरुषोंका परित्राण करते, असाधुओंका विनाश कर उन्हें परमधाम पहुँचाते और धर्मग्लानिको मिटाकर धर्मका संस्थापन करते हुए अपनी मधुरलीला-कथाको जगत्के प्राणियोंके उद्धारके लिये रखकर अन्तर्धान हो जाते हैं । मानवताके क्षेत्रमें स्वयं भगवान्‌का अवतीर्ण होकर मानवताको धन्य करना भगवान्‌की मानवपर महान् कृपाका एक प्रत्यक्ष प्रमाण है । ये 'भगवान् मानव' ही मानवताके परम आदर्श हैं । इनके चरित्रोंका अनुकरण तथा इनकी वाणीका अनुसरण करनेमें ही मानवका परम कल्याण है तथा इसीमें मानवताकी सफलता है ।

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायणमें शिक्षा

(स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज, लक्ष्मणकिलाधीश)

आर्यावर्त भारतवर्षमें प्राचीनकालसे मानव-जीवनमें शिक्षाका विशेष महत्त्व रहा है । तत्त्व-साक्षात्कारसे लेकर चरित्र-निर्माणपर्यन्त जीवनके विविध पक्षोंमें सत्-शिक्षा मानवको सदा उन्नत करती रही है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्ण तो क्या पशु-पक्षी—अश्व, हस्ती, शुक आदि भी यथायोग्य भिन्न-भिन्न शिक्षाओंमें अधिकृत थे । गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रमको सर्वविध सुखमय बनाने-हेतु ब्रह्मचर्याश्रम (बाल्यावस्था) में ही शिक्षाके लिये गुरुकुलमें जाकर अध्ययनद्वारा वेद-वेदाङ्ग आदि शास्त्रोंमें योग्यता प्राप्त की जाती थी । यहाँतक कि भारतभूमिमें अवतार लेनेवाले ईश्वरको भी गुरुद्वारा शिक्षा प्राप्त करनेकी विचित्र परम्पराका निर्वाह यहाँ दृष्टिगोचर होता है—श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्ध, अध्याय पैंतालीसमें स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलरामजी सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये अवन्तीपुर—उज्जैन-निवासी काश्यगोत्रीय श्रीसान्दीपनि मुनिके समीप गये थे—

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ ।

× × × ×

अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः ।
काश्यं सांदीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम् ॥

× × × ×

अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः ।

(३०, ३१, ३६)

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम भी गुरुकुलमें जाकर महर्षि वसिष्ठसे सम्पूर्ण विद्याओंकी शिक्षा स्वल्पकालमें ही ग्रहण कर लेते हैं—

गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई । अलप काल बिद्या सब आई॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ॥

(रा० च० मा० बा० २०४।४-५)

प्राचीन शिक्षा-प्रणालीकी यह विशेषता थी कि वेदसे लेकर रामायणपर्यन्त सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय विद्वानोंको कण्ठस्थ रहते थे । इसीलिये वेदका दूसरा नाम अनुश्रव है; क्योंकि गुरुके उच्चारणके बाद जिसका उच्चारण किया जाय उसे अनुश्रव (वेद) कहते हैं । मुण्डकोपनिषद्में परा तथा अपरा—इन दो विद्याओंका वर्णन है—'**द्वे विद्ये वेदितव्ये—परा चैवापरा च ।**' ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष—ये सभी अपरा विद्याके अन्तर्गत हैं । जिससे अविनाशी परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वह परा विद्या है ।

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ।

पुराकालमें सर्वज्ञ महर्षिगण भी कभी-कभी किसी महापुरुषके समीप जाकर शिक्षा ग्रहण करते थे। छान्दोग्य-उपनिषद्में स्पष्ट है कि एक बार देवर्षि नारद महर्षि सनत्कुमारके समीप शिक्षा ग्रहण करनेके लिये पधारे तथा उनसे प्रार्थना की—'प्रभो ! मुझे उपदेश कीजिये ।' महर्षि सनत्कुमारने कहा—'तुम्हें जो कुछ ज्ञात है उसे बताओ, तत्पश्चात् मेरे प्रपन्न होओ, तब उससे आगे मैं तुम्हें उपदेश करूँगा ।' श्रीनारदजीने कहा—'मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद जानता हूँ। इसके अतिरिक्त इतिहास-पुराणरूप पञ्चम वेद, वेदोंका वेद व्याकरण, श्राद्ध, कल्प, गणित, उत्पातविज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या—यह सब मैं जानता हूँ ।' श्रीसनत्कुमारजीने कहा—'तब तो तुम सब कुछ जानते हो ।' देवर्षि बोले—'मैं मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ । आप-जैसे महापुरुषोंसे मैंने सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पार कर लेता है । मुझे शोक है; अतः आप मुझे शोकसे पार करें ।' इसपर महर्षि सनत्कुमारने देवर्षि नारदको नामकी उपासनाका उपदेश किया । इसका विशद वर्णन छान्दोग्योपनिषद्में किया गया है—'**अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः**

.....**नामैवैतत्'** । इससे स्पष्ट है कि देवर्षि नारदको श्रीसनत्कुमारजीने परा विद्याका ही उपदेश किया था ।

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण साक्षात् वेदावतार है । वेदवेद्य पुरुषोत्तम भगवान् जब दशरथनन्दन श्रीरामके रूपमें अवतीर्ण हुए, तब वेद भी महर्षि वाल्मीकिके द्वारा रामायणके रूपमें अवतरित हुए—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना ॥

जब महर्षि वाल्मीकिने सम्पूर्ण श्रीमद्रामायणका निर्माण कर लिया, तब उन्हें यह चिन्ता हुई कि चौबीस हजार श्लोकोंके इस समग्र आदिकाव्यको कौन कण्ठस्थ करेगा ? महर्षि इस प्रकार चिन्ता कर ही रहे थे कि कुश-लव दोनों भ्राताओंने उनके चरण पकड़कर कहा कि हम दोनों भाई इसे कण्ठस्थ करेंगे ।

धर्मज्ञ, यशस्वी, कुश-लव मुनिवेश धारण किये हुए वस्तुतः राजकुमार ही हैं । चारों वेदोंमें पारङ्गत एवं आश्रमवासी होनेके कारण अत्यन्त प्रीतिसे महर्षिने स्वरसम्पन्न दोनों भाइयोंको देखा । वेदार्थके विस्तारके लिये महर्षिने दोनों भाइयोंको रामायणकी शिक्षा दी—

स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥
(वाल्मी० १ । ४ । ६)

जिस समय महर्षिने कुश-लवको रामायणकी शिक्षा दी थी, उस समय दोनों भाइयोंकी अवस्था प्रायः बारह वर्षकी थी । इस स्वल्प वयमें अङ्गोंसहित समस्त वेद, उपवेदोंका ज्ञान चमत्कार ही कहा जा सकता है—ऋक्, यजुः, साम, अथर्वके भेदसे चार वेद प्रसिद्ध हैं तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र—ये चार उपवेद हैं—

आयुर्वेदो धनुर्वेदो वेदो गान्धर्व एव च ।
अर्थशास्त्रमिति प्रोक्तमुपवेदचतुष्टयम् ॥

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिषके भेदसे वेदाङ्ग छः हैं—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः ।
छन्दसां विचितिश्चेति षडङ्गानि प्रचक्षते ॥

धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा, आन्वीक्षिकी (तर्क-विद्या) अङ्गोंके साथ ये चार उपाङ्ग भी हैं—

धर्मशास्त्रं पुराणं च मीमांसान्वीक्षिकी तथा ।
चत्वार्येतान्युपाङ्गानि शास्त्रज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥

इन समस्त वेद-शास्त्रोंमें तो कुश-लवजी निष्णात थे ही, किंतु संगीत-शास्त्रमें उनकी प्रतिभा असाधारण थी । वे वीणावादनसे लेकर मूर्छनापर्यन्त संगीतकी समस्त विद्याओंमें पारङ्गत थे । उन्होंने चौबीस हजार श्लोकोंको कण्ठस्थ कर गान किया था—

वाचो विधेयं तत्सर्वं कृत्वा काव्यमनिन्दितौ ।
× × × ×
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ ॥

'वाचो विधेयम्'का अर्थ है—बारंबार आवृत्ति करनेसे जो प्रबन्ध अपनी वाणीके वशमें हो जाता है उसे **'वाचो विधेयम्'** कहते हैं । इस प्रकार मैथिली-पुत्र श्रीकुश-लवजीकी वाणीके वशमें श्रीमद्रामायण महाकाव्य था । इन्होंने संत महापुरुषों, ऋषि-महर्षियोंके मध्य एवं भगवान् श्रीरामके दरबारमें रामायण महाकाव्यका गान कर अपनी असाधारण योग्यताको प्रकट कर दिया ।

इसी प्रकार रुद्रावतार ज्ञानियोंमें अग्रगण्य श्रीहनुमान्‌जी भगवान् सूर्यके पास पधारे । भगवान् सूर्यने बाल्यकालमें इन्हें वरदान देते समय कहा था कि जब इन्हें शास्त्राध्ययन करनेकी सामर्थ्य आ जायगी तब किशोरावस्थामें इन्हें शास्त्रोंका ज्ञान प्रदान करूँगा, जिससे ये महान् वक्ता होंगे तथा शास्त्रज्ञानमें इनकी समता करनेवाला कोई नहीं होगा । तदनुसार श्रीहनुमान्‌जी व्याकरणशास्त्रका अध्ययन करनेके लिये श्रीसूर्य भगवान्‌के पास पहुँचे तथा सूर्यकी ओर मुख करके वे महान् ग्रन्थका अध्ययन करते हुए उनके आगे-आगे उदयाचलसे अस्ताचलतक जाते थे । उन्होंने इसी क्रमसे अत्यन्त क्लिष्ट कर्म करके सूत्र, वृत्ति, वार्तिक, महाभाष्य, व्याडिकृत-संग्रह आदि समस्त ग्रन्थोंका भलीभाँति अध्ययन किया । शास्त्रोंके ज्ञान तथा छन्दः-शास्त्रके ज्ञानमें भी उनकी समता करनेवाला दूसरा कोई विद्वान् नहीं हुआ । समस्त विद्याओंके ज्ञान तथा तपमें वे देवगुरु

बृहस्पतिकी समता करते हैं । श्रीहनुमान्‌जी नवों व्याकरणोंके ज्ञाता हैं—

असौ पुनर्व्याकरणं ग्रहीष्यन् .....

ब्रह्मा भविष्यत्यपि ते प्रसादात्।

(वा॰ रा॰ ७ । ३६ । ४५, ४६)

वटु-वेषधारी श्रीहनुमान्‌जीने किष्किन्धाकाण्डमें जब भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणसे उनका परिचय करनेकी जिज्ञासा की थी, उस समय उनकी सुव्यवस्थित और मधुर वाणी सुनकर इनके असाधारण पाण्डित्य एवं माधुर्यकी प्रशंसा करते हुए स्वयं श्रीरघुनाथजीने कहा था—'लक्ष्मण ! जिसे ऋग्वेदकी शिक्षा प्राप्त न हुई हो, जिसने यजुर्वेदका अभ्यास न किया हो तथा जो सामवेदका विद्वान् न हो वह इस प्रकार सुन्दर भाषामें वार्तालाप करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, अतः निश्चय ही इन्होंने सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्रका अनेक बार स्वाध्याय किया है; क्योंकि बहुत बोलनेपर भी इन्होंने किसी अशुद्ध वाक्यका उच्चारण नहीं किया—एक भी अशुद्धि नहीं हुई । सम्भाषणके समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य अङ्गोंमें कोई दोष प्रकट नहीं हुआ ।'

पाणिनीय शिक्षामें स्पष्ट है कि गाकर, अतिशीघ्र, सिरको हिलाकर, स्वयं लिखकर, अर्थज्ञानरहित, अत्यन्त धीमे स्वरमें अस्पष्ट उच्चारण—ये छः पाठक एवं वक्ताके दोष हैं । (जो श्रीहनुमान्‌जीमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते ।) सिर, भौंह, नेत्र तथा शरीरके अन्य अङ्गोंको बिना हिलाये तैलपूर्ण पात्रकी भाँति स्वयंको स्थिर रखकर प्रत्येक वर्णका प्रयोग (उच्चारण) करना चाहिये[1]।

श्रीहनुमान्‌जीने बिना विस्तार किये, थोड़ेमें ही अत्यन्त स्पष्ट संदेहरहित, बिना रुके किंतु धीरे-धीरे अद्रुत मधुर वाणीका उच्चारण किया है । इनकी वाणी हृदयमें मध्यमारूपसे स्थित है तथा कण्ठसे वैखरीरूपमें प्रकट होती है, अतः वार्तालाप करते समय इनका स्वर अत्यन्त मन्द या ऊँचा नहीं था । मध्यम स्वरमें ही इन्होंने वार्तालाप किया है ।

श्रीहनुमान्‌जीने संस्कार और क्रमसे सम्पन्न, अद्रुत, अविलम्बित तथा हृदयहारिणी कल्याणमयी वाणीका उच्चारण किया है । हृदय, कण्ठ और मूर्धा—इन तीन स्थानोंद्वारा स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त होनेवाली इनकी इस विचित्र वाणीको सुनकर किसका चित्त प्रसन्न न होगा ? यह वाणी वध करनेके लिये तलवार उठाये हुए शत्रुके चित्तको भी विमुग्ध कर लेगी, फिर सज्जनों एवं मित्रोंके मनको आकृष्ट कर ले इसमें आश्चर्य ही क्या है ?[2]

इस प्रकार विद्याओंके सागर होनेपर भी रुद्रावतार श्रीहनुमान्‌जीने सूर्यसे व्याकरणशास्त्रकी शिक्षा ग्रहण कर अपने वैदुष्यसे श्रीराघवेन्द्रको भी चकित कर दिया ।

रामायणकालमें तो अयोध्यानगरीमें कोई भी मनुष्य अविद्वान्, मूर्ख एवं नास्तिक दृष्टिगोचर नहीं होता था। वेदके छः अङ्गोंके ज्ञानसे रहित उस पुरीमें कोई नहीं था अर्थात् सभी वेदज्ञ और शास्त्रज्ञ थे । उस कालमें शिक्षाका अत्यधिक प्रचार-प्रसार था—

द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः ॥

× × × ×

नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः ॥

(वा॰ रा॰ १ । ६ । ८,१५)

इतना ही नहीं, उस समय राक्षस भी वेदोंमें पारङ्गत तथा यज्ञ-यागादिका यजन करनेमें दत्तचित्त होते थे। श्रीजानकीजीके अन्वेषणार्थ जब श्रीहनुमान्‌जी लङ्काकी अशोकवाटिकामें पहुँचे, उस समय श्रीसीताजीका दर्शन कर परम हर्षित हो श्रीहनुमान्‌जी शिंशपा वृक्षपर ही छिपे रहे । उस समय एक पहर रात्रि अवशिष्ट थी । रात्रिके उस पिछले पहरमें छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान्

---

१. गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः । अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥
न शिरः कम्पयेद् गात्रं भ्रुवौ चाप्यक्षिणी तथा । तैलपूर्णमिवात्मानं तत्तद्वर्णे प्रयोजयेत् ॥

२. संस्कारक्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम् । उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहारिणीम् ॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया । कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥

तथा श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा यजन करनेवाले ब्रह्मराक्षसोंके घरमें होनेवाले वेदपाठकी ध्वनिका श्रीहनुमान्‌जीने श्रवण किया—

षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मनिर्घोषं विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥

इसी प्रकार स्त्रियाँ भी शिक्षाओंमें पारङ्गत, शास्त्रज्ञा एवं मन्त्रवेत्री होती थीं। महारानी कौसल्या श्रीरामके राज्याभिषेकका संवाद श्रवणकर उनकी मङ्गलकामनासे भगवान् विष्णुका पूजन कर रही थीं। भगवान् श्रीरामने अन्तःपुरमें प्रविष्ट होकर देखा कि श्रीकौसल्याम्बा रेशमी वस्त्र धारण कर अत्यन्त हर्षपूर्ण हृदयसे व्रत करती हुई मङ्गलकृत्य पूर्णकर ब्राह्मणोंद्वारा अग्निमें आहुतियाँ दिला रही थीं—

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला॥

किंतु जब श्रीकौसल्याम्बाने प्रभु श्रीरामके वनगमनका समाचार सुना, तब अन्तमें उन्होंने अपने प्यारे पुत्रके लिये (अयोध्याकाण्डके पचीसवें सर्गमें) जो मङ्गलाशासन किया है इससे उनके असाधारण वैदुष्यका प्रबल प्रमाण उपलब्ध होता है। माताने श्रीरामको आशीर्वाद देते हुए कहा—'महर्षियोंसहित साध्य, विश्वेदेव, मरुद्गण, धाता, विधाता, पूषा, भग, अर्यमा, इन्द्र, लोकपाल, स्कन्ददेव, सोम, बृहस्पति, सप्तर्षिगण, नारद आदि समस्त देवता तुम्हारा कल्याण करें। छहों ऋतुएँ, मास, संवत्सर, रात्रि, दिन, मुहूर्त सभी तुम्हारा मङ्गल करें तथा श्रुति, स्मृति, धर्म आदि सभी ओरसे तुम्हारी रक्षा करें।'

इस प्रकार विस्तारपूर्वक मङ्गलाशासन करके विशाललोचना श्रीकौसल्याजीने श्रीरामके मस्तकपर चन्दन, अक्षत और रोली लगायी तथा सम्पूर्ण मनोरथोंको सिद्ध करनेवाली विशल्यकरणी नामक शुभ औषध लेकर रक्षाके उद्देश्यसे मन्त्र पढ़ते हुए उसे श्रीरामके हाथमें बाँध दिया तथा उसमें उत्कर्ष लानेके लिये मन्त्रका जप भी किया एवं स्पष्टरूपसे मन्त्रोच्चारण भी किया—

ओषधिं च सुसिद्धार्थां विशल्यकरणीं शुभाम्।
चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च॥

मङ्गलाशासन-प्रसङ्गसे स्पष्ट है कि महारानी कौसल्या पौराणिक गाथाओंसे भी सुपरिचित थीं।

त्रिदेहनन्दिनी श्रीजानकीजीके तो वैदुष्यकी कोई सीमा ही नहीं है। वे लोकगाथाओंसे लेकर पौराणिक गाथाओं, राजधर्म आदि विषयोंकी सम्यक् ज्ञात्री हैं। वे अपने प्रियतम प्रभु श्रीरामकी मङ्गलकामना करती हुई कहती हैं—'आप राजसूय-यज्ञमें दीक्षित होकर व्रतसम्पन्न श्रेष्ठ मृगचर्मधारी, पवित्र एवं हाथमें मृगका शृंग धारण करनेवाले हों—इस रूपमें मैं आपका दर्शन करती हुई आपकी सेवा करूँ।'—

दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम्।
कुरङ्गशृङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम्॥

पुनः मङ्गलाशासन करते हुए उन्होंने कहा—'पूर्व दिशामें वज्रधारी इन्द्र, दक्षिण दिशामें यमराज, पश्चिम दिशामें वरुण और उत्तर दिशामें कुबेर आपकी रक्षा करें'—

पूर्वां दिशं वज्रधरो .... धनेशस्तूत्तरां दिशम्।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकके शुभ संवादको श्रवणकर राजधर्मोंको जाननेवाली श्रीसीताजी सामयिक कर्तव्योंको पूराकर तथा देवताओंका अर्चन करके प्रसन्न-चित्तसे श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं—

देवकार्यं स्वयं कृत्वा कृतज्ञा हृष्टचेतना।
अभिज्ञा राजधर्माणां राजपुत्रं प्रतीक्षते॥

इसी प्रकार परम विदुषी श्रीजानकीजीको रावणसे संस्कृतमें वार्तालाप करते देखकर ही श्रीहनुमान्‌जीने विचार किया था कि यदि मैं द्विजकी भाँति संस्कृत-भाषाका प्रयोग करूँगा तो श्रीसीताजी मुझे रावण समझकर भयभीत हो जायँगी, अतः मैं उनसे लोकभाषा अवधीमें ही वार्तालाप करूँगा—

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥
अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्।

(वा० रा० सु० ३०। १८, १९)

रावण-वधके पश्चात् श्रीमैथिलीने हनुमान्‌जीको प्राचीन

पौराणिक गाथा सुनाकर राक्षसियोंके वधसे विरत कर दिया था—

अयं व्याघ्रसमीपे तु पुराणो धर्मसंहितः ।
ऋक्षेण गीतः श्लोकोऽस्ति तं निबोध प्लवङ्गम ॥

इतना ही नहीं, वाल्मीकि-रामायणके अनेक स्थलोंमें श्रीजानकीजीका वैदुष्य प्रकट हुआ है । वालिपत्नी ताराको भी महर्षिने मन्त्रवेत्री कहा है—तारा पतिकी विजय चाहती थी और उसे मन्त्रका भी ज्ञान था, इसलिये उसने वालिकी मङ्गल-कामनासे स्वस्तिवाचन किया—

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद्विजयैषिणी ।

(वा० रा० ४।१६।१२)

एतावता वाल्मीकि-रामायणमें प्राचीन भारतकी शिक्षा-पद्धतिका सम्यक् दर्शन होता है तथा स्त्रीशिक्षाका महत्त्व भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । यदि आजके युगमें भी प्राचीन शिष्य-परम्परा और नैतिकतापूर्ण शिक्षाका अनुसरण किया जाय तो देशका भविष्य उज्ज्वल होकर सर्वत्र शान्तिकी स्थापना हो सकती है ।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका विद्याध्ययन

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

उपनीता वसिष्ठेन सर्वविद्याविशारदाः ।
धनुर्वेदे च निरताः सर्वशास्त्रार्थवेदिनः ॥

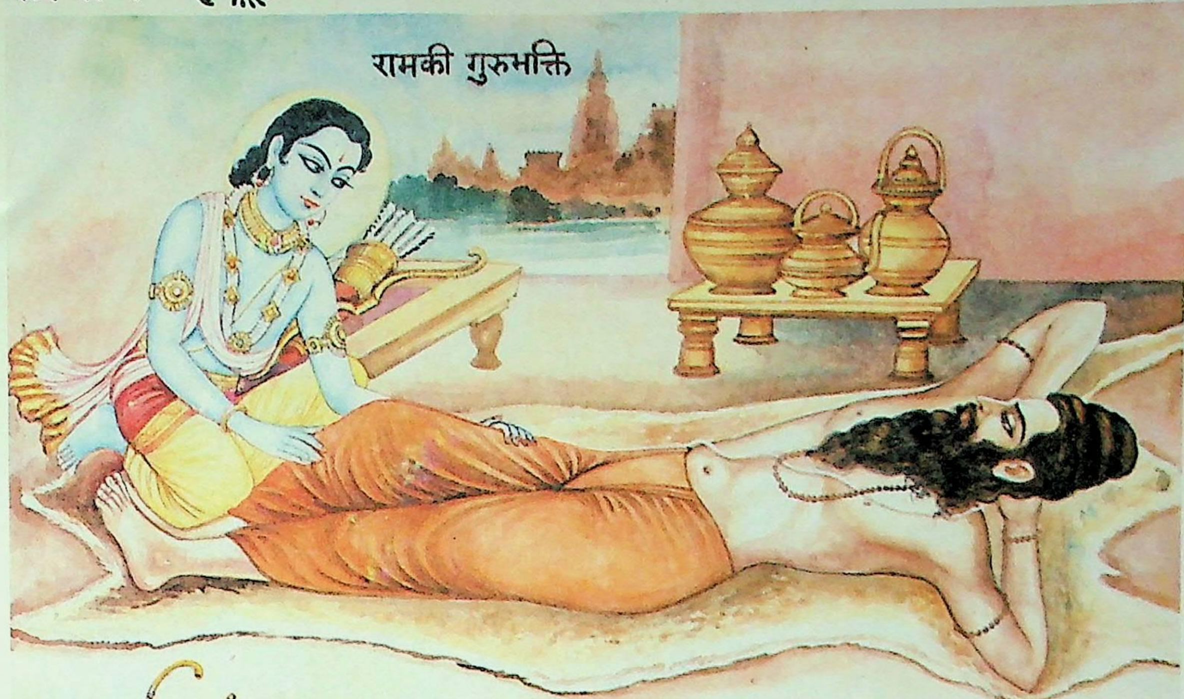
गुरु वसिष्ठजीने चारों भाइयोंका उपनयन-संस्कार किया । रघुनाथजी भाइयोंके साथ गुरु वसिष्ठजीके घर विद्याध्ययनके लिये गये । प्राचीन कालमें ऐसी मर्यादा थी कि महाराजाका पुत्र क्यों न हो, किंतु उसे भी पढ़ानेके लिये गुरु राजमहलमें नहीं जाते थे । राजकुमार गुरुके आश्रममें जाकर ही वेद-शास्त्रका अध्ययन करता था । आजकल तो मास्टर लड़केको पढ़ानेके लिये घर जाता है । मास्टर घरमें पढ़ाने आवे तो लड़का ऐसा समझता है कि मेरे पिताने यह एक नौकर रख लिया है । मास्टरमें ऐसी श्रद्धा नहीं होती कि यह तो ज्ञानदान करनेवाला गुरु है। गुरुदेवका ऋण अनन्त है । सद्गुरुकी कृपासे ही ज्ञान सफल होता है ।

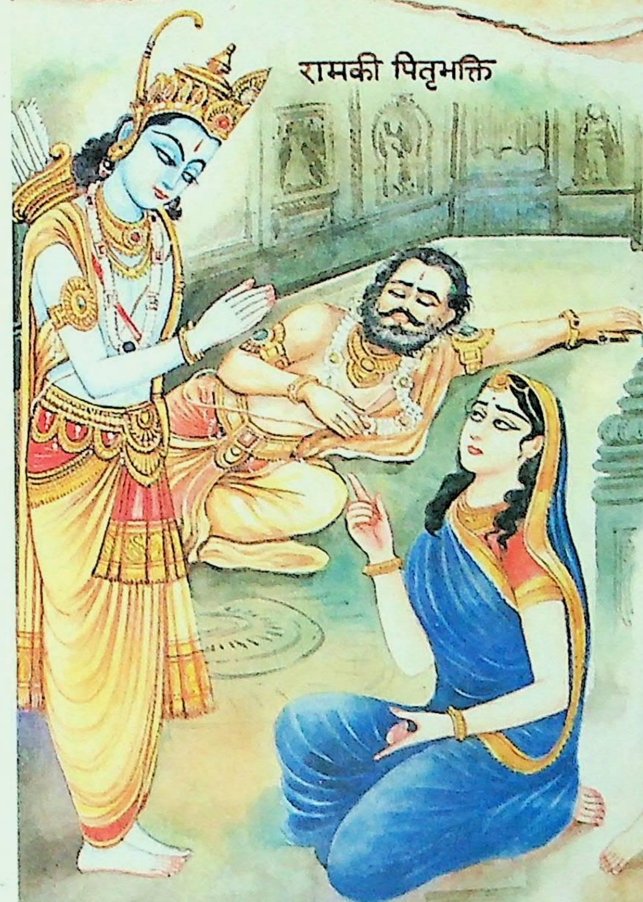
श्रीराम पढ़नेके लिये गुरु वसिष्ठजीके आश्रममें गये थे । श्रीराम परमात्मा हैं, परंतु इस संसारमें आनेके बाद उन्हें भी गुरुदेवकी आवश्यकता पड़ती है । यह संसार ऐसा मायामय है कि इसमें जो कोई आता है उसे कुछ-न-कुछ माया तो व्याप्त होती ही है । कोयलेकी खानमें कोई उतरे और बढ़-चढ़कर बातें करे कि 'मैं बहुत चतुर हूँ, सावधान रहता हूँ कि जिससे मुझे तनिक-सा भी काला धब्बा न लगे'—क्या यह शक्य है ? अरे ! जो कोयलेकी खानमें उतरा है, उसे तो धब्बा लगना ही है । यह संसार मायामय है । इस मायामय संसारमें जो कोई आया, उसे कुछ तो माया व्यापती ही है ।

मायासे बचना हो तो सद्गुरुकी शरणमें जाना अत्यन्त आवश्यक है—

माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पडन्त।
कहै कबीर गुरु ग्यान ते एक आप उबरन्त॥

श्रीरामचन्द्रजी तो परमात्मा हैं, मायारहित शुद्ध ब्रह्म हैं । श्रीरामजी जगत्को ज्ञान देते हैं कि 'मैं ईश्वर हूँ, उसपर भी मुझे सद्गुरुकी आवश्यकता पड़ती है ।' आजकल तो बहुत-से लोग आराम-कुर्सीपर पड़े-पड़े पुस्तकें पढ़कर ही ज्ञानी हो जाते हैं और व्याख्यान भी अच्छा देते हैं । पुस्तकोंको पढ़कर मिला हुआ ज्ञान तुम्हें कदाचित् दो पैसा प्राप्त करा दे, प्रतिष्ठा दिला दे, परंतु अंदरकी शान्ति नहीं दिलायेगा । पुस्तकें पढ़कर मिला हुआ ज्ञान भूल जाता है । छः-आठ महीने कोई न पढ़े तो धीरे-धीरे उसे भूलने लग जाता है । पुस्तकोंसे मिला हुआ ज्ञान पुस्तकोंमें ही रहता है, मस्तकमें आता नहीं





रामकी मातृभक्ति

भगवान

श्रीरामकी गुरुजनभक्ति

और आ भी जाय तो ठहरता नहीं, किंतु परमात्माकी कृपासे जिसे ज्ञान मिला है, वह भूलता नहीं। जिसे सद्‌गुरुका आशीर्वाद मिला है, जिसने सद्‌गुरुकी सेवा की है, उसका ज्ञान स्थायी होता है। गुरुदेवके आशीर्वादसे ज्ञानमें स्थिरता आती है। ज्ञान मिलना बहुत कठिन नहीं, अपितु उसका स्थिर रहना बहुत कठिन है।

मनुष्य मूर्ख नहीं, परंतु मनुष्यका ज्ञान स्थिर रहता ही नहीं। परमात्मा जिसे ज्ञान देते हैं, उसीका ज्ञान स्थिर रहता है। परमात्माको जिसपर दया आयी, उसीको विषयोंमें वैराग्य दीखता है। उसीको संसारके सुख तुच्छ लगते हैं। संसार-सुखके प्रति मनमें घृणा आवे तो मानना चाहिये कि परमात्माने कृपा की है। पूर्ण संयमके बिना ज्ञान आता नहीं। पुस्तकें पढ़कर जो शब्दज्ञान मिलता है, उससे अभिमान हो जाता है, किंतु सद्‌गुरु-कृपासे, ईश्वर-कृपासे प्राप्त हुआ ज्ञान विनय, विवेक, सद्‌गुण और सदाचार लाता है।

पारसके परसन ते, कंचन भई तलवार।
तुलसी तीनों ना गये, धार मार आकार॥
ज्ञान हथौड़ा हाथ लै, सद्‌गुरु मिला सुनार।
तुलसी तीनों मिट गये, धार मार आकार॥

सद्‌गुरु ही संसार-सागरके माया-मगरसे बचाते हैं, अंदरकी वृत्तियोंका विनाश करते हैं, वासना-विकार मिटा देते हैं और संसार-सागरसे पार करा देते हैं। ऐसे सद्‌गुरुकी आज उपेक्षा होती है और केवल पुस्तकीय ज्ञानका प्रचार चलता है। बहुत वर्षोंतक पुस्तक पढ़ते हुए भी जो ज्ञान नहीं प्राप्त होता, वह संतकी कृपासे क्षण-मात्रमें प्राप्त हो जाता है। किसी संत महापुरुषकी तन, मन, धनसे सेवा करोगे तो संतका हृदय पिघलेगा और अन्तरका आशीर्वाद प्राप्त होगा। सेवासे विद्या सफल होती है। श्रीरामजी गुरुकुलमें रहकर गुरुजीकी सेवा करने लगे। श्रीकृष्णने भी सांदीपनि ऋषिके आश्रममें रहकर गुरुजीकी खूब सेवा करके ज्ञान प्राप्त किया था।

भगवान् शंकर माँ पार्वतीसे कहते हैं—'देवि! जिन परमात्माकी श्वाससे वेद प्रकट हुए हैं, वे ही भगवान् गुरु वसिष्ठके घर पढ़ने बैठे हैं।' धनुर्वेदका अध्ययन प्रभुने वहीं किया। समस्त वेद-शास्त्रोंका अध्ययन किया। श्रीरामजीने गुरु वसिष्ठके पास पैसा कमानेकी विद्या नहीं पढ़ी, अध्यात्म-विद्या पढ़ी थी। आत्माका स्वरूप क्या है? परमात्मा क्या है? कैसा है? आत्मा-परमात्माका सम्बन्ध क्या है? यह जगत् क्या है? जीवन क्या है? जीवनका लक्ष्य क्या है? इस अध्यात्म-विद्याका श्रीरामजीने अध्ययन किया था।

आजकल अधिकतर स्कूल-कॉलेजोंमें पैसा कमानेकी ही विद्या पढ़ायी जाती है। जीवनमें पैसेकी आवश्यकता है, परंतु पैसा मुख्य नहीं, परमात्मा मुख्य है। ऋषियोंने धनको साधन माना है, साध्य नहीं। पैसा कमानेकी विद्या कोई विद्या नहीं। अध्यात्म-विद्या ही विद्या है। संसार-बन्धनसे छुड़ानेवाली विद्या ही सच्ची विद्या है। आजकल ज्ञान तो बहुत बढ़ा है, परंतु उसका उपयोग छल-कपट करनेमें ही होता है। यह भी क्या ज्ञान है? यह कोई विद्या कही जा सकती है? सच्ची विद्या तो यह है कि जिसे प्राप्त होनेपर आत्म-स्वरूपका ज्ञान हो। शरीर और इन्द्रियोंका सुख मेरा सुख नहीं। मैं शरीरसे भिन्न हूँ। शरीरसे आत्मा पृथक् है—जो ऐसा ज्ञान प्रदान करे, वही विद्या सच्ची है। सच्ची विद्या वही है जो जीवको प्रभुके चरणोंमें ले जाती है, मुक्ति दिलाती है—**सा विद्या या विमुक्तये।**

ज्ञान पैसा कमानेके लिये नहीं, प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये नहीं, अपितु परमात्माको प्राप्त करनेके लिये है। ज्ञान ईश्वरकी आराधना करनेके लिये है, परमात्माके साथ एक होनेके लिये है। जिसके जीवनमें पैसा और काम-सुख मुख्य है, उसका जीवन व्यर्थ है। जो विद्याका उपयोग भोगके लिये करे, वह विद्वान् नहीं। विद्याका उपयोग जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेके लिये करे, वह विद्वान् है। विद्याके साथ संयम तथा सदाचारका शिक्षण मिले तभी विद्या सफल होती है। प्राचीन कालमें ऋषि ब्रह्मचारीको विद्याके साथ संयम-सदाचारका शिक्षण देते थे।

पढ़ानेवाले ऋषि जितेन्द्रिय और विरक्त होते थे, इसलिये पढ़नेवाले विद्यार्थियोंमें भी संयम उत्पन्न होता था। संयम ही सुख देनेवाला है। विद्यार्थी-अवस्थामें

संयमकी अत्यन्त आवश्यकता है । गुरुकुलमें रहकर तीन बार संध्या करना, वेदाध्ययन करना, सादा भोजन करना, गुरुकी सेवा करना—इन सब प्रकारके सद्‌गुणोंका संग्रह करते हुए विद्यार्थी संयम और सात्त्विकता जीवनमें उतारते थे । बड़े-बड़े राजाओंके बालक भी गुरुकुलमें रहते हुए सादा भोजन करते और सादा जीवन व्यतीत करते थे ।

गुरुके संस्कार विद्यार्थियोंमें आते हैं । डिग्री मिले, इससे गुरु होनेका अधिकार नहीं मिल जाता । जो विलासी जीवन बितावे और वह 'शांकरभाष्य' पढ़ावे, उसका कोई अर्थ नहीं । गृहस्थाश्रमी विलासी जीवन व्यतीत करे, वह तो किसी प्रकार क्षम्य है, परंतु विद्यार्थी विलासी जीवन बितावे, यह बिलकुल अक्षम्य है; क्योंकि विद्यार्थी यदि विलासमें फँसे तो विद्याका नाश हो जाता है ।

भारतमें जबतक ब्रह्मचर्य-आश्रमका पालन होता था, तबतक भारत-भूमि दिव्य थी । जबसे ब्रह्मचर्यकी प्रथा छिन्न-भिन्न हुई, तबसे अपने देशकी दशा बिगड़ने लगी । एक साधुने हमसे कहा—अपने भारतकी दशा कहाँसे बिगड़ी ? इस देशमें सिनेमा, रेडियो आये, तबसे भारतकी दशा बहुत ही बिगड़ने लगी । सहशिक्षणके दूषणका प्रवेश हुआ, तबसे बहुत ही बिगड़ी । लड़के-लड़कियाँ एक साथ पढ़ें और संयम रखें, यह कठिन है ।

ब्रह्मचारी स्त्रीका स्पर्श न करे, स्त्रीका चित्र भी न देखे, शृंगारके गीत न सुने और न गाये । वह क्रम-क्रमसे संयमका पालन करे । श्रीरामचन्द्रजीने पूर्ण संयमका पालन किया, जिससे छोटी अवस्थामें थोड़े समयमें ही उन्होंने वेदाभ्यासमें निपुणता प्राप्त कर ली । विद्याध्ययनके उपरान्त श्रीरामचन्द्रजी पिताकी आज्ञा लेकर तीर्थयात्रा करने गये। वहाँसे लौटनेके पश्चात् उनके मनमें उदासी छा गयी। भगवान्‌की यह लीला थी । परमात्माको इसके द्वारा जगत्‌को वैराग्यका उपदेश दिलानेकी इच्छा थी । श्रीरामजी उपदेश देते हैं आचरणसे । वे बहुत बोलते नहीं, परंतु आचरण करके बताते हैं । उन्होंने जीवनमें वैराग्यका आचरण करके बताया । उनकी उस समय सोलह वर्षकी अवस्था थी, वे विचारने लगे कि जो आज खिला हुआ है उसे कल मुरझाना है, कुम्हलाना है । जिसका आज विकास है, उसका आनेवाले कलको विनाश है । यौवन क्षणभङ्गुर है । वृद्धावस्था तो अवश्य आनी ही है। क्षणिक सुखके लिये मनुष्य पूरे दिन मन्थन करे और उसीमें जीवन बिगाड़े, यह अज्ञान है । इस जीवनमें सच्चा सुख क्या है ? सच्चा सुख कहाँ है ? इस जगत्में जो कुछ भी दिखायी देता है, वह सब झूठा है, अनित्य है । ऐसे अनित्य सुखके पीछे जीवन गवाँना उचित नहीं । हमें शाश्वत सुखकी खोज करनी चाहिये, जहाँ परम शान्ति प्राप्त होती है ।

शिक्षकका वास्तविक विद्या-प्रेम

यदि शिक्षक स्वयं अध्ययन नहीं करता तो वह सच्ची शिक्षा नहीं दे सकता । जो दीपक स्वयं बुझ गया है, वह दूसरे दीपकको क्या जलायेगा ? यदि किसी शिक्षकने अपने विषयके अध्ययनकी इतिश्री कर ली है, जिसने अपना ज्ञानवर्धन समाप्त कर दिया है और जो पिछली बातें ही दुहराता है, वह विद्यार्थियोंके प्रति न्याय नहीं करता । वह उनका मस्तिष्क प्रखर नहीं बना सकता । अतः शिक्षकको यावज्जीवन अध्ययनपरायण रहना चाहिये ।

—गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर

राष्ट्रिय शिक्षा-नीति

[भारत-सरकारद्वारा २९ जून १९६७को अन्तिमरूपसे तैयार किये गये राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिके प्रारूपपर असहमति टिप्पणीके कतिपय अंश]

(ब्रह्मलीन महन्त श्रीदिग्विजयनाथजी)

मुझे ऐसा लगता है कि प्रस्तावित राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिके प्रारूपके पहले पैरेमें उल्लिखित शिक्षाके उद्देश्यकी अभिव्यक्ति उचित शब्दोंमें नहीं की गयी है। मेरे विचारसे इसकी भाषा इस प्रकार होनी चाहिये—'शिक्षा राष्ट्रिय, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकासका एक प्रबल साधन है। अतः राष्ट्रिय शिक्षा-प्रणालीके विकासको सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिये, जो भारतवासियोंमें देशकी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृतिपर आधारित एक राष्ट्रिय व्यक्तित्वका विकास करे।'

वर्तमान भारतीय शिक्षा-पद्धतिका वास्तविक दोष यह है कि वह मैकालेके २ फरवरी १८३५के कुख्यात मिनिटपर आधारित है, जिसका मुख्य उद्देश्य उसीके शब्दोंमें इस प्रकार था—'इस समय हमें एक ऐसा वर्ग बनानेका प्रयास करना चाहिये, जो हमारे तथा हमारे शासनाधीन करोड़ों लोगोंके बीच द्विभाषियेका काम करे। ऐसे व्यक्तियोंका वर्ग रक्त तथा रंगमें तो भारतीय हो, किंतु रुचियों, विचारों, नैतिकता तथा बुद्धिकी दृष्टिमें अंग्रेज हो।' भारतसरकार ७ मार्च १८३५से आजतक इसी उद्देश्यकी पूर्तिमें लगी हुई है। भारतमें अंग्रेजी शिक्षाको प्रारम्भ कराते समय मैकालेके मनमें एक दूसरा विचार भी था, उनके अनुसार 'मुझे उन (पूर्वी भाषाओंके समर्थकों) में एक भी सदस्य ऐसा नहीं मिला, जो इस बातसे इनकार करता हो कि किसी एक उच्च स्तरीय यूरोपियन पुस्तकालयकी एक आलमारीके एक खानेमें जितना ज्ञान भरा होता है उसकी तुलनामें भारत तथा अरबका समूचा साहित्य कुछ भी नहीं है।' पिछली सात पीढ़ियोंमें मैकालेकी यह धारणा भारतवासियोंके मस्तिष्कमें निरन्तर इस प्रकार घर कर गयी है कि आज प्रत्येक भारतवासी हर भारतीय वस्तुको घटिया तथा हर पाश्चात्त्य वस्तुको उच्चकोटिका समझता है। ऐसी परिस्थितियोंमें भारतमें शिक्षाके पुनर्निर्माणका आधारभूत लक्ष्य इस धारणा तथा इसपर आधृत व्यवस्थाको नष्ट किया जाना चाहिये, जिससे भारतकी नयी पीढ़ियोंके हृदयमें हीनताकी यह भावना न रहे तथा नवयुवकोंमें हमारे महान् देशकी प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यतापर आधारित एक राष्ट्रिय भावनाका विकास हो सके।

२८ अप्रैल १९६८ को नयी दिल्लीमें हुए राज्यशिक्षा-मन्त्रियोंके दसवें सम्मेलनके प्रारम्भिक अधिवेशनके अवसरपर अपने भाषणमें तत्कालीन शिक्षामन्त्री महोदयने कहा था—'राष्ट्रिय जागरूकतामें वृद्धि और राष्ट्रिय एकीकरण तथा एकताके दृढीकरणका कार्यक्रम भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रताके पश्चात् सर्वप्रथम देशभक्तिका ही नाश हुआ। अब आवश्यकता इस बातकी है कि राष्ट्रिय जागरूकताकी वृद्धि तथा राष्ट्रिय एकीकरण एवं एकताके दृढीकरणका उत्तरदायित्व शिक्षा-संस्थाएँ सँभालें।' इस सम्मेलनका उद्घाटन करते हुए तत्कालीन प्रधानमन्त्रीने स्पष्ट रूपसे कहा था—'कुछ तो स्वयं प्रणालीके कारण और कुछ अन्य कारणोंसे वर्तमान समयकी स्थितिके फलस्वरूप शिक्षा-पद्धतिने एक बड़ी मात्रामें पृथक्ता तथा मूलतत्त्वोंकी शून्यताको जन्म दिया। अनेक नवयुवक तो परम्परागत मूल्योंको खो बैठे हैं और साथ ही उनके स्थानपर उन्हें किसी प्रकारके आधुनिक रचनात्मक मूल्योंका आश्रय प्राप्त नहीं हुआ है। शिक्षाके सम्बन्धमें देशके सर्वोच्च नेताओंके भावोंसे इस बातका तो स्पष्ट संकेत मिलता है कि भविष्यके लिये हमारी शिक्षा-पद्धतिका पुनर्गठन किस प्रकार किया जाना चाहिये।' शिक्षा-आयोगसे मुझे ऐसी आशा थी कि वह स्पष्ट करता कि राष्ट्रियकरणकी इस प्रक्रियाके

बदलनेका काम हमारी पुनर्गठित शिक्षा-प्रणाली किस प्रकारसे करेगी, जिससे भावी पीढ़ियोंमें एक राष्ट्रिय व्यक्तित्वका उदय हो सके। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस शिक्षा-आयोगका निर्माण प्रारम्भसे ही दोषपूर्ण था। शिक्षा-आयोगकी रिपोर्टमें हमारी राष्ट्रिय अनेकताकी बातपर अत्यधिक बल दिया गया है। उदाहरणके रूपमें कहा गया है कि 'हमारे राष्ट्रमें विभिन्न धर्मावलम्बी हैं और जाति तथा अप्रजातन्त्रात्मक धाराके कारण स्थिति और भी जटिल हो गयी है। शिक्षाको परम्पराओंपर आधारित न होनेके फलस्वरूप शिक्षित वर्ग अपनी ही संस्कृतिसे दूर होता जा रहा है। स्थानीय धार्मिक भाषाई तथा राज्य-सम्बन्धी निष्ठाओंके अभावसे लोग भारतके समूचे रूपको ही भूल गये हैं—इससे सामाजिक विघटनके असंख्य लक्षण सर्वत्र दृष्टिगत हो रहे हैं और बढ़ते ही जा रहे हैं।' भारतीय समाजके सम्बन्धमें यह कहना भ्रमपूर्ण है। संसारमें कोई भी बड़ा देश ऐसा नहीं, जिसमें अल्पसंख्यक न रहते हों, किंतु इन अल्पसंख्यकोंके कारण इन राष्ट्रोंका स्वरूप नहीं बदल जाता। इसलिये आजका यह बहुचर्चित मत मूलतः असत्य है कि भारत एक बहुधर्मी तथा बहुभाषी देश है।

शिक्षा-आयोगने धर्मनिरपेक्ष शब्दपर अनावश्यक बल दिया है। भ्रमपूर्ण अर्थमें प्रयुक्त यह शब्द बड़ा पवित्र माना जाने लगा, जबकि वास्तवमें यह अर्थहीन है। इसमें केवल भौतिकताकी ही गन्ध आती है। यही कारण है कि भारतके संविधानमें इस शब्दको कोई स्थान प्राप्त नहीं है। इसमें आगे कहा गया है कि बहुधर्मी धर्म-निरपेक्ष राज्यके लिये किसी एक धर्मकी शिक्षाकी व्यवस्था करना व्यवहार्य नहीं होगा।

स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्रीलालबहादुरशास्त्रीने एक बार कहा था कि 'भारतके प्रत्येक राज्यमें एक संस्कृत-विश्वविद्यालय होना चाहिये।' किंतु श्रीशास्त्रीजीके इस आवश्यक सुझावका शिक्षा-आयोगने कोई समर्थन नहीं किया। जैसा हम सभी जानते हैं कि संस्कृत-भाषा समस्त ज्ञान तथा विज्ञानका बृहत् भण्डार है। चाहे वह गणित हो या खगोल विद्या, चाहे गणित ज्योतिष हो या शल्य-चिकित्सा, चाहे दर्शनशास्त्र हो या तर्कशास्त्र या कोई अन्य विज्ञान हो, संस्कृत-भाषा समस्त भारतीय भाषाओं और समस्त विज्ञानोंकी जननी है, अतः उसका अध्ययन आरम्भसे ही समस्त छात्रोंके लिये अनिवार्य कर दिया जाना चाहिये, जिससे वे जब बड़े हों तो इस भाषाके पण्डित बन सकें और परम्परा-प्राप्त वैज्ञानिक खोज और आविष्कारको आसानीसे समझ सकें।

भाषा-नीतिके सम्बन्धमें बड़े ही अनुचित ढंगसे विचार किया गया है। प्राथमिक कक्षाओंमें छोटी-छोटी कहानियोंके रूपमें भाषाओंको तथा गणितके प्रारम्भिक सिद्धान्त और सामान्यज्ञानके विषय ही पढ़ाये जाने चाहिये। इस दृष्टिसे राष्ट्रभाषाके रूपमें हिंदी एक प्रादेशिक भाषा और एक अन्य भारतीय भाषाके साथ-ही-साथ प्रारम्भमें संस्कृत भी पढ़ायी जानी चाहिये। इसके पश्चात् संस्कृत, हिंदी तथा एक अन्य भारतीय भाषा समस्त शैक्षिक जीवनकालमें बनी रहनी चाहिये।

कोई कारण नहीं है कि हमारी भारत-सरकार अपने सब साधनोंके होते हुए भी संसारकी विभिन्न भाषाओंकी समस्त महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक पुस्तकोंका हमारे छात्रोंके लिये हमारी अपनी भाषाओंमें अनुवाद नहीं करा सकती। यदि भारत-सरकार अरबों रुपया विभिन्न कार्योंपर व्यय कर सकती है तो फिर इसका कोई कारण नहीं कि वह केवल अनुवादके इस कार्यपर कुछ करोड़ रुपया नहीं लगा सकती, जिससे कि जहाँतक सम्भव हो हम कम-से-कम अपनी भाषाओंके माध्यमसे राष्ट्रकी अधिक वैज्ञानिक उन्नति कर सकें। इन कारणोंसे हिंदीके साथ-साथ अंग्रेजीको सहयोगी राजभाषाके रूपमें बनाये रखनेका घोर विरोध करना चाहिये; क्योंकि जबतक अंग्रेजी भारतके किसी रूपमें शिक्षाका माध्यम बनी रहेगी, तबतक उस कुकृत्यका अन्त करना सम्भव नहीं है, जो मानसिक दृष्टिसे भारतवासियोंको अंग्रेजीका दास बनाये रखनेके लिये मैकालेने किया था।

श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजीके शिक्षा-विषयक कुछ प्रेरक वचन

(प्रेषक—श्रीअरविन्द-विद्या-मन्दिर-परिवार)

जीवनका सच्चा लक्ष्य

जीवनका एक प्रयोजन है। वह प्रयोजन है भगवान्‌को खोजना और उनकी सेवा करना। भगवान् दूर नहीं हैं, 'वे' हमारे अंदर हैं, अंदर गहराईमें, भावनाओं और विचारोंसे ऊपर। भगवान्‌के साथ है शान्ति, निश्चितता और सभी कठिनाइयोंका समाधान।

मेरे बच्चो! यदि तुम अपने-आपसे कहो—'हम संसारमें भागवत संकल्पको प्रकट करनेके लिये यथासम्भव पूर्ण यन्त्र बनना चाहते हैं', तो इस यन्त्रको पूर्ण बनानेके लिये इसे परिष्कृत करना होगा, शिक्षा और प्रशिक्षण देना होगा। इसे एक अनगढ़ पत्थरके टुकड़ेकी तरह नहीं छोड़ा जा सकता। जब तुम पत्थरसे कुछ बनाना चाहो तो उसपर छैनी चलानी पड़ती है, जब तुम एक रूपहीन ढेलेमेंसे सुन्दर हीरा बनाना चाहो तो उसे तराशना पड़ता है। हाँ, तो यहाँ भी वही बात है। जब तुम अपने शरीर और मस्तिष्कसे भगवान्‌के लिये एक सुन्दर यन्त्र बनाना चाहते हो तो उसे परिष्कृत करना होगा, उसे सूक्ष्म बनाना होगा, जो कमी है उसे पूरा करना और जो है उसे पूर्ण बनाना होगा।

शिक्षाका सच्चा उद्देश्य

* शिक्षाका मुख्य उद्देश्य होना चाहिये— अन्तरात्माकी इस बातमें सहायता करना कि वह अपने अन्तरकी अच्छी-से-अच्छी वस्तुको बाहर लाये और उसे किसी श्रेष्ठ एवं उदार उपयोगके लिये पूर्ण बनाये।

मूलतः एक वस्तु, एकमात्र वस्तु जो तुम्हें अध्यवसायके साथ करनी चाहिये वह यह है—उन्हें (बालकोंको) अपने-आपको जानना, अपनी निजी नियति, अपना-अपना मार्ग चुनना सिखाओ। अपने-आपको देखना, समझना और संकल्प करना सिखाओ। पहले पृथ्वीपर क्या हुआ था? पृथ्वी कैसे रची गयी थी? आदि सिखानेकी अपेक्षा यह अनन्तगुना महत्त्वपूर्ण है।

सब विद्यार्थियोंद्वारा नित्य दोहराये जानेके लिये—

'हम अपने परिवारके लिये नहीं पढ़ते, हम कोई अच्छा पद पानेके लिये नहीं पढ़ते, हम पैसा कमानेके लिये नहीं पढ़ते, हम कोई उपाधि पानेके लिये नहीं पढ़ते। हम सीखनेके लिये, जाननेके लिये, संसारको समझनेके लिये और इससे मिलनेवाले आनन्दके लिये पढ़ते हैं।'

सर्वाङ्गीण शिक्षा

भारतके पास 'आत्मा'का ज्ञान है या यों कहें था, किंतु उसने भौतिक तत्त्वकी उपेक्षा की और उसके कारण कष्ट भोगा।

पश्चिमके पास भौतिक तत्त्वका ज्ञान है, पर उसने 'आत्मा'को अस्वीकार किया और इस कारण बुरी तरह कष्ट पाता है।

सर्वाङ्गीण शिक्षाको, जो कुछ थोड़ेसे परिवर्तनोंके साथ संसारके सभी देशोंमें अपनायी जा सके, पूर्णतया विकसित और उपयोगमें लाये हुए 'भौतिक तत्त्व' पर 'आत्मा'के वैध अधिकारको वापस लाना होगा।

शिक्षाके पूर्ण होनेके लिये उसमें पाँच प्रधान पहलू होने चाहिये। इनका सम्बन्ध मनुष्यकी पाँच प्रधान क्रियाओंसे होगा—भौतिक, प्राणिक, मानसिक, आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक। साधारणतया शिक्षाके ये सब पहलू व्यक्तिके विकासके अनुसार एकके बाद एक करके कालक्रमसे आरम्भ होते हैं, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक पहलू दूसरेका स्थान ले ले, अपितु सभी पहलुओंको जीवनके अन्तकालतक परस्पर एक-दूसरेको पूर्ण बनाते हुए जारी रखना चाहिये।

---

* ताराङ्कित उद्धरण श्रीअरविन्दकी रचनाओंसे तथा शेष सभी उद्धरण श्रीमाताजीकी रचनाओंमेंसे लिये गये हैं।

हम यहाँ शिक्षाके इन पाँचों पहलुओंपर एक-एक करके विचार करेंगे—

१. शारीरिक शिक्षा—शरीरकी शिक्षाके तीन प्रधान रूप हैं—(१) शारीरिक क्रियाओंको संयमित और नियमित करना, (२) शरीरके सभी अङ्गों और क्रियाओंका सर्वाङ्गपूर्ण, प्रणालीबद्ध और सुसामञ्जस्यपूर्ण विकास करना और (३) यदि शरीरमें कोई दोष और विकृति हो तो उसे सुधारना।

यह कहा जा सकता है कि जीवनके एकदम आरम्भिक दिनोंसे ही, अपितु लगभग आरम्भिक घंटोंसे ही, बच्चेको भोजन, नींद, मलत्याग आदिके विषयमें पहले प्रकारकी शिक्षा देनी चाहिये। यदि बच्चा अपने जीवनके एकदम प्रारम्भसे अच्छी आदतें डाल ले तो वह जीवनभर बहुत-से कष्टों और असुविधासे बचा रहेगा।

जैसे-जैसे बच्चा बड़ा हो वैसे-वैसे उसे अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी क्रियाओंको देखनेका अभ्यास कराना चाहिये, जिससे वह उन्हें अधिकाधिक नियमित कर सके, इस बातका ध्यान रख सके कि उनकी क्रियाएँ स्वाभाविक और सुसमञ्जस हों। जहाँतक उठने-बैठने, हिलने-डुलने एवं अन्य चेष्टाओंके ढंगका प्रश्न है वहाँतक बुरी आदतें बहुत कम आयुमें और बहुत शीघ्र ही बन जाती हैं और वे सारे जीवनके लिये बड़े खतरनाक परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं। बिलकुल छोटी आयुसे ही बच्चोंको शारीरिक स्वास्थ्य, शक्ति-सामर्थ्य और संतुलनका आदर करना सिखाना चाहिये।

२. प्राणकी शिक्षा—सब प्रकारकी शिक्षाओंमें सम्भवतः प्राणकी शिक्षा सबसे अधिक आवश्यक है। फिर भी इसका ज्ञानपूर्वक तथा विधिवत् आरम्भ और अनुसरण बहुत कम लोग करते हैं। इसके कई कारण हैं, सबसे पहले इस विशेष विषयका जिन बातोंसे सम्बन्ध है उनके स्वरूपके विषयमें मानव-बुद्धिकी कोई सुस्पष्ट धारणा नहीं है। दूसरे यह कार्य बड़ा ही कठिन है और इसमें सफलता प्राप्त करनेके लिये हमारे अंदर सहनशीलता, अनन्त अध्यवसाय और किसी भी असफलतासे निर्बल न होनेवाला संकल्प आवश्यक है।

सत्य यह है कि जो कुछ भी है वह सत्ताके आनन्दपर आधारित है और सत्ताके आनन्दके बिना जीवनका अस्तित्व नहीं रहेगा, परंतु सत्ताका यह जो आनन्द है, भगवान्‌का एक गुण है और इसलिये किसी भी शर्तसे बँधा नहीं है। उसे जीवनमें सुखकी खोजके साथ मिला-जुला नहीं देना चाहिये; क्योंकि यह तो अधिकांशमें परिस्थितियोंपर निर्भर करता है। ***वास्तवमें, जगत् जैसा है, इसमें जीवनका लक्ष्य व्यक्तिगत सुख प्राप्त करना नहीं, अपितु व्यक्तिको उत्तरोत्तर सत्य चैतन्यके प्रति जाग्रत् करना है।***

दूसरी बात यह है कि स्वभावमें कोई मूलगत परिवर्तन ले आनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी अवचेतनाके ऊपर लगभग पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करे और साथ ही निश्चेतनासे जो कुछ भी उठता है—जो सामान्य प्रकृतियोंमें, वंशानुक्रमके या जिस पारिपार्श्विक अवस्थामें मनुष्य जन्मा होता है उसके परिणामोंका प्रकाश होता है—उसे बड़ी कठोरतापूर्वक संयमित करे।

प्राणकी शिक्षाके दो प्रधान रूप हैं। वे दोनों ही लक्ष्य और पद्धतिकी दृष्टिसे एक-दूसरेसे बहुत भिन्न हैं, पर हैं दोनों ही एक समान महत्त्वपूर्ण। पहला इन्द्रियोंके विकास और उनके उपयोगसे सम्बन्ध रखता है और दूसरा है अपने चरित्रके विषयमें सचेतन होना और धीरे-धीरे उसपर प्रभुत्व स्थापित कर अन्तमें उसका रूपान्तर साधित करना।

यदि एक समुचित साधनाका लगातार अनुसरण किया जाय तो जो लोग सच्चे दिलसे इनके विकास तथा उनके परिणामोंमें रुचि रखते हैं, वे सभी इन्हें प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, जिन अनेक शक्तियोंकी लोग प्रायः ही चर्चा किया करते हैं, उनमेंसे एक है—अपनी शरीर-चेतनाको विस्तारित कर देना, अपनेसे बाहर इस प्रकार फैला देना कि उसे किसी एक निश्चित बिन्दुपर एकाग्र किया जा सके और इस तरह दूरकी वस्तुओंको देखा, सुना, सूँघा, चखा और यहाँतक कि छुआ जा सके।

इन्द्रियों और उनके व्यापारकी सामान्य शिक्षाके साथ ही यथाशीघ्र विवेक और सौन्दर्य-बोधके विकासकी शिक्षा

भी देनी होगी । अर्थात् जो कुछ सुन्दर और सामञ्जस्यपूर्ण है, सरल, स्वस्थ और शुद्ध है, उसे चुन लेने और ग्रहण करनेकी क्षमता—क्योंकि शारीरिक स्वास्थ्यके समान ही मानसिक स्वास्थ्य भी होता है, जिस तरह शरीर और उसकी गतियोंका एक सौन्दर्य है, उसी तरह इन्द्रियानुभवोंका भी एक सौन्दर्य और सामञ्जस्य है । जैसे-जैसे बच्चेकी सामर्थ्य और समझ बढ़े वैसे-वैसे उसे अध्ययनकालमें ही यह सिखाना चाहिये कि वह शक्ति और यथार्थताके साथ-साथ सौन्दर्यविषयक सुरुचि और सूक्ष्म वृत्तिका भी विकास करे । उसे सुन्दर, उच्च, स्वस्थ और महान् वस्तुएँ, चाहे वे प्रकृतिमें हों या मानव-सृष्टिमें, दिखानी होगी, उन्हें पसंद करना और उनसे प्रेम करना सिखाना होगा । वह एक सच्चा सौन्दर्यानुशीलन होना चाहिये, जो पतनकारी प्रभावोंसे उसकी रक्षा करेगा । मालूम होता है कि गत महायुद्धोंके तुरंत बाद और उनके द्वारा उद्दीपित भयानक स्नायविक उत्तेजनाके फलस्वरूप, मानो मानव-सभ्यताके पतन और समाज-व्यवस्थाके भंग होनेके चिह्नके रूपमें, एक प्रकारकी बढ़ती हुई नीचताने मनुष्य-जीवनको, व्यक्तिगत रूपसे और सामूहिक रूपसे भी, अधिकृत कर लिया है, विशेषकर सौन्दर्य-लक्षी जीवन और इन्द्रियोंके जीवनके स्तरमें । यदि इन्द्रियोंका विधिवत् तथा ज्ञानपूर्वक संस्कार किया जाय तो बच्चेमें संसर्गदोषके कारण जो निकृष्ट, सामान्य और असंस्कृत वस्तुएँ आ गयी हैं, वे धीरे-धीरे दूर की जा सकती हैं और साथ ही, यह संस्कार उसके चरित्रपर भी सुखद प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करेगा; क्योंकि जिस व्यक्तिने सचमुच एक समुन्नत रुचि विकसित की है, वह स्वयं उस सुरुचिके कारण ही भद्दे, बर्बर या हीन ढंगसे कार्य करनेमें अपनेको असमर्थ अनुभव करेगा । यह सुरुचि, यदि सच्ची हो तो, व्यक्तिके अंदर एक प्रकारकी महानता और उदारता ले आयेगी, जो उसके कार्य करनेकी पद्धतिमें सहज-स्वाभाविक ढंगसे प्रकट होगी और उसे बहुत-सी नीच और उल्टी क्रियाओंसे अलग रखेगी । इससे स्वभावतः ही हम प्राणकी शिक्षाके दूसरे पहलूपर पहुँच गये हैं, उस पहलूपर जिसका सम्बन्ध चरित्र और उसके रूपान्तरसे है ।

अपने अंदरकी बहुत-सी क्रियाओंके विषयमें सचेतन होना, यह देखना कि हम क्या करते हैं और क्यों करते हैं, अत्यन्त आवश्यक आरम्भ है । बच्चेको सिखाना चाहिये कि वह आत्म-निरीक्षण करे, अपनी प्रतिक्रियाओं तथा आवेगों और उनके कारणोंको समझे, अपनी वासनाओंका, उग्रता और उत्तेजनाकी अपनी क्रियाओंका, अधिकार जमाने, अपने उपयोगमें लाने और शासन करनेकी सहज प्रेरणाका तथा मिथ्याभिमान-रूपी आधार-भूमिका—जिसपर ये चेष्टाएँ अपनी परिपूरक दुर्बलता, अनुत्साह, अवसाद और निराशाके साथ स्थित होती हैं—स्पष्टदर्शी साक्षी बने ।

स्पष्ट ही प्रक्रिया तभी लाभदायक होगी जब निरीक्षण करनेकी शक्ति बढ़नेके साथ-साथ प्रगति करने और पूर्णता पानेका संकल्प भी बढ़ता जाय । ज्यों ही बच्चा इस संकल्पको धारण करनेकी योग्यता प्राप्त कर ले त्यों ही अर्थात् साधारण विश्वासके विपरीत बहुत कम आयुमें ही यह उसके अंदर भर देना चाहिये ।

प्रभुत्व और विजय-प्राप्तिके इस संकल्पको जाग्रत् करनेकी विधियाँ विभिन्न व्यक्तियोंके लिये विभिन्न प्रकारकी होती हैं । कुछ व्यक्तियोंके लिये युक्तिपूर्ण तर्क सफल होता है, दूसरोंके लिये भावुकता और शुभकामनाको व्यवहारमें लाना पड़ता है, फिर अन्योंके लिये मर्यादा और आत्म-सम्मानका भाव ही पर्याप्त होता है । परंतु सभी लोगोंके लिये अत्यन्त शक्तिशाली उपाय है—उसके सामने निरन्तर और सच्चाईके साथ दृष्टान्त उपस्थित करना ।

साररूपमें कह सकते हैं—हमें अपने स्वभावका पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और फिर अपनी क्रियाओंपर ऐसा संयम प्राप्त करना चाहिये कि हमें पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाय और जिन चीजोंको रूपान्तरित करना है उनका रूपान्तर साधित हो जाय ।

३. मनकी शिक्षा—हमारे पास अङ्ग हैं, पेशियाँ हैं, नसें हैं, वस्तुतः वह सब है जिनसे मिलकर शरीर बनता है, यदि हम उन्हें विशिष्ट विकास और विशिष्ट प्रशिक्षण न दें तो ये सब शरीरकी 'शक्ति'को यथाशक्ति

व्यक्त तो करेंगे, परंतु वह अभिव्यञ्जना होगी—निपट भद्दी और अधूरी। निस्संदेह एक शरीर जो शारीरिक शिक्षाके अत्यन्त पूर्ण और यथोचित तरीकोंसे प्रशिक्षित किया गया है, वह ऐसी वस्तुएँ करनेमें समर्थ होगा जो इसके बिना कभी न कर पाता। मेरा विचार है कि कोई इस बातसे इनकार नहीं कर सकता। हाँ, तो मनके लिये भी यही बात लागू होती है। तुम्हारे पास एक मानसिक यन्त्र है, जिसमें अनेक सम्भावनाएँ हैं, अनेक क्षमताएँ हैं, किंतु ये छिपी हुई हैं, इन्हें विशिष्ट शिक्षणकी, विशिष्ट रूपसे साधनेकी आवश्यकता है, जिससे ये ज्योतिको व्यक्त कर सकें। यह निश्चित है कि साधारण जीवनमें दिमाग मानसिक चेतनाकी बाह्य अभिव्यञ्जनाका आसन है, तो यदि दिमाग विकसित न हो, यदि यह अनगढ़ रहे तो ऐसी असंख्य वस्तुएँ हैं जो व्यक्त नहीं की जा सकेंगी; क्योंकि अपने-आपको व्यक्त करनेके लिये उनके पास आवश्यक यन्त्र नहीं होगा। यह एक वाद्ययन्त्रकी तरह होगा जिसमें अधिकतर स्वर नहीं है, वह कुछ मोटा सादृश्य तो उत्पन्न कर देगा, पर यथार्थ कुछ भी नहीं कर सकेगा। मानसिक शिक्षा, बौद्धिक शिक्षा तुम्हारे मस्तिष्ककी बनावटको बदल देती है, पर्याप्त हदतक बढ़ा देती है और परिणामस्वरूप अभिव्यञ्जना अधिक समृद्ध और यथार्थ हो उठती है। यदि तुम जीवनसे भागना चाहो और अनिर्वचनीय शिखरोंपर चढ़ना चाहो तो यह आवश्यक नहीं है, पर यदि तुम अपनी अनुभूतिको बाह्य जीवनमें मूर्त-रूप देना चाहो तो यह अपरिहार्य है।

सब प्रकारकी शिक्षाओंमें सबसे अधिक प्रचलित है मनकी शिक्षा। तो भी, कुछ एक अपवादोंको छोड़कर, साधारणतया इसमें ऐसे छिद्र रह जाते हैं, जो इसे बहुत ही अपूर्ण और अन्तमें एकदम निरर्थक बना देते हैं।

मोटे तौरपर हम कह सकते हैं कि शिक्षाका अर्थ लोग समझते हैं मनकी आवश्यक शिक्षा। बच्चेको कुछ वर्ष एक कठोर शिक्षा-पद्धतिके अनुसार शिक्षा दे चुकनेपर, जो उसके मस्तिष्कको प्रबुद्ध करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक उसमें ज्ञानसामग्रीको ठूँस देती है, हम समझ लेते हैं कि उसके मानसिक विकासके लिये जो कुछ करना आवश्यक था वह पूरा हो गया। पर बात ऐसी नहीं है। यदि शिक्षा समुचित मात्रामें और विचार-विवेकके साथ दी भी जाती है और वह मस्तिष्कको कोई हानि नहीं पहुँचाती, तो भी वह मानव-मनको वे सब क्षमताएँ नहीं दे पातीं जो उसे एक अच्छा और उपयोगी यन्त्र बनानेके लिये आवश्यक हैं। साधारणतया, जो शिक्षा बच्चोंको दी जाती है वह अधिक-से-अधिक शारीरिक व्यायामकी तरह मस्तिष्कतककी नमनीयताको बढ़ा सकती है।

मनकी सच्ची शिक्षाके, उस शिक्षाके जो मनुष्यको एक उच्चतर जीवनके लिये तैयार करेगी, पाँच प्रधान अङ्ग हैं। साधारणतया ये अङ्ग एकके बाद एक आते हैं, पर विशेष व्यक्तियोंमें वे अदल-बदलकर या एक साथ भी आ सकते हैं। ये पाँचों अङ्ग संक्षेपमें इस प्रकार हैं—(१) एकाग्रताकी शक्तिका, मनोयोगकी क्षमताका विकास करना। (२) मनको व्यापक, विशाल, बहुविध और समृद्ध बनानेकी क्षमताएँ विकसित करना। (३) जो केन्द्रीय विचार या उच्चतर आदर्श या परमोज्ज्वल भावना जीवनमें पथ-प्रदर्शकका काम करेगी उसे केन्द्र बनाकर समस्त विचारोंको सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित करना। (४) विचारोंको संयमित करना, अनिष्ट विचारोंका त्याग करना, जिससे मनुष्य अन्तमें जैसा चाहे वैसा और जब चाहे तब विचार कर सके। (५) मानसिक निश्चलताका, परिपूर्ण शान्तिका और सत्ताके उच्चतर क्षेत्रोंसे आनेवाली अन्तःप्रेरणाओंको अधिकाधिक पूर्णताके साथ ग्रहण करनेकी क्षमताका विकास करना।

४. आन्तरात्मिक शिक्षा—हम कह सकते हैं कि शारीरिक, प्राणिक तथा मानसिक शिक्षाएँ व्यक्तित्वका निर्माण करने, मनुष्यको अस्पष्ट और अवचेतन जडतासे उबारने तथा उसे एक सुनिश्चित और आत्म-चेतन सत्ता बनानेके साधन हैं। अन्तरात्माकी शिक्षाके द्वारा हम जीवनके सच्चे आशय, पृथ्वीपर अपने अस्तित्वके कारण तथा जीवनकी खोजके लक्ष्य और उसके परिणाम—अपनी नित्य सत्ताके प्रति व्यक्तिके आत्मसमर्पणके प्रश्न आते हैं।

यदि हम आन्तरात्मिक शिक्षाकी एक सामान्य रूपरेखा खींचना चाहें तो अन्तरात्मासे हमारा अभिप्राय क्या है, इस विषयमें हमें कुछ विचार अवश्य बना लेना चाहिये, चाहे वह विचार कितना ही सापेक्ष क्यों न हो। उदाहरणार्थ, यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्तिकी रचना उन असंख्य सम्भावनाओंमेंसे किसी एकके देश और कालमें प्रक्षेपणके द्वारा होती है जो समस्त अभिव्यक्तिके सर्वोच्च उद्गममें गुप्त-रूपसे विद्यमान है। यह उद्गम एकमेव विश्वव्यापी चेतनाके द्वारा व्यक्तिके नियम या सत्यमें मूर्तरूप धारण कर लेता है और इस प्रकार उत्तरोत्तर विकास करते हुए उसकी आत्मा या चैत्य पुरुष (अन्तरात्मा) बन जाता है।

आन्तरात्मिक उपस्थितिके द्वारा ही व्यक्तिका सच्चा अस्तित्व व्यक्ति तथा उसके जीवनकी परिस्थितियोंसे सम्पर्क प्राप्त करता है। यह कहा जा सकता है कि अधिकांश व्यक्तियोंमें यह उपस्थिति अज्ञात और अपरिचित-रूपमें पर्देके पीछेसे कार्य करती है, पर कुछमें यह अनुभव-गोचर होती है तथा इसकी क्रियाको भी पहचाना जा सकता है, बहुत ही विरले लोगोंमें यह उपस्थिति प्रत्यक्ष रूपमें प्रकट होती है और इन्हींमें इसकी क्रिया भी अधिक प्रभावशाली होती है। ऐसे लोग ही एक विशेष विश्वास और निश्चयके साथ जीवनमें आगे बढ़ते हैं, ये ही अपने भाग्यके स्वामी होते हैं। इस स्वामित्वको प्राप्त करने तथा अन्तरात्माकी उपस्थितिके प्रति सचेतन होनेके लिये ही आन्तरात्मिक शिक्षाके अनुशीलनकी आवश्यकता है, पर इसके लिये एक विशेष साधन, अर्थात् व्यक्तिके निजी-संकल्पका होना आवश्यक है; क्योंकि अभीतक अन्तरात्माकी खोज तथा इसके साथ तादात्म्य-शिक्षाके स्वीकृत विषयोंका अङ्ग नहीं बना है।

इस सचेतनताको प्राप्त करनेके लिये और अन्तमें इस तादात्म्यको सिद्ध करनेके लिये देश और कालके अन्तर्गत बहुत-सी पद्धतियाँ निश्चित की गयी हैं और कुछ यान्त्रिक भी हैं। सच पूछा जाय तो प्रत्येक मनुष्यको वह पद्धति ढूँढ़ निकालनी होगी जो उसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त हो और यदि साधकमें सच्ची और सुदृढ़ अभीप्सा हो, अटूट और सक्रिय संकल्प-शक्ति हो तो यह निश्चित है कि वह एक-न-एक तरीकेसे, बाहरसे अध्ययन और उपदेशके द्वारा, भीतरसे एकाग्रता, ध्यान, अनुभव और दर्शनके द्वारा उस सहायताको अवश्य पायेगा जो लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये उसके लिये आवश्यक है। केवल एक ही वस्तु है जो पूर्णरूपसे अनिवार्य है और वह है उसे खोज निकालने और प्राप्त करनेका संकल्प। यह खोजने और प्राप्त करनेका प्रयास ही जीवनका सबसे पहला कार्य होना चाहिये, यही वह बहुमूल्य मोती है जिसे हमें चाहे किसी मूल्यपर प्राप्त करना चाहिये। तुम चाहे जो कुछ करो, तुम्हारा व्यवसाय और कार्य जो भी हो, अपनी सत्ताके सत्यको पाने और उसके साथ युक्त होनेका तुम्हारा संकल्प बराबर ही जीवन्त बना रहना चाहिये। जो कुछ तुम करते हो, जो कुछ तुम अनुभव करते हो और जो कुछ तुम विचार करते हो, उस सबके पीछे उसे सदा विद्यमान रहना चाहिये।

५. आध्यात्मिक शिक्षा—आन्तरात्मिक जीवन एक ऐसा जीवन है जो अमर है, अनन्तकालतक असीम देशमें नित्य प्रगतिशील परिवर्तन है और बाह्य रूपोंके संसारमें एक अविच्छिन्न धारा है। दूसरी ओर आध्यात्मिक चेतनाका अर्थ है नित्य और अनन्तमें निवास करना तथा देश-कालसे, सृष्टिमात्रसे बाहर स्थित हो जाना। अपनी अन्तरात्माको पूर्णरूपसे जानने और आन्तरात्मिक जीवन बितानेके लिये मनुष्यको समस्त स्वार्थपरताका त्याग करना होगा, किंतु आध्यात्मिक जीवनके लिये अहंमात्रसे मुक्त हो जाना होगा।

आध्यात्मिक शिक्षामें यहाँ भी, मनुष्यका स्वीकृत लक्ष्य, उसके वातावरण, विकास तथा स्वभावकी रुचियोंके सम्बन्धमें, मानसिक निरूपणमें, भिन्न-भिन्न नाम धारण कर लेगा। धार्मिक प्रवृत्तिवाले उसे ईश्वर कहेंगे और उनका आध्यात्मिक प्रयत्न फिर इस रूपातीत परात्पर ईश्वरके साथ तादात्म्य प्राप्त करनेके लिये होगा, न कि उस ईश्वरके साथ जो वर्तमान सब रूपोंमें है। कुछ लोग इसे 'परब्रह्म' या 'सर्वोच्च आदिकारण' कहेंगे और कुछ 'निर्वाण', कुछ और, जो संसारको तथ्यहीन भ्रम समझते हैं, इसे **'एकमद्वितीयं सत्'** का नाम देंगे, जो लोग

अभिव्यक्तिमात्रको असत्य मानते हैं उनके लिये यह 'एकमात्र सत्य' होगा। लक्ष्यकी ये सब परिभाषाएँ अंशतः ठीक हैं, पर हैं सब अधूरी, ये केवल सद्वस्तुके एक-एक पक्षको ही व्यक्त करती हैं। यहाँ भी मानसिक निरूपणोंका कुछ महत्त्व नहीं, बीचकी अवस्थाओंको एक बार पार कर जानेके बाद मनुष्य सदा एक ही अनुभवपर पहुँचता है। जो भी हो, आरम्भ करनेके लिये सबसे अधिक सफल तथा शीघ्र पहुँचानेवाली वस्तु पूर्ण आत्म-समर्पण है। इसके साथ ही जिस उच्च-से-उच्च सत्ताकी मनुष्य कल्पना कर सकता है उसके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पणके आनन्दसे अधिक पूर्ण आनन्द और नहीं है, कुछ इसे 'ईश्वर'का नाम देते हैं और कुछ 'पूर्णता'का। यदि यह समर्पण लगातार स्थिर भावमें तथा उत्साहपूर्वक किया जाय तो एक ऐसा समय आता है जब मनुष्य इस कल्पनासे ऊपर उठकर एक ऐसे अनुभवको प्राप्त कर लेता है, जिसका वर्णन तो नहीं हो सकता, परंतु जिसका फल व्यक्तिपर प्रायः सदा एक समान होता है। जैसे-जैसे उसका आत्म-समर्पण अधिकाधिक पूर्ण और सर्वाङ्गीण होता जायगा, उसके अंदर उस सत्ताके साथ एक होनेकी तथा उसमें पूर्ण रूपसे मिल जानेकी अभीप्सा पैदा होती जायगी, जिसे उसने समर्पण किया है और क्रमशः यह अभीप्सा सब विषमताओं और बाधाओंको पार कर लेगी, विशेषकर उस अवस्थामें जब इस अभीप्साके साथ-साथ व्यक्तिमें प्रगाढ और सहज प्रेम भी हो; क्योंकि तब कोई भी वस्तु उसकी विजयशील प्रगतिके रूपमें मार्गमें बाधक नहीं हो सकेगी।

सच्चे शिक्षणके सिद्धान्त

* सच्चे शिक्षणका पहला सिद्धान्त है कि कुछ भी सिखाया नहीं जा सकता। अध्यापक कोई निर्देशक या काम लेनेवाला स्वामी नहीं है, वह एक सहायक एवं मार्ग-प्रदर्शक है। उसका काम सुझाव देना है, थोपना नहीं। वह सचमुच विद्यार्थीके मानसको प्रशिक्षित नहीं करता। वह उसे केवल यह बतलाता है कि अपने ज्ञानके उपकरणोंको कैसे पूर्ण बनाया जाय और वह उसे इस कार्यमें सहायता देता और प्रोत्साहित करता है। वह उसे ज्ञान नहीं देता अपितु उसे यह बतलाता है कि अपने लिये ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय। वह अंदर स्थित ज्ञानको प्रकट नहीं करता, केवल यह दिखलाता है कि वह कहाँ स्थित है और उसे बाह्य स्तरपर आनेके लिये कैसे अभ्यस्त किया जा सकता है।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि मनके विकासमें स्वयं उसकी सलाह ली जाय। बच्चेको हथौड़ी मार-मारकर माता-पिता या अध्यापकके चाहे रूपमें गढ़ना एक अज्ञानपूर्ण और बर्बर अन्धविश्वास है। उसे यह प्रेरणा देनी चाहिये कि वह अपनी प्रकृतिके अनुसार अपना विस्तार करे। माँ-बापके लिये इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती कि वे पहलेसे ही ठीक कर लें कि उनका बेटा अमुक गुण, अमुक क्षमताएँ, विचार या विशेषताएँ विकसित करेगा या उसे पहलेसे ही निश्चित अमुक प्रकारकी जीविकाके लिये तैयार किया जाय। प्रकृतिको इस बातके लिये बाधित करना कि वह स्वधर्म छोड़ दे, उसे स्थायी क्षति पहुँचाना, उसके विकासको विकृत करना और उसकी पूर्णताको विरूप कर देना है। यह मानव-आत्मापर स्वार्थपूर्ण अत्याचार है। राष्ट्रपर एक आघात है, जिसके कारण वह मनुष्यके सर्वोत्तम कार्यके लाभसे वञ्चित हो जाता है और उसके बदले अपूर्ण, कृत्रिम, घटिया, औपचारिक और सामान्य वस्तु स्वीकार करनेके लिये बाधित होता है। प्रत्येकमें कुछ दिव्य अंश होता है, कुछ ऐसा जो उसका अपना होता है। भगवान् स्वीकार करने या त्याग देनेके लिये एक क्षेत्र देते हैं, वह चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो, जिसमें वह पूर्णता और शक्ति पा सकता है। मुख्य काम है खोजना, विकसित करना और उसका उपयोग करना।

शिक्षणका तीसरा सिद्धान्त है निकटसे दूरकी ओर काम करते चलना, जो है उससे जो होगा उसकी ओर जाना। प्रायः सदा ही मनुष्यके स्वभावका आधार उसकी आत्माके अतीतके अतिरिक्त बहुत-सी वस्तुओंपर निर्भर होता है, जैसे—उसकी आनुवंशिकता, उसका पास-पड़ोस, उसकी राष्ट्रियता, उसका देश, वह धरती जहाँसे वह आहार पाता है, वह हवा जिसमें वह साँस लेता है, वे

दृश्य, वे आवाजें और वे आदतें जिनके लिये वह अभ्यस्त है। ये वस्तुएँ उसके जाने बिना, किंतु इस कारण कम बलके साथ नहीं, उसे ढालती हैं और हमें वहींसे आरम्भ करना चाहिये। हमें स्वभावको उस जमीनमेंसे जड़ोंसे उखाड़ देना चाहिये जहाँ उसे पनपना है। मनको ऐसे बिम्बों और ऐसे जीवनके विचारोंसे नहीं घेर देना चाहिये जो उस जीवनके विरोधी हों, जिनमें उसे हिलना-डुलना है। यदि बाहरसे कोई वस्तु लानी है तो मनपर जोरसे आरोपित न की जाय, उसे भेंट की जा सकती है। सच्चे विकासके लिये एक आवश्यक शर्त है—स्वाभाविक और मुक्त वृद्धि। कृत्रिम रूपोंमें ढाले जानेपर अधिकतर लोग क्षीण, रिक्त और बनावटी बन जाते हैं। भगवान्की व्यवस्था है कि अमुक लोग किसी राष्ट्र-विशेष, देश, युग, समाजके हों। वे अतीतके बालक, वर्तमानके भोक्ता और भविष्यके निर्माता हों। अतीत हमारी नींव है, वर्तमान हमारा उपादान राष्ट्रिय (साधन) है, भविष्य हमारा लक्ष्य और शिखर है। राष्ट्रिय शिक्षा-पद्धतिमें प्रत्येकको अपना उचित और स्वाभाविक स्थान मिलना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं—'बच्चोंको स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये; क्योंकि वे अनुभवद्वारा ही सबसे अच्छी तरह सीख सकते हैं।' यों विचारके रूपमें यह बहुत बढ़िया है, व्यवहारमें स्पष्ट है कि इसमें कुछ प्रतिबन्धोंकी आवश्यकता होती है, क्योंकि यदि तुम एक बच्चेको किसी दीवारके किनारेपर चलने दो और वह गिरकर पाँव या अपना सिर तोड़ ले, तो यह अनुभव जरा भारी पड़ेगा, या यदि तुम उसे दियासलाईसे खेलने दो और वह अपनी आँखें जला ले, तब समझे तो यह जरा-से ज्ञानके लिये बहुत दाम देना होगा।

साथ ही इसके विपरीत अति करना, सारे समय बच्चेके साथ रहना और उसे परीक्षण करनेसे रोकना, उससे कहना—'यह मत करो, यह हो जायगा', 'वह मत करो, वह हो जायगा'—तो अन्तमें वह बिलकुल अपने अंदर ही सिमट जायगा और उसके जीवनमें न साहस होगा, न निर्भीकता और यह भी बहुत बुरा है। वस्तुतः निष्कर्ष यह निकलता है कि हर क्षण तुम जिस ऊँचे-से-ऊँचे सत्यका बोध प्राप्त कर सकते हो उसीका उपयोग करनेकी चेष्टा करो। यह बहुत अधिक कठिन है, किंतु एकमात्र उपाय है। तुम जो कुछ भी करो, पहलेसे नियम न बना लो; क्योंकि एक बार नियम बना लेनेपर तुम लगभग अंधे होकर उसका पालन करते हो और तब तुम निश्चित रूपसे सौमें-से साढ़े निन्यानबे बार भूल करोगे। सच्चे ढंगसे काम करनेका, बस एक ही तरीका है, हर क्षण, हर सेकेंड, हर गतिमें, तुम जिस उच्चतम सत्यका बोध पा सकते हो उसीको प्रकट करो और यह जानो कि इस बोधको क्रमशः प्रगतिशील होना चाहिये कि तुम्हें अभी जो सबसे अधिक सच्चा मालूम होता है वह कल ऐसा न रहेगा और तुम्हें अपने द्वारा उच्चतर सत्यको अधिकाधिक प्रकट करना होगा। यह तुम्हें आरामदायक तमस्में पड़कर सोनेके लिये अवकाश नहीं देता, तुम्हें सदा जाग्रत् रहना चाहिये। मैं भौतिक नींदकी बात नहीं कर रही हूँ—सदा जाग्रत्, सचेतन और प्रदीप्त ग्रहणशीलता और सद्भावनासे भरा रहना चाहिये।

मनको ऐसी कोई भी शिक्षा नहीं दी जा सकती जिसका बीज मनुष्यकी विकासशील अन्तरात्मामें पहलेसे ही निहित न हो। अतएव मनुष्यका बाह्य व्यक्तित्व जिस पूर्णताको पहुँच सकता है वह भी सारी-की-सारी उसकी अपनी अन्तःस्थ आत्माकी सनातन पूर्णताको उपलब्ध करना मात्र है। हम भगवान्का ज्ञान प्राप्त करते हैं और भगवान् ही बन जाते हैं; क्योंकि हम अपनी प्रच्छन्न प्रकृतिमें पहलेसे वही हैं। आत्म-उपलब्धि ही रहस्य है, आत्मज्ञान और वर्द्धमान चेतना उसके साधन तथा प्रक्रिया हैं।



शिक्षा और उसका स्वरूप

(गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

ऋषि-महर्षियोंकी परम पवित्र तपःस्थली भारत-भूमिपर सदैव संत-महात्माओं, महायोगियों, धर्माचार्यों, महापुरुषोंका अवतरण होता रहा है। इन महापुरुषोंको महान् गुणोंसे सम्पृक्त करनेमें हमारी शुचितासम्पन्न धरित्रीके आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उर्वरताका विशिष्ट योगदान है। इन महापुरुषोंकी प्रेरणासे भारतीय संस्कृतिके मूल संस्कारोंसे सम्पन्न ब्रह्मचर्यव्रती स्नातक और विद्यार्थियोंने महामानव होनेकी प्रतिष्ठा प्राप्त की और अपनी ज्ञान-ज्योतिसे विश्वको ज्योतित किया। भारतके सुनहरे भविष्यके महापौरुष्ययुक्त कर्णधार हमारी शिष्टवाटिकाके नवोदित कोमल-कुसुम तरुणोंके कंधोंपर ही परम्परा-प्रदत्त धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा साहस, शौर्य एवं पराक्रमसे परिपूर्ण इतिहासके अमूल्य वैभवकी सुरक्षा तथा तदनुरूप आचरणका गम्भीर दायित्व है। इस आत्मबोधके साथ ऐतिहासिक, राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रभृति समस्त विषयोंके ज्ञानको बालकों और नवयुवकोंमें आत्मसात् कराना आचार्यवृन्दका महान् कर्तव्य है, जिससे वे बड़े होकर राष्ट्रहितके गम्भीर उत्तरदायित्वको वहन कर सकें। सामाजिक विषयोंके साथ ही आजीविका-हेतु बालकोंकी अभिरुचिके अनुसार व्यावसायिक तथा तकनीकी ज्ञानकी भी नितान्त आवश्यकता है, जिससे अपने हाथों एवं बुद्धि-वैभवसे वे अपनी जीविकाका भी प्रबन्ध करें। नैतिकता, सदाचार, सद्व्यवहार एवं सद्वृत्तियोंसे सम्पन्न संस्कृत-साहित्यके माङ्गलिक संस्कारोंसे सुसंस्कृत होकर ही प्रतिभाका उन्नयन सम्भव है। बालकके विकासमें उसके व्यक्तित्व और चारों ओर फैले हुए समाज—इन दोनोंका हाथ है। शिक्षकका कर्तव्य है कि बालकके व्यक्तित्वमें समाहित पैतृक संस्कार, स्वभाव, चाल-चलन, भावनाएँ एवं शक्ति-सामर्थ्यका मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे अध्ययन करके उसकी विकासोन्मुखतामें उचित सहायता प्रदान करें। बालकोंकी पारिवारिक परिस्थिति, मित्रों, सम्बन्धियों और हितैषियोंका वातावरण तथा सामाजिक परिवेश भी उनकी विकासोन्मुखी स्थितिको प्रभावित करता है। बालक जिस सामाजिक, मानसिक विकासकी प्रक्रियासे संतरण करता है वही उसकी शिक्षा है। शिक्षा तो जीवनपर्यन्त चलनेवाली प्रक्रिया है। बालकका भलीभाँति निरीक्षण करके मानसिक तथा सामाजिक प्रभावसे प्रेरित कर उसे शारीरिक और आत्मिक विकास तथा चरित्रनिर्माणके साथ-ही-साथ आजीविका उपलब्ध करनेके योग्य बनाना शिक्षाका महनीय उद्देश्य है। उद्देश्यसे ही बालकमें क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। विद्या स्वयंमें उद्देश्य नहीं है, अपितु उद्देश्यकी पूर्तिका साधन है और लक्ष्यकी ओर ले जानेका प्रशस्त मार्ग है।

घर-परिवार, पत्र-पत्रिका, वाचनालय, धार्मिक संस्थान आदि विद्यालयसे असम्बद्ध शिक्षाके साधन—अङ्ग हैं, जिनके द्वारा प्रभावित होकर बालकका व्यक्तित्व संशोधित, परिवर्धित और परिष्कृत होता रहता है। विद्यालयोंसे सम्बद्ध आगमन एवं निगमन-पद्धतियाँ भी बालकोंमें जिज्ञासु-प्रवृत्ति उत्पन्न करती हैं, अतएव वे स्वयं संयमित जीवन और सदाचार तथा सद्विचारके नियम बनानेके लिये उत्सुक होते हैं तथा स्वयं ज्ञानकी प्राप्ति करते हैं। स्वयं ज्ञान-प्रणालीका वर्तमान शिक्षापर विशेष प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। कार्य-कारणके ज्ञानके लिये और मस्तिष्कके समविकास-हेतु यह पद्धति विशेष फलदायी है। बालकोंद्वारा 'चार सत्ते अट्ठाईस' न रटाकर चारको सात बार जोड़नेके लिये प्रेरित करना कारणसहित कार्य-सिद्धिमें ज्ञानका स्थायित्व है, जो मस्तिष्कमें सदैवके लिये घर कर लेता है। यह विधि उचित तथा शिक्षार्थीकी प्रोन्नतिमें सहायक है। आगमन-प्रणालीमें वस्तु-पाठद्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान वैज्ञानिक दृष्टिसे लाभदायक है। प्रत्येक ज्ञानकी परिपुष्टताके लिये सरस्वती-यात्राओंकी व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है—जिससे बालकोंकी निरीक्षण-शक्तिमें

तीव्रताका समावेश होगा। वैयक्तिक शिक्षण-पद्धतिमें व्यक्तिगत लाभ होते हुए भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। यद्यपि प्रत्येक बालकके लिये अलग-अलग आचार्योंकी व्यवस्था करना तथा तदनुसार वेतनकी व्यवस्था भी दुष्कर है तथापि इस पद्धतिसे बालकोंको निकटसे समझनेमें सरलता होती है, जो उनके सर्वाङ्गीण विकासमें सहायक भी है। सम्पन्न व्यक्तियोंके लिये इसे प्रयोगमें लाया जाता है।

समाजमें बैठनेसे बालकोंमें अनुभव-शक्ति और क्रिया-शक्तिका विकास होता है। बहुधा यह देखनेमें आता है कि सामूहिक कार्योंमें प्रतिस्पर्धाकी भावना बढ़ती है। प्रतिस्पर्धात्मक विकासकी दृष्टिसे कक्षा-शिक्षण-पद्धति व्यक्ति-शिक्षण-प्रणालीकी अपेक्षा श्रेयस्कर है। विचारोंका संश्लेषण ही मन है। शिक्षकका कर्तव्य है कि वह विद्यार्थीके मनके रचनानुसार शिक्षण-कार्यका सम्पादन करे। केन्द्रीकरण अनुबन्धके स्थापनके लिये केन्द्रीभूत विषयके साथ अन्य विषयोंका सम्बन्ध स्थापित करते हुए नाना प्रकारके दृष्टान्तोंसे केन्द्रीभूत विषयकी व्यापकताका बोध हो जाता है। बालक उन्हें अच्छी तरह सीख जाता है, समझ लेता है।

केन्द्रीकरण अनुबन्ध-स्थापनके लिये ही हमारे देशमें कताई-बुनाई आदि विषयोंको केन्द्र बनाकर उनके साथ अन्य विषयोंका सम्बन्ध स्थापित करके बेसिक शिक्षा-पद्धतिपर बल दिया जा रहा है। क्रियाद्वारा शिक्षणकी पद्धति ही आजकल अधिक प्रचलित है, जिसमें बालक स्वयं परीक्षण करता है तथा पुस्तक पढ़ता है। अध्यापक निरीक्षक और श्रोताके रूपमें रहकर स्थान-स्थानपर उसकी त्रुटिपूर्ण पठन-शैलीको, शब्द-विन्यास एवं उच्चारणको शुद्धरूपमें अभिव्यक्त करके परिष्कृत करता है। यह बहुत अच्छी विधि है; इसमें बालकोंका प्रत्यक्ष लाभ और सहज प्रगति संनिहित है। विचारात्मक पक्षके साथ क्रियात्मक पक्षपर ध्यान देना भी अत्यन्त आवश्यक है। किंडर-गार्टन, डाल्टन, मांटेसरी, प्रोजेक्ट तथा बेसिक शिक्षाकी नवीन प्रणालियोंके मूलमें यही दोनों दृष्टियाँ काम कर रही हैं। प्रेरक कारणोंके माध्यमसे बालकोंकी क्रियाशीलताको उत्तेजित करके उनकी जिज्ञासाको इतना तीव्र कर देना चाहिये कि वे अभीष्ट कार्य-सिद्धिसे संतुष्ट हो सकें। प्रतिभा-जागरणकी दृष्टिसे यह बहुत उचित है। मानसिक, वैचारिक तथा शब्द-रचनाके खेल भी बालकोंमें औत्सुक्यके साथ-साथ ज्ञानकी अभिवृद्धि करते हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रमके अन्तर्गत उद्वेगात्मक नाटकोंके माध्यमसे भाव-विभाव-प्रसूत, रस-संगुम्फित स्वस्थ उच्चारणकी उपलब्धि होती है। हास्य-रससे सिक्त कहानियोंसे क्रियात्मक पक्ष सबल होता है और मानसिक स्फुरताकी सृष्टि तथा ताजगी प्राप्त होती है। बालकके सुचारु विकासकी ये प्रशस्त भूमिकाएँ हैं। हमारे देशमें प्राथमिक शिक्षाके परिवर्धन एवं परिष्करणकी सबसे बड़ी समस्या है। आजकल समूह-शिक्षाका प्रचलन है। समूह-शिक्षणकार्य चलाते हुए बच्चोंकी व्यक्तिगत अभिरुचिके अनुसार विषय-चयन लाभदायक सिद्ध होता है। विषय-चयनके साथ-ही-साथ बालकोंमें अनुशासनके प्रति प्रेम, नियम-पालनके प्रति निष्ठा, स्वच्छतामें लगन तथा श्रमपूर्वक वस्तुओंको यथास्थान रखनेकी प्रवृत्तिका निरन्तर अभ्यास कराना चाहिये। अध्ययनके बाद अभ्यास और तब अनुभूतिकी उपलब्धि होती है। स्वास्थ्य-रक्षा-हेतु बालकोंके वस्त्र, भोजन, दाँत, सिर एवं पेटकी सफाई तथा सम्यक् साँस और सम्यक् निद्रा लेनेका ज्ञान तथा इनके अभ्यासके लिये उन्हें निरन्तर प्रेरित करके उनकी अभिरुचिमें वृद्धि करनी चाहिये। पुस्तक पढ़ते समय एवं गुरुसे प्रवचन श्रवण करते समय बैठनेके तरीकेका समुचित अभ्यास कराना चाहिये। महर्षियोंद्वारा उद्भाषित जन्मके पूर्व तथा पश्चात् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, अन्नप्राशन, निष्क्रमण तथा कर्णवेध आदि जीवन-विकासके प्रेरक संस्कारोंका बालकोंके स्वास्थ्यके लिये विशेष महत्त्व है। हमारे ऋषि-महर्षियोंने चार वर्णोंकी तरह समाजमें चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासकी व्यवस्था की है। चारों वर्णके व्यक्तियोंको वेदाज्ञानुसार यथाक्रम-यथोचित संस्कारोंसे सुसंस्कृत होनेका अधिकार प्राप्त है। बौधायन एवं आपस्तम्ब-सूत्र इसके प्रमाण हैं।

इन आश्रमोंका व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें विशेष योगदान है। शिक्षाके श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन—तीनों अङ्गोंपर समुचित ध्यान देना चाहिये।

इस समय आत्यन्तिक भौतिकताके दुष्प्रभावसे शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक प्रत्येक रूपमें आबाल-वृद्धोंके व्यक्तित्वका प्रत्यक्ष ह्रास हो रहा है। इससे राष्ट्रपर भी भयानक संकटके बादल मँडरा रहे हैं। ऐसे समयमें हमें अपने परिवार तथा समाजके वातावरणमें यथावश्यक सुधार और उचित संशोधनको प्रभावी करना अत्यन्त आवश्यक है। बालकोंके मनमें गम्भीर उत्तरदायित्व ग्रहण करनेकी क्षमता तथा सफलता प्राप्त करनेकी प्रबल आकाङ्क्षाकी भावनाका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। उनके अंदर आत्मविश्वास, त्याग, तपश्चर्या, राष्ट्रके प्रति निष्ठा, सभ्यता, संस्कृति तथा प्राचीन आदर्शोंके प्रति आस्थाका भाव जाग्रत् करके उन्हें सुयोग्य नागरिक बनाना आचार्यों और शिक्षक-वर्गका महान् कर्तव्य है। किसी भी राष्ट्रकी सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रगतिमें उस राष्ट्रकी शिक्षा-प्रणाली, शैक्षणिक सुविधाएँ, शिक्षाके स्तर, शिक्षितोंकी संख्या और नित्य-प्रतिके व्यावहारिक जीवनमें उनके पारस्परिक सम्बन्धोंका विशेष हाथ होता है।

अनुशासित विधिसे बालकोंकी सुप्त प्रतिभाको विकसित करके समाजका उत्तरदायी घटक तथा राष्ट्रका प्रखर चारित्र्य-सम्पन्न नागरिक बनाना हमारी शिक्षा-पद्धति तथा समस्त विद्यालयोंका प्रमुख उद्देश्य है। जब भारतीय (हिंदू) संस्कृतिकी शक्तिसम्पन्न नींवपर भारतीय शिक्षा-प्रणालीकी दीवार खड़ी होगी तभी हम एक सभ्य, सुसंस्कृत, शिष्ट, सौम्य एवं परिष्कृत नागरिकका निर्माण कर सकेंगे जो राष्ट्रके सर्वतोमुखी विकासमें सहायक सिद्ध होगा। बालकोंके अभ्यन्तरमें निर्भीकता, साहस, शौर्य एवं आत्म-विश्वासकी अभिवृद्धिके लिये सामूहिक खेलकूद तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमोंका आये दिन आयोजन करना चाहिये और उसमें भाग लेनेके लिये उन्हें निरन्तर प्रेरित करना चाहिये। हमारी संस्कृतिमें गुरुजनोंका सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति तथा प्राचीन आदर्श प्रलापमात्र नहीं हैं, प्रत्युत उस पद्धति तथा आदर्शोंके आचरणीय अंशको ग्रहण करके परम्परागत मूल्योंकी प्रतिष्ठाकी महती आवश्यकता है। वर्तमान समयमें शिक्षाके स्वरूप-निर्माणमें इन आधारभूत मान्यताओंपर ध्यान देकर ही हम भारतीय आदर्शके अनुरूप व्यक्तित्वका निर्माण कर सकते हैं जो सच्चे अर्थोंमें भारतीय कहलानेका अधिकारी होगा। हमें शिक्षाके आधारपर स्वदेश, स्वधर्म, स्वराज्य और आर्ष भारतीय संस्कृतिको सत्य, शिव और सुन्दरके संकल्पसे निरन्तर प्राणान्वित करते रहना चाहिये।

व्रजेश्वरका स्वरूप

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैः वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

प्रातःकालका समय है, माता यशोदाने श्रीश्यामसुन्दरका शृङ्गार कर दिया है। उन श्रीनन्दनन्दनके मस्तकपर मयूरके पंखोंका मुकुट लहरा रहा है, श्रेष्ठ नटके समान गठीला तथा सजा हुआ उनका श्यामवर्ण शरीर है, उनके कानोंमें अमलतासके फूलोंके गुच्छे लटक रहे हैं, शरीरपर सोनेके समान चमचम चमकता हुआ वस्त्र है, गलेमें वैजयन्ती माला लटक रही है, ओष्ठपर वंशी लगी है और उसे वे बड़े ललित ढंगसे बजा रहे हैं, सहस्रों गोपकुमार उन्हें घेरकर उनका सुयश गाते चल रहे हैं। इस प्रकार वे त्रिभुवनसुन्दर गोचारणके लिये अपने चरणचिह्नोंसे भूमिको अलंकृत करते हुए वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं।



प्राचीन भारत की शिक्षा

शिक्षाके संदर्भमें भारतका प्राचीन दृष्टिकोण

('पद्मश्री' डॉ॰ श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम॰ए॰, डि॰ लिट्॰)

शिक्षाकी चर्चा करते समय साधारणतया मनमें जिन प्रश्नोंका उदय होता है, वे ये हैं—१-शिक्षा किसे कहते हैं? २-शिक्षाका स्रोत क्या है? ३-शिक्षा कौन देता है? ४-शिक्षा कौन लेता है? और ५-शिक्षाका लाभ क्या है? इन प्रश्नोंके संक्षिप्त उत्तरके रूपमें निम्न पङ्क्तियाँ प्रस्तुत हैं।

'शिक्षा' सस्कृत-भाषाका शब्द है और इसका व्याकरण-सम्मत अर्थ है—विद्याको ग्रहण करना। विद्याका प्रत्नतम स्रोत वेद है। शिक्षक अर्थात् गुरु विद्या देता है। शिक्ष्य अर्थात् शिष्य विद्याको ग्रहण करता है और इसका लाभ द्विविध है—(अ) सांसारिक अभ्युदय एवं (आ) निःश्रेयस्‌की प्राप्ति।

विद्याका वैविध्य

छान्दोग्य-उपनिषद्‌के एक प्रसङ्गमें यह कहा गया है कि एक बार देवर्षि नारद विद्या-प्राप्तिके लिये सनत्कुमारजीके पास गये। सनत्कुमारजीने पूछा—'नारदजी! आपने अबतक क्या-क्या सीख लिया है?' इस प्रश्नके उत्तरमें नारदजीने अनेक लौकिक विद्याओंके नाम गिना दिये।

विद्याएँ और कलाएँ

१४ विद्याएँ और ६४ कलाएँ शिक्षणीय हैं। ४ वेद, ६ अङ्ग, पुराण-साहित्य, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र—ये १४ विद्याओंके भण्डार हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति १।१।३)

६४ कलाओंके नाम वात्स्यायन-विरचित कामसूत्र आदि ग्रन्थोंमें दिये गये हैं। इनमें नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र और वास्तु (गृह-निर्माण)—ये कलाएँ प्रमुख हैं।

परा और अपरा विद्या

विद्याके १४ स्रोत ऊपर गिनाये गये हैं। इनमें दो प्रकारकी विद्याओंका समावेश है—एक अपरा कहलाती है और दूसरी परा। संसारमें अभ्युदय दिलानेवाली अपरा है और भव-बन्धनसे मोक्ष दिलाकर परमात्म-सायुज्यकी प्राप्ति करानेवाली परा है—

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥

(मुण्डकोपनिषद् १।५)

शिक्षकके स्तर

शिक्षा देनेवाले व्यक्तिको शिक्षक कहा जाता है, किंतु प्राचीन ग्रन्थोंमें इसके तीन स्तर प्राप्त होते हैं। सर्वोच्च आचार्य था तथा दूसरे स्तरपर उपाध्याय और तीसरे स्तरपर गुरु था—

(अ) उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
साङ्गं च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

(मनुस्मृति २।१४०)

अर्थात् 'आचार्य उसे कहते हैं, जो शिष्यको उसके उपनयनके पश्चात् शिक्षादि अङ्गोंके साथ तथा रहस्योंकी व्याख्याके साथ समग्र वेदकी विद्या प्रदान करता है।'

(आ) एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥

(मनुस्मृति २।१४१)

अर्थात् 'उपाध्याय वह कहलाता है, जो अपनी आजीविकाके लिये शिष्यको वेदके एक अङ्गकी अथवा वेदके सभी अङ्गोंकी शिक्षा देता है।'

(इ) निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥

(मनुस्मृति २।१४२)

अर्थात् 'गुरु वह व्यक्ति कहलाता है, जो अपने यजमानके यहाँ गर्भाधान आदि संस्कारोंको विधिपूर्वक कराता है और (अपने गुरु-कुलमें) शिष्योंके भोजनका प्रबन्ध करता है।'

गुरुकी गरिमा

शिक्षक, आचार्य, उपाध्याय और अध्यापक शब्दोंकी अपेक्षा लोकव्यवहारमें पढ़ानेवाले व्यक्तिके लिये 'गुरु' का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा। गुरु शब्दकी व्याख्या कई प्रकारसे की जाती है। उदाहरणार्थ—

(अ) **'गरति सिञ्चति कर्णयोर्ज्ञानामृतम् इति गुरुः'** अर्थात् जो शिष्यके कानोंमें ज्ञानरूपी अमृतका सिंचन करता है वह गुरु है **(गृ सेचने भ्वादिः)**।

(आ) **'गिरति अज्ञानान्धकारम् इति गुरुः'** अर्थात् जो अपने सदुपदेशोंके माध्यमसे शिष्यके अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट कर देता है वह गुरु है **(गृ निगरणे तुदादिः)**।

(इ) **'गृणाति धर्मादिरहस्यम् इति गुरुः'** अर्थात् जो शिष्यके प्रति धर्म आदि ज्ञातव्य तथ्योंका उपदेश करता है वह गुरु है **(गृ शब्दे क्र्यादिः)**।

(ई) **'गारयते विज्ञापयति शास्त्ररहस्यम् इति गुरुः'** अर्थात् जो वेदादि शास्त्रोंके रहस्यको समझा देता है वह गुरु है **(गृ विज्ञाने चुरादिः)**।

शिष्य-वर्गमें अपने गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश और परब्रह्मके समकक्ष माननेकी यह सूक्ति बहुत प्रचलित है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

सब प्रकारके शिक्षकोंके लिये गुरु शब्दका प्रयोग सार्वभौमवत् प्रतीत होता है। महर्षि याज्ञवल्क्यने लिखा है—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति १।२।१५)

अर्थात् 'उपनयनकी विधि सम्पन्न हो जानेपर गुरु अपने शिष्यको **'भूः भुवः स्वः'**—इन व्याहृतियोंका उच्चारण कराकर वेद पढ़ावे और दन्तधावन एवं स्नान आदिके द्वारा शौचके नियमोंको सिखावे तथा उसके हितावह आचारकी भी शिक्षा दे।' आचार परम धर्म माना गया है। इसके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें बहुत कुछ लिखा गया है। उदाहरणार्थ—याज्ञवल्क्यस्मृति तीन प्रधान अध्यायोंमें विभक्त है। इनमें प्रथम अध्याय आचाराध्याय ही है। आचारादर्श आदि अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी आचार-विषयक सामग्रीसे परिपूर्ण हैं।

गुरुतम गुरु

प्रायः सभी व्यक्तियोंके गुरु पृथक्-पृथक् होते हैं, किंतु श्रीभगवान् तो सभीके गुरु हैं। वे लोक-पितामह ब्रह्माजीके भी गुरु हैं—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(योगसूत्र १।२६)

ब्रह्माजीने सर्गके आरम्भमें श्रीविष्णु भगवान्से ही वेद-विद्या प्राप्त की थी—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१८)

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये।

(श्रीमद्भागवत १।१।१)

अतएव श्रीभगवान्‌को 'गुरुतम गुरु' मानना समीचीन है। श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रमें यह २१०वाँ नाम है।

शिष्यकी योग्यता

आचार्य यास्कने निरुक्तमें संहितोपनिषद्से विद्या-ब्राह्मण-संवादके चार मन्त्र उद्धृत किये हैं। उनसे विदित होता है कि शिक्षक कैसे व्यक्तिको शिष्यरूपमें अङ्गीकार करके उसे विद्याका उपदेश दे—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।

अर्थात् 'विद्या (की अधिष्ठात्री देवता) ने विद्वान् ब्राह्मणके निकट आकर कहा कि 'मैं तुम्हारी सम्पत्ति हूँ। अतएव मेरी रक्षा करो। योग्य व्यक्तिको ही उपदेश देना, अयोग्यको नहीं। यदि ऐसा करोगे तो मैं शक्ति-सम्पन्न बनी रहूँगी।' निरुक्त २।१।४ में कहा गया है—

असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्।

अर्थात् 'गुणोंमें दोषदर्शी, कुटिल स्वभाववाले और मन आदि इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाले व्यक्तिको मुझे मत देना।'

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत कतमच्चनाह॥

अर्थात् 'शिष्यका यह कर्तव्य है कि जो व्यक्ति उसके कानोंमें सुखपूर्वक सत्य सिद्धान्तामृतका सिंचन करता है और उसे इस प्रकार अमृतका दान करता है, उसे अपना पिता और माता समझे एवं उस गुरुसे कभी द्रोह न करे।'

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥

अर्थात् 'वे छात्र अपने गुरुसे (गुरुकुलमें) भोजन प्राप्त करनेके योग्य नहीं हैं जो मन, वाणी और कर्मसे उनका आदर न करें। विद्या ऐसे छात्रोंकी रक्षा नहीं करती।'

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।

अर्थात् जिस व्यक्तिको तुम शुचि, अप्रमत्त, मेधावी और ब्रह्मचर्य-सम्पन्न समझो, उसे उपदेश दो। शुचिका अर्थ है पवित्र। जो दन्तधावन एवं स्नान आदिद्वारा शरीरको तथा अपनी वस्त्रादि सामग्रीको शुद्ध रखता है वह शुचि है। जो अपने कार्य-कलापमें सर्वदा और सर्वथा सावधान रहता है, वह अप्रमत्त कहलाता है। मेधावी वह है जो एक बार गुरुमुखसे सुने सिद्धान्तको समग्ररूपसे याद रखता है। ब्रह्मचारी वह है जो अष्टधा (श्रवण, स्मरण, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्तिवाले) मैथुनसे अपनेको बचाये रखता है। ऐसे योग्य व्यक्तिको विद्याका उपदेश दो।

गुरुकुल

शिक्षाके लिये ऋषि-मुनियोंने गुरुकुलकी प्रणालीका आविष्कार किया था। ये गुरुकुल ग्रामों और नगरोंसे दूर प्रकृतिके शान्त वातावरणमें होते थे। नैसर्गिक जलवायु और सात्त्विक आहार-विहारके परिवेशमें प्राप्त शिक्षा आनन्दमयी ही होती थी, किंतु वहाँ विलासमय जीवनकी नहीं, अपितु तपोमयी चर्याकी मान्यता थी। आर्थिक वैषम्य अथवा जाति-वर्णका पार्थक्य गुरुकुलमें छात्रोंके प्रवेशमें बाधक नहीं था। श्रीकृष्ण और सुदामाका एवं आचार्य द्रोण और द्रुपदका छात्र-जीवन इसमें निदर्शन है। समस्त अन्तेवासीवर्गमें अपने गुरुजन तथा कुलपतिके प्रति अगाध श्रद्धा रहती थी। प्रत्येक छात्र अपने गोत्र और नामका उच्चारण करता हुआ अपने शिक्षकका अभिवादन करता था और प्राप्त करता था दीर्घायुष्य तथा वैदुष्यका आशीर्वाद। विद्या एवं व्रतकी समाप्तिपर, गृहस्थाश्रममें प्रवेशसे पूर्व, सभी छात्र यथाशक्ति गुरु-दक्षिणा दिया करते थे। वरतन्तुके शिष्य कौत्सने महाराज रघुसे याचना करके विपुल धन-राशि गुरु-चरणोंमें अर्पित कर दी थी— (द्रष्टव्य रघुवंशका पञ्चम सर्ग) और भगवान् श्रीकृष्णने गुरु-पत्नीके आदेशका पालन करते हुए संयमनीसे उनकी दिवंगत संतान लाकर दी थी (द्रष्टव्य-श्रीमद्भागवत १०।४५।४७)। इतिहास ऐसी घटनाओंका साक्षी है।

शिक्षाके क्षेत्रमें नर-नारीका साहचर्य प्राचीन ऋषि-मुनियोंको मान्य नहीं था। **'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्'** का उपदेश देनेवाले मनु आदि स्मृतिकार गुरुकुलमें बालक-बालिकाओंके, किशोर-किशोरियोंके, युवक-युवतियोंके सहाध्ययनकी आज्ञा कैसे दे सकते थे?

कैशोर अथवा नवयौवन समाप्त होनेपर कन्याओंके समक्ष दो मार्ग थे—(१) विवाह और (२) वीतराग तपस्वीके चरणोंमें योग-चर्याका अवलम्बन अथवा रुचि-भेदके कारण ज्ञान-निष्ठाका आश्रय। सुलभा नामकी महिला योग-सिद्धा थी और गार्गी वाचक्नवी ज्ञान-निष्ठा थी, किंतु ऐसी महिलाएँ संख्यामें विरली ही होती थीं। प्रायः कन्याएँ विवाहके अनन्तर पति-सेवाके द्वारा उसी पुण्यको प्राप्त कर लेती थीं, जिसे ब्रह्मवादिनी या योगाभ्यासिनी महिलाएँ किसी तपोवनके वीतराग महर्षिके चरणोंमें रहकर प्राप्त करती थीं **'पतिसेवा गुरौ वासः।'**

किशोर-किशोरियोंका साहचर्य किसी सीमातक क्षम्य हो सकता है । शुक्राचार्यके गुरुकुलमें दैत्य-गुरुकी पुत्री देवयानीने देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र कचसे अपने प्रणयकी प्रार्थना कर ही दी थी । देवगुरुका पुत्र संयमी था, अतएव उसने देवयानीके प्रणयको अनय (नीति-विरुद्ध) मानकर उसे स्वीकार नहीं किया ।

शिक्षाकी वेदाङ्गता

विविध विद्याओंके प्राचीनतम भाण्डागार वेदके अध्ययनमें किसी प्रकारकी असावधानी न हो जाय—इस बातका ध्यान रखते हुए तैत्तिरीयोपनिषद्में कहा गया है—

अथ शीक्षां व्याख्यास्यामो वर्णः स्वरो मात्रा बलं साम संतान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ।

अर्थात् अब हम शिक्षाकी व्याख्या करेंगे कि शिक्षा क्या है? सीखना क्या है? स्वर और व्यञ्जनके रूपमें विभक्त वर्ण-समुदायका स्पष्ट उच्चारण नितान्त आवश्यक है । दन्त्य सकार, तालव्य शकार और मूर्धन्य षकारके उच्चारणमें छात्र प्रायः अनवधानतावश दोषी पाये जाते हैं । उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामवाले स्वरोंके समीचीन प्रयोगके लिये अध्येता अपने हाथका संकेत किया करते हैं । लघु और गुरु मात्राका ध्यान परम आवश्यक है । पाठ करते समय किस शब्दपर अथवा किस वर्णपर बलका प्रयोग करना है—यह गुरुजन अपने शिष्योंको सिखाया करते हैं । मन्त्रके उच्चारणमें न बहुत शीघ्रता करनी चाहिये और न बहुत विलम्ब । इस अद्रुतविलम्बोच्चारणको साम कहा जाता है । वर्णोंकि परम संनिकर्षको संतान नाम दिया गया है । **'ज'** और **'ञ'** के संतानसे बननेवाले **'ज्ञ'** का उच्चारण गुरूपदिष्ट प्रणालीसे ही होना चाहिये । संयुक्ताक्षरोंके शुद्ध उच्चारणसे पाठमें सरसता आती है । यह थी मन्त्रोंके उच्चारणके विषयमें शिष्योंके लिये गुरुजनकी प्रारम्भिक सीख ।

उपरितन विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त है, अतएव परवर्ती विद्वान् लेखकोंने अपनी रचनाओंमें इसका विस्तार किया है । इनके बनाये पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य-शिक्षा आदि ग्रन्थ अध्येतृवर्गमें समादृत हैं । ६० पद्योंवाली पाणिनीय शिक्षासे पाठकोंके परिचयके लिये ३२वें और ३३वें पद्योंको उद्धृत कर रहा हूँ—

गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥
माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥

अर्थात् 'गाकर पढनेवाला, बहुत शीघ्र पढनेवाला, सिरको हिला-हिलाकर पढ़नेवाला, जैसा लिखा हो वैसा ही पढ़ देनेवाला (अर्थात् लिपिकके भ्रमसे लिखे गये अशुद्ध शब्दोंको अशुद्ध ही पढ़नेवाला), अर्थको बिना जाने पढ़नेवाला और निर्बल गलेवाला व्यक्ति अच्छा पाठक नहीं माना जाता । इसके विपरीत अच्छे पाठकके पाठमें मधुरता होती है, प्रत्येक अक्षर स्पष्ट सुनायी देता है, पदोंका पार्थक्य विशद और निर्भ्रान्त होता है, स्वर-श्रवण सुखद होता है, गाम्भीर्य होता है और होती है भावानुकूल लय ।

छः शास्त्रोंको वेद-पुरुषके अङ्गोंके समान माना गया है । उनमें शिक्षाशास्त्रको नासिकाका स्थान दिया गया है—

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य ।

शिक्षाकी सार्थकता

प्रकृतिके साम्राज्यमें सर्वत्र सत्त्व, रज और तमकी त्रिवेणीका प्रवाह बह रहा है । शिक्षा भी इस प्रवाहसे पूर्णरूपसे मुक्त नहीं है । वह भी सात्त्विकी, राजसी और तामसीके भेदसे तीन प्रकारकी है । तामसी शिक्षाके स्रोत वे व्यक्ति हैं, जो स्वयं अनाचार और दुराचारमें आकण्ठ निमग्न हैं और अपने सम्पर्कमें आनेवालोंको भी वैसा ही बनानेके लिये लालायित रहते हैं । राजसी शिक्षाके पक्षपाती वे व्यक्ति हैं, जो सांसारिक वैभवकी लिप्सामें अपना समय व्यतीत करते हैं और अपने सुहृद्-वर्गको भी वैसे कष्ट-बहुल वैभवके भोगकी प्रेरणा देते रहते हैं । तीसरी सात्त्विकी शिक्षाके शिक्षक वे महानुभाव हैं, जो व्यक्तिगत सुख-शान्तिकी कामना करते हुए तथा पारिवारिक उन्नतिको दृष्टिमें रखते हुए बहुजन-हिताय यत्नशील हैं । इनका लक्ष्य है जागतिक सर्वाङ्गीण अभ्युदय एवं पारमार्थिक चिरन्तन निःश्रेयस् ।

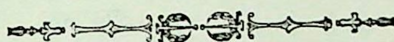
ऐसी सात्त्विकी शिक्षाके स्रोत हैं हमारे वेद और वेदानुयायी अन्य सभी शास्त्र । वेदोंमें मानवमात्रके उद्धारके लिये दो प्रकारके वचन मिलते हैं, जिन्हें विधि और निषेध कहा गया है । विधि-वाक्यके द्वारा किसी कामको करनेके लिये शिक्षा दी जाती है और निषेध-वाक्यके द्वारा किसी कामको न करनेकी शिक्षा दी जाती है । उदाहरणार्थ—

विधिवाक्य—(१)'**जिजिविषेच्छत ँ् समाः**' अर्थात् मनुष्यको सौ वर्षतक जीवित रहनेकी इच्छा करनी चाहिये । (२) '**कृषिमित् कृषस्व**' अर्थात् खेती-बाड़ी करो । (३) '**सत्यं ब्रूयात्**' अर्थात् सच बोलना चाहिये । (४) '**मातृदेवो भव**' अर्थात् माताका देवताके समान अदार करो ।

निषेध-वाक्य—(१) '**मा गृधः कस्यस्विद् धनम्**' अर्थात् किसीके धनको गृध्र-दृष्टिसे मत देखो । (२) '**अक्षैर्मा दीव्यः**' अर्थात् जुआ मत खेलो । (३) '**मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि**' अर्थात् प्राणियोंकी हिंसा मत करो ।

(४) '**न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्**' अर्थात् ऐसा सच मत बोलो जो सुननेवालेको अप्रिय लगे ।

ऐसे वचनोंसे हमें अनेकानेक शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं । जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें उपयोगी शिक्षाओंका समुदाय हमारे आर्ष ग्रन्थोंमें उपलब्ध हैं । उनका आश्रय लेकर, उनके अनुसार अपना आचरण बनाकर, हम न केवल अपने वर्तमान जीवनको सुखमय बना सकते हैं; अपितु कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, योगमार्ग अथवा भक्ति-मार्गद्वारा उन्नतिके पथपर अग्रसर होकर परम आनन्दका भी अनुभव कर सकते हैं । शिक्षाके संदर्भमें यही प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण है ।



भारतीय प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था

(आचार्य पं० श्रीसीतारामजी चतुर्वेदी)

भारतीय वैदिक विधानके अनुसार बालकका प्रथम विद्यापीठ माताका गर्भ ही माना जाता था । इसी कारण गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारोंमें गर्भस्थ बालकके कल्याणके साथ-साथ उसके तेज, पराक्रम, ब्रह्मवर्चस्व तथा मेधा आदिके संवर्धनकी भी मङ्गल-कामना की जाती थी । जन्मके पश्चात् माता ही बालकका प्रथम गुरु होती है । वही बालकको समयसे सोने-जागने, उठने-बैठने, अभिवादन करने, बड़ोंका आदर करने तथा उचित संस्कारके साथ बोलने-चालनेका अभ्यास कराती थी । यह शिक्षा माताएँ तीन वर्षतक बालकोंको देती रहती थीं ।

माताके पश्चात् बालकका दूसरा गुरु पिता होता था, जो पाँच वर्षकी अवस्थातक बालकमें सामाजिक तथा धार्मिक आचार-व्यवहार, परिवार और पड़ोसके लोगोंके साथ सद्व्यवहारके साथ पैतृक-व्यवसायका प्रारम्भिक संस्कार डाल देता था । इसी अवस्थामें या तो पिता ही अक्षर-ज्ञान और अङ्कज्ञान करा देता था या खण्डिकोपाध्यायकी चटसालमें भेज देता था, जहाँ वह गुरुके प्रति आदर और सहपाठियोंके साथ स्नेह, सहयोग, सेवा तथा सद्भावका अभ्यास करता हुआ लिखना-पढ़ना, गिनती-पहाड़ा और भाषा सीखता चलता था । विद्यारम्भ प्रायः पाँचवें वर्षमें कराया जाता था, किंतु कभी-कभी उपनयन-संस्कारोंके साथ भी करा दिया जाता था ।

परिषद् या सावासविद्यालय

प्राचीन भारतमें शिक्षाकी सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था परिषद् थी । ये परिषदें अत्यन्त गण्य-मान्य विद्वानोंकी समितियाँ थीं, जो समय-समयपर सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक समस्याओंपर विचार करके देश, काल, नीति, धर्म तथा औचित्यके अनुसार व्यवस्था या निर्णय दिया करती थीं । इनकी दी हुई व्यवस्था राजा और प्रजा

दोनोंको समान रूपसे मान्य होती थी। इन परिषदोंके सभी सदस्य धुरंधर विद्वान्, नीतिज्ञ, विवेकशील, निष्पक्ष, महापुरुष ही होते थे। इन विद्वानोंकी विद्वत्ता, निरीहता, आत्मत्याग और सुशीलतासे आकृष्ट होकर अनेक विद्याप्रेमी और ज्ञान-पिपासु छात्र तथा विद्वान् दूर-दूरसे उनसे ज्ञान प्राप्त करने या शङ्काओंका समाधान कराने आते थे। धीरे-धीरे इन्हीं परिषदोंने महागुरुकुलों या सावास-विश्वविद्यालयोंका रूप ग्रहण कर लिया।

इन परिषदोंमें प्रायः इक्कीस सदस्य होते थे, जो वेद, शास्त्र, धर्म और नीतिके प्रकाण्ड सर्वमान्य पण्डित होते थे। इन परिषदोंके सदस्योंकी आदर्श संख्या तो दस थी, किंतु परिस्थितिके अनुसार इनकी संख्या घटकर चारतक आ गयी थी। इन परिषदोंका एक केन्द्र तो काशी था और दूसरा गान्धारकी राजधानी तक्षशिला नगर था।

गुरु

हमारे यहाँ गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् परब्रह्मतक महनीय बताया गया है। प्राचीन युगमें गुरु बननेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको ही मिला था, जो अन्य विद्याओंके साथ-साथ शस्त्र-विद्या, युद्धनीति तथा अर्थशास्त्र भी पढ़ाते थे, किंतु यह छूट अवश्य थी कि यदि ब्राह्मण गुरु न मिले तो क्षत्रिय गुरुसे भी विद्या प्राप्त की जा सकती थी और ब्रह्मविद्या तो किसी भी अधिकारीसे प्राप्त की जा सकती थी।

आगे चलकर इन गुरुओंके दो भेद हो गये—एक शिक्षा-गुरु, दूसरे दीक्षा-गुरु। जो विद्वान् केवल विभिन्न शास्त्र मात्र पढ़ाता था, वह शिक्षा-गुरु कहलाता था और जो उपनयनके पश्चात् छात्रको अपने साथ रखकर उसे आचार-विचार भी सिखाता था, उसे दीक्षा-गुरु कहते थे। ये दीक्षा-गुरु अपने छात्रोंको रहनेका स्थान भी देते थे और उनके भोजनकी व्यवस्था भी करते थे। इतना ही नहीं, यदि कोई छात्र किसी दूसरे आचार्यसे कोई विद्या पढ़ना चाहता था तो उसे दूसरे गुरुके पास जाकर पढ़नेकी सुविधा भी देते थे।

स्मृतियोंमें चार प्रकारके शिक्षक माने गये हैं—कुलपति, आचार्य, उपाध्याय और गुरु। जो ब्रह्मर्षि विद्वान् दस सहस्र मुनियों (विद्याका मनन करनेवाले ब्रह्मचारियों) को अन्न-वस्त्र आदि देकर पढ़ाता था, वह 'कुलपति' कहलाता था। जो अपने छात्रोंको कल्प (यज्ञ करनेकी विधि) और रहस्य (उपनिषद्) के साथ वेद पढ़ाता था, वह 'आचार्य' कहलाता था। जो विद्वान् मन्त्र और वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, व्याकरण और छन्द) पढ़ाता था, वह 'उपाध्याय' कहलाता था और जो विद्वान् अपने छात्रोंको भोजन देकर वेद-वेदाङ्ग पढ़ाता था, वह 'गुरु' कहलाता था। उस समय यही विश्वास था कि विद्या-दानसे बढ़कर कोई दान नहीं है; क्योंकि विद्या पढ़ानेसे जीवकी मुक्ति हो जाती है। इसीलिये अनेक विद्वान् सब प्रकारकी तृष्णाको त्यागकर लोक-कल्याणकी कामनासे छात्रोंको विद्या-दान करते ही रहते थे।

शिक्षामें शिष्टाचार

उपनयनके पश्चात् गुरु अपने समागत शिष्यको ऐसे शिष्टाचारकी शिक्षा देते थे कि किस प्रकार अपने गुरु, सहपाठी और अतिथिके साथ व्यवहार करना चाहिये। इस शिष्टाचारकी शिक्षाके साथ-साथ बालकमें नियमित नित्यकर्म, संध्यावन्दन, हवन, गुरु-शुश्रूषा तथा अपनेसे बड़े छात्रोंके प्रति आदरका संस्कार डाला जाता था। ऐसे शिष्टाचारका संस्कार पड़ चुकनेपर ही बालककी शिक्षा प्रारम्भ होती थी।

गुरु और शिष्य

गुरुका कार्य केवल पढ़ाना ही नहीं था। उनका यह भी धर्म था कि वे छात्रोंके आचरणकी भी रक्षा और देख-रेख करें, उनमें सदाचारकी भावना भरें, उनकी बौद्धिक योग्यतामें संवर्धन करें, उनके कौशल और उनकी प्रतिभाकी सराहना करके उनकी सर्वाङ्गीण अभिवृद्धिमें सहायता करें, वात्सल्य-भावसे उनका पोषण करें, उनके भोजन-वस्त्रकी समुचित व्यवस्था करें, उनके रुग्ण हो जानेपर उनकी सेवा करें, जिस समय भी वे विद्या सीखने या शङ्काका समाधान कराने आवें उसी समय उनकी शङ्काका समाधान करें, उन्हें पुत्रके समान मानें और यदि कोई शिष्य विद्या-बुद्धि-कौशलमें अपनेसे बढ़ जाय तो इसे अपना गौरव समझें।

शिष्य भी गुरुको पिता और देवता मानकर उनमें अखण्ड श्रद्धा रखते थे। गुरुकुलमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी सब समान रूपसे रहते थे। उनमें छोटे-बड़े, राजा-रंक, धनी-निर्धनका कोई भेद नहीं होता था। गुरुके एक वाक्यको शिष्य अपने लिये अमृत-वाक्य समझता था और उनके आदेशके पालनको अपना अहोभाग्य मानता था। वह सब प्रकारसे गुरुकी कृपा तथा आशीर्वाद प्राप्त करने और उन्हें प्रसन्न रखनेके लिये प्रयत्नशील रहता था। यही कारण था कि उस युगके सभी शिष्य एक-से-एक बढ़कर सच्चरित्र, मेधावी, विद्वान् और तेजस्वी होकर निकलते थे। वे तपस्वी और गुरु-भक्त शिष्य अपने गुरुओंकी सेवा करते थे, उनके पैर दबाते थे, उनके जूठे बर्तन माँजते थे, उनके लिये दूर-दूरसे जल भरकर लाते थे और शुद्ध हृदयसे उनका इतना सम्मान करते थे कि गुरुजीकी जो भी आज्ञा होती थी उसका तत्परताके साथ तत्काल पालन करते थे। वे सदा गुरुजीके पीछे चलते थे, गुरुजी यदि उन्हें बुलाते तो वे गुरुजीकी बाँयीं ओर खड़े होकर उनकी बात सुनते। यदि गुरुजी हाथमें कुछ लेकर चलते होते तो शिष्य दौड़कर स्वयं वह वस्तु उनके हाथसे लेकर उनके पीछे-पीछे चलने लगते। वे सदा यह ध्यान रखते थे कि गुरुजीको किसी प्रकारका कष्ट या असुविधा न हो। अध्ययनके समय वे गुरुजीके दोनों पैर धोकर आचमन करके गुरुजीके सामने बैठकर अध्ययन करते थे।

गुरुकुलमें ब्रह्मचारीका धर्म था कि वह गुरुके बुलानेपर निकट आकर उनसे वेद पढ़े, मननपूर्वक वेदके अर्थपर विचार करे, मूँजकी मेखला, कृष्णाजिन (काले हरिणकी छाल), दण्ड, रुद्राक्षकी जपमाला, ब्रह्मसूत्र और कमण्डलु धारण करे, स्वयं बढ़ी हुई जटाएँ धारण किये रखे, दन्तधावन करे, पहननेके वस्त्र न धुलावे, रंगीन आसनपर न बैठे, कुशा लिये रहे, स्नान, भोजन, जप और मल-मूत्र त्यागनेके समय मौन रहे, नख न काटे, पवित्र और एकाग्र होकर प्रातः-सायं संध्याओंमें मौन होकर गायत्रीका जप करता हुआ अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, बड़े-बूढ़ों और देवताओंकी उपासना करता हुआ संध्या-वन्दन करे। आचार्यको सदा साक्षात् ईश्वर समझे, उनकी किसी भी बातका बुरा न माने, जो कुछ भिक्षा मिले सब गुरुजीके आगे लाकर रख दे। उनके भोजन कर चुकनेपर गुरुकी आज्ञा पाकर संयत-भावसे उसमेंसे स्वयं भी भोजन करे, नम्रतापूर्वक गुरुके निकट ही रहकर सदा गुरुकी सेवा करे, गुरु चलने लगें तो स्वयं भी उनके पीछे-पीछे चले, गुरु सो जायँ तभी सोये, गुरु लेटे हों तो पास बैठकर उनके पैर दबाता रहे और जबतक विद्याध्ययन पूर्ण न हो जाय तबतक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुलमें रहे। यदि उसे महः, जनः, तपः अथवा ब्रह्मलोकमें जानेकी इच्छा हो तो बृहद्व्रत (नैष्ठिक ब्रह्मचर्य) धारण करके जीवनभर गुरुकी सेवा करता हुआ विद्याएँ सीखता रहे। इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य ब्रह्मचारी प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी हो जाता है। ऐसे निष्काम नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी कर्म-वासनाएँ तीव्र तपसे भस्म हो जाती हैं और अन्तमें वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

यह भारतका दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि ऐसी उदात्त शिक्षाव्यवस्था हमारे देशसे पूर्णतः लुप्त हो गयी और आज हमारी सम्पूर्ण शिक्षा केवल परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने-करानेका साधनमात्र बनी रह गयी हैं। गुरु-शिष्यका पवित्र सम्बन्ध समाप्त हो गया है और शिक्षा एक व्यवसाय मात्र रह गयी है, विमुक्ति दिलानेवाली विद्या स्वप्न हो गयी है।

जिस वाणीसे सत्त्वगुण, ज्ञान और भक्तिकी वृद्धि हो तथा मन शान्त हो ऐसा भाषण करना ही मुख्य कर्तव्य है। यदि मनुष्यको प्रेमी, निःस्वार्थी, उदारप्रकृति, निरभिमान, श्रोत्रिय और भगवन्निष्ठ गुरु प्राप्त हों तो उनके ही चरणकमलोंमें आत्मविसर्जन करना उसका मुख्य कर्तव्य है।

भारतीय प्राचीन शिक्षाका स्वरूप

(श्रीनारायणजी पुरुषोत्तम सांगाणी)

हमारे ऋषि-मुनि प्रातःस्मरणीय हैं । उनके द्वारा प्रणीत इतिहास-पुराणोंको देखनेसे प्रतीत होता है कि पूर्वकालमें भारत राष्ट्र सभी प्रकारसे उन्नति-अभ्युदयके शिखरपर था । ज्ञान-विज्ञान, बल-बुद्धि, धन-धान्य, सुख-सम्पत्ति, ऐश्वर्य-वैभव, प्रेम-परोपकार, शील-सदाचार, व्यापार-वाणिज्य, कारीगरी-उद्योग और कला-कौशल आदि प्रत्येक विषयमें इस देशने अत्यधिक विकास करके कल्पनातीत सामर्थ्य प्राप्त किया था ।

प्राचीनकालमें ऐसे अनुपम एवं अद्भुत शक्ति-सामर्थ्यके प्राप्त होनेका कारण यह था कि यहाँके लोग अध्यात्मवादी ज्ञानपरायण थे । वे ईश्वर और धर्मको ही अपना सर्वस्व मानते थे । उनकी वेद-शास्त्रों और वर्णाश्रम-धर्ममें अटल श्रद्धा थी और तदनुसार आचरणके लिये वे सदैव प्राणोंकी बाजी लगानेमें भी कटिबद्ध थे ।

शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये बालक-अवस्थामें ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुके घर रहकर विद्याभ्यास करनेका निर्देश है । प्राचीनकालमें ब्राह्मणोंके आश्रम—घर विद्यार्थियोंके लिये सर्वथा निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करनेके लिये स्थान थे । भगवान् वेदव्यास, भृगु, भरद्वाज, वसिष्ठ, च्यवन, याज्ञवल्क्य, अङ्गिरा-जैसे महाशाल कुलपतिके आश्रमोंमें दस-दस हजार बालक ब्रह्मचर्यसे रहकर संयम-नियमका पालन, सत्य-सदाचारका सेवन और गुरु तथा गायोंकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए यथाधिकार उपनयन-संस्कार कराकर विद्याज्ञानका उपार्जन करते थे ।

आजकलके स्कूल-कालेजोंमें जहाँ अपनी शक्तिसे बाहर कक्षाशुल्क भरकर, आत्माको कुचलकर और कापी-पुस्तकोंपर भी पर्याप्त व्यय करके भी बालक केवल विदेशी 'भाषाज्ञान'- विज्ञान ही सीखते हैं और धर्म-कर्म तथा शौर्य-वीर्य-मन्त्रशक्तिसे वञ्चित होकर स्वच्छन्दाचारी बनकर केवल नौकरी-गुलामीके लिये ही तैयार होते हैं, वहाँ प्राचीन शिक्षण-प्रथा इससे सर्वथा विलक्षण थी। प्राचीन शिक्षामें अष्टादश विद्याएँ मुख्य थीं और उन्हींका शिक्षण फल-फूलोंसे लदे हुए पवित्र वन-जंगलोंके एकान्त रमणीय प्रदेशोंमें, गङ्गा, यमुना, नर्मदा, कावेरी, तुङ्गभद्रा, गोदावरी-जैसी पवित्र नदियोंके तटपर प्रतिष्ठित ऋषियोंके गुरुकुलोंमें अथवा ब्रह्मचर्याश्रमोंमें दिया जाता था । इन अठारह विद्याओंका स्वरूप महर्षि याज्ञवल्क्य आदिने इस प्रकार बतलाया है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥
(उपवेदसहिता ह्येता विद्या ह्यष्टादशस्मृताः ॥

श्रीमद्भागवत, स्कन्द, पद्म, ब्रह्म आदि पुराण, न्यायशास्त्र, पूर्व और उत्तरमीमांसा आदि दर्शन-शास्त्र, मनु-याज्ञवल्क्य-पराशर-यम-आपस्तम्बादिके धर्मशास्त्र, शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त—ये छः वेदके अङ्ग तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—ये चारों वेद और आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और शिल्पादि-वेद—ये चार उपवेद—यों सब मिलाकर अठारह विद्याओंका बालक गुरुकी आज्ञामें रहकर तप-योग-अनुष्ठान-भक्तिपूर्वक अभ्यास करके सम्पादन करते थे, जिससे वे प्रौढ़ावस्थामें सहज ही सर्वत्र महापुरुष बन जाते थे।[1]

पुराण-विद्यामें वेदोंका गूढ़ ज्ञान—मनुष्य अपने चारों पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षको सरलतासे सिद्ध कर सके, ऐसी पद्धतिसे, महापुरुषोंके दिव्य चरित्रोंके द्वारा निरूपण किया गया है । वास्तवमें पुराण भारतीय एवं विश्वविज्ञान-कला-विद्याओंके महान् विश्वकोश हैं । उनमें सब कुछ सच्चे रूपमें प्रतिपादित है । न्याय-शास्त्रकी विद्यासे तर्कबुद्धिके विकासद्वारा वेद-वेदाङ्गके सत्य अर्थका

१. शुक्रने ३२ विद्याएँ एवं ६४ कलाएँ प्रदिष्ट की हैं । 'अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्याः'—इस वाक्यसे इनकी अनन्तता भी संकेतित है ।

तात्पर्य समझमें आता है। पूर्वमीमांसा-शास्त्रकी विद्यामें वेदोंकी शङ्का-गुत्थियोंका पूरा परिहार, यज्ञ-याग, होम-हवनके द्वारा एवं यज्ञस्वरूप विष्णु तथा इन्द्रादि देवताओंको प्रसन्न करके पर्जन्य, ऐश्वर्य, संतति, विश्वके लोगोंकी सुख-शान्ति तथा स्वर्गप्राप्तिका साधन समझाया गया है और उत्तरमीमांसा—ब्रह्मसूत्रमें समस्त वेद-वेदान्त-उपनिषदोंकी शङ्काओंका समाधानपूर्वक अन्य वादोंका निरसन करके ब्रह्मके विशुद्ध स्वरूपका निर्देश किया गया है।

मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि स्मृति-धर्मशास्त्रोंकी विद्यामें मनुष्यको जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त और प्रातःकालसे लेकर सायंकालतक किये जानेवाले समस्त कर्तव्योंका निर्देश तथा जीवन-व्यवहार और राजनीति-सम्बन्धी सर्वोत्तम उपदेश दिया गया है।

शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त आदि वेदाङ्गोंकी विद्यामें शुद्ध संस्कारी भाषाके पूर्ण ज्ञानके साथ वेदोंके कठिन अर्थोंको कैसे समझना चाहिये, इस बातको तथा भूत, भविष्य और वर्तमान कालकी गतिका सूक्ष्म ज्ञान बहुत ही अच्छी रीतिसे समझाया गया है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डके द्वारा निष्काम-कर्म, भक्ति तथा तत्त्वज्ञानसे प्रभु-साक्षात्कार किंवा मोक्षके साधन बताये गये हैं और आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, शिल्पादि-वेदोंके द्वारा लोगोंकी नीरोगता, अस्त्र-शस्त्रादि-विद्यामें निपुणता, चौंसठ कलाओंका ज्ञान तथा गानके द्वारा प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनका अद्वितीय मार्ग आदि बतलाये गये हैं, जो मनुष्यमात्रके लिये इहलोक-परलोकको सफल बनानेवाले अमोघ साधन समझे जाते हैं।

यूरोपके विचक्षण-बुद्धि विद्वानोंने जहाँ भारतीय संस्कृतिके मौलिक ग्रन्थोंको जिस-किसी प्रकारसे उपलब्ध कर, उनके मनन-चिन्तन-अभ्यास-अन्वेषणसे विज्ञानका (अनेक प्रकारकी वैज्ञानिक वस्तुओंका आविष्कार) निर्माण करके दुनियाके लोगोंको आश्चर्यचकित कर दिया, वहाँ अपनी संस्कृति और अपनी विद्याके स्वरूपको भूलकर जडवादी यूरोप-अमेरिकाका अन्धानुकरण करते हुए प्रस्तुत भारतके कर्णधारोंने कोमल अन्तःकरणके बालकोंके लिये अभीतक वही अंग्रेज मेकाले साहबका बोया हुआ विषवृक्षरूपी स्कूल-कॉलेजोंका प्रशिक्षण ही ज्यों-का-त्यों चालू कर रखा है।

स्कूल-कॉलेजोंमें हमारे निर्मल अन्तःकरणके बालकोंके अंदर कैसे-कैसे कुत्सित, अनिष्टकारक, आत्मघाती, राष्ट्रघाती विचार ठूँसे जाते हैं, इसका कुछ नमूना देखिये—'हिंदू-आर्य भारतके मूल निवासी नहीं थे, वे उत्तर ध्रुवके मेसिडोनिया-ग्रीक आदि प्रदेशोंसे आये थे और यहाँके मूल निवासी अनार्योंको लूट-मारकर हिंदुस्तानको बना गये थे। हिंदुओंके पूर्वज जंगली थे। वेद, शास्त्र, पुराण गपोड़ोंसे भरे हैं और उनमें कही हुई बातें स्वार्थियोंने लिखी हैं। वे कुल तीन हजार वर्षोंकी ही हैं। यह दुनिया जंगली हालतमें थी। तीन हजार वर्षके पहलेका कोई इतिहास नहीं है। भारतके श्रेष्ठ एक करोड़ संस्कृत-ग्रन्थ गुप्त-राज्यमें लिख डाले गये। यूरोपियन लोगोंने पुरुषार्थ तथा अनुसंधान करके संस्कृति तथा विज्ञानका उद्भव और विकास कर जगत्के लोगोंकी उन्नति की है।' आदि-आदि।

इन्हें उनके अनुयायी अंग्रेजी पढ़े-लिखे हमारे भाइयोंने भी सत्य मान लिया और उसीका रात-दिन प्रचार करना आरम्भ कर दिया। हिंदूकोडबिल-जैसे हिंदुत्वनाशक बिलको प्रकारान्तरसे स्वीकार करानेका कार्य इसीका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इस समय भारतमें तथा दुनियाके प्रायः सभी राष्ट्रोंमें घोर अशान्ति, कलह, भुखमरी, रोग, भूकम्प, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, बाढ़, भयानक महँगी, आकस्मिक दुर्घटना, बेकारी तथा युद्ध आदि विपत्तियाँ पूरे वेगसे आ रही हैं और लोग बल-बुद्धि तथा साधनरहित होकर दरिद्र, कंगाल-पराधीन बनकर चोरी, डकैती, लूट, खून तथा असहनीय करोंके बोझसे बिंधकर हाहाकार मचा रहे हैं। इसका कारण अध्यात्मवाद अथवा ईश्वर और धर्मके प्रति विमुख जडवादिता ही है। ऐसी जडवादी नास्तिक नीतिको धर्मनिरपेक्ष बतलाकर चाहे कुछ लोग अपना बचाव कर लें, परंतु संस्कृति और देशके शुभचिन्तकोंको समय रहते ही चेतकर लोगोंको सर्वनाशसे शीघ्र बचाना चाहिये। ऐसे दुर्घट समयमें देश तथा दुनियाका कल्याण चाहनेवाले

बुद्धिमान् सत्पुरुषोंका यह अनिवार्य कर्तव्य है कि बड़ी आयुके पुरुषोंपर उपदेश चाहे असर न करे, परंतु कोमलमति बालकोंको तो उनके माता-पिता घरमें ही उपदेश दें और रहस्य समझाकर कर्तव्य-ज्ञान करावें तथा वैसे ही सार्वजनिक विद्यालयों, पाठशालाओं एवं गुरुकुल-ब्रह्मचर्याश्रमोंकी स्थापना करें और मुख्य पाठ्य-पुस्तकोंको अपनी संस्कृतिके अनुरूप निर्माण करावें तथा बालकोंको सिखावें कि—

(१) अनन्त प्रकारकी सृष्टिका सृजन, नियन्त्रण, पालन, पोषण तथा रक्षण करनेवाले श्रीहरि केवल क्षीरसागर, वैकुण्ठ, गोलोक अथवा श्वेतद्वीपमें विराजते हैं, इतना ही नहीं है, वे सर्वशक्तिमान् प्रभु प्राणिमात्रके अन्तःकरणमें विराजमान हैं। उन्होंने ही लोक-व्यवस्था तथा कल्याणके लिये वेद, शास्त्र आदिकी रचना की है। जब कोई अनजानमें या जान-बूझकर उनकी अवहेलना करता है और जब धर्मज्ञा पतिव्रता स्त्री और गायोंकी पुकार मचती है, तब वे प्रभु अवश्य अवतार धारण करके धर्म और धर्मज्ञोंकी रक्षा करते हैं तथा दुष्टोंको दण्ड देते हैं। अतएव दुःख-कष्ट पड़नेपर किसीको भी स्वधर्म और संस्कृतिसे कभी विचलित नहीं होना चाहिये।

(२) हम भारतके ही मूल निवासी हैं। विदेशियोंके कथनानुसार बाहरसे नहीं आये हैं। लाखों वर्ष पहले प्रकट हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा पाँच हजार वर्ष पहले प्रकट होनेवाले परमात्मा श्रीकृष्ण भारतवर्षमें ही अयोध्या और मथुराकी पवित्र भूमिपर अवतरित हुए थे। राजा सगरके दुर्गति-प्राप्त पुत्रोंके उद्धारके लिये राजा भगीरथ कितने हजारों वर्षपूर्व तप करके पतितपावनी गङ्गाजीको हिमालय—गङ्गोत्री नामक स्थानमें प्रकट कराकर प्रयाग, कानपुर, काशी और कलकत्ते होकर गङ्गासागरपर्यन्त ले गये थे और सूर्यपुत्री यमुनाजी भी भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये हिमालय—यमुनोत्री नामक स्थानमें प्रकट होकर दिल्ली-मथुराके लोगोंको पवित्र करती हुई बह रही हैं। वही यह हिंदुओंकी मूल भूमि हिंदुस्तान है।

फिर आर्योंके आर्यावर्तके सम्बन्धमें एक सबल प्रमाण यह है कि भगवान् नारायणके नाभिकमलसे सृष्टिकर्ता पितामह ब्रह्मा प्रथम प्रकट हुए। इन पितामह ब्रह्माजीके पुत्र प्रजापति मनु महाराज कहते हैं—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥
(२।२२)

पूर्वके समुद्रसे पश्चिमके समुद्रतक और उत्तरके हिमालय पर्वतसे लेकर दक्षिणके विन्ध्याचल पर्वततकके प्रदेशको जानकार लोग 'आर्यावर्त' कहते हैं। यही पीछे राजा भरतके उत्कर्षसे 'भरतखण्ड' या 'भारतवर्ष' कहलाया। राजा अजके यशसे इसीका 'अजनाभ-खण्ड' नाम हुआ, हिंदुओंका निवासस्थान होनेसे 'हिंदुस्थान' कहा गया और अंग्रेजोंने इसका नाम 'इंडिया' रखा, यह वही भारतीयोंका मूल निवासस्थान भारतवर्ष है।

(३) वेद-शास्त्र ईश्वरके निःश्वासरूप होनेसे ईश्वर-स्वरूप अपौरुषेय ही हैं। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत एवं पुराणोंमें जैसा सर्वोत्कृष्ट कोटिका तत्त्वज्ञान देखा जाता है, वैसा अन्यत्र किसी भी धर्ममें नहीं है। हिंदुओंके पूर्वज ऋषि-मुनियोंने लाखों वर्षोंतक तपश्चर्या और योगसाधना करके दिव्य ज्ञानको प्राप्त किया और फिर उसे जगत्के लोगोंके कल्याणके लिये पात्रानुसार वितरित किया। आज पृथिवीपर जो कुछ भी ज्ञान-विज्ञानकी छाया दृष्टिगोचर होती है, सब उन्हींका प्रताप है, अतएव श्रद्धा-भक्तिके साथ उस ज्ञानका सम्पादन करना चाहिये।

(४) धनुर्वेदके अभ्याससे भारतीयोंने अणुबम और हाइड्रोजनबमसे भी करोड़ों गुने अधिक उत्कृष्ट और शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र, वायव्यास्त्र, आग्नेयास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, पाशुपतास्त्र आदिका महान् ज्ञान मन्त्र-विद्याके साथ प्राप्त किया था, पर उन्होंने कभी भी किसी निर्बल, अशक्त, न लड़नेवाले लोगोंपर उनका उपयोग नहीं किया। यह क्या उनकी कम योग्यता थी?

(५) ईश्वरके द्वारा रचित सृष्टिके लोगोंको शुभाशुभ कर्मका फल तो अवश्य भोगना ही पड़ता है। कोई जीवात्मा उच्च योनिमें जन्म लेकर सुख भोगता है, तो कोई निकृष्ट योनिमें जन्म लेकर दुःख भोगता है। इसका कारण उसके पूर्वजन्मके अच्छे-बुरे कर्म ही हैं। जीवात्माकी

शुद्धि तथा अभ्युदयके लिये ही शास्त्रकारोंने विवाह-मर्यादा, पवित्र खान-पान आदिकी मर्यादा स्थिर की है। कोई यदि उसका अतिक्रमण करके स्वेच्छाचार फैलाता है तो पाप-अनाचारकी ही वृद्धि होती है और लोगोंको नारकीय दुःख भोगने पड़ते हैं। अतएव अल्प-बुद्धिके अज्ञानी लोग धर्मके स्वरूपको समझे बिना यदि धर्म-मर्यादाको मिटानेकी चेष्टा करें तो धर्मज्ञोंको चाहिये कि वे उसका प्रबल विरोध करके धर्म और संस्कृतिको सुरक्षित रखें, इससे धर्म ही उनकी रक्षा करेगा।

इस प्रकार बालकोंके शङ्का-भ्रमको मिटाकर, हितकारी उपदेश देकर आधुनिक लाक्षागृहोंके सदृश स्कूल-कॉलेजोंकी विषैली शिक्षासे पिण्ड छुड़ाकर गुरुकुल-ब्रह्मचर्याश्रमोंमें चौदह विद्याओंके साथ देशके लिये प्रयोजनीय समस्त आवश्यक वस्तुओंके निर्माणका स्थान-स्थानपर, गाँव-गाँवमें सुप्रबन्ध किया जाय तो अपने देशसे चले जानेवाले करोड़ों-अरबों रुपये देशमें ही रह जायँ और सहज ही लोगोंकी बेकारीका अन्त हो जाय।

बालक-बालिकाओंकी सहशिक्षा भी अनुचित है। इससे राष्ट्रिय चरित्रकी हानि और उनका जीवन भी दूषित एवं भीषण क्लेशपूर्ण हो जाता है, इसमें लेशमात्र संदेह नहीं है। यथार्थ बात तो यह है कि जबतक गुरुकुल-आश्रमों-जैसे विद्यालयोंमें पवित्रतम शिक्षा नहीं दी जायगी, तबतक देशमें सच्चा सुख और स्वाधीनताकी प्राप्ति न होगी। अतएव संस्कृति और देशके हितचिन्तक साधन-सम्पन्न सज्जनोंको चाहिये कि वे खुले हाथों धन खर्च करके पूर्ण जितेन्द्रय बनने-बनानेके लिये भारतीय विद्या और कला-उद्योगसे युक्त पाठ्यपुस्तकें तुरंत तैयार करायें और गुरुकुल-ब्रह्मचर्याश्रम तथा प्रयोगशालाओंमें बालकोंको सत्वर ऐसी शिक्षा दिलानेकी व्यवस्था करें।

संस्कृत-भाषा और शिक्षा

[शिक्षा-वेदाङ्गका विशेष परिचय]

(डॉ॰ श्रीशिवशंकरजी अवस्थी, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰)

विधाताने सृष्टिके आदिमें ही मनुष्यको भाषा और धर्म साथ-साथ प्रदान किया था। मुख्य भाषा थी संस्कृत, जिससे लोकव्यवहार चलता था और मुख्य धर्म था सनातन, जिसमें विश्व-संस्थाको चलानेके लिये आचार-विचार एवं नियम-उपनियम निहित थे। कालान्तरमें जब मानव (मनुकी संतति) भारतवर्षसे पूर्व और पश्चिम देशोंमें फैला, तब संस्कृत-भाषा भी देशान्तरोंमें जाकर अपभ्रष्ट होती हुई संसारकी नाना भाषाओंके रूपमें बिखर गयी। हाँ, भारतमें उसका मूल रूप सुरक्षित रहा, जो आजतक विद्यमान है। सनातनधर्मके ही आचार-विचार आंशिक रूपमें जगत्के मतों एवं सम्प्रदायोंमें संगृहीत हुए हैं, इसमें संदेह नहीं है। प्रसिद्ध पाश्चात्य ऐतिहासिक एवं दार्शनिक विल ड्यूराँ (Will Durant) ने लिखा है—

'भारत हमारी जातिका मातृदेश रहा है और संस्कृत समस्त यूरोपीय भाषाओंकी जननी। भारतभूमि हमारे दर्शनशास्त्रकी जननी थी, अरबोंके माध्यमसे हमारे अधिकांश गणितशास्त्रकी भी जननी रही है। बुद्धदेवके माध्यमसे ईसाई-धर्ममें व्याप्त उत्तम सिद्धान्तोंकी तथा ग्रामसमाजके माध्यमसे स्वायत्तशासन एवं प्रजातन्त्रकी जननी थी। भारतमाता अनेक प्रकारसे हम सभीकी माँ है'[1]।

1. 'India was the motherland of our race and Sanskrit the mother of European languages. She was the mother of our philosophy, mother through the Arabs, of much of our Mathematics, mother through Buddha, of the ideals embodied in Christianity; mother through the village community, of self government and democracy. Mother India, in many ways is the mother of us all. (Our Oriental Heritage)

संस्कारसम्पन्न भाषाको संस्कृतभाषा कहते हैं । संस्कार शब्दके अनेक अर्थ हैं, किंतु यहाँ संस्कार पदोंमें विद्यमान प्रकृति और प्रत्यय आदिको कहते हैं । मलापनयन और गुणाधान—ये संस्कारके प्रचलित अर्थ हैं । इसी आधारपर कुछ अज्ञ लोग—'जो पहले विकृत थी, पश्चात् सुधारी गयी, वही संस्कृत भाषा है'—ऐसा बताते हैं । ये लोग परम्परासे सर्वथा अनभिज्ञ हैं । शुक्लयजुः-प्रातिशाख्यका सूत्र है—

'प्रकृतिप्रत्ययादिः संस्कारः ।'

इसपर भाष्यकार उवटने लिखा है—

'आदिशब्देन वर्णागमलोपविकारा गृह्यन्ते ।'

तात्पर्य यह है कि जिस भाषाके शब्दोंमें प्रकृति और प्रत्ययका विभाग परिलक्षित होता हो तथा वर्णका आगम, वर्णका लोप और वर्ण-विकार भी ज्ञात हों—ऐसे शब्दोंसे युक्त भाषा ही संस्कृत भाषा है ।

वाक्यपदीयके प्राचीन टीकाकार श्रीवृषभाचार्य लिखते हैं—

'न विशिष्टोत्पत्तिरत्र संस्कारः, अपितु प्रकृतिप्रत्ययादिभिर्विभागान्वाख्यानम्'

यहाँ संस्कार शब्दोंमें किसी वैशिष्ट्यके जननकी बात अभीष्ट नहीं है, किंतु प्रकृति और प्रत्यय आदिका विभागात्मक अन्वाख्यान अभिप्रेत है । यह बात वाक्यपदीयके ब्रह्मकाण्डकी ग्यारहवीं कारिकाकी वृत्तिकी टीकामें कही गयी है ।

यह संस्कार वेदाङ्ग-व्याकरणद्वारा किया जाता है । संस्कृत-भाषा-गत वर्णोंके यथातथ्य उच्चारण और परिज्ञानके लिये एक अन्य स्वतन्त्र वेदाङ्ग विश्वप्रसिद्ध है, जिसे 'शिक्षा' कहते हैं । कहा गया है—**'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'** (पाणिनीय शिक्षा) अर्थात् शिक्षा-शास्त्र वेदपुरुषका नासिकास्थानीय है । ऋक्प्रातिशाख्यके भाष्यमें विष्णुमित्रने लिखा है—**'शिक्षा स्वरवर्णोपदेशकशास्त्रम् ।'** उदात्तादि स्वरों तथा वर्णोच्चारणके स्थान, करण और प्रयत्नके उपदेशक शास्त्रको शिक्षा कहते हैं ।

'शिक्ष विद्योपादाने' (भ्वादिगण) धातुसे **'गुरोश्च हलः'** (पा० ३ । ३ । १०३) सूत्रद्वारा 'अ' प्रत्यय तथा 'टाप्' करके शिक्षा शब्द निष्पन्न होता है । शिक्षण अर्थात् विद्या-ग्रहण या विद्या-दान—यह शिक्षाका सामान्य अर्थ है । उपर्युक्त शिक्षा शब्द विशेष अर्थमें प्रयुक्त है ।

संस्कृत-भाषामें इस विशेष शिक्षासे सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ हैं, जिसमें पाणिनीय शिक्षा और याज्ञवल्क्य-शिक्षा अधिक प्रसिद्ध हैं । सन् १८९३ ई०में इकतीस शिक्षाओंका एक संग्रह काशीसे प्रकाशित हुआ था, जो आज अनुपलब्ध है । अन्य सोलह शिक्षा-ग्रन्थोंकी पाण्डुलिपियाँ मद्रासके प्राच्य-पाण्डु-लिपि-पुस्तकालयमें संगृहीत हैं । भण्डारकर-प्राच्य-अनुसंधान-संस्थानमें तीन अन्य हस्तलेख उपलब्ध हैं ।

शिक्षा-ग्रन्थोंको वेदोंके साथ सम्बद्ध किया गया है । ऋग्वेदसे सम्बद्ध शिक्षाएँ ये हैं—१-स्वर-व्यञ्जन-शिक्षा, २-उपध्मान-शिक्षा ।

शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध शिक्षाएँ ये हैं— १-याज्ञवल्क्य-शिक्षा, २-वासिष्ठी-शिक्षा, ३-कात्यायनी-शिक्षा, ४-पाराशरी, ५-गौतमी, ६-माण्डवी, ७-अमोघानन्दिनी, ८-पाणिन्या और ९-माध्यन्दिनी-शिक्षा । दो अन्य शिक्षाएँ भी मिलती हैं—१-वर्णरत्नदीपिका शिक्षा और २-केशवी ।

कृष्णयजुर्वेदसे सम्बद्ध शिक्षाएँ ये हैं—

१-चारायणीय शिक्षा, २-भारद्वाज-शिक्षा, ३-व्यास, ४-शम्भु, ५-पाणिनि, ६-कोहलीय, ७-बोधायन, ८-वाल्मीकि, ९-हारीति या हरित, १०-सर्वसम्मत, ११-आरण्य तथा सिद्धान्त-शिक्षा । इनके अतिरिक्त अन्य शिक्षा-ग्रन्थ भी हैं । यथा—१-आपिशलि-शिक्षा, २-पारिशिक्षा । शौनकीय शिक्षाका उल्लेख भी सर्वत्र मिलता है । यह उत्तम ग्रन्थ था, पर आज प्राप्त नहीं है ।

सामवेदसे सम्बद्ध शिक्षाएँ ये हैं—१-नारदीय शिक्षा, २-लोमशीय शिक्षा तथा ३-गौतमी शिक्षा ।

अथर्ववेदसे सम्बद्ध शिक्षा है— १-माण्डुकी ।

वैदिक साहित्यसे सम्बद्ध प्रातिशाख्य-ग्रन्थोंमें, वैदिक व्याकरणके अतिरिक्त शिक्षा-सम्बन्धी विचार भी उपलब्ध होते हैं । तैत्तिरीय-प्रातिशाख्यकी टीका 'वैदिकाभरण' में गार्ग्यगोपाल यज्वाने लिखा है—

'शिक्षाव्याकरणानां यदयं विवरणात्मकग्रन्थस्ततोऽत्र

नातीव शब्दसंकोच इष्यते।'

(१।२१)

शिक्षा और व्याकरणका विवरणात्मक यह प्रातिशाख्य ग्रन्थ है, इसलिये यहाँ शब्द-संकोच इष्ट नहीं है।

उवटने भी वाजसनेय प्रातिशाख्यके भाष्यमें लिखा है—

'शिक्षाविहितं व्याकरणविहितं चास्मिन् शास्त्र उभयं मतः प्रक्रियते—'। (१।१५९)

इस प्रातिशाख्य नामक शास्त्रमें शिक्षा और व्याकरण दोनोंका विधान है।

इन शिक्षा-ग्रन्थोंमें वर्णोंके उच्चारण-स्थान अर्थात् पाणिनिके अनुसार उर, कण्ठ, सिर, जिह्वामूल, दन्त, ओष्ठ, तालु और नासिका—ये आठ स्थान अथवा चारायणीय शिक्षाके अनुसार सृक्व या सृक्क (ओठोंका प्रान्तभाग) और वर्त्स्य (दन्तमूल)को मिलाकर दस स्थान विवेचित हैं।

जिसके आघातसे भिन्न-भिन्न स्थानोंमें वर्णकी अभिव्यक्ति या उत्पत्ति होती है, उसे करण कहते हैं। मुख्यतया जिह्वाग्र, जिह्वोपाग्र, जिह्वामूल और जिह्वामध्य करण कहलाते हैं। कुछ स्थान भी किन्हीं-किन्हीं वर्णोंके उच्चारणमें करण बनते हैं। जैसे—उकार, उपध्मानीय और पवर्ग तथा ओकार-औकारका ओष्ठ ही स्थान और करण हैं।

आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न प्रसिद्ध हैं। शिक्षा-ग्रन्थोंके ये मुख्य विषय हैं। ध्वनि-विज्ञानसम्बन्धी विचार भारतवर्षमें अत्यन्त प्राचीनकालमें प्रौढताको प्राप्त हो चुके थे। पाश्चात्त्य देशोंमें जब संस्कृत-भाषाके पठन-पाठनका प्रचलन हुआ, तब उसके अनन्तर ही वहाँ तुलनात्मक भाषा-विज्ञानकी नींव पड़ी और तब बीसवीं शतीमें ध्वनि-विज्ञान विकसित हुआ।

वर्णों या स्थूल शब्दोंकी अभिव्यक्तिके सम्बन्धमें संस्कृत-साहित्यमें तीन मत मिलते हैं। एक तो वैयाकरणोंका मत है, जिसके अनुसार ज्ञान ही स्थूल शब्दका रूप ग्रहण करता है।

अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥

(वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड ११२)

मनुष्योंके शरीरमें सूक्ष्म वाक्के रूपमें स्थित जो आन्तरिक ज्ञान (ज्ञाता) है, वही अपने रूपकी अभिव्यक्तिके लिये शब्द या ध्वनिके रूपमें परिणत होता है।

अथवा ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति।

अर्थात् जैसे ज्योति या ज्वालाका रूप अविच्छिन्नतया उत्पन्न होता हुआ सादृश्यके कारण उसी रूपमें ग्रहण किये जानेसे अपनी निरन्तरता बनाये रखता है, वैसे ही उपाध्याय या गुरुका ज्ञान विविध शब्द-रूपोंको धारण करता हुआ सततरूपमें भासित होता है।—कैयट।

शब्दके परमाणु घनीभूत होकर स्थूल शब्दका रूप लेते हैं—यह दूसरा मत है। भर्तृहरिने इसे शिक्षाकारोंका मत माना है। वैसे यह जैनमत भी है।

तीसरा मत है कि वायु ही शब्दके रूपमें परिणत होती है। यह भी शिक्षाकारोंका मत है।

'वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।'

(वाक्यपदीय, प्रथमकाण्ड)

जहाँतक सामान्य शिक्षाका सम्बन्ध है, वहाँ संस्कृत-वाङ्मयमें चौदह या अट्ठारह विद्याओंका पठन-पाठन होता था। प्राचीन गुरुकुलोंमें विद्याध्ययनकी समाप्तिके अनन्तर तथा गार्हस्थ्यमें प्रवेशके पूर्व कुलपति सभी छात्रोंको **'सत्यं वद', 'धर्मं चर'** आदि अन्तिम शिक्षा या उपदेशद्वारा सम्बोधित करते थे, जो तैत्तिरीय-शिक्षा या शीक्षावल्लीमें संगृहीत है।

आज नयी शिक्षा-नीतिमें माध्यमिक विद्यालय-स्तरमें संस्कृत-भाषाको स्थान नहीं दिया जा रहा है। भविष्यमें स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओंमें इसकी क्या गति होगी, यह स्पष्ट है। किंतु संस्कृत-भाषाका विनाश कोई चाहकर या लाख प्रयत्नकर भी नहीं कर सकता। संस्कृत-भाषा अनेक विपत्तियोंका सामना करती हुई अतीतकालमें जीवित रही है, आज भी विद्यमान है और भविष्यमें भी अपनी गरिमाके साथ जीवित रहेगी। इसे उचित स्थान देकर ही हम अपने राष्ट्रमें आत्मचेतनाका दीप जला सकेंगे तथा राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रियताका भाव भी जगा सकेंगे। तभी शिक्षा अपने आदर्श स्वरूपसे प्रतिष्ठित हो पायेगी।

भारतका नक्षत्र-विज्ञान

शंकर बालकृष्ण दीक्षितने सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि विश्वमें गणित एवं ज्योतिर्नक्षत्र-विद्या भारतसे ही फैली है । खगोल एवं भूगोल-विद्यामें ज्योतिषके प्रायः ३०० अङ्गभूत विद्याएँ हैं । आकाश भी शून्य नहीं है । वह अपार क्षेत्र है, जिसमें अनन्त विशाल सूर्यादि ज्योतिर्मय लोक, नक्षत्र आदि स्थित हैं । इस आकाशको ऋषियोंने तीन भागोंमें विभाजित किया था—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक । प्रत्यक्षदर्शी होनेके कारण ऋषियोंके लिये कुछ परोक्ष न था । शुनःशेप ऋषि द्युलोकको देखकर कहते हैं—

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवेयुः ।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥

(ऋक्० १।२४।१०)

'ये ऊँचे आकाशमें स्थित नक्षत्रगण रात्रिको दिखलायी देते हैं तथा दिनमें कहीं और चले जाते हैं । आदित्यके कर्म आश्चर्ययुक्त हैं, वह जिधर होकर जाता है, उधर ये नक्षत्र निष्प्रभ हो दिखलायी नहीं देते और दूसरी ओर चमकने लगते हैं । उसीकी किरणोंसे चन्द्रमा प्रकाशमान होकर रातको उगता है ।'

वरुण अर्थात् आदित्यको देखकर वहाँ शुनःशेप ऋषि अगले सूक्तमें कहते हैं—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् ।
वेद नावः समुद्रियः ॥
वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः ।
वेदा य उपजायते ॥

'जो आदित्य अन्तरिक्षमें उड़ती हुई चिड़ियोंकी गतिको देखता है तथा जो समुद्रके मध्यमें नौकाओंको देखता है, अर्थात् पृथिवी और अन्तरिक्षमें होनेवाली सारी घटनाओंको देखता है, जो धृतव्रत अर्थात् नियमपूर्वक होनेवाले और अपनी नयी छटा दिखानेवाले बारह महीनोंको देखता है ।'

प्रस्कण्व ऋषि ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ५०वें सूक्तमें कहते हैं—

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
सूराय विश्वचक्षसे ॥

'सारे संसारको प्रकाश देनेवाले सूर्यका आगमन होनेपर चोरोंके समान सारे नक्षत्र रात्रिके साथ चले जाते हैं ।'

आगे अङ्गिराके पुत्र कुत्स ऋषि ११५वें सूक्तमें कहते हैं—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

'यह पूजनीय रश्मियोंका आश्चर्यजनक समूह मित्र, वरुण और अग्निको प्रकाश प्रदान करनेवाला आदित्य पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकको अपनी रश्मियोंसे व्याप्त कर रहा है । यह समस्त स्थावर और जंगम जगत्का प्राण है ।'

ऋग्वेदकी एक दूसरी ऋचा कहती है—

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम् ॥

(१।१६४।१२)

द्युलोकके परे अर्धस्थानमें स्थित आदित्यने पाँच श्रुतिरूपी पैरवाले तथा द्वादश मासरूपी आकृतिवाले सबके पालक संवत्सरको प्रदान किया है और दूसरी ओर इस आकाशमें अवस्थित अन्य सप्त ऋषियोंने (दस-दस वर्षके) छः अरोंवाले अर्थात् साठ संवत्सररूपी चक्रमें सूर्यको अर्पित किया है । अर्थात् साठ संवत्सररूपचक्रको लेकर सूर्य आकाशमें विराजित हो रहा है । जिस प्रकार बारह महीनोंको लेकर एक संवत्सर चलता है, उसी प्रकार संवत्सर-चक्रको लेकर सूर्य घूमता है । बारह महीनोंमें चन्द्रमाके बारह चक्कर लगते हैं और संवत्सर-चक्रमें साठ बार सूर्य चक्कर लगाता है ।

शतपथ ब्राह्मण (अध्याय २।१।३।१,३)में लिखा है—

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा । ते देवाऽऋतवः । शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णो

देवाऽअपराह्णः पितरः ॥

स यत्रोदङ्ङावर्तते। देवेषु तर्हि भवति देवाँस्तर्ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणाऽऽवर्त्तते पितृषु तर्हि भवति पितृंस्तर्ह्यभिगोपायति ॥

'वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा—ये देवोंकी ऋतुएँ हैं और शरद्, हेमन्त तथा शिशिर—ये पितरोंकी ऋतुएँ हैं। शुक्लपक्ष देवताओंका है और कृष्णपक्ष पितरोंका है। दिनके अधिपति देवता हैं और रात्रिके पितर हैं। फिर दिनका पूर्वार्ध देवताओंका और उत्तरार्ध पितरोंका है।

'जब सूर्य उत्तरकी ओर बढ़ता है अर्थात् उत्तरायणमें वह देवताओंका अधिपति होता है और दक्षिणायनमें पितरोंका अधिपति होता है।'

ऋक्संहिता और शतपथ-ब्राह्मणके इन अवतरणोंसे स्पष्ट जाना जाता है कि नक्षत्र, चान्द्रमास, सौरमास, मलमास, ऋतु-परिवर्तन, दक्षिणायन-उत्तरायणके साथ-साथ आकाशचक्रमें सूर्यकी महिमाका तात्त्विक ज्ञान ऋषियोंने हमें प्रदान किया है। भारतीय नक्षत्र-विज्ञान और आधुनिक पाश्चात्त्योंके नक्षत्र-विज्ञानकी पद्धतिमें अन्तर यह है कि भारतीय नक्षत्र-विज्ञान वेदका एक मुख्य अङ्ग अर्थात् नेत्र माना जाता था; क्योंकि वैदिक अनुष्ठानोंके लिये काल-निर्णय करनेमें नक्षत्रोंकी गतिपर विशेष ध्यान दिया जाता था। दर्श-पौर्णमास यज्ञ, सांवत्सरिक अहीन याग तथा सहस्रों वर्षोंमें समाप्त होनेवाले सत्रोंके अनुष्ठानमें काल-गणना करनेके लिये जो नक्षत्रोंके बीच विविध स्थितियोंमें सूर्यका संक्रमण होता था, उसका अवलोकन करके नक्षत्र-विद्याका व्यावहारिक ज्ञान ऋषियोंने प्रदान किया है। तदनन्तर उसी आधारपर आगे नक्षत्रोंके बीचमें संक्रमण करनेवाले सूर्यमण्डलके अन्यान्य ग्रहोंकी गति और स्थिति तथा उसके द्वारा होनेवाले प्रभावोंका अध्ययन किया गया। नक्षत्र-मण्डलको राशिचक्रमें विभाजित कर प्रत्येक राशिके साथ सूर्य-संक्रमणको देखकर राशियोंके नामपर मेषादि द्वादश सौरमासोंका अवलोकन किया गया तथा पूर्ण चन्द्रकी अर्थात् पूर्णिमाकी रात्रिमें नक्षत्रविशेषके पास चन्द्रमाको देखकर चान्द्रमासोंका ज्ञान प्राप्त किया गया। अर्थात् जिस मासकी पूर्णिमा चित्रा नक्षत्रसे युक्त थी, उसे चैत्रमास, विशाखासे युक्त पूर्णिमावाले मासको वैशाखमास, ज्येष्ठासे ज्येष्ठ, पूर्वाषाढ़ा या उत्तराषाढ़ासे आषाढ, श्रवणसे श्रावण, पूर्वभाद्रपद या उत्तरभाद्रपदसे भाद्रपद, अश्विनीसे आश्विन, कृत्तिकासे कार्तिक, मृगशिरासे मार्गशीर्ष, पुष्यसे पौष, मघासे माघ, पूर्वाफाल्गुनी तथा उत्तराफाल्गुनीसे फाल्गुनमास नाम प्रदान किया गया।

पाश्चात्त्य देशोंमें प्रकारान्तरसे जो कुछ भारतीय नक्षत्र-विज्ञानका अरब-ग्रीक लोगोंके द्वारा प्रसार हुआ, वही उनके एतद्विषयक ज्ञानका मूलधन था। इसीके आधारपर यन्त्रयुगके विकासके साथ उन्होंने दूरवीक्षण यन्त्रोंका क्रमशः आविष्कार किया और उसके द्वारा उनकी स्थितिको प्रत्यक्ष अवलोकन करनेका प्रयत्न किया। इस विज्ञानके साथ-साथ उन्हें हमसे गणितकी जो सम्पत्ति मिली थी, उसे उन्होंने बहुत कुछ समृद्ध किया—यह उनकी विशेषता है; परंतु दिन, मास, ऋतु, अयन अथवा राशि-चक्रका जो यहाँ नामकरण हुआ था, उसे उन्होंने अधूरा ही अपनाया। यहाँ दिनोंका नाम रवि, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनि प्रभृति ग्रहोंके नामसे आबद्ध था। उसे तो उन्होंने ग्रहण किया, परंतु महीनोंका नाम उनके यहाँ अवैज्ञानिक ढंगसे रखा गया, चन्द्र और सूर्यकी गतिके साथ जो नक्षत्र अथवा राशियाँ महीनोंका निर्माण करती हैं, उनकी पर्याप्त उपेक्षा की गयी और जनवरी, फरवरी आदि नाम ही नहीं, अपितु इनकी स्थिति भी चन्द्र, सूर्यकी गतिसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखती। अतएव पाश्चात्त्योंकी मास और वर्षोंकी गणना हमारे सौर वर्षके आधारपर होते हुए भी अनर्गल-सी है और भारतीय शैली सर्वथा पूर्ण और वैज्ञानिक है।

सूर्य जिस आकाशमार्गसे नक्षत्रमण्डलमें होकर जाता है उसके द्वादश समान भाग करके मेष, वृष प्रभृति राशियोंकी अवतारणा की गयी। मेषराशिके प्रथम बिन्दुपर जब सूर्य उदय होता है, तबसे लेकर जबतक पुनः उसी बिन्दुपर आ जाता है, तबतक हिंदुओंका एक सौर वर्ष होता है। अर्थात् नक्षत्र-मण्डलमें सूर्यका एक संक्रमणकाल एक सौरवर्ष कहलाता है। सूर्यसिद्धान्तमें सौर वर्ष ३,६५,२५,८७,५६,४८४ दिनोंका माना जाता है। आधुनिक

युगके सुप्रसिद्ध नक्षत्रविज्ञानवेत्ता डब्ल्यू॰ एम॰ स्माटके अनुसार यह संख्या ३६,५२,५६४ दिनोंकी है। भारतीय वर्ष इससे .००२३ दिनका अधिक हो जाता है। आजकलके पाश्चात्त्य नक्षत्रविज्ञानके मतसे यह वर्ष अनुमानतः ३६,५२,५९६ दिनोंका होता है, जो भारतीय मतसे .०००८ दिन बड़ा होता है। भारतवर्षमें जो मेष-संक्रान्तिसे वर्ष-गणना की जाती है, उससे साठ वर्षोंके संवत्सर-चक्रका हिसाब ठीक-ठीक मिलता है। इन संवत्सरोंके अलग-अलग प्रभव-विभव और शुक्ल आदि नाम दिये गये हैं।

सूर्यसिद्धान्तके अनुसार हिंदुओंके द्वारा जो काल-गणना की जाती है, उसके सामने विश्वकी किसी जातिकी कोई भी काल-गणना नगण्य सिद्ध होती है। हमारे शास्त्रोंके मतसे ४,३२,००० सौर वर्षोंका कलियुग होता है, द्वापरमें ८,६४,००० वर्ष होते हैं, त्रेतामें १२,९६,०००वर्ष और कृतयुगमें १७,२८,००० वर्ष होते हैं, इस प्रकार कुल मिलाकर ४३,२०,००० वर्षोंका एक महायुग होता है। १००० महायुगोंका एक कल्प होता है। अर्थात् एक कल्पमें ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। कल्पकी गणना करनेवाले ज्योतिर्विदोंने यह भी निश्चय किया था कि प्रत्येक ७१४ वर्षोंमें अयनान्त १० अंश पीछे चला जाता है। इसके अतिरिक्त वर्षमें १२ राशियाँ, एक राशिमें ३० अंश, एक अंशमें ६० कला, एक कलामें ३० काष्ठा और एक काष्ठामें १८ निमेष अर्थात् पलकी सूक्ष्मतम काल-गणना देखकर ज्ञात होता है कि भारतीय मस्तिष्कने इस विषयमें कितना सफल प्रयास किया है। इतना बड़ा काल-ज्ञान दूसरे किसी देशके निवासियोंको अबतक नहीं हुआ।

भारतीय नक्षत्र-विज्ञानवेत्ताओंने क्रान्तिवृत्तको २८ भागोंमें विभाजित किया, इस प्रकार चन्द्रमाके मार्गमें पड़नेवाले २८ तारा-समूह हो गये, जिन्हें चान्द्र-नक्षत्रोंके नामसे पुकारते हैं। पीछे चलकर इसमें सुधार हुआ और २८ के स्थानमें २७ ही चान्द्र नक्षत्र माने गये और क्रान्तिवृत्तके २७ बराबर भाग करके १३ं, २०′ (तेरह अंश, बीस कला) प्रत्येक नक्षत्रका क्षेत्र रखा गया। प्रत्येक क्षेत्रमें जो सबसे अधिक चमकता हुआ तारा दीख पड़ता है, उसका नाम योग-तारा रखा गया और नक्षत्रका जो उपर्युक्त क्षेत्र था, वह उसका भोग कहलाया। साथ-साथ कुछ महत्त्वपूर्ण और सुप्रकाशित ताराओंका भी नाम और स्थान निश्चय किया गया। उनमें दक्षिणमें लुब्धक और अगस्त्य तथा उत्तरमें अभिजित्, ब्रह्महृद्य, अग्नि और प्रजापति मुख्य हैं। इनके सिवा क्रान्ति-वृत्तके समीप रहनेवाले दूसरे प्रकाशमान तारे, जिनकी आवश्यकता ग्रहोंके ध्रुवकी गणनामें पड़ती है, निश्चित किये गये। उनमें मघा, रेवती, पुष्य, शततारका और चित्रा मुख्य हैं। ***'रत्नमाला'*** नामक ग्रन्थमें इन तारोंका उल्लेख आता है। पाश्चात्त्य ज्योतिर्विदोंने सम्पूर्ण आकाशके ताराओंको ऐंड्रोमेडा आदि विभिन्न प्रकारके ८८ तारा-मण्डलमें विभाजित किया है। इस तारा-मण्डलकी सूची बनानेकी शैली चीन-निवासियोंकी प्राचीन शैलीका अनुकरण है। भारतमें अनावश्यक ताराओंकी सूची न बनाकर काल-गणना तथा सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहणादिकी स्थितिका निश्चय अपने धार्मिक कृत्योंके लाभार्थ किया गया था। सूर्य और चन्द्र-ग्रहणके साथ-साथ चन्द्रकी गतिसे होनेवाले तारा-ग्रहणका भी सूक्ष्मज्ञान भारतीयोंको था। इस प्रकार चन्द्रके द्वारा मघाका ग्रहण प्रायः हुआ करता है। ग्रहोंके सिद्धान्तपर भास्कराचार्यने अपने ***'सिद्धान्तशिरोमणि'*** नामक ग्रन्थमें विस्तारसे विवेचन किया है। परवर्तीकालमें आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्यने इस विज्ञानके विषयमें विशेष अनुसंधान किया है।

नक्षत्र-मण्डलके बीच होकर भ्रमण करनेवाले केवल चन्द्र और सूर्यकी स्थिति और गतिका निरीक्षण आर्योंने नहीं किया, प्रत्युत इनके साथ-साथ मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि नामक पाँच ग्रहोंकी गति और स्थितिका भी निरीक्षण किया तथा क्रान्तिवृत्तमें इनकी ऋजु-वक्र गतियोंके साथ अतिचार और मन्दगतिको भी देखा। इन पाँचोंके अतिरिक्त रवि-चन्द्र तथा तमोग्रह राहु-केतुको लेकर कुल नौ ग्रह माने गये हैं। पाश्चात्त्य लोगोंने चन्द्रके स्थानमें पृथिवीको ग्रह माना है। उनके मतमें राहु-केतुको छोड़कर यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो—इन तीन ग्रहोंको लेकर कुल १० ग्रह माने गये हैं। ग्रह-गतिके

विषयमें भारतीय और पाश्चात्त्य गणनामें बहुत ही थोड़ा अन्तर पड़ता है ।

वराहमिहिरकी बृहत्संहितामें केतु अर्थात् पुच्छल ताराओंका वर्णन आता है । उन्होंने पहले शुभकेतु और धूमकेतु नामसे दो भेद किये हैं और छोटे आकारके देखनेमें शोभनीय, सीधे और श्वेतवर्णके केतुको, जो थोड़े समयमें ही अस्त हो जाता है, शुभकेतु नाम दिया गया है । इसके विपरीत अशुभ दर्शनवाले धूमकेतु हैं । बृहत्संहितामें सूर्यादि ग्रहों तथा पृथिवी और विभिन्न नक्षत्रोंसे उत्पन्न होनेवाले सहस्रों केतुओंका वर्णन मिलता है, जिसमें उनकी गति, स्थिति तथा उनके उदयसे होनेवाले शुभाशुभ परिणामोंका भी वर्णन किया गया है । सुदीर्घकालके अध्ययनका यह परिणाम है कि हमारे यहाँ धूमकेतुके इतने भेदोंका अवलोकन करके उसके पश्चात् होनेवाले फलोंका निरीक्षण कर उसे लिपिबद्ध कर दिया गया है । बृहत्संहितामें तो अत्यन्त भयानक रँगीली पूँछवाले अग्निकेतु, जो अग्निकोणमें उगते और विलीन हो जाते हैं, तीन पूँछोंवाले ब्रह्मदण्ड-केतु, लाल रंगका कौंकुम नामक केतु, बाँसकी आकृतिवाले चन्द्रमाके समान प्रभावपूर्ण कंक नामक केतु आदि सहस्रों धूमकेतुओंका वर्णन पाया जाता है ।

उल्काओंके विषयमें भी बृहत्संहितामें जो वर्णन मिलता है, वह आधुनिक पाश्चात्त्य ज्योतिर्विज्ञानकी अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है । अन्तर केवल यह है कि वराहमिहिरने द्युलोकसे फलोपभोग करके गिरनेवाले 'लोक' के नामसे उन्हें पुकारा है और पाश्चात्त्य ज्योतिर्विद् उन्हें नीहारिका-पुञ्जके रूपमें देखते हैं । भारतका दृष्टिकोण आध्यात्मिक होनेके कारण सर्वत्र, यहाँतक कि ज्योतिर्लोकोंमें भी उन्हें धर्म-तत्त्वकी ही चमक दीख पड़ी है, परंतु पश्चिमका विज्ञान जडवादी होनेके कारण सर्वत्र जडबुद्धिकी प्रधानताको ही द्योतित करता है । चिरकालसे दृष्ट और अनुभूत होनेके कारण हमारा दैवी विज्ञान सर्वथा पूर्ण है, आकाशमें होनेवाली प्रमुख घटनाओंके विषयमें हमारी गणना ठीक-ठीक उतरती है । इसके विपरीत पाश्चात्त्योंका विज्ञान सर्वथा अपूर्ण है; क्योंकि भारतीय ज्योतिर्विज्ञान हमारे धार्मिक जीवनके लिये उपयोगी है और पाश्चात्त्योंका सामाजिक जीवन इससे वञ्चित रहता है, अतएव इस विज्ञानकी महिमा वहाँ इतनी नहीं है जितनी कि हमारे यहाँ है । इसी कारण शास्त्रकार कहते हैं—

वेदस्य चक्षुः किल शास्त्रमेतत् प्रधानताङ्गेषु ततोऽथ जाता ।
अङ्गैर्यतोऽन्यैरपि पूर्णमूर्त्तिश्चक्षुर्विना कः पुरुषत्वमेति ॥

भवसागरके कर्णधार गुरु

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत् । न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमःस्मृतः ॥
गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते । विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत् ॥

(महा॰ शान्ति॰ ३२६ । २२-२३)

जैसे ज्ञान-विज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार सद्गुरुसे सम्बन्ध हुए बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती । गुरु इस संसार-सागरसे पार उतारनेवाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान नौकाके समान बताया गया है । मनुष्य उस ज्ञानको पाकर भवसागरसे पार और कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे नौका और नाविक दोनोंकी ही अपेक्षा नहीं रहती ।

भारतीय साहित्यमें रत्न-विज्ञान

भारतीय साहित्यमें रसरत्नसमुच्चय, रत्नसार, गरुडपुराण-पूर्वखण्ड, युक्तिकल्पतरु, मानसोल्लास, शैवरत्नाकर आदि ग्रन्थोंमें रत्नोंके विषयमें हजारों पृष्ठ भरे पड़े हैं और इनके पचासों उपयोग-प्रकार भी हैं।

महर्षि क२५५ :ँ कहना है कि माणिक्यादि रत्नोंको धारण करनेसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता, अतएव रोग-दुःख, दुःस्वप्न-कष्ट आदिकी निवृत्ति तथा सूर्यादि ग्रहोंकी प्रीतिके लिये क्रमशः माणिक्य, मौक्तिक, विद्रुम, मरकत, पुष्पराग, वज्र, नीलम, गोमेद और वैदूर्य धारण करने चाहिये—

सूर्यादीनां च संतुष्ट्यै माणिक्यं मौक्तिकं तथा।
सुविद्रुमं मरकतं पुष्परागं च वज्रकम्॥
नीलगोमेदवैदूर्यं धार्यं स्वस्वदृढक्रमात्।

गरुडपुराण एवं बृहन्नारदीयका भी यही मत है—

मणिमुक्ताफलं विद्रुमाख्यं मरकतं तथा।
पुष्परागं तथा वज्रं नीलं गोमेदसंज्ञकम्॥
वैदूर्यं भास्करादीनां तुष्ट्यै धार्यं यथाक्रमम्॥

(पू० भा० ५६। २८२)

अग्निपुराणके २४५वें अध्यायमें रत्नपरीक्षाप्रकरणमें वहुत-से रत्नोंके नाम आते हैं। यथा—वज्र, मरकत, पद्मराग, मुक्ता, महानील, इन्द्रनील, वैदूर्य, गन्धशस्य, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, स्फटिक, पुलक, कर्केतन, पुष्पराग, ज्योतीरस, राजपट्ट, राजमय, सौगन्धिक, गञ्ज, शंख, गोमेद, रुधिराक्ष, भल्लातक, धूली, तुथक, सीस, पीलु, प्रवाल, गिरिवज्र, भुजंगमणि, वज्रमणि, टिट्टिभ, पिण्ड, भ्रामर, उत्पल।

शुक्रका कहना है कि वज्र (हीरा), मोती, मूँगा, गोमेद, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुखराज, पाचि और माणिक्य—ये नौ महारत्न हैं।[१]

इनमें लाल वर्णका इन्द्रगोपके समान कान्तिवाला माणिक्य सूर्यको प्रिय है तथा लाल, पीला, श्वेत और श्याम कान्तिवाला मोती चन्द्रमाको प्रिय है। इसी प्रकार पीलापन लिये लाल मूँगा मंगलको प्रिय है तथा मोर या चाषके पंखोंके समान वर्णवाला पाचि रत्न बुधको प्रिय है। सोनेकी झलकवाला पुखराज बृहस्पतिको प्रिय है और तारोंके समान कान्तिवाला वज्र शुक्रको प्यारा है। शनैश्चरको सजल मेघके समान कान्तिवाला इन्द्रनील प्रिय है, किञ्चित् लाल-पीला कान्तिवाला गोमेद राहुको तथा बिलावके नेत्रोंके समान कान्तिवाला एवं रेखासे युक्त वैदूर्य केतुको प्रिय है।[२]

शुक्र कहते हैं कि सभी रत्नोंमें वज्र (हीरा) श्रेष्ठ है, पर संतानकी इच्छावाली स्त्री इसे कभी धारण न करे। गोमेद और मूँगा सभी रत्नोंमें नीच हैं—

रत्नं श्रेष्ठतरं वज्रं नीचं गोमेदविद्रुमम्।
न धारयेत् पुत्रकामा नारी वज्रं कदाचन॥

रत्नोंकी परीक्षाके लिये 'युक्तिकल्पतरु'में राजा भोजने तथा अपने 'अर्थशास्त्र'में कौटिल्यने बड़े लंबे-चौड़े विवेचन लिखे हैं। अग्निपुराणका कहना है कि जो हीरा पानीमें तैर सके, भारी चोट सह सके, षट्कोण हो, इन्द्रधनुषके आकारका हो, हल्का हो या सुगेके पंखके सदृश रंगवाला हो, चिकना हो, कान्तिमान् तथा विमल हो, वह श्रेष्ठ है।[३]

---

१. वज्रं मुक्ता प्रवालं च गोमेदश्चेन्द्रनीलकः। वैदूर्यः पुष्परागश्च पाचिर्माणिक्यमेव च॥
महारत्नानि चैतानि नव प्रोक्तानि सूरिभिः। (शुक्रनीति ४। २। २५६)

२. रवेः प्रियं रक्तवर्णमाणिक्यं त्विन्द्रगोपरुक्। रक्तपीतसितश्यामच्छविर्मुक्ता प्रिया विधोः॥
सपीतरक्तरुग् भौमप्रियं विद्रुममुत्तमम्। मयूरचाषपत्राभा पाचिर्बुधहिता हरित्॥
स्वर्णच्छविः पुष्परागः पीतवर्णो गुरुप्रियः। अत्यन्तविशदं वज्रं तारकाभं कवेः प्रियम्॥
हितः शनेरिन्द्रनीलो ह्यसितो घनमेघरुक्। गोमेदः प्रियकृद्राहोरीषत्पीतारुणप्रभः॥
ओत्वक्ष्याभश्चलत्तन्तुर्वैदूर्यः केतुप्रीतिकृत्। (शुक्रनीति ४। २। १५८-१६१)

३. अम्भस्तरति यद्वज्रमभेद्यं विमलं च यत्। षट्कोणं शक्रचापाभं लघु चार्कनिभं शुभम्॥
शुकपक्षनिभः स्निग्धः कान्तिमान् विमलस्तथा। (अग्निपुराण २४६। ९-१०)

कौटिल्य कहते हैं कि मोटा, चिकना, भारी चोटको सहनेवाला, बराबर कोनोंवाला, पानीसे भरे हुए पीतल आदिके बर्तनमें डालकर हिलाये जानेपर बर्तनमें लकीर डाल देनेवाला, तकवेकी तरह घूमनेवाला और चमकदार हीरा प्रशस्त समझा जाता है[४] ।

नष्टकोण, तीक्ष्ण कोनेसे रहित तथा एक ओरको अधिक निकले हुए कोनोंवाला हीरा दूषित समझा जाता है—

नष्टकोणं निरश्रि पार्श्वापवृत्तं चाप्रशस्तम्।

हीरा छः स्थानोंसे उत्पन्न होता है तथा छः रंगोंवाला होता है। यह बरार, कोसल, कास्तीर (कश्मीर), श्रीकरनक, मणिमन्तक तथा कलिंग—इन छः स्थानोंमें उत्पन्न होता है तथा बिलावकी आँखके समान, सिरसके फूलके समान, गोमूत्रके समान, गोरोचनके समान, श्वेत वर्णके स्फटिकके समान और मूलारीके फूलके रंगवाला होता है।

मोतियोंके वर्णनमें कौटिल्यने अपार बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की है। उनका कहना है कि मोती तीन कारणोंसे उत्पन्न होता है—शङ्खसे, शुक्तिसे तथा हाथी, सर्पादिके मस्तकसे। इनमें भी स्थानभेद दस प्रकारके होते हैं। मोटा, गोलाकार, तलरहित (चिकनी जगहपर बराबर लुढकते जानेवाला), दीप्तियुक्त, श्वेत, भारी, चिकना तथा ठीक मौकेपर बिंधा मोती उत्तम समझा जाता है। अग्निपुराणका कहना है कि मोती शुक्तिसे उत्पन्न होते हैं, किंतु शंखसे बने मोती उनकी अपेक्षा विमल एवं उत्कृष्ट होते हैं। हाथीदाँतसे उत्पन्न, सूकर-मत्स्यसे उत्पन्न, वेणुनागसे उत्पन्न या मेघोंद्वारा उत्पन्न मोती अत्यन्त श्रेष्ठ होते हैं[५] ।

स्वच्छता, वृत्तता (गोलाई), शुक्लता (उजलापन) एवं महत्ता (भारीपन)—ये मौक्तिकमणि (मोती) के गुण हैं—

वृत्तत्वं शुक्लता स्वाच्छ्यं महत्त्वं मौक्तिके गुणाः।

(अग्निपुराण २४६। १४)

शुक्रका कहना है कि सिंहलद्वीपवाले कृत्रिम मोती भी बना लेते हैं, इसलिये मोतीकी परीक्षा करनी चाहिये। रातभर उसे नमक मिले हुए गर्म जलमें रखे, फिर उसे धानोंमें मले, इतनेपर भी जो मैला न हो, वह असली मोती होता है। शुक्तिसे उत्पन्न मोतीकी कान्ति सर्वाधिक होती है—

कुर्वन्ति कृत्रिमं तद्वत्सिंहलद्वीपवासिनः।
तत्संदेहविनाशार्थं मौक्तिकं सुपरीक्षयेत्॥
उष्णे सलवणस्नेहे जले निश्युषितं हि तत्।
व्रीहिभिर्मर्दिते नेयाद्वैवर्ण्यं तदकृत्रिमम्॥
श्रेष्ठाभं शुक्तिजं विद्यान्मध्याभं त्वितरं विदुः॥

(शुक्रनीतिसार ४। २। १७६-१७८)

कौटिल्यने मोतियोंकी मालाओंके वर्णनमें बड़ी दक्षता दिखायी है। वे कहते हैं कि मालाओंके गूँथनेके तरीकेसे उनके शीर्षक, उपशीर्षक, प्रकाण्डक, अवघाटक और सरल प्रबन्ध—ये पाँच भेद हैं। फिर मोतियोंकी संख्याके अनुसार इनके दस भेद हैं। जैसे १००८ लड़ोंकी मालाका नाम 'इन्द्रच्छन्द', ५०४का नाम 'विजयच्छन्द', १००यष्टिका नाम 'देवच्छन्द', ६४का 'अर्धहार', ५४का 'रश्मिकलाप', ३२का 'गुच्छ', २७का 'नक्षत्रमाला', २४का 'अर्धगुच्छ', २०का 'माणवक' और १० लड़ोंकी मालाका नाम 'अर्धमाणवक' हैं। इन्हीं मालाओंके बीच मणि पिरो देनेसे फिर इनके ५० और भेद होते हैं, जिनके बड़े-बड़े लम्बे नाम हो जाते हैं। जैसे—'इन्द्रच्छन्दोपशीर्षकार्धमाणवक', 'इन्द्रच्छन्दप्रकाण्डार्धमाणवक' आदि। शुक्रका कहना है कि मोती और मूँगा—ये दो ही रत्न ऐसे हैं, जिनपर पत्थर और लोहेकी लकीर पड़ती है और जो घिसकर हल्के होते हैं, अन्यथा अन्य सभी रत्न सर्वदा एक-समान निष्कलंक रहते हैं—

नायसोल्लिख्यते रत्नं विना मौक्तिकविद्रुमात्।
पाषाणेनापि च प्राय इति रत्नविदो विदुः॥

× × × ×

न जरां यान्ति रत्नानि विद्रुमं मौक्तिकं विना।

---

४. स्थूलं गुरुप्रहारसहं समकोटिकं भाजनलेखितं कुभ्रामि भ्राजिष्णु च प्रशस्तम्॥ (कौटलीय अर्थशास्त्र २। ११। ४१)

५. मुक्ताफलास्तु शुक्तिजाः .... । विमलास्तेभ्य उत्कृष्टा ये च शंखोद्भवा मुने॥
नागदन्तभवाश्चाग्र्याः कुम्भसूकरमत्स्यजाः। वेणुनागभवाः श्रेष्ठा मौक्तिकं मेघजं वरम्॥ (अग्निपु० २४५। १२-१३)

इसी प्रकार इन ग्रन्थोंमें तथा 'युक्तिकल्पतरु' आदिमें प्रवालादि अन्यान्य मणियोंका भी विस्तारसे लक्षण, यष्टिभेद, अवान्तर-भेद तथा मूल्यादिका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

भारतवर्षमें पहले रत्नोंका कैसा बाहुल्य था, यह 'मत्स्यपुराण'के रत्नाचलवर्णनमें देखते बनता है। वहाँ कहा गया है कि १००० मोतियोंका एक जगह ढेर करे। इसके पूर्व ओर वज्र और गोमेदका ढेर रखे, इनमें प्रत्येककी संख्या २५० होनी चाहिये। इतनी ही संख्यामें इन्द्रनील और पद्मराग मणियोंको दक्षिण दिशाकी ओर रखकर गन्धमादनकी कल्पना करे। पश्चिममें वैदूर्य और प्रवाल (विद्रुम या मूँगों)का विमलाचल बनाये एवं उत्तरमें पद्मराग और सोनेके ढेर रखे। धान्यके पर्वत भी सर्वत्र बनाये एवं जगह-जगहपर सोनेके वृक्ष एवं देवताओंकी रचना करे, फिर इनकी पुष्प-गन्धादिसे पूजा करे एवं **'यदा देवगणाः सर्वे'**[६] आदि मन्त्रोंको पढ़कर इस रत्नाचलको विधिपूर्वक ऋत्विजों या आचार्य आदिको दान कर दे (मत्स्यपुराण ९०। १-९)।

महाभारतका कहना है कि जो इन रत्नोंको बेचकर सौम्य प्रकारके यज्ञ करता है या प्रतिग्रह लेकर इन्हें किसी अन्यको दान कर देता है, उन दोनोंको अक्षय पुण्य होता है—

यस्तान् विक्रीय यजते ब्राह्मणो ह्यभयंकरम्।
यद्वै ददाति विप्रेभ्यो ब्राह्मणः प्रतिगृह्य वै॥
उभयोः स्यात् तदक्षय्यं दातुरादातुरेव च।

(अनु० ६८। २९-३०)

महर्षि वाल्मीकिने अयोध्यापुरीका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह सब प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी और विमानाकार गृहोंसे सुशोभित थी—

प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम्।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम्॥

(वाल्मीकि० बाल० ५। १५-१६)

अपनी गीतावलीमें गोस्वामीजीने भी इसका खूब चित्रण किया है—

कोसलपुरी सुहावनी सरि सरजूके तीर।
भूपावली मुकुटमनि नृपति जहाँ रघुबीर॥
× × × × ×
गृह गृह रचे हिंडोलना महि गच काँच सुढार।
चित्र बिचित्र चहू दिसि परदा फटिक-पगार॥
सरल बिसाल बिराजहीं बिद्रुम-खंभ सुजोर।
चारु पाटि पटी पुरट की झरकत मरकत भौंर॥
मरकत भवँर डाँड़ी कनक मनि-जटित दुति जगमगि रही।
पटुली मनहुँ बिधि निपुनता निज प्रगट करि राखी सही॥
बहुरंग लसत बितान मुकुतादाम-सहित मनोहरा।
नव-सुमन माल-सुगंध लोभे मंजु गुंजत मधुकरा॥

(गीता० उत्तर० १९। १,३)

जनकपुरीकी शोभाका भी आपने ऐसा ही वर्णन किया है। मण्डप-रचनाकी शोभामें अपने अनूठे रत्नविज्ञानका ज्ञान प्रदर्शित किया है—

हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमरागके फूल।
रचना देखि बिचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल॥
बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे॥
कनक कलित अहिबेलि बनाई। लखि नहिं परइ सपरन सुहाई॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाए। बिच बिच मुकता दाम सुहाए॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥

—आदिमें भला कितना ठोस रत्न-विज्ञान भरा है। वाल्मीकीयका लंका-वर्णन भी ऐसा ही है।

कनक कोट मनि खचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव।

—इस दोहेमें गोस्वामीजीने इसकी विचित्रता कह डाली है।

सचमुच भारतकी अलौकिक विभूतिकी बात पढ़-सुनकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। पर इसमें आश्चर्य क्या, इन सभी ऐश्वर्योंका कारण इसकी एकमात्र धर्मपरायणता थी, पर आज तो हम इस तरह धर्मके पीछे पड़ गये हैं कि यह शब्द ही हमारे कानमें खटकने लगा है और धर्मविहीनता दिखलानेमें ही हम सभी प्रकार गौरवका अनुभव करने लगे हैं। इसका जो उचित परिणाम है, वह भी हमारे सामने है।

६. यदा देवगणाः सर्वे सर्वरत्नेष्ववस्थिताः। त्वं च रत्नमयो नित्यं नमस्तेऽस्तु सदाचल॥
यस्माद्रत्नप्रदानेन तुष्टिं प्रकुरुते हरिः। सदा रत्नप्रदानेन तस्मान्नः पाहि पर्वत॥

प्राचीन शिक्षामें चौंसठ कलाएँ

(स्व० पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी)

प्राचीन कालमें भारतीय शिक्षाक्रमका क्षेत्र बहुत व्यापक था। शिक्षामें कलाओंकी शिक्षा भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। कलाओंके सम्बन्धमें पुराण, रामायण, महाभारत, काव्य आदि ग्रन्थोंमें जाननेयोग्य सामग्री भरी पड़ी है, परंतु इनका थोड़ेमें पर सुन्दर ढंगसे विवरण शुक्राचार्यके नीतिसार नामक ग्रन्थके चौथे अध्यायके तीसरे प्रकरणमें मिलता है। उनके कथनानुसार कलाएँ अनन्त हैं, उन सबके नाम भी नहीं गिनाये जा सकते, परंतु उनमें ६४ कलाएँ मुख्य हैं। कलाका लक्षण बतलाते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिसे एक मूक (गूँगा) व्यक्ति भी, जो वर्णोच्चारण भी नहीं कर सकता, कर सके, वह कला है—

शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तुं कलासंज्ञं तु तत् स्मृतम्।

केलदि-नरेश श्रीबसवराजेन्द्रविरचित शिवतत्त्वरत्नाकरमें मुख्य-मुख्य ६४ कलाओंका नाम-निर्देश इस प्रकार किया गया है—

१-इतिहास, २-आगम, ३-काव्य, ४-अलंकार, ५-नाटक, ६-गायकत्व, ७-कवित्व, ८-कामशास्त्र, ९-दुरोदर (द्यूत), १०-देशभाषालिपिज्ञान, ११-लिपिकर्म, १२-वाचन, १३-गणक, १४-व्यवहार, १५-स्वरशास्त्र, १६-शाकुन, १७-सामुद्रिक, १८-रत्नशास्त्र, १९-गज-अश्वरथकौशल, २०-मल्लशास्त्र, २१-सूपकर्म (रसोई पकाना), २२-भूरुहदोहद (बागवानी), २३-गन्धवाद, २४-धातुवाद, २५-रससम्बन्धी खनिवाद, २६-बिलवाद, २७-अग्निसंस्तम्भ, २८-जलसंस्तम्भ, २९-वाचःस्तम्भन, ३०-वयःस्तम्भन, ३१-वशीकरण, ३२-आकर्षण, ३३-मोहन, ३४-विद्वेषण, ३५-उच्चाटन, ३६-मारण, ३७-कालवञ्चन, ३८-परकायप्रवेश, ३९-पादुकासिद्धि, ४०-वाक्सिद्धि, ४१-गुटिकासिद्धि, ४२-ऐन्द्रजालिक, ४३-अञ्जन, ४४-परदृष्टिवञ्चन, ४५-स्वरवञ्चन, ४६-मणिमन्त्र-औषधादिकी सिद्धि, ४७-चोरकर्म, ४८-चित्रक्रिया, ४९-लोहक्रिया, ५०-अश्मक्रिया, ५१-मृत्क्रिया, ५२-दारुक्रिया, ५३-वेणुक्रिया, ५४-चर्मक्रिया, ५५-अम्बरक्रिया, ५६-अदृश्य-करण, ५७-दन्तिकरण, ५८-मृगयाविधि, ५९-वाणिज्य, ६०-पाशुपाल्य, ६१-कृषि, ६२-आसवकर्म, ६३-लाव-कुक्कुट-मेषादियुद्धकारक कौशल तथा ६४-शुक-सारिका-प्रलापन।

वात्स्यायनप्रणीत कामसूत्रके टीकाकार जयमंगलने दो प्रकारकी कलाओंका उल्लेख किया है—पहली कामशास्त्राङ्गभूता और दूसरी तन्त्रावापौपयिकी। इन दोनोंमेंसे प्रत्येकमें ६४ कलाएँ हैं। इनमें कई कलाएँ समान ही हैं और शेष पृथक्। पहले प्रकारमें २४ कर्माश्रया, २० द्यूताश्रया, १६ शयनोपचारिका और ४ उत्तर कलाएँ—इस तरह ६४ मूल कलाएँ हैं। इनकी भी अवान्तर कलाएँ और हैं, जो सब मिलकर ५१८ होती हैं।

कर्माश्रया २४ कलाओंके नाम इस प्रकार हैं—१-गीत, २-नृत्य, ३-वाद्य, ४-कौशल-लिपिज्ञान, ५-उदारवचन, ६-चित्रविधि, ७-पुस्तकर्म, ८-पत्रच्छेद्य, ९-माल्यविधि, १०-गन्धयुक्त्वाद्यविधान, ११-रत्नपरीक्षा, १२-सीवन, १३-रंगपरिज्ञान, १४-उपकरणक्रिया, १५-मानविधि, १६-आजीवज्ञान, १७-तिर्यग्योनिचिकित्सित, १८-मायाकृतपाषण्डपरिज्ञान, १९-क्रीडाकौशल, २०-लोकज्ञान, २१-वैचक्षण्य, २२-संवाहन, २३-शरीर-संस्कार और २४-विशेष कौशल।

द्यूताश्रया २० कलाओंमें १५ निर्जीव और ५ सजीव हैं। निर्जीव कलाएँ ये हैं— १-आयुःप्राप्ति, २-अक्षविधान, ३-रूपसंख्या, ४-क्रियामार्गण, ५-बीजग्रहण, ६-नयज्ञान, ७-करणादान, ८-चित्राचित्रविधि, ९-गूढराशि, १०-तुल्याभिहार, ११-क्षिप्रग्रहण, १२-अनुप्राप्तिलेखस्मृति, १३-अग्निक्रम, १४-छलव्यामोहन और १५-ग्रहदान। सजीव ५ कलाएँ ये हैं— १-उपस्थान-विधि, २-युद्ध, ३-सत, ४-गत और ५-नृत्त।

शयनोपचारिका १६ कलाएँ ये हैं— १-पुरुषका भावग्रहण, २-स्वराग-प्रकाशन, ३-प्रत्यङ्गदान, ४-नख-

दन्तविचार, ५-नीवीस्रंसन, ६-गुह्याङ्गका संस्पर्शनानुलोम्य, ७-परमार्थ-कौशल, ८-हर्षण, ९-समानार्थता-कृतार्थता, १०-अनुप्रोत्साहन, ११-मृदुक्रोधप्रवर्तन, १२-सम्यक्क्रोध-निवर्तन, १३-क्रुद्धप्रसादन, १४-सुप्त-परित्याग, १५-चरमस्वापविधि और १६-गुह्यगूहन ।

४ उत्तर कलाएँ ये हैं—१-साश्रुपात रमणको शापदान, २-स्वशपथक्रिया, ३-प्रस्थितानुगमन और ४-पुनः-पुनर्निरीक्षण । इस प्रकार दूसरे प्रकारकी भी सर्वसाधारणके लिये उपयोगिनी ६४ कलाएँ हैं ।

विष्णुपुराण एवं श्रीमद्भागवतके टीकाकार श्रीधर स्वामीने भी 'श्रीमद्भागवत'के दशम स्कन्धके ४५वें अध्यायके ६४वें श्लोककी टीकामें तथा 'विष्णुपुराण'के ५वें अंशकी टीकामें प्रायः दूसरे प्रकारकी कलाओंका नाम-निर्देश किया है, किंतु शुक्राचार्यने अपने 'नीतिसार'में जिन कलाओंका विवरण दिया है, उनमें कुछ तो उपर्युक्त कलाओंसे मिलती हैं पर शेष सभी भिन्न हैं । यहाँपर जयमंगल-टीकोक्त दूसरे प्रकारकी कलाओंका केवल नाम ही पाठकोंकी जानकारीके लिये देकर उसके बाद 'शुक्रनीतिसार' के क्रमानुसार कलाओंका दिग्दर्शन कराया जायगा ।

जयमंगलके मतानुसार ६४ कलाएँ ये हैं—१-गीत, २-वाद्य, ३-नृत्य, ४-आलेख्य, ५-विशेषकच्छेद्य (मस्तकपर तिलक लगानेके लिये कागज, पत्ती आदि काटकर आकार या साँचे बनाना), ६-तण्डुल-कुसुमबलिविकार (देव-पूजनादिके अवसरपर तरह-तरहके रँगे हुए चावल, यव आदि वस्तुओं तथा रंग-विरंगे फूलोंको विविध प्रकारसे सजाना), ७-पुष्पास्तरण, ८-दशन-वसनाङ्गराग (दाँत, वस्त्र तथा शरीरके अवयवोंको रँगना), ९-मणिभूमिकाकर्म (घरके फर्शके कुछ भागोंको मोती, मणि आदि रत्नोंसे जड़ना), १०-शयन-रचन (पलंग लगाना), ११-उदक-वाद्य (जलतरंग), १२-उदकाघात (दूसरोंपर हाथों या पिचकारीसे जलके छींटे मारना), १३-चित्रास्त्रयोग (जड़ी-बूटियोंके योगसे विविध वस्तुएँ ऐसी तैयार करना या ऐसी औषधें तैयार करना अथवा ऐसे मन्त्रोंका प्रयोग करना जिनसे शत्रु निर्बल हो या उसकी हानि हो), १४-माल्य-ग्रथन-विकल्प (माला गूँथना), १५-शेखरकापीडयोजन (स्त्रियोंकी चोटीपर पहननेके विविध अलंकारके रूपमें पुष्पोंको गूँथना), १६-नेपथ्यप्रयोग (शरीरको वस्त्र, आभूषण, पुष्प आदिसे सुसज्जित करना), १७-कर्ण-पत्रभंग (शंख, हाथी-दाँत आदिके अनेक तरहके कानके आभूषण बनाना), १८-गन्धयुक्ति (सुगन्धित धूप बनाना), १९-भूषण-योजन, २०-ऐन्द्रजाल (जादूके खेल), २१-कौचुमारयोग (बल-वीर्य बढ़ानेवाली ओषधियाँ बनाना), २२-हस्तलाघव (हाथोंकी काम करनेमें फुर्ती और सफाई), २३-विचित्र शाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया (तरह-तरहके शाक, कढ़ी, रस, मिठाई आदि बनानेकी क्रिया), २४-पानक-रस-रागासव-योजन (विविध प्रकारके शर्बत, आसव आदि बनाना), २५-सूचीवानकर्म (सूईका काम—जैसे सीना, रफू करना, कसीदा काढ़ना, मोजे-गंजी बुनना), २६-सूत्रक्रीडा (तागे या डोरियोंसे खेलना, जैसे कठपुतलीका खेल), २७-वीणाडमरुवाद्य, २८-प्रहेलिका (पहेलियाँ बूझना), २९-प्रतिमाला (श्लोक आदि कविता पढ़नेकी मनोरञ्जक रीति), ३०-दुर्वाचकयोग (ऐसे श्लोक आदि पढ़ना, जिनका अर्थ और उच्चारण दोनों कठिन हों), ३१-पुस्तक-वाचन, ३२-नाटकाख्यायिका-दर्शन, ३३-काव्य-समस्यापूरण, ३४-पट्टिकावेत्रवानविकल्प (पीढ़ा, आसन, कुर्सी, पलंग, मोढ़े आदि चीजें बेंत आदि वस्तुओंसे बनाना), ३५-तक्षकर्म (लकड़ी, धातु आदिको मनोऽनुकूल विभिन्न आकारोंमें काटना), ३६-तक्षण (बढ़ईका काम), ३७-वास्तुविद्या, ३८-रूप्यरत्न-परीक्षा (सिक्के, रत्न आदिकी परीक्षा करना), ३९-धातुवाद (पीतल आदि धातुओंको मिलाना, शुद्ध करना आदि), ४०-मणिरागाकरज्ञान (मणि आदिका रँगना, खान आदिके विषयका ज्ञान), ४१-वृक्षायुर्वेदयोग, ४२-मेषकुक्कुटलावक-युद्धविधि (मेढ़े, मुर्गे, तीतर आदिको लड़ाना), ४३-शुकसारिकाप्रलापन (तोता-मैना आदिको बोली सिखाना), ४४-उत्सादनसंवाहन—केशमर्दनकौशल (हाथ-पैरोंसे शरीर दबाना, केशोंका मलना, उनका मैल दूर करना आदि), ४५-अक्षरमुष्टिका-कथन (अक्षरोंको ऐसी युक्तिसे कहना कि उस संकेतका जाननेवाला ही उनका अर्थ समझे, दूसरा नहीं, मुष्टिसंकेतद्वारा बातचीत करना, जैसे दलाल आदि कर लेते हैं), ४६-म्लेच्छित विकल्प (ऐसे संकेतसे लिखना, जिसे उस संकेतको जाननेवाला ही समझे), ४७-देशभाषाविज्ञान,

४८-पुष्पशकटिका, ४९-निमित्तज्ञान (शकुन जानना), ५०-यन्त्रमातृका (विविध प्रकारके मशीन, कल, पुर्जे आदि बनाना), ५१-धारणमातृका (सुनी हुई बातोंका स्मरण रखना), ५२-सम्पाठ्य, ५३-मानसी काव्यक्रिया (किसी श्लोकमें छोड़े हुए पदको मनसे पूरा करना), ५४-अभिधानकोश, ५५-छन्दोज्ञान, ५६-क्रियाकल्प (काव्यालंकारोंका ज्ञान), ५७-छलितक-योग (रूप और बोली छिपाना), ५८-वस्त्रगोपन (शरीरके अङ्गोंको छोटे या बड़े वस्त्रोंसे यथायोग्य ढँकना), ५९-द्यूत-विशेष, ६०-आकर्ष-क्रीडा (पासोंसे खेलना), ६१-बालक्रीडनक, ६२-वैनयिकी-ज्ञान (अपने और परायेसे विनयपूर्वक शिष्टाचार करना), ६३-वैजयिकी-ज्ञान (विजय प्राप्त करनेकी विद्या अर्थात् शस्त्रविद्या) और ६४-व्यायामविद्या। इनका विशेष विवरण जयमंगलने कामसूत्रकी व्याख्यामें किया है।

शुक्राचार्यका कहना है कि कलाओंके भिन्न-भिन्न नाम नहीं हैं, अपितु केवल उनके लक्षण ही कहे जा सकते हैं; क्योंकि क्रियाके पार्थक्यसे ही कलाओंमें भेद होता है। जो व्यक्ति जिस कलाका अवलम्बन करता है, उसकी जाति उसी कलाके नामसे कही जाती है। पहली कला है नृत्य (नाचना)। हाव-भाव आदिके साथ गतिको नृत्य कहा जाता है। नृत्यमें अनुकरण, अङ्गहार, विभाव, भाव, अनुभाव और रसोंकी अभिव्यक्ति की जाती है। नृत्यके दो प्रकार हैं—एक नाट्य, दूसरा अनाट्य। स्वर्ग अथवा नरक या पृथ्वीके निवासियोंकी कृतिका अनुकरण 'नाट्य' कहा जाता है और अनुकरणविरहित नृत्य 'अनाट्य'। यह कला अति प्राचीनकालसे यहाँ बड़ी उन्नत दशामें थी। भगवान् शंकरका ताण्डव-नृत्य प्रसिद्ध है। आज तो इस कलाकी पेशा करनेवाली एक जाति ही कत्थक नामसे प्रसिद्ध है। वर्षा-ऋतुमें घनगर्जनासे आनन्दित मोरका नृत्य बहुतोंने देखा होगा। नृत्य एक स्वाभाविक वस्तु है, जो हृदयमें प्रसन्नताका उद्रेक होते ही बाहर व्यक्त हो उठती है। कुछ कलाविद् पुरुषोंने इसी स्वाभाविक नृत्यको अन्यान्य अभिनय-विशेषोंसे रँगकर कलाका रूप दे दिया है। जगंली-से-जगंली और सभ्य-से-सभ्य समाजमें नृत्यका अस्तित्व किसी-न-किसी रूपमें देखा ही जाता है। आधुनिक पाश्चात्त्योंमें नृत्य-कला एक प्रधान सामाजिक वस्तु हो गयी है। प्राचीनकालमें इस कलाकी शिक्षा राजकुमारोंतकके लिये आवश्यक समझी जाती थी। अर्जुनद्वारा अज्ञातवासकालमें राजा विराटकी कन्या उत्तराको बृहन्नलाके रूपमें इस कलाकी शिक्षा देनेकी बात महाभारतमें प्रसिद्ध है। दक्षिण-भारतमें यह कला अब भी थोड़ी-बहुत विद्यमान है। 'कथाकलि' में उसकी झलक मिलती है।

२-अनेक प्रकारके वाद्योंका निर्माण करने और उनके बजानेका ज्ञान कला है। वाद्योंके मुख्यतया चार भेद हैं—१-तत, २-सुषिर, ३-अवनद्ध और ४-घन। तार अथवा ताँतका जिसमें उपयोग होता है, वे वाद्य 'तत' कहे जाते हैं—जैसे वीणा, तम्बूरा, सारंगी, बेला, सरोद आदि। जिसका भीतरी भाग सच्छिद्र (पोला) हो और जिसमें वायुका उपयोग होता हो उसे 'सुषिर' कहते हैं—जैसे बाँसुरी, अलगोजा, शहनाई, बैंड, हार्मोनियम, शंख आदि। चमड़ेसे मढ़ा हुआ वाद्य 'अवनद्ध' कहा जाता है—जैसे ढोल, नगारा, तबला, मृदंग, डफ, खँजड़ी आदि। परस्पर आघातसे बजाने योग्य वाद्य 'घन' कहलाता है। जैसे झाँझ, मजीरा, करताल आदि। यह कला गानेसे सम्बन्ध रखती है। बिना वाद्यके गानमें मधुरता नहीं आती। प्राचीनकालमें भारतके वाद्योंमें वीणा मुख्य थी। इसका उल्लेख प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंमें भी उपलब्ध होता है। सरस्वती और नारदका वीणा-वादन, श्रीकृष्णकी वंशी, महादेवका डमरू तो प्रसिद्ध ही है। वाद्य आदि विषयोंके संस्कृतमें अनेक ग्रन्थ हैं। उनमें अनेक वाद्योंके परिमाण, उनके बनाने और मरम्मत करनेकी विधियाँ मिलती हैं। राज्याभिषेक, यात्रा, उत्सव, विवाह, उपनयन आदि माङ्गलिक कार्योंके अवसरोंपर भिन्न-भिन्न वाद्योंका उपयोग होता था। युद्धमें सैनिकोंके उत्साह, शौर्यको बढ़ानेके लिये अनेक तरहके वाद्य बजाये जाते थे।

३-स्त्री और पुरुषोंको सुचारुरूपसे वस्त्र एवं अलंकार पहनाना 'कला' है। ४-अनेक प्रकारके रूपोंका आविर्भाव करनेका ज्ञान 'कला' है। इसी कलाका उपयोग हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीके साथ पहली बार मिलनेके समय ब्राह्मण-वेश धारण करनेमें किया था। ५-शय्या और आस्तरण (बिछौना) सुन्दर रीतिसे बिछाना और पुष्पोंको अनेक प्रकारसे गूँथना 'कला' है। ६-द्यूत (जूआ) आदि अनेक

क्रीडाओंसे लोगोंका मनोरञ्जन करना 'कला' है। प्राचीनकालमें द्यूतके अनेक प्रकारोंके प्रचलित होनेका पता लगता है। उन सबमें अक्षक्रीडा (चौपड़) विशेष प्रसिद्ध थी। नल, युधिष्ठिर, शकुनि आदि इस कलामें निपुण थे। ७-अनेक प्रकारके आसनोंद्वारा सुरत-क्रीडाका ज्ञान 'कला' है। इन सात कलाओंका उल्लेख 'गान्धर्ववेद'में किया गया है।

८-विविध प्रकारके मकरन्दों (पुष्परस)से आसव, मद्य, आदिकी कृति 'कला' है। ९-शल्य (पादादि अङ्गमें चुभे काँटे) की पीड़ाको अल्प कर देना या शल्यको अङ्गमेंसे निकाल डालना, शिरा (नाड़ी) और फोड़े आदिकी चीरफाड़ करना 'कला' है। हकीमोंकी जर्राही और डाक्टरोंकी सर्जरी इसी कलाके उदाहरण हैं। १०-हींग आदि रस (मसाले) से युक्त अनेक प्रकारके अन्नोंका पकाना 'कला' है। महाराज नल और भीमसेन-जैसे पुरुष भी इस कलामें निपुण थे। ११-वृक्ष, गुल्म, लता आदिको लगाने, उनसे विविध प्रकारके फल-पुष्पोंको उत्पन्न करने एवं उन वृक्षादिका अनेक उपद्रवोंसे संरक्षण करनेकी कृति 'कला' है। प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंमें सुरम्य उद्यान, उपवन आदिका बहुत उल्लेख मिलता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अग्निपुराण तथा शुक्रनीतिसारमें इस विषयपर बहुत प्रकाश डाला गया है। इससे मालूम होता है कि बहुत प्राचीनकालमें भी यह कला उन्नत दशामें थी। १२-पत्थर, सोने-चाँदी आदि धातुओंको (खानमेंसे) खोदना, उन धातुओंका भस्म बनाना 'कला' है। १३-सभी प्रकारके इक्षु (ईख)से बनाये जा सकनेवाले पदार्थ—जैसे राब, गुड़, खाँड, चीनी, मिश्री, कन्द आदि बनानेका ज्ञान 'कला' है। १४-सुवर्ण आदि अनेक धातु और अनेक ओषधियोंको परस्पर मिश्रित करनेका ज्ञान 'कला' है। १५-मिश्रित धातुओंको उस मिश्रणसे अलग-अलग कर देना 'कला' है। १६-धातु आदिके मिश्रणका अपूर्व (प्रथम) विज्ञान 'कला' है। १७-लवण (नमक) आदिको समुद्रसे या मिट्टी आदि पदार्थोंसे निकालनेका विज्ञान 'कला' है। इन आठसे सतरहतककी कलाओंका आयुर्वेदसे सम्बन्ध है, इसलिये ये कलाएँ आयुर्वेदके अन्तर्भूत हैं। इनमें आधुनिक बॉटनी, गार्डनिंग, माइनिंग, मेटलर्जी, केमिस्ट्री आदि आ जाते हैं।

१८-पैर आदिके अङ्गोंके विशिष्ट संचालनपूर्वक (पैंतरा बदलते हुए) शस्त्रोंका लक्ष्य स्थिर करना और उनका चलाना 'कला' है। १९-शरीरकी सन्धियों (जोड़ों) पर आघात करते हुए या भिन्न-भिन्न अङ्गोंको खींचते हुए दो मल्लों (पहलवानों)का युद्ध (कुश्ती) 'कला' है। इस कलामें भी भारत प्राचीनकालसे अबतक सर्वश्रेष्ठ रहा है। श्रीकृष्णने कंसकी सभाके चाणूर, मुष्टिक आदि प्रसिद्ध पहलवानोंको इस कलामें पछाड़ा था। भीमसेन और जरासंधकी कुश्ती कई दिनोंतक चलनेका उल्लेख 'महाभारत'में आया है। आज भी गामा आदिके नाम जगद्विजयी मल्लोंमें है। पंजाब, मथुरा आदिके मल्ल अभी भी इस कलामें अच्छी निपुणता रखते हैं। इस युद्धका एक भेद 'बाहुयुद्ध' है। इसमें मल्ललोग किसी शस्त्रका उपयोग न कर केवल मुष्टिसे युद्ध करते हैं। इसे 'मुक्की' या 'मुक्काबाजी' (बाक्सिंग) कहते हैं। काशीके दुर्गाघाटपर कार्तिकमें होनेवाली मुक्की सुप्रसिद्ध है। बाहुयुद्धमें लड़कर मरनेवालेकी शुक्राचार्यने निन्दा की है। वे लिखते हैं—

मृतस्य तस्य न स्वर्गो यशो नेहापि विद्यते।
बलदर्पविनाशान्तं नियुद्धं यशसे रिपोः॥
न कस्यचिद् विकुर्याद् वै प्राणान्तं बाहुयुद्धकम्॥

बाहुयुद्धमें मरनेवालेको न तो इस लोकमें यश मिलता है, न परलोकमें स्वर्ग-सुख, किंतु मारनेवालेका यश अवश्य होता है; क्योंकि शत्रुके बल और दर्प (घमंड) का अन्त करना ही युद्धका लक्ष्य होता है। इसलिये प्राणान्त (शत्रुके मर जानेतक) बाहुयुद्ध करना चाहिये। ऐसे युद्धका उदाहरण मधु-कैटभके साथ विष्णुका युद्ध है, जो समुद्रमें पाँच हजार वर्षोंतक होता रहा।

२०-कृत और प्रतिकृत आदि अनेक तरहके अति भयंकर बाहु (मुष्टि) प्रहारोंसे अकस्मात् शत्रुपर झपटकर किये गये आघातोंसे एवं शत्रुको असावधान पाकर ऐसी दशामें उसे पकड़कर रगड़ देने आदि प्रकारोंसे जो युद्ध किया जाता है, उसे 'निपीडन' कहते हैं और शत्रुद्वारा

किये गये ऐसे 'निपीडन'से अपनेको बचा लेनेका नाम 'प्रतिक्रिया' है। अर्थात् अपना बचाव करते हुए शत्रुपर केवल बाहुओंसे भयंकर आघात करते हुए युद्ध करना 'कला' है। २१-अभिलक्षित देश (निशाने) पर विविध यन्त्रोंसे अस्त्रोंको फेंकना और किसी तुरही आदि (वाद्यके संकेतसे) व्यूह रचना (किसी खास तरीकेसे सैन्यको खड़ा करनेकी क्रिया करना) 'कला' है। इससे पता चलता है कि मन्त्रोंसे फेंके जानेवाले अस्त्र आजकलके बंदूक, तोप, मशीनगन, तारपीडो आदिकी तरह प्राचीन कालमें भी उपयोगमें लाये जाते रहे होंगे, किंतु उनसे होनेवाली भारी क्षतिको देखकर उनका उपयोग कम कर दिया गया होगा। मनुने भी महायन्त्र-निर्माणका निषेध किया है। २२-हाथी, घोड़े और रथोंकी विशिष्ट गतियोंसे युद्धका आयोजन करना 'कला' है। १८ से २२ तककी पाँच कलाएँ 'धनुर्वेद'से सम्बन्ध रखती हैं।

२३-विविध प्रकारके आसन (बैठनेका प्रकार) एवं मुद्राओं (दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे बननेवाली अंकुश, पद्म, धेनु आदिकी आकृतियों) से देवताओंको प्रसन्न करना 'कला' है। इस कलापर आधुनिकोंका विश्वास नहीं है तो भी कहीं-कहीं इसे जाननेवाले व्यक्ति पाये जाते हैं। इसका प्राचीन समयमें खूब प्रचार था। संस्कृतमें तन्त्र एवं आगमके अनेक ग्रन्थोंमें मुद्रा आदिका वर्णन देखनेमें आता है। हिप्नॉटिज्म जाननेवालोंमें कुछ मुद्राओंका प्रयोग देखा जाता है। वे मुद्राद्वारा अपनी शक्तिका संक्रमण अपने प्रयोज्य-विधेयमें करते हैं। २४-सारथ्य-रथ हाँकनेका काम (कोचवानी) एवं हाथी-घोड़ोंको अनेक तरहकी गतियों (चालों) की शिक्षा देना 'कला' है। इसकी शिक्षा किसी समयमें सभी राजकुमारोंके लिये आवश्यक समझी जाती थी। यदि विराट-पुत्र उत्तर इस कलामें निपुण न होते तो जब दुर्योधन आदि विराटकी गौओंका अपहरण करनेके लिये आये, उस समय अर्जुनका सारथ्य वे कैसे कर सकते थे। महाभारत-युद्धमें श्रीकृष्ण अर्जुनका रथ कैसे हाँक सकते थे या कर्णका सारथ्य शल्य कैसे कर सकते थे। आज भी शौकीन लोग सारथि (ड्राइवर) को पीछे बैठाकर स्वयं मोटर आदि हाँकते हुए देखे जाते हैं। २५-मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और पीतल आदि धातुओंसे बर्तनोंका बनाना 'कला' है। यह कला भी इस देशमें बहुत पुराने समयसे अच्छी दशामें देखनेमें आती है। इसका अनुमान जमीनकी खुदाईसे निकले हुए प्राचीन बर्तनोंको 'वस्तु-संग्रहालय' (म्यूजियम) में देखनेसे हो सकता है। २६-चित्रोंका आलेखन 'कला' है। प्राचीन चित्रोंको देखनेसे प्रमाणित होता है कि यह कला भारतमें किस उच्च-कोटितक पहुँची हुई थी। प्राचीन मन्दिर और बौद्ध विहारोंकी मूर्तियों और अजन्ता आदि गुफाओंके चित्रोंको देखकर आश्चर्य होता है। आज कई शताब्दियोंके व्यतीत हो जानेपर भी वे ज्यों-के-त्यों दिखलायी पड़ते हैं। उनके रंग ऐसे दिखलायी पड़ते हैं कि जैसे अभी कारीगरने उनका निर्माण-कार्य समाप्त किया हो। प्रत्येक वर्ष हजारों विदेशी यात्री उन्हें देखनेके लिये दूर-दूरसे आते हैं। प्रयत्न करनेपर भी वैसे रंगोंका आविष्कार अबतक नहीं हो सका है। यह कला इतनी व्यापक थी कि देशके हर एक कोनेमें—घर-घरमें इसका प्रचार था। अब भी घरोंके द्वारपर गणेशजी आदिके चित्र बनानेकी चाल प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। कई सामाजिक उत्सवोंके अवसरोंपर स्त्रियाँ दीवाल और जमीनपर चित्र लिखती हैं। प्राचीनकालमें भारतकी स्त्रियाँ इस कलामें बहुत निपुण होती थीं। बाणासुरकी कन्या ऊषाकी सखी चित्रलेखा इस कलामें बड़ी सिद्धहस्त थी। वह एक बार देखे हुए व्यक्तिका बादमें हूबहू चित्र बना सकती थी। चित्रकलाके ६ अङ्ग हैं—१-रूप-भेद (रंगोंकी मिलावट), २-प्रमाण (चित्रमें दूरी, गहराई आदिका दिखलाना और चित्रगत वस्तुके अङ्गोंका अनुपात), ३-भाव और लावण्यकी योजना, ४-सादृश्य, ५-वर्णिका (रंगोंका सामञ्जस्य) और ६-भंग (रचना-कौशल)। 'समराङ्गणसूत्रधार' आदि प्राचीन शिल्पग्रन्थोंमें इस कलाका विशदरूपसे विवरण उपलब्ध होता है।

२७-तालाब, बावली, कूप, प्रासाद (महल और देव-मन्दिर) आदिका बनाना और भूमि (ऊँची-नीची) का सम (बराबर) करना 'कला' है। 'सिविल इंजीनियरिंग'

का इसमें भी समावेश किया जा सकता है । २८-घटी (घड़ी) आदि समयका निर्देश करनेवाले यन्त्रों एवं २९-अनेक वाद्योंका निर्माण करना 'कला' है । प्राचीनकालमें समयका माप करनेके लिये जल-यन्त्र, बालुका-यन्त्र धूप-घड़ी आदि साधन थे । अब घड़ीकें बन जानेसे यद्यपि उनका व्यवहार कम हो गया है, तथापि कई प्राचीन शैलीके ज्योतिषी लोग अब भी विवाह आदिके अवसरपर जल-यन्त्रद्वारा ही सूर्योदयसे इष्ट-कालका साधन करते हैं एवं कई प्राचीन राजाओंकी ड्योढ़ीपर अब भी जल-यन्त्र, बालुका-यन्त्र या धूप-घड़ीके अनुसार समय-निर्देशक घंटा बजानेकी प्रथा देखनेमें आती है । आश्चर्य है कि इन्हीं यन्त्रोंकी सहायतासे प्राचीन ज्योतिषी लोग सूक्ष्मातिसूक्ष्म समयके विभागका ज्ञान स्पष्टतया प्राप्त कर लिया करते थे और उसीके आधारपर बनी जन्म-पत्रिकासे जीवनकी घटनाओंका ठीक-ठीक पता लगा लिया जाता था ।

३०-कतिपय रंगोंके अल्प, अधिक या सम संयोग (मिलावट)से बने विभिन्न रंगोंसे वस्त्र आदि वस्तुओंका रँगना—यह भी 'कला' है । पहले यह कला घर-घरमें थी, किन्तु इसका भार अब मालूम होता है रँगरेजोंके ऊपर ही छोड़ दिया गया है । यहाँके रंग बड़े सुन्दर और टिकाऊ होते थे । यहाँके रंगोंसे रँगे वस्त्रोंका बाहरके देशोंमें बड़ा आदर था । अब भी राजपूतानेके कई नगरोंमें ऐसे-ऐसे कुशल रँगरेज हैं कि जो महीन-से-महीन मलमलको दोनों ओरसे दो विभिन्न रंगोंमें रँग देते हैं । जोधपुरमें कपड़ेको स्थान-स्थानपर बाँधकर इस तरह रँग देते हैं कि उसमें अनेक रंग और बेलबूटे बैठ जाते हैं ।

३१-जल, वायु और अग्निके संयोगसे उत्पन्न वाष्प (भाप) के निरोध (रोकने) से अनेक क्रियाओंका सम्पादन करना 'कला' है—'

जलवाय्वग्निसंयोगनिरोधैश्च क्रिया कला ।

भोजदेव (वि०सं० १०६६-९८) कृत 'समराङ्गणसूत्रधार' के ३१वें अध्यायका नाम ही 'यन्त्रविधान' है । उस अध्यायमें २२३ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं, जिनमें विलक्षण प्रकारके विविध यन्त्रोंके निर्माणकी संक्षिप्त प्रक्रियाका दिग्दर्शन कराया गया है । इससे तो यह बात स्पष्ट रीतिसे जानी जा रही है कि प्राचीन भारतके लोगोंको भापके यन्त्रोंका ज्ञान था और वे उन यन्त्रोंसे अपने व्यावहारिक कार्योंमें आजकी तरह सहायता लिया करते थे ।

३२-नौका, रथ आदि जल-स्थलके आवागमनके साधनोंका निर्माण करना 'कला' है । पहलेके लोग स्थल और यातायातके साधनोंका अच्छे-से-अच्छे उपकरणोंसे सम्पन्न अश्व, रथ, गौ (बैलों) के रथ आदिका बनाना तो जानते ही थे, साथ ही अच्छे-से-अच्छे सुदृढ़, सुन्दर, उपयोगी, सर्वसाधनोंसे सम्पन्न बड़े-बड़े जहाजोंका बनाना भी जानते थे । जहाजोंके उपयोगका वर्णन वेदोंमें भी मिलता है । जहाजोंपर दूर-दूरके देशोंके साथ अच्छा व्यापार होता था ।

जलयानोंसे आने-जानेवाले मालपर कर आदिकी व्यवस्था थी । पाश्चात्त्योंकी तरह यहाँके मल्लाह भी बड़े साहसी और यात्रामें निडर होते थे, किंतु पाश्चात्त्य शासकोंकी कृपासे अन्यान्य कलाओंकी तरह भारतमें यह कला भी बहुत क्षीण हो गयी है ।

३३-सूत्र, सन आदि तन्तुओंसे रस्सीका बनाना 'कला' है । ३४-अनेक तन्तुओंसे पटबन्ध (वस्त्रकी रचना) 'कला' है । यह कला भी बहुत प्राचीन समयसे भारतमें बड़ी उन्नत दशामें थी । भारतमें 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी'के शासनके पहले यहाँ ऐसे सुन्दर, मजबूत और महीन वस्त्र बनाये जाते थे, जिनकी बराबरी आजतक कोई दूसरा देश कर नहीं सका । 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के समयमें यहाँके वस्त्र-निर्माण एवं वस्त्र-निर्यातके व्यवसायको पाश्चात्त्य स्वार्थी व्यापारियोंने कई उपायोंसे नष्ट कर दिया ।

३५-रत्नोंकी पहचान और उनमें वेध (छिद्र) करनेकी क्रियाका ज्ञान 'कला' है । प्राचीन समयसे ही अच्छे-बुरे रत्नोंकी पहचान तथा उनके धारण करनेसे होनेवाले शुभाशुभ फलका ज्ञान यहाँके लोगोंको था । ग्रहोंके अनिष्ट फलोंको रोकनेके लिये विभिन्न रत्नोंको धारण करनेका शास्त्रोंने उपदेश किया है । उसके अनुसार रत्नोंको धारण करनेका फल आज भी प्रत्यक्ष दिखलायी देता है । पर आज तो भारतवर्षकी यह स्थिति है कि अधिकांश लोगोंको उन रत्नोंका धारण करना तो दूर रहा, दर्शन

भी दुर्लभ है ।

३६-सुवर्ण, रजत आदिके याथात्म्य (असलीपन) का जानना 'कला' है । ३७-नकली सोने-चाँदी और हीरे-मोती आदि रत्नोंके निर्माण करनेका विज्ञान 'कला' है । पुराने किमियागरोंकी बातें सुननेमें आती हैं । वे कई वस्तुओंके योगसे ठीक असली-जैसा सोना-चाँदी आदि बना सकते थे । अब तो केवल उनकी बातें ही सुननेमें आती हैं । रत्न भी प्राचीनकालमें नकली बनाये जाते थे । मिश्रीसे ऐसा हीरा बनाते थे कि अच्छे जौहरी भी उसे जल्दी नहीं पहचान सकते थे । इससे मालूम होता है कि 'इमिटेशन' हीरा आदि रत्न तथा 'कलचर' मोतियोंका आविष्कार पाश्चात्योंने कुछ नया निकाला हो—यह बात नहीं है । किंतु यह भी मानना ही पड़ेगा कि उस समय इन नकली वस्तुओंका व्यवसाय आजकलकी तरह अधिक विस्तृत नहीं था । देशके सम्पन्न होनेके कारण उन्हें नकली वस्तुओंसे अपनी शोभा बढ़ानेकी आवश्यकता ही क्या थी । पर आजकी स्थिति कुछ और है, इसीसे इन पदार्थोंका व्यवहार अधिक बढ़ गया है । ३८-सोने-चाँदीके आभूषण बनाना एवं लेप (मुलम्मा) आदि (मीनाकारी) करना 'कला' है—

स्वर्णाद्यलंकारकृतिः कलालेपादिसत्कृतिः ।

३९-चमड़ेको मुलायम करना और उससे आवश्यक उपयोगी सामान तैयार करना एवं ४०—पशुओंके शरीरपरसे चमड़ा निकालकर अलग करना 'कला' है—

मार्दवादिक्रियाज्ञानं चर्मणां तु कला स्मृता ।
पशुचर्माङ्गनिर्हारक्रियाज्ञानं कला स्मृता ॥

आज तो यह कला भारतके लोगोंके हाथसे निकलकर विदेशियोंके हाथमें चली गयी है । यहाँ केवल हरिजनोंके घरोंमें कुछ अवशिष्ट रही है, किंतु वे भी चमड़ोंको कमाकर विदेशियोंके समान उन्हें मुलायम करना नहीं जानते ।

४१-गौ, भैंस आदिको दुहनेसे लेकर दही जमाना, मथना, मक्खन निकालना तथा उससे घी बनानेतककी सब क्रियाओंका जानना 'कला' है । इसे पढ़कर हृदयमें दुःखकी एक टीस उठ जाती है । वह भारतका सौभाग्य-काल कहाँ जब घर-घरमें अनेक गौओंका निवास था, प्रत्येक मनुष्य इस कलासे अभिज्ञ होता था और कहाँ वह श्रीकृष्णके समयका व्रज-वृन्दावनका दृश्य और कहाँ आज बड़े-बड़े शहरोंके पास बने बूचड़खानोंमें प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें वध किये जानेवाली गौमाता और उनके बच्चोंका करुण-क्रन्दन ।

४२-कुर्ता आदि कपड़ोंको सीना 'कला' है—

सीवने कंचुकादीनां विज्ञानं तु कलात्मकम् ।

४३-जलमें हाथ, पैर आदि अङ्गोंसे विविध प्रकारसे तैरना 'कला' है । तैरनेके साथ-साथ डूबते हुएको कैसे बचाना चाहिये, थका या डूबता हुआ व्यक्ति यदि उसे बचानेके लिये आये व्यक्तिको पकड़ ले तो वैसी स्थितिमें किस तरह उससे अपनेको छुड़ाकर और उसे लेकर किनारेपर पहुँचना चाहिये आदि बातोंका जानना भी बहुत आवश्यक है ।

४४-घरके बर्तनोंको माँजनेका ज्ञान 'कला' है । पहले यह काम घरकी स्त्रियाँ ही करती थीं, आज भी कई घरोंमें यही चाल है, परंतु अब बड़े घरानोंकी स्त्रियाँ इसमें अपना अपमान समझती हैं । ४५-वस्त्रोंका सम्मार्जन (अच्छी तरह धोकर साफ करना) 'कला' है । ४६-क्षुरकर्म (हजामत बनाना) 'कला' है । आजकल यह बड़ी उन्नतिपर है । गङ्गा-यमुनाके घाटों, बाजारोंमें चले जाइये, आपको इस कलाका उदाहरण प्रत्यक्ष देखनेको मिल जायगा । कोई पढ़ा-लिखा आधुनिक सभ्य पुरुष प्रायः ऐसा न मिलेगा, जिसके आह्निकमें अपना 'क्षुरकर्म' सम्मिलित न हो—

वस्त्रसम्मार्जनं चैव क्षुरकर्म ह्युभे कले ।

४७-तिल, तीसी, रेड़ी आदि तिलहन पदार्थोंमेंसे तेल निकालनेकी कृति 'कला' है । ४८-हल चलाना जानना और ४९-पेड़ोंपर चढ़ना जानना भी 'कला' है । हल चलाना तो कृषिका प्रधान अङ्ग ही है । पेड़ोंपर चढ़ना भी एक 'कला' ही है । सभी केवल चाहनेमात्रसे ही पेड़ोंपर चढ़ नहीं सकते । खजूर, ताड़, नारियल, सुपारी आदिके पेड़ोंपर चढ़ना कितना कठिन है—इसे देखनेवाला ही जान सकता है । इसमें जरा-सी भी असावधानी होनेपर मृत्यु यदि न हो तो भी अङ्ग-भङ्ग होना मामूली बात है ।

५०-मनोऽनुकूल (दूसरेकी इच्छाके अनुसार उसकी) सेवा करनेका ज्ञान 'कला' है। राजसेवक, नौकर, शिष्य आदिके लिये इस कलाका जानना परमावश्यक है। इस कलाको न जाननेवाला किसीको प्रसन्न नहीं कर सकता।

५१-बाँस, ताड़, खजूर, सन आदिसे पात्र (टोकरी, झाँपी आदि) बनाना 'कला' है। ५२-काँचके बरतन आदि सामान बनाना 'कला' है।

५३-जलसे संसेचन (अच्छी तरहसे खेतोंको सींचना) और ५४-संहरण (अधिक जलवाली या दलदलवाली भूमिसे जलको बाहर निकाल डालना अथवा दूरसे जलको आवश्यक स्थानपर ले आना) 'कला' है। ५५-लोहेके अस्त्र-शस्त्र बनानेका ज्ञान 'कला' है। ५६-हाथी, घोड़े, बैल और ऊँटोंकी पीठपर सवारीके उपयुक्त पल्याण (जीन, काठी) बनाना 'कला' है। ५७-शिशुओंका संरक्षण (पालन) और ५८-धारण (पोषण) करना एवं ५९-बच्चोंके खेलनेके लिये तरह-तरहके खिलौने बनाना 'कला' है—

शिशोः संरक्षणे ज्ञानं धारणे क्रीडने कला।

६०-अपराधियोंको उनके अपराधके अनुसार ताड़न (दण्ड) देनेका ज्ञान 'कला' है। ६१-भिन्न-भिन्न देशोंकी लिपिको सुन्दरतासे लिखना 'कला' है। भारत इस कलामें बहुत उन्नत था। ऐसे सुन्दर अक्षर लिखे जाते थे कि उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। लिखनेके लिये स्याही भी ऐसी सुन्दर बनती थी कि सैकड़ों वर्षोंकी लिखी हुई पुस्तकें आज भी नयी-सी मालूम होती हैं। छापनेके प्रेस, टाइपराइटर आदि साधनोंका उपयोग होता जा रहा है, जिससे लोगोंके अक्षर बिगड़ते जा रहे हैं। स्थिति यहाँतक आ पहुँची है कि लोगोंको अपनेसे लिखा हुआ अपनेसे नहीं पढ़ा जा सकता। पहले यह कला इतनी उन्नत थी कि महाभारत-जैसा सवा लाख श्लोकोंका विशाल ग्रन्थ आदिसे अन्ततक एक ही साँचेके अक्षरोंमें लिखा हुआ देखनेमें आता है। कहीं एक अक्षर भी छोटा-बड़ा नहीं हो पाया है, स्याही भी एक-जैसी ही है—न कहीं गहरी न पतली। विशेष आश्चर्य तो यह है कि सारी पुस्तकमें न तो एक अक्षर गलत लिखकर कहीं काटा हुआ है न कहीं कोई धब्बा ही है।

६२-पानकी रक्षा करना—ऐसा उपाय करना कि जिससे पान बहुत दिनोंतक सूखने न पाये, न गले-सड़े, 'कला' है। आज भी बहुत-से ऐसे तमोली हैं, जो मगही पानको महीनोंतक ज्यों-का-त्यों रखते हैं, इस तरह ये ६२ कलाएँ अलग-अलग हैं, किंतु दो कलाएँ ऐसी हैं जिन्हें सब कलाओंका प्राण कहा जाता है। ये ही सब कलाओंके गुण भी कही जा सकती हैं। इन दोनोंमें पहली है—६३ आदान और दूसरी ६४-प्रतिदान। किसी कामको करनेमें आशुकारित्व (जल्दी-फुर्तीसे करना) 'आदान' कहा जाता है और उस कामको चिरकाल (बहुत समय) तक करते रहना 'प्रतिदान' है। बिना इन दो गुणोंके कोई भी कला अधिक उपयुक्त नहीं हो सकती। इस तरह ६४ कलाओंका यह संक्षिप्त विवरण है।

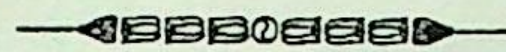
यह पाठ्यक्रम कितना व्यापक है, इसमें प्रायः सभी विषयोंका समावेश हो जाता है। शिक्षाका यह उद्देश्य माना जाता है कि उससे ज्ञानकी वृद्धि हो, सदाचारमें प्रवृत्ति हो और जीविकोपार्जनमें सहायता मिले। इस क्रममें इन तीनोंका ध्यान रखा गया है। इतना ही नहीं, पारलौकिक कल्याण भी नहीं छोड़ा गया है। संक्षेपमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको ध्यानमें रखकर ही शिक्षाका यह क्रम निश्चित किया गया है। इससे पता लगता है कि उस समयकी शिक्षाका आदर्श कितना उच्च तथा व्यावहारिक था। श्रीकृष्णचन्द्रको इन सभी विषयोंकी पूरी शिक्षा दी गयी थी और वे प्रायः सभीमें प्रवीण थे। अर्जुन नृत्यकला और नल, भीम आदि पाकविद्यामें निपुण थे। परशुराम, द्रोणाचार्य-सरीखे ब्राह्मण धनुर्वेदमें दक्ष थे। इससे जान पड़ता है कि गुरुकुलोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंके बालकोंको प्रायः इन सभी विषयोंकी थोड़ी-बहुत शिक्षा दी जाती रही होगी। परंतु इस शिक्षासे ऐसा न हो कि जो काम जिसके जीमें आया करने लगा, जैसा कि आजकल होता है— इसका भी ध्यान रखा गया था; क्योंकि ऐसा होनेसे सारी समाज-व्यवस्था ही बिगड़ जाती, श्रेणी-संघर्ष और बेकारीकी उत्पत्ति होती, जैसा कि आजकल देखनेमें आ रहा है। सब मनुष्योंका स्वभाव एक-सा नहीं होता, किसीकी प्रवृत्ति

किसी ओर तो किसीकी किसी ओर होती है। जिसकी जिस ओर प्रवृत्ति होती है, उसीमें अभ्यास करनेसे कुशलता प्राप्त होती है। इसीलिये शुक्राचार्यने लिखा है—

यां यां कलां समाश्रित्य निपुणो यो हि मानवः।
नैपुण्यकरणे सम्यक् तां तां कुर्यात् स एव हि॥

वंशागत कलाके सीखनेमें कितनी सुगमता होती है, यह प्रत्यक्ष है। एक बढ़ईका लड़का बढ़ईगिरी जितनी शीघ्रता और सुगमताके साथ सीखकर उसमें निपुण हो सकता है, उतना दूसरा नहीं; क्योंकि वंश-परम्परा और बालकपनसे ही उसके उस कलाके योग्य संस्कार बन जाते हैं। इन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंके आधारपर प्राचीन शिक्षा-क्रमकी रचना हुई थी।

क्या ही अच्छा होता, यदि हमारे शिक्षा-आयोजकोंका ध्यान एक बार हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धतिकी ओर भी जाता।



भारतकी प्राचीन वैमानिक कला

वर्तमान समयमें कुछ दिन पूर्व वैमानिक कला प्रायः लुप्त-सी हो गयी थी। बादमें पाश्चात्त्य विद्वानोंके बुद्धिविकाससे विमान फिर इस संसारमें दिखायी देने लगे। कहा जाता है कि विमान नामकी कोई वस्तु पहले नहीं थी, अपितु पक्षियोंको आकाशमें उड़ते देखकर भारतीयोंकी यह निरी कपोल-कल्पना थी कि विमान नामकी कोई वस्तु पहले देशमें थी, जो आकाशमें उड़ती थी एवं जिसका उल्लेख रामायणादि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। महर्षि कर्दमके विमानके विषयमें भी उनकी यही धारणा है, किंतु आज भी हमारे समक्ष उदाहरणार्थ एक ऐसा ग्रन्थरत्न उपस्थित है, जिससे यह मानना पड़ेगा कि विमानके विषयमें हमारे पूर्वजोंने जिस उच्च कोटिका वैज्ञानिक तत्त्व ढूँढ निकाला था, उसे आज भी पाश्चात्त्य विज्ञानवेत्ता खोज निकालनेमें असमर्थ ही हैं। वह ग्रन्थ है प्राचीनतम महर्षि भारद्वाजका बनाया हुआ 'यन्त्रसर्वस्व'।

यह ग्रन्थ बड़ौदा राज्यके पुस्तकालयमें हस्तलिखित रूपमें वर्तमान है, जो कुछ खण्डित है। उसका 'वैमानिक प्रकरण' बोधानन्दकी बनायी हुई वृत्तिके साथ छप चुका है। इसके पहले प्रकरणमें प्राचीन विज्ञान-विषयके पचास ग्रन्थोंकी एक सूची है, जिनमें अगस्त्यकृत 'शक्तिसूत्र', ईश्वरकृत 'सौदामिनी कला', भारद्वाजकृत 'अंशुमत्तन्त्र', 'आकाश-शास्त्र' तथा 'यन्त्रसर्वस्व', शाकटायनकृत 'वायुतत्त्वप्रकरण', नारदकृत 'वैश्वानरतन्त्र' एवं 'धूमप्रकरण' आदि हैं। वृत्तिकार बोधानन्द लिखते हैं—

निर्मथ्य तद्वेदाम्बुधिं भारद्वाजो महामुनिः।
नवनीतं समुद्धृत्य यन्त्रसर्वस्वरूपकम्॥
प्रायच्छत् सर्वलोकानामीप्सितार्थफलप्रदम्।
तस्मिन् चत्वारिंशतिकाधिकारे सम्प्रदर्शितम्॥
नानाविमानवैचित्र्यरचनाक्रमबोधकम्।
अष्टाध्यायैर्विभजितं शताधिकरणैर्युतम्॥
सूत्रैः पञ्चशतैर्युक्तं व्योमयानप्रधानकम्।
वैमानिकाधिकरणमुक्तं भगवता स्वयम्॥

अर्थात् 'भारद्वाज महामुनिने वेदरूपी समुद्रका मन्थन कर 'यन्त्रसर्वस्व' नामका ऐसा मक्खन निकाला है, जो मनुष्यमात्रके लिये इच्छित फल देनेवाला है। उसमें उन्होंने चालीसवें अधिकरणमें वैमानिक प्रकरण कहा है। जिस प्रकरणमें विमानविषयक रचनाके क्रम कहे गये हैं, वह आठ अध्यायोंमें विभक्त है तथा उसमें एक सौ अधिकार और पाँच सौ सूत्र हैं। उसमें विमानका विषय ही प्रधान है।'

एवं विधाय विधिवन्मङ्गलाचरणं मुनिः।
पूर्वाचार्यांश्च तद्ग्रन्थान् द्वितीयश्लोकतोऽब्रवीत्॥
विश्वनाथोक्तनामानि तेषां वक्ष्ये यथाक्रमम्।
नारायणः शौनकश्च गर्गो वाचस्पतिस्तथा॥
चाक्रायणिर्धुण्डिनाथश्चेति शास्त्रकृतः स्वयम्।
विमानचन्द्रिका व्योमयानतन्त्रस्तथैव च॥

यन्त्रकल्पो यानविन्दुः खेटयानप्रदीपिका ।
तथैव व्योमयानार्कप्रकाशश्चेति षट् क्रमात् ।
नारायणादिमुनिभिः प्रोक्तानि ज्ञानवित्तमैः ॥

अर्थात् 'भारद्वाज मुनिने इस तरह विधानपूर्वक मङ्गलाचरण करके दूसरे श्लोकमें विमानशास्त्रके पूर्वाचार्यों तथा उनके बनाये हुए ग्रन्थोंके नाम भी कहे हैं । उनके नाम विश्वनाथके कथनानुसार इस प्रकार हैं—नारायण, शौनक, गर्ग, वाचस्पति, चाक्रायणि और धुण्डिनाथ । ये छः ग्रन्थकार हैं तथा विमानचन्द्रिका, व्योमयानतन्त्र, यन्त्रकल्प, यानबिन्दु, खेटयानप्रदीपिका और व्योमयानार्कप्रकाश—ये छः क्रमसे इनके बनाये हुए ग्रन्थ हैं ।'

विमानकी परिभाषा बतलाते हुए कहा गया है—

पृथिव्यप्स्वन्तरिक्षेषु खगवद्वेगतः स्वयम् ।
यः समर्थो भवेद् गन्तुं स विमान इति स्मृतः ॥

अर्थात् 'जो पृथ्वी, जल और आकाशमें पक्षियोंके समान वेगपूर्वक चल सके, उसका नाम विमान है।'

'रहस्यज्ञोऽधिकारी ।' (भारद्वाज-सूत्र अ० १, सू० २) वृत्ति—

वैमानिकरहस्यानि यानि प्रोक्तानि शास्त्रतः ।
द्वात्रिंशदिति तान्येव यानयन्तृत्वकर्मणि ॥
एतेन यानयन्तृत्वे रहस्यज्ञानमन्तरा ।
सूत्रेऽधिकारसंसिद्धिर्नेति सूत्रेण वर्णितम् ॥
विमानरचने व्योमारोहणे चालने तथा ।
स्तम्भने गमने चित्रगतिवेगादिनिर्णये ॥
वैमानिकरहस्यार्थज्ञानसाधनमन्तरा ।
यतोऽधिकारसंसिद्धिर्नेति सम्यग्विनिर्णितम् ॥

विमानके रहस्योंको जाननेवाला ही उसके चलानेका अधिकारी है । शास्त्रोंमें जो बत्तीस वैमानिक रहस्य बतलाये गये हैं, विमान-चालकोंको उनका भलीभाँति ज्ञान रखना परम आवश्यक है और तभी वे सफल चालक कहे जा सकते हैं । सूत्रके अर्थसे यह सिद्ध हुआ कि रहस्य जाने बिना मनुष्य यान चलानेका अधिकारी नहीं हो सकता; क्योंकि विमान बनाना, उसे जमीनसे आकाशमें ले जाना, खड़ा करना, आगे बढ़ाना, टेढ़ी-मेढ़ी गतिसे चलाना या चक्कर लगाना और विमानके वेगको कम अथवा अधिक करना आदि वैमानिक रहस्योंका पूर्ण अनुभव हुए बिना यान चलाना असम्भव है । विमान चलानेके जो बत्तीस रहस्य कहे गये हैं, उनमेंसे कुछ रहस्योंका यहाँ संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जा रहा है, जिनके द्वारा यह ज्ञात होता है कि पाश्चात्त्य विद्वानोंकी वैज्ञानिक कला भारतकी प्राचीन वैज्ञानिक कलासे कितनी पिछड़ी हुई है ।

(३) **'कृतकरहस्यो नाम विश्वकर्मछायापुरुषमनुमया-दिशास्त्रानुष्ठानद्वारा तत्तच्छक्त्यनुसंधानपूर्वकं तात्कालिक-सङ्कल्पानुसारेण विमानरचनाक्रमरहस्यम् ।'**

अर्थात् 'उन बत्तीस रहस्योंमेंसे यह 'कृतक' नामका तीसरा रहस्य है । विश्वकर्मा, छायापुरुष, मनु, मयदानव आदि विमानशास्त्रकारोंके बनाये हुए शास्त्रोंका अनुशीलन करनेसे उन-उन धातु-क्रिया आदिमें जो सामर्थ्य है, उसका अनुभव होनेपर इच्छानुसार नवीन विमानकी रचना करनी चाहिये ।'

(५) **'गूढरहस्यो नाम वायुतत्त्वप्रकरणोक्तरीत्या वातस्तम्भाष्टमपरिधिरेखापथस्य यासावियासाप्रयासादिवात-शक्तिभिः सूर्यकिरणान्तर्गततमश्शक्तिमाकृष्य तत्संयोजनद्वारा विमानाच्छादनरहस्यम् ।'**

अर्थात् 'गूढ' नामक पाँचवाँ रहस्य है । वायुतत्त्व-प्रकरणमें कही गयी रीतिके अनुसार वातस्तम्भकी जो आठवीं परिधिरेखा है, उस मार्गकी यासा, वियासा, प्रयासा आदि वायु-शक्तियोंके द्वारा सूर्य-किरणमें रहनेवाली जो अन्धकार-शक्ति है, उसका आकर्षण करके विमानके साथ उसका सम्बन्ध करानेपर विमान छिप जाता है ।'

(९) **'अपरोक्षरहस्यो नाम शक्तितन्त्रोक्तरोहिणीविद्यु-त्प्रसारणेन विमानाभिमुखस्थवस्तूनां प्रत्यक्षनिदर्शन-क्रियारहस्यम् ।'**

अर्थात् 'अपरोक्ष' नामक नवें रहस्यके अनुसार शक्तितन्त्रमें कही गयी रोहिणी-विद्युत् (कोई विशेष प्रकारकी बिजली) के फैलानेसे विमानके सामने आनेवाली वस्तुओंको प्रत्यक्ष देखा जा सकता है ।'

(२२) **'सार्पगमनरहस्यो नाम दण्डवक्रादिसप्तविध-**

मातरिश्वार्ककिरणशक्तीराकृष्य यानमुखस्थवक्रप्रसारण-केन्द्रमुखे नियोज्य पश्चात्तदाहत्य शक्त्युद्गमननाले प्रवेशयेत् । ततः तत्कीलीचालनाद्विमानस्य सर्पवद्गमन-क्रियारहस्यम् ।'

अर्थात् 'सार्पगमन' नामक बाईसवें रहस्यके अनुसार दण्ड, वक्र आदि सात प्रकारके वायु और सूर्य-किरणोंकी शक्तियोंका आकर्षण करके यानके मुखमें जो तिरछे फेंकनेवाला केन्द्र है, उसके मुखमें उन्हें नियुक्त करके पश्चात् उसे खींचकर शक्ति पैदा करनेवाले नालमें प्रवेश कराना चाहिये, तब उसके बटन दबानेसे विमानकी गति साँपके समान टेढ़ी हो जाती है ।'

(२५) 'परशब्दग्राहकरहस्यो नाम सौदामनीकलोक्त-प्रकारेण विमानस्थशब्दग्राहकयन्त्रद्वारा परविमानस्थ-जनसंभाषणादिसर्वशब्दाकर्षणरहस्यम् ।'

अर्थात् 'परशब्दग्राहक' नामक पचीसवें रहस्यके अनुसार 'सौदामनी कला'में कही गयी रीतिसे विमान-पर जो शब्दग्राहक-यन्त्र है, उसके द्वारा दूसरे विमानपरके लोगोंकी बातचीत आदि शब्दोंका आकर्षण किया जाता है ।'

(२६) 'रूपाकर्षरहस्यो नाम विमानस्थरूपाकर्षण-यन्त्रद्वारा परविमानस्थवस्तुरूपाकर्षणरहस्यम् ।'

अर्थात् 'रूपाकर्ष' नामक छब्बीसवें रहस्यके अनुसार रूपाकर्षण-यन्त्रद्वारा दूसरे विमानमें रहनेवाली वस्तुओंका रूप दिखलायी देता है ।'

(२८) 'दिक्प्रदर्शनरहस्यो नाम विमानमुखकेन्द्रे कीलीचालनेन दिशाम्पतियन्त्रनालपत्रद्वारा परयानागमन-दिक्प्रदर्शनरहस्यम् ।'

अर्थात् 'दिक्प्रदर्शन' नामक अट्ठाईसवें रहस्यानुसार विमानके मुख-केन्द्रकी कीली (बटन) चलानेसे 'दिशाम्पति' नामक यन्त्रकी नलीमें रहनेवाली सुईद्वारा दूसरे विमानके आनेकी दिशा जानी जाती है ।'

(३१) 'स्तब्धकरहस्यो नाम विमानोत्तरपार्श्वस्थसंधि-मुखनालादपस्मारधूमं संग्राह्य स्तम्भनयन्त्रद्वारा तद्धूमप्रसारणात् परविमानस्थसर्वजनानां स्तब्धीकरण-रहस्यम् ।'

अर्थात् 'स्तब्धक' नामक इकतीसवें रहस्यके अनुसार विमानकी बायीं बगलमें रहनेवाली 'संधिमुख' नामकी नलीके द्वारा 'अपस्मार' नामक (किसी विशेष छेदसे निकलनेवाले) धुएँको इकट्ठा करके स्तम्भनयन्त्रद्वारा दूसरे विमानपर फेंकनेसे उस दूसरे विमानमें रहनेवाले सब व्यक्ति स्तब्ध (बेहोश) हो जाते हैं ।'

(३२) 'कर्षणरहस्यो नाम स्वविमानसंहारार्थं परविमानपरम्परागमने विमानाभिमुखस्थवैश्वानरनाला-न्तर्गतज्वालिनीप्रज्वालनं कृत्वा सप्ताशीतिलिङ्कप्रमाणोष्णं यथा भवेत् तथा चक्रद्वयकीलिचालनाच्छत्रुविमानोपरि वर्तुलाकारेण तच्छक्तिप्रसारणद्वारा शत्रुविमाननाशन-क्रियारहस्यम् ।'

अर्थात् 'कर्षण' नामक बत्तीसवाँ रहस्य है । उससे अपने विमानका नाश करनेके लिये शत्रु-विमानोंके आनेपर विमानके मुखमें रहनेवाली 'वैश्वानर' नामकी नलीमें ज्वालिनी (किसी गैसका नाम)को जलाकर सत्तासी लिङ्क प्रमाण (लिङ्क डिग्रीकी तरह किसी मापका नाम है) गर्मीसे दोनों चक्कीकी कीली (बटन) चलाकर शत्रु-विमानोंपर गोलाकारसे उस शक्तिको फैलानेसे शत्रुके विमान नष्ट होते हैं ।'

इस वैमानिक प्रकरणमें कहे गये ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंके नामसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वज विमान-शास्त्रमें अत्यन्त निपुण थे । इसके रहस्योंको देखनेसे यह पता लगता है कि आजकल वैज्ञानिक विमानद्वारा जिन-जिन कलाओंका उपयोग करते हैं, वे सभी कलाएँ तो उन लोगोंके पास थीं ही, प्रत्युत जिन कलाओंकी खोजमें आधुनिक वैज्ञानिक व्यस्त हैं या जिनकी कल्पना भी वे अभी नहीं कर पाये हैं, उन्हें भी हमारे पूर्वज जानते थे । नवें रहस्यसे यह पता लगता है कि दूरबीनकी तरह कोई दूरदर्शक यन्त्र उनके पास था । पचीसवें रहस्यसे यह सिद्ध होता है कि 'वायरलेस' रेडियो भी उनके पास था । अट्ठाईसवाँ रहस्य बतलाता है कि आजकलके वैज्ञानिकोंकी तरह दूरसे प्रत्येक शत्रु-विमानका पता लगा लेनेकी कला भी उनके पास थी । बत्तीसवें रहस्यसे यह स्पष्ट है कि ये लोग गैस, बम आदिद्वारा शत्रु-संहार करते थे । छब्बीसवें रहस्यसे मालूम होता है कि आजके

वैज्ञानिकोंने टेलीफोन आदिपर बात करते समय आकृति दिखा देनेवाले जिस 'टेलिविजन' नामक यन्त्रका आविष्कार किया है, वह इससे अधिक चमत्कारिक रूपमें हमारे पूर्वजोंके पास था। इसमें जो विमानोंको अदृश्य करनेवाला पाँचवाँ रहस्य है तथा उसके सदृश अन्य कई रहस्य हैं जो विस्तारभयसे यहाँ उद्धृत नहीं किये गये हैं, उन सबके विषयमें आजके वैज्ञानिक अबतक सोच भी नहीं सके हैं।



प्राचीन भारतमें मूर्तिकला

भारतीय विद्वानोंने पूर्ण परिश्रम करके भारतीय मूर्तिकलाका इतिहास तैयार किया है। विभिन्न समयकी मूर्तियोंकी रूप-रेखाका उन्होंने अध्ययन किया है और यह सिद्ध हो गया है कि एक समयकी मूर्तिका आकार-प्रकार दूसरे समयकी मूर्तिके आकार-प्रकारसे सर्वथा भिन्न है। मूर्तिको देखते ही यह कहा जा सकता है कि यह मूर्ति गुप्तकालीन है या चेदि-महाराजाओंके समयकी। भगवान् विष्णु या शंकरकी दो मूर्तियाँ कहीं रख दीजिये, तुरंत पहचान हो जायगी कि कौन-सी मूर्ति चौथी-पाँचवीं सदीकी गुप्तकालीन है और कौन मध्यकालीन ग्यारहवीं-बारहवीं सदीकी। पहचानमें भूल न होगी। दोनोंके चेहरेमें वैसा ही भेद प्रकट है, जैसा रामदास तथा शिवशंकरके चेहरोंमें है। अस्तु।

शिल्परत्न, विश्वकर्मशिल्प, समराङ्गणसूत्रधार, मत्स्य-विष्णुधर्मादि पुराणोंके अवलोकनसे सिद्ध है कि मूर्तिकलाका उत्तरोत्तर ह्रास ही हुआ है। कृष्ण एवं साम्बकालीन प्रतिमाएँ श्रेष्ठ थीं। शुंगकालीन तथा गुप्तकालीन मूर्तियाँ भी बड़ी मनोमोहक हैं। मध्यकालीन ग्यारहवीं-बारहवीं सदीतककी मूर्तियाँ भी बहुत अच्छी हैं। बादमें तो ह्रास ही हो गया—ऐसा मानना होगा।

भारतीय मूर्तिकलाके सम्बन्धमें हम सबका ज्ञान अति सीमित है। विद्यालयोंमें अथवा पुस्तकोंद्वारा कुछ विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती, कुछ विद्वानोंके साथ कुछ प्राचीन स्थलोंके देखनेसे ही कुछ ज्ञान हो पाता है। इस कारण इस लेखमें अखिल भारतीय उदाहरण न प्राप्त होकर मध्यभारतीय ही प्राप्त होंगे। अवश्य ही वे अखिल भारतीय कलाके प्रतीक हैं और अधिकांशमें अप्रकाशित हैं।

सबसे प्राचीन प्रस्तर-मूर्तियाँ भरहुत, बुद्धगया तथा सांचीकी मिलती हैं। ये ईसापूर्व तीसरी सदीकी मानी जाती हैं। ये भरहुत तथा सांचीके स्तूपोंके तथा बुद्धगयाके मन्दिरके परिक्रमापथकी बाड़ (परकोटा-रेलिंग) में थीं। सांचीका तो अधिकांश सुरक्षित है। भरहुत तथा बुद्धगयाका अल्पांश ही बचा है। इनमें भी भरहुतकला कुछ श्रेष्ठ है। इसके उदाहरण साथमें प्रकाशित हैं। यह बौद्धकला है शुंगकालीन। कमलके बीच रानीकी मूर्ति बड़ी सुन्दर है।

गुप्तकाल (चौथी-पाँचवीं सदी) भारतका सुवर्णयुग था। उस समयकी मूर्तियाँ भी बहुत सुन्दर थीं। वे पशु-पक्षियोंकी भी श्रेष्ठ मूर्तियाँ बनाते थे।

मध्यकाल (दसवींसे चौदहवीं सदीतक) की प्रारम्भिक कला अच्छी थी, परंतु इसके बाद यह नीचे स्तरमें आ गयी। हमारे पास इसके कई उदाहरण हैं।

आधुनिक पौराणिक मूर्तियोंके दर्शन तो नित्य मन्दिरोंमें मिलते ही हैं। उनमें केवल चेहरा ठीक बनानेका उद्योग किया जाता है। शेष शरीरको तो कारीगर किसी प्रकार भी सीधा-सादा गढ़ देता है। दर्जीकी कला उनकी कमीकी पूर्ति कर ही देगी। मूर्तिको तो कपड़ोंसे ढक ही दिया जायगा। इधर कुछ दिनोंसे कलामें पुनः उन्नति प्रारम्भ हुई है। रामवनकी श्रीमारुति-मूर्ति, जो आजसे प्रायः चालीस वर्ष पूर्व निर्मित हुई थी, इसका उदाहरण है।

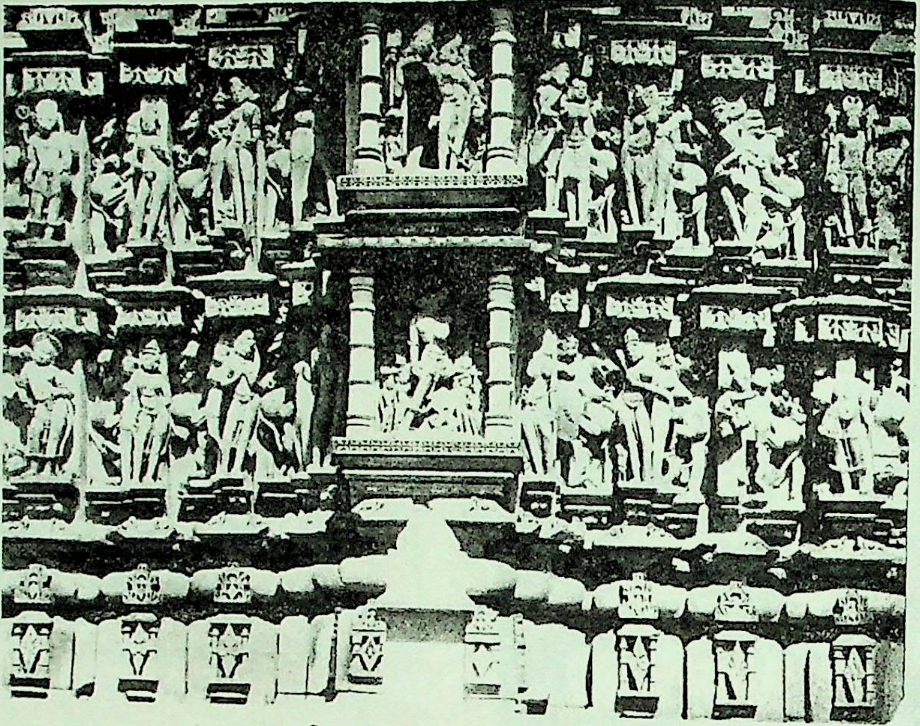
हमारी मूर्तिकलाके क्रमिक ह्रासका कारण विचारणीय है। यह मिलता है निर्माणक्रममें। कहते हैं प्राचीन समयमें कारीगरोंके काफिले थे। उनका अपना चलता-फिरता समाज था। वे धनके लोभमें मूर्ति-निर्माण नहीं करते थे। जब कहीं मन्दिर बनवानेका निश्चय हुआ, तब इन

श्रीमारुति (संगमरमर प्रतिमा)

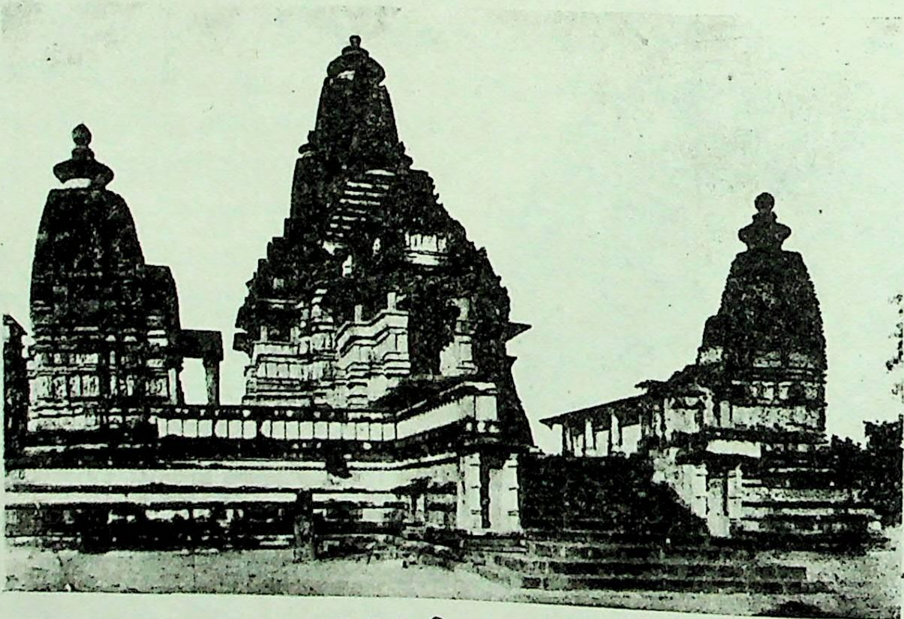
ग्राम्य देवता

भारहुतकी रानी (३०० ई० पूर्व)

ईसापूर्वकी पशु-प्रतिमाएँ



वामन-मन्दिर खजुराहो (पूर्वीभित्तिकी कलाकृति)



लक्ष्मण-मन्दिर, खजुराहो

समाजोंसे बात की जाती थी। जो समाज खाली होता, वह आकर वहाँ बस जाता था। बनवानेवाले उनके रहने, भोजन, वस्त्र आदिका भार उठा लेते थे। प्रमुख कारीगर पूजा-पाठ-ध्यानमें लग जाते थे। अनुष्ठान आदि करने लगते थे। इस प्रकार उन्हें ध्यानमें देव-दर्शन होते थे। जो मूर्ति उनके सम्मुख प्रकट होती थी, उसीके अनुसार वे बनानेका उद्योग करते थे। जबतक कारीगरको देव-दर्शन प्राप्त नहीं होता था, तबतक वह ध्यान आदिमें ही लगा रहता था। बनवानेवाला यह नहीं कहता कि 'भाई! पाँच वर्ष बीत गये, तुमने एक दिन भी छेनी हाथमें नहीं ली। हम तुम्हारा वेतन क्यों दें?' वेतन? वेतनपर तो काम ही नहीं था। इस प्रकार धर्मात्मा कारीगरोंकी बनायी मूर्तियाँ क्यों न कलामें उत्कृष्ट हों।

अब तो दैनिक वेतन या ठेकेपर मूर्तियाँ बनती हैं। जितनी जल्दी बनें, उतना अधिक पैसा मिले। पैसे-जैसी निकृष्ट वस्तुसे जिसका मूल्य अङ्कित किया जाता है, वह उत्कृष्ट कैसे हो।

लेख समाप्त करनेके पूर्व मध्यकालीन मूर्तिकलाके स्वर्ग खजुराहोके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—खजुराहो विन्ध्यप्रदेशमें है। कहते हैं यहाँ ८४ मन्दिर थे। सम्भवतः २२ तो अब भी हैं। मन्दिर इतने विशाल और सुन्दर हैं कि एक-एकको देखते रहिये, मन न भरेगा। यहाँके कारीगरोंने अनेक स्थलोंपर संवत् खोद दिये हैं। सं० १००० से १४०० तककी मूर्तियाँ यहाँ हैं। ४०० वर्षतक बराबर काम जारी रहा। राजनीतिक बाधाएँ न पड़तीं तो सम्भवतः यहाँका कारीगर-समाज आगे भी काम करता जाता। साक्षात् कुबेरकी धनराशि भी ऐसे मन्दिर बनवा नहीं सकती। वे तो प्रेमसे ही बने हैं। राजकुलमें तो समस्त समाजके कुल खर्च तथा सम्मानकी ही व्यवस्था रही होगी।

देखिये खजुराहोका एक विशाल मन्दिर तथा उसके प्राङ्गणके कोनोंके दो छोटे मन्दिर। यह लक्ष्मणजीके मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है। मन्दिर-निर्माणके शास्त्रीयक्रमका पालन खजुराहोमें किया गया है। उन्हें वर्णन करनेका यहाँ अवसर नहीं है। कुल मन्दिरोंकी कुल दीवालें मूर्तिमय मिलेंगी।

वामनजीके मन्दिरकी दीवालका एक छोटा-सा अंश भी चित्रमें देखिये। मन्दिरोंके भीतर गर्भगृहके चारों ओरका परिक्रमा-पथ बहुधा इतना कम चौड़ा है कि दो आदमी एक साथ चल नहीं सकते। पर दोनों ओरकी दीवालें यहाँ भी मूर्तिमय हैं।

अपनी भग्न दशामें खजुराहो देशका माथा ऊँचे उठा रहा है और भारतीय संस्कृतिके नामपर गला फाड़नेवालोंके लिये दो-चार जन्मतक अध्ययन करनेकी सामग्री प्रस्तुत कर रहा है। हमने ताजमहलको संसारके सप्त आश्चर्योंमें गिन लिया है। खजुराहोको समझेंगे, तब संसारका वह सर्वप्रथम महान् आश्चर्य माना जायगा। मुझे तो संदेह है कि स्वर्गीय कलाके स्थलको अभी किसीने देखा ही नहीं।

इस छोटेसे लेखमें रामवनमें संगृहीत दो-एक मूर्तियोंका तथा खजुराहोमें स्थित कुछ मन्दिरोंका अति संक्षिप्त वर्णन किया गया है। केवल विहंगम दृष्टिपात हुआ है। भारत देश बहुत बड़ा है। भारतीय मूर्तियोंकी सुरक्षा तथा उनके प्रकाशनका प्रबन्ध हो जाय तो संसारको चकाचौंधमें पड़ जाना पड़ेगा। शिक्षा और कलाके क्षेत्रमें इन मूर्तियोंका कितना ऊँचा स्थान है, वह तो सहज ही समझा जा सकता है।

बुद्धि और विचारशीलतामें हिंदू सभी देशोंसे ऊँचे हैं। गणित तथा फलित ज्योतिषमें उनका ज्ञान किसी भी अन्य जातिसे अधिक यथार्थ है। चिकित्साविषयक उनकी सम्मति प्रथम कोटिकी होती है।

—याकूबी (नवम शताब्दी)

भारतीय नौका-निर्माण-कला

(स्व० पं० श्रीगंगाशंकरजी मिश्र)

इतिहास, पुराण तथा अपने यहाँके अन्य प्राचीन साहित्यमें बड़े-बड़े जहाजोंकी बहुत चर्चा आयी है। रामायण 'अयोध्याकाण्ड'में ऐसी बड़ी-बड़ी नावोंका उल्लेख है, जिनमें सैकड़ों कैवर्त योद्धा तैयार रहते थे—

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम्।
सन्नद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत्॥

'महाभारत'में तो यन्त्र-संचालित नावोंका भी वर्णन आया है—

सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्।

समुद्र-मार्गसे विभिन्न देशोंसे बराबर व्यापार होता था। 'वाराह-पुराण' में गोकर्ण वैश्यकी कथा आती है, जो विदेशोंमें रत्नोंका व्यापार किया करता था—

पुनस्तत्रैव गमने वणिग्भावे मतिर्गता।
समुद्रयाने रत्नानि महास्थौल्यानि साधुभिः॥

दण्डीके 'दशकुमारचरित'में रत्नोद्भव वणिक्की कथा है, जिसका जहाज पटना जाते हुए डूब गया था—

ततः सोदरविलोकनकुतूहलेन रत्नोद्भवः कथञ्चिच्छ्वशुरमनुनीय चपललोचनयानया सह प्रवहणमारुह्य पुरुषपुरमभिप्रतस्थे। कल्लोलमालिकाभिहतः पोतः समुद्राम्भस्यमज्जत।

दूसरा वणिक् मित्रगुप्त किसी द्वीपमें पहुँचा, वहाँ श्वान जैसे वराहको घेर लेते हैं, वैसे ही यवनोंकी नावोंने उसके जहाजको घेर लिया—

तावदतिजवा नौकाः श्वान इव वराहमस्मत्पोतं पर्यरुत्सत।

भर्तृहरिने लिखा है कि दुस्तर समुद्रको पार करनेमें जहाज काम देता है—**'पोतो दुस्तरवारिराशितरणे।'**

कौटिलीय 'अर्थशास्त्र'के 'नावध्यक्ष'-प्रकरणमें नौसेना और राज्यकी ओरसे नावोंके प्रबन्धका पूरा विवरण मिलता है।

इन नावों और जहाजोंकी निर्माण-कलापर ज्योतिषाचार्य वराहमिहिरकृत 'बृहत्संहिता' तथा भोजकृत 'युक्तिकल्पतरु' में कुछ प्रकाश डाला गया है। 'वृक्ष-आयुर्वेद'के अनुसार वृक्षोंमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार जातियाँ हैं। लघु तथा कोमल लकड़ी, जो सहजमें जोड़ी जा सके, ब्राह्मण-जातिकी मानी जाती है। क्षत्रिय-जातिकी लकड़ी हल्की और दृढ़ होती है। वह अन्य प्रकारकी लकड़ियोंसे जोड़ी नहीं जा सकती। वैश्य-जातिकी लकड़ी कोमल तथा भारी होती है और शूद्र-जातिकी लकड़ी दृढ़ तथा भारी होती है। जिनमें दो जातियोंके गुण पाये जाते हैं, वे 'द्विजाति' हैं—

लघु यत्कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्।
दृढाङ्गं लघु यत्काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत्॥
कोमलं गुरु यत्काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते।
दृढाङ्गं गुरु यत्काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते॥
लक्षणद्वययोगेन द्विजातिः काष्ठसंग्रहः॥

भोजका कहना है कि क्षत्रिय-काष्ठकी बनी हुई नौका सुख-सम्पत्प्रद होती है—

क्षत्रियकाष्ठैर्घटिता भोजमते सुखसम्पदं नौका।

इसके बने हुए जहाज विकट जलमार्गोंमें काम दे सकते हैं—

अन्ये लघुभिः सुदृढैर्विदधति जलदुष्पदे नौकाम्।

दूसरी प्रकारकी लकड़ियोंसे जो नौकाएँ बनायी जाती हैं, उनके गुण अच्छे नहीं होते। उनमें आराम नहीं मिलता। वे टिकाऊ भी नहीं होतीं, पानीमें उनकी लकड़ी सड़ने लगती है और साधारण भी धक्का लगनेपर वे फटकर डूब जाती हैं—

विभिन्नजातिद्वयकाष्ठजाता
न श्रेयसे नापि सुखाय नौका।
नैषा चिरं तिष्ठति पच्यते च
विभिद्यते झटिति मज्जते च॥

भोजने यह भी लिखा है कि जहाजोंके पेंदोंके तख्तोंको जोड़नेके लिये लोहेसे काम न लेना चाहिये; क्योंकि सम्भव है कि समुद्रकी चट्टानोंमें कहीं चुम्बक हो

तो वह स्वभावतः लोहेको अपनी ओर खींचेगा, जिससे जहाजोंके लिये खतरा है—

न सिन्धुगाद्यार्हति लौहबन्धं
तल्लौहकान्तैर्ह्रियते च लौहम्।
विपद्यते तेन जलेषु नौका
गुणेन बन्धं निजगाद भोजः॥

'युक्तिकल्पतरु'में आकार-प्रकार एवं लंबाई-चौड़ाईकी दृष्टिसे नौकाओंके कई प्रकार बतलाये गये हैं। नौकाओंके पहले तो दो विभाग किये गये हैं—एक 'सामान्य', जो साधारण नदियोंमें चल सकें और दूसरे 'विशेष', जो समुद्रयात्राका काम दे सकें—

सामान्यश्च विशेषश्च नौकाया लक्षणद्वयम्।

लंबाई-चौड़ाई और ऊँचाईका ध्यान रखते हुए क्षुद्रा, मध्यमा, भीमा, चपला, पटला, भया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भरा, मन्थरा—ये दस प्रकारकी सामान्य नावें बतलायी गयी हैं। क्षुद्राकी लंबाई १६, चौड़ाई ४ और गहराई या ऊँचाई ४ हाथ होनी चाहिये। इसी तरह इन सबकी नाप दी हुई है और मन्थराकी लंबाई १२०, चौड़ाई ६० और ऊँचाई भी ६० हाथकी बतलायी गयी है। सबमें चौड़ाई और ऊँचाईकी एक ही नाप है—

राजहस्तमितायामा तत्पादपरिणाहिनी।
तावदेवोन्नता नौका क्षुद्रेति गदिता बुधैः॥
अतः सार्धमितायामा तदर्धपरिणाहिनी।
त्रिभागेनोत्थिता नौका मध्यमेति प्रचक्षते॥
क्षुद्राथ मध्यमा भीमा चपला पटला भया।
दीर्घा पत्रपुटा चैव गर्भरा मन्थरा तथा॥
नौकादशकमित्युक्तं राजहस्तैरनुक्रमम्।
एकैकवृद्धैः सार्धैश्च विजानीयाद् द्वयं द्वयम्॥
उन्नतिश्च प्रवीणा च हस्तादर्धांशलक्षिता॥

'विशेष'के भी दो विभाग किये गये हैं—दीर्घा और उन्नता। फिर दीर्घाके दीर्घिका, तरणि, लोला, गत्वरा, गामिनी, तरी, जंघाला, प्लाविनी, धारिणी और वेगिनी—ये दस विभाग किये गये हैं। इनमें लंबाई अधिक है, पर चौड़ाई थोड़ी और गहराई उससे भी कम है। वेगिनीकी लंबाई १७६, चौड़ाई २२ और ऊँचाई १७ $\frac{३}{५}$ हाथ बतलायी गयी है—

राजहस्तद्वयायामा अष्टांशपरिणाहिनी।
नौकेयं दीर्घिका नाम दशाङ्गेनोन्नतापि च॥
दीर्घिका तरणिर्लोला गत्वरा गामिनी तरिः।
जंघाला प्लाविनी चैव धारिणी वेगिनी तथा॥
राजहस्तैकैकवृद्ध्या नौकानामानि वै दश।
उन्नतिः परिणाहश्च दशाष्टांशमितौ क्रमात्॥

उन्नताके ऊर्ध्वा, अनूर्ध्वा, स्वर्णमुखी, गर्भिणी और मन्थरा—ये पाँच विभाग किये गये हैं। इनमें मन्थराकी ऊँचाई ४८ हाथतक रखी गयी है—

राजहस्तद्वयमिता तावत्प्रसरणोन्नता।
इयमूर्ध्वाभिधा नौका क्षेमाय पृथिवीभुजाम्॥
ऊर्ध्वानूर्ध्वा स्वर्णमुखी गर्भिणी मन्थरा तथा।
राजहस्तैकैकवृद्ध्या नामपञ्चत्रयं भवेत्॥

नौकाकी सजावटोंका भी बहुत सुन्दर वर्णन आया है। सजावटमें सोना, चाँदी, ताँबा और तीनोंको मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। चार शृङ्ग (मस्तूल)-वाली नौकाको श्वेत, तीनवालीको लाल, दोवालीको पीला और एकवालीको नीला रँगना चाहिये। नौकाओंका मुख सिंह, महिष, सर्प, हाथी, व्याघ्र, पक्षी, मेढक या मनुष्यकी आकृतिका बनाया जा सकता है—

धात्वादीनामतो वक्ष्ये निर्णयं तरिसंश्रयम्।
कनकं रजतं ताम्रं त्रितयं वा यथाक्रमम्॥
ब्रह्मादिभिः परिन्यस्य नौकाचित्रणकर्मणि।
चतुःशृङ्गा त्रिशृङ्गाभा द्विशृङ्गा चैकशृङ्गिणी॥
सितरक्तापीतनीलवर्णान् दद्याद् यथाक्रमम्।
केसरी महिषी नागो द्विरदो व्याघ्र एव च॥
पक्षी भेको मनुष्यश्च एतेषां वदनाष्टकम्।
नावां मुखे परिन्यस्य आदित्यादिदशाभुवाम्॥

नावोंके ऊपर कोठरी, कमरा आदि बनानेकी दृष्टिसे नावोंके तीन भेद हैं—सर्व, मध्य और अग्रमन्दिरा—

सगृहा त्रिविधा प्रोक्ता सर्वमध्याग्रमन्दिरा।

जिनमें एक सिरेसे दूसरे सिरेतक मन्दिर बना हो, वे नावें सर्वमन्दिरा कहलाती हैं। ये राजाके कोष, अश्व, नारी आदि ले जानेके लिये होती हैं—

सर्वतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया सर्वमन्दिरा।

राज्ञां कोषाश्वनारीणां यानमत्र प्रशस्यते ॥

जिनके मध्यमें मन्दिर बना हो, वे मध्यमन्दिरा कहलाती हैं। ये राजाके सैर-सपाटेके काममें आती हैं और वर्षाकालके लिये बहुत उपयुक्त हैं—

मध्यतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया मध्यमन्दिरा।

राज्ञां विलासयात्रादिवर्षासु च प्रशस्यते ॥

जिनके आगेकी ओर मन्दिर बना हो, वे अग्रमन्दिरा कहलाती हैं। ये बड़ी-बड़ी नावें जहाजकी तरह होती हैं, जो लम्बी यात्रा और युद्धके लिये उपयुक्त हैं—

अग्रतो मन्दिरं यत्र सा ज्ञेया त्वग्रमन्दिरा।

चिरप्रवासयात्रायां रणे काले घनात्यये ॥

मुसल्मानोंके शासनकालमें भी भारतमें बड़े-बड़े जहाज बनते रहे। मार्को पोलो, जो तेरहवीं शताब्दीमें भारत आया था, लिखता है कि 'जहाजोंमें दोहरे तख्तोंकी जुड़ाई होती थी, लोहेकी कीलोंसे उन्हें सुदृढ़ बनाया जाता था और उनके छिद्रोंको एक प्रकारकी गोंदसे भरा जाता था। इतने बड़े जहाज होते थे कि उनमें तीन-तीन सौ मल्लाह लगते थे। एक-एक जहाजपर ५से ६ हजारतक बोरे लादे जा सकते थे। इनमें रहनेके लिये ऊपर कई कोठरियाँ बनी रहती थीं, जिनमें सब तरहके आरामका प्रबन्ध रहता था। जब पेंदा खराब होने लगता था, तब उसपर लकड़ीका एक नया तह जड़ दिया जाता था। इस तरह कभी-कभी एकके ऊपर एक छः तहतक लगायी जाती थी।' पंद्रहवीं शताब्दीमें निकोलो कांटी नामक यात्री भारत आया था। वह लिखता है कि 'भारतीय जहाज हमारे जहाजोंसे बहुत बड़े होते हैं। उनका पेंदा तेहरे तख्तोंका ऐसा बना होता है कि वह भयानक तूफानोंका सामना कर सकता है। कुछ जहाज ऐसे बने होते हैं कि उनका एक भाग बेकार हो जानेपर बाकीसे काम चल जाता है।' वर्थमा नामक एक दूसरे यात्रीने कालीकटमें जहाजोंके बननेका वर्णन किया है। वह लिखता है कि 'लकड़ीके तख्तोंकी ऐसी जुड़ाई होती है कि उनमेंसे जरा भी पानी नहीं आता। जहाजोंमें कभी दो-दो बादबान (पाल) सूती कपड़ेके लगाये जाते हैं कि जिनमें हवा खूब भर सके। लंगर कभी-कभी पत्थरके भी होते थे। ईरानसे कन्याकुमारीतक आनेमें आठ दिनका समय लग जाता था।' समुद्रतटवर्ती राजाओंके पास जहाजोंके बड़े-बड़े बेड़े रहते थे। देश-नदियोंमें चलनेवाले हजारों नावोंके बेड़े होते थे। अकबरके नौ-विभागका अध्यक्ष 'मीर बहर' कहलाता था। छत्रपति शिवाजीका भी अपना जहाजी बेड़ा था, जिसका अध्यक्ष 'दरियासारङ्ग' कहलाता था। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जीने अपनी 'इण्डियन शिपिङ्ग' नामक पुस्तकमें भारतीय जहाजोंका बड़ा रोचक, सप्रमाण इतिहास दिया है।

पाश्चात्त्योंका जब भारतसे सम्पर्क हुआ, तब वे यहाँके जहाजोंको देखकर चकित रह गये। ब्रिटेनके जहाजी व्यापारी भारतीय नौ-निर्माणकलाका उत्कर्ष सहन न कर सके और वे 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' को भारतीय जहाजोंका उपयोग न करनेके लिये दबाने लगे। इस सम्बन्धमें कई बार जाँच की गयी। सन् १८११ ई० में कर्नल वाकरने आँकड़े देकर यह सिद्ध किया कि 'भारतीय जहाजोंमें बहुत कम खर्च पड़ता है और वे बड़े मजबूत होते हैं। यदि ब्रिटिश बेड़ेमें केवल भारतीय जहाज ही रखे जायँ तो बहुत बड़ी बचत हो सकती है।' जहाज बनानेवाले अंग्रेज कारीगर तथा व्यापारियोंको यह बात बहुत खटकी। डॉ० टेलर लिखता है कि 'जब हिंदुस्तानी मालसे लदा हुआ हिंदुस्तानी जहाज लंदनके बंदरगाहपर पहुँचा, तब जहाजोंके अंग्रेज व्यापारियोंमें ऐसी घबराहट मची, जैसी कि आक्रमण करनेके लिये टेम्स नदीमें शत्रुपक्षके जहाजी बेड़ेको देखकर भी न मचती।' लंदन-बंदरगाहके कारीगरोंने सबसे पहले हो-हल्ला मचाया और कहा—'हमारा सब काम चौपट हो जायगा और हमारे कुटुम्ब भूखों मर जायँगे।'

सन् १८६३ ई०में भारतमें ऐसे कायदे-कानून बनाये गये, जिनसे यहाँकी प्राचीन नौका-निर्माणकलाका अन्त हो जाय। भारतीय जहाजोंपर लदे हुए मालकी चुंगी बढ़ा दी गयी और इस तरह उन्हें व्यापारसे अलग करनेका प्रयत्न किया गया। सर विलियम डिगवीने ठीक ही लिखा है कि 'पाश्चात्त्य संसारकी रानीने इस तरह प्राच्य सागरकी रानीका वध कर डाला।'

संक्षेपमें भारतीय नौका-निर्माणकलाकी यही कहानी है।

भारतीय गान्धर्व-विद्या

भारतीय दर्शन एवं अध्यात्मविचारमें नादका स्थान अत्यन्त विलक्षण है। वाणी विचार-शक्तिका वाहन है। शब्दके बिना विचारका कोई भी अस्तित्व नहीं रहता—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

(वाक्यपदीय)

'लोकमें कोई भी प्रत्यय (ज्ञान) ऐसा नहीं, जो शब्दके बिना प्राप्य हो। प्रत्येक ज्ञान शब्दसे अनुविद्ध होता है।' शब्द इस लोक एवं परलोकका आधार है। यदि संसारको ईश्वरकी विचार-शक्तिका एक दृश्यस्वरूप मान लिया जाय तो इस दिव्य कल्पनाके स्पन्दनरूप नादको संसारके प्रादुर्भावका कारण मानना युक्तिसंगत है—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्।
स सर्वममृतं यच्च मर्त्यमिति श्रुतिः॥

'वाक्से समस्त (विश्व) भुवन उत्पन्न हुए। वाक्से अमृत एवं मर्त्य-संसारका प्रादुर्भाव हुआ।'

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।

(वाक्यपदीय)

'अनादि परम्परा जाननेवाले ऋषियोंका कहना है कि संसार शब्दका परिणाम है।'

अपने विचार प्रकट करनेके लिये जीव शब्दका दो भिन्न प्रकारसे प्रयोग करता है। वे प्रकार हैं—वर्णरूप शब्द तथा गीतरूप शब्द। दोनों रूप भिन्न होते हुए भी एक ही आधारपर स्थित हैं; क्योंकि दोनोंमें विचार एवं भाव प्रकट करनेके लिये ध्वनिका प्रयोग होता है। आधार एक ही होनेपर भी ध्वनिरूप स्पन्दनकी भिन्न विशेषताओंका प्रयोग करनेसे दोनों शब्द भिन्न मार्ग माने जाते हैं।

प्राचीन एवं वर्तमान दृष्टि

प्राचीन भारतीय दार्शनिकोंका कहना है कि भाषा एवं संगीत एक ही विद्याके दो अंश हैं। दोनोंके शास्त्रकार प्रायः एक ही हैं। आधुनिक विद्वानोंने प्रायः शब्द, नाद, ध्वनि आदिके विषयमें बहुत विचार नहीं किया। शब्दका रहस्य बिना समझे वे प्राचीन आचार्योंके मतको कपोल-कल्पना मानते हैं और स्वर, वर्ण आदि देवता, जन्मभूमि, रंग आदिके रहस्यपर विचार करनेका प्रयत्न अपनी विद्वत्ताके योग्य नहीं मानते। इन विषयोंपर गम्भीर विचार करनेसे विदित होता है कि इनमें कल्पना लेशमात्र भी नहीं है। संसारका रहस्य समझनेके लिये वे एक उत्तम विद्याके पथप्रदर्शक हैं। नादके आधारस्वरूप एवं कार्यको समझनेसे विचार-शक्तिका तत्त्व एवं इस तत्त्वसे दृश्य अर्थोंके सम्बन्धका रहस्य खुल सकता है।

गान्धर्व-शास्त्र

व्याकरण एवं संगीतका आधारभूत तत्त्व गान्धर्ववेदका विषय था, परंतु आज वह लुप्त माना जाता है। फिर भी व्याकरणाचार्यों एवं संगीताचार्योंके प्राप्त ग्रन्थोंमें नाद एवं ध्वनिके विषयमें बहुत विचार मिलते हैं, जिनसे इस विद्याके सिद्धान्त समझमें आ सकते हैं।

आधुनिक लोग भाषा एवं संगीतका अर्थ सांकेतिक मानते हैं। वे नहीं जानते कि शब्द एवं अर्थका वास्तविक सम्बन्ध है। उनके मतमें किसी वस्तुका नाम किसीने बिना कारण एक समय दे दिया है। लोगोंने उसे याद कर लिया, इसलिये वह उस वस्तुका नाम हो गया। वैसे ही संगीतमें अभ्याससे हमलोगोंमें भिन्न हास्य या करुण-भाव उत्पन्न करते हैं।

प्राचीन शास्त्रकार इस मतके अत्यन्त विरुद्ध हैं, उनका कहना है कि स्पन्दनरूप वस्तु एवं स्पन्दनरूप शब्दके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसलिये प्रत्येक अर्थके लिये एक शब्द होता है। इस शब्दमें वह अर्थ उत्पन्न करनेकी शक्ति भी रहती है। यह मन्त्रोंका रहस्य है। यदि इस शब्दके उच्चारणमें अशुद्धि आ जाय तो वह केवल सांकेतिक रहता है। यही बात संगीतके विषयमें भी है। स्वर-श्रुति आदिका एक स्वाभाविक अर्थ

है, जिससे रस उत्पन्न होता है । फिर भी स्वरोंकी अशुद्धि होनेपर लोग इसमें स्मृतिके बलसे कुछ अर्थ लगाते हैं, परंतु ऐसे गान सर्वसाधारणको नीरस विदित होंगे ।

शब्द एवं स्वरोंका स्वाभाविक अर्थ होना मन्त्र एवं रागका कारण है । जप एवं संगीतका अभ्यास मोक्षके सरल साधन माने जाते हैं, परंतु फल देनेके लिये उनका उच्चारण शुद्ध होना चाहिये—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति ३ । ११५)

'जो वीणा-वादनका तत्त्व जाननेवाला है, श्रुतियोंकी जाति पहचाननेमें निपुण है और तालोंका ज्ञाता है, वह बिना परिश्रम ही मोक्षको पा लेता है ।'

शब्द ब्रह्म सगुण ब्रह्म है, वह प्रपञ्चका कारण माना जाता है तथा सगुण-निर्गुणका मार्ग होनेसे मोक्षका साधन बनता है ।

अतो गीतप्रपञ्चस्य श्रुत्यादेस्तत्त्वदर्शनात् ।
अपि स्यात्सच्चिदानन्दरूपिणः परमात्मनः ॥
प्राप्तिः प्रभाप्रवृत्तस्य मणिलाभो यथा भवेत् ।
प्रत्यासन्नतयात्यन्तम् . . . . ॥

'गीतकी श्रुति आदिके तत्त्व-दर्शनसे सच्चिदानन्द परमात्माकी प्राप्ति वैसे ही हो जाती है, जैसे अग्निशिखाके उद्देश्यसे प्रवृत्त पुरुषको मणिलाभ होता है ।'

शब्द-रहस्यसे सम्बन्धित शास्त्र-ग्रन्थ

अर्थोंसे वर्णादिरूप शब्दोंके वास्तविक सम्बन्धका विचार व्याकरणके प्रधान शास्त्रकारोंके ग्रन्थोंमें सुरक्षित है । उनमेंसे पाणिनि, पतञ्जलि, भर्तृहरि एवं नन्दिकेश्वर प्रधान हैं ।

गान्धर्व-विद्याके दार्शनिक ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो चुके हैं । फिर भी नारद, नन्दिकेश्वर, मतंग, कोहल आदिद्वारा प्रणीत ग्रन्थोंके प्राप्य भागसे इस विद्याका रहस्य थोड़ा-बहुत समझमें आ सकता है । दूसरे ग्रन्थ केवल प्रयोगसे सम्बन्ध रखते हैं । स्वरोंद्वारा रस एवं विचारके प्रकट हो जानेका रहस्य एवं रागद्वारा शब्दब्रह्मको प्राप्त करना साधारण गायकोंकी समझके बाहरकी बात है । अतः इस कठिन विद्यासे सम्बन्धित शास्त्र-ग्रन्थोंकी रक्षा गायकोंसे नहीं हो सकती । स्वररूप वाक् वर्णरूप शब्दका सूक्ष्म स्वरूप है । संगीतके स्वरोंका आधार मध्यमा वाक् है, वैखरीवाक् नहीं । विशेष शब्दरूप स्पन्दन-मध्यमा वाक् पश्यन्ती नामक व्यक्त (स्पष्ट) विमर्शका परिणाम है, मध्यमा वाक् नादरूप होनेसे श्रोत्रेन्द्रियसे ग्राह्य है, फिर भी वर्णरूप नहीं होती, इसलिये संगीतके स्वरूप नादमें अलग-अलग अक्षर नहीं होते । उसका अर्थ खण्डित न होनेसे एकत्रित रहता है । इसीलिये संगीतके एक-एक स्वरमें अनेक अर्थ होते हैं । गानक्रिया प्रायः मध्यमा वाक्द्वारा सम्पन्न होती है ।

ऐतरेय ब्राह्मणका कहना है कि वेदके शब्दोंका उच्चारण मध्यमा वाक्से करना चाहिये अर्थात् उन्हें गाना चाहिये । वेदके शब्दोंके गानेसे बुद्धि संस्कृत हो जाती है ।

तं मध्यमया वाचा शंसत्यात्मानमेव तत्संस्कुरुते ॥

संगीत एवं व्याकरणके तत्त्वसूत्र माहेश्वर सूत्र हैं । पाँच स्थानोंसे उच्चारित व्याकरणके पाँच शुद्ध स्वर अ, इ, उ, ऋ, लृ हैं । इनके दो मिश्रित रूप हैं 'ए, ओ' और दो अमिश्रित जोड़े हुए रूप हैं 'ऐ, औ ।' प्रथम तीन स्वरों (अ, इ, उ)के विकृत दीर्घरूप भी हैं । इस प्रकार स्वर १२ हो जाते हैं ।

संगीतके सात स्वरोंमें भी पाँच स्वर प्रधान और दो गौण हैं । सामगानके पाँच प्रधान स्वर प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और मन्द्र कहे जाते हैं । दो गौण स्वर क्रुष्ट एवं अतिस्वार्य हैं । गान्धर्व-गानमें इन पञ्चस्वरोंके नाम मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज एवं धैवत हैं । गौण स्वर पञ्चम एवं निषाद हैं, परंतु शैवगानमें षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम और पञ्चम प्रधान एवं धैवत, निषाद गौण माने जाते हैं ।

इन सात स्वरोंके अतिरिक्त दो और मिश्रित स्वर हैं, उनके नाम 'काकली' और 'अन्तर स्वर' हैं । संगीतमें उन मिश्रित स्वरोंका नाम साधारण अर्थात् बीचका स्वर रखा है । इनके अतिरिक्त तीन और स्वरोंके एक-एक विकृत रूप हैं । इससे शुद्धविकृत स्वरोंकी संख्या १२

होती है । व्याकरण एवं संगीतके स्वरोंका अर्थ भिन्न नहीं है । उनके वास्तविक एवं सांकेतिक अर्थका समन्वय नारद, मतंग आदि प्रणीत ग्रन्थोंमें मिलता है ।

संगीतमें नादके ६६ भिन्न रूप होते हैं, जिनको 'श्रुति' कहते हैं । उनमेंसे २२ प्रधान होते हैं । दूसरी दृष्टिसे श्रुतियाँ अनन्त कही जा सकती हैं—

द्वाविंशतिं केचिदुदाहरन्ति
श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः ।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासा-
मानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति ॥

(कोहलः)

व्याकरणमें भी भिन्न नादरूप ६६ व्यञ्जन हैं, जिनकी आधी संख्या ३३ साधारण प्रयोगमें आती है । संगीतमें ६६के तीसरे भागका एवं भाषामें आधे भागका प्रयोग होना इन संख्याओंके सांकेतिक अर्थके अनुकूल है । माहेश्वर-सूत्रानुसार वैखरीरूप व्यञ्जनोंकी दस जातियाँ हैं, जिनके अर्थ भिन्न होते हैं ।

संगीतमें श्रुतियोंकी भिन्न रस उत्पन्न करनेवाली पाँच जातियाँ होती हैं, जिनके नाम दीप्ता, आयता, मृदु, मध्या एवं करुणा है । उन स्वर-जातियोंके दो स्वरूप हैं—एक गणितका आधारस्वरूप, दूसरा रसका आधारस्वरूप । हमलोग कह सकते हैं कि वीणाके तारका तीसरा या पाँचवाँ अंश लेनेसे एक रसविशेष हमारे मनमें उत्पन्न होगा अर्थात् संगीतद्वारा भाव या विचारके तत्त्वको गणितरूप दिया जा सकता है । श्रुतियोंके दो रूप हैं—एक भावरूप और दूसरा गणितरूप । गणितरूपके द्वारा प्रपञ्चके अनेक अर्थोंसे शब्दका घनिष्ठ सम्बन्ध समझा जा सकता है । इसका फल यह है कि संसार-रचनाका रहस्य समझनेके लिये नाद-विद्या एक अद्भुत साधन बनती है । विदित होगा कि स्वरोंसे देवता, ऋषि, ग्रह, नक्षत्र, रंग, छन्द आदिका सम्बन्ध निरर्थक कल्पना ही नहीं, अपितु युक्तिसंगत एवं गम्भीर तत्त्वपूर्ण अनिवार्य सत्य है । एवं प्राचीन तत्त्वदर्शक ऋषियोंकी अद्भुत देन है ।

माहेश्वर-सूत्रमें ईश्वरका रूप

रुद्रके डमरूसे उत्पन्न माहेश्वर-सूत्रोंसे सर्वप्रपञ्चका प्रादुर्भाव हुआ है । माहेश्वरसूत्रोंका रहस्य जाननेसे सर्वप्रपञ्चका रहस्य खुल जाता है । भाषाके स्वरोंका वास्तविक गूढ़ अर्थ नन्दिकेश्वरकी 'काशिका'में प्राप्त है । संगीतके स्वरोंका और भाषाके स्वरोंका सम्बन्ध 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण'में मिलता है । माहेश्वरसूत्रका प्रथम सूत्र **'अ इ उ ण्'** है । प्रथम स्वर 'अ' कण्ठमें स्थित है, उसका उच्चारण बिना प्रयत्नके होता है । अकार सर्वस्वरोंका आधार एवं कारण है—

अकारो वै सर्वा वाक् ।

'अ' निर्गुण ब्रह्मका द्योतक है ।

अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु । (नन्दिकेश्वर)

अक्षराणामकारोऽस्मि । (गीता)

संगीतमें 'अ'का रूप-आधारभूत स्वर षड्ज है । इसके बिना किसी भी स्वरका अस्तित्व नहीं है ।

'अ इ उ ण् सरिगाः स्मृताः' (रुद्रडमरू० २६)

दूसरे स्वर 'इ' का स्थान तालु है । प्राणके बाहर निकालनेकी प्रवृत्ति 'इ' शब्दका कारण है । 'इ' शक्ति या प्रवृत्ति आदिका द्योतक है । उसको 'कामबीज' भी कहते हैं ।

इकारः सर्ववर्णानां शक्तित्वात् कारणं मतम् ।

(नन्दिकेश्वर ७)

शक्तिका द्योतक होनेसे 'इ' कार सर्ववर्णोंका कारण है ।

अकारो ज्ञप्तिमात्रं स्यादिकारश्चित्कला मता ॥

(नन्दिकेश्वर ९)

अकार ज्ञानस्वरूप मात्र है, 'इ'कार ज्ञानसाधन चित् है ।

शक्तिं विना महेशानि प्रेतत्वं तस्य निश्चितम् ।
शक्तिसंयोगमात्रेण कर्मकर्ता सदाशिवः ॥

'शक्तिरूप 'इ'कारके बिना शिव 'शव' होता है । शक्तिसंयोगमात्रसे सदाशिव कर्म कर सकता है ।'

संगीतमें 'इ' शिवका वाहन, वीर्य एवं शक्तिरूप ऋषभ होता है । उसके श्रवणसे वीर-रस उत्पन्न होता है, उसका भाव बलवान् एवं शक्तिमान् विदित होता है ।

जब कण्ठ, जिह्वा आदि 'इ'कारके उच्चारणके लिये तैयार किये जायँ और बिना किसी भी अंशके बदले 'अ'के उच्चारणका प्रयत्न होता है, तब फलस्वरूप 'उ'कार निकलता है। 'उ'कार 'इ'से परिच्छिन्न 'अ'का स्वरूप है। उसका अर्थ होता है शक्ति-परिच्छिन्न ब्रह्म अर्थात् सगुण ब्रह्म।

उकारो विष्णुरित्याहुर्व्यापकत्वान्महेश्वरः।

(नन्दिकेश्वर ९)

उकार विष्णुनामक सर्वव्यापक ईश्वरका स्वरूप है।

संगीतमें 'उ'कार गान्धार स्वर है। (आधुनिक संगीतका कोमल गान्धार) वह शृंगार-रस एवं करुण-रसको उत्पन्न करता है। विष्णुदर्शनकी सुन्दरताका अनुभव गान्धार स्वरसे कहा जा सकता है। गान्धार वाक्‌का वाहन है, दिव्य गन्धोंसे भरा है।

गां धारयति (गां वाचं धारयति) इति गान्धारः।

(क्षीरस्वामी)

वाक्‌का वाहन होनेसे गान्धार कहा जाता है।

नानागन्धवहः पुण्यो गान्धारस्तेन हेतुना॥

(ना० शि०)

शुद्ध होने एवं अनेक गन्धका वाहन होनेसे गान्धार कहा जाता है।

तीन ग्राम

तीन स्वर सर्वसंगीतके आधार होनेसे तीन ग्रामोंके आधारभूत स्वर माने जाते हैं—

स ग्रामस्त्विति विज्ञेयस्तस्य भेदास्त्रयः स्मृताः।
····· षड्जऋषभगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः॥

(भरतमुनिप्रणीत गीतालंकार)

तीन ग्राम हैं, जिनके आधार षड्ज, ऋषभ और गान्धार हैं। ऋषभ ग्राम अन्य दोनोंके बीचमें होनेसे 'मध्यग्राम' या 'मध्यमग्राम' कहा जाता है।

ब्रह्म-माया-स्वरूप 'ऋ ऌ क्'

माहेश्वर-सूत्रका दूसरा सूत्र नपुंसक स्वरोंका सूत्र है। उनकी प्रधानता नहीं होती। संगीतमें दोनों स्वर 'काकली' एवं 'अन्तर' नामसे प्रसिद्ध हैं—

सप्तैव ते स्वराः प्रोक्तास्तेषु ऋ ऌ नपुंसकौ॥

'ऋ' मूर्धन्य स्वर है। इसका अर्थ ऋत अर्थात् परमेश्वर है। **'ऋ' परमेश्वरः इत्यत्र—'ऋतं सत्यपरं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिंगलम्' इति श्रुतिप्रमाणम्। तं तत्पदार्थपरं ब्रह्म ऋ सत्यमित्यर्थः।** (अभिमन्यु-टीका)

संगीतमें 'ऋ' अन्तर स्वर कहा जाता है, जो आधुनिक शुद्ध गान्धार है। उसका शान्त रस है।

'ऌ' दन्त्य स्वर है। यह परमेश्वरकी वृत्ति या शक्ति है। दाँत मायाके संकेत हैं—

दन्ताः सत्ताधरास्तत्र मायाचालक उच्यते।

शक्तिमान् अपनी शक्तिसे अभिन्न होता है। जैसे चन्द्र चन्द्रिकासे या शब्द अर्थसे अभिन्न है, वैसे ही 'ऋ' 'ऌ' से वास्तवमें अभिन्न है—

वृत्तिवृत्तिमतोरत्र भेदलेशो न विद्यते।
चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वद्यथा वागर्थयोरपि॥

(नन्दिकेश्वर ११)

संगीतमें ऌ 'काली' नामसे प्रसिद्ध है। वह आधुनिक शुद्ध निषाद है, जिसका भाव शृंगार है। अर्थात् वृत्तिरूप काम—**'सोऽकामयत'**।

ज्ञान-विज्ञान 'ए ओ ङ्'

उच्चारणके केवल पाँच स्थान हैं, इसलिये शुद्ध स्वर केवल पाँच होते हैं। वैसे ही शैव संगीतमें आधारभूत ग्राम पाँच स्वरोंके हैं।

'अ'कार एवं 'इ'कारका मिला हुआ रूप 'ए'कार है। 'इ'कार अर्थात् शक्तिमें 'अ'कार अर्थात् ब्रह्मका प्रवेश 'ए'कारका अर्थ है। इसलिये 'ए'कार ज्ञानस्वरूप है अर्थात् परमतत्त्वकी प्राप्तिका द्योतक है। टीकाकार अभिमन्यु 'ए'कारको—**सम्प्रज्ञानस्वरूपः प्रज्ञानात्मा स्वयं प्रविश्य तद्रूपेण वर्तत इति**।—कहते हैं।

संगीतमें 'ए'कार मध्यम स्वर कहा जाता है। उसका रस शान्तरस है। चन्द्रमा उसकी मूर्ति है। **'ए ओ ङ् मपौ'**

(रुद्रडमरू० २६)।

'अ'कार एवं 'उ'कारका मिला हुआ रूप 'ओ'कार है। 'अ'कार अर्थात् परब्रह्मका 'उ'कार अर्थात् उनसे

उत्पन्न प्रपञ्चमें प्रवेश 'ओ'का रूप है ।

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति ।

'अ' निर्गुणरूप है और 'उ' सगुणरूप है । सगुणमें निर्गुण 'ओ'का रहस्य है । अतएव 'ओ'कारसे प्रणव बनता है । निर्गुण-सगुणकी वास्तविक अद्वितीयताका द्योतक 'ओ'कार है । उसका मूर्तरूप गणपति है ।

संगीतमें 'ओ' पञ्चम स्वर कहा जाता है । स्वर-क्रममें पाँचवाँ स्वर होनेसे एवं कारण-तत्त्व आकाशका द्योतक होनेसे पञ्चम स्वरका मूर्तरूप सूर्य है । पञ्चम स्वर सुननेसे सब जीव आनन्दपूर्ण हो जाते हैं ।

विश्वमें दिव्यरूप 'ऐ औ च्'

'ए'कारमें 'अ'कारका मिला हुआ रूप 'ऐ'कार है । 'ओ'कारमें 'अ'कारका मिला हुआ रूप 'औ'कार है । अतः 'ए' अर्थात् ज्ञानसे 'अ' अर्थात् परब्रह्मका सम्बन्ध ऐकार है, संगीतमें 'ऐ' धैवत स्वर कहा जाता है ।

'ध नि ऐ औ च्' (रुद्रडमरू०)

धैवत स्वरके दो रूप होते हैं । एक रूप शान्तपूर्ण मृदुरस और दूसरा रूप क्रियास्वरूप है ।

'ओ'कार अर्थात् 'ओ'में 'अ'का मिला हुआ स्वरूप विश्वमें परमतत्त्वकी व्यापकताका द्योतक है ।

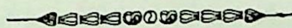
संगीतमें 'औ'कार निषाद नामसे प्रसिद्ध है । आधुनिक संगीतका यह कोमल निषाद है, यह अन्तिम स्वर या स्वरोंकी पराकाष्ठा माना जाता है ।

निषीदन्ति स्वराः सर्वे निषादस्तेन कथ्यते ।

(बृहद्देशी)

जो उपनिषदोंका तत्त्व है, वही निषाद कहा जाता है । वासुदेव उसका नाम भी है ।

इसी तरह व्याकरण एवं संगीतके स्वरोंके अर्थका समन्वय होता है । अत्यन्त संक्षेपमें उसका रूप यहाँ बतलाया गया है । फिर स्वरोंके बाद व्यञ्जनों एवं श्रुतियोंके अर्थ भी मिलते हैं । लेख-विस्तारके भयसे इसका विस्तार यहाँ नहीं किया जा सकता । फिर भी इतनेसे विदित होगा कि गान्धर्व-विद्या अत्यन्त गम्भीर विद्या है । उसके अध्ययनसे ३२ विद्याओंका रहस्य खुल जाता है । यह गान्धर्व-विद्या भारतीय संस्कृतिका एक अनुपम रत्न है । उसके तेजसे मन चकित हो जाता है और प्राचीन भारतीय ऋषियोंकी अनुपम विद्याकी ओर अत्यन्त आदर एवं प्रेमसे हृदय भर जाता है ।—(संकलित)

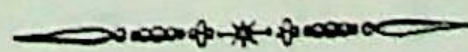


संत-महिमा

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे। कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहते ॥
दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्य जो वा महात्मनाम्। यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः ॥
यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः। तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥

(श्रीमद्भा० ९ । ५ । १४-१६)

दुर्वासाजीने अम्बरीषसे कहा—'धन्य है । आज मैंने भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका महत्त्व देखा । राजन्! मैंने आपका अपराध किया, फिर भी आप मेरे लिये मङ्गल-कामना ही कर रहे हैं । जिन्होंने भक्तोंके परमाराध्य भगवान् श्रीहरिको दृढ़ प्रेमभावसे पकड़ लिया है, उन साधुपुरुषोंके लिये कौन-सा कार्य कठिन है । जिनका हृदय उदार है, वे महात्मा भला, किस वस्तुका परित्याग नहीं कर सकते? जिनके मङ्गलमय नामोंके श्रवणमात्रसे जीव निर्मल हो जाता है—उन्हीं तीर्थपाद भगवान्‌के चरणकमलोंके जो दास हैं, उनके लिये कौन-सा कर्तव्य शेष रह जाता है ।



प्राचीन अस्त्र-शस्त्रकी विद्या

आज हम यूरोपके अस्त्र-शस्त्र देखकर चकित और स्तम्भित हो जाते हैं तथा सोचने लगते हैं कि ये सब नये आविष्कार हैं । हमें अपनी पूर्वपरम्पराका ज्ञान नहीं है । प्राचीन आर्यावर्तके आर्यपुरुष अस्त्र-शस्त्र-विद्यामें निपुण थे । उन्होंने अध्यात्म-ज्ञानके साथ आततायियों और दुष्टोंका दमन करनेके लिये सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी भी सृष्टि की थी । आर्योंकी यह शक्ति धर्म-स्थापनामें सहायक होती थी, न कि आतंकमें । उन विकराल भयंकर बाणोंके आगे बम क्या वस्तु हैं । आजकलके विस्फोटक बम और गैसोंके समान उस कालमें भी विमानोंद्वारा अग्नि-वर्षा होती थी । पैराशूट भी थे, सभी कुछ था । बाण-विद्या तो भारतमें पिछले समयतक रही । रामायण और महाभारतमें हम जो पढ़ते आये हैं, आज वर्तमान विज्ञानकी प्रगति हमारी उस उन्नतिका एक अंश भी नहीं है ।

प्राचीनकालमें जिन अस्त्रों-शस्त्रोंका उपयोग होता था, उनका वर्णन इस प्रकार है—(अ) अस्त्र उसे कहते हैं, जिसे मन्त्रोंके द्वारा दूरसे फेंकते हैं । वे अग्नि, गैस और विद्युत् तथा यान्त्रिक उपायोंसे चलते हैं । (ब) शस्त्र खतरनाक हथियार हैं, जिनके प्रहारसे चोट पहुँचती है और मृत्यु भी होती है । ये हथियार अधिक उपयोग किये जाते हैं ।

अस्त्रोंको दो विभागोंमें बाँटा गया है—(१) वे आयुध जो मन्त्रोंसे चलाये जाते हैं—ये दैवी हैं । प्रत्येक अस्त्रपर भिन्न-भिन्न देव या देवीका अधिकार होता है और मन्त्र-तन्त्रके द्वारा उसका संचालन होता है । वस्तुतः इन्हें दिव्य तथा मान्त्रिक अस्त्र कहते हैं । इन बाणोंके कुछ रूप इस प्रकार हैं—

१. आग्नेय—यह विस्फोटक बाण है । यह जलके समान अग्नि बरसाकर सब कुछ भस्मीभूत कर देता है । इसका प्रतिकार पर्जन्य है ।

२. पर्जन्य—इस बाणके चलानेसे कृत्रिम बादल पैदा होते हैं, वर्षा होती है, बिजली तड़पती है और तूफान आता है ।

३. वायव्य—इस बाणसे भयंकर तूफान आता है और अन्धकार छा जाता है ।

४. पन्नग—इससे सर्प पैदा होते हैं । इसके प्रतिकारस्वरूप गरुड़ बाण छोड़ा जाता है ।

५. गरुड़—इस बाणके चलते ही गरुड़ उत्पन्न होते हैं, जो सर्पोंको खा जाते हैं ।

६. ब्रह्मास्त्र—यह अचूक विकराल अस्त्र है । शत्रुका नाश करके छोड़ता है । इसका प्रतिकार दूसरे ब्रह्मास्त्रसे ही हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

७. पाशुपत—इससे विश्वका नाश हो जाता है, यह बाण महाभारत-कालमें केवल अर्जुनके पास था ।

८. वैष्णव-नारायणास्त्र—यह भी पाशुपतके समान विकराल अस्त्र है । इस नारायण-अस्त्रका कोई प्रतिकार ही नहीं है । यह बाण चलानेपर अखिल विश्वमें कोई शक्ति इसका सामना नहीं कर सकती । इसका केवल एक ही प्रतिकार है और वह यह है कि शत्रु अस्त्र छोड़कर नम्रतापूर्वक अपनेको अर्पित कर दे । कहीं भी हो, यह बाण वहाँ जाकर ही भेद करता है । इस बाणके सामने झुक जानेपर यह अपना प्रभाव नहीं करता ।

इन दैवी बाणोंके अतिरिक्त ब्रह्मशिरा और एकाग्नि आदि बाण हैं । आज यह सब बाण-विद्या इस देशके लिये अतीतकी घटना बन गयी है । महाराज पृथ्वीराजके बाद बाण-विद्याका सर्वथा लोप हो गया ।

शस्त्र वे हैं, जो यान्त्रिक उपायसे फेंके जाते हैं । ये अस्त्रनलिका आदि हैं । नाना प्रकारके अस्त्र इसके अन्तर्गत आते हैं । अग्नि, गैस, विद्युत्से भी ये अस्त्र छोड़े जाते हैं । प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है कि प्राचीन आर्य गोला-बारूद और भारी तोपें, टैंक बनानेमें भी कुशल थे । इन अस्त्रोंके लिये देवी और देवताओंकी आवश्यकता नहीं पड़ती । ये भयंकर अस्त्र हैं और स्वयं ही अग्नि, गैस या विद्युत् आदिसे चलते हैं ।

यहाँ हम कुछ ऐसे अस्त्र-शस्त्रोंका वर्णन करते हैं, जिनका प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंमें उल्लेख मिलता है—

१. शक्ति—यह लंबाईमें गजभर होती है, उसकी मूठ बड़ी होती है, उसका मुँह सिंहके समान होता है और उसमें बड़ी तेज जीभ और पंजे होते हैं। उसका रंग नीला होता है और उसमें छोटी-छोटी घंटियाँ लगी रहती हैं। यह बड़ी भारी होती है और दोनों हाथोंसे फेंकी जाती है।

२. तोमर—यह लोहेका बना होता है। यह बाणके रूपमें होता है और इसमें लोहेका मुँह बना होता है। साँपकी तरह इसका रूप होता है। इसका धड़ लकड़ीका बना होता है। नीचेकी ओर पंख लगाये जाते हैं, जिससे वह सरलतासे उड़ सके। यह प्रायः डेढ़ गज लंबा होता है। इसका रंग लाल होता है।

३. पाश—ये दो प्रकारके होते हैं—वरुणपाश और साधारण पाश। ये इस्पातके महीन तारोंको बटकर बनाये जाते हैं। इनका एक सिर त्रिकोणवत् होता है। नीचे जस्तेकी गोलियाँ लगी होती हैं। कहीं-कहीं इसका दूसरा वर्णन भी है। वहाँ लिखा है कि यह पाँच गजका होता है और सन, रूई, घास या चमड़ेके तारसे बनता है। इन तारोंको बटकर इसे बनाते हैं।

४. ऋष्टि—यह सर्वसाधारण शस्त्र है, पर बहुत प्राचीन है। कोई-कोई उसे तलवारका भी रूप बताते हैं।

५. गदा—इसका हाथ पतला और नीचेका हिस्सा वजनदार होता है। इसकी लंबाई जमीनसे छातीतक होती है। इसका वजन बीस मनतक होता है। एक-एक हाथसे दो गदाएँ उठायी जाती थीं।

६. मुद्गर—इसे साधारणतया एक हाथसे उठाते हैं। कहीं यह बताया है कि यह हथौड़ेके समान भी होता है।

७. चक्र—यह दूरसे फेंका जाता है।

८. वज्र-कुलिश तथा अशनि—इसके ऊपरके तीन भाग तिरछे-टेढ़े बने होते हैं। बीचका हिस्सा पतला होता है। पर हाथ बड़ा वजनदार होता है।

९. त्रिशूल—इसके तीन सिर होते हैं। इसके दो रूप होते हैं।

१०. शूल—इसका एक सिर नुकीला, तेज होता है। शरीरमें भेद करते ही प्राण उड़ जाते हैं।

११. असि—इसे तलवार कहते हैं। इस शस्त्रका किसी रूपमें पिछले कालतक उपयोग होता रहा। पर विमान, बम और तोपोंके आगे उसका भी आज उपयोग नहीं रहा। अब हम इस चमकनेवाले हथियारको भी भूल गये। लकड़ी भी हमारे पास नहीं, तब तलवार कहाँसे हो।

१२. खड्ग—यह बलिदानका शस्त्र है। दुर्गाचण्डीके सामने विराजमान रहता है।

१३. चन्द्रहास—यह टेढ़ी तलवारके समान वक्र कृपाण है।

१४. फरसा—यह कुल्हाड़ा है। पर यह युद्धका आयुध है। इसके दो रूप होते हैं।

१५. मुशल—यह गदाके सदृश होता है, जो दूरसे फेंका जाता है।

१६. धनुष—इसका उपयोग बाण चलानेके लिये होता है।

१७. बाण—इसके सायक, शर और तीर आदि भिन्न-भिन्न नाम हैं। ये बाण भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। हमने ऊपर कई बाणोंका वर्णन किया है। उनके गुण और कर्म भिन्न-भिन्न हैं।

१८. परिघ—एकमें लोहेकी मूठ है। दूसरे रूपमें यह लोहेकी छड़ी भी होती है और तीसरे रूपके सिरेपर वजनदार मुँह बना होता है।

१९. भिन्दिपाल—यह लोहेका बना होता है। इसे हाथसे फेंकते हैं। इसके भीतरसे भी बाण फेंकते हैं।

२०. नाराच—यह एक प्रकारका बाण है।

२१. परशु—यह छुरेके समान होता है। भगवान् परशुरामके पास प्रायः रहता था। इसके नीचे लोहेका एक चौकोर मुँह लगा होता है। यह दो गज लंबा होता है।

२२. कुण्टा—इसका ऊपरी हिस्सा हलके समान होता है। इसके बीचकी लंबाई पाँच गजकी होती है।

२३. शंकु बर्छी—यह भाला है।

२४. पट्टिश—यह एक प्रकारका कुल्हाड़ा है।

इसके सिवा वडिश तलवार या कुल्हाड़ाके रूपमें होती है।

इन अस्त्रोंके अतिरिक्त अन्य अनेक अस्त्र हैं, जिनका यहाँ वर्णन करना असम्भव है। भुशुण्डी आदि अनेक शस्त्रोंका वर्णन पुराणोंमें मिलता है।

भारतकी प्राचीन क्रीडाएँ

विद्यार्थियोंके शिक्षा-क्रममें क्रीडा या खेलकूद भी सदासे एक अङ्ग रहा है। अन्य बालक एवं युवा व्यक्ति भी स्वास्थ्य-वृद्धिके लिये खेलोंका अभ्यास करते हैं। प्रारम्भसे ही 'क्रीडा' शिक्षाके अनिवार्य अङ्गके रूपमें रही है। आजकल कतिपय महानुभावोंका विचार है कि हमारे यहाँ पूर्वकालमें पोलो, टेनिस, फुटबाल, क्रिकेट आदि खेल नहीं थे, न हमारे पूर्वज इन खेलोंसे परिचित ही थे, परंतु प्राचीन भारतमें ये तथा अन्य श्रेष्ठ क्रीडाएँ भी प्रचलित थीं, जिनका विशेष महत्त्व था। हरिवंश, वर्णरत्नाकर, शैवरत्नाकर, मानसोल्लास आदिमें सैकड़ों श्रेष्ठ क्रीडाओंका उल्लेख है। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णकी बाललीलाओंमें अधिकांश क्रीडाओंका वर्णन मिलता है। प्रस्तुत लेखमें इसी वस्तुस्थितिपर प्रकाश डाला गया है।

मुख्यतया क्रीडाओंके चार भेद किये जा सकते हैं—पहली श्रेणीमें वे क्रीडाएँ आ सकती हैं, जो मनोविनोदार्थ खेली जाती थीं। दूसरी श्रेणीमें वे क्रीडाएँ आ सकती हैं, जो प्रेक्षकोंकी प्रसन्नताके लिये की जाती थीं। तीसरी श्रेणीकी क्रीडाएँ धर्मोत्सवादि-प्रधान थीं तथा चतुर्थ प्रकारकी क्रीडाएँ मिश्रित होती थीं। जिनके प्रकार-विषयमें भी संदेह है। अब कुछ क्रीडाओंका परिचय प्राप्त कीजिये।

१. कृत्रिम वृषभ-क्रीडा

जिस क्रीडामें बालक बैलका-सा कपड़ा ओढ़कर या सिंह-सा चर्म ओढ़कर लड़ते थे तथा शब्द करते थे, वह 'कृत्रिम वृषम-क्रीडा' कहलाती है। इसमें पशु-पक्षियोंकी बोलियाँ बोलना भी सम्मिलित है।

२. निलयन-क्रीडा

इसके दो प्रकार हैं—

(क) इसमें एक बालक छिप जाता है तथा दूसरा उसे ढूँढ़ता है। इसमें कुछ चोर बनते हैं तथा कुछ सिपाही बनकर उसे ढूँढ़ते हैं।

(ख) इसमें बालक तीन श्रेणियोंमें विभक्त हो जाते हैं—एक पशुपालक, दूसरा पशुचोर, तीसरा मेषायित। मेष (मेढ़ा) बने हुए बालकको पशुचोर उठाकर ले जाता है तथा पशुपालक उसे ढूँढ़ता है। यह क्रीडा भगवान् श्रीकृष्णने 'वत्सहरण'में खेली थी—ऐसा श्रीमद्भागवतमें लिखा है।

३. मर्कटोत्प्लवन-क्रीडा

इसमें बंदरकी भाँति पेड़ोंपर चढ़कर लगातार अनेक वृक्षोंपर चढ़ते हुए बालक छिपते फिरते हैं। इसका भी वर्णन श्रीमद्भागवतमें मिलता है।

४. शिक्यादि-मोषण-क्रीडा

इसमें एक गेंद-जैसी वस्तु जिसकी है, उसे न देकर अन्योंके पास फेंक दी जाती है तथा स्वामी देखता रह जाता है। जब स्वामी थककर अपनी वस्तु माँगता है, तब वह उसे दे दी जाती है।

५. अहमहमिका-स्पर्श-क्रीडा

इसमें दूर बैठे बालकको कौन पहले छू सकता है, यह प्रण होता है।

६. भ्रामण-क्रीडा

इसमें बालक एक दूसरेका हाथ पकड़कर झूमते या उठते-बैठते हैं।

७. गर्तादिलङ्घन-क्रीडा

इस खेलमें किसकी कितनी दूरतक कूदनेकी सामर्थ्य है—यह परीक्षा की जाती है।

८. बिल्वादिप्रक्षेपण-क्रीडा

इसमें बेल या गेंद आदि इस प्रकार फेंके जाते हैं कि रास्तेमें ही टकरा जायँ।

९. अस्पृश्यत्व-क्रीडा

इस खेलमें एक छूना चाहता है, दूसरा बचना चाहता है।

१०. नेत्रबन्ध-क्रीडा

यह क्रीडा तीन प्रकारकी होती है—

(क) इसमें पीछेसे जाकर आँख मूँदनेपर बँधे

नेत्रोंवाला बाँधनेवालेकी पहचान करता है ।

(ख) इसमें नेत्र बंद करनेपर छोड़ा हुआ बालक छिपे हुए बालकोंका पता लगाता है ।

(ग) इस खेलमें बँधे नेत्रवाले बालकको अन्य बालक छू-छूकर भागते हैं तथा बद्धनेत्र उन्हें पकड़नेका यत्न करता है ।

११.स्पन्दान्दोलिका-क्रीडा

इसमें झूलते हुए दो-तीन झूलोंपर चढ़कर लगातार चढ़ते चले जाना होता है ।

१२.नृप-क्रीडा

इसमें एकको राजा बनाकर अन्य लोग मन्त्री आदि बनकर कार्य करते हैं ।

१३.हरिण-क्रीडा

इसमें हरिणकी भाँति उछलते हुए एक-दूसरेसे आगे निकलनेकी चेष्टा की जाती है ।

१४.देव-दैत्य-क्रीडा

इसमें कुछ व्यक्ति देव तथा कुछ दैत्य बनकर धूल आदि उड़ा-उड़ाकर खेलते हैं, जैसे शिवाजी खेला करते थे तथा यवनोंको पराजित किया करते थे ।

१५.वाह्य-वाहक-क्रीडा

इसमें विजेता पराजितके कंधेपर चढ़कर चलता है ।

१६.जल-क्रीडा

यह दो प्रकारकी होती है—

(क) इसमें पेड़ोंपरसे जलमें कूदते हैं तथा फिर एक-दूसरेपर पानी उछालते हैं ।

(ख) यह क्रीडा स्त्री-पुरुषोंमें भी होती थी, जिसका वर्णन भारवि, माघ और कालिदासने किया है ।

१७.कन्दुक-क्रीडा

यह क्रीडा दो प्रकारसे खेली जाती है—

(क) इस खेलमें गेंद ऊपर फेंकी जाती है और दूसरा उसे ग्रहण करनेकी चेष्टा करता है । यदि उसे ग्रहण नहीं कर पाता तो वह पहले फेंकनेवालेके कंधेपर चढ़कर फिर फेंकता है तथा अन्य खेलनेवाले गेंदको जमीनपर गिरनेसे पूर्व ही ग्रहण कर लेते हैं ।

(ख) यह खेल बालक या कन्या सभी खेलते हैं । इसमें भीतपर गेंद मारकर दबोचना आदि भी आ जाता है । यही आजकल बालीबाल कहलाती है । **'बहुबिधि क्रीडहिं पानि पतंगा'** इसीका संकेत है ।

१८.वनभोजन-क्रीडा

इस खेलमें जंगलमें जाकर खेलना तथा वहींपर बाटी आदि बनाकर खानेका प्रचलन है । आजकल इसे पिक्निक् कहते हैं ।

१९.रास-क्रीडा

इसमें रेतीले मैदानमें श्रीकृष्ण-लीलाका अनुकरण किया जाता है, जैसे आजकल रामलीला होती है । गुजरातका गरबा-नृत्य कुछ ऐसा ही है ।

२०.छालिक्य-क्रीडा

इसमें खेलनेवाले मस्त होकर होलीके दिनोंकी तरह गाते-बजाते हैं । इसका वर्णन हरिवंशादि पुराणोंमें मिलता है ।

२१.नियुद्ध-क्रीडा

इसमें घूसे मारकर या कुश्ती लड़कर खेल खेलना होता है । जरासंध और भीमके बीच यह क्रीडा हुई थी ।

२२.नृत्य-क्रीडा

इसमें कुछ नाचते तथा कुछ ताली बजाते थे । इसे लड़के या लड़कियाँ परस्पर मिलकर या अलग-अलग खेलते थे ।

२३.अक्ष-क्रीडा

यह क्रीडा 'महाभारत'का एक कारण हुई। इसका ऋग्वेदमें निषेध मिलता है ।

२४.मृगया-क्रीडा

यह क्रीडा 'आखेट'के नामसे राजाओंमें विशेषरूपसे प्रसिद्ध थी ।

२५.पक्षिघात-क्रीडा

इसमें श्येनकी तरह पक्षियोंको पकड़ना सिखाया जाता था ।

२६.मत्स्य-क्रीडा

इस खेलमें राजपुत्र नावपर चढ़कर मछली पकड़नेके प्रकार सीखते थे ।

२७.चतुरङ्ग-क्रीडा

इसे आजकल शतरंज, चौपड़ या चाँदमारीके नामसे पुकारते हैं। विल्सन साहबने बड़ी खोजसे इसका विवरण भविष्यपुराणमें ढूँढ़ा और इसे भारतीय खेल सिद्ध किया। चतुरंङ्ग-क्रीडापर कई स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं।

२८.शालभञ्जिका-क्रीडा

इसे 'कठपुतलियोंका खेल' या 'गुड़ियाका खेल' कहते हैं।

२९.लतोद्वाह-क्रीडा

यह पेड़ एवं बेलको पालकर उनका विवाह रचानेका खेल है, जैसा शकुन्तलाने किया था। तुलसी-विवाह तो धार्मिक कृत्यके रूपमें किया जाता है।

३०.वीटा-क्रीडा

गुल्ली-डंडेका खेल—इसका महाभारतमें वर्णन है, देखिये आदिपर्व (१३१। १७)।

३१.कनकशृङ्गकोण-क्रीडा

यह पिचकारी चलानेका खेल है।

३२.विवाह-क्रीडा

जब वर विवाह करने चला जाय, तब पीछे स्त्रियाँ वर या वधू बनकर खेल करती हैं, इसे 'खोरिया' कहते हैं।

३३.हल्लीश-क्रीडा

इस खेलमें एक लड़की, फिर एक लड़का, फिर लड़की, फिर लड़का, इस प्रकार बैठकर मण्डलाकार घूमते हैं। इसका भी वर्णन हरिवंशमें विस्तारसे है।

३४.गानकूर्दन-क्रीडा

इसमें कुछ लोग गाते हैं तथा कुछ लोग कूदते हैं।

३५.नौ-क्रीडा

यह वाराणसीमें दशहरेपर होती है—लोग नौकाएँ चलाते हैं।

३६.जल-क्रीडा

इसमें जलमें बैठकर भोजनादि करना होता है—जैसे दुर्योधन जल-स्तम्भ-विद्याको जानकर करता था।

३७.वनविहार-क्रीडा

इस क्रीडामें फूलोंका चुनना, माला बनाना तथा बिना सामग्रीके भोजन बनाना आदि आता है। इसका दूसरा नाम 'पुष्पावचाय'-क्रीडा है।

३८. आमलकमुष्ट्यादि-क्रीडा

इस खेलमें मुट्ठीमें कुछ रख बंद करके पूछा जाता था, न बतलानेपर या अशुद्ध बतलानेपर विजेता उसे मुष्टिप्रहारसे पराजित करता था।

३९. दर्दुरप्लाव-क्रीडा

इसमें मेढकोंकी तरह कूद-कूदकर चलना होता है।

४०. नाट्य-क्रीडा

इसमें नाटक खेला जाता है।

४१. अलातचक्र-क्रीडा

यह खेल 'टीमी' जलाकर उसे घुमाने तथा आकाशमें उससे अक्षर लिखनेका है।

४२. गदा-क्रीडा

यह दिखावटी 'गदायुद्ध' करना है, इसी प्रकार 'धनुःक्रीडा' आदि क्रीडाएँ भी हैं।

४३. अशोकपादप्रहार-क्रीडा

किसी पेड़को सजाना तथा उसे फिर सींच-सींचकर बढ़ाना और यह कहना कि मेरी जूतियाँ खाकर यह बढ़ा है। इसका वर्णन भी कालिदासने किया है।

४४. चित्र-क्रीडा

इस खेलमें विरहादि अवस्थामें यक्षकी तरह चित्र बनाना, पेंटिंग करना, ड्राइंग करना होता है।

४५. काव्यविनोद-क्रीडा

इसमें 'बिन्दुच्युतक', 'मात्राच्युतक', 'समस्यापूर्ति', 'प्रहेलिका', 'खंगबन्ध', 'पद्मबन्ध' आदि काव्योंके प्रकार आते हैं। आजकलकी प्रजिल्स भी इसीमें आती है।

४६. वाजिवाह्य-क्रीडा

इसमें घोड़ोंपर चढ़कर 'गेंद' खेलना होता है, जिसे चौगान कहा जाता है। तुलसीदासजीने गीतावलीमें इसका वर्णन किया है।

४७.करिवाह्य-क्रीडा

यह हाथीपर चढ़कर गेंद खेलनेकी क्रीडा है।

४८. मृगवाह्य-क्रीडा

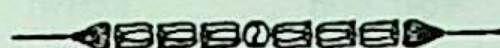
इस खेलमें हरिणके रथपर या 'बारहसिंगे' के रथपर चढ़कर दौड़ते हुए व्यक्तिको छूया जाता है।

४९. गोप-क्रीडा

यह 'रास-क्रीडा'के अन्तर्गत है।

५०. घट-क्रीडा

सिरपर अनेक घड़ोंको रखकर चलना, अंगारोंपर चलना, बाँस लेकर चलना, एक रस्सीपर चलना—ये सब भेद इस घटक्रीडाके अन्तर्गत हैं। इस प्रकार पाठकोंके मनोविनोदार्थ प्राचीन क्रीडा-संस्कृतिके प्रथम प्रकारका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया है। (संकलित)



भारतीय साहित्यमें नाट्यकला

(पं० श्रीराधाशरणजी मिश्र)

किसी गुण या कौशलके कारण जब किसी वस्तुमें विशेष उपयोगिता और सुन्दरता आ जाती है, तब वह वस्तु कलात्मक हो जाती है। कलाके दो भेद होते हैं—एक उपयोगी कला और दूसरी ललित-कला। उपयोगी कलामें लुहार, सुनार, जुलाहे आदिके व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललितकलाके पाँच भेद होते हैं—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला। उपर्युक्त दोनों कलाओं (उपयोगी कला और ललितकला) में ललित-कला एवं ललित-कलाओंमें काव्यकला श्रेष्ठ होती है तथा काव्यकलामें भी **'काव्येषु नाटकं रम्यम्' 'नाटकान्तं कवित्वम्'** के आधारपर नाट्यकला सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है।

संसार परिवर्तनशील है, अतः तदाधारभूत काव्य-साहित्यमें भी परिवर्तन होना स्वाभाविक ही नहीं अपितु अनिवार्य-सा है। जैसे हम आधुनिक समाजके विकसित रूपको देखकर प्राचीन गौरव-गाथाओंको दन्तकथा बतलाने लग जाते हैं, वैसे ही हमें अपने पौराणिक नाट्य-साहित्यपर भी अविश्वास-सा ही है। फिर भी नीचेकी पंक्तियोंमें एतद्विषयक विद्वानोंके बिखरे हुए विचार संगृहीत करके लिखे जा रहे हैं—

१. डॉ० रिजवे नाटककी उत्पत्ति वीर प्रजासे सम्बन्धित मानते हैं। उनका कहना है कि नाटक-प्रणयनकी प्रवृत्ति उन शहीद हुए वीर पुरुषोंके प्रति आदरका भाव प्रदर्शित करनेके लिये ही हुई है। हमारे भारतीय नाटकोंमें भी श्रीराम या श्रीकृष्ण आदि वीर पुरुषोंके चरित्रसे सम्बन्ध रखनेवाले नाटक इस कोटिमें रखे जा सकते हैं।

२. जर्मन विद्वान् डॉ० पिशेल नाटककी उत्पत्ति पुत्तलिकानृत्यसे मानते हैं। यह पुत्तलिकानृत्य सबसे पहले भारतमें ही प्रारम्भ हुआ था। इसके बाद विदेशोंमें भी इसका प्रचार पूर्णरूपसे होने लगा। सूत्रधार, स्थापक आदि शब्दोंका अर्थ इस मतका अच्छी तरह पोषण करता है। जैसे पुत्तलिकानृत्यमें उनका सूत्र किसी संचालकके हाथमें रहता है तथा एक व्यक्ति पुत्तलिकाओंको स्थापित करता रहता है, वैसे ही नाटकके भी सूत्रधार और स्थापक नाटकीय पात्रोंका यथावत् संचालन करते रहते हैं।

३. कुछ विद्वानोंने नाटककी उत्पत्ति छाया-नाटकोंसे मानी है। छाया-नाटक भी आधुनिक सिनेमाकी तरह पूर्वकालमें प्रदर्शित किये जाते थे। इस मतको सुपुष्ट करनेके लिये उन्होंने प्राचीन उल्लेखोंकी भी खोज की है। पर यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता; क्योंकि हमारा नाट्य-साहित्य बहुत पुराना है। संस्कृतमें 'दूताङ्गद' नामक नाटक अवश्य पाया जाता है, जो छाया-नाटकके सिद्धान्तोंपर आधारित है, किंतु उसमें इतनी प्राचीनता नहीं, जिससे हम उसे भारतीय नाटकोंकी आधारशिला मान सकें।

४. अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान् नाटकको

वेदमूलक मानते हैं। ऋग्वेदमें कई संवादसूक्त आते हैं, जिनमें पुरूरवा और उर्वशीका संवाद विशेष प्रसिद्ध माना गया है। इन संवाद-सूक्तोंका कथोपकथन बिलकुल ही नाटकका आधार-स्तम्भ कहा जा सकता है।

५. महामुनि भरतका, जो भारतीय नाट्य-साहित्यके प्रथम प्रवर्तक माने गये हैं, मत है कि सांसारिक मनुष्योंको आपत्तियोंसे क्लान्त देखकर इन्द्रादि देवताओंने ब्रह्माजीसे ऐसे वेदकी रचनाकी प्रार्थना की, जिसका अलौकिक आनन्द सर्वसाधारणके लिये समानरूपसे प्राप्त हो सके; क्योंकि चतुर्वेदोंके अधिकारी शूद्रादि निम्नवर्गीय प्राणी नहीं माने गये हैं। इसी प्रार्थनाको दृष्टिगत करके लोकपितामह ब्रह्माजीने चतुर्वर्णोंके लिये—विशेषतः शूद्रोंके लिये पञ्चम वेदका निर्माण किया। इसमें ऋग्वेदसे पाठ्यवस्तु, सामवेदसे गान, यजुर्वेदसे अभिनय और अथर्ववेदसे रस लिया गया—

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

(नाट्यशास्त्र, अ०१, श्लोक १७)

हमारे नाट्य-साहित्यके वेदमूलक होनेके कारण ही भरतमुनिने नाट्य-साहित्यकी यहाँतक प्रशंसा की है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

(नाट्यशास्त्र १।१०९)

संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो नाट्य-साहित्यमें प्रदर्शित नहीं की जाती हो। हमारे आदिकाव्य 'वाल्मीकीय रामायण'में भी नाट्य-विषयक कई बातें मिलती हैं। जैसे—

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः॥

(२।६७।१५)

'जिस जनपदमें राजा नहीं है, वहाँ नट और नर्तक प्रसन्न नहीं दिखलायी देते।' इससे सिद्ध है कि राजालोग नटोंको अपने आश्रयमें रखकर उन्हें नाटकका अभिनय करनेके लिये प्रोत्साहित किया करते थे। इसी प्रकार 'महाभारत'में भी 'नट' शब्दका कई जगह उल्लेख मिलता है। महाभारतके अन्तर्गत 'हरिवंशपुराण'में भी रामायणसे कथा लेकर नाटक खेलनेका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वैसे ही 'अग्निपुराण'के ३३६-४६ तकके सर्गोंमें श्रव्य तथा दृश्य काव्योंकी ही विवेचना की गयी है, पर उपर्युक्त ग्रन्थोंका रचनाकाल भी संदिग्धपूर्ण होनेके कारण हम यह निर्णय नहीं कर सकते कि अमुक समयका नाट्य-साहित्य प्राचीनतम है तथा भारतकी ही देन है—अन्य किसी देशकी नहीं।

ईसाके तीन शताब्दी पूर्वतकका नाट्य-साहित्य अज्ञात-कालीन है। इसके बाद पाणिनिके व्याकरण-शास्त्रमें शिलालिन्, कृशाश्व आदि नाट्य-साहित्यके आचार्योंका उल्लेख मिलता है। तदनन्तर पतञ्जलिके 'महाभाष्य'में भी 'कंसवध', 'बलिबन्धन'का उल्लेख पाया जाता है। संस्कृत-साहित्यके प्रमुख नाटककार 'कालिदास'का समय भी ईसाके एक शताब्दी-पूर्व मान लिया गया है, इनके भी 'शाकुन्तल', 'मालविकाग्निमित्र' आदि नाटक संस्कृत-साहित्यकी अमूल्य निधि समझे गये हैं। इसके बाद भवभूति, विशाखदत्त, शूद्रक और राजशेखर आदि नाटककारोंने बड़े ही मनोरञ्जक एवं व्यवस्थापूर्ण नाटकोंकी रचना की है। उपर्युक्त नाटककारोंके नाटक पूर्ण विकसित हैं। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि इन नाटकोंके समयसे कई शताब्दियों-पूर्व ही नाटककी रचना सफलतासे की जा चुकी थी।

इस प्रकार दसवीं शताब्दीतक संस्कृत-नाटकोंकी अच्छी भरमार रही। बादमें १९वीं शताब्दीका लंबा काल नाट्य-साहित्यकी रचनासे वञ्चित ही रहा। यद्यपि 'हनुमन्नाटक', 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'रत्नावली' आदि नाटक इसी अन्धकालमें बने थे, फिर भी उनमें नाटकत्वके नियमोंका यथावत् पालन न होनेके कारण वे अच्छे नाट्य-साहित्यकी कोटिमें नहीं रखे जा सकते। भारतेन्दु, प्रसाद, श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास आदि स्वनामधन्य नाटककारोंने कई मौलिक नाटक लिखे हैं तथा संस्कृत और बँगलासे अनुवादित भी किये हैं। आशा है, हमारे हिंदी नाटकोंके सुशिक्षित कर्णधार भविष्यत्कालीन हिंदी-साहित्यको अच्छे-अच्छे मौलिक नाटक प्रदान कर इसे सुसमृद्ध एवं महत्त्वपूर्ण बनायेंगे।

सिच्छक हौं सिगरे जग को

(श्रीरामलालजी श्रीवास्तव)

भारतीय शिक्षा-प्रणालीके आदर्श वाक्यके रूपमें वेदका अनुशासन है—'विशेष ज्ञानी—ज्ञानामृतमें प्रतिष्ठित व्यक्ति अज्ञानियोंमें बैठकर उन्हें ज्ञान प्रदान करे'—

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि। (ऋग्वेद ७।४।४)

हमारी भारतीय संस्कृतिमें शिक्षा—विद्यादानकी प्राणशक्ति अध्यात्म है और इस अध्यात्मकी प्रतिष्ठा सम्पूर्ण ब्राह्मणत्व है। ब्राह्मणका अभिप्राय केवल जाति-विशेषसे नहीं है। ब्राह्मणत्व सत्कुलमें जन्म, तप, त्याग, वैराग्य, अपरिग्रह तथा लोकसंग्रह और मोक्षकी सिद्धिमें अधिष्ठित है। लोकमानसमें इस प्रकारके ब्राह्मणत्वकी प्रतिष्ठा शिक्षाका श्रेयस्कर रूप है। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ८०वें और ८१वें अध्यायोंमें इसी मूर्तिमान् ब्राह्मणत्वके प्राणप्रतीक सुदामाका आख्यान इस तथ्यका सत्यापक है कि सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी शिक्षा-आध्यात्मिकी विद्या अथवा श्रेयस्करी जीवन-पद्धतिसे प्रबुद्ध करनेवाला शिक्षक त्याग, वैराग्य, अपरिग्रह अथवा लोकसंग्रहके आश्रयका वरण कर ब्राह्मणत्वको प्राणित करता है। वज्रसूचिकोपनिषद्‌में वर्णन है—

'यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावाप्रमेय-मनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत् साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसम्पन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहंकारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः।'

'इस आत्माका, जो अद्वितीय है, जाति-गुण-क्रियासे हीन है, षड्विकारादि समस्त दोषोंसे रहित है, सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्तस्वरूप है, स्वयं निर्विकल्प और अशेष कल्पोंका आधार है, समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी रूपमें वर्तमान, भीतर-बाहर आकाशके समान अनुस्यूत, अखण्डानन्द स्वभाववाला, अप्रमेय, अनुभवसे एकमात्र जाननेमें आता है, प्रत्यक्ष अभिव्यक्त है, हाथमें स्थित आँवलेके समान जो कोई प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर कृतार्थ हो गया है तथा कामादि दोषोंसे रहित और शम-दमादिसे सम्पन्न, मत्सर-तृष्णा और मोहादिसे रहित है, जो इन लक्षणोंसे युक्त है वही ब्राह्मण है। ऐसा श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों, इतिहासोंका अभिप्राय है।'

निःसंदेह ऐसा ब्राह्मणत्वसम्पन्न पुरुष ही शिक्षक, लोकशिक्षक अथवा जगद्‌गुरु होता है। इस ब्राह्मणत्व—आचार्यत्वके स्तरपर ही हमारे शास्त्रोंमें आचार्य और शिष्य, शिक्षक और शिक्षार्थीके बीचमें सद्भावका सामञ्जस्य स्थापित है—

'सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।' (तैत्तिरीयोपनिषद् १।३)

'हम दोनों आचार्य और शिष्यका यश एक साथ बढ़े। हम दोनोंका ब्रह्मतेज एक साथ बढ़े।'

इसी बातको दृष्टिमें रखकर राजर्षि मनुने ब्राह्मणका तप ज्ञान कहा है—

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानम्। (मनु० ११।२३६)

त्यागवृत्तिसम्पन्न तथा धनकी तृष्णासे परे आचार्य ही भारतीय जीवन-पद्धतिमें शिक्षक है। वह ब्रह्मवर्चस्वसे युक्त होकर संग्रहकी वृत्तिसे नितान्त उपरत रहता है। यह आचार्यके जीवनका तप है, जिसके अभावमें उसके द्वारा शिक्षाका सम्पादन नहीं हो सकता। सद्विद्या तो अध्यात्मविद्या ही है और इसी सद्विद्याने समग्र जगत्‌को व्यावहारिक जीवन—पवित्र चरित्रकी प्रेरणा दी। राजर्षि मनुका कथन है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनु० २।२०)

आशय यह है कि ब्रह्मदेश, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल आदि क्षेत्रोंमें उत्पन्न विद्वानों—आचार्योंसे जगत्के सभी मनुष्योंको अपने-अपने आचार—पवित्राचरणकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।

जड विज्ञानसे प्रभावित भौतिकवादकी तमिस्रामें भयानक दिशाभ्रमके परिणामस्वरूप आज तप, त्याग, वैराग्यमूलक मोक्षप्रद आध्यात्मिकी विद्याका क्रमशः लोप होते रहनेके कारण भारतीय प्रायः अपनी शिक्षाका आदर्श भूलकर पाश्चात्त्य मनोवृत्तियोंसे दूषित व्यावहारिक भ्रममें अधःपतित-से हो गये हैं और ऐसे भयानक परिवेशमें हमने आध्यात्मिक श्रेयका विस्मरण कर प्रेयको अपना लिया है । हमारे इस दिग्भ्रमित आचरणका ही यह परिणाम है कि हम शिक्षाकी सत्-उद्देश्यप्रवृत्तिसे वञ्चित होते जा रहे हैं ।

शिक्षाके संदर्भमें सदा ही यह भारतीय परम्परा प्राणान्वित रहती आयी है कि ऋत (सदाचार), सत्य, तप, दम, शम और मनुष्योचित लौकिक व्यवहारपर हमारे राथीतर, पौरुशिष्ट और मौद्गल्य आदि ऋषियोंने विशेष बल दिया । 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में स्पष्ट दिशानिर्देश विज्ञापित है—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । ····· मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च ।···· सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । (१।९)

यही विशुद्ध ज्ञान परमार्थकी प्राप्तिका राजपथ है । पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्तिपूर्वक परमार्थकी सिद्धि ही भारतीय संस्कृतिमें श्रेयस्करी शिक्षाका प्रधान उद्देश्य स्वीकार किया गया है—

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकम् ॥ (श्रीमद्भा० ५।१२।११)

शिक्षाविद् आचार्यके मनमें धनप्राप्तिकी लिप्सा शिक्षा-कार्यकी महती सिद्धिमें दुर्गम अवरोधक अथवा बाधक है । यही कारण है कि हमारे भारतीय ऋषियोंने सावधान किया है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

(ईशावास्योपनिषद् १।१)

अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है । इस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक इसे भोगते रहो । इसमें आसक्त मत हो; क्योंकि धन किसका है—किसीका नहीं ।

अकिञ्चनता ही शिक्षाविद् आचार्यका सर्वोत्तम स्वाभाविक गुण है । इस पदका त्याग करनेपर ही शिक्षाका क्रम बिगड़ जाता है और समाज वास्तविक मानवीय सद्व्यवहारसे वञ्चित हो जाता है । ऐसे तो अनर्थोंके धाम धनकी अनासक्ति हमारी संस्कृतिमें प्रतिपादित है, पर विशेष-रूपसे शिक्षकवर्गपर जबतक इसका प्रभाव नहीं पड़ेगा, तबतक मानवताको श्रेयस्कर दिशा-निर्देश प्राप्त होना प्रायः कठिन है । जीविकानिर्वाह मात्र धनका संग्रह ही शिक्षकवर्गके लिये—आचार्यपदको गौरवान्वित करनेके लिये ही सापेक्ष है, अन्यथा सामाजिक विकृति सम्भाव्य है ।

आचार्यका यही ब्राह्मणत्व है कि वह धनकी लिप्साका सर्वथा त्याग कर दे । श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णके सखा ब्रह्मविद् विरक्त, प्रशान्तात्मा, जितेन्द्रिय, गृहाश्रमी सुदामाके चरितवर्णनके आधारपर 'सुदामाचरित' काव्यके प्रणेता नरोत्तमदासने सुदामाके जगत्-शिक्षक-रूपका विश्लेषण करते हुए शुद्ध ब्राह्मणत्व—आचार्यत्वका प्रतिपादन किया है । अकिंचन सुदामाको उनकी स्त्रीने द्वारकापति श्रीकृष्णके पास जाकर धन प्राप्त करनेकी सत्प्रेरणा दी । उस पतिव्रताने कहा कि साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् आपके सखा हैं । आप उनके पास जाइये, वे आप दुःखी कुटुम्बीके लिये पर्याप्त धन प्रदान करेंगे । वे इस समय द्वारकामें हैं, स्मरण करते ही अपना चरणकमल प्रदान करेंगे—

तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम् ।
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥

(श्रीमद्भा० १०।८०।१०)

सुदामाने अपनी सहधर्मिणीको समझाया कि ब्राह्मणोचित

गुणोंके कारण ही मैं समस्त जगत्‌का नैसर्गिक शिक्षक हूँ। तुम मुझे इसके विपरीत शिक्षा दे रही हो। मेरा धन तो एकमात्र तप है और तपसे ही मैं अपने इहलोक और परलोकको श्रेयस्कर बनाता हूँ। जो इस तरह तपको ही जीवनका श्रेय समझता है, उसके लिये सम्पत्ति—अर्थकी प्राप्ति गौण है। तुम यह अच्छी तरह समझ लो कि मेरे हृदयमें भगवान्‌का चरणकमल निरन्तर विराजमान है। वे हरि ही मेरे आश्रय हैं। ब्राह्मण तो भिक्षामात्रसे ही जीविका-निर्वाह कर जगत्‌का शिक्षक होनेकी मर्यादा सुरक्षित रखता है—

सिच्छक हौं सिगरे जग को
तिय ताको कहा अब देति है सिच्छा।
जे तप कै परलोक सुधारत,
सम्पतिकी तिनके नहिं इच्छा॥
मेरे हिये हरिके पद पंकज
बार हजार लै देखु परीच्छा।
औरन को धन चाहिये बावरि,
बाभन के धन केवल भिच्छा॥

(सुदामाचरित)

बार-बार पत्नीके आग्रह करनेपर सुदामाने द्वारका जाकर भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करना स्वीकार कर लिया। यद्यपि वे आप्तकाम, यथालाभसंतुष्ट और जीविकोपार्जन-हेतु पूर्ण निश्चिन्त थे तथापि उनके मनमें यह भाव सुदृढ़ हो गया था—

अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्।

(श्रीमद्भा० १०।८०।१२)

द्वारकामें श्रीकृष्ण और सुदामाके बीचमें महर्षि सांदीपनिके गुरुकुलमें शिक्षा प्राप्त करने तथा गुरुके चरणदेशमें श्रद्धानिष्ठापूर्वक सेवा समर्पित करनेके सम्बन्धमें जो वार्तालाप श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ८१वें अध्यायमें वर्णित है, वह इस तथ्यको सत्यापित करता है कि गुरुकुलमें शिक्षा प्राप्त करनेवाले शिक्षार्थी गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेपर किस तरह योग्य जगत्-शिक्षक होनेकी योग्यतासे सम्पन्न होता है। गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली भारतीय संस्कृति, समाज और वर्णाश्रमधर्मकी पूर्ण चरितार्थताकी परम्परागत प्रतीक है और इसकी अवज्ञासे शिक्षाके मूल्य—मानबिन्दुका लोप होता है। श्रीकृष्णने सुदामासे श्रद्धानिष्ठामयी भावभावित भाषामें गुरुकुल-जीवनका स्मरण दिलाकर कहा कि गुरुपत्नीने ईंधन लाने-हेतु अरण्यमें भेजा था। अचानक भयंकर जलवृष्टि और तमिस्रासे दिशाएँ आवृत हो गयी थीं। गुरुके गृहपर हम दोनोंके यथासमय न पहुँचनेपर हमारे गुरु महर्षि सांदीपनि हमें खोजते आये और उन्होंने हमें अपने स्नेहाशीष्से कृतार्थ करते हुए कहा कि हमारे हितसम्पादनमें तुमने जिस विशुद्ध समर्पणभावका परिचय दिया है, उससे मैं संतुष्ट हूँ। तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हों। सांदीपनिने वात्सल्य प्रकट किया। यह सत्य है—

गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये।

(श्रीमद्भा० १०।८०।४३)

गुरुके अनुग्रहसे गुरुका ब्रह्मवर्चस्व शिष्यको पूर्णकाम कर देता है। गुरुकुलकी तपोमयी त्यागपूर्ण शिक्षाका ही प्रभाव था कि सुदामाने यह अनुभव किया कि मैं तो अकिंचन हूँ, श्रीकृष्ण श्रीनिकेतन हैं, उन्होंने बाहुओंसे मुझे आलिङ्गित किया और प्रियाजुष्ट पर्यङ्कपर मुझे विराजमान होनेका सौभाग्य प्रदान किया। निःसंदेह ऐसे प्रिय सखा हरिका चरणार्चन ही समस्त सिद्धियोंका मूल है—

सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्।

(श्रीमद्भा० १०।८१।१९)

सुदामा-जैसे जगत्‌के शिक्षक होनेकी विज्ञप्ति करनेवाले ही तप-त्याग-वैराग्य और भगवद्भक्तियुक्त ब्राह्मणत्वकी प्रतिष्ठासे जगत्‌में श्रेयकी स्थापनाके आधार होते हैं। शिक्षक और शिक्षितमें—अध्यापक और विद्यार्थीमें पारस्परिक सहज स्नेहजन्य सौहार्द और सद्विवेक ही भारतीय शिक्षाकी प्राणशक्ति है।

भारतीय जीवन-मूल्योंके अनुरूप शिक्षा

(श्री आर० राजीवन)

भारतीय समाजमें शैक्षणिक सुधारकी आवश्यकताका एक लम्बे समयसे लगातार अनुभव किया जा रहा है। दुर्भाग्यवश 'शैक्षणिक परिवर्तन' राजनीतिज्ञों, तथाकथित ऊँचे घरानेवालों और क्रान्ति-प्रेमी युवा नेताओंकी पसंदीका नारा मात्र बनकर रह गया है। इस देशका दुर्भाग्य है कि इस प्रकारकी नितान्त आवश्यकता सड़क-छाप नारों, चुनावी भाषणों और ड्राइंगरूमकी चर्चाओंमें खो गयी तथा शैक्षणिक स्तर एवं शिक्षा-पद्धतिमें एक लम्बे समयसे स्थिरता कायम है, जो देशकी युवापीढ़ीके सर्वतोमुखी विकासके लिये सीधे तौरपर बाधक है।

मजेकी बात तो यह है कि अलग-अलग पार्टियोंकी जब-जब भी सरकार आयी है, तब-तब उसने शैक्षणिक सुधारोंकी वकालत की है। लाहौर-कांग्रेसमें अपने अध्यक्षीय भाषणमें पंडित नेहरूने जोरदार शब्दोंमें शिक्षाके क्षेत्रमें आमूलचूल परिवर्तनका प्रस्ताव रखा था, परंतु प्रधानमन्त्री बननेके बाद वह स्वप्न ही बनकर रह गया।

बहुत-से विद्यालयों, महाविद्यालयों और दो सौसे अधिक विश्वविद्यालयोंका होना शिक्षा-प्रणालीके प्रसारका द्योतक तो है, पर इस प्रणालीपर स्थिरता और एकरूपता इस प्रकार हावी है कि कोई अभूतपूर्व चमत्कारके बिना इसमें परिवर्तन सम्भव नहीं दीखता।

स्वामी विवेकानन्दने कहा था कि 'विदेशी भाषामें दूसरेके विचारोंको रटकर, अपने मस्तिष्कमें उन्हें ठूँसकर और विश्वविद्यालयोंकी कुछ पदवियाँ प्राप्त करके हम अपनेको शिक्षित समझते हैं, क्या यही शिक्षा है? हमारी शिक्षाका उद्देश्य क्या है? या तो मुंशीगिरी करना या वकील हो जाना अथवा अधिक-से-अधिक सरकारी अफसर बन जाना, जो मुंशीगिरीका ही दूसरा रूप है; परंतु इससे हमें या हमारे देशको क्या लाभ होगा? जो भारतखण्ड अन्नका अक्षय भण्डार रहा है, आज वहीं उसी अन्नके लिये कैसी करुण-पुकार उठ रही है। क्या हमारी शिक्षा इस अभावकी पूर्ति करेगी? वह शिक्षा जो जनसमुदायको जीवन-संग्रामके उपयुक्त नहीं बनाती, जो उनकी चारित्र्य-शक्तिका विकास नहीं करती, जो उनमें भूत-दयाका भाव और सिंहका साहस पैदा नहीं करती, क्या उसे भी हम 'शिक्षा' का नाम दे सकते हैं? हमें तो ऐसी शिक्षा चाहिये, जिससे चरित्र बने, मानसिक वीर्य बढ़े, बुद्धिका विकास हो और जिससे मनुष्य अपने पैरोंपर खड़ा हो सके। हमें आवश्यकता इस बातकी है कि हम विदेशी अधिकारसे स्वतन्त्र रहकर अपने निजी ज्ञानभण्डारकी विभिन्न शाखाओंका अध्ययन करें।'

स्वामी विवेकानन्दकी शिक्षाके सम्बन्धमें कही गयी उपर्युक्त बातें आज भी विचारणीय हैं। वास्तवमें सभी प्रकारकी शिक्षा और अभ्यासका उद्देश्य 'मनुष्य'-निर्माण ही होना चाहिये। सारे प्रशिक्षणोंका अन्तिम ध्येय मनुष्यका विकास करना ही है। जिस अभ्याससे मनुष्यकी इच्छाशक्तिका प्रवाह और प्रकाश संयमित होकर फलदायी बन सके, उसीका नाम है शिक्षा।

शिक्षाकी हिंदू-पद्धतिके अपने उच्चतर लक्ष्य थे। प्राचीन ऋषि वस्तुओंके मूल, उनके स्रोतों और आधारके तहतक पहुँचना चाहते थे। वे आधी बातसे संतुष्ट नहीं थे। उदाहरण-स्वरूप उनकी शिक्षा-प्रणालीका उद्देश्य बिखरे विषयोंपर टुकड़ोंमें सूचनाएँ देना नहीं था, अपितु उनका उद्देश्य ऐसे मनका निर्माण करना था जो स्वयं सारी सूचनाओंको एकत्र, व्यवस्थित और विश्लेषित करे। इसी प्रकार ज्ञानकी खोजमें उनका उद्देश्य किसी एक विषयपर केवल बाह्य और अधूरी जानकारी करना नहीं था। साथ ही वे उस स्रोतकी खोज करते थे, जो सभी ज्ञान और विज्ञानका उत्स है। हिंदू ऋषि यह भी मानते थे कि सभी मनुष्य भाई-भाई हैं और संसार तथा प्रकृति उसके मित्रवत् हैं, अतः इसी आधारपर उन्होंने शिक्षा-पद्धतिकी रचना की। वे आनन्द, सच्चरित्रता और सेवाकी शिक्षा देते थे तथा स्वयंके साथ, पड़ोसियों और साथियोंके साथ तथा वातावरणके साथ सामञ्जस्य करना सिखाते थे।

प्राचीन शैक्षणिक चिन्तनमें एक विशेष प्रकारके वातावरणकी आवश्यकतापर बल दिया जाता था, जिसमें कोई सार्थक शिक्षा सम्भव हो सकती है। प्रथमतः गुरु और शिष्यके बीच पूर्ण सौहार्द होना चाहिये तथा गम्भीर चिन्तन, सत्यके लिये जिज्ञासा, स्नेह, सेवा और श्रद्धाका वातावरण होना आवश्यक है। हिंदू ऋषि यह मानते थे कि इस प्रकारके वातावरणके अभावमें उच्च शिक्षा सम्भव नहीं है।

सच्ची जिज्ञासा और श्रद्धाके भाव आधुनिक शिक्षा-संस्थाओंमें विनष्ट ही दिखायी देते हैं। निस्संदेह थोड़े मेधावी विद्यार्थी अभी भी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, किंतु उनकी उपलब्धि मात्र बौद्धिक रहती है। उनका आन्तरिक मस्तिष्क कोरा ही रहता है। वैज्ञानिक उपलब्धियोंके लिये ख्यात पाश्चात्त्य-जगत्में शिक्षाका वातावरण पतनोन्मुख है। अमेरिकामें मस्तिष्कका स्थान यन्त्र ले रहे हैं और शिक्षकोंकी जगह कम्प्यूटर। भारतमें भी यही अनुसरण हो रहा है। श्रेष्ठ मस्तिष्क शिक्षाकी ओर न लगकर बड़ी कम्पनियों और सरकारद्वारा चलाये गये शोध-कार्योंमें लग रहे हैं। इन सबमें उपयोगितावाद तथा व्यावहारिकता तो है, किंतु मस्तिष्कके आन्तरिक गुण सामने नहीं आते।

श्रद्धाका अभाव भी शिक्षा-संस्थाओंमें ताण्डव मचा रहा है। इन संस्थाओंको 'शिक्षाका केन्द्र' कहना इस शब्दके साथ खिलवाड़ करना है। ये सभी प्रकारकी ज्यादतियोंके और आपराधिक कार्योंके अखाड़ोंमें बदल रहे हैं। पश्चिममें अनेक शिक्षा-संस्थाओंके शिक्षक पुलिसके पहरेमें पढ़ा रहे हैं। शिक्षा-संस्थाओंमें तोड़-फोड़के चलते प्रतिवर्ष देशके लाखों रुपये बरबाद होते हैं। उच्च शिक्षा-केन्द्रोंमें भी स्थिति अच्छी नहीं है। विद्यार्थी और प्राध्यापकोंमें भ्रष्टाचार व्याप्त है। कुल मिलाकर प्रत्येक शिक्षा-संस्थाकी स्थिति नाजुक ही है।

प्राचीन शिक्षा-पद्धतिकी कुछ बातें अभी भी अनुकरणीय हैं। राजकुमार भी साधारण लोगोंके साथ रहते थे। श्रीकृष्ण और सुदामा, द्रुपद और द्रोणाचार्यकी कथा हम सब जानते हैं। यह भी सर्वविदित है कि किस तरह तक्षशिलाके अध्यापक सम्पूर्ण भारतसे विद्यार्थी जुटाते थे। ये विद्यार्थी विभिन्न जीवन-स्तरोंसे आते और सभी साथ पढ़ते थे। अब धनके आधारपर एक नये प्रकारका श्रेणीवाद सामने आ रहा है। अब विद्यालयके स्वरूपके आधारपर विद्यार्थीके पिताकी आयका अनुमान लगाया जा सकता है। निरन्तर महँगी बढ़ती जा रही है। शिक्षासे आम जनता और शिक्षाके बीच दूरी बढ़ती जा रही है। जबतक समानताके आधारपर सभीको एक-जैसी शिक्षा नहीं मिलेगी, तबतक हम नये समाजकी रचना नहीं कर सकेंगे। शिक्षामें परिवर्तनका विचार करनेसे पहले यह निश्चय करना आवश्यक है कि किस प्रकारका भारतीय समाज हम बनाना चाहते हैं। जिस प्रकार ब्रिटेनकी मूल चेतना राजनीतिक है और जापानकी आर्थिक, उसी प्रकार भारतकी मूलचेतना आध्यात्मिक है। इसलिये आध्यात्मिक मूल्योंको अस्वीकारनेवाले समाज-दर्शनके आधारपर इस देशका पुनर्निर्माण कदापि नहीं किया जा सकता। भारतकी आदर्श संस्कृतिका यही आधार है।

शास्त्रोंका स्थिर सिद्धान्त

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

(स्कन्दपु०, प्रभासखं० ३१७।१४)

सभी शास्त्रोंको देखकर और बार-बार विचार कर एकमात्र यही सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि सदा भगवान् नारायणका ध्यान करना चाहिये।



प्राच्य शिक्षा

वेद और उनकी शिक्षा

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

(१) शास्त्र-वाक्योंसे श्रवण

सामान्य दृष्टिसे वेद अन्य ग्रन्थोंकी भाँति ही दिखलायी देते हैं; क्योंकि इनमें कुछ समताएँ हैं। अन्य ग्रन्थ जैसे अपने विषयके प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसमूह होते हैं, वैसे वेद भी अपने विषयके प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसमूह दीखते हैं—यह एक समता हुई। दूसरी समता यह है कि अन्य ग्रन्थ जैसे कागजपर छापे या लिखे जाते हैं, वैसे वेद भी प्राकृतिक कागजपर छापे या लिखे जाते हैं, किंतु वास्तविकता यह है कि अन्य ग्रन्थोंके वाक्य जैसे अनित्य होते हैं, वैसे वेदके वाक्य अनित्य नहीं हैं। इस दृष्टिसे वेद और अन्य ग्रन्थोंमें वही अन्तर है, जो अन्य मनुष्योंसे श्रीराम-श्रीकृष्णमें होता है। जब ब्रह्म श्रीराम-श्रीकृष्णके रूपमें अवतार ग्रहण करता है, तब साधारण जन उन्हें मनुष्य ही देखते हैं। वे समझते हैं कि जैसे प्रत्येक मनुष्य हाड़-मांस-चर्मका बना होता है, वैसे ही वे भी हैं, किंतु वास्तविकता यह है कि श्रीराम-श्रीकृष्णके शरीरमें हाड़-मांस-चाम आदि कोई प्राकृतिक पदार्थ नहीं होता[1]। इनका शरीर साक्षात् सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप होता है। अतः अधिकारी लोग इन्हें ब्रह्मस्वरूप ही देखते हैं[2]। जैसे श्रीराम-श्रीकृष्ण मनुष्य दीखते हुए भी मनुष्योंसे भिन्न अनश्वर ब्रह्मस्वरूप होते हैं, वैसे ही वेदोंके वाक्य भी अन्य ग्रन्थोंके वाक्योंकी तरह दीखते हुए भी उनसे भिन्न अनश्वर ब्रह्मरूप होते हैं। जैसे श्रीराम-श्रीकृष्णको 'ब्रह्म', 'स्वयम्भू' कहा गया है वैसे वेदको भी ब्रह्म, स्वयम्भू कहा गया है। इस विषयमें कुछ प्रमाण ये हैं—

(१) अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

(मनु० १।२३)

अर्थात् 'ब्रह्माने यज्ञको सम्पन्न करनेके लिये अग्नि, वायु और सूर्यसे ऋग्, यजुः और साम नामक तीन वेदोंको प्रकट किया। इस श्लोकमें मनुने वेदोंको 'सनातन ब्रह्म' कहा है।'

(२) कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्॥

(गीता ३।१५)

अर्थात् 'अर्जुन! तुम क्रियारूप यज्ञ आदि कर्मको ब्रह्म (वेदों) से उत्पन्न हुआ और उस ब्रह्म (वेदों) को ईश्वरसे आविर्भूत जानो।'

(३) स्वयं वेदने अपनेको 'ब्रह्म' और 'स्वयम्भू' कहा है—'**ब्रह्म स्वयम्भूः।**' (तै० आ० २।९)

(४) इसी तथ्यको व्यासदेवने दोहराया है—

१- (क) न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मेदोमज्जास्थिसम्भवा। (वराहपुराण) (ख) स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्। (यजु० ४०।८)

इस मन्त्रमें ब्रह्मको 'अकाय' शब्दके द्वारा लिङ्ग-शरीरसे रहित, 'अव्रण' और 'अस्नाविर' शब्दोंके द्वारा स्थूल-शरीरसे रहित एवं 'शुद्ध' शब्दके द्वारा कारण-शरीरसे रहित बतलाया गया है।

२- कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा। (प्रबोधसुधाकर)

(क) वेदो नारायणः साक्षात् । (बृ॰ नारदपु॰ ४ । १७)

(ख) वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम ।

(२) मनन

इस तरह शास्त्रोंसे सुन लिया गया कि 'वेद नित्य-नूतन ब्रह्मरूप हैं ।' अब इसका युक्तियोंसे मनन अपेक्षित है ।

(३) वेद ब्रह्मरूप कैसे ?

ब्रह्म सत्, चित्, आनन्दरूप होता है—'**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' (बृहदा॰ ३ । ९ । २९) । 'सत्' का अर्थ होता है—त्रिकालाबाध्य अस्तित्व । अर्थात् ब्रह्म सदा वर्तमान रहता है, इसका कभी विनाश नहीं होता । 'आनन्द' का अर्थ होता है— 'वह आत्यन्तिक सुख, जो प्राकृतिक सुख-दुःखसे ऊपर उठा हुआ होता है ।' 'चित्' का अर्थ होता है—'ज्ञान' । इस तरह ब्रह्म जैसे नित्य सत्तास्वरूप, नित्य आनन्दस्वरूप है, वैसे ही नित्य ज्ञानरूप भी है । ज्ञानमें शब्दका अनुवेध अवश्य रहता है—

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते । (वाक्यपदीय)

नित्य ज्ञानके लिये अनुवेध भी तो नित्य शब्दका ही होना चाहिये ? इस तरह नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्धवाले वेद ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाते हैं ।

महाप्रलयके बाद ईश्वरकी इच्छा जब सृष्टि रचनेकी होती है, तब यह अपनी बहिरङ्गा शक्ति प्रकृतिपर एक दृष्टि डाल देता है । इतनेसे प्रकृतिमें गति आ जाती है और वह चौबीस तत्त्वोंके रूपमें परिणत होने लगती है । इस परिणाममें ईश्वरका उद्देश्य यह होता है कि अपञ्चीकृत तत्त्वोंसे एक समष्टि शरीर बन जाय, जिससे उसमें समष्टि आत्मा एवं विश्वका सबसे प्रथम प्राणी हिरण्यगर्भ आ जाय—'**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**' (ऋक्॰ १० । १० । १)।

जब तपस्याके द्वारा ब्रह्मामें योग्यता आ जाती है, तब ईश्वर उन्हें वेद प्रदान करता है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
श्वेताश्व॰ ६ । १०८)

इस तथ्यका उपबृंहण करते हुए मत्स्यपुराणमें कहा गया है—

तपश्चचार प्रथमममराणां पितामहः ।
आविर्भूतास्ततो वेदाः साङ्गोपाङ्गपदक्रमाः ॥
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥
(३ । २,४)

अर्थात् 'ब्रह्माने सबसे पहले तप किया । तब ईश्वरके द्वारा भेजे गये वेदोंका उनमें आविर्भाव हो पाया । (पुराणोंको पहले स्मरण किया) बादमें ब्रह्माके चारों मुखोंसे वेद निकले ।' उपर्युक्त श्रुतियों एवं स्मृतियोंके वचनसे निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) ईश्वरने भूत-सृष्टि कर सबसे पहले हिरण्यगर्भको बनाया । उस समय भौतिक सृष्टि नहीं हुई थी । (२) ईश्वरने हिरण्यगर्भसे पहले तपस्या करायी, इसके बाद योग्यता आनेपर उनके पास वेदोंको भेजा । (३) वे वेद पहले ब्रह्माके हृदयमें आविर्भूत हो गये । हृदयने उनका प्रतिफलन कर मुखोंसे उच्चरित करा दिया । इस तरह ईश्वरने ब्रह्माको वेद प्रदान किये ।

वेदोंसे सृष्टि

जबतक ब्रह्माके पास वेद नहीं पहुँचे थे, तबतक वे किंकर्तव्यविमूढ़ थे । वेदोंकी प्राप्तिके पश्चात् इन्हींकी सहायतासे वे भौतिक सृष्टि-रचनामें समर्थ हुए । मनुने लिखा है—

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।
(मनु॰ १ । २१)

तैत्तिरीय आरण्यकने स्पष्ट बतलाया है कि वेदोंने ही इस सम्पूर्ण विश्वका निर्माण किया है—'**सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ।**' यहाँ प्रकरणके अनुसार 'ब्रह्म' शब्दका वेद अर्थ है ।

ब्रह्माद्वारा सम्प्रदायका प्रवर्तन

सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्मा अकेले थे । इन्होंने ही वेदोंको पाकर सृष्टिके क्रमको आगे बढ़ाया । सनक, सनन्दन, वसिष्ठ आदि इनके पुत्र हुए । ब्रह्माने ईश्वरसे प्राप्त वेदोंको इन्हें पढ़ाया । वसिष्ठ कुलपति हुए । उन्होंने शक्ति आदि बहुत-से शिष्योंको वेद पढ़ाया तथा उनके शिष्योंने अपने शिष्योंको पढ़ाया । इस तरह वेदोंके पठन-पाठनकी परम्परा चल पड़ी । जो आज भी चलती आ रही है—

वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकमधुनाध्ययनवत् ॥
(मीमांसा-न्यायप्रकाश)

उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महाप्रलयके बाद ईश्वरकी सत्ताकी भाँति उनके स्वरूपभूत

वेदोंकी भी सत्ता बनी रहती है । इस तरह गुरु-परम्परासे वेद हमलोगोंको प्राप्त हुए हैं । वेदोंके शब्द नित्य हैं, अन्य ग्रन्थोंकी तरह अनित्य नहीं ।

वेदोंकी रक्षाके अनूठे उपाय

वेदोंका एक-एक अक्षर, एक-एक मात्रा अपरिवर्तनीय है । सृष्टिके प्रारम्भमें इनका जो रूप था, वही सब आज भी है । आज भी वही उच्चारण और वही क्रम है । ऐसा इसलिये हुआ कि इनके संरक्षणके लिये आठ उपाय किये गये हैं, जिन्हें 'विकृति' कहते हैं । उनके नाम हैं—(१) जटा, (२) माला, (३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ और (८) घन—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः ॥

विश्वके किसी दूसरी पुस्तकमें ये आठों उपाय नहीं मिलते । गुरु-परम्परासे प्राप्त इन आठों उपायोंका फल निकला कि सृष्टिके प्रारम्भमें वेदके जैसे उच्चारण थे, जैसे पद-क्रम थे, वे आज भी वैसे ही सुने जा सकते हैं । हजार वर्षोंकी गुलामीने इस गुरु-परम्पराको हानि पहुँचायी है । फलतः वेदोंकी अधिकांश शाखाएँ नष्ट हो गयीं, किंतु जो बची हैं उन्हें इन आठ विकृतियोंने सुरक्षित रखा है ।

वेद अनन्त हैं

जिज्ञासा होती है कि वेदोंकी कितनी शाखाएँ होती हैं और उनमें आज कितनी बची हैं? इस प्रश्नका उत्तर वेद स्वयं देते हैं । वे बतलाते हैं कि हमारी कोई इयत्ता नहीं है—'**अनन्ता वै वेदाः ।**' वेदके अनन्त होनेके कारण जिस कल्पमें ब्रह्माकी जितनी क्षमता होती है, उस कल्पमें वेदकी उतनी ही शाखाएँ उनके हृदयसे प्रतिफलित होकर उनके मुखोंसे उच्चरित हो पाती हैं । यही कारण है कि वेदोंकी शाखाओंकी संख्यामें भिन्नता पायी जाती है । मुक्तिकोपनिषद्में ११८०, स्कन्दपुराणमें ११३७ और महाभाष्यमें ११३१ शाखाएँ बतलायी गयी हैं । वेद चार भागोंमें विभक्त हैं—(१) ऋक्, (२) यजुः, (३) साम और (४) अथर्व ।

इनमें ऋक्-संहिताकी २१ शाखाएँ होती हैं, जिनमें आज 'वाष्कल' और 'शाकल' दो शाखाएँ उपलब्ध हैं । यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ होती हैं । इसके दो भेद होते हैं—(१) शुक्ल यजुर्वेद और (२) कृष्ण यजुर्वेद । इनमें शुक्ल यजुःसंहिताकी १५ संहिताएँ हैं । इनमें दो संहिताएँ प्राप्त हैं—(१) वाजसनेयी और (२) काण्व । कृष्ण यजुर्वेदकी ८६ संहिताएँ होती हैं । इनमें चार मिलती हैं—(१) तैत्तिरीय-संहिता, (२) मैत्रायणी-संहिता, (३) काठक-संहिता और (४) कठ-कपिष्ठल । सामवेदकी १००० शाखाएँ होती हैं । इनमें दो मिलती हैं—(१) कौथुम और (२) जैमिनी । राणायनीयका भी कुछ भाग मिला है । अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ होती हैं । आज दो ही मिलती हैं—(१) शौनक-शाखा तथा (२) पैप्पलाद-शाखा । वेदके मन्त्र-भागकी जितनी संहिताएँ होती हैं, उतने ही ब्राह्मण-भाग भी होते हैं । आरण्यक और उपनिषदें भी उतनी ही होती हैं । इनमें अधिकांशका लोप हो गया है ।

ऋषि लुप्त शाखाओंको प्राप्त कर लेते थे

वेदकी शाखाएँ पहले भी लुप्त कर दी जाती थीं । शिवपुराणसे पता चलता है कि दुर्गमासुरने ब्रह्मासे वरदान पाकर समस्त वेदोंको लुप्त कर दिया था । पीछे दुर्गाजीकी कृपासे वे विश्वको प्राप्त हुए । कभी-कभी ऋषिलोग तपस्याद्वारा उन लुप्त वेदोंका दर्शन करते थे ।

इस तरह शास्त्र-वचनोंके श्रवण और उपपत्तियोंके द्वारा मननसे स्पष्ट हो जाता है कि वेद अन्य ग्रन्थोंकी तरह किसी जीवके द्वारा निर्मित नहीं हैं । जैसे ईश्वर सनातन, स्वयम्भू और अपौरुषेय हैं, वैसे वेद भी हैं । जैसे ईश्वर प्रलयमें भी स्थिर रहते हैं, वैसे वेद भी—'**नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि ।**' (मेधातिथि) इन्हीं वेदोंके आधारपर सृष्टिका निर्माण होता है ।

वेदोंकी शिक्षा

वेदोंने मानवोंके विकासके लिये जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें भरपूर शिक्षाएँ दी हैं । प्रत्येक शिक्षा सत्य है, अतः लाभप्रद है; क्योंकि वेदोंका अक्षर-अक्षर सत्य होता है । जब ईश्वर सत्य है, तब उसके स्वरूप वेद असत्य कैसे हो सकते हैं? जबतक वेदकी इस सत्यतापर पूरी आस्था

न जमेगी, तबतक वेदोंकी शिक्षाको जीवनमें उतार पाना सम्भव नहीं है। अतः यहाँ वेदोंकी केवल दो शिक्षाओंका उल्लेख किया जा रहा है, जिससे 'स्थाली-पुलाकन्याय' से अन्य शिक्षाओंकी सत्यतामें भी आस्था हो सके।

वनस्पतिमें चेतना

वेदोंने हमें सिखलाया हैं कि अन्य प्राणियोंकी तरह हम वनस्पतियोंपर भी दया दिखलायें; क्योंकि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियोंमें जैसी चेतना होती है, वैसी वनस्पतियोंमें भी होती है। इन्हें जैसा सुख-दुःख होता है, वैसे वनस्पतियोंको भी होता है। छान्दोग्यने बतलाया है कि हरा वृक्ष जीवात्मासे ओतप्रोत रहता है, अतः वह खूब जलपान करता है और जड़द्वारा पृथ्वीसे रसोंको चूसता रहता है—

स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति।
(छा० उ० ६।११।१)

'पेपीयमानोऽत्यर्थं पिबन्नुदकं भौमांश्च रसान् मूलैर्गृह्णन् मोदमानस्तिष्ठति।'
(आचार्य शंकर)

श्रुतिने चेतनाके इस सिद्धान्तको बुद्धिगम्य करनेके लिये कुछ प्रत्यक्ष घटनाएँ प्रस्तुत की हैं—(१) हरे वृक्षमें ऊपर, नीचे, मध्यमें, किसी भी जगह आघात करनेसे वह रसका स्राव करने लगता है। यह बात सूखे काठमें नहीं दीखती। इससे प्रतीत होता है कि हरा वृक्ष सजीव है। (२) जैसे प्राणियोंका कोई अङ्ग जब रोग या चोटसे अत्यन्त आहत हो जाता है, तब उसमें व्याप्त जीवांश उससे उपसंहृत हो जाता है, जिससे वह सूख जाता है। वनस्पतियोंमें भी ठीक यही बात पायी जाती है। हरे-भरे वृक्षकी कोई शाखा रोग या चोटसे जब अत्यन्त आहत हो जाती है, तब उसमें व्याप्त जीव उसे छोड़ देता है और वह सूख जाती है। इसी तरह यदि दूसरी शाखाको छोड़ता है, तो वह सूख जाती है और तीसरीको छोड़ता है तो वह भी सूख जाती है। इसी तरह यदि जीव सारे वृक्षको छोड़ देता है तो सारा वृक्ष ही सूख जाता है—

अस्य यदेकाँ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति। द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति, सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति॥
(छा० उ० ६।११।२)

प्राणयुक्त जीवके द्वारा ही खाया-पीया अन्न-जल रसरूपमें परिणत होता है। श्रुतिने वृक्षके इस रसस्राव और शोषण-रूप लिंगसे उसमें चेतनता, सजीवता सिद्ध की है—

वृक्षस्य रसस्रवणशोषणादिलिङ्गाज्जीववत्त्वं दृष्टान्तश्रुतेश्च चेतनावन्तः स्थावरा इति। (आचार्य शंकर)

हमारी तरह वनस्पति भी प्यार चाहते हैं, प्यार पाकर वे बढ़ते हैं आदि बातोंसे वेदानुगत शास्त्र भरे पड़े हैं। फूल-पत्ती तोड़ते समय उनसे प्रार्थना करनी चाहिये, यह भी सीख है। व्यर्थ तोड़नेसे प्रायश्चित्तका भी विधान है, किंतु हजारों वर्षोंसे विश्वकी बहुत बड़ी जनसंख्या वेदोंके इस सिद्धान्तके विरुद्ध थी। इस समय वेदोंका वह विवादास्पद सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया है।

(४) पृथ्वीकी आयु

वैदिक शिक्षाके अनुसार पृथ्वीकी आयु ब्रह्माकी आयुसे कम नहीं है। पृथ्वीकी सृष्टिके बाद ही ब्रह्माका आविर्भाव होता है, अतः पृथ्वीकी आयु ब्रह्माकी आयुसे न्यून नहीं, अपितु अधिक है। अबतक ब्रह्माकी आयु ५,५५,२१,९७,२९,४९,०८९ वर्षकी हुई है।

ब्रह्माका एक दिन ४ अरब ३२ करोड़ सौ वर्षोंका होता है और इतने ही वर्षोंकी उनकी रात्रि होती है। ब्रह्माके दिनको कल्प कहते हैं, जो एक हजार चतुर्युगियोंका होता है। ब्रह्माके दिनमें पूर्वसिद्ध पृथ्वीकी ऊपरी सतहका चारों ओरसे उत्तरोत्तर विकास होने लगता है। भास्कराचार्यका कहना है कि यह विकास एक योजनतक होता है—

वृद्धिर्विधेरह्नि भुवः समन्तात् स्याद् योजनं भूर्भुवर्भूतपूर्वैः॥
(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय ६२)

इस तरह ब्रह्माके दिनमें सृष्टिके विकासकी परम्परा चलती रहती है, किंतु ब्रह्माकी रात्रि आनेपर भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोकका नाश हो जाता है। 'भूलोक' के नाशसे यह नहीं समझना चाहिये कि सम्पूर्ण पृथ्वीका विनाश हो जाता है। विनाश होता है पृथ्वीकी केवल ऊपरी सतहका, जो एक योजन बढ़ी थी। भास्कराचार्यने स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि ब्रह्माकी रात्रिमें अर्थात् अवान्तर

प्रलयमें, एक योजन जो पृथ्वी बढ़ी थी, उसीका नाश होता है, सम्पूर्ण पृथ्वीका नहीं—'**ब्राह्मे लये योजनमात्रवृद्धेर्नाशो भुवः ।**' (सि॰ शि॰ ६२) । सम्पूर्ण पृथ्वीका विनाश तो महाप्रलयमें होता है, जब कि ब्रह्माकी पूर्ण आयु समाप्त हो जाती है—**(भुवः) प्राकृतिकेऽखिलायाः** । (सि॰ शि॰ ६२) इसलिये सर्वज्ञ शास्त्रने पृथ्वीकी आयुको दो प्रकारकी बतायी है—पहली तो प्राकृतिक सृष्टिमें उत्पन्न पृथ्वीकी और दूसरी वैकृत सृष्टिमें उत्पन्न इसकी ऊपरी सतहकी ।

प्राकृतिक सृष्टिमें उत्पन्न पृथ्वीकी आयुका उल्लेख किया जा चुका है । अब ब्रह्माद्वारा निर्मित पृथ्वीकी ऊपरी सतहकी आयुकी जानकारी अपेक्षित है । ब्रह्मा अपने दिनके आरम्भ होते ही इसका विकास करने लगते हैं । अतः इस कल्पका वर्तमान सृष्टि-संवत्सर है—१,९७,२९,४९,०८९ (अर्थात् १ अरब ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार नवासी) । स्मरण रखना चाहिये कि यह पृथ्वीकी ऊपरी सतहकी आयु हुई । पृथ्वीके सम्बन्धमें यह है वेदोंकी दूसरी शिक्षा ।

इस शिक्षाको भी विभिन्न मत-मतान्तरोंमें पड़कर विश्वकी अधिकांश जनताने अमान्य कर दिया था । भारतवासियोंको छोड़कर विश्वके प्रायः सभी लोग पृथ्वीकी आयु सात हजार वर्षसे अधिक नहीं मानते थे । समस्त पाश्चात्त्य विद्वान् भी इसके अपवाद न हो सके थे । तथ्यकी खोजमें विज्ञान आगे आया । अस्थि-पंजरोंके अध्ययनने सात हजार वर्षकी संख्याको आगे बढ़ाया । ग्रह-नक्षत्रोंकी उष्णताके अध्ययनने इसे चालीस लाखतक पहुँचाया । भूगर्भ-विज्ञानने इसे बढ़ाकर दस करोड़ वर्ष कर दिया । अभी वेदोंकी १ अरब ९७ करोड़वाली संख्या इस संख्यासे बहुत दूर थी । विज्ञानने आगे कदम बढ़ाया । सन् १९०९में सोलास आदि वैज्ञानिकोंने समुद्रके खारापनके अध्ययनसे दस करोड़ वर्षवाली संख्याको पीछे छोड़कर पृथ्वीकी आयु १ अरब ५० करोड़ वर्ष ठहरायी । पर्तदार चट्टानोंसे जो रूपान्तरित चट्टानें बनी हैं, इनके अध्ययनने भी पृथ्वीकी यही आयु ठहराया है । मारो-गोरोके पिच ब्लेड खानमें जो शीशे प्राप्त हुए हैं, उनसे इस संख्याको थोड़ा आगे बढ़ाकर १ अरब ५६ करोड़ वर्षतक किया गया ।

यह तो पृथ्वीकी ऊपरी सतहकी आयुकी बात हुई । अब देखना है कि विज्ञान इससे पूर्व पृथ्वीकी आयुके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश दे पाता है या नहीं । बीसवीं शताब्दीमें रेडियम, यूरेनियम आदि कुछ ऐसे पदार्थोंका पता चला है, जो स्वाभाविक रूपसे ऊर्जाको मुक्त करते हुए अन्तमें शीशाके रूपमें बच जाते हैं । इन किरणसक्रिय पदार्थोंकी विशेषता यह है कि इनका विघटन सुनिश्चित गतिसे होता है । ऊँचे-से-ऊँचे तापक्रम या दबावमें भी इनकी इस सुनिश्चित गतिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । अतः इनकी सहायतासे हम समयकी सीमा विश्वसनीय रूपसे परख सकते हैं । रेडियमको आधा विघटित होनेमें १६०० वर्ष लग जाते हैं । जबकि यूरेनियमके अपने आधे भागके विघटनमें ४ अरब ५६ करोड़ वर्ष लग जाते हैं ।

अध्ययनसे पता चला है कि पृथ्वीके पपड़ेकी चट्टानोंमें जो यूरेनियम मिलता है, वह इनमें लगभग १ अरब ५० करोड़ वर्ष रहा होगा । यूरेनियम तथा अन्य किरणसक्रिय तत्त्वोंकी परीक्षामें भी इसी प्रकारका निष्कर्ष निकलता है । कनाडाके मैरीटोबा नामक प्रान्तमें एक खनिज मिलता है, जो प्राचीनतम चट्टान है, उसकी आयु किरणसक्रिय विघटनके अध्ययनसे १० अरब ९८ करोड़ ५० लाख वर्ष मानी गयी है ।

वैज्ञानिकोंकी व्याख्या सही भी हो सकती है और गलत भी; क्योंकि इनका आधार वैज्ञानिक परीक्षण है । पर आप्त-वाक्य गलत नहीं हो सकता । किसी बच्चेके रूप-रंगसे उसके पिताका जो पता लगाया जाता है, वह गलत भी हो सकता है और सही भी, किंतु बच्चेकी यथार्थवत्ताका माताका शब्द ही वास्तविक प्रमापक हो सकता है । विज्ञानको अपनी राय बार-बार बदलनी पड़ी है । उसकी सबसे बड़ी अच्छाई है कि वह सचाईकी खोज करता है, किसी बातपर हठ नहीं करता ।

इस तरह यहाँ वेदोंकी दो ऐसी शिक्षाएँ दृष्टान्तरूपमें प्रस्तुत की गयी हैं, जिन्हें प्रायः ८० प्रतिशत जनताने सदियोंसे अस्वीकार कर दिया था, किंतु आज वे सर्वमान्य हो गयी हैं । वेदकी प्रत्येक शिक्षाकी सचाईपर इनसे बल मिलेगा ।

वैदिक साहित्यका सामान्य परिचय

मन्त्र और ब्राह्मणके भेदसे वेदके दो विभाग हैं। भगवान् कृष्णद्वैपायनने इन्हें चार भागोंमें विभक्त किया, जो आज ऋक्, यजुः, साम और अथर्वके रूपमें उपलब्ध हैं। प्रत्येक संहिताके साथ उसके विधि-निर्देशक ब्राह्मणभाग और ज्ञानात्मक आरण्यक एवं उपनिषदें भी रहती हैं। वेदको त्रयी भी कहा जाता है। छन्दोबद्ध ऋक् है, गीतात्मक साम है, गद्यबद्ध यजुः है। ब्राह्मणग्रन्थ कर्मकाण्डके धारक हैं तथा आरण्यक और उपनिषद् ज्ञानकाण्डके वाहक हैं, किंतु उपनिषद्की भावनामें सबलताके कारण ज्ञानकी ही प्रधानता हो गयी और कर्म गौण हो गया। शौनकके मतमें ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी ८६, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी १०० शाखाएँ कही गयी हैं। प्रत्येक शाखाका संहिता-भाग, ब्राह्मण एवं कल्पसूत्र होना उचित है, किंतु आज इसका व्यतिक्रम मिलता है। किसी शाखाका संहिताभाग तो किसी शाखाका ब्राह्मण ही प्राप्त हैं। ऋग्वेदकी आश्वलायन-शाखा महाराष्ट्रमें चलती है, किंतु उसकी संहिता शाकल शाखाकी है, ब्राह्मण ऐतरेय शाखाका है, मात्र कल्पसूत्र आश्वलायन शाखाका मिलता है। ऋक्-संहिताकी शाकल, शाङ्खायन और वाष्कल—तीन शाखाएँ मिलती हैं। कौषीतकि और शाङ्खायन एक ही शाखा नहीं है। प्राचीन श्लोकके अनुसार आश्वलायन शाकलके ही शिष्य थे। इस संहितामें बालखिल्यके साथ १०२८ सूक्तोंमें १०५५२ ऋचाएँ हैं। शाकलसंहितामें १० मण्डलोंमें इसका विभाग है, किंतु वाष्कल-संहितामें आठ अष्टकमें ही विभाग है।

ऋक्-संहिताके प्रथम और दशम मण्डलमें विभिन्न-वंशीय ऋषियोंके मन्त्र संगृहीत हैं, दोनों मण्डलोंकी सूक्त-संख्या १९१ है। द्वितीयसे सप्तमपर्यन्त प्रत्येक मण्डलमें एक वंशके ऋषिका मन्त्र है। इसलिये ये छः आर्षमण्डल कहे जाते हैं। आर्षमण्डलके ऋषि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ हैं। ऋग्वेदके अनुष्ठान एवं साधनाकी दृष्टिसे अग्नि, इन्द्र और सोम—तीन प्रधान देवता हैं। सोमयागमें १६ ऋत्विक् होते हैं। मन्त्रद्रष्टा प्राचीन ऋषिवंशियोंके प्रवर्तकके रूपमें अनेक ऋषियोंके नाम मिलते हैं—भृगु, विश्वामित्र, गौतम, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, कण्व, कश्यप और अङ्गिरा। संहिताको अधिकृतरूपमें रखनेके लिये अनेक पाठोंका प्रवर्तन किया गया है। उनमें संहिता-पाठ मूल है। संहितामें वर्णस्वरका विचार और व्याकरणकी संधिका नियम रहता है—यह संहितापाठ है। संधिको अलग कर जो पाठ होता है वह पदपाठ है। शाकल-संहिताके पदपाठके रचयिता शाकल्य हैं। संहितापाठ और पदपाठको मिलाकर क्रमपाठ होता है। क्रमपाठसे ८ पाठकी सृष्टि होती है—क्रम, जटा, माला, शिक्षा, रेखा, ध्वज, दण्ड और धन।

ऋग्वेद

ऋक्संहितामें देवताओंकी स्तुतियाँ अधिक हैं, अतः इसके ब्राह्मणमें होतृकर्मकी विज्ञप्ति और व्याख्या है। इसके दो ब्राह्मण उपलब्ध हैं—ऐतरेय और शाङ्खायन। ऐतरेय ब्राह्मणका संकलन महिदास ऐतरेयने किया है। इसमें ४० अध्याय हैं। पाँच अध्यायोंको लेकर एक-एक पञ्चिका है। प्रथम सोलह अध्यायोंमें अग्निष्टोमयागका विवरण मिलता है। शाङ्खायन ब्राह्मणके सप्तम अध्यायसे शेष अध्यायोंमें सोमयागका विवरण है। इस ब्राह्मणमें श्रौत यज्ञ एक विशिष्ट शृङ्खलामें संयोजित है। ये यज्ञ आदित्यकी गतिका अनुसरण करते हैं। अहोरात्र, पक्षद्वय, मास या ऋतुपर्याय और संवत्सरको काल मानकर इनका सम्पादन होता है। आधुनिक मनीषियोंने ऐतरेयको प्राचीनतम माना है।

सामवेद

साम-संहिताकी ३ शाखाएँ मिलती हैं—राणायनीय, कौथुम और जैमिनीय या तलवकार। कौथुम-संहिताके दो भाग हैं—आर्चिक और गान। आर्चिकके प्रायः सभी मन्त्र शाकलसंहितासे लिये गये हैं। केवल ९९ मन्त्र शाकल-संहितामें नहीं मिलते। आर्चिकके पुनः दो भाग हैं—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिकमें मन्त्र संगृहीत

हैं और उत्तरार्चिकमें यागविधिके अनुसार समन्वित हैं। पूर्वार्चिकमें मन्त्र स्वतन्त्र हैं, उत्तरार्चिकमें सूक्तके आकारमें हैं। उत्तरार्चिककी स्वरलिपि—जो भक्ति शब्दसे कही जाती हैं, प्रस्ताव—जिसका गान करनेवाला प्रस्तोता, उद्गीथ—जिसका गायक उद्गाता, प्रतिहर—जिसका गायक प्रतिहर्ता कहलाता है। अन्तमें ॐकारके उच्चारणका गान होता है, जिसे हिङ्कार कहते हैं। ॐकार या हिङ्कारको लेकर गान सात भागोंमें विभक्त है। वेदमें तीन स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। सामसंहिताके आर्चिक ग्रन्थपाठके समय ये तीनों स्वर लगाये जाते हैं। नारदीय शिक्षाके अनुसार ये स्वर पञ्चम, मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद और धैवत शब्दके समान हैं।

सामवेदके ९ ब्राह्मणोंमें जैमिनीय शाखाका जैमिनीय या तलवकार ब्राह्मण कौथुमीय और राणायनीय शाखाका ताण्ड्य या पञ्चविंश या प्रौढ़ ब्राह्मण तथा मन्त्र या छान्दोग्य ब्राह्मण माना गया है। अन्य ब्राह्मण अनुब्राह्मण माने गये हैं। जैमिनीय ब्राह्मणको प्राचीन ब्राह्मणके रूपमें माना गाया है। सायणके भाष्यमें शाङ्खायन ब्राह्मणके अनेक उद्धरण मिलते हैं। ये जैमिनीय ब्राह्मणसे मेल खाते हैं। सम्भवतः यह जैमिनीय ब्राह्मणका प्राचीन ब्राह्मण था, जो इस समय मिलता है। जैमिनीय ब्राह्मण ८ अध्यायोंमें विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायमें कर्मकाण्ड है। चौथेसे सात अध्यायपर्यन्त उपनिषद् ब्राह्मण है। यह आरण्यक और उपनिषद्का सम्मिश्रण है। प्रसिद्ध तलवकार या केनोपनिषद् सप्तम अध्यायके एकादश खण्डसे आरम्भ होता है और २१वें खण्डमें समाप्त होता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण

इसके संकलयिता ताण्ड्य ऋषि हैं। इस ब्राह्मणमें २५ अध्याय हैं, इसीलिये इसको पञ्चविंश ब्राह्मण भी कहा जाता है। ताण्ड्य ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मणका विषय एक ही है, किंतु जैमिनीय ब्राह्मणका आख्यान-भाग ताण्ड्य ब्राह्मणसे समृद्ध है और ऐतिहासिक मूल्य धारण करता है। उसमें कतिपय अतिप्राचीन तान्त्रिक अनुष्ठानोंका विवरण मिलता है, जिसे शिष्टाचारविगर्हित मानकर पञ्चविंश ब्राह्मणमें छोड़ दिया गया है। पञ्चविंश ब्राह्मणका प्रथम अध्याय यजुर्मन्त्रकी एक संहिता है। द्वितीय एवं तृतीय अध्यायमें विष्टुति या स्तोमरचनाकी पद्धतिका वर्णन है। सामगान सोमयागमें ही होता है, अतः सामवेदीय ब्राह्मणोंमें केवल सोमयागका ही विवरण पाया जाता है।

ताण्ड्य ब्राह्मणके परिशिष्ट षड्विंश ब्राह्मणमें ५ प्रपाठक हैं। तृतीय प्रपाठकमें ५ नवीन यागोंका विधान है—श्येन, इषु, संदांश, वज्र और विश्वदेव। तन्त्रकी भाषामें यह रौद्र कर्म है। चतुर्थ प्रपाठकमें ब्राह्मणकी प्रातः-संध्यानुष्ठानके सम्बन्धमें आलोचना की गयी है। पञ्चम प्रपाठक अद्भुत ब्राह्मण है। तन्त्रका शान्तिकर्म इससे सामञ्जस्य रखता है। इसके दशम खण्डमें देव-मन्दिर आदिका विधान किया गया है। सामवेदका एक प्रधान ब्राह्मण छान्दोग्य अथवा मन्त्र या उपनिषद् ब्राह्मण कहलाता है। इसमें १० प्रपाठक हैं। प्रथम दो प्रपाठकमें ब्रीहकरण्डके मन्त्रोंका संग्रह है, शेष ८ प्रपाठकमें छान्दोग्योपनिषद् है। इनके अतिरिक्त ५ और ब्राह्मण हैं, जिन्हें अनुब्राह्मण कहा जाता है। सामविधान-ब्राह्मणमें कृच्छ्रचान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तोंका विधान है। इसमें तीन प्रपाठक हैं। प्रथम आर्षेय ब्राह्मण है, इसके बाद दैवत ब्राह्मण है। इसमें तीन खण्ड हैं। इसके प्रथम खण्डमें सामका विधान और अन्त्यभागमें देवताका वर्णन है। द्वितीय खण्डमें छन्दके देवताका विवरण और तृतीय खण्डमें छन्दके नामकी व्युत्पत्ति है। संहितोपनिषद्-ब्राह्मण ५ खण्डमें विभक्त है। अन्तमें वंश-ब्राह्मण ३ खण्डमें विभक्त है। इसमें सामवेदके सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्योंके वंशधारियोंका विवरण है। सामवेदके आदिप्रवक्ता स्वयम्भू ब्रह्मा तथा श्रोता प्रजापति हैं। यह प्रजापतिसे मृत्युको, मृत्युसे वायुको, वायुसे इन्द्रको, इन्द्रसे अग्निको प्राप्त हुआ है। अग्निके द्वारा ही कश्यपने मनुष्योंको इस वेदका लाभ कराया है। मार्कण्डेयपुराणमें भी प्रजापतिक्रममें वेदका विस्तार प्रदर्शित है।

यजुर्वेद

यजुर्वेदको अध्वर्युवेद भी कहा जाता है। देवताके उद्देश्यसे द्रव्यत्याग यज्ञ है। यागकर्ता यजमान है और

इसे निष्पन्न करनेवाला ऋत्विक् है। देवताका आवाहन और प्रशस्ति-पाठ, स्तुतिगान और उन्हें उद्देश्य कर होमद्रव्यका आहुति-दान—यही तीन यज्ञका मुख्य साधन है। प्रशस्तिपाठ-कर्ता होता, स्तुतिगानकर्ता उद्गाता और आहुति-दाता अध्वर्यु है। इन मन्त्रोंका संकलन यजुःसंहिता है। ऋग्वेदकी भाषामें अध्वर्यु यज्ञका शरीर-निर्माता है। जिन मन्त्रोंकी सहायतासे यह कार्य किया जाता है वे यजुष् हैं। यजुःसंहिताकी दो धाराएँ हैं—कृष्ण और शुक्ल। मन्त्र और ब्राह्मणका एक साथ जहाँ निर्देश है वह कृष्ण है और जिस संहितामें केवल मन्त्रका संग्रह है, वह शुक्ल है। शुक्ल यजुर्वेदके शतपथ ब्राह्मणके अन्तमें कहा गया है—**'आदित्यानि इमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते'**—अर्थात् वाजसनेय याज्ञवल्क्यने आदित्यसे इस शुक्ल यजुष्को प्राप्तकर इसका प्रवचन किया है।

इस समय शुक्ल यजुर्वेदकी तीन शाखाएँ प्राप्त हैं—वाजसनेयी, काण्व और माध्यंदिन। वाजसनेयि-संहिताके शेषमें पुरुषसूक्त, सर्वमेध-मन्त्र, शिवसंकल्पादि मन्त्र अध्यात्मवादके परिचायक हैं और अन्तमें ईशोपनिषद् है। अथर्वसंहिताका एक ही ब्राह्मण मिलता है, जिसका नाम गोपथ है। इसके दो भाग हैं—पूर्व और उत्तर। पूर्वभागमें ५ और उत्तर भागमें ६ प्रपाठक हैं।

आरण्यक

संहिताके प्रधान ब्राह्मणोंका शेष अंश ही आरण्यक है। यह नाम संहिता और ब्राह्मणमें ही मिलता है। शतपथ ब्राह्मणका चौदहवाँ काण्ड बृहदारण्यक है।

अथर्ववेद-संहिता

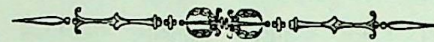
अथर्ववेद-संहिताको त्रयी विद्याका परिशिष्ट या उसके परिपूरकके रूपमें माना जाता है। अथर्ववेदके प्रवर्तकके रूपमें तीन ऋषियोंका नाम पाया जाता है—अथर्वा, अङ्गिरस और भृगु। ये ही तीन ऋक्-संहिताके प्राचीन पितृपुरुषके रूपमें माने जाते हैं, यथा—

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥
(ऋ०वे० १०।१४।६)

अथर्वा और अङ्गिरा—ये दोनों यज्ञविधि और अग्निविद्याके प्रवर्तकके रूपमें प्रसिद्ध हैं। भृगुने द्युलोककी अग्निको भूलोकमें मनुष्योंके मध्यमें प्रतिष्ठित किया (ऋ०वे० १।५८।६)। अथर्वा एवं भृगु अग्निविद्याके प्रवर्तक हैं, किंतु अग्नि स्वयं ही अङ्गिरा है। इन तीनोंके मूलमें अग्निकी दीप्तिकी ध्वनि मिलती है। अथर्वसंहिताके मन्त्रोंका एक पञ्चमांश ऋक्संहितासे लिया गया है, जो पादबद्ध मन्त्र है। अथर्वसंहिताका एक षष्ठांश यजुर्वेदके मन्त्रोंके समान गद्यमें रचित है। मन्त्र-रचनाकी जो धारा तीनों वेदोंमें मिलती है, अथर्ववेदमें भी उसीकी अनुवृत्ति है, किंतु दोनोंके विनियोगमें बहुत भेद है। तीन वेदोंका विनियोग श्रौतकर्ममें है। देवताके साथ सायुज्यके द्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति ही लक्ष्य है। अथर्ववेदका प्रधान विनियोग गृह्यकर्ममें है। अनेक शान्तिक और पौष्टिक क्रियाओंके द्वारा देवशक्तिकी सहायतासे अभ्युदयकी प्राप्ति लक्ष्य है। अथर्वसंहिताकी शौनक-शाखामें २० काण्डोंमें ७३१ सूक्त और ५९५७ मन्त्र हैं। इसमें सप्तम काण्डतक अनेक आभ्युदयिक कर्मोंके मन्त्र हैं। फलतः संहिताका यह भाग गार्हस्थ्य और सामाजिक जीवनका पोषक तथा लोकहितके अनुकूल है। अधिक आयु-लाभके लिये भैषज्य अर्थात् आरोग्य-कामनाके लिये, शान्तिक अर्थात् भूतावेश आदिको दूर करनेके लिये, पौष्टिक अर्थात् लक्ष्मी-लाभके लिये, सौमनस्य अर्थात् परस्पर मैत्री सम्पादनके लिये, आभिचारिक अर्थात् शत्रुनाशके लिये, प्रायश्चित्त एवं राजकर्म अर्थात् राष्ट्रके निरापद्-रूप एवं उन्नतिके लिये ये आभ्युदयिक कर्म दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त विवाह, गर्भाधान आदिके भी अनेक मन्त्र इस भागमें दिये गये हैं। आठवेंसे बारहवें काण्डतक अथर्वसंहिताका द्वितीय भाग है—इस भागमें भी आभ्युदयिक कर्मोंके मन्त्र दिये गये हैं, किंतु उपनिषद्-भावनाका ही इस भागमें विशेष स्थान है। वेद-ब्राह्मणके आरण्यक-अंशमें जैसे यज्ञाङ्गको लेकर रहस्योक्तिका प्राचुर्य देखा जाता है वैसा ही यहाँ भी उपलब्ध होता है।

अथर्ववेदका पृथ्वीसूक्त पृथ्वीकी स्तुतिके रूपमें समग्र वैदिक साहित्यकी अतुलनीय राजनीतिक उपलब्धि है।

ब्रह्मचर्यसूक्तमें ब्रह्मचारीकी महिमा उदात्तकण्ठसे वर्णित है। गोसूक्तमें वशा गौके ऊपर दो सूक्त हैं। इसमें रहस्यवादकी छाया सघनरूपसे संध्या-भाषाकी आदिजननीके रूपमें उपलब्ध है। १३ से २० काण्ड अथर्वका तृतीय अंश है। इनमें १९ और २० परिशिष्ट अंश हैं। इनमें प्रत्येक काण्डकी विषयवस्तुका निर्देश है। तेरहवें काण्डमें रोहित नामसे आदित्यका प्रसंग है। चौदहवाँ काण्ड विवाह-प्रकरण है। पंद्रहवें काण्डमें व्रात्योंकी प्रशंसा है। सोलहवें काण्डमें शान्ति और स्वस्त्ययनके मन्त्र हैं तथा कतिपय दुःस्वप्न-नाशक सूक्त हैं। यह काण्ड भी गद्यमें रचित है। सत्रहवें काण्डमें आदित्यकी स्तुति है। अठारहवाँ काण्ड विस्तृत है, इसमें पितृमेध-प्रकरण है, जिसके अधिकांश मन्त्र ऋक्संहितासे लिये गये हैं। यह काण्ड पैप्पलाद-संहितामें नहीं मिलता। इसके बाद दो काण्डोंका उल्लेख अथर्व-प्रातिशाख्यमें नहीं मिलता, अतः मनीषियोंका अनुमान है कि ये बादमें संयोजित किये गये हैं। उन्नीसवाँ काण्ड प्रकीर्ण सूक्तोंका संग्रह है। इनमें भैषज्य-विषयक तीन और दुःस्वप्ननाशक छः सूक्त हैं। कतिपय मणिधारणसूक्त इस काण्डकी विशेषता है। इनके अतिरिक्त यज्ञ, दर्भ, कालरात्रि, नक्षत्र, शान्ति आदि इसमें वर्णित हैं। पुरुष-सूक्त परिवर्तित रूपमें यहाँ संगृहीत है। आत्म-सूक्तमें सद्वाक्यभाव— **'वरदा वेदमाता'** का उल्लेख भी इसी काण्डमें है, जिसमें गायत्री-उपासनाकी दृष्टि सुस्पष्ट है।



संस्कृत-व्याकरण-शास्त्रका संक्षिप्त परिचय

भारतीय संस्कृतिका मूल आधार उसका प्राचीन वाङ्मय है। यह वाङ्मय संस्कृत, प्राकृत, पाली तथा अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओंमें पल्लवित है। भारतका सर्वाधिक प्राचीन साहित्य संस्कृत-भाषामें उपनिबद्ध है और वह है वेद, उसकी शाखाएँ और ब्राह्मण आदि ग्रन्थ-समुदाय। वेदके सम्यक् अध्ययन, ज्ञान और प्रयोगके लिये प्राचीन ऋषियोंने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन छः वेदाङ्गोंको समाम्नात किया। वेदाङ्गोंमें व्याकरणका सर्वाधिक महत्त्व है। व्याकरणज्ञानके बिना वेदार्थका समझना न केवल दुष्कर ही है अपितु असम्भव है। व्याकरणके मूलभूत सिद्धान्तका आदिस्रोत वेद ही है।

'ऋक्तन्त्र' के अनुसार व्याकरणके आदि प्रवक्ता ब्रह्माजी हैं—

'ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।' (ऋक्तन्त्र १।४)

अर्थात् ब्रह्मा, बृहस्पति, इन्द्र तथा भरद्वाज—ये क्रमशः व्याकरणशास्त्रके आचार्य हुए हैं। इन आचार्योंके क्रमको देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरणशास्त्रके अध्ययन-अध्यापन तथा शिक्षणकी परम्परा अतिशय प्राचीन है। व्याकरणशास्त्रके ग्रन्थोंको प्रधानरूपसे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—

(१) वैदिक शब्दविषयक—प्रातिशाख्य आदि। (२) लौकिक शब्दविषयक—मन्त्रादि। (३) उभयविध-शब्दविषयक—आपिशल, पाणिनीय आदि।

वर्तमानमें व्याकरणके जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें सबसे प्राचीन पाणिनीय व्याकरण ही है। यह लौकिक तथा वैदिक शब्दोंके अनुशासनके लिये एकमात्र मान्य व्याकरण है। समस्त व्याकरणप्रवक्ताओंकी दो धाराएँ बनती हैं—प्रथम पाणिनिसे प्राचीन तथा द्वितीय पाणिनिसे अर्वाचीन। पाणिनिसे प्राचीन व्याकरणप्रवक्ता आचार्योंके दो विभाग हैं—एक छन्दोमात्रविषयक प्रातिशाख्य आदिके प्रवक्ता, दूसरे सामान्य व्याकरणशास्त्रके प्रवक्ता।

प्रातिशाख्य-प्रवक्ता

प्राचीनकालमें वैदिक शाखाओंके जितने चरण थे (शाखा चरणोंके अवान्तर भेदका नाम है), उन सबके प्रातिशाख्य थे, उनमेंसे इस समय निम्न प्रातिशाख्य उपलब्ध होते हैं—

(१) ऋक्प्रातिशाख्य—शौनकप्रणीत, (२) वाजसनेय-प्रातिशाख्य—कात्यायनप्रणीत, (३) तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, (४) साम-प्रातिशाख्य, (५) अथर्व-प्रातिशाख्य, (६) मैत्रायणीय-प्रातिशाख्य, (७) आश्वलायन-प्रातिशाख्य, (८) वाष्कल-प्रातिशाख्य, (९) चारायण-प्रातिशाख्य। अन्तिम तीन प्रातिशाख्य वर्तमानमें उपलब्ध नहीं हैं, किंतु यत्र-तत्र ग्रन्थोंमें उनका उल्लेख मिलता है।

अन्य छन्दोव्याकरण

प्रातिशाख्योंके अतिरिक्त कुछ ऐसे ही व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनकी गणना प्रातिशाख्योंमें न होनेपर भी जिनका सम्बन्ध वेद और उनके शाखा-विशेषोंके साथ है। यथा—

(१) ऋक्तन्त्र—शाकटायन या औदव्रजिकृत, (२) लघुऋक्तन्त्र, (३) सामतन्त्र—औदवृत्ति या गार्ग्यकृत, (४) अक्षरतन्त्र—आपिशलिकृत, (५) अथर्व-चतुरध्यायी—शौनक या कौत्सप्रणीत, (६) प्रतिज्ञा-सूत्र—कात्यायन, (७) भाषिक सूत्र।

प्राचीन व्याकरण-प्रवक्ता

उपर्युक्त प्रातिशाख्य आदि वैदिक व्याकरणके ग्रन्थोंमें ५७ व्याकरण-प्रवक्ता आचार्योंके नाम उपलब्ध होते हैं। दस प्राचीन आचार्योंके नाम पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें लिखे हैं। इनके अतिरिक्त तेरह आचार्य ऐसे हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है। यदि प्रातिशाख्योंमें उद्धृत आचार्योंको छोड़ भी दिया जाय तब भी पाणिनिसे प्राचीन २३ आचार्योंके नाम और मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) इन्द्र, (२) वायु, (३) भरद्वाज, (४) भागुरि, (५) पौष्करसादि, (६) चारायण, (७) काशकृत्स्न, (८) वैयाघ्रपद, (९) माध्यन्दिन, (१०) रौढि, (११) शौनकि, (१२) गौतम, (१३) व्याडि, (१४) आपिशलि, (१५) काश्यप, (१६) गार्ग्य, (१७) गालव, (१८) चाक्रवर्मण, (१९) भारद्वाज, (२०) शाकटायन, (२१) शाकल्य, (२२) सेनक और (२३) स्फोटायन।

पाणिनीय व्याकरण

पाणिनीय व्याकरणकी रचना विक्रमसे लगभग २८०० वर्ष पूर्व हुई थी। इस समय प्राचीन आर्ष व्याकरणोंमें एकमात्र यही व्याकरण उपलब्ध है, जो प्राचीन आर्ष व्याकरणोंका संक्षिप्त संस्करण है। इसीलिये कहा गया है—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥

(देवबोधविरचित महा० टीकाका प्रारम्भ)

पाणिनीय व्याकरणके पाँच ग्रन्थ हैं—शब्दानुशासन, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन। इनमें शब्दानुशासन अर्थात् अष्टाध्यायी मुख्य है। शेष चार उसीके खिल या परिशिष्ट हैं। अष्टाध्यायीमें ८ अध्याय और प्रति अध्यायमें चार-चार पाद हैं। अष्टाध्यायीमें लगभग ४००० सूत्र हैं।

पाणिनीय व्याकरणपर अनेक व्याख्याएँ आचार्योंद्वारा की गयी हैं, जिनमेंसे मुख्य इस प्रकार हैं—

वार्तिक

पाणिनीय सूत्र-पाठपर कात्यायन, भरद्वाज, सुनाग, क्रोष्टा, वाडव, व्याघ्रभूति तथा वैयाघ्रपद आदि आचार्योंके वार्तिक प्रमुख हैं। इनमें भी कात्यायन-विरचित वार्तिक सर्वोपरि है और यही उपलब्ध है। पतञ्जलिके महाभाष्यका मुख्य आधार कात्यायन-विरचित वार्तिक ही है। कात्यायनका समय विक्रमसे २७००वर्ष पूर्व माना जाता है।

महाभाष्य

पाणिनीय व्याकरणपर सबसे महत्त्वपूर्ण कृति महर्षि पतञ्जलिविरचित महाभाष्य है। पतञ्जलि शुङ्गवंश्य महाराज पुष्यमित्र (विक्रमसे १२०० वर्ष पूर्व) के समकालिक माने जाते हैं।

महाभाष्यपर अनेक वैयाकरणोंने टीका-ग्रन्थ लिखे हैं। इन टीका-ग्रन्थोंके दो विभाग हैं। एक वे टीका-ग्रन्थ हैं, जो सीधे महाभाष्यपर लिखे गये और दूसरे वे हैं, जो कैयट-विरचित महाभाष्यप्रदीपपर रचे गये। इन

टीका-ग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भर्तृहरिविरचित 'महाभाष्यदीपिका' है। इसके अनन्तर महाभाष्यकी जो महत्त्वपूर्ण व्याख्या हुई वह है कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप। यह व्याख्या अत्यन्त सरल और पाण्डित्यपूर्ण है। महाभाष्य-जैसे दुरूह ग्रन्थके समझनेमें यही मुख्य ग्रन्थ है। इस महाभाष्यप्रदीपपर भी अनेकों टीकाएँ लिखी गयी हैं।

वृत्ति-ग्रन्थ

पाणिनीय सूत्र-पाठपर अनेक वैयाकरणोंने वृत्तिग्रन्थ लिखे हैं, उनमें काशिका-वृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। काशिकाका जो संस्करण वर्तमानमें उपलब्ध होता है, उसमें आदिके पाँच अध्याय जयादित्य-विरचित हैं और अन्तके तीन अध्याय वामनकृत हैं। काशिकाके अनन्तर भागवृत्ति, भाषावृत्ति तथा दुर्घटवृत्ति भी उपयोगी ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त अष्टाध्यायीपर २५ वृत्तियाँ और उपलब्ध हैं। इनमेंसे अभीतक केवल अन्नंभट्टकी मिताक्षरा, औरंभट्टकी व्याकरण-दीपिका तथा दयानन्दका अष्टाध्यायीभाष्य—ये तीन ग्रन्थ मुद्रित हुए हैं।

प्रक्रिया-ग्रन्थ

पाणिनीय व्याकरणका पठन-पाठन प्रक्रिया-पद्धतिसे भी चलता रहा है। इन प्रक्रिया-ग्रन्थोंमें रूपावतार, प्रक्रियाकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजिदीक्षित) तथा प्रक्रियासर्वस्व मुख्य ग्रन्थ हैं। सिद्धान्तकौमुदीपर प्रौढमनोरमा, बालमनोरमा, तत्त्वप्रबोधिनी और लघुशब्देन्दुशेखर व्याख्याएँ मुख्य हैं। बादमें लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदीकी रचना व्याकरणशास्त्रमें प्रवेश करनेके लिये की गयी है।

पाणिनिसे अर्वाचीन शब्दानुशासन

पाणिनिके अनन्तर अनेक वैयाकरणोंने शब्दानुशासन-ग्रन्थोंकी रचना की। उनमें कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, विश्रान्त विद्याधर, अभिनवशाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमसारस्वत, कौमार और मुग्धबोध मुख्य हैं।

व्याकरणके परिशिष्ट

प्रत्येक शब्दानुशासनके रचयिताको धातुपाठ और गणपाठकी रचना करनी पड़ती है। कई वैयाकरणोंने उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासनकी भी रचना की है, जिनसे सम्बद्ध बहुत-से ग्रन्थ रचे गये हैं।

व्याकरणके दार्शनिक ग्रन्थ

व्याकरणका सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ 'संग्रह' है। यह आचार्य व्याडि अपरनाम दाक्षायणकी रचना है। द्वितीय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आचार्य भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीय है। वाक्यपदीयके बाद लघुमञ्जूषाका स्थान है। यह नागोजिभट्टकी रचना है। इसपर कई टीकाएँ विद्यमान हैं। नागेशने लघुमञ्जूषाका एक संक्षिप्त संस्करण भी लिखा है—वह है परमलघुमञ्जूषा।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि व्याकरणशास्त्रका साहित्य बहुत विशाल है, यहाँपर तो कुछ मुख्य-मुख्य रचनाओंका ही निदर्शन किया गया है। अध्ययन-प्रक्रियाके लिये व्याकरणका ज्ञान परमावश्यक है।

धर्मका सार तत्त्व

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
मातृवत्परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत्। आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

(पद्म० सृष्टि० १९। ३५७,३५९)

धर्मका सार सुनो और सुनकर उसे धारण करो—जो बात अपनेको प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरोंके लिये भी काममें न लाये। जो परायी स्त्रीको माताके समान, पराये धनको मिट्टीके ढेलेके समान और सम्पूर्ण भूतोंको अपने आत्माके समान जानता है, वही ज्ञानी है।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान और उसकी शिक्षा

(१)

(ज्यो॰ भू॰ पं॰ श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी)

भारतीय ज्ञान-भण्डारकी निगम, आगम और दिव्य नामसे प्रसिद्ध शतशः विद्याओंके अन्तर्गत हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका महत्त्वपूर्ण स्थान है (इन्द्रविजय अ॰ ११)। ऋग्वेद-संहिता (२।३।२२।१६४) में तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।४।६)में और इन्हीं मन्त्रोंके भाष्यमें सायणाचार्यने प्रणवरूपा एकपदी, व्याहृति और सावित्रीरूपा द्विपदी, वेदचतुष्टयरूपा चतुष्पदी, छः वेदाङ्ग, पुराण और धर्मशास्त्ररूपा अष्टपदी, मीमांसा, न्याय, सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेदरूपा नवपदी और अनन्त विद्याओंमें ज्योतिर्विज्ञानका भी वर्णन किया है। छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२) में महर्षि नारदने अपनी पठित विद्याओंमें राशिविद्या, गणित और दैवविद्या, निधिविद्या, नक्षत्रविद्या एवं फलित ज्योतिषका भी वर्णन किया है। मुण्डकोपनिषद् (१।५) में अपरा विद्याके रूपमें चारों वेदोंके साथ ही षडङ्गमें ज्योतिषको भी गिना गया है। विष्णुपराण (३।७।२८-२९) आदिमें १८ विद्याओंके अन्तर्गत ज्योतिष् भी है। इतना ही नहीं, वैदिक धर्मविरोधी बौद्धोंके जातकोंमें भी लिखा है कि 'तक्षशिलाके विश्वविद्यालयमें १८ विद्याओंमें प्रवीणता करायी जाती थी (मौर्यसाम्राज्यका इतिहास पृ॰ ६८१)। अवश्य ही जातकोंमें उल्लिखित १८ विद्याएँ वे ही हैं, जो विष्णुपुराणमें कही गयी हैं और जिनमें वेदाङ्गस्वरूप हमारा ज्योतिर्विज्ञान भी है।

जिस ज्योतिर्विज्ञानका उपयोग हमारे धार्मिक और व्यावहारिक कार्योंमें सनातन कालसे सतत होता आ रहा है, आज हम उसीके विषयपर महर्षि वात्स्यायनके सिद्धान्तानुसार उद्देश्य, लक्षण और परीक्षाद्वारा किञ्चित् विचार करने जा रहे हैं।

ज्योतिर्विज्ञानका उद्देश्य

विनैतदखिलश्रौतस्मार्तकर्म न सिद्ध्यति।
तस्माज्जगद्धितायेदं ब्रह्मणा रचितं पुरा॥

(नारदसंहिता, अध्याय १)

अर्थात् 'इस ज्योतिर्विज्ञानके बिना हमारे श्रौत और स्मार्त-कर्म सिद्ध नहीं हो सकते। अतएव जगत्के हित-साधनके लिये ब्रह्माजीने पूर्वकालमें इसकी रचना की।' ज्योतिर्विज्ञानके बिना हमारे श्रौत-स्मार्त-कर्म क्यों नहीं सिद्ध हो सकते? इस शङ्काके निरासार्थ महर्षियोंने बहुत कुछ लिखा है, किंतु संक्षेपतः याजुषज्यौतिषके तीसरे और आर्चज्यौतिषके छत्तीसवें श्लोकमें तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराणके दूसरे खण्डके १७४ वें अध्यायके अन्तमें (जो पितामहसिद्धान्तका अन्तिम श्लोक है) लिखा है—

वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः
कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं
यो ज्योतिषं वेद स वेद सर्वम्॥

अर्थात् 'वेद तो विविध यज्ञानुष्ठानोंके लिये प्रवृत्त हैं और जितने यज्ञ हैं, उनका अनुष्ठान कालाधीन है। अतएव जो विद्वान् कालविधानशास्त्र—ज्योतिर्विज्ञानको जानता है, वही यज्ञादि सब कुछ जानता है।'

ज्योतिर्विज्ञानके गौणरूपसे भले ही अनेक उद्देश्य हों, किंतु मुख्य उद्देश्य है 'कालविधान', जिसके बिना षोडश संस्कार, तिथि, वार, योग और नक्षत्रोंके सम्बन्धसे विविध व्रतोत्सव तथा मुहूर्तादि विचार, प्रश्न, जातक एवं हायन (ताजक)-सम्बन्धी होरा-विचार और शताध्यायीसंहिताके शकुन, वायुपरीक्षा, मयूरचित्रक, सद्योवृष्टि, ग्रहशृङ्गाटक आदिके विचार ही नहीं हो सकते। इतना ही नहीं, कालज्ञानके बिना दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, अष्टका, विषुव, मास, ऋतु, अयन आदि लौकिक, वैदिक एवं महालयादि पैतृक यज्ञोंके अनुष्ठान भी नहीं हो सकते। सारांश यह कि ज्योतिर्विज्ञानका मुख्य उद्देश्य कालज्ञान है।

ज्योतिर्विज्ञानका लक्षण

जिस ज्योतिर्विज्ञानके बिना हिंदू-जातिके नित्य-नैमित्तिक कार्य ही नहीं चल सकते, उसका लक्षण क्या है और

उसके स्वरूपमें समयानुसार कैसे-कैसे परिवर्तन हुए हैं? क्या हिंदू-जातिका ज्योतिर्विज्ञान अपरिवर्तनशील है, जिसका कोई सनातन-रूपसे प्रमाण उपस्थित किया जा सकता हो?—ये विषय विचारणीय हैं। उपर्युक्त ढंगसे आवश्यक महनीय ज्योतिर्विज्ञानके स्वरूपका वर्णन करते हुए देवर्षि नारदने कहा है—

सिद्धान्तसंहिताहोरारूपस्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिःशास्त्रमनुत्तमम्॥

(नारदसंहिता १।४)

अर्थात् 'सिद्धान्त, संहिता और होरारूप स्कन्धत्रयात्मक अत्युत्तम ज्योतिःशास्त्र वेदका निर्मल नेत्र है।' भास्कराचार्यने सिद्धान्तशिरोमणिके गणिताध्यायमें सिद्धान्तका लक्षण यों बताया है—

त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेदः क्रमा-
च्चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा चोत्तराः।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते
सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः॥

अर्थात् 'त्रुटिकालसे लेकर प्रलयके अन्तकालतक (त्रुटि, लेखक, प्राणपल, विनाड़ी, नाड़ी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, सत्यादि चारों युग, स्वायम्भुवादि चौदह मनु और ब्राह्म दिन, रात्रि, कल्प) की गणना और नौ प्रकारके कालमान (ब्राह्म, दिव्य, पित्र्य, प्राजापत्य, गुरु, सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र) के भेद, सूर्यादि ग्रहोंकी चाल, व्यक्त-अव्यक्तरूप दो प्रकारका गणित, दिशा, देश और कालसम्बन्धी विविध प्रश्न तथा उनके उत्तर, पृथ्वी, नक्षत्र और ग्रहोंके संस्थान—कक्षादि और वेधद्वारा ग्रह-नक्षत्रादिके स्थान, क्रान्ति, शर आदिके ज्ञापक तथा क्षणादि अहोरात्रपर्यन्त कालके ज्ञापक तथा जल, वालुका एवं कील आदिद्वारा स्वयं चालित विविध यन्त्रोंके बनानेकी विधि और उपयोगका जिसमें वर्णन हो, उस गणितशास्त्रको विद्वान्लोग ज्योतिर्विज्ञानका 'सिद्धान्तस्कन्ध' कहते हैं।

ज्योतिर्विज्ञानके संहितास्कन्धका वर्णन आचार्य वराहमिहिरने महर्षियोंके मतानुसार अपनी बृहत्संहिता (१।२१) में विस्तारके साथ किया है, जिसका सारांश यह है कि सूर्यादि ग्रहों, विविध केतुओं—पुच्छल ताराओं, नक्षत्रों, सप्तर्षि, अगस्त्य आदि ताराव्यूहोंके स्थान, चार योग, उदयास्तादिके द्वारा शुभाशुभादिका वर्णन तथा विविध उत्पातों, शकुनों और उनके फलोंके विचार और रत्नपरीक्षा, पशुपरीक्षादिके साथ ही विविध मुहूर्तोंका वर्णन मानव-जातिके सभी व्यावहारिक विषयोंका वर्णन संहितामें रहता है। अतएव इस ज्योतिःस्कन्धका दूसरा नाम व्यवहारशास्त्र भी रखा गया है।

तीसरे होरास्कन्धका लक्षण बलभद्र मिश्रने अपने 'होरारत्न'में कश्यपके वचनके आधारपर लिखा है, जिसका सारांश यह है कि होरास्कन्धमें राशिभेद, ग्रहयोनि, गर्भज्ञान, लग्नज्ञान, आयुर्दाय, दशाभेद, अन्तर्दशादि, अरिष्ट, कर्मजीव, राजयोग, नाभसयोग, चन्द्रयोग, द्विग्रहादियोग, प्रव्रज्यायोग, राशिशील, दृष्टि, ग्रहभावफल, आश्रम और सङ्कीर्णयोग, स्त्रीजातक, नष्टजातक, निर्याण तथा द्रेष्काणादि फलोंका विचार—इन सब विषयोंका वर्णन होता है। होरास्कन्धका दूसरा नाम है—जातक, अथवा यों कहें कि होरास्कन्धका प्रधान अङ्ग जातक है। जन्मकालके आधारपर जो शुभाशुभ फलका निर्णय करनेवाला ग्रन्थ हो, उसे जातक कहते हैं। होरास्कन्धका अर्थ सारावली (२।२—४) में कल्याणवर्माने लिखा है कि 'अहोरात्र' शब्दके आदि-अन्तके वर्णोंको त्याग देनेसे 'होरा' शब्द बना है; क्योंकि अहोरात्र सावन दिनके द्वारा ही ग्रहोंके भगणादिकोंका स्पष्टीकरण होता है और उन्हीं ग्रहोंके द्वारा समस्त फल-विचार होते हैं। अथवा लग्नका नाम होरा है तथा लग्नार्धका नाम होरा है, जिसके द्वारा समस्त जातकसम्बन्धी फल-विचार होते हैं। इसी होरास्कन्धके द्वारा जन्म, वर्ष, प्रश्नादिके इष्टकालपर ग्रहभावादिका स्पष्टीकरण तथा दृष्टि, बल, दशा-अन्तर्दशादिकी गणना और फलोंका विचार होता है। अतएव इसे होरा, जातक तथा हायन (ताजक) भी कहते हैं।

ज्योतिर्विज्ञानकी परीक्षा

ज्योतिर्विज्ञानके उद्देश्य और लक्षणका वर्णन हो जानेपर अब उसकी परीक्षा होनी चाहिये। उद्देश्यके अनुसार हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका लक्षण मिलता है अथवा नहीं, यही विचारणीय विषय है। सूर्यादि ग्रहों और

अश्विन्यादि नक्षत्रोंके गणित तथा फलितका वर्णन जिस शास्त्रमें हो, उसे 'ज्यौतिष' शास्त्र कहते हैं, जो हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानके अर्थमें योगरूढ़ माना गया है।

शास्त्रजन्य ज्ञानको ज्ञान और अनुभवजन्य ज्ञानको विज्ञान कहा गया है, अतएव मध्यकालीन ज्योतिषियोंमेंसे कुछ लोगोंने **'प्रत्यक्षं ज्यौतिषं शास्त्रम्'** की आड़में अपने स्वल्पकालीन अनुभव और चर्मचक्षुके बलपर दृग्गणित (सायन) गणनाद्वारा अनादि, अव्यय वेदाङ्ग-ज्योतिर्विज्ञानमें मनमाने बीजादिसंस्कार देकर भ्रम उत्पन्न कर दिया है और मनमाने अयनांशकी कल्पना कर ली है, तथापि हमारे वेदचक्षुःस्वरूप ज्योतिर्विज्ञानकी निरयण कालगणना और ग्रहगणनाद्वारा पञ्चाङ्गपत्रकी रचना तथा उसीके आधारपर समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मोंका व्यवहार होता आ रहा है। वस्तुतः हमारे ज्योतिर्विज्ञानके 'विज्ञान' शब्दका अर्थ इस प्रकार है—

विज्ञानं निर्मलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं यदव्ययम्।
अज्ञानमितरत्सर्वम् .... ॥

(कूर्मपुराण २।३९)

अर्थात् 'जो ज्ञान निर्मल, सूक्ष्म, निर्विकल्प और अव्यय (सदैव विकाररहित एकस्वरूप) है, वही विज्ञान है और इतर ज्ञान सब-के-सब अज्ञान हैं।' सारांश यह कि जिस प्रकार ईश्वरनिःश्वसित हमारे वेद अपरिवर्तनशील हैं, उसी प्रकार वेदके चक्षुःस्वरूप ज्योतिर्विज्ञानका स्वरूप भी अपरिवर्तनशील, निर्मल, सूक्ष्म और अव्यय है। वृद्धवसिष्ठ-सिद्धान्त (मध्यमाधिकार श्लोक ८) में लिखा है—

वेदस्य चक्षुः किल शास्त्रमेत-
त्प्रधानताङ्गेषु ततोऽर्थजाता।
अङ्गैर्युतोऽन्यैः परिपूर्णमूर्ति-
श्चक्षुर्विहीनः पुरुषो न किञ्चित्॥

अर्थात् 'यह ज्योतिःशास्त्र वेदका नेत्र है। अतएव उसकी स्वतः वेदाङ्गोंमें प्रधानता है; क्योंकि अन्यान्य अङ्गोंसे युक्त, परिपूर्णमूर्ति पुरुष नेत्रहीन (अन्धा) होनेसे कुछ नहीं है।' आर्चज्योतिष (३५) और याजुष ज्यौतिष (४) में लिखा है—

यथा शिखा मयूराणां
नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां
ज्यौतिषं (गणितं) मूर्धनि स्थितम्॥

अर्थात् 'जैसे मयूरोंकी शिखा और नागोंकी मणि शिरोभूषण है, वैसे ही (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिषरूप) वेदाङ्गशास्त्रोंमें ज्यौतिष शिरोभूषण है।'

सिद्धान्त, संहिता और होराके रूपमें जिस ज्योतिर्विज्ञानका इतना महत्त्व है, उसके विषयमें ऋग्वेदीय चरणव्यूहके परिशिष्टमें महर्षि शौनकने लिखा है—**'चतुर्लक्षं तु ज्यौतिषम्'** अर्थात् मूल ज्योतिर्विज्ञान चार लाख श्लोकोंमें है। नारदसंहिता, कश्यपसंहिता और पराशरसंहितामें ज्योतिर्विज्ञानके प्रवर्तकोंके जो नाम दिये हैं, उनमें मुख्यतः १८ हैं। यद्यपि पराशरसंहिताके पाठसे २० नाम हो जाते हैं, तथापि विद्वानोंका मत है कि पाठाशुद्धिसे ही दो नाम बढ़ गये हैं। सर्वसम्मत पाठके अनुसार वे १८ नाम इस प्रकार हैं— ब्रह्मा, सूर्य, वसिष्ठ, अत्रि, मनु, सोम (पौलस्त्य), लोमश, मरीचि, अङ्गिरा, व्यास, नारद, शौनक, भृगु, च्यवन, यवन, गर्ग, कश्यप और पराशर।

कुछ विद्वानोंने गर्गसंहिताके—**म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।**—इस श्लोकको देखकर यवनाचार्यको यूनानी और लोमश—रोमशको रोमक तथा पौलस्त्य—पौलिसको सिकन्दरपौलिसकी कल्पना करके हमारे ज्योतिर्विज्ञानके प्रवर्तकोंमें विदेशियोंको प्रविष्ट करनेकी चेष्टा की है, जो सर्वथा भ्रम है। वस्तुतः ये १८ ज्योतिर्विज्ञानके प्रवर्तक सब-के-सब भारतकी ही अमर विभूतियाँ हैं।

यद्यपि चतुर्लक्षात्मक इस ज्योतिर्विज्ञानके गणितमें सिद्धान्त, तन्त्र और करण तथा फलितमें संहिता—जिसके अन्तर्गत शकुन, सामुद्रिक, शालिहोत्र, स्वर, निधिविज्ञान, दैव और मुहूर्तादि शतशः विषय हैं और होरास्कन्ध, जिसके अन्तर्गत जातक, हायन (ताजक) एवं प्रश्नादिके विषय हैं, तथापि इस ज्योतिर्विज्ञानके मुख्य दो ही भाग हैं—प्रथम गणित, दूसरा फलित और दोनों भागोंका अस्तित्व वैदिक कालसे अबतक अविच्छिन्नरूपसे मिलता

है । जो लोग फलितभागको आधुनिक कहते अथवा मानते हैं, वे इस बातको भूल जाते हैं कि फलित और गणितका वाणी और अर्थकी भाँति सम्बन्ध है । यदि गणित वचन है तो फलित उसका अर्थ है । जिस प्रकार अर्थरहित शब्द व्यर्थ होता है—जिसका प्रयोग कभी बुधजन नहीं करते—उसी प्रकार फलितरहित गणित व्यर्थ होता है, जिसके लिये हमारे ब्रह्मादि ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तक जनसिद्धान्तादि-रचना करते—यह सम्भव नहीं ।

अवश्य ही गणित और फलितकी इस प्रकारकी घनिष्ठता होनेपर भी ज्योतिर्विज्ञानका फलितभाग—चाहे वह होराका विषय हो और चाहे संहिताका—परतन्त्र है, गणिताधीन है, बिना गणितके उसका विचार ही नहीं हो सकता, किंतु गणितभाग स्वतन्त्र है । अतएव ज्योतिर्विज्ञानकी परीक्षामें यदि हम गणितभागकी परीक्षा कर लें तो फलित-भागकी परीक्षा स्वतः हो जायगी । अतएव हमें देखना है कि ज्योतिर्विज्ञानका जो उद्देश्य नारदसंहिता (१ । ७) और विष्णुपुराण (२ । १७४ अन्तिम श्लोक) में लिखा है, उसकी सिद्धि ज्योतिःसिद्धान्तके वर्णित लक्षणोंसे हो जाती है अथवा नहीं ? और हमारे ज्योतिःसिद्धान्तके विषय वेदाङ्गज्यौतिषके ही हैं अथवा विदेशसे लाये गये हैं ?

उपर्युक्त १८ प्राचीन आचार्योंके सिद्धान्तोंमेंसे जो सिद्धान्त इस समय प्राप्य हैं, उनमें सबसे अधिक मान्य 'सूर्यसिद्धान्त' है । वराहमिहिरकी पञ्चसिद्धान्तिका (शक ४२७) में पाँच सिद्धान्तोंका उल्लेख और कुछके वर्णन भी हैं । उसमें लिखा है—**'स्पष्टतरः सावित्रः'** (श्लोक ४) । नृसिंहदैवज्ञने हिल्लाजदीपिकामें ६ सिद्धान्तोंके जो नाम दिये हैं, उनमें भी 'सूर्यसिद्धान्त'का महत्त्व विशेष है । दैवज्ञ पुञ्जराजने अपने 'शम्भुहोराप्रकाश'में सात सिद्धान्तोंके जो नाम दिये हैं, उनमें भी 'सूर्यसिद्धान्त'की प्रधानता है और शाकल्यसंहिताके 'ब्रह्मसिद्धान्त' (१ । ९) में **'अष्टधा निर्गतं शास्त्रम्'** लिखा है और उन आठ सिद्धान्तोंमें भी 'सूर्यसिद्धान्त'की प्रधानता है । सारांश यह कि इस समयतक 'सूर्यसिद्धान्त'से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई दूसरा सिद्धान्त नहीं है । अतएव हम इस परीक्षामें 'सूर्यसिद्धान्त'के आधारपर विचार करेंगे । वर्तमान 'सूर्यसिद्धान्त'ही मूल 'सूर्यसिद्धान्त' है, इसमें संदेह नहीं और उसकी गणनाके सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) सहस्रयुगीय कल्पके आधारपर सूर्यादि ग्रहोंके भगण, उच्च, पातादिके भगणद्वारा मध्यम ग्रहगणना और उनका स्पष्टीकरण ।

(२) कालबोधक वर्षगणना सौर-चान्द्र, मासगणना सौर-चान्द्र, तिथि-गणना सौर-चान्द्र, वारगणना सावन और घड़ी-पलादिकी गणना आर्क्षमानसे करके **'चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचान्द्रर्क्षसावनैः'** चरितार्थ करना ।

(३) पञ्चाङ्गी गणनामें निरयण गणनाको मान्यता देते हुए ग्रहण, युति, क्रान्तिसाम्यादिकी गणनामें सायन (दृश्य) गणनाका प्रयोग ।

(४) कल्पारम्भके पश्चात् ४७,४०० दिव्य (सौरमानके १,७०,६४,०००) वर्षसे अहर्गणकी गणना,जिसके आधारपर निरयण ग्रहगणना की जाती है और निशीथकालसे अहर्गणका आरम्भकाल ।

(५) नाक्षत्रिक-चैत्रादि मासोंके नामकी यौगिकता और सूर्यादि वारोंका अहर्गण-गणनामें महत्त्व ।

(६) **'अचलाचलैव'** के सिद्धान्तानुसार भूमिमें किसी प्रकारकी गति न मानकर सूर्यादि ग्रहोंका अपनी-अपनी गतिसे पूर्वाभिमुखगमन और प्रवहवायुद्वारा भपञ्जरके दैनिक पश्चिमाभिमुखगमनकी मान्यता ।

(७) सूर्यादि ग्रहोंकी गतियोंमें आकर्षणशक्तिकी मान्यता ।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञानके उद्देश्योंमें कालविधान और श्रौत-स्मार्त कर्मोंका साधन ही मुख्य है । ज्योतिर्विज्ञान—विशेषकर सिद्धान्तज्यौतिषके लक्षणोंके उपर्युक्त विवरणोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि हिंदू-ज्योतिर्विज्ञान उद्देश्यपूर्ति करनेमें पूर्ण समर्थ है, जिसके लिये निम्नलिखित प्रमाण हैं—

'पाङ्क्तो वै यज्ञः'इस श्रुति-वचनके अनुसार अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध और सोम-भेदसे पाँच प्रकारके यज्ञ होते हैं । कुछ लोग इष्टि, पशु और सोम नामसे तीन ही प्रकारके यज्ञ मानते हैं और इन तीनों यज्ञोंके औपासन, वैश्वदेव,

पार्वण, अष्टका, मासिक श्राद्ध, सर्पबलि और ईशानबलि नामके सात यज्ञ, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, आग्रयणादि इष्टायन, चातुर्मास्य, निरूढ़पशुबन्ध, सौत्रामणी और पिण्डपितृयज्ञ चतुर्होतृहोमादि नामके सात तथा अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय और आप्तोर्याम नामके सात यज्ञ—इस प्रकार २१ प्रकारके यज्ञ-भेद होते हैं (गोपथब्राह्मण ५।२५)।

इतना ही नहीं, शिरोयज्ञ, अतियज्ञ, महायज्ञ, हविर्यज्ञ और पाकयज्ञके नामसे जिन पाँच यज्ञोंके वर्णन हैं, उनके भी एक-एकके अनेक भेद हैं तथा रात्रिसत्र, अयनसत्र और संवत्सरसत्र, बहुसंवत्सर, महासत्रादि नामसे जिनके बहुसंख्यक अवान्तर भेद हैं, वे वैदिक यज्ञ हैं, जिनके अनुष्ठानमें संवत्सर, अयन, विषुव, मास—चैत्रादि मास, पक्ष, तिथि और सावन दिन (वारों)के जाननेकी आवश्यकता होती है तथा चान्द्रनक्षत्रोंका जानना भी अत्यावश्यक होता है। सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, व्यतीपातादि योग, वसन्तादि ऋतु और विष्णुपदी, षडशीतिमुखादि सूर्य-संक्रान्तियोंका ज्ञान भी यज्ञानुष्ठानके लिये अत्यावश्यक होता है और इन सभी कालों, नक्षत्रों और योगोंका ज्ञान एकमात्र निरयण गणनाके अनुसार सूर्यसिद्धान्त-जैसे आर्षसिद्धान्तीय पाञ्चाङ्गोंद्वारा ही हो सकता है और हमारे षोडश संस्कार, एकादशी, जयन्ती, शिवरात्रि, प्रदोष आदि व्रतों तथा हिंदू-संस्कृतिके श्रावणी, विजयादशमी, दीपावली आदि उत्सवोंका अनुष्ठान चैत्रादि मास, प्रतिपदादि तिथि, अश्विन्यादि नक्षत्र, योग और करणके साथ ही सौर-संक्रान्तियोंके ज्ञानके बिना कर सकना असम्भव है और इन सबका ज्ञान हमारे निरयण सिद्धान्त-ज्योतिषद्वारा ही हो सकता है। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि हमारे श्रौत-स्मार्त कर्म हिंदू-ज्योतिर्विज्ञान—सूर्यसिद्धान्त-जैसे सिद्धान्तके ज्ञान बिना किये ही नहीं जा सकते।

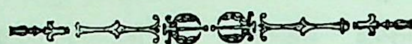
इसी प्रकार वास्तुरचना, विविध प्रकारके कुण्डों और वेदियोंके बनानेमें दिशाओंका ज्ञान भी आवश्यक होता है, जिसका ठीक-ठीक ज्ञान ज्योतिर्विज्ञानद्वारा ही होता है (देखिये 'दिङ्मीमांसा' स्व० महामहोपाध्याय पं० श्रीसुधाकरजी द्विवेदीकृत)। श्रौत-स्मार्त कर्मोंके आरम्भ करनेके मुहूर्त, जन्म, प्रश्नादिके लग्नादि-विचारके लिये क्षणादि कालके ज्ञानकी भी अत्यन्त आवश्यकता होती है और ठीक-ठीक कालज्ञान हमारे सिद्धान्तोंमें वर्णित विविध यन्त्रोंद्वारा ही हो सकता है (देखिये यन्त्राध्याय सू०)। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका सिद्धान्तीय लक्षण उद्देश्यके अनुरूप ही है—इसमें संदेह नहीं है।

हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानकी विशेषता

हमारा वेदाङ्ग-ज्यौतिष, जो वेदका चक्षुःस्वरूप है, क्या अपने अङ्गी वेदोंके समान ही अपरिवर्तनशील है अथवा मध्यकालीन आर्यभट्ट, लल्ल, वराह आदि विद्वानोंके मतानुसार समय पाकर उसमें अन्तर हो जाता है, जिससे समय-समयपर उसमें बीजादि-संस्कार देकर उसकी स्थूलताकी शुद्धि करनी चाहिये? जैसा आजकलके आस्तिक विचारके विद्वानोंका भी कथन है कि जिस समय सूर्यसिद्धान्तादि आर्ष सिद्धान्तोंकी रचना हुई, उस समय सूर्य-चन्द्रादिका स्पष्टीकरण ठीक होता था और उसके अनुसार तिथ्यादि मान शुद्ध थे। अब कालान्तरमें अन्तर पड़ता है। अतएव विदेशीय विद्वानोंने चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनिके आकर्षण, नूतन स्थान तथा मन्दफलादि संस्कारसे सूर्यका और इसी प्रकार विविध उपकरणोंसे चन्द्रमाका जो स्पष्टीकरण किया है, उसीके अनुसार तिथ्यादि-साधन करना चाहिये; किंतु यह सब विडम्बनामात्र है, इसमें कोई तत्त्व नहीं है।

जिस आर्ष सिद्धान्तको हमारे वेदों और स्मृतियोंने स्वीकार किया है और जिस गणनाके अनुसार तिथियोंका निर्णय करके श्रौत-स्मार्त कर्मका विधान किया है—यदि हम आस्तिक हैं तो आज भी उसी गणनासे बनी तिथियों, मासों, नक्षत्रों आदिको मानेंगे। इसमें हमारी हठधर्मी नहीं, सत्याग्रह है; क्योंकि गोलयुक्ति और आकर्षण-विद्याके नियमोंके अनुसार जितना अन्तर अब है, उतना ही तब भी था। इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं करना चाहिये। क्या उस समय चन्द्रमा नहीं थे,

जो बड़े बलसे सूर्यको खींचते हैं, जिसके कारण कई विकलाओंका विकार सूर्यमें पड़ जाता है? और क्या उस समय सूर्य नहीं थे, जिनके खींचनेसे चन्द्रमामें अंशोंका विकार पड़ जाता है? (पञ्चाङ्ग-प्रपञ्च पृ० २) यदि सूर्यादि ग्रह आजके ही समान सूर्यसिद्धान्तके रचनाकालमें भी थे तो सूर्यसिद्धान्तके दृश्य गणितमें और आकर्षण-विद्याद्वारा किये गये दृश्य गणितमें जितना अन्तर आज पड़ रहा है, उतना ही अन्तर उस समय भी पड़ता था, जिसे उस समय दिव्य दृष्टिवाले हमारे महर्षियोंने नहीं माना, अपने अदृश्य तिथ्यादिको ही श्रौत-स्मार्त कर्मके लिये उपयुक्त माना है। अतएव उसीको हमें भी मानना चाहिये।—क्रमशः



सांख्य-दर्शन और शिक्षा

महर्षि कपिलद्वारा प्रणीत सांख्य-दर्शन अतिशय प्राचीन है। सत्य-तत्त्वका दर्शन जिससे होता है, वही दर्शन है। सांख्य शब्दकी उत्पत्ति संख्या शब्दसे होती है। यह आस्तिक दर्शन है। चौबीस तत्त्वोंकी संख्याका निर्देश करनेसे तथा प्रकृति पुरुषसे भिन्न है—इस विवेक-साक्षात्काररूप सम्यग् ज्ञानके कारण इसे सांख्य-दर्शन कहा जाता है।—

सांख्यदर्शनमेतावत्परिसंख्यानिदर्शनम्।
संख्यां प्रकुरुते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते॥
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः॥

(महा० १२। २९४। ८१-८२)

मत्स्यपुराण (३। २९) में कपिलदर्शनमें तत्त्वगणनाकी प्रधानताके कारण इसे सांख्यदर्शन नामसे कहा गया है।

महर्षि पतञ्जलिने तत्त्वके परिज्ञान या सत्त्व पुरुषके भेद-ज्ञान (अन्यथा-ख्याति) में प्रसंख्यान शब्दका प्रयोग किया है। व्यासदेवने भी यही कहा है। शंकराचार्य, श्रीधरस्वामी एवं रामानुजाचार्य आदिने गीतामें आये सांख्य शब्दका अर्थ आत्मतत्त्व किया है।

वेदमें कहा गया है कि परमेश्वरने सबसे पूर्व कपिलको ज्ञानसे पूर्णकर सृष्टि की थी—**'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्'** (श्वेता० उ० ५। २)। सिद्धोंमें कपिल मुनि हैं—यह गीतामें भी कहा गया है—**'सिद्धानां कपिलो मुनिः'** (१०। २६)। अतः कपिल व्याससे पूर्ववर्ती आचार्य थे। श्रीमद्भागवतमें कपिलको विष्णुका पञ्चम अवतार कहा गया है। कर्दम ऋषिकी तपस्यासे भगवान्ने लोकके कल्याणार्थ सांख्य-दर्शनका आविष्कार माता देवहूतिको ज्ञान प्रदानके व्याजसे किया था। कपिलको षष्टितन्त्रका रचयिता माना गया है। महाभारतके अनुसार इस दर्शनकी शिष्य-परम्परा इस प्रकार है—जैगीषव्य, असित, देवल, पराशर, वार्षगव्य, भृगु, पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्ष्टिषेण, गर्ग, नारद, आसुरि, पुलस्त्य, सनत्कुमार, शुक्र, विश्वरूप आदि (महा० १२। ३०६। ५७-६०)।

दर्शनमें दुःखका नाश या सुखकी प्राप्ति—दो लक्ष्य हैं। कतिपय दर्शनोंमें आत्यन्तिक दुःखका अभाव ही लक्ष्य रहता है और कतिपय दर्शनोंमें परमानन्दकी प्राप्ति लक्ष्य है। यह भी सत्य है कि मानवकी सभी कामनाओंके साथ यह प्रश्न होता है कि यह किसलिये? यह किसलिये? किंतु दुःखका अभाव एवं सुखकी प्राप्तिकी कामनाओंमें यह किसलिये—यह प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि यह किसी अन्य इच्छाके अधीन इच्छाका विषय नहीं होता। सांख्य, बौद्ध आदिके मूलमें दुःखका सर्वथा विनाश ही उद्देश्य है। वेदान्त एवं वैष्णव आदि दर्शनोंमें परमानन्दरूपता अभीष्ट है। बौद्धदर्शन सांख्यकी भूमिपर ही विकसित है। इसके साथ तन्त्र कहे गये हैं जो निम्नलिखित हैं—(१) प्रकृति और पुरुषका नित्यत्व, (२) प्रकृतिका एकत्व, (३) परिणामके द्वारा अनेक फलोंका उत्पादन, (४) प्रकृतिकी श्रेष्ठ प्रयोजनसाधकता,



कपिलमुनिका सदुपदेश

(५) प्रकृतिके साथ पुरुषका भेद, (६) पुरुषका अकर्तृत्व, (७) पुरुषका बहुत्व, (८) सृष्टिके समय प्रकृतिके साथ पुरुषका संयोग, (९) मुक्तिके समय प्रकृतिसे पुरुषका वियोग, (१०) महत्-तत्त्व (बुद्धि) आदिका सूक्ष्माकार कारणमें स्थिति, (११-१५) पाँच प्रकारका विपर्यय, (१६-२४) नौ प्रकारकी तुष्टि, (२५-५२) अट्ठाईस प्रकारकी अशक्ति, (५३-६०) आठ प्रकारकी सिद्धि। इसके लिये प्रमाण आदिका व्याख्यान आवश्यक है। बुद्धि निश्चयात्मक चित्तवृत्ति है। विषयके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध होनेपर विषयके आकारमें बुद्धिका परिणाम होता है। विषयाकार-परिणत चित्तवृत्तिमें चिन्मय पुरुषका सम्बन्ध होनेसे पुरुषके सम्बन्धसे जो ज्ञान होता है वह प्रमा है, विषयका ज्ञान प्रमेय या ज्ञेय है, जिस पुरुषको ज्ञान होता है—वह प्रमाता है और प्रमा ज्ञानका साधन प्रमाण है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण हैं।

इस दर्शनमें तात्त्विक प्रमेय पचीस हैं। मूलतत्त्व चौबीस हैं, पचीसवाँ तत्त्व आत्मा-पुरुष है—(१) प्रकृति, (२) महान् (बुद्धि), (३) अहङ्कार, (४-८) नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा, त्वक्, (९-१३) पाँच कर्मेन्द्रिय (वाणी, गुदा, उपस्थ (मूत्रोत्पादनस्थल), हाथ, पैर), (१४) मन, (१५-१९) पञ्च तन्मात्र (स्पर्श, रूप, रस, शब्द, गन्ध), (२०-२४) पाँच महाभूत, (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश), (२५) पुरुष आत्मा या चेतन। सम्पूर्ण विश्व इन्हीं चौबीस तत्त्वोंके अन्तर्गत है। सांख्य-दर्शनमें जगत्का स्रष्टा नहीं है, प्रकृतिसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है, यही सृष्टिका उपादानकारण है, सहकारी या निमित्तकारण जीवका पाप और पुण्य है। धर्म और अधर्मके अनुसार प्रकृति जीवोंके भोग और मोक्षके लिये विचित्र जगत्की सृष्टि करती है। सृष्टिके आरम्भमें कर्मके अधीन पुरुषके महान् संस्पर्शसे प्रकृतिकी साम्यावस्था समाप्त हो जाती है। अर्थात् समान परिणाम न होकर विषम परिणामवाली सृष्टि होने लगती है। जीवोंके भोगके लिये प्रवृत्ति या सृष्टिका प्रारम्भ होता है। मोक्षके लिये प्रकृतिकी निवृत्ति या तिरोभाव होता है। ईश्वर न तो सृष्टिकर्ता है, न रक्षाकर्ता है और न ध्वंसकर्ता है।

रोग, आरोग्य, रोगका निदान और दवा—ये चार बातें जिस प्रकार आयुर्वेदमें कही जाती हैं, वैसे ही हेय = छोड़ने योग्य, हान (छूटना), हेयका साधन और हानका उपाय=छोड़नेका साधन—ये चार बातें दर्शन-शास्त्रमें कही जाती हैं। तीन प्रकारके दुःख 'हेय' हैं, तीनों दुःखोंकी सर्वथा निवृत्ति 'हान' है, अविवेक हेयका कारण है, विवेक-ज्ञान हानका उपाय है। इन चारोंके विवरणके लिये सांख्य-शास्त्र प्रवृत्त होता है। मानव सुख-भोगकी आशासे जीता है। आयु सीमित है। धनीके घरमें जन्म ग्रहण कर भी मानव सुख न प्राप्तकर दुःखकी ज्वालासे जलता रहता है। वृद्धावस्थाका दुःख, मृत्यु-भय सभीको लगा रहता है, अतः सुखसे युक्त होनेसे सांसारिक सुखोंकी भी दुःखमें ही गणना है, इसलिये दुःखके नाशका उपाय ही इस दर्शनका लक्ष्य है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविकके भेदसे दुःख तीन प्रकारके हैं। शारीरिक और मानस दुःखके भेदसे आध्यात्मिक दो प्रकारका है। शारीरिक दुःखका कारण वात, पित्त, कफकी विषमताके कारण रोग एवं दुःख देनेवाले विषयोंकी प्राप्ति है। मानस दुःखका साधन काम, क्रोध, लोभ, मोह, विषाद आदि हैं। पशु-पक्षी आदिसे दुःखकी प्राप्ति आधिभौतिक है। यक्ष, राक्षस, विरुद्ध ग्रहोंसे उत्पन्न दुःखकी प्राप्ति आधिदैविक दुःख है।

प्रकृति और पुरुषका विवेक-ज्ञान=भेद-ज्ञानस्वरूप तत्त्वज्ञान है। पुरुष और प्रकृति एवं प्रकृतिसे उत्पन्न तत्त्वोंके स्वरूपका सम्यग् ज्ञान होनेपर प्रकृतिसे पुरुषका भेद-ज्ञान होता है। इससे अतिरिक्त दवा, यज्ञ, मन्त्र आदिके द्वारा दुःखकी सर्वथा निवृत्ति नहीं हो सकती, अतः दुःखकी सर्वथा निवृत्तिके लिये एकमात्र साधन सांख्य-दर्शन ही है।

सांख्यकी सृष्टि-प्रक्रिया

प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारकी उत्पत्तिके बाद पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन—इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है और इसके बाद पाँच महाभूतकी उत्पत्ति होती है; क्योंकि महत्त्व=बुद्धि-तत्त्वकी उत्पत्तिसे पूर्व कालकृत पूर्व और

पर-भाव नहीं रहता । इसके बाद ही देश और काल आता है । महत्तत्त्व=बुद्धि-तत्त्व उज्ज्वल आकाशके समान प्रकाशमान है— **'बुद्धितत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पम्'** (यो० भा० १।६५) । इसकी हृदयकेन्द्रमें स्थिति है । यह सत्त्वप्रधान तत्त्व है । जीवके ज्ञानकी उत्पत्तिमें बुद्धिकी प्रधानता है । बुद्धि साक्षात् ज्ञेय वस्तुको पुरुषके निकट उपस्थापित करती है । गाँवका अध्यक्ष गाँवसे कर लेकर देशके अध्यक्षको देता है और देशाध्यक्ष सर्वाध्यक्षको देता है, सर्वाध्यक्ष राजाको देता है । इसी प्रकार बाह्य इन्द्रियाँ पुरुषके भोगके विषयोंको मनको, मन अहंकारको, अहंकार बुद्धिको उपस्थापित करता है । इसलिये बुद्धिकी प्रधानता है । पुरुषके भोग और मोक्षके लिये बुद्धि ही प्रधान रूपसे सहायक होती है ।

प्रकृति सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—इन तीन गुणोंवाली है । सत्त्वगुण सुखस्वरूप है, रजोगुण दुःखस्वरूप है, तमोगुण मोहस्वरूप है । प्रकाशके लिये सत्त्वगुण, क्रियाके लिये रजोगुण और संयमन अर्थात् आवरणके लिये तमोगुण माना गया है । सत्त्वमें लघुता है, अग्नि आदिका ऊपर गमन सत्त्वगुणके कारण ही होता है । नेत्र आदि इन्द्रियाँ सत्त्वगुणके कारण विषयोंके ग्रहणमें समर्थ होती हैं । चलन अर्थात् गति रजोगुणका स्वरूप है, इसी कारण सत्त्व और तमोगुण गतिमान होते हैं । विश्वके सभी विषय त्रिगुणात्मक हैं, किंतु जिस गुणकी प्रबलता रहती है, उस समय उसके अनुरूप अनुभूति होती है । सत्त्वगुणकी प्रबलता रहनेपर सुखानुभव होता है और रजोगुणकी प्रबलतासे दुःख और तमोगुणसे मोह होता है । त्रिगुणात्मक एक प्रकृतिसे अनन्त गुणवाले जगत्की सृष्टि होती है । जैसे मेघके समान जलसे ताल, बेल, आँवला, नीम, नारियल आदि विभिन्न आधारोंमें विचित्र स्वादका जल होता है ।

दूसरा तत्त्व पुरुष है, यह प्रकृतिसे अलग है । इसमें कोई गुण नहीं है, अतः वह सुख-दुःख-मोहात्मक नहीं है । पुरुष चेतन है और प्रकृति अचेतन, परिणामशील और भोगका साधन है । पुरुष संख्यामें अनेक हैं । सर्वव्यापी होनेसे इसकी गति सम्भव नहीं है । इसका किसी भी समय नाश नहीं होता । यह पाप-पुण्यशून्य है, नित्य ज्ञान-स्वरूप, नित्य चेतन है, दुःख आदिसे इसका स्पर्श नहीं है । प्रकृति-पुरुषका अनादि कालसे सम्बन्ध होनेसे उनका संयोग भी अनादि है । बुद्धिपर पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़ता है । इस प्रतिबिम्बके कारण पुरुष प्रकृतिके सुख-दुःख आदिको अविवेकसे अपना मान लेता है । जैसे स्फटिकको लाल वस्तुपर रखनेपर लालिमा लक्षित होती है, किंतु लालिमा उसकी नहीं है और न उसमें आती है, किंतु रक्त स्फटिकका केवल अभिमान होता है, वैसे ही दुःखी-सुखी पुरुषका अनुभव अभिमान मात्र है । जैसे सैनिकोंके द्वारा जय या पराजय होती है, किंतु राजाकी जय कही जाती है, वैसे ही भ्रमके कारण पुरुषको सुख-दुःखका भान होता है । आत्माका भ्रम होनेसे ये सभी घटनाएँ होती हैं ।

प्रकृतिका यह परिणाम पुरुषकी मुक्तिके सम्पादनके लिये होता है । प्रत्येक पुरुषका लिङ्ग-शरीर भिन्न है । प्रकृति जिसकी मुक्ति सम्पन्न करती है उसके लिङ्ग-शरीरके उत्पादनसे वह विरत हो जाती है । मैं प्रकृतिसे अलग हूँ—यह ज्ञान होते ही पुरुषके प्रति उसकी प्रवृत्ति नहीं होती । यह प्रकृति वैसी ही गुणवाली और उपकारी है जैसे गुणवान् नौकर अनुपकारी स्वामीका होता है । मुक्ति-सम्पादन करनेपर भी इसे कुछ मिलता नहीं है; क्योंकि प्रकृति सगुण है और पुरुष निर्गुण नित्यमुक्त है । प्रतिबिम्बके कारण ही बन्धन है । इसकी जीवस्वरूपता भेदका ज्ञान न होनेतक ही रहती है । विवेकी व्यक्तिके लिये जगत्का सब कुछ दुःखमय है । इन्द्रियकी भोगस्पृहा कभी भी समाप्त नहीं होती । अग्निमें घीकी आहुतिके समान इन्द्रियकी भोग-स्पृहा बढ़ती रहती है । बन्धन स्वाभाविक नहीं है, अविवेकके कारण ही बन्धन है । यदि यह स्वाभाविक होता तो मुक्ति नहीं हो सकती ।

स्थूल-सूक्ष्म सभी दुःखोंकी सदाके लिये निवृत्ति ही मुक्ति है । मैं परिणामी नहीं हूँ, अतः मैं कर्ता नहीं हूँ, अकर्तृत्वके कारण वास्तविक स्वामित्व नहीं है । विवेक-ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है और अविद्याके नाशसे उसका कार्य—राग-द्वेष समाप्त हो जाता है । आभिमानिक

कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी समाप्त हो जाता है । इस समय प्रकृति जानती है कि पुरुषके लिये अब कुछ करना ही नहीं है; क्योंकि वह भोक्ता नहीं है । विवेकसम्पन्न व्यक्ति मर नहीं जाता । इस समय अज्ञानी व्यक्तिको उपदेश प्रदान कर लोक-कल्याणमें वह तत्पर रहता है । राग और द्वेष न होनेसे सबका कल्याण करना और उसकी प्राप्तिका मार्ग बताना ही उसका कर्तव्य शेष रहता है । वह लोगोंको दुःखी देखकर उन्हें दुःखसे छुटकारा दिलानेके लिये प्रकृतिके कार्योंकी सूचना देता है और प्रकृतिके कार्योंसे लोकको सुख-दुःखसे शून्य होकर जीवन-यापनकी शिक्षा देता है ।



न्याय-दर्शन और शिक्षा

सम्पूर्ण विश्वको दुःखमें निमग्न देखकर महामुनि गौतमने दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिये न्याय-शास्त्रका प्रणयन किया । इसका दूसरा नाम आन्वीक्षिकी-विद्या भी है । भगवान् अक्षपाद गौतमने इस अध्यात्मविद्याका प्रकाश किया था । नीति, धर्म और सदाचारकी प्रतिष्ठाके लिये देवगणोंकी प्रार्थनाके अनुसार स्वयम्भू भगवान्ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि एवं त्रयी (वेद), आन्वीक्षिकी, वार्ता तथा दण्डनीतिका प्रचार किया था । न्याय-सूत्रमें ५ अध्याय हैं । प्रथम तथा द्वितीय अध्यायोंमें प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, द्रष्टा, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान—इन सोलह तत्त्वोंका वर्णन है । इनके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । इस सूत्रके प्रणेता गौतम हैं, जिनका संक्षेपमें परिचय निम्नलिखित है ।

न्याय-सूत्रके भाष्यकार आदि अक्षपादका न्याय-सूत्रके प्रणेताके रूपमें उल्लेख करते हैं । गौतम या गौतम मुनिकी भी प्रणेताके रूपमें चिरकालसे प्रसिद्धि है । स्कन्दपुराणमें कहा गया है कि अहल्यापति गौतम मुनिका ही दूसरा नाम अक्षपाद है—

अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन्मुनिः ।
गोदावरीसमानेता अहल्यायाः पतिः प्रभुः ॥

(माहे० खण्ड ५५ । ५)

गौतम अहल्यापति थे, यह तो रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें वर्णित है । वर्तमान दरभंगा स्टेशनसे ७ कोस उत्तर कमतौल नामक स्टेशनसे ४ कोसकी दूरीपर गौतमका प्रसिद्ध आश्रम है । यहीं गौतम मुनि तपस्या करते थे और गौतमी गङ्गाको लाये थे । किसी समय प्याससे पीड़ित गौतमने देवताओंसे जलकी प्रार्थना की । तब उनके निकट ही कूपका उद्गारकर देवताओंने गौतमको परितृप्त किया । गौतम-आश्रमसे २ कोसकी दूरीपर अहल्याका स्थान भी प्रसिद्ध है । कुछ लोग छपराके संनिकट भी गौतमका आश्रम बतलाते हैं, किंतु शतपथ-ब्राह्मणमें गौतमका सदानीराको पारकर विदेहमें जानेकी बात कही गयी है । ऋग्वेद-संहिता (१ । ८५ । ११) में कूपकी उपलब्धिकी चर्चा वर्णित है ।

गौतम राहुगणके पुरोहित थे—ऐसा शतपथ-ब्राह्मणद्वारा ज्ञात होता है । अहल्याके पुत्र शतानन्द जनकके पुरोहित थे—इसका उल्लेख रामायणमें है ।

पुराणोंके अनुसार गौतमके शिष्य कृष्णद्वैपायन व्यासने किसी समय गौतमके मतकी निन्दा की थी, तब गौतमने प्रतिज्ञा की कि मैं इस नेत्रसे तुम्हारा मुख नहीं देखूँगा । पुनः वेदव्यासकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर गौतमने अपनी पूर्व प्रतिज्ञाका स्मरण करते हुए पैरमें चक्षुकी सृष्टि कर वेदव्यासको देखा । उस समय वेदव्यासने अक्षपादके द्वारा उनकी स्तुति की थी । देवीपुराणके सोलहवें अध्यायमें शुम्भ-निशुम्भको मारनेके बाद गौतमके अक्षपाद नाम और न्याय-दर्शनकी रचनाका कारण वर्णित है । रजि-पुत्रोंको मोहित करनेके लिये नास्तिक्य-मतका प्रचार किया गया

था। फलतः याग-यज्ञ आदि विलुप्त होने लगे। देवगणोंने शिवजीकी आराधना की और उनके आदेशके अनुसार गौतमकी शरणमें गये। गौतमने नास्तिक्य-मतके निरासके लिये पदयात्रा की। शिवजी शिशु-रूपमें उपस्थित होकर नास्तिक-मतके अनुसार तर्कको उपस्थित करने लगे। सात दिनतक विचार करनेके बाद भी उन्हें पराजित न होते देखकर गौतम चिन्तित हो मौन हो गये। शिवजीने उपहास करते हुए कहा—'वेदधर्मज्ञ मुने! मेधाविन्! एक सामान्य बालकको पराजित किये बिना ही क्यों मौन हो गये? ऐसी स्थितिमें ज्ञान और अवस्थामें वृद्ध नास्तिकोंको तुम कैसे परास्त कर सकोगे?' शिवजीको पहचानकर गौतमने उनकी प्रार्थना आरम्भ कर दी। शिवजीने वृषवाहनरूपमें उपस्थित होकर धन्यवाद दिया।

शिवजीने कहा—'मैं तुम्हारा नाम धारण करूँगा और तुम्हारे तीन नेत्र होंगे।' उनके वाहनने १६ पदार्थोंको प्रदर्शित किया। शिवजीकी कृपा प्राप्तकर इन १६ पदार्थोंका ईक्षण-दर्शन कर गौतमने नास्तिक-मतका नाश करनेवाली आन्वीक्षिकी विद्याका प्रचार किया। ब्रह्माण्डपुराणमें ऐसा शिववाक्य मिलता है कि ७वें द्वापरमें जब जातूकर्ण्य व्यास होंगे, उस समय प्रभासतीर्थमें योगात्मा सोमशर्मा नामसे मैं अवतरित होऊँगा। अक्षपाद, कणाद, कुलू और वत्स—ये चार तपोधन मेरे शिष्य होंगे। अन्य पुराणोंमें भी इस तरहका वर्णन उपलब्ध होता है। अक्षपाद गौतम एक महान् तपस्वी ऋषि हुए, जिन्होंने न्याय-शास्त्रकी रचना की। इस विद्याकी अतिशय प्रशंसा शास्त्रोंमें मिलती है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

'आन्वीक्षिकी विद्या सदा सम्पूर्ण विद्याओंकी प्रदीपस्वरूपा, सभी कर्मोंकी उपायरूपा तथा समस्त धर्मोंकी आश्रयभूता मानी गयी है।'

अक्षपादने मोक्षकी प्राप्तिका उपाय न्याय-सूत्रके द्वितीय सूत्रमें वर्णित किया है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्त-
रोत्तरापायेतदनन्तरापायादपवर्गः। (१।१।२)

कार्य बादमें होता है और कारण पूर्वमें होता है। अतः कारणके नाशसे कार्यका नाश कहा गया है। दुःखका कारण जन्म है और जन्म न होनेपर दुःखका नाश हो जायगा। जन्मका कारण प्रवृत्ति है अर्थात् धर्म-अधर्म दोनोंके नाश होनेपर जन्मका नाश हो जायगा। प्रवृत्तिका कारण राग-द्वेषादि दोष हैं। अतः राग-द्वेषादि दोषके नाश होनेपर प्रवृत्तिका नाश होता है। दोषका कारण मिथ्याज्ञान है अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर राग-द्वेषकी निवृत्ति हो जाती है। मिथ्याज्ञान ही अविद्या है और यह राग-द्वेषको उत्पन्न कर संसारका कारण बनती है, इसके नष्ट होनेपर विद्याके द्वारा दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। उन्होंने इसी अध्यायके २२वें सूत्रमें कहा है—**'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'** अर्थात् दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। न्याय-भाष्यकारने कहा है कि '**तद् अभयम् अजरम् अमृत्युपदं ब्रह्म क्षेमप्राप्तिरिति**।' इस प्रकार न्यायका उद्देश्य मोक्ष है, किंतु मोक्षकी प्राप्तिके लिये राग-द्वेष और मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति आवश्यक है।

गौतम-सूत्रके भाष्यकार वात्स्यायन हुए हैं और वात्स्यायनपर उद्योतकरने वार्तिक लिखी है। वाचस्पति मिश्रने उसपर 'भारतीय-तात्पर्य' टीका लिखी है और उदयनने 'तात्पर्य-परिशुद्धि' का प्रणयन किया है।

न्यायदर्शनके आचार्योंकी प्रवृत्ति व्यष्टिमूलक नहीं थी, वे समाजके लिये अपने जीवनका उत्सर्ग करनेके लिये भी तत्पर रहते थे। ये मुनिगण मुक्त होकर भी किसी प्रकारके अदृष्ट फलका भोग करनेके लिये जन्म-ग्रहण नहीं करते थे, किंतु भगवान् जैसे आततायियोंसे भक्तों एवं जनताका उद्धार करनेके लिये तथा कर्तव्यमार्गका अपने आचरणसे दीक्षा देनेके लिये अवतीर्ण होते हैं, वैसे ही मुनिजन भी तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिकर पुनः संसारमें अवतीर्ण होकर दुःखपङ्कमें निमग्न व्यक्तियोंको उससे छुटकारा दिलानेके लिये ज्ञान और आचरणके द्वारा लोगोंको शिक्षा देकर लोककल्याणमें तत्पर थे। न्यायकी शिक्षामें राग-द्वेषरूपी दोषको हटानेके साधनका ही निर्देश किया गया है। इस राग-द्वेषका मूल कारण अविद्या या मिथ्याज्ञान है, जिसकी निवृत्ति जीवनमें सत्यकी उपलब्धि है।

वैशेषिक दर्शन और उसकी शिक्षा

वैशेषिक दर्शन और पाणिनीय व्याकरणको सभी शास्त्रोंका उपकारक माना गया है—**'काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्'** । इस दर्शनका नाम 'वैशेषिक काणाद' तथा 'औलूक्य दर्शन' भी है । इसके आद्यप्रवर्तक महर्षि कणाद या उलूकको माना गया है । उदयनाचार्यके अनुसार कश्यपगोत्रमें उत्पन्न होनेके कारण ये काश्यप नामसे प्रसिद्ध हुए । वायुपुराणमें कणादको प्रभासका निवासी, सोमशर्माका शिष्य और शिवका अवतार कहा गया है । कणादका अर्थ कणको भक्षण करके जीवन-यापन करनेवाला होता है—**'कणानत्तीति कणादः'** (व्योमवती पृ०२०) अथवा **'कणान् परमाणून् अत्ति'** अर्थात् सिद्धान्तके रूपमें जो स्वीकार करता है वह कणाद है । ये कपोत-वृत्तिका आश्रयण कर गिरे हुए अन्नके कणोंको खाकर जीवन-यापन करते थे, इसीलिये इनका नाम कणाद पड़ा—**'तस्य कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठतः रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादाय प्रत्यहं कृताहारनिमित्ता संज्ञा'** । कुछ लोग इनके पिताका नाम उलूक मानते हैं । जैनाचार्य राजशेखरके कथनानुसार भगवान् शंकरने उलूक-रूपमें इस शास्त्रका उपदेश दिया था, इसलिये इसे औलूक्य कहा जाता है—**'मुनये कणादाय स्वयमीश्वरः उलूकरूपधारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्यगुणकर्म-सामान्यविशेषसमवायलक्षणं पदार्थषट्कम् उपदिदेश ।'** (राजशेखर न्या०ली०भूमिका पृ०२)

वैशेषिकको समानतन्त्र, समानन्याय एवं कल्पन्याय भी कहते हैं । इसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और पञ्चमतत्त्वके विशेष होनेसे इसका नाम वैशेषिक पड़ा है । वैशेषिकपर प्रशस्तपाद-भाष्य, व्योमवती, किरणावली, न्यायकंदली, सेतुटीका, दशपदार्थी आदि अनेक प्राचीन टीकाएँ हैं । इसका चीनी भाषामें भी अनुवाद है । अरस्तूके सिद्धान्तोंपर भी इसका प्रभाव है । भाषापरिच्छेद, तर्कसंग्रह, मुक्तावली आदि इसीके प्रतिपादक हैं । अंग्रेजीमें इसका अनुवाद प्रसिद्ध है । शंकरमिश्रने इसके २४ तत्त्वोंकी परिगणना की है । इसमें आर्ष, प्रत्यक्ष, स्मृति आदि ४ प्रकारकी शिक्षाएँ मानी गयी हैं (१३४, २४७, ३४२, ३५४, २५३) आदि । ३४८-५८ सूत्रोंमें स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि आदिका परिचय देकर साधनासे तत्त्व-साक्षात्कारकी बात कही गयी है ।

वैशेषिक सूत्र दस खण्डोंमें विभक्त है । इसके सूत्र (९ । २ । १३) की व्याख्यामें शंकरमिश्रने लिखा है कि गालवादि ऋषियोंको अतीत जगत्का ज्ञान आर्ष शिक्षाका ही परिणाम था । अन्य सिद्धोंकी सिद्धियाँ भी शिक्षा एवं धर्मकी ही फलस्वरूपा थीं । आर्षज्ञान चौथी शिक्षा है । इसपर प्रशस्तपादका 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' नामका भाष्य है, किंतु यह मौलिक रचनाके ही रूपमें प्रतीत होता है । इन्हीं सूत्रोंपर शंकरमिश्रकी 'उपस्कार' नामक महत्त्वपूर्ण टीका है । इसके व्याख्याकारोंमें व्योमशिवाचार्य, श्रीधर, उदयन आदिका नाम विशेषरूपसे दिया जा सकता है । वैशेषिक दर्शन छः तत्त्वोंको स्वीकार करता है । द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-अभावका नाम नहीं लिखा है, किंतु व्याख्याकारोंने इसे भी इन्हीं सूत्रोंकी व्याख्यासे सिद्ध कर लिया है । इसमें प्रत्यक्ष और अनुमान—दो ही प्रमाण माने गये हैं । इनके सूत्रोंका आरम्भ **'अथातो धर्मजिज्ञासा'**से होता है । **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः'** (१ । १ । २)—जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस्की सिद्धि होती है, वह धर्म है ।

कणादका परमाणुवाद और विशेषपदार्थ सर्वथा अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा वैशिष्ट्य आधान करता है । परमाणु अविभाज्य सर्वतः सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थ है । यह नित्य है, इसीसे सृष्टिका आरम्भ होता है । दो परमाणुओंसे द्व्यणुक एवं कतिपय द्व्यणुकके संयोगसे त्रसरेणु उत्पन्न होता है, इसी क्रममें घट, पट आदि होते हैं ।

वैशेषिक सिद्धान्तमें आत्माको अनेक माना गया है । व्यवस्थाके लिये ही आत्माकी अनेकता मानी गयी है । व्यवस्था शब्दका अर्थ प्रतिनियत है । प्रत्येक पुरुषकी प्रतिनियत अवस्था है । जैसे—कोई धनी, कोई दरिद्र, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई उच्चवंशीय, कोई नीचवंशीय, कोई विद्वान्, कोई मूर्ख । इसलिये विभु आत्मा

प्रतिनियत-भेदके अनुसार सिद्ध होता है। इस सिद्धान्तमें मोक्षकी प्राप्तिके लिये निवृत्ति-लक्षण धर्मका अनुष्ठान आवश्यक है, इससे धर्म होता है, इस धर्मके द्वारा परमार्थ-वस्तुके ज्ञानसे सुखका उत्पादन होता है, वह दुःखसे रहित हो जाता है (प्रशस्तपाद-भाष्य ६४४ पृ०)। आशय यह है कि जीवके मिथ्याज्ञानके कारण राग और द्वेष होता है और राग-द्वेषसे धर्माधर्म होता है, धर्म और अधर्मके फलस्वरूप सुख और दुःखका भोग होता है और यही संसार है। इस प्रकार जीवके संसारके मूलमें मिथ्याज्ञान है, इस मिथ्याज्ञानके कारण संसारकी व्यवस्थाके उपपादनके लिये शरीर, इन्द्रिय, विषय, ईश्वरकी कल्पना की गयी है, किंतु वासनाके साथ मिथ्याज्ञानके उच्छेदमें प्रदर्शित सभी भोग-व्यवस्था उच्छिन्न हो जाती है। भोगक्रिया, भोक्ता, भोग्य और भोगसाधन—ये एक साथ सम्बद्ध रहते हैं। भोक्ता भोगक्रियाका कर्ता है, भोग्य भोगका विषय है, भोगका साधन इन्द्रियसमूह है। भोगक्रियाके उच्छिन्न होनेपर भोक्ता, भोग्य और भोगसाधन—ये तीनों उच्छिन्न हो जाते हैं, इन तीनोंका उच्छेद ही संसारका उच्छेद है। अतः वासनासहित मिथ्याज्ञानकी वास्तविक सत्ता नहीं है। वासनासहित संसारकी भी परमार्थता दर्शन नहीं मानता, अतः आत्मा ही पारमार्थिक है। मिथ्याज्ञानके कारण ही आत्माका कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि आत्म-विकार होता है और तत्त्व-ज्ञाननिबन्धन आत्माका अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व आदि स्व-स्वरूप अवस्था है। अतः तत्त्वज्ञान ही वैशेषिक दर्शनका उद्देश्य है।

इस दर्शनके अध्ययन या महर्षिसे शिक्षा प्राप्त कर मानव अपने कर्तव्यरूप भोक्तृत्व आदि अभिमानसे रहित हो जाता है। वासनात्मक संसारके न रहनेपर भी राग-द्वेषमूलक प्रवृत्ति उच्छिन्न हो जाती है। वह संसारमें रहकर स्वस्थ आत्मासे मानवमात्रके कल्याणमें तत्पर हो जाता है, आत्माकी व्यापकताके परिप्रेक्ष्यमें राष्ट्र और समाजका हित-चिन्तन करता हुआ अनासक्त वासनारहित हो संसारमें रहते हुए भी किसीके उद्वेगका कारण नहीं बनता। वह किसीके उपयोगमें न आनेवाले क्षेत्रमें अन्नसे जीवन-यापन करता हुआ मानव-कल्याणमें तत्पर रहता है। दीप्ति-अर्थके वाचक पूर्ण आलोकमें व्यापक आत्माकी स्वीकृति शरीररूपी उपाधिसे युक्त आत्माको वैयक्तिक सुखकी अभिलाषासे रहित हो सकलजनसुखाय, सकलजनहिताय प्रवृत्त हो शिवत्वरूपमें अवस्थान करना है। भोक्ता भोग्यके रूपमें अनुगृहीत न होकर आत्म-अनुग्रहके अभावमें भी अन्यके अनुग्रहके लिये जीवन-यापन करता है। विश्वको सत्य मानकर मुक्तावस्थामें नैयायिक और वैशेषिक अनात्म-प्रपञ्चस्वरूप विश्वकी निष्प्रयोजनता मानते हैं, यही जीवके मुक्तावस्था अर्थात् द्रष्टाकी स्वाभाविक अवस्था है।

दुःख-संतति अनादि है, अतः वैशेषिक दर्शनके अनुसार दुःख-परम्पराका उच्छेद कैसे सम्भव हो सकता है? इस जिज्ञासाके समाधानमें आचार्योंका कहना है कि अनादि दुःख-परम्पराका मूल मिथ्याज्ञान है, मिथ्याज्ञानके रहनेपर ही दुःखपरम्परा रहेगी, उसके मूलकारण मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर दुःखका भी नाश हो जायगा। अदृष्टके कारण ही भोग है। प्रदीपकी शिखाका मूल तेल है, तेलका नाश हो जाय तो दीपशिखाकी परम्पराके नाशके लिये कुछ करना ही नहीं पड़ता। इसके नाशमें कोई समयका नियम भी नहीं है। कोई प्रदीप दिन-रात जलता है, कोई शीघ्र ही बुझ जाता है। तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेसे निर्मूल दुःखपरम्परा स्वयं नष्ट हो जाती है—**'दुःखसंततिधर्मिणी अत्यन्तमुच्छिद्यते संततित्वाद् दीपसंततिवदिति।'** इसीलिये आचार्यने कहा है कि विश्वके द्रव्य, गुण आदि पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्यके ज्ञानसे तत्त्वज्ञान होता है तथा तत्त्वज्ञानसे अभ्युदय और निःश्रेयस् होता है। इसके लिये धार्मिक कर्मोंका अनुष्ठान आवश्यक है—

'धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' (वै० सू० ४)

इस शास्त्रमें जीवमें **योगजन्य** समाधिसे धर्मविशेष स्वीकार किया गया है। उपासना आदि क्रियाविशेषके अभ्याससे धर्म उत्पन्न होता है, इसके फलस्वरूप सभी

पदार्थ हाथपर रखे हुए आँवलेके समान प्रत्यक्ष हो जाते हैं तथा देहमें दुःखकी कारणभूता आत्मभ्रान्तिकी निवृत्ति हो जाती है । फलतः देहको आत्मा माननेसे जो राग-द्वेष होता है, वह समाप्त हो जाता है । जब शरीराभिमान नष्ट हो जाता है, तब शरीर ही दुःख है—यह ज्ञात हो जाता है । इन्द्रियाँ, विषय और बुद्धि दुःखके साधन हैं तथा आत्मा दीपस्थानीय है और ये सब तैलस्थानीय हैं, इसकी भी जानकारी हो जाती है । इस स्थितिमें मानव शरीराभिमानरहित होनेपर किसीकी भी हानिके लिये सचेष्ट नहीं होता; क्योंकि वह राग-द्वेषशून्य हो जाता है । तब उसकी प्रवृत्ति आत्मकल्याणके लिये होती है और आत्मकल्याण मानवमात्रके कल्याणका साधक होता है । इसे इस प्रकार भी समझ सकते हैं—अज्ञानका क्या स्वरूप है?—आत्मगुणविशेष विनश्वर शरीरमें आत्माभिमान । दुःखका क्या स्वरूप है ? आत्मविशेषगुण प्रतिकूलवेदनीय । ज्ञानका क्या स्वरूप है ?—आत्माका विशेष गुण-मैं (अहं) नित्य हूँ, यह भावना-स्वरूप ।

इसीलिये कहा गया है—'**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।**' तत्त्वज्ञान वस्तुका यथार्थ ज्ञान है, अतः वैशेषिक दर्शन सभी मुक्तिका साधनमात्र है । इसके ज्ञानके द्वारा लोकमात्रका कल्याण होता है ।

मीमांसा-दर्शन और शिक्षा

तैत्तिरीय-संहिताके प्रथम प्रपाठकके प्रथम अनुवाकमें कहा गया है—समग्र वेद दो काण्डोंमें विभक्त है । पूर्वकाण्डमें नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध—इन चार प्रकारके कर्मोंका निरूपण किया गया है । ये कर्म प्रवृत्ति-लक्षणसे आक्रान्त धर्म हैं । उत्तरकाण्डमें सद्योमुक्ति और क्रममुक्तिके मोक्षरूप पुरुषार्थकी सिद्धि कही गयी है । इन दोनों मुक्तियोंके प्रकार निवृत्तिलक्षण कर्मसे आक्रान्त हैं ।

दर्शन मुनिधाराके रूपमें वैदिक विचारका पल्लवन है । आयतन विशाल होनेसे सहस्रधाराओंमें प्रवाहित दार्शनिक चिन्ता आपात-दृष्टिसे मतद्वैधके रूपमें आभासित होने लगती है । ज्ञान और कर्मके मध्यमें प्राचीरकी रचना परवर्ती कालकी देन है । एक अद्वितीय अखण्ड चैतन्यकी उपासनामें भेदका प्राचीर नहीं था । द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञकी चर्चा गीतामें मिलती है, किंतु उसकी परिसमाप्ति ज्ञानमें ही की गयी है । आत्माको चिन्मय भूमिमें अवतीर्ण करना ही ज्ञान और कर्मका समान उद्देश्य है, यह चिन्मयपूर्वक ही स्वर्ग है । वेदकी आदिमीमांसा ब्राह्मण है । मीमांसाके अनवच्छिन्न रूपमें प्रवाहित होनेपर भी इसे सुसम्बद्ध रूप जैमिनिने दिया है । अध्यात्मसाधनामें शब्दमूर्ति देववाद है । देववादका मूल आधार श्रद्धा है । श्रद्धा मानवचित्तकी मौलिक इन्द्रियसे अतीत वृत्ति है । देव या कर्मका साधन श्रद्धा है । पूर्वमीमांसाका उपजीव्य ब्राह्मणका भाग है । पूर्वमीमांसा कर्ममीमांसा, कर्मकाण्ड या साधन-शास्त्र है । साधनाका उपकरण स्थूल द्रव्य है, किंतु लक्ष्य स्वर्ग या अध्यात्म-चेतनाकी भूमि है । पूर्वमीमांसा वेदकी रक्षा या प्रामाण्यके लिये है । वेद एक सार्वभौम अखण्ड प्रकाश या ज्ञान-की साधना है, इसका उद्देश्य आचारमें निष्ठा और आचारकी दृष्टिसे कर्तव्यज्ञानका प्रचार है । कर्मकी यात्राका चरम लक्ष्य अमरत्वकी प्राप्ति है । अमरत्व विश्वज्योतिके साथ एकात्म-लाभ है । विश्वके साथ ज्ञान-देहसे एक होकर सबके कल्याणके लिये एकाङ्गी जीवनसे निरपेक्ष सार्वजनीन जीवनके रूपमें कर्तव्य-पथपर चलना है । इस प्रकार यह कर्म जटिल भी है और सरल भी ।

महर्षिके समान जीवनयात्रामें परायण, आचारसे निस्त्रैगुण्य होते हुए भी जीवोंके लिये महाकरुणासे सदा आर्द्रचित्त मुनिगण तपोवनमें रहते थे । महर्षि जैमिनिने आत्मानुग्रहकी इच्छाके बिना भी वेद-कल्पतरुसे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापत्रयको नाश करनेवाले

ज्ञानविज्ञानरूपी फलको देनेवाली मीमांसाका आविष्कार किया । यह बौद्धोंके तारुण्यका काल था और परम करुणामयी वृद्धा जननीके समान वेद करुणामात्रका पात्र था । शरीरको ही सर्वस्व माननेवाली संतान कल्याणसमूहकी सम्पादिका वेद-माताकी सेवासे विमुख थी ।

विविध विद्याओंसे समन्वित वेद-कल्पतरुकी सुशीतल छायामें त्रिविध-तापदग्ध जीव शान्ति-लाभ करते हैं, इसका अर्थ-विचार ही मीमांसा है । कर्म और ज्ञानके भेदसे ही मीमांसा (पूर्वमीमांसा) वेदान्त (उत्तरमीमांसा) अर्थात् कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा है । उपासनाकाण्डने, जो श्रद्धाके आवेशपर प्रतिष्ठित है, अपना अस्तित्व ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डमें विसर्जित कर दिया । वैदिक कालपर दृष्टि-पात करनेपर उपासनामें ही कर्म और ज्ञान अपने भेदको समाप्त कर अङ्गके रूपमें अवस्थित रहते हैं । उपासनामें गृहस्थ, संन्यासी, कोई वर्णविशेष या आश्रमविशेष ही आबद्ध न था । कर्म और ज्ञान चारों वर्णोंके साथ आश्रमकी दृष्टिसे भिन्न थे । चतुर्विध पुरुषार्थस्वरूप स्तन्यपान करानेके लिये वेदमाता सतत उद्यत थी । कर्मसे अनादिकालसे संचित पापपङ्कका प्रक्षालनपूर्वक चित्तकी निर्मलता सम्पादित होती है । तदनन्तर विश्व-कल्याण-कामनारूपी निष्कामभावसे शास्त्रीय कर्मोंका विधिके अनुसार अनुष्ठान कर ब्रह्माद्वैत या विश्वाद्वैतका ज्ञान होता है ।

मीमांसामें तीन प्रस्थान प्रसिद्ध हैं—प्रभाकर (गुरुमत), कुमारिल (भाट्टमत) और मुरारिमिश्र (मिश्रमत) । प्रभाकरने जिस मीमांसा-सिद्धान्तका समर्थन किया है वह अतिशय प्राचीन है । कर्मके प्रतिपादक वेदभागकी ही मीमांसा प्रभाकरने की है ।

मीमांसा-दर्शनके सूत्रोंके आधारपर दर्शनशास्त्रके आलोच्य सृष्टितत्त्व, आत्मतत्त्व एवं ईश्वरतत्त्वका स्पष्ट रूपमें निर्देश नहीं मिलता, किंतु वट-बीजके समान उसमें स्थित इन तत्त्वोंको परवर्ती आचार्योंने व्याख्यानके क्रममें उद्घाटित किया है । संसारके अनादि होनेसे उसमें सृष्टि और प्रलय नहीं हैं ।

वेद-विहित कर्मोंका कर्ता और भोक्ता एवं उसके फलका भोक्ता होनेसे व्यावहारिक जीव ही आत्मा है अर्थात् शरीरसे अतिरिक्त अहंके द्वारा गम्य आत्मा है और वह जन्म, मरण, स्वर्ग और नरकके साथ सम्बद्ध है, चिर-विनष्ट कर्मोंकी उपपत्तिके लिये अपूर्व, अदृष्ट या पाप-पुण्यके संस्कारको कर्मजन्य फलको देनेवाला माना गया है । कर्मके अनुसार फल होता है, ईश्वर फलको देनेवाला नहीं है । मीमांसामें कर्मकी प्रधानता मानी गयी है ।

मीमांसा-सूत्र बारह अध्यायोंमें विभक्त है । प्रथम अध्याय प्रमाण-लक्षण है । इसमें धर्मके प्रमाणके सम्बन्धमें धर्मके लक्षण एवं बौद्धोंके धर्म और प्रमाणके विषयमें प्रदर्शित सिद्धान्तका खण्डन है ।

द्वितीय अध्याय भेद-लक्षण है । उत्पत्ति-विधिके द्वारा बोधित धर्मकी चार पादोंमें आलोचना की गयी है, किंतु उत्पत्ति-विधिकी आलोचना प्रधान है ।

तृतीय अध्याय शेष-लक्षण है । शेष अङ्ग, अङ्गी या प्रधानका उपकारक होता है । इस अध्यायके आठ पादोंमें इनकी आलोचना की गयी है ।

चतुर्थ अध्याय प्रयोग-लक्षण है । इसमें कौन धर्म किसके द्वारा प्रयुक्त होकर अपूर्वका जनक होता है, इस प्रकार प्रयोगसे सम्बद्ध विषयका वर्णन है ।

पञ्चम अध्याय क्रम-लक्षण है । मुख्य एवं प्रवृत्तिके अनुसार कर्मका परम्पराक्रममें श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान—इन चार पादोंमें वर्णन है । इस प्रकार चतुर्थ और पञ्चम अध्यायोंमें प्रयोग-विधिकी आलोचना है ।

षष्ठ अध्याय अधिकार-लक्षण है । किस कर्ममें किसका अधिकार है, इस अध्यायके आठ पादोंमें इसकी आलोचना की गयी है ।

सात और आठ अध्यायोंके चारों पादोंमें सामान्यातिदेश एवं विशेषातिदेशका निरूपण है । इसे अतिदेश-लक्षण कहा गया है । नवम अध्यायके चारों पादोंमें ऊहका व्याख्यान है ।

दशम अध्याय वादविवाद-लक्षण है । इस अध्यायके आठ पादोंमें बाध-लक्षणका विचार है ।

एकादश अध्याय तन्त्र-लक्षण है । इसके चार पादोंमें तन्त्रका विचार किया गया है ।

द्वादश अध्याय प्रसङ्ग-लक्षण है । इसके चार पादोंमें

प्रसङ्ग-लक्षणका विचार किया गया है।

आचार्यगण

मीमांसा वेदके समान ही अनादि है। जैमिनि व्यासके समकालीन हैं; क्योंकि जैमिनि व्यासके शिष्य थे। इन्होंने महाभारतकी भी शिक्षा पायी थी। इन्हें सामवेदका भार प्राप्त था, ऐसा कुमारिलके तन्त्र-वार्तिकसे अवगत होता है। मीमांसाकी रचना जैमिनिने की थी। जैमिनिने सूत्रोंकी भी रचना की है। इनके सूत्रोंपर शबरमुनिने शाबर-भाष्यकी रचना की है। शाबर-भाष्यके प्रधान व्याख्याकार कुमारिल और प्रभाकर हैं। इनके भिन्न व्याख्यान हैं।

मीमांसासे शिक्षा

मीमांसा-दर्शन कर्तव्य-मीसांसा है। मानवके कर्तव्योंकी व्यावहारिक दृष्टिसे व्याख्या इसका मुख्य उद्देश्य है। इसमें राजकीय शासनोंके अनुरूप अनेक न्यायोंका निरूपण कर उसकी प्रयोगानुरूप व्याख्या की गयी है। प्रपञ्चका विलय मोक्ष माना गया है। अतः शरीरावच्छिन्न एकाङ्गी आत्माको मानकर मनुष्य राग-द्वेषसे आबद्ध होकर भवबन्धनमें पड़ा रहता है। अतः विशुद्ध ज्ञान-शरीरकी प्राप्ति कर बाहरी फलकी कामनासे मुक्त होकर नित्यकर्मोंका तथा नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान ही अभिप्रेत है। यह किसी विशेष कामनाके अनुरूप आचरण एवं निषिद्ध कर्मोंका आचरण छोड़कर सामान्य रूपमें विश्वके कल्याणकी भावनाको कर्तव्यके रूपमें मानता है। इसीलिये कुमारिलने कहा है—'**इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति . . .** 'अर्थात् कर्तव्य अंशका पूरण मीमांसा करती है। कर्तव्य और कर्म दोनोंकी शिक्षा इस दर्शनकी देन है। इसमें जितने भी यज्ञ विहित रूपमें वर्णित हैं, वे लोकयात्राके निर्वाहक जल, अग्नि आदिकी प्राप्तिके लिये ही हैं, अतः व्यवहार-जगत्की कर्तव्यताके ज्ञानकी सनातन शिक्षा मीमांसासे ही प्राप्त हो सकती है, इसीलिये कुमारिलने इसका आरम्भ दुर्गाके कीलक-मन्त्रसे किया है—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे॥

—इसमें ज्ञान-शरीरको महत्त्व देकर शिक्षाको चरम सोपानपर प्रतिष्ठित किया गया है।

तीन प्रकारके प्रपञ्च पुरुषको बन्धनमें लाते हैं—भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रियाँ और भोग्य रूप, रस, शब्द आदि। इसीलिये मधुसूदनने मीमांसाकी मुक्तिका वर्णन करते हुए कहा है—'आत्मज्ञानपूर्वक वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानसे धर्माधर्मके विनाशके लिये देह, इन्द्रिय आदिका आत्यन्तिक निराकरण ही मोक्ष है।' इस प्रकार मीमांसा-दर्शनकी शिक्षाका पर्यवसान ज्ञान और कर्ममें होता है।



फलवाली डाल जैसे झुकी रहती है, वैसे ही गुणवान् पुरुष भी नम्र बने रहते हैं।

जिसके हृदयमें प्रभुका वास होता है, वहाँ 'अहं' भाव नहीं रहता, जहाँ 'अहं' भाव रहता है वहाँ प्रभुका निवास नहीं होता।

जैसे इत्रकी शीशी खोलनेसे सदा सुगन्ध ही आती है, वैसे ही सद्गुरुके मुखसे सदा उपदेश-वाक्य ही निकला करते हैं।

जो आदमी दूसरेको कुएँसे बाहर निकालना चाहता है, उसे पहले अपने पैर मजबूत कर लेने चाहिये। इसी तरह जो गुरु बनना चाहे, उसे पहले स्वयं पूरा ज्ञानी बनना चाहिये।

सांसारिक पुरुषोंको जैसे कुटुम्बियोंके यहाँ जाना अच्छा लगता है, वैसे ही जब तुम्हें भगवान्के मन्दिरमें जाना अच्छा लगे, तभी समझना कि अब भक्तिका प्रारम्भ हुआ है।



शांकरी शिक्षा

(श्रीउमाकान्तजी शास्त्री, विद्यावाचस्पति, साहित्य-व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, डिप्-एड्०)

'शिक्षा' शब्द बड़े महत्त्वका है, इसका अर्थ है 'सीखना'। सभी जीव स्वभावसे ही कुछ सीखते रहते हैं। खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना, तैरना-उड़ना आदि सभी क्रियाएँ सीखनी पड़ती हैं। व्यवहार-जगत्के निमित्त भाषा, आचार आदि भी सभी जीव अपने-अपने समाजसे सीख लेते हैं, किंतु सामान्य जीवनको विशिष्ट बनानेके लिये विशिष्ट जिज्ञासाकी पूर्तिकी प्रयत्नशीलता वस्तुतः शिक्षा है। शिक्षा आत्म-हितार्थ होती है। इसी भावको व्याकरण-शास्त्रीय वाक्यमें व्यक्त किया गया है—**'शिक्षेर्जिज्ञासायाम्'** अर्थात् जिज्ञासा होनेपर **'शिक्ष'** धातुसे आत्मनेपद (आत्म-हितार्थ पद) होता है, यथा—**'वेदे शिक्षते'** (वेद-विषय सीखता है)। आत्म-हितार्थ जिज्ञासा होनेपर अल्पज्ञ जीव बहुज्ञकी शरण लेता है। इसीलिये पाणिनिने अपने 'धातु-पाठ'में लिखा है—**'शिक्ष विद्योपादाने'** अर्थात् शिक्ष धातुका अर्थ है विद्याका उपादान। उपादानका भाव है 'उप + आदान' अर्थात् किसीके समीप जाकर कुछ लेना, क्योंकि 'उप' का शाब्दिक अर्थ होता है समीप और 'आदान' का अर्थ है ग्रहण। ऐसी स्थितिमें जिज्ञासु गुरुकी शरण लेता है और उसकी शिक्षा प्रारम्भ होती है।

'शिक्षा' शब्दकी व्युत्पत्तिमें भी विशिष्टता है। **'शिक्ष'** धातु गुरुमान् है (गुरुवाला है—**'संयोगे गुरु'**), उससे **'गुरोश्च हलः'** (पाणिनि-सूत्र) से 'अ' प्रत्यय होनेपर शिक्षा शब्द निष्पन्न होता है। **'अकारो वासुदेवः स्यात्'** तथा **'प्रत्ययः प्रतीतिः'** अर्थ करनेसे वासुदेवकी प्रतीतिका भाव व्यक्त होता है। आत्माके कल्याणके लिये परमात्माकी प्रतीति कराना शिक्षाका भाव है। इसके कारण परमात्मोन्मुख जीवको मुक्ति-मार्ग प्राप्त होता है। इसी उद्देश्यको स्पष्ट करनेके लिये श्रुति कहती है—**'सा विद्या या विमुक्तये'** अर्थात् विद्या वही है जो मुक्तिका साधन हो; क्योंकि **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'**—ज्ञानके बिना मुक्ति मिलती ही नहीं, अतः शिक्षा या विद्यासे वह ज्ञान प्राप्त होना चाहिये जो पुरुषार्थचतुष्टयका चरम लक्ष्य हो। इसीलिये वेद, वेदाङ्ग, पुराण, दर्शन आदि सभी शास्त्र उसी एक नित्य तत्त्वके प्रति जीवको उन्मुख करते हैं।

उस प्रशस्यतम उद्देश्यकी पूर्तिके लिये 'शिक्षा' नामसे एक पृथक् शास्त्रकी रचना की गयी और उसे छः वेदाङ्गोंमें परिगणित किया गया—

शिक्षा कल्पो निरुक्तं च छन्दो ज्योतिषमेव च।
षष्ठं व्याकरणं चेति वेदाङ्गानि विदुर्बुधाः॥

शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और व्याकरण—इन छः वेदाङ्गोंमें सर्वप्रथम शिक्षा ही है। यही शिक्षा-शास्त्र वर्णोंके शुद्ध उच्चारणकी शिक्षा देता है। वर्णोंके शुद्ध उच्चारणसे शब्दकी शुद्धि और स्पष्ट भावाभिव्यक्ति भी होती है; क्योंकि भाषाकी लघुतम ध्वनि है वर्ण, अतः वर्णोंके उच्चारणपर विशेष बल देना इस शास्त्रका उद्देश्य है। इसीलिये 'शिक्षा'को **'वर्णोच्चारण-शिक्षा'** भी कहा जाता है। एक भी शब्द उच्चारणकी दृष्टिसे शुद्धरूपमें प्रयुक्त हो तो वह फलदायक होता है और अशुद्ध होनेसे हानिकारक। सुना जाता है कि एक बार देवासुर-संग्राममें **'हे अरयः! हे अरयः!'** के बदले **'हेलयः, हेलयः'** ऐसा अशुद्ध उच्चारण करनेके कारण असुर पराजित हो गये थे, यद्यपि वे बलिष्ठ थे—**'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः'**—(पातञ्जल महाभाष्य)। पूजा-पाठ, यज्ञ-दान, जप-तप, श्राद्ध आदिके क्रममें उच्चारणके दोषसे जब शब्द दुष्ट हो जाता है, तब वह अपने अर्थको नहीं बताता, यही नहीं, अपितु वह 'वाग्वज्र' बनकर यजमानकी ही हानि कर डालता है—**'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति'** (पाणिनीय शिक्षा ५२)। इसीलिये शुद्ध उच्चारणकी शिक्षा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

वेदाङ्गोंमें शिक्षाको घ्राण और व्याकरणको मुख कहा

गया है— **'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्'** (पाणिनीय शिक्षा ४२)। व्याकरणशास्त्र यदि वेद-पुरुषका मुख है तो शिक्षाशास्त्र उस मुखकी नाक है। जैसे नाकके बिना मुखकी शोभा नहीं होती, वैसे ही शिक्षाके बिना व्याकरणकी शोभा चली जाती है।

शिक्षाशास्त्रके आद्य प्रवर्तक भगवान् शंकर हैं। उन शंकरकी शिक्षा 'शांकरी शिक्षा' कही जाती है। शिक्षा-विषयक ग्रन्थोंमें पाणिनीय शिक्षा 'शांकरी शिक्षा' ही है। शंकरने अपनी शिक्षा पाणिनि मुनिको दी। यथा—

शंकरः शांकरीं प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते।
वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य देवीं वाचमिति स्थितिः॥

(पाणिनीय शिक्षा ५६)

अर्थात् 'भगवान् शंकरने ऊहापोह-कुशल दाक्षीपुत्र पाणिनिको वेदोंसे संगृहीत अपनी दिव्य शांकरी शिक्षा प्रदान की, यह वस्तुस्थिति है।'

महामुनि पाणिनिने इस शांकरी शिक्षाके अद्भुत माहात्म्यका वर्णन किया है। यथा—

त्रिनयनमुखनिःसृतामिमां
य इह पठेत् प्रयतः सदा द्विजः।
स भवति धनधान्यकीर्तिमान्
सुखमतुलं च समश्नुते दिवि॥

(पाणिनीय शिक्षा ६०)

अर्थात् 'त्रिनयन शंकरके मुखसे निर्गत इस शिक्षाको जो द्विज संयत होकर प्रतिदिन पढ़ता है, वह इस लोकमें धन, धान्य और कीर्ति प्राप्त करता है तथा अन्तमें स्वर्ग पहुँचकर वह अतुल सुखका भोग करता है।'

पाणिनिने अपने ग्रन्थमें शांकरी शिक्षाकी कुछ मान्यताएँ भी उद्धृत की हैं। यथा—

'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।

(पाणिनीय शिक्षा ३)

अर्थात् शंकरके समय वर्णोंकी संख्याके विषयमें दो प्रकारके मत प्रचलित थे, वे दोनों मत शंकरको मान्य हैं। जो लोग **'ऌ'** वर्णको केवल ह्रस्व मानते थे, वे वर्णोंकी संख्या ६३ बताते थे तथा जो विद्वान् **'ऌ'** वर्णको ह्रस्व और प्लुत मानते थे, वे वर्णोंकी संख्या ६४ स्थिर करते थे। अब तो मात्र ५९ ही वर्ण व्यवहारमें आते हैं, दुःस्पृष्ट १ और यम ४—इन पाँच वर्णोंकी चर्चा प्रातिशाख्य ग्रन्थोंमें ही सुरक्षित रह गयी है।

इसी प्रकार वर्णोंके उच्चारण-स्थानोंकी संख्यामें भी मतान्तर है। प्रचलित शिक्षाशास्त्रोंमें सात ही उच्चारण-स्थान परिगणित हैं—१-कण्ठ, २-तालु, ३-मूर्धा, ४-दन्त, ५-ओष्ठ, ६-नासिका और ७-जिह्वामूल; किंतु शांकरी शिक्षामें उरस् (हृदय) भी उच्चारण-स्थान माना गया है। यथा—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥

(पाणिनीय शिक्षा १३)

अर्थात् 'वर्णोंके उच्चारण-स्थान आठ होते हैं—हृदय, कण्ठ, सिर (मूर्धा), जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु।'

वर्णोंके शुद्ध और स्पष्ट उच्चारणके लिये उत्तम गुरुसे ही शिक्षा-शास्त्रका अध्ययन करना चाहिये—ऐसा विधान है। यथा—

कुतीर्थादागतं दग्धमपवर्णं च भक्षितम्।
न तस्य पाठे मोक्षोऽस्ति पापाहेरिव किल्बिषात्॥

(पाणिनीय शिक्षा ५०)

अर्थात् 'कुतीर्थ (अयोग्य, आचार-हीन गुरु) से प्राप्त वर्णोच्चारणका ज्ञान वर्णको दग्ध करके अपवर्ण बना देता है और बिना गुरुके प्राप्त ज्ञान वर्णको भक्षित कर लेता है तथा उन अपवर्णोंके अशुद्ध उच्चारणसे होनेवाले पापसे छुटकारा मिलना उसी प्रकार सम्भव नहीं है, जैसे दुष्ट सर्पसे छुटकारा मिलना असम्भव है।'

अवक्षरमनायुष्यं विस्वरं व्याधिपीडितम्।

(पाणिनीय शिक्षा ५३)

'दुष्टाक्षर उच्चारण करनेवालेकी आयु घटती है तथा स्वररहित उच्चारण करनेसे व्याधिकी पीड़ा होती है', अतः अक्षरका उच्चारण शुद्ध एवं स्पष्ट होना चाहिये तथा उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरोंका समुचित श्रवण हो, ऐसी वाणी बोलनी चाहिये।

व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत्॥

(पाणिनीय शिक्षा २५)

'व्याघ्री जैसे अपने बच्चोंको दाँतोंसे पकड़कर कहीं ले जाती है तो वह डरी-सी रहती है कि कहीं बच्चोंके शरीरमें दाँत गड़ न जाय या बच्चे दाँतोंसे निकलकर कहीं गिर न जायँ, वैसे ही वर्णोंका उच्चारण करना चाहिये ।'

एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः ।
सम्यग् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ॥

(पाणिनीय शिक्षा ३१)

'वर्णोंका प्रयोग ऐसा करना चाहिये कि वर्ण न अव्यक्त हों और न पीडित ही । वर्णोंका सम्यक् प्रयोग करनेवाला विद्वान् ब्रह्मलोकमें भी सम्मान पाता है ।' इसलिये शुद्ध वर्णोच्चारणका विशेष महत्त्व है ।

आयुर्वेदका संक्षिप्त इतिहास एवं उपयोगिता

(वैद्य श्रीअखिलानन्दजी पाण्डेय)

विश्वके सम्पूर्ण वैज्ञानिक पुरातत्त्ववेत्ताओं तथा इतिहासवेत्ताओंका कहना है कि सबसे प्राचीन वेद हैं । आयुर्वेद-शास्त्र वेदोंमें विशेषकर अथर्ववेदमें विस्तारसे वर्णित है । आयु-सम्बन्धी ज्ञानसे सम्बद्ध होनेके कारण इसे आयुर्वेद कहा गया । चरकने भी कहा है—**'यथा तस्यायुषः पुण्यतमो वेदविदो मतः । वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ।'**—यह उस आयुका पुण्यतम वेद है, अतएव आयुर्वेद विद्वानोंद्वारा पूजित है; क्योंकि यह मनुष्योंके लिये इस लोक और परलोकमें हितकारी है । अतः हम (चरक) इस आयुर्वेदका उपदेश कर रहे हैं ।

आयुर्वेदको पुण्यतम ज्ञान बताया गया है । मनुष्यको आयुर्वेद-विहित कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे इस लोकमें आयु-आरोग्यादिकी प्राप्ति होती है और स्वस्थ रहते हुए वह धर्मादिका अनुष्ठान कर स्वर्गकी भी प्राप्ति कर सकता है । यथा—**'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'** बताया गया है ।

आयुर्वेदोत्पत्ति

आयुर्वेद आयुके हित-अहित, द्रव्य-गुण-कर्मोंका प्रतिपादक विज्ञान है और विज्ञानकी उत्पत्ति न होकर स्मृति ही हुआ करती है । सम्प्रति जो भी आविष्कार हो रहे हैं, निरन्तर अनुसंधान हो रहे हैं, उनमें व्यस्त उच्च आत्माएँ भी स्मृति-स्वरूप हैं । इसलिये चरकने स्पष्ट कहा है—

ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदं प्रजापतिमजाग्रहीत् ।
सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन् ॥
तेऽग्निवेशादिकास्ते तु पृथक् तन्त्राणि तेनिरे ॥

ब्रह्माने आयुर्वेदका स्मरण कर उसे विश्वके उपकारार्थ प्रजापतिको सिखाया । प्रजापतिने दोनों अश्विनीकुमारोंको, उन दोनों बन्धुओंने इन्द्रको, इन्द्रने आत्रेयादि मुनियोंको, आत्रेयादि महर्षियोंने अग्निवेश, पराशर, क्षीणपाणि और हारीत आदिको आयुर्वेदकी शिक्षा दी । तत्पश्चात् उन लोगोंने आयुर्वेदमें महान् दक्षता प्राप्तकर अपने नामपर ग्रन्थोंकी रचना की । ब्रह्माने अपने नामसे एक ग्रन्थ रचा, जिसका नाम ब्रह्मसंहिता रखा, उसमें एक लक्ष श्लोक थे; किंतु आजकल वह अप्राप्त है । आचार्य चरकने अपने नामका एक ग्रन्थ रचा, जिसका नाम चरक-संहिता है । वह संसारमें विख्यात है । विश्वमें चरककी बड़ी प्रतिष्ठा है । पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी लिखा है कि 'यदि चरककी रीतिसे चिकित्सा की जाय तो सारा विश्व रोगमुक्त हो जाय ।'

चरकके पश्चात् सुश्रुतका स्थान है । ये महात्मा महर्षि विश्वामित्रके पुत्र थे । इन्होंने अपने पिताकी आज्ञासे प्राणिमात्रके उपकारार्थ एक सौ ऋषिपुत्रोंके साथ काशी आकर तत्कालीन **काशिराज** दिवोदाससे आयुर्वेदकी शिक्षा ग्रहण की । सुश्रुत तीव्रबुद्धि थे, उपदेशोंको पूर्ण ध्यानसे श्रवण करते थे । कहते हैं इसीलिये उनका नाम सुश्रुत

पड़ गया। सुश्रुतने अपने नामका जो ग्रन्थ लिखा उसीको आजकल सुश्रुत-संहिता कहते हैं। इस ग्रन्थमें शल्य-चिकित्सा या सर्जरी (जर्राही) का विशेषरूपसे वर्णन है।

चरक-सुश्रुतके पश्चात् वाग्भटका स्थान है। इनका 'अष्टाङ्ग-हृदय' ग्रन्थ भी उच्चकोटिका है। विद्वज्जन इस संहिताको 'वाग्भट'के नामसे जानते हैं। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भटको बृहत्त्रयी कहते हैं।

भरद्वाज और भगवान् धन्वन्तरि एवं उनके शिष्य-प्रशिष्योंने आयुर्वेदका अध्ययन कर मानव-कल्याणके निमित्त मानव-समाजमें उसका प्रचार किया। भरद्वाज इन्द्रसे आयुर्वेदका अध्ययन कर मनुष्य-लोकमें उसका प्रचार करनेवाले सर्वप्रथम व्यक्ति हैं। इनका आश्रम प्रयागमें है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम भी यहाँ पधारे थे। अब भी प्रयागमें यह आश्रम भक्त यात्रियोंका प्रिय स्थल है। रसायन और दिव्य ओषधियोंके प्रभावसे ऋषिगण दीर्घजीवी होते थे। आयुर्वेदके प्रभावसे भरद्वाज सबसे अधिक दीर्घायु हुए।

चरकने शक्ति-सम्पन्न पुरुषको योगिकोटिमें माना है तथा योगियोंके अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्य प्रसिद्ध हैं। श्रीमद्भागवतमें विष्णुके अंशांशसे धन्वन्तरिकी उत्पत्ति मानी गयी है तथा विष्णुपुराणमें अमृतपूर्ण कलश लिये हुए उनकी उत्पत्ति समुद्रसे मानी गयी है—

मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्।

× × ×

ततो मथितुमारब्धा मैत्रेय तरसामृतम्॥

× × ×

ततो धन्वन्तरिर्देवः श्वेताम्बरधरः स्वयम्।
बिभ्रत्कमण्डलुं पूर्णममृतस्य समुत्थितः॥

(१।९।७८, ८४, ९८)

आयुर्वेद-शास्त्रके दो प्रयोजन हैं—स्वस्थ मनुष्योंके स्वास्थ्यकी रक्षा तथा रोगग्रस्त मनुष्योंके रोगका निवारण। इन्हीं दो उद्देश्योंका मुख्य आधार आयु है। अतः धर्म, अर्थ और सुखका साधन आयु है, इस आयुकी जिस पुरुषको चाह हो उसे चाहिये कि वह आयुर्वेदके उपदेशोंका अतिशय आदर करे—

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥

आयुर्वेद आठ अङ्गोंमें विभक्त है

(१) शल्यतन्त्रको ही पाश्चात्त्य वैद्यकमें सर्जरी कहते हैं। आयुर्वेदके जिस अङ्गमें अनेक प्रकारके तृण, काष्ठ, पत्थर, रजः-कण, लौह, मृत्तिका, अस्थि (हड्डी), केश, नाखून, पूय-स्राव, दूषित व्रण, अन्तःशल्य तथा मृत गर्भकी शल्य-चिकित्साका ज्ञान, यन्त्र, शास्त्र, क्षार, अग्निकर्मका ज्ञान, व्रणोंका आम पच्यमान और पक्व आदिका निश्चय किया जाता है, उसे शल्य-तन्त्र कहते हैं।

(२) शालाक्य-तन्त्र—आयुर्वेदके जिस अङ्गमें शरीरके ऊर्ध्वभाग-स्थित नेत्र, मुख, नासिका आदिमें होनेवाले व्याधियोंकी शान्तिका वर्णन किया गया है तथा शालाक्य यन्त्रोंके स्वरूप तथा प्रयोग करनेकी विधि बतलायी गयी है, उसे शालाक्य-तन्त्र कहते हैं।

(३) काय-चिकित्सा—आयुर्वेदके जिस अङ्गमें सर्व-शरीरगत व्याधियों— ज्वर, रक्त, पित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदिकी शान्तिका वर्णन है, उसे काय-चिकित्सा कहते हैं।

(४) भूतविद्या—आयुर्वेदके जिस अङ्गमें देव, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग आदि ग्रहोंसे पीड़ित चित्तवाले रोगियोंकी शान्तिके लिये शान्ति-पाठ, बलि-प्रदान, हवन आदि, ग्रहदोषशामक क्रियाओंका वर्णन किया गया है, उसे भूत-विद्या कहते हैं।

(५) कौमार-भृत्य—आयुर्वेदके जिस अङ्गमें बालकोंकी पोषिका धात्रीके दुग्धके दोषोंके संशोधन, उपाय तथा दूषित दुग्धपान और ग्रहोंसे उत्पन्न व्याधियोंकी चिकित्साका वर्णन है, उसे कौमार-भृत्य-तन्त्र कहा जाता है। इसे बाल-चिकित्सा कहते हैं।

(६) अगदतन्त्र—सर्प, कीट, मकड़ी, चूहे आदिके काटनेसे उत्पन्न विष-लक्षणोंको पहचाननेके लक्षण तथा अनेक प्रकारके स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोग विषोंसे उत्पन्न विकारोंके प्रशमनका जहाँ वर्णन है, उसे अगद-तन्त्र कहते हैं।

(७) रसायन-तन्त्र—'**जराव्याधिनाशनं रसायनम् ।**' जिससे बुढ़ापा और रोग नष्ट हो उसका नाम रसायन है । तरुणावस्था दीर्घकालतक बनी रहे इसे रोकनेके उपाय, आयु, धारणा-शक्ति और बलकी वृद्धि करनेके प्रकार एवं शरीरकी स्वाभाविक रोगप्रतिरोधक शक्तिकी वृद्धिके नियमोंका जहाँ वर्णन है, उसे रसायन-तन्त्र कहा जाता है ।

(८) शरीर-पुष्ट्यर्थ बाजीकरण-तन्त्र है ।

इन आठ अङ्गोंमें शल्य-तन्त्र ही मुख्य है; क्योंकि देवासुर-संग्राममें प्रहारजन्य व्रणोंके रोपण करनेसे तथा कटे हुए सिरका संधान कर देनेसे इसी अङ्गको मुख्य माना गया है । प्रकुपित शिवने यक्षका शिरश्छेदन कर दिया था, तब देवताओंने अश्विनीकुमारोंके पास जाकर कहा कि 'आपको यक्षके कटे सिरको संधान करना चाहिये, इससे आप हम सबमें सर्वश्रेष्ठ होंगे' । अश्विनीकुमारोंने कहा—'ऐसा ही हो' । तब देवताओंने अश्विनीकुमारोंको यक्षका भाग मिलनेके लिये इन्द्रको प्रसन्न किया । इस प्रकार अश्विनीकुमारोंने यक्षके कटे सिरका संधान किया ।'**तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरञ्चेति** ।'—यह नित्य, पुण्यदायक, स्वर्गदायक, यशस्कर, आयुके लिये हितकर तथा जीविकोपयोगी है ।

क्वचिद् धर्मः क्वचिन्मैत्री क्वचिदर्थः क्वचिद् यशः ।
कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥

इससे धर्म, मैत्री, अर्थ आदि प्राप्त होते हैं—इसका उपयोग करनेसे यज्ञ किये-जैसा पुण्य मिलता है । चिकित्सा-शास्त्र—आयुर्वेद कदापि निष्फल नहीं है ।

आयुर्वेद-शास्त्रमें पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पञ्च महाभूत तथा आत्मा—इनके संयोगको पुरुष कहा गया है । इसी पुरुषकी चिकित्सा की जाती है । '**तद्दुःखसंयोगाद् व्याधय उच्यन्ते**' —जिनके संयोगसे पुरुषको दुःख होता है उन्हें रोग कहते हैं । ये रोग चार प्रकारके होते हैं—आगन्तुक, शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक । इनका परिचय इस प्रकार है—

(१) आगन्तुक रोग—शस्त्र, लाठी, पाषाण आदिके आघातसे उत्पन्न होते हैं । (२) शारीरिक रोग—हीन, मिथ्या और अतिमात्रामें प्रयुक्त अन्न-पानके कारण कुपित हुए या विषम हुए वात, पित्त, कफ, रक्त या इनके संनिपातसे उत्पन्न रोग । (३) मानसिक रोग—क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, अभ्यसूया, मनोदैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ आदिसे तथा इच्छा और द्वेषके अनेक भेदोंसे उत्पन्न होते हैं । (४) स्वाभाविक रोग—भूख, प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु और निद्रा आदि हैं । '**एते मनःशरीराधिष्ठानाः**' ।—ये चारों प्रकारके रोग मन और शरीरको आश्रित मानकर उत्पन्न होते हैं । इन रोगोंका निग्रह या प्रतीकार देश, काल, वय, मात्रा आदि रूपसे सम्यक्-प्रयुक्त संशोधन, संशमन, आहार और विहारसे होता है ।

हमारे पूर्वज भारतीय चिकित्साके प्रभावसे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य-लाभद्वारा धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चारों पदार्थोंकी प्राप्ति करते थे और आजकी अपेक्षा दीर्घजीवी, बली एवं स्वस्थ हुआ करते थे। आयुर्वेद न केवल ओषधिमात्रका भण्डार है, अपितु उसमें मानव-जीवनका मार्ग सरलता, शुद्धता एवं पुरुषार्थके साथ प्रदर्शन किया गया है । उसके अनुसार आचरण करते रहनेसे मनुष्य आदर्श तथा सुखी दीर्घ-जीवन प्राप्त कर सकता है । उस समय वर्तमानकालकी भाँति रोगियों एवं डॉक्टरों तथा चिकित्सकोंका बाहुल्य नहीं था और न आजके समान उस समय किसी भी रोगमें विदेशी चिकित्साका आश्रय ही लेना पड़ता था । कारण यह था कि हमारा आयुर्वेद अष्टाङ्ग-विधिसे पूर्ण था । गाँव-गाँवमें आयुर्वेदीय पाठशालाएँ विद्यमान थीं, जिससे सद्वैद्योंकी कोई कमी नहीं थी । भारतीय जड़ी-बूटियोंके द्वारा ही स्वल्प प्रयास एवं स्वल्प व्ययमें ही बड़े-बड़े रोगी रोगमुक्त हो जाते थे । इतना ही नहीं था, हमारे देशसे सहस्रों प्रकारकी ओषधियाँ ईरान-अरबसे होकर यूनान, इटलीतक पहुँचती थीं और वहाँसे स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, इंग्लैण्ड और जर्मनीमें फैल जाती थीं तथा वहाँसे इन ओषधियोंके बदले विशेष मात्रामें विदेशी मुद्रा आती थी । यूरोपीय विद्वानोंने भी विश्वमें सबसे प्रथम आयुर्वेदको माना है । जिस समय पाश्चात्य देश अज्ञानरूपी अन्धकारमें था, उस

समय आर्यावर्तका विज्ञान बहुत उन्नत शिखरपर था। विश्वको प्रकाश देनेका गौरव भारतवर्षको है। इसलिये आर्यावर्त विश्वका गुरु कहलाता है। भारतसे आयुर्वेदका ज्ञान यूनानमें गया तथा वहाँसे ग्रीस और ग्रीससे इंग्लैण्डके लोगोंने सीखा।

हमारे देशमें पारस्परिक कलह और देशपर हुए विदेशियोंके आक्रमणसे अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन हुए। अनेक ग्रन्थोंकी चोरियाँ हुईं, लूट लिया गया। मदान्ध विजेताओंके द्वारा ग्रन्थराशियोंको जला दिया गया। जिनके पास आयुर्वेदके सिद्धप्रयोग थे, वे उनका गोपन करने लगे। इस प्रकार विविध विषयोंके साथ आयुर्वेदके भी अनेक ग्रन्थ लुप्त हो गये। हमारा ह्रास हुआ। हम अवनतिको प्राप्त हो गये। आयुर्वेद-जगत्‌का श्वास-प्रश्वास मात्र संचालित रह पाया। जड़ी-बूटियाँ तथा भारतीय चिकित्सा-सम्बन्धी ओषधियाँ बेचनेवाले एवं वैद्यलोग भी शनैः-शनैः अपनी ओषधियोंका मान तथा परिचयतक भी भूलने लग गये क्योंकि उनका प्रयोग बिलकुल बंद-सा होने लगा जिससे वे बेसहारा हो गये।

हम देखते हैं कि सूर्यास्त होता है तो समय पाकर पुनः सूर्योदय भी होता ही है। रात बीतती है और पुनः भगवान् भास्कर जगत्‌का अन्धकार दूर करते हैं। भाव यह है कि विश्व परिवर्तनशील है। हम भी सन् १९४७ ई०में स्वतन्त्र हुए, अपनी ह्रासावस्थाको देखे-समझे; किंतु खेदका विषय है कि भारतके स्वतन्त्र होनेके पश्चात् भी उसकी रही-सही भारतीयता नष्ट होती जा रही है। हमारी संस्कृति एवं सभ्यता धुँधली हो गयी है। अपनी भारतीय सभ्यतासे भागकर हम अंग्रेजी सभ्यताको अपनाने लगे—प्यार करने लगे तथा आयुर्वेदीय चिकित्सासे दूर चले गये, जिसके परिणामस्वरूप विविध प्रकारके रोग हो रहे हैं, जिनका निदान ग्रन्थोंमें नहीं मिल पा रहा है।

चिकित्सकका स्थान बहुत ऊँचा एवं महत्त्वका है। हमें इस महत्त्वको समझना तथा उत्तरदायित्वका पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। चिकित्सककी शरणमें आया हुआ रोगी अपना अमूल्य जीवन उस चिकित्सकके हाथमें सौंप देता है। उसका जीवन-मरण चिकित्सकके हाथमें होता है। ऐसी दशामें चिकित्सकको कितने साहस, अनुभव एवं उत्तरदायित्वसे काम करना चाहिये, इसे सभी सोच सकते हैं। जो व्यक्ति वैद्य-कार्य एवं आयुर्वेद-चिकित्साको अपनायें उन्हें इस विषयमें पूर्ण समर्थ एवं अनुभव प्राप्त करके ही रोगीको अपनानेका कार्य करना चाहिये।

अब विचारणीय विषय यह है कि स्वतन्त्र भारतमें आयुर्वेदका पुनरुद्धार किस प्रकार हो सकता है, इसपर कुछ दृष्टि रखना उचित ही होगा। आयुर्वेद हम लोगोंके लिये अपने पूर्वजोंसे प्राप्त एक पुनीत थाती है, जिसका उपयोग तथा जिसकी रक्षा हमारे ही हाथोंमें निहित है। अतः समस्त भारतीयोंको ही इसकी रक्षा करनी चाहिये। इसे उत्तम रीतिसे अध्ययनकर सुन्दर अनुभव एवं उपयोग करना चाहिये। भारतीय अधिकारियोंका भी कर्तव्य है कि आयुर्वेदके उद्धार एवं प्रचारकी ओर विशेष ध्यान दें, जिससे पाश्चात्त्य देशोंमें अपना धन न जाकर भारतमाताके ही पास सुरक्षित रहे। इसीसे हमारे राष्ट्र तथा जनताका कल्याण है।

ब्रह्मकी सर्वव्यापकता

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

(मुण्डक० २।२।११)

यह अमृतस्वरूप परब्रह्म ही सामने है। ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं ओर तथा बायीं ओर, नीचेकी ओर तथा ऊपरकी ओर भी फैला हुआ है। यह जो सम्पूर्ण जगत् है, यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

जैन-शिक्षाका मुख्य आधार—विनय

(श्रीराजीवजी प्रचंडिया एडवोकेट)

आचार्य कुन्दकुन्ददेवद्वारा प्रणीत 'नियमसार'-ग्रन्थमें लिखा है—

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगे न सन्दे हो ।

—इसका भावार्थ यह है कि आत्मा और ज्ञान अन्योन्याश्रयरूपमें सम्बद्ध हैं । आत्माके बिना ज्ञान और ज्ञानके बिना आत्माकी कल्पना नहीं हो सकती; किंतु यह ज्ञान अनेक आवरणोंसे ढका रहता है । इन आवरणोंको हटानेकी प्रक्रिया ही शिक्षा है ।

ज्ञानके इन आवरणोंको हटाना जीवधर्मसे सहज रूपमें सम्बन्धित होता है; क्योंकि जीवनका सार है प्रगति और प्रगतिका आधार है ज्ञान । यह ज्ञान क्रियासे भी अन्यतम रूपमें इसीलिये जुड़ा रहता है और अनुभव यह कहता है कि क्रियामें ही ज्ञानका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है । क्रियापरक ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान होता है, यही मोक्षका आधार है और इसीके द्वारा 'स्व' और 'पर' का कल्याण होता है । इस प्रकार ज्ञानके आवरणोंको हटाना जहाँ 'शिक्षा' है, वहीं उसका दूसरा पहलू मोक्ष है ।

अज्ञानके अन्धकारको हटाकर ज्ञानमें प्रतिष्ठित होनेके लिये 'स्वाध्याय' प्रमुख आधार माना गया है । अज्ञान मनुष्यके दुःखोंका कारण होता है, इसलिये जब अज्ञानका पर्दा हट जाता है, तब मनुष्यके सभी दुःखोंका कारण समाप्त हो जाता है और मनुष्य दुःखोंसे आत्यन्तिक निवृत्ति पा लेता है । इसीलिये कहा गया है—

सज्झा एवा नि उत्तेण, सब्ब दुक्ख विमोक्खणो ।

(उत्तराध्ययन-सूत्र० ६ । १०)

किंतु इस स्वाध्यायका अर्थ केवल शब्द-ज्ञान नहीं है, प्रत्युत उसका अर्थ है अर्थ समझकर पठन-पाठन । तोतेकी भाँति ग्रन्थोंका कण्ठस्थ होना स्वाध्यायका तात्पर्य नहीं है । सम्भव है यह शब्द-ज्ञान दूसरोंपर पाण्डित्यका प्रभाव डाल दे, किंतु वह न 'स्व' के लिये न 'पर' के लिये उपयोगी है तथा न मोक्षका आधार ही हो सकता है ।

वास्तविक शिक्षाका प्रस्फुटन होता है 'विनय'में । दशवैकालिक (९ । २ । २)में कहा गया है—

एवं धम्मस्य विणओ, मूलं परमोपसे मोक्खो ।

विनय यदि धर्मका मूल है तो मोक्ष उसका फल । इस प्रकार धर्मरूपी वृक्षकी जड़ विनय और फल मोक्ष है । विनयको भगवतीकी आराधनामें पाँच रूपोंमें कहा गया है—दर्शन-विनय, ज्ञान-विनय, चरित्र-विनय, तप-विनय और औपचारिक विनय । यथा—

विण ओ पुण पंचविहो णिछिद्दो णाणदंसण चरित्ते ।
तव विण ओ य च उत्थो तदिर ओ उवपारिओ विण ओ ॥

(मूलगाथा ११२)

शङ्का आदि दोषोंसे रहित तत्त्वार्थमें श्रद्धा दर्शन-विनय, शुद्ध परिवेशमें आत्मविश्वासपूर्वक अध्ययन ज्ञान-विनय, संयमपूर्वक अध्ययन चारित्र्य-विनय, तपश्चर्या और साधुजनोंके प्रति श्रद्धा तप-विनय, गुरुके प्रति आदरभाव रखना औपचारिक विनय है ।

कहा गया है—

अह पंचहिं ढाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई,
क्षमां कोहां पमा एणं ऐगेण लस्स एण बा ॥

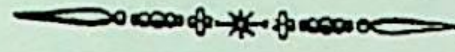
(उत्तराध्ययन-सूत्र ११ । ३)

मद्यपान, विषय-सेवन, कषाय, निद्रा और विकथा (राग-द्वेष-युक्त वार्तालाप)—ये पाँच प्रमाद हैं । प्रमादहीन जीवन ही प्रज्ञा और शिक्षाका आधार है । शिक्षार्थी प्रमादसे रहित विनयशील जीवनके द्वारा अपना उद्देश्य पूरा करके सफल-काम हो सकता है ।

महात्मा चन्दनमुनिने वर्धमान शिक्षा-सप्तमीमें कहा है कि उत्तम शिक्षार्थी (शिष्य)के गुण हैं—सदा ज्ञान प्राप्त करनेमें तत्पर रहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, मधुरभाषी, शीलयुक्त, क्षमावान् होना और असत्य, छल आदि दुर्गुणोंसे परे रहना ।

इस प्रकार शिक्षाके स्वरूपको आत्मोन्मुख होने,

सक्रिय ज्ञानात्मक, आत्मसंयमपरक, समस्त दुःखोंकी निवृत्तिका आधार किंवा मोक्षकी प्रतिष्ठामें सहायक स्वरूप ही जैन-शिक्षाका सार प्रतीत होता है। वास्तवमें भारतभूमिमें, चाहे जो भी दर्शन-परम्परा रही हो, उसने शिक्षाको लोक और परलोक—दोनों ही दृष्टियोंसे उपादेय रूपमें ही समझा है। जिस शिक्षामें अथवा शिक्षा-व्यवस्थामें लोक-परलोकका संतुलन न हो उसे भारतीय शिक्षा नहीं कह सकते।



'ललितविस्तर'में वर्णित बौद्ध शिक्षा

(डॉ॰ श्रीश्रीरंजन सूरिदेवजी)

मिश्रित (हैब्रिड) संस्कृतमें निबद्ध महायान-सम्प्रदायका पार्यन्तिक प्राचीन ग्रन्थ 'ललितविस्तर' भारतीय बौद्ध संस्कृतिके उत्कृष्टतम निदर्शनोंका महाकोष है। इसलिये इसे 'वैपुल्यसूत्र' या 'महावैपुल्यसूत्र' भी कहा गया है। 'ललितविस्तर'की विषयसामग्रीमें कुछ ऐसी ललित विशेषताएँ हैं, जो पालिनिबद्ध बौद्ध ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं मिलतीं। इस महाग्रन्थमें कुल सत्ताईस परिवर्तों (अध्यायों) में बुद्धका जन्मसे प्रथमोपदेशतकका जीवनदर्शन उपन्यस्त है, जिसमें तत्कालीन शुद्धि-रुचिर लोक-जीवनके विभिन्न संदर्भोंकी मनोरम झाँकीका विनियोग हुआ है। प्रस्तुत निबन्धमें उस समयकी शैक्षिक संस्कृतिपर प्रकाश डाला गया है।

शैक्षिक संस्कृतिके अध्ययनकी दृष्टिसे 'ललितविस्तर'-के उक्त सत्ताईस परिवर्तोंमें दो परिवर्त अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—दसवाँ 'लिपिशालासंदर्शन' परिवर्त और बारहवाँ 'शिल्पसंदर्शन' परिवर्त। दसवें 'लिपिशालासंदर्शन' परिवर्तकी कथामें उल्लेख है कि कुमार बोधिसत्व जब सयाने हुए, तब उन्हें माङ्गलिक एवं औत्सविक परिवेशके साथ कपिलवस्तु महानगरकी लिपिशालामें प्रवेश कराया गया। वहाँ विश्वामित्र नामक दारकाचार्यने कुमार बोधिसत्वको बहुकल्पकोटिशास्त्रोंकी शिक्षा दी, जिसमें मनुष्यलोक-प्रचलित लिपि (ककहरा), संख्या-गणना (पहाड़ा), शिल्पयोग आदि समस्त शास्त्र सम्मिलित थे। इस संदर्भमें ललितविस्तरकारने लिखा है कि विश्वामित्र आचार्यने कुमार बोधिसत्वको चौंसठ प्रकारकी अक्षरदृश्यरूपा लिपियोंका ज्ञान कराया। लिपिज्ञानके लिये उरगसार चन्दनकाष्ठके लिपिफलक (आधुनिक स्लेट) का उपयोग किया गया था, जिसकी चारों किनारियाँ (फ्रेम) दिव्य सुवर्ण एवं मणिरत्नसे जड़ी हुई थीं—**'अथ बोधिसत्व उरगसार-चन्दनमयं लिपिफलकमादाय दिव्यार्षसुवर्णतिरकं समन्तान्मणिरत्नप्रत्युप्तम्।'**

'ललितविस्तर'में संदर्भित चौंसठ लिपियाँ इस प्रकार हैं—

१-ब्राह्मी, २-खरोष्ठी, ३-पुष्करसारि, ४-अंग, ५-वंग, ६-मगध, ७-मंगल्य, ८-अंगुलीय, ९-शकारि, १०-ब्रह्मवलि, ११-पारुष्य, १२-द्राविड, १३-किरात, १४-दाक्षिण्य, १५-उग्र, १६-संख्या, १७-अनुलोम, १८-अवमूर्द्ध, १९-दरद, २०-खाष्य, २१-चीन, २२-लून, २३-हूण, २४-मध्याक्षरविस्तर, २५-पुष्प, २६-देव, २७-नाग, २८-यक्ष, २९-गन्धर्व, ३०-किन्नर, ३१-महोरग, ३२-असुर, ३३-गरुड, ३४-मृगचक्र, ३५-वायसरुत, ३६-भौमदेव, ३७-अन्तरिक्षदेव, ३८-उत्तरकुरुद्वीप, ३९-अपरगोडानी, ४०-पूर्वविदेह, ४१-उत्क्षेप, ४२-निक्षेप, ४३-विक्षेप, ४४-प्रक्षेप, ४५-सागर, ४६-वज्र, ४७-लेख-प्रतिलेख, ४८-अनुद्रुत, ४९-शास्त्रावर्त्त, ५०-गणनावर्त्त, ५१-उत्क्षेपावर्त्त, ५२-निक्षेपावर्त्त, ५३-पादलिखित, ५४-द्विरुत्तरपदसन्धि, ५५-यावद्दशोत्तरपदसन्धि, ५६-मध्याहारिणी, ५७-सर्वरुत-संग्रहणी, ५८-विद्यानुलोमाविमिश्रित, ५९-ऋषितपस्तप्ता रोचमाना, ६०-धरणीप्रेक्षिणी, ६१-गगनप्रेक्षिणी, ६२-सर्वौषधिनिष्यन्द, ६३-सर्वसारसंग्रहणी और ६४-सर्वभूतरुतग्रहणी।

उक्त लिपिशालामें कुमार बोधिसत्वके साथ दस हजार लड़के लिपिशिक्षा ग्रहण कर रहे थे। वे बोधिसत्वके साथ मिलकर अक्षरमातृकाका वाचन करते थे। उन्हें प्रत्येक अक्षरका वाच्य अर्थ बौद्ध दार्शनिक तत्त्वोंके उपस्थापनके माध्यमसे समझाया जाता था। जैसे—

'अ'से अनित्य, 'आ'से आत्मपरहित, 'इ'से इन्द्रिय-वैकल्य, 'ई'से ईतिबहुल, 'उ'से उपद्रवबहुल, 'ऊ' ऊनसत्व जगत्, 'ए'से एषणासमुत्थानदोष, 'ऐ'से ऐर्यापथ श्रेयान् (श्रेयस्कर), 'ओ'से ओघोत्तर, 'औ'से औपपादुक, 'अं'से अम्-ओघोत्पत्ति, 'अः'से अस्तंगमन, 'क'से कर्मविपाकावतार, 'ख'से खसमसर्वधर्म, 'ग'से गम्भीरधर्मप्रतीत्यसमुत्पादावतार, 'घ'से घनपटला-विद्यामोहान्धकारविधमन, 'ङ'से अंगविशुद्धि, 'च'से चतुरार्यसत्य, 'छ' से छन्दरागप्रहाण, 'ज'से जरामरण-समतिक्रमण, 'झ'से झषध्वजबलनिग्रहण, 'ञ'से ज्ञापन, 'ट'से पटोपच्छेदन, 'ठ'से ठपनीयप्रश्न, 'ड'से डमरमार-निग्रहण, 'ढ'से मीढविषय, 'ण'से रेणुक्लेश, 'त'से तथागत-सम्भेद, 'थ'से थामबल-वैशारद्य, 'द'से दानदमसंयमसौरभ्य, 'ध'से आर्योंका सप्तविध धन, 'न'से नामरूपपरिज्ञा, 'प'से परमार्थ, 'फ'से फलप्राप्तिसाक्षात्क्रिया, 'ब'से बन्धनमोक्ष, 'भ'से भवविभव, 'म'से मदमानोपशमन, 'य'से यथावद्धर्मप्रतिवेध, 'र'से रत्यरति-परमार्थरति, 'ल'से लता-छेदन, 'व'से वरयान, 'श'से शमथविपश्यना, 'ष'से षडायतननिग्रहणाभिज्ञ-ज्ञानावाप्ति, 'स'से सर्वज्ञज्ञानाभि-सम्बोधन, 'ह'से हतक्लेशविराग और 'क्ष'से क्षणपर्यन्ताभिलाप्यसर्वधर्म।

प्रस्तुत मातृकावर्गमें 'ऋ', 'लृ', 'त्र' और 'ज्ञ'को नहीं गिना गया है। अनुमानतः ये चारों वर्ण पाली आदिकी मातृकामें सम्मिलित नहीं थे।

उपर्युक्त शिक्षाविधिमें यथानिर्दिष्ट अक्षरज्ञानकी प्रक्रियासे सहज ही यह संकेतित होता है कि तत्कालीन शिक्षाका स्तर सातिशय समुन्नत तो था ही, बालकोंका मस्तिष्क भी अधिकाधिक विकसित था, तभी तो प्रारम्भिक शिक्षाके समय ही लिपिशालामें प्रविष्ट बच्चोंको अक्षरज्ञानके व्याजसे उनके जीवनको साधनाके उत्कर्षकी ओर उन्मुख करनेवाली धर्म, दर्शन और आचारकी दृष्टिसे व्युत्पन्न बना दिया जाता था। वर्तमान शिक्षण-पद्धतिमें अक्षरज्ञानके क्रममें 'अ'से 'अनार', 'आ'से 'आम' आदि मातृकाओंकी सरलतम वाचन-प्रयोगविधि सामान्यतया आधुनिक बच्चोंके मस्तिष्ककी अपरिपक्वता या बौद्धिक अपचयका ही निदर्शन उपस्थित करती है।

बारहवें 'शिल्पसन्दर्शनपरिवर्त'में बोधिसत्वके शिक्षकोत्तर विवाहकी कथाके क्रममें उल्लेख हुआ है कि दण्डपाणि शाक्यदेवने कुमार बोधिसत्वकी उत्तम कोटिकी शिल्पज्ञताकी परीक्षा करनेके बाद ही उनके लिये अपनी पुत्री गोपा प्रदान की थी। बोधिसत्व केवल चौंसठ लिपियोंके ही ज्ञाता नहीं थे; अपितु सौ करोड़से भी आगेकी संख्याकी गणना जानते थे। किंतु आजके विद्यालयीय छात्रोंकी संख्या-गणनाका ज्ञान बहुत ही सीमित हो गया है। बोधिसत्वने कोटिशतोत्तर गणनाकी जो गति प्रश्नोत्तरके क्रममें बतायी थी, वह इस प्रकार है।

एक सौ करोड़=एक अयुत, सौ अयुत=एक नियुत, सौ नियुत=एक कंकर, सौ कंकर=एक विवर, सौ विवर=एक अक्षोभ्य, सौ अक्षोभ्य=एक विवाह, सौ विवाह=एक उत्संग, सौ उत्संग=एक बहुल, सौ बहुल=एक नागबल, सौ नागबल=एक तिटिलम्भ, सौ तिटिलम्भ=एक व्यवस्थान-प्रज्ञप्ति, सौ व्यवस्थान-प्रज्ञप्ति=एक हेतुहिल, सौ हेतुहिल=एक करकु, सौ करकु=एक हेत्विन्द्रिय, सौ हेत्विन्द्रिय=एक समाप्तलम्भ, सौ समाप्तलम्भ=एक गणनागति, सौ गणनागति=एक निरवद्य, सौ निरवद्य=एक मुद्राबल, सौ मुद्राबल=एक सर्वबल, सौ सर्वबल=एक विसंज्ञागति, सौ विसंज्ञागति=एक सर्वसंज्ञा और सौ सर्वसंज्ञा=एक विभूतंगमा।

सौ विभूतंगमाओंकी लक्षण-गणनासे पर्वतराज सुमेरुके कण-कणको भी गिन लिया जा सकता था। विभूतंगमासे उत्तर ध्वजाग्रवती गणनाका उल्लेख हुआ है। इस गणनाद्वारा गङ्गानदीके बालूके कणोंको भी गिना जा सकता था। इससे उत्तर अग्रसारा नामकी गणना थी। इस गणना-पद्धतिद्वारा सौ करोड़ गङ्गा नदियोंके बालूके कणोंकी गिनती सम्भव थी। इससे उत्तर परमाणुरजःप्रवेशके

अनुगतोंकी भी गणनाका विधान था। इस गणना-विधिद्वारा बोधिसत्वने अपने आचार्य अर्जुन नामक गणक महामात्रको भी विस्मित कर दिया था। फलतः उस गणकाचार्यको कहना पड़ा—

ईदृशी ह्यस्य प्रज्ञेयं बुद्धिर्ज्ञानं स्मृतिर्मतिः।
अद्यापि शिक्षते चायं गणितं ज्ञानसागरः॥

अर्थात् 'बोधिसत्वकी यह प्रज्ञा, बुद्धि, ज्ञान, स्मृति और मति ऐसी (अतिशय विस्मयजनक) है फिर भी ऐसे ज्ञानसागर (गणितज्ञ बोधिसत्व) को आज भी गणितकी शिक्षा दी जा रही है, यह तो परम आश्चर्यका विषय है।' गणकाचार्य अर्जुनके पूछनेपर कुमार बोधिसत्वने परमाणुरजःप्रवेशकी गिनती इस प्रकार बतायी—

सात परमाणुरज=एक अणु, सात अणु=एक त्रुति, सात त्रुति=एक वातायनरज, सात वातायनरज=एक शशरज, सात शशरज=एक एडकरज, सात एडकरज=एक गोरज, सात गोरज=एक लिक्षारज, सात लिक्षारज=एक सर्षप, सात सर्षप=एक यव, सात यव=एक अंगुलिपर्व, बारह अंगुलिपर्व=एक वितस्ति (बित्ता), दो वितस्ति=एक हस्त, चार हस्त=एक धनुष, एक हजार धनुष=एक क्रोश और चार क्रोश=एक योजन। इसके बाद बोधिसत्वने योजनपिण्ड, द्वीप आदिका सूक्ष्मताके साथ विस्तारपूर्वक परिमाण बताते हुए कहा कि त्रिसाहस्त्रमहासाहस्त्र लोकधातुमें असंख्यतम परमाणुरजका समावेश है।

बोधिसत्वके गणना-परिवर्तको सुनकर चकित-विस्मित गणक महामात्र अर्जुनने उन्हें गणनाशास्त्रके अप्रतिम ज्ञानसे सम्पन्न कहा। गणना-शिक्षाकी परीक्षाके बाद कुमार बोधिसत्वने मल्लयुद्ध तथा शरनिक्षेपविद्याका विस्मयकारी प्रदर्शन किया था। बाण फेंकते समय धनुषके टंकारसे सम्पूर्ण कपिलवस्तु नगर गूँज उठा था और वहाँके सभी नागरिक विह्वल हो गये थे।

इसके बाद कुमार बोधिसत्वने यथागृहीत विभिन्न शिल्पों या कलाओंमें भी अपनी विशेषज्ञताका प्रदर्शन किया। ब्राह्मण-परम्पराके 'कामसूत्र' (वात्स्यायन), 'कलाविलास' (क्षेमेन्द्र) आदि ग्रन्थोंमें सामान्यतया चौंसठ कलाओंकी शिक्षाका उल्लेख मिलता है, जबकि जैन-परम्पराके 'समवायांग' (आगमसूत्र), 'प्रबन्धचिन्तामणि' (मेरुतुंग) 'वसुदेवहिण्डी' (संघदासगणी) आदि ग्रन्थोंमें बहत्तर कलाओंकी शिक्षाका। किंतु बौद्ध-परम्परामें तो चौंसठसे भी अधिक कलाओंकी शिक्षाका निर्देश किया गया है। 'ललितविस्तर'में लगभग ९१ (इक्यानबे) कलाओंकी गणना उपलब्ध होती है। जैसे—

१-लंघित, २-लिपि, ३-मुद्रा, ४-गणना, ५-धनुर्वेद, ६-जवित, ७-प्लवित, ८-तरण, ९-इष्वस्त्र, १०-हस्तिचालन, ११-अश्वचालन, १२-रथचालन, १३-धनुष्कलाप, १४-स्थैर्यस्थाम, १५-शूरतापूर्ण बाहुव्यायाम, १६-अंकुशग्रह, १७-पाशग्रह, १८-उद्यान (बागवानी), १९-निर्याण, २०-अवयान, २१-मुष्टिबन्ध, २२-पदबन्ध, २३-शिखाबन्ध, २४-छेद्य, २५-भेद्य, २६-दालन, २७-स्फालन, २८-अक्षुण्णवेध, २९-मर्मवेध, ३०-शब्दवेध, ३१-दृढप्रहार, ३२-अक्षक्रीडा, ३३-काव्यकरण (काव्य-रचना), ३४-ग्रन्थ, ३५-चित्र, ३६-रूप, ३७-रूपकर्म, ३८-धौत, ३९-अग्निकर्म, ४०-वीणा, ४१-वाद्य, ४२-नृत्य, ४३-गीत, ४४-पठित, ४५-आख्यान, ४६-हास्य, ४७-लास्य, ४८-विडम्बित, ४९-माल्यग्रथन, ५०-संवाहित, ५१-मणिराग, ५२-वस्त्रराग, ५३-मायाकृत, ५४-स्वप्नाध्याय, ५५-शकुनिरुत, ५६-स्त्रीलक्षण, ५७-पुरुषलक्षण, ५८-अश्वलक्षण, ५९-हस्तिलक्षण, ६०-गोलक्षण, ६१-अजलक्षण, ६२-मित्रलक्षण, ६३-कौटुभेश्वरलक्षण, ६४-निर्घण्ट, ६५-निगम, ६६-पुराण, ६७-इतिहास, ६८-वेद, ६९-व्याकरण, ७०-निरुक्त, ७१-शिक्षा, ७२-छन्द, ७३-यज्ञकल्प, ७४-ज्योतिष, ७५-सांख्य, ७६-योग, ७७-क्रियाकल्प, ७८-वैशिक, ७९-वैशेषिक, ८०-अर्थविद्या, ८१-बार्हस्पत्य, ८२-आश्चिर्य (आश्चर्य), ८३-आसुर्य, ८४-मृगपक्षिरुत, ८५-हेतुविद्या, ८६-जलयन्त्र, ८७-मधूच्छिष्टकृत, ८८-सूचीकर्म, ८९-विदलकर्म, ९०-पत्रच्छेद और ९१-गन्धयुक्ति।

इस प्रकार 'ललितविस्तर'के उक्त दोनों (१० और १२) परिवर्तोंमें प्राप्य कुमार बोधिसत्वकी शिक्षा-कथाके अध्ययनसे यह स्पष्ट होता है कि बौद्धकालीन कलावरेण्य यानी ललितविस्तर-शिक्षाविधि आधुनिक शिक्षाविधिकी भाँति नीरस और एकाङ्गी नहीं, अपितु गहन, समग्रात्मक और मनोरञ्जनपूर्ण थी।

भारतीय शिक्षा-पद्धति

अध्यात्मशिक्षण-पद्धति और आख्यान-शैली

(पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

अध्यात्मशिक्षणकी प्रणाली पर्याप्तरूपसे दुरूह तथा दुष्कर है। इसका कारण प्रतिपाद्य विषयकी गम्भीरता तथा रहस्यवादिता है। परिचितके द्वारा अपरिचितका तथा व्यक्तके द्वारा अव्यक्तका उपदेश देना शिक्षकोंका महनीय कार्य रहा है और इस कार्यकी सार्वत्रिक सिद्धिके लिये उन्होंने आख्यानोंका उपयोग किया है। अध्यात्मशिक्षणमें आख्यानोंका प्रयोग ऋग्वेदसे आरम्भ होता है और रामायण, महाभारत तथा पुराणोंके माध्यमसे यह परवर्ती साहित्यको सर्वथा व्याप्त कर विद्यमान है। पुराणोंकी लोकप्रियताका मुख्य हेतु आख्यानशैलीका न्यूनाधिक समाश्रयण है। वेदोंमें संकेतित आख्यानोंका विपुलीकरण वेदार्थोपबृंहणका अन्यतम प्रकार है। यह तो प्रख्यात तथ्य है कि इतिहास तथा पुराणके द्वारा वेदोंके अर्थका उपबृंहण करना चाहिये। अल्पश्रुत व्यक्तिसे वेद सर्वथा शङ्कित रहता है कि वह कहीं उसपर प्रहार कर उसे छिन्न-भिन्न न कर डाले—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

(महाभारत, आदि० १।२६७,२६८)

वेदार्थका उपबृंहण पुराण अनेक प्रकारसे करता है और इन प्रकारोंमें आख्यानशैलीका उपयोग नितान्त रोचक तथा प्रभावशाली होता है। वेदमें जो वस्तु या तथ्य सूक्ष्म रूपमें संकेतित किये गये हैं, उन्हींकी विशद और विपुल अभिव्यक्ति करना पुराणका कार्य है। वेदके समान पुराण भी अध्यात्मतत्त्वके शिक्षणके लिये आख्यानोंका प्रयोग कर उसे सुबोध तथा सुगम बना डालता है। अन्य धर्मों या मतोंके उपदेष्टा महापुरुषोंने भी यही शैली अपनायी है। जैन-धर्मके उपदेष्टा तीर्थंकरोंने तथा बौद्धधर्मके प्रचारक तथागतने ही अपने धर्मग्रन्थोंमें इस शैलीका प्रचुर उपयोग नहीं किया, प्रत्युत यहूदी, ईसाई तथा मुसलमानी मतोंके भी उपदेष्टाओंने इस शैलीका प्रयोग अपने शिक्षणकी व्यापकता, चारुता तथा प्रभावशालिताको दृष्टिमें रखकर किया है। उदाहरणोंके द्वारा इसे पुष्ट करनेकी विशेष आवश्यकता विज्ञ पाठकोंके लिये नहीं है। उन मतोंके धर्मग्रन्थोंका सामान्य अनुशीलन भी इस तथ्यका पर्याप्त पोषण करता है।

तथ्य यह है कि इस आख्यान-शैलीका उदय वेदसे प्रारम्भ होता है। वेदकी प्रत्येक संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद्‌में न्यून तथा अधिक मात्रामें यह शैली समादृत हुई है। ऋग्वेदसंहिताके विभिन्न मन्त्रोंमें कतिपय आख्यान संकेतित किये गये हैं, जिनका उद्देश्य है किसी दुर्बोध अध्यात्मतत्त्वको सुबोध तथा सरल बनाना। ऐसे आख्यानोंका सुन्दर संग्रह द्या द्विवेदने अपनी प्रसिद्ध रचना 'नीतिमञ्जरी' में किया है। इन आख्यानोंमें कहीं-कहीं देवों तथा मुनियोंकी जो चारित्रिक त्रुटियाँ लक्षित होती हैं, वे न तो हमारे अनुसरणके विषय हैं और न निन्दाके ही। वह तो प्राचीन इतिहासकी जानकारीके लिये तथ्योंका प्रतिपादनमात्र है। इस विषयमें महाभारतका यह दृष्टिकोण सर्वथा श्लाघनीय है—

कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा।
न चरेत् तानि धर्मात्मा श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत्॥

(महाभा०, शा० २९१।१७)

अलमन्यैरुपालब्धैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व)

इन्हीं आख्यानोंके ऊपर अनेक 'लौकिक न्याय' का निर्माण किया गया है। इन न्यायोंकी उपादेयता किसी दार्शनिक तथ्यके रहस्योंके उद्घाटनमें होती है, जिससे विषम सिद्धान्त सुगम हो जाता है। उदाहरणके लिये

'भर्छुन्याय' भर्छु नामक व्यक्तिके आख्यानपर आश्रित है। **'रोहणाचललाभे रत्नसम्पदः सम्पन्नाः'**—यह न्याय भी इसी प्रकार एक आख्यानपर आधृत है। 'रोहण' नामक पर्वत अशेष सम्पत्तियोंके उद्भव-स्थानके रूपमें विश्रुत है। यदि कोई व्यक्ति उस पर्वतपर पहुँच जाता है तो वह वहाँ उत्पन्न होनेवाले रत्नोंका स्वामी बन जाता है। इस न्यायद्वारा प्रत्यभिज्ञादर्शनके उस सिद्धान्तकी सुगम व्याख्या हो जाती है जिसके द्वारा परमेश्वरता प्राप्त करनेवाले व्यक्तिको समस्त सम्पत्तियोंके प्राप्त करनेका निर्देश किया जाता है। 'वृद्धकुमारीवाक्यन्याय'का उद्भव भी एक आख्यानके ऊपर ही है। इसका विशद वर्णन पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमें किया है।[1] किसी वृद्धकुमारीसे इन्द्रने वर माँगनेकी प्रार्थना की। उसने एक ही वर माँगा—'मेरे पुत्र घी तथा दूधसे सम्पन्न भातको कांस्यके पात्रमें भोजन करें।' उसने एक ही वरके द्वारा अपने लिये पति, पुत्र, गाय तथा धन—इन चार वस्तुओंका समाहार-रूपमें आशीर्वाद माँग लिया; क्योंकि इन चारों वस्तुओंकी सम्पत्तिके बिना उसकी प्रार्थना चरितार्थ नहीं हो सकती थी। इस न्यायका उपयोग अनेकार्थक वाक्यके स्वरूपको समझानेके लिये किया जाता है। तन्त्रवार्तिक (२।२।२) में यही न्याय 'वृद्धकुमारी-वर-प्रार्थना' के रूपमें उल्लिखित किया गया है। 'पङ्ग्वन्ध-न्याय' भी इसी प्रकार अंधे और लँगड़ेके पारस्परिक सहयोगके आधारपर निर्मित है, जिसका उपयोग सांख्यदर्शनमें जड-प्रकृति तथा निष्क्रिय पुरुषके परस्पर सहयोगसे उत्पन्न जगत्के परिणामकी सुगम व्याख्या समझानेके लिये किया गया है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

(सांख्यकारिका २१)

वाचस्पति मिश्रने इस कारिकाकी टीकामें इसकी विशेष व्याख्या नहीं की है, परंतु माधवाचार्यने 'सर्वदर्शनसंग्रह'-के सांख्य-प्रकरणमें इसका विशद विवरण दिया है। 'खल्वाटविल्वीय-न्याय', जिसका उपयोग भाग्यरहित व्यक्तिको विपत्तिका सर्वत्र सामना करनेके तथ्यके लिये किया जाता है— **प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः,** (भर्तृहरि, नीतिशतक, श्लोक ९०) एक लोकप्रख्यात आख्यानके ऊपर ही आधृत है। 'कण्ठचामीकर-न्याय' किसी सद्गुरुके द्वारा ब्रह्मतत्त्वकी शिक्षाके ऊपर आग्रह दिखलाता है, हम सभी ब्रह्मस्वरूप हैं अवश्य ही, परंतु किसी तत्त्ववेत्ता गुरुके उपदेशके द्वारा ही हम इस तथ्यको भलीभाँति जान सकते हैं, जिस प्रकार कोई भुलक्कड़ व्यक्ति अपने कण्ठमें सोनेकी माला पहननेपर भी उसे कहीं बाहर ही खोजता रहता है और किसी आप्त पुरुषके द्वारा उपदिष्ट होनेपर ही उसे पहचानता है। इसी प्रकार शब्दोपदेशसे साक्षात् परिज्ञान होनेके लिये प्रयुक्त **'तत्त्वमसि'** महावाक्यका तात्पर्य **'दशमस्त्वमसि'** न्यायसे भलीभाँति समझमें आता है। यह न्याय भी लौकिक आख्यानके ऊपर आश्रित है।

'दशमस्त्वमसि' का आख्यान

प्राचीनकालमें काशीमें चन्द्रग्रहणका शुभ अवसर प्राप्त था। ग्रामीणोंने विचार किया कि उस पुण्यपर्वमें भगवती भागीरथीमें स्नान कर पुण्यका अर्जन करना चाहिये। दस व्यक्तियोंकी एक टोली इस शुभ योगसे लाभ उठानेके लिये काशीके मणिकर्णिका घाटपर पहुँची और स्नानके लिये घाटपर उतरने लगी। सयाने व्यक्तिने कहा कि हम गाँवसे आनेवाले दस व्यक्ति हैं। नहानेके बाद भी गिनती करनी होगी कि हमारी संख्या ठीक-ठीक दस ही है। सभीने स्नान-ध्यान किया, पूजा-पाठ किया, दान-दक्षिणा दी। घाटके ऊपर आकर गिनती होने लगी। बारी-बारीसे सबने अपने साथियोंको गिना, परंतु प्रत्येक बार गिननेमें नौ ही व्यक्ति आते थे; क्योंकि गिननेवाला व्यक्ति अपनी गिनती नहीं करता था। एक व्यक्तिकी कमी होती थी। सभी जोर-जोरसे रोने लगे—'हाय! हममेंसे एक व्यक्ति गङ्गामें डूब गया। अब घर लौटकर

१. वृद्धकुमारी इन्द्रेणोक्ता वरं वृणीष्वेति, सा वरमवृणीत—पुत्रा मे बहुक्षीरघृतमोदनं कांस्यपात्र्यां भुञ्जीरन्निति। न च तावदस्याः पतिर्भवति कुतः पुत्राः, कुतो वा गावः, कुतो धान्यम्। तत्रानया एकेन वाक्येन पतिः पुत्रा गावो धान्यमिति सर्वं संगृहीतं भवति। (८।२।३ सूत्रपर महाभाष्यका विवरण)

हमलोग अपना कौन-सा मुँह दिखायेंगे।' घाटके ऊपर कोहराम मच गया। एक चतुर शहरी व्यक्ति इस विचित्र दुःखान्त नाटकको देख रहा था। उसने आगे बढ़कर पूछा—'क्या मामला है?' सभीने अपने एक साथीके डूब जानेकी बात कही। उसने एक वयस्क व्यक्तिसे गिननेके लिये कहा। उसने गिनती की और अपनेको न गिननेके कारण एक व्यक्तिको डूबनेका निश्चय किया। इस सयानेने फिरसे गिनती करायी और नौ व्यक्तियोंके गिननेके बाद जब वह ठमककर खड़ा हो गया, तब उसके पीठपर एक घूसा मारा और चिल्ला उठा—'अरे, तुम्हीं तो दसवें व्यक्ति हो।' यह सुनते ही मण्डलीको वस्तुस्थितिका ज्ञान हुआ कि किसी व्यक्तिकी कमी नहीं है और सब आनन्द मनाने लगे। गुरुके द्वारा उपदिष्ट व्यक्तिको शब्दके द्वारा प्रत्यक्ष आनन्द-लाभका यह सद्यः परिचायक आख्यान है।

आध्यात्मिक साहित्यमें छोटे-छोटे आख्यानोंके अनेक मार्मिक आख्यान बिखरे पड़े हैं, परंतु विशाल तथा विस्तृत आख्यानोंका परिचायक ग्रन्थरत्न है—योगवासिष्ठ। इस विशालकाय ग्रन्थरत्नमें छः प्रकरण हैं, जिनके नाम क्रमशः हैं—वैराग्य, मुमुक्षु-व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम तथा निर्वाण और श्लोकोंकी संख्या है बत्तीस हजार। आख्यानशैलीकी प्रशंसामें यहाँ कहा गया है—

यत् कथ्यते हि हृदयङ्गमयोपमान-
युक्त्या गिरा मधुरयुक्तपदार्थया च।
श्रोतुस्तदङ्ग हृदयं परितो विसारि
व्याप्नोति तैलमिव वारिणि वार्य शङ्काम्॥

(उत्पत्तिप्रकरण ८४।४५)

अर्थात् 'मधुरशब्दावली तथा समझमें आनेवाले दृष्टान्तों तथा युक्तियोंसे सम्पन्न भाषामें जो उपदेश किया जाता है वह इस प्रकार हृदयमें फैल जाता है, जिस प्रकार तेलकी बूँद पानीके ऊपर सद्यः फैल जाती है और सुननेवालोंकी सब शङ्काएँ दूर हो जाती हैं।'

परंतु कठिन एवं कठोर शब्दोंवाली भाषामें, सरस शब्दों तथा दृष्टान्त, आख्यानसे रहित भाषामें जो उपदेश किया जाता है वह राखमें हवन किये गये घीके समान हृदयमें प्रवेश नहीं करता—

त्यक्तोपमानममनोज्ञपदं दुरापं
क्षुब्धं धराविधुरितं विनिगीर्णवर्णम्।
श्रोतुर्न याति हृदयं प्रविनाशमेति
वाक्यं किलाज्यमिव भस्मनि हूयमानम्॥

(उत्पत्ति० ८४।४६)

आख्यानोंके द्वारा सद्यः प्रकाश्यमान तथ्योंकी उपमा चन्द्रमाके द्वारा प्रकाशित भूतलसे दी गयी है—

आख्यानकानि भुवि यानि कथाश्च या या
यद्यत्प्रमेयमुचितं परिपेलवं वा।
दृष्टान्तदृष्टिकथनेन तदेति साधो
प्राकाश्यमाशु भुवनं सितरश्मिनेव॥

(उत्पत्ति० ८४।४७)

इसी कारण योगवासिष्ठ काव्य, दर्शन तथा आख्यान—तीनोंका मञ्जुल समन्वय होनेके कारण त्रिवेणीके समान महत्त्वशाली माना जाता है। ऐसे उपाख्यानोंकी संख्या पचाससे भी ऊपर है, जिनमें दाशूर, रानी चुडाला, वीतहल, उद्दालक आदिके आख्यान नितान्त प्रसिद्ध हैं। रानी चुडालाके विस्तृत आख्यानके द्वारा स्त्रीको आत्मज्ञान होने तथा तद्द्वारा अपने पतिके उद्धार करनेकी कथा दी गयी है।

संसाररूपी अटवी (महाटवी) का विस्तृत तथा आकर्षक वर्णन दोनों ग्रन्थोंमें विशेष उपलब्ध होता है—श्रीमद्भागवतके पञ्चमस्कन्धमें (गद्य) तथा योगवासिष्ठके उत्पत्तिप्रकरणके ९८ तथा ९९ अध्यायोंमें (पद्य)। दोनोंके आख्यानमें ऐसा वैशिष्ट्य है, जो हृदयङ्गम करने योग्य है। यहाँ एक-दो उदाहरण पर्याप्त होगा—

कीलोत्पाटी बंदरके समान मन ही स्वयं दुःखोंका आवाहन करता है—

अपश्यन् काष्ठरन्ध्रस्थवृषणाक्रमणं यथा।
कीलोत्पाटी कपिर्दुःखमेतीदं हि तथा मनः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ९९।४१)

गन्नेमें वर्तमान रसको चूसकर जैसे मनुष्य उसका स्वाद लेता है, उसी प्रकार शास्त्रोंके महावाक्योंमें जो

ब्रह्मानन्द भरा है उसका भोग ज्ञानी अपने अनुभवद्वारा ही करता है—

महावाक्यार्थनिष्यन्दं स्वात्मज्ञानमवाप्यते।
शास्त्रादेरिक्षुरसतः स्वाद्विव स्वानुभूतितः॥

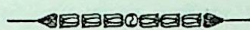
(योगवासिष्ठ, निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध १९७।२९)

इस दृष्टान्तपर ध्यान दीजिये। सांसारिक व्यक्ति अपने ही संकल्पों तथा वासनाओंका जाल बुना करता है और उनके द्वारा वह स्वयं अपने-आपको बन्धनमें डालता है—रेशमके कीड़ेके समान, जो अपने ही लारके जालसे अपनेको बन्धनमें डालता है। न कोई बाहरी आदमी इस कीड़ेको बन्धनमें जकड़ता है और न कोई जीवको बन्धनमें डालता है। ये दोनों अपने ही क्रिया-कलापोंसे मानसिक तथा शारीरिक द्रव्योंसे अपनेको बाँधते हैं—

संकल्पवासनाजालैः स्वयमायाति बन्धनम्।
मनो लालामयैर्जालैः कोशकारकृमिर्यथा॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ९९।३९)

निष्कर्ष यह है कि अध्यात्मशास्त्रके दुरूह तत्त्वोंके सरल-सुबोध ज्ञानके निमित्त भारतीय ऋषियोंने दृष्टान्त, उपमा तथा आख्यानोंकी सहायतासे विषयका प्रतिपादन किया है, जिससे शिष्यको विषयका ज्ञान सद्यः हो जाता है।*



शिक्षा एवं संस्कृतिकी गुरुकुल-प्रणालीमें संस्कारों और व्रतोंका महत्त्व

(श्रीभैरूसिंहजी राजपुरोहित)

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' अर्थात् मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ, भूमि मेरी माता है। मेरा जीवन मातृभूमिकी सेवामें अर्पण रहेगा, लोककल्याणकी सेवाके लिये समर्पित रहेगा। मैं सम्पूर्ण विश्वको ज्ञान और शक्तिसे उद्दीप्त रखूँगा। गुरुदेवद्वारा प्रदत्त शक्तिसे मैं अपने राष्ट्रको जीवित और जाग्रत् रखूँगा। मेरे जीवित रहनेतक मेरे धर्म और संस्कृतिको आँच नहीं आने पायेगी।'

गुरुकुल-विद्यालयके वातावरणसे विदा होनेपर प्रत्येक स्नातक उपर्युक्त प्रकारकी प्रतिज्ञा करता था। ऐसी प्रतिज्ञासे सम्पन्न स्नातक जिस समाज या राष्ट्रमें प्रवेश करता था, उस समाजका सर्वाङ्गीण विकास होनेमें कोई कसर नहीं रहती थी। वस्तुतः देश और समाजके सर्वाङ्गीण विकासका श्रेय हमारे प्राचीन गुरुकुलों और आचार्योंको है, जिनकी शिक्षा-पद्धति ऐसी थी, जो मनुष्यको न केवल आध्यात्मिक लक्ष्यकी प्राप्ति कराती थी, अपितु व्यक्तिमें ऐसी शक्ति और प्रतिभा लाती थी जो अपनेको एवं समाजको ऊर्ध्वगामी बना सके। हमारे ऋषि-मुनि अपने आश्रमोंमें चुपचाप बैठे माला ही नहीं जपते थे, अपितु वे आजीवन गुरुकुल चलाने, सद्ग्रन्थोंका प्रणयन करने, यज्ञोंका आयोजन करने, कथा-प्रवचनके माध्यमसे लोकशिक्षण देने, संस्कार और पर्वोंके माध्यमसे आदर्श परिवार एवं समाजके निर्माणकी व्यवस्था करनेमें संलग्न रहते थे। उन दिनों देशभरकी सारी शिक्षा-व्यवस्था इन ऋषियों, ब्राह्मणों और संतोंके अधिकारमें ही थी। आज हमारे सामने ज्ञानका जो अथाह भण्डार सुरक्षित है, वह उन्हींकी देन है।

महर्षि चरक और सुश्रुतने आयुर्वेदके क्षेत्रमें बहुत-सी खोज और अनुसंधान करके मानव-समाजको रोगमुक्त एवं स्वस्थ बनानेकी दिशामें बहुत काम किया। देवर्षि नारद स्वयं न केवल एक भक्त और ज्ञानी व्यक्ति थे, अपितु

* कुछ सीमातक आख्यानशैलीको बच्चोंकी शिक्षा-पद्धतिमें सम्मिलित किया जा रहा है, किंतु बच्चों और बालकोंके लिये तथा प्रौढ़ शिक्षाके कार्यक्रममें विशेष प्रशिक्षित शिक्षकोंद्वारा यदि यह प्रणाली अवश्यकरणीय बनायी जाय और वैसी पुस्तकें भी उपलब्ध करायी जायँ तो शिक्षा-व्यवस्थाको और अधिक प्रभावकारी बनाया जा सकेगा। —सम्पादक

उनका ज्ञान-प्रसार और लोगोंको सत्प्रेरणाएँ देनेका काम और भी महत्त्वपूर्ण था। वे सदैव कीर्तन-भजन गाते हुए लोगोंमें सद्विचार और सद्ज्ञानका प्रचार करते रहे। उन्होंने कई पतितोंका उत्थान किया, पापियोंको शुभ मार्गमें लगाया, अधिकारी पात्र (ध्रुव, प्रह्लाद) को ज्ञानकी दीक्षा देकर आत्मविकासकी ओर अग्रसर किया। महर्षि कणाद जीवनकी आवश्यकताओंको कम महत्त्व देकर अपना समय संसारको ज्ञान एवं शिक्षा बाँटनेमें लगाते थे। वे खेतोंमें गिरे अन्नके दानोंको बीनकर अपने परिवारका पालन करते थे। महर्षि पिप्पलाद भी इसी उद्देश्यके लिये केवल पीपलके फल खाकर ही रहते थे। शुकदेवजीने सांसारिक प्रलोभनोंको छोड़कर आजीवन ज्ञान-साधना की। उन्होंने महाराज परीक्षित्‌को श्रीमद्भागवतकी कथा सुनाकर उनके जीवनको सार्थक कर दिया तथा राजा जनकसे ज्ञान प्राप्तकर उसे सारी मानव-जातिको वितरित कर दिया। चाणक्यके प्रयत्नोंसे मौर्य-साम्राज्यका विस्तार हुआ। वे राजकीय वातावरणसे दूर एक कुटियामें रहे एवं उन्होंने सरस्वतीकी आराधना की तथा अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्रकी रचना की। उन्हीं दिनों तक्षशिला और नालन्दा-जैसे विश्वविद्यालय विकसित हुए, जो भारतीय संस्कृतिको समस्त विश्वमें फैलानेमें सक्षम रहे। काशी और उज्जैन किसी समय प्रख्यात विद्याके केन्द्र रहे हैं।

श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न-जैसा व्यक्तित्व वसिष्ठ और विश्वामित्रकी देन है तो लव-कुश-जैसे महान् प्रतापी महर्षि वाल्मीकिकी शिक्षा-दीक्षा और दिशानिर्देशके परिणाम हैं। श्रीकृष्ण और सुदामा-जैसे मित्रोंको सांदीपनिका गुरुकुल ही पैदा कर सका है।

भारतीय ऋषियों एवं तत्त्ववेत्ताओंने मनुष्यकी अन्तर्भूमिको श्रेष्ठताकी दिशामें विकसित करनेके लिये कुछ ऐसे सूक्ष्म उपचारोंका आविष्कार किया, जिनका प्रभाव शरीर तथा मनपर ही नहीं, अपितु सूक्ष्म अन्तःकरणपर भी पड़ता है और उसके प्रभावसे मनुष्यको गुण, कर्म और स्वभावकी दृष्टिसे समुन्नत स्तरकी ओर बढ़नेमें सहायता मिलती है। इस आध्यात्मिक उपचारका नाम है 'संस्कार'। महर्षि पाणिनिके अनुसार इस शब्दके तीन अर्थ हैं—(१) उत्कर्ष करनेवाला—उत्कर्ष-साधन-संस्कार, (२) समवाय या संघात और (३) आभूषण। प्रत्येक मनुष्य जन्मके साथ कुछ गुण-अवगुण लेकर पैदा होता है। उसपर पूर्वजन्मोंके विविध संस्कार छाये रहते हैं। वृद्धिके साथ उसपर नये संस्कार भी पड़ते रहते हैं। अतः पुराने संस्कारोंको प्रभावित करके उनमें परिवर्तन, परिवर्धन अथवा उनका उन्मूलन करने, प्रतिकूल संस्कारोंको नष्ट कर अनुकूल संस्कारोंका निर्माण करनेका विधान 'संस्कार-पद्धति' कहलाता है। माताके गर्भमें आनेके दिनसे मृत्युतक समय-समयपर प्रत्येक मानवको सोलह बार संस्कारित करके उसे देव-मानवके स्तरतक पहुँचानेकी प्रेरणा दी जाती है। संस्कार बीजरूप ही होते हैं, जो सुपात्र व्यक्तिमें सही वातावरण पाकर फलित हो जाते हैं।

प्रत्येक गुरुकुलमें नित्य यज्ञ होते थे, जिनमें सस्वर वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण होता था। वेदमन्त्रोंके सस्वर उच्चारणसे उत्पन्न ध्वनितरङ्गें जब यज्ञीय ऊष्माके साथ सम्बद्ध हो जाती हैं तो अलौकिक वातावरण प्रस्तुत करती हैं। जो इस वातावरणमें रहते हैं, उनके व्यक्तित्वमें अनेक विशेषताएँ अनायास ही प्रस्फुटित हो जाती हैं। व्यक्तित्वके विकासकी ऋषिप्रणीत यह आश्चर्यजनक मनोवैज्ञानिक पद्धति है। 'संस्कार'से सम्बन्धित मन्त्रोंमें अनेक दिशाएँ भरी पड़ी होती हैं, जो प्रत्येक परिस्थिति-हेतु उपयोगी सिद्ध होती हैं। अतः इस प्रणालीको गुरुकुलमें प्रारम्भ किया गया। पुंसवन-संस्कारके समय उच्चारण किये जानेवाले मन्त्रोंमें गर्भवतीके रहन-सहन, आहार-विहारसम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रशिक्षण वर्तमान हैं तो अन्नप्राशनमें आहार-विहारकी नियमितता है। इसी प्रकार अन्य प्रमुख संस्कारोंमें भी प्रेरणाएँ भरी पड़ी हैं, जो इस प्रकार हैं—

नामकरण—व्यक्तिकी गरिमाका उद्बोधन करानेवाले नाम देने और उसी नामका बार-बार अन्यद्वारा सदैव उच्चारण सुननेपर बालक अपने सम्बन्धमें वैसी ही मान्यताका निर्माण करता है। देवताओं, ऋषियों एवं गुण-कर्मको उन्नत बनानेवाले शब्दावलियोंके आधारपर हमारे बालकोंका

नाम देनेकी परम्परा है । हमारे बालक श्रीराम बनें, रावण नहीं, नाम अनगढ़ न हों ।

मुण्डन—बाल उतारना और मानसिक विकासकी, गुण-कर्म-स्वभावकी भूमिका सम्पन्न करनेकी विद्या है ।

विद्यारम्भ—शिक्षाका आरम्भ । शिक्षाके दो वर्ग हैं—एक भौतिक उर्पाजन—उपयोग और दूसरा व्यक्तित्वका विकास—परिष्कार । भौतिक उपार्जन—उपयोगके लिये शिल्प-उद्योग सिखानेकी प्राचीन परिपाटी रही है । व्यक्तित्वके परिष्कारवाली विद्या गुरुकुल-सा यज्ञमय वातावरण चाहती है । विद्यार्थीकी जिज्ञासा, वातावरणका प्रभाव और मूर्धन्योंके सत्सङ्गका समन्वय गङ्गा-यमुना-सरस्वती-सा संगम बनाता है । ऐसे ही संगममें कौवे कोयल और बगुले हंसका कृत्य-उपक्रम करते देखे गये हैं । ऋषि-सदृश व्यक्तित्व-सम्पन्न व्यक्ति गुरुपदपर प्रतिष्ठित रहते हैं, जिनके जीते-जागते व्यक्तित्वका अनुसरण कर शिष्य तदनुसार ढलते हैं । आजके परिप्रेक्ष्यमें शहरी भागदौड़से दूर एकान्त स्थानोंपर ऐसी सादगीकी गुरुकुल-पद्धतिके विद्यालय यत्र-तत्र-सर्वत्र आरम्भ करनेकी आवश्यकता है ।

उपनयन—उपनयन-संस्कार अर्थात् यज्ञोपवीत-धारण प्रायः ऐसे गुरुकुलोंमें ही होते थे, जहाँ विद्यार्थी अध्ययनरत थे । उन्हें जनेऊके नौ धागोंको नौ सद्गुणोंके प्रतीक मानना, जीवनमें उन गुणोंको ढाले रहना, सद्विवेक एवं सद्बुद्धिको प्रेरित करनेवाले परम प्रसिद्ध गायत्रीमन्त्रकी नियमित उपासना करना और उसमें निहित प्रेरणाओंको अपने जीवनमें ढालना, सत्कर्म सिखानेकी प्रवृत्ति, यज्ञ-प्रक्रियाको नियमित जीवनमें अपनाना और जीवन यज्ञमय बनाना सिखाया जाता था ।

विवाह—बिना प्रदर्शन और अपव्ययके सात्त्विक वातावरणमें जीवनको यज्ञमय बनानेवाले धर्मकृत्यका नाम है विवाह-संस्कार— तदर्थ उपयुक्त साथीका उपयुक्त आयुमें चयन तथा कन्याके पिताके अनुदानको विशुद्ध स्त्रीधन समझना ।

वानप्रस्थ—ढलती आयुसे शेष जीवनको परमार्थप्रधान बनाना, साधना और सेवाकी जीवनचर्या बिताना और समाजकल्याण एवं लोकमङ्गलमें समर्पित रहना ।

अन्त्येष्टि—जीवनकी नश्वरता और उसके श्रेष्ठतम सदुपयोगके लिये उपस्थित जनोंको बोध कराना ।

श्राद्ध—तेरहवें दिन मृतककी छोड़ी सम्पदाका उपयुक्त भाग परमार्थ प्रयोजनोंके लिये समर्पित करके मृतात्माकी सद्गतिका द्वार खोलना ।

गुरुकुलके यज्ञमय वातावरणमें उपर्युक्त संस्कारोंके अतिरिक्त व्यक्तित्वका निर्माण, पूजा-उपासनाकी विभिन्न पद्धति एवं उपासनाके उपकरणोंके माध्यमसे भी महत्त्वपूर्ण शिक्षा दी जाती थी । विभिन्न अवतारों, विभिन्न देवी-देवताओंके रहस्य और उनके आयुधोंके आधारपर कई महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ दी जाती थीं । ऋषियोंने केवल इतना ही करनेमें इतिश्री नहीं माना, अपितु समाजको समुन्नत और सुविकसित बनाने, उनमें सामूहिकता, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा, नागरिकता, परमार्थ-परायणता, देशभक्ति और लोकमङ्गलकी प्रेरणा भरनेके लिये एक और दूरदर्शी प्रणालीका आविष्कार किया । वह है पर्व-आयोजन ।

महर्षि कणादके गुरुकुलमें प्रश्नोत्तर चल रहे थे । उस समय जिज्ञासु उपगुप्तने पूछा—'देव ! भारतीय संस्कृतिमें व्रतों तथा जयन्तियोंकी भरमार है । इसका क्या कारण है ?' महर्षि कणाद बोले—'तात ! व्रत व्यक्तिगत जीवनको अधिक पवित्र बनानेके लिये हैं और जयन्तियाँ महामानवोंसे प्रेरणा ग्रहण करनेके लिये । उस दिन उपवास, ब्रह्मचर्य, एकान्तसेवन, मौन, आत्मनिरीक्षण आदिकी विधा सम्पन्न की जाती है । दुर्गुण छोड़ने और सद्गुण अपनानेके लिये देवपूजन करते समय संकल्प लिये जाते हैं और संकल्पके आधारपर व्यक्तित्व ढाला जाता है ।'

व्यक्तिको अध्यात्मका मर्म समझाने, गुण-कर्म-स्वभावका विकास करनेकी शिक्षा देने और सन्मार्गपर चलानेका ऋषिप्रणीत मार्ग है—धार्मिक कथाओंके कथन-श्रवणद्वारा सत्सङ्ग एवं पर्व-विशेषोंपर सोद्देश्य मनोरञ्जन । त्योहार और व्रतोत्सव यही प्रयोजन पूरा करते हैं । पर्व-त्योहार जन-जनमें नैतिकता और सच्चरित्रताके भावोंको विकसित करते हैं । स्वामी विवेकानन्दजीने अपने उद्बोधनमें एक बार भारतीय संस्कृतिकी पर्वप्रथाकी महत्ता बताते हुए कहा था—वर्षमें प्रायः चालीस पर्व पड़ते

हैं। युगधर्मके अनुरूप इनमेंसे दसका निर्वाह बन पड़े तो उत्तम है। उन प्रमुख दसोंके नाम और उद्देश्य इस प्रकार हैं—

१-दीपावली—लक्ष्मीके उपार्जन और उपयोगकी मर्यादाका बोध। गोसंवर्धन। सज्जनोंके सामूहिक प्रयत्नसे अँधेरी रातको जगमगानेका उदाहरण। वर्षाके उपरान्त समग्र सफाई।

२-गीता-जयन्ती—गीताके कर्मयोगका समारोहपूर्वक प्रचार-प्रसार।

३-वसन्तपञ्चमी—सदैव उल्लसित हल्की मनःस्थिति बनाये रखना तथा साहित्य, संगीत एवं कलाको सही दिशा-धारा देना।

४-शिवरात्रि—शिवके प्रतीकमें जिन सत्प्रवृत्तियोंकी प्रेरणाका समावेश है, उनका रहस्य समझना-समझाना।

५-होली—नवान्नका सामूहिक वार्षिक यज्ञ। प्रह्लाद-कथाका स्मरण। सत्प्रवृत्ति-संवर्धन और दुष्प्रवृत्ति-उन्मूलन।

६-गङ्गादशहरा—गायत्री-जयन्ती—भगीरथके उच्च उद्देश्य एवं तपकी सफलतासे प्रेरणा। सद्बुद्धि-हेतु दृढ़ संकल्प और सत्प्रयास।

७-व्यासपूर्णिमा—गुरुपूर्णिमा—स्वाध्याय एवं सत्सङ्गकी व्यवस्था। गुरु-तत्त्वकी महत्ता और गुरुके प्रति श्रद्धा-भावनाकी अभिवृद्धि।

८-श्रावणी, रक्षाबन्धन—भाईकी पवित्र दृष्टि। एक नारी-रक्षा। पापोंके प्रायश्चित्त-हेतु हेमाद्रि-संकल्प। यज्ञोपवीत-धारण। ऋषिकल्प पुरोहितसे व्रतशीलतामें बँधना।

९-पितृविसर्जन—पूर्वजोंके प्रति कृतज्ञता-अभिव्यक्तिके लिये श्राद्ध-तर्पण, अतीत महामानवोंको श्रद्धाञ्जलि-अर्पण।

१०-विजयादशमी—स्वास्थ्य, शस्त्र एवं शक्ति-संगठनकी आवश्यकताका स्मरण। असुरतापर देवत्वकी विजय।

इनके अतिरिक्त रामनवमी, जन्माष्टमी, हनुमान्-जयन्ती, गणेशचतुर्थी तथा कई क्षेत्रीय पर्व हैं, जिनमें कई तरहकी शिक्षाएँ और प्रेरणाएँ संनिहित हैं।

ऋषि-प्रणालीकी शिक्षा-प्रणालीमें संस्कारों और पर्वोंके अतिरिक्त घरोंमें कथा-कहानियोंके द्वारा नीति, धर्म, सदाचारकी उपयोगिता बतानेकी सार्वजनीन लोक-शिक्षण-पद्धति भी प्रचलित रही है। यही नहीं भौतिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रकी समस्याओंके समाधान खोजने-बतानेके लिये विशालकाय राजसूय-यज्ञके आयोजन किये जाते रहे तो धार्मिक एवं सामाजिक विपन्नताको निरस्त करनेके लिये वाजपेय-यज्ञोंका प्रचलन भी रहा है। इन यज्ञोंमें अग्निहोत्रके साथ-साथ ज्ञानयज्ञकी भी प्रधानता रहती थी। एक विचार और स्वभावके व्यक्ति जब एक लक्ष्य-उद्देश्यकी पूर्तिमें लगते थे तब उनका चिन्तन, पर्यवेक्षण और निर्धारण कल्याणकारी उपाय खोजता था। धार्मिक मेले, पर्वस्नान और तीर्थोंकी स्थापना इसलिये होती रही कि बड़ी संख्यामें जनमानस वहाँ एकत्रित हों और परस्पर विचार-विनिमय और समर्थ मार्गदर्शन देकर सामयिक समस्याका निवारण और भावी निर्धारणकी योजना बना सकें। फलस्वरूप राष्ट्र एकताके सूत्रमें बँधा रहे।

सूत, शौनकादि ऐसे ही विशाल ज्ञानसत्र चलाते रहते थे, जिनमें हजारों मुनि-मनीषी ज्ञान-संवर्धनार्थ सम्मिलित होते थे। बालकोंके नवनिर्माणहेतु गुरुकुलोंके समकक्ष निवृत्त व्यक्तियोंके आरण्यकमें पठन-पाठन, धर्मतन्त्रसे लोकशिक्षणकी योजना बनती थी।

इन दिनों समयकी माँग ऐसी ही गुरुकुल-प्रणाली और शिक्षा-पद्धतिको अपनानेकी अपेक्षा रखती है। मूर्धन्य विद्वान्, ऋषि-तुल्य संत-महात्मा, समाज-सुधारकों और लोकसेवियोंसे प्रार्थना है कि वे परिस्थितिके अनुकूल आधुनिक शिक्षा-प्रणालीमें उपर्युक्त परिवर्तनके लिये प्रयास करें, जिससे ऐसे गुरुकुलों, आरण्यकों, विद्यालयोंसे दीक्षित स्नातक पुनः **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'** -जैसी प्रतिज्ञा कर समाजमें प्रवेश कर सकें और देव-मानवोंकी संस्कृति पनपा सकें तथा वे ऋषियोंकी परम्परा फिरसे कायम कर सकें।

प्राच्य एवं पाश्चात्त्य शिक्षा-पद्धति

(पं० श्रीआद्यानाथजी झा 'निरंकुश')

नीतिशास्त्रकी उक्ति है—'**ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ।**' अर्थात् ज्ञानसे हीन मनुष्य पशुके तुल्य हैं। ज्ञानकी प्राप्ति शिक्षा या विद्यासे होती है। दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। '**शिक्ष**' धातुसे शिक्षा शब्द बना है, जिसका अर्थ है—विद्या ग्रहण करना (**'शिक्ष-विद्योपादाने' भ्वादि, आत्मनेपदी, सि० कौ०**)। विद्या शब्द '**विद**' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है—ज्ञान पाना (**'विद्-ज्ञाने', अदादि, सि० कौ०**)।

प्राचीन भारतमें शिक्षाके विषय वेदोपवेद एवं वेदाङ्ग थे। वेद चार हैं। पद्यमयी रचना ऋग्वेद, गद्यमयी रचना यजुर्वेद, गानमयी रचना सामवेद। इन्हें वेदत्रयी कहा जाता है। चौथा है अथर्ववेद। प्रत्येक वेदकी ११३१ शाखाएँ थीं, जिनमेंसे कतिपय कराल कालके द्वारा पठन-पाठनके अभावमें कवलित हो गयीं। चारोंके चार उपवेद हैं, यथा—ऋक्‌के आयुर्वेद, यजुःके धनुर्वेद, सामके गान्धर्ववेद एवं अथर्वके अर्थवेद।

वेदोंके अर्थज्ञानको सरल रीतिसे समझनेके लिये ऋषियोंके द्वारा वेदाङ्गकी रचना की गयी '**वेदार्थावबोधसौकर्याय वेदाङ्गानि समाम्नातानि महर्षिभिः ।**' वे वेदाङ्ग छः हैं—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष एवं व्याकरण।

प्राचीनकालमें इन विषयोंकी शिक्षा गुरुकुलमें दी जाती थी। उसमें छात्र नगरके कोलाहलसे दूर एकान्त वनस्थलीके मुक्त एवं शान्त वातावरणमें गुरुके निकट वास करते हुए शिक्षा ग्रहण करते थे। गुरुओंके प्रति छात्रोंके मानसमें असीम श्रद्धा-भक्ति होती थी। फलतः वे हृदयसे गुरुकी सेवा-शुश्रूषा करते थे। उस समयकी मान्यता थी कि बिना गुरुकी सेवा किये विद्या-प्राप्ति नहीं हो सकती, यथा—'**गुरुशुश्रूषया विद्या ।**' गुरुजन भी पुत्रके समान शिष्योंके प्रति वात्सल्य रखते थे। विद्यावंशकी परम्परा चिरकालसे भारतीय संस्कृतिकी देन है— '**वंशो द्विधा, विद्यया जन्मना च**'।

'गुरु'शब्दकी व्युत्पत्ति है—**गुं=हृदयान्धकारम् रावयति=दूरीकरोतीति गुरुः ।**' अर्थात् जो हृदयके अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करे, वह गुरु है। अतएव शिष्य गुरुओंको सर्वस्व तथा सर्वश्रेष्ठ मानते थे। गोविन्दसे भी प्रथम गुरुका स्थान था। शास्त्रमें कहा गया है कि जहाँ गुरुपर मिथ्यापवाद लगाया जाय या उनकी निन्दा हो, वहाँ कान मूँद ले अथवा वहाँसे दूर चला जाय। आयोदधौम्यके शिष्य आरुणि, उपमन्यु तथा वेदकी गुरुभक्ति सुप्रसिद्ध है।

गुरुकुलसे तात्पर्य है समाजके विशिष्ट आचार्य एवं शैक्षणिक संततिभूत शिष्य जहाँ एकत्र रहकर अध्ययन-अध्यापन करते थे। प्रत्येक गुरुकुलमें दस हजार छात्र रहते थे। उसका एक कुलपति होता था। वह गणयमान्य विद्वान् होता था। वह सभी छात्रोंके लिये भोजनाच्छादनका प्रबन्ध करता था। उसके प्रति जन-समूहमें अपार आदरभाव रहता था। उसकी बात कोई नहीं टाल सकता था। गुरुकुलके छात्रोंके लिये ब्रह्मचारिताके अलग नियम थे। मनुकी उक्ति है—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥

(मनुस्मृति २।१७७)

अर्थात् 'ब्रह्मचारियोंके लिये मधु, मांस, सुगन्धित द्रव्य, माला, रसीले पदार्थ, स्त्री-संगति एवं प्राणियोंकी हिंसा आदि कर्म वर्जित थे।'

इस शिक्षा-प्रणालीके द्वारा पैल, जैमिनि, वैशम्पायन, सुमन्तुके समान विद्वान् पैदा हुए। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ।
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः॥

रामभद्र, सांदीपनि, याज्ञवल्क्य, महाभाष्यकार पतञ्जलि, पाणिनि आदि इसी पुनीत परम्पराके शिष्यरत्न थे।

इससे पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्ति होती थी। क्यों न हो, इसका लक्ष्य ही था—**'सा विद्या या विमुक्तये।'** ऋषि दयानन्दने गुरुकुलके सम्बन्धमें कहा है—**'गुरुकुलशिक्षाया ब्रह्मचर्यं प्राणभूतम्, धार्मिकता तस्याः शरीरम्, राष्ट्रियता च तस्याः सौन्दर्यम्।'** अर्थात् इस गुरुकुल-शिक्षा-प्रणालीका ब्रह्मचर्य प्राण, धार्मिकता शरीर एवं राष्ट्रियता सौन्दर्य है। अतएव छात्रोंका शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास सम्यक्रूपसे हो जाता था। कहा गया है—**'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।'** अर्थात् देवोंने ब्रह्मचर्य तथा तपस्याके बलसे मृत्युको परास्त किया और स्वयं वे अमर कहलाये।

गुरुकुलमें सभी वर्गोंके छात्रोंके साथ सहपाठ एवं सहवाससे पारस्परिक सौहार्द रहता था। कहाँ सुदामाके समान विपन्न और कहाँ श्रीकृष्णके सदृश सम्पन्न, दोनोंमें कैसी प्रगाढ़ मित्रता थी। छात्र सादा जीवन एवं उच्च विचारका निर्वाह करते थे। दस हजार छात्रोंके लिये एक जगह शिक्षण-व्यवस्थामें व्यय भी स्वल्प था और लाभ अधिक थे।

खेदका विषय है कि सम्प्रभुत्वकी छिन्नता-भिन्नता तथा पारस्परिक कलहसे राष्ट्र-शक्ति पुञ्जीभूत न रह सकी। देश गुलाम हो गया। शनैः-शनैः इसकी प्राचीन शिक्षा-प्रणाली समाप्त हो गयी। देशकी राष्ट्रभाषा संस्कृतका स्थान उर्दू, फारसी, अंग्रेजीने ले लिया। १९२८ ई०में लार्ड विलियमने भारतमें सुधारके लिये विविध उपाय किये। शिक्षाका भार लार्ड मैकालेने लिया। उसने कहा था—'मेरा उद्देश्य इस शिक्षासे केवल यही है कि भारतमें अधिक-से-अधिक लिपिक पैदा हों, जिससे यह देश बहुत दिनोंतक गुलाम बना रहे।' इसके फलस्वरूप हमारा सांस्कृतिक, राष्ट्रिय एवं आध्यात्मिक विकास अवरुद्ध हो गया।

इस संकुचित शिक्षण-पद्धतिमें कतिपय नवीनातिनवीन विषयोंका समावेश अवश्य था; परंतु शिक्षणका मूलभूत प्राणतत्त्व नहीं था। फलतः यह प्रणाली मात्र उदरपूर्तिके लिये सहायक बनकर रह गयी। अतएव विविध शिक्षाविदोंने इस पाश्चात्त्य शिक्षा-पद्धतिकी भूरि-भूरि भर्त्सना की है। उनका कथन है कि केवल मानसिक विकाससे मानव सब तरहसे सुखी नहीं रह सकता। यह पद्धति जबतक चलती रहेगी तबतक देशका पूर्णतम विकास सम्भव नहीं है।

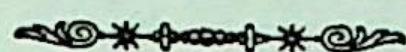
लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० अमरनाथ झाने लखनऊ विश्वविद्यालयके दीक्षान्त-भाषणमें कहा था—'मैं छात्र-जीवनकालसे सुनता आया हूँ कि पाश्चात्त्य शिक्षा-पद्धति दोषपूर्ण है और लम्बे समयतक अध्यापन करनेके पश्चात् आज भी मैं अनुभव करता हूँ कि इसमें कई खामियाँ हैं। इसके विषयमें मेरा विचार है कि शिक्षाक्षेत्रमें जबतक राजनीतिके पंडे अनधिकार हथकंडे अपनाते रहेंगे, तबतक सुधार नहीं हो सकता।'

वर्तमान उद्दण्डता, अनुशासनहीनता, अनैतिकता, चारित्रिक अधःपतन, माता, पिता तथा गुरुके प्रति श्रद्धाहीनता, राष्ट्रिय भावनाकी कमी, स्वार्थान्धता आदि दोष इसी दूषित शिक्षा-पद्धतिके कारण हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् इसमें सुधारके लिये सरकारकी ओरसे अनेकानेक उपाय किये गये हैं। उदाहरणके लिये वयस्क-शिक्षा, स्व० राधाकृष्णन्के नेतृत्वमें विश्वविद्यालय-कमीशन, मुदालियर-कमीशन, शैक्षणिक पञ्चवर्षीय कार्यक्रम, स्त्री-शिक्षाके लिये बालिका-विद्यालय एवं नयी शिक्षा-नीतिके तहत नवोदय विद्यालयकी स्थापना आदिको हम ले सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि हम अपेक्षित सुधारके लिये प्रयत्नशील नहीं हैं, परंतु हमारी शिक्षा-दीक्षा उसी दूषित शिक्षा-पद्धतिके द्वारा दी गयी है, जिसके कारण हमारा मस्तिष्क स्वच्छ नहीं हो सका है। स्वतन्त्रताके चालीस वर्षके बाद भी हम सही निर्णय नहीं ले पा रहे हैं। हमारे मनसे दासत्वका अनावश्यक मोह दूर नहीं हो सका है और न सच्चे अर्थमें राष्ट्रके प्रति समर्पणका भाव आ सका है, जिसके लिये हमारे पूर्वजोंने ईश्वरसे प्रार्थना की थी—**'प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे।'** अर्थात् मैं इस राष्ट्रमें पैदा हुआ हूँ, अतः मेरे इस राष्ट्रकी कीर्ति और सम्पत्ति बढ़े।

इसके सम्बन्धमें मेरा मन्तव्य है कि प्राच्य एवं पाश्चात्त्य शिक्षा-पद्धतिके गुण-दोषोंका सम्यक् अध्ययन-मनन एवं चिन्तन कर नीर-क्षीर-विवेचनात्मक राजहंस-रीतिसे

शिक्षाविद् ही स्वतन्त्र तथा विकासशील भारतके लिये सर्वश्रेयस्कर शिक्षा-पद्धतिका निर्माण करें और सरकार बेहिचक उसे अपनी मान्यता प्रदान करे। साथ ही शिक्षाके समान पवित्र क्षेत्रमें प्रवेशके लिये वैदुष्यके साथ आचरणका भी परीक्षण हो। इसमें किसी प्रकारका राजनीतिक दबाव या भेदभाव (आरक्षणादि) वाञ्छनीय नहीं है। इसीपर राष्ट्रके भावी कर्णधारका निर्माण अवलम्बित है। कहा भी गया है—**'यथा राजा तथा प्रजा।'**



भारतीय शिक्षाका स्वरूप

(श्रीवासुदेवजी शास्त्री 'अतुल')

'शिक्ष विद्योपादाने' धातुसे विद्या-ग्रहण-अर्थमें शिक्षा शब्दका प्रयोग भारतीय शास्त्रोंमें होता आया है। इस शिक्षाकी गणना वेदाङ्गमें भी की गयी है—**'शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तः छन्दसां गतिः'** आदि।

शिक्षा-वेदाङ्गमें वर्णोंके भेद और उनके उच्चारणकी प्रक्रिया उल्लिखित है। किस वर्णका किस स्थानसे, किस प्रयत्नसे उच्चारण हो और वर्णकी संख्या कितनी है, यह शिक्षाशास्त्रमें विशेषरूपसे वर्णित है। प्रयत्न भी दो प्रकारका होता है— एक आभ्यन्तर प्रयत्न और दूसरा बाह्य प्रयत्न। वेद-मन्त्रके उच्चारणमें इसका पूर्णरूपसे ध्यान रखा जाता है।

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

तात्पर्य यह है कि वेद-मन्त्रोंके उच्चारणमें यदि गलत स्वरसे गलत वर्णका गलत स्थानसे उच्चरित वर्णका प्रयोग किया जाता है तो वह मन्त्र वाग्वज्र बन जाता है और उससे यजमानकी हत्या हो जाती है। जैसे त्वष्ट्राके यज्ञमें स्वरकी गलतीसे वृत्रासुर मारा गया।

तथ्य यह है कि वर्णोंका उच्चारण यदि ठीक-ठीक स्थान-प्रयत्नसे हो और निरर्थक न हो तो वह राष्ट्र-कल्याणके लिये होता है। छल-छद्म-कपटका शब्द वाग्वज्र बनता है और वह राष्ट्रका विनाश करता है। इसलिये हमें ठीक शब्दका ठीक अर्थमें प्रयोग करना चाहिये, यही राष्ट्रके लिये कल्याणकारी होता है और इसकी शिक्षा बहुत विधिपूर्वक होनी चाहिये। इसीलिये प्राचीनकालमें कुल-पुरोहित अक्षरारम्भ-संस्कारके बाद शिष्योंको वर्णोंका उचित ढंगसे परिज्ञान कराते थे, जिससे शिक्षा फलवती होती थी।

महाभाष्यकार पतञ्जलिके अनुसार एक भी शब्द भलीभाँति जानकर प्रयोग करनेसे लोक-परलोकमें कामनाओंको प्रदान करनेवाला होता है—

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।'

(महाभाष्य)

याज्ञवल्क्यके अनुसार चतुर्दश विद्याएँ ये हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

(याज्ञवल्क्य-स्मृति, आचाराध्याय-३)

मल्लिनाथ-टीका-समुद्धृत मनुके अनुसार भी—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥

'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, व्याकरण और चारों वेदोंको मिलाकर चौदह विद्याएँ कही गयी हैं।'

महावैयाकरण पाणिनिके अनुसार छन्दःशास्त्र वेदके पैर हैं, कल्प-शास्त्र हाथ हैं, ज्योतिषशास्त्र नेत्र हैं, निरुक्तशास्त्र कान हैं, शिक्षाशास्त्र नासिका है और व्याकरणशास्त्र मुख है। साङ्ग वेदाध्ययनसे ही ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठा होती है। (पाणिनीय शिक्षा ४२)

पत्र-पत्रिकाओं, आकाशवाणी, दूरदर्शन, कम्प्यूटर आदि

यन्त्रोंसे भी शिक्षाएँ प्राप्त हो सकती हैं, परंतु यन्त्रप्रसूत शिक्षाएँ फलवती नहीं हो सकतीं, इसीलिये श्लोक-वार्तिककार आचार्य कुमारिलभट्टने कहा है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुरोरध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा॥

(श्लोक-वार्तिक, वाक्याधिकरण ३६६)

वेदाध्ययनमें गुरुपरम्पराप्राप्त विधि ही सर्वमान्य सिद्धान्त है। गुरुके सांनिध्यमें गुरुशुश्रूषापूर्वक वेद-वेदाङ्गका ज्ञान प्राप्त करना भारतीय शिक्षा-पद्धति है, जिसमें अमीर-गरीब सभी प्रकारके लोगोंको ज्ञानार्जनका मार्ग सदैव खुला रहता है। सान्दीपनिके आश्रममें सुदामा-जैसे निर्धन ब्राह्मण और श्रीकृष्ण-जैसे ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा भरद्वाजके आश्रममें द्रोण-जैसे निर्धन ब्राह्मण और द्रुपद-जैसे ऐश्वर्यसम्पन्न राजकुमार शिक्षा प्राप्त करते हैं।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंमें अन्तिम पुरुषार्थकी प्राप्ति ज्ञानके बिना नहीं हो सकती—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'**, इसलिये शिक्षा-प्राप्ति या विद्या-ग्रहणका उद्देश्य अर्थ-प्राप्ति नहीं हो सकता।

ब्राह्मणको बिना प्रयोजनके षडङ्ग वेदाध्ययन करना और ज्ञान प्राप्त करना चाहिये—

ब्राह्मणेन निष्कारणं साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

(महाभाष्य, प्रथमाह्निक)

भारतमें शिक्षा-पद्धतिका स्वरूप और उद्देश्य बदलता जा रहा है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्तने इस बदलती हुई परिस्थितिपर ठीक ही कहा है—

नौकरी ही के लिये विद्या पढ़ी जाती यहाँ।

भारतमें शिक्षा स्वतन्त्र थी। किसी शासनके परतन्त्र नहीं थी। जब शासनके परतन्त्र हुई तब शण्डामर्कवादका विस्तार होने लगा। देवर्षि नारदने युक्तिसे शण्डामर्कवादको ध्वस्त करा दिया। भारतीय शिक्षा पुनः अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो गयी। वस्तुतः शिक्षाका मूल उद्देश्य ज्ञानकी प्राप्ति और अज्ञानकी निवृत्ति है। भारतीय शिक्षाके मूल स्वरूपकी रक्षाके लिये प्रयास करना प्रत्येक भारतीय नागरिकका कर्तव्य है। भारतीय शिक्षाशास्त्रज्ञोंको इस ओर ध्यान देना ही होगा।

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेत-
ज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

भारतीय शास्त्रोंके अनुसार दुष्टजनोंकी विद्या विवादके लिये होती है, उनका धन मद, विलासिता, स्वार्थपूर्तिके लिये होता है और शक्ति शोषण-उत्पीड़नके लिये होती है, परंतु साधु पुरुषोंकी विद्या ज्ञानके लिये, धन दानके लिये और शक्ति आर्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये होती है।

वस्तुतः ज्ञानार्जन करनेमें, दान करनेमें, आर्तजनोंकी रक्षा करनेमें अपने जीवनको समर्पित कर देना ही भारतीय शिक्षाका स्वरूप है।

शास्त्रोंकी लोकवत्सलता

शास्त्र हमें इतना प्यार करता है जितना सहस्रों माता-पिता भी नहीं कर सकते। शास्त्र हमें वैसी ही बात बताता है जैसा वह है। ज्ञान, आनन्द, सत्यकाम, सत्यसंकल्प आदि गुण परब्रह्मके स्वरूपभूत गुण हैं; क्योंकि शास्त्र (वेद) ने उन्हें स्वरूपभूत कहा है, इसी प्रकार यह (शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी वनमाला-विभूषित अमल-कमल-दल-नयन-युगल, परम सुन्दर) रूप भी परब्रह्मका स्वरूपभूत रूप है; क्योंकि शास्त्रने इसे स्वरूपभूत बताया है।

भगवान् श्रीदत्तात्रेयजीद्वारा चौबीस गुरुओंसे शिक्षा-ग्रहण

[अवधूत दत्तात्रेय अत्रि और अनसूयाके पुत्र थे । ये विष्णुके अंशसे अवतीर्ण हुए थे, अतः विष्णुके अवतारके रूपमें इनकी विशेष प्रसिद्धि है । गिरिनारमें दत्तात्रेयजीका विष्णुपद-आश्रम प्रसिद्ध है । रेणुकापुर या मातापुर, सह्याद्रि-शिखरपर मध्यप्रदेशके यवतमालके अर्णा गाँवसे सोलह मीलकी दूरीपर स्थित अत्रि-आश्रम, जो आज 'माहुर' ग्रामके नामसे प्रसिद्ध है, यही पवित्र स्थल अवधूत दत्तात्रेयजीका जन्मस्थान माना गया है । माहुरमें भी दत्तात्रेयजीकी पादुका है । कहते हैं कि ये वहीं प्रतिदिन भिक्षा ग्रहण करते हैं—'माहुरीपुरभिक्षाशी' । काशीमें मणिकर्णिका-घाटपर भी उनकी पादुका है, वे वहीं प्रतिदिन स्नान करते हैं और कोल्हापुरमें प्रेमपूर्वक जप करते हैं 'वाराणसीपुरस्नायी कोल्हापुरजपादरः ।' श्रीमद्भागवतमें परम धार्मिक राजा यदुके वृत्तान्तसे दत्तात्रेयजीके शिक्षा-ग्रहणका जो उल्लेख प्राप्त होता है, उससे यह शिक्षा मिलती है कि हम अपने सच्चरित्र-निर्माणके लिये शिक्षा-ग्रहणके क्षेत्रको संकीर्ण न बनायें । चेतन प्राणियोंमें अथवा स्थावर-जगत्में जो स्वल्प भी अच्छाइयाँ हों उन्हें ग्रहण करें तथा जो बुराइयाँ हैं उनसे दूर रहें ।

भगवान् श्रीदत्तात्रेयजी विभिन्न शिक्षाप्राप्तिके निमित्त अनेक गुरु बनाये, जिनकी कथा पुराणोंमें वर्णित है । इस सम्बन्धमें कुछ प्राप्त निबन्धोंको यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।—सम्पादक]

(१)

(अनन्तश्री स्वामी श्रीईशानानन्दजी सरस्वती महाराज)

एक बार धर्मके मर्मज्ञ राजा यदुने देखा कि एक त्रिकालदर्शी तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्भय विचर रहे हैं, तब उन्होंने उनसे पूछा—'ब्रह्मन्! आप कर्म तो करते ही नहीं, फिर आपको यह अत्यन्त निपुण बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई, जिसका आश्रय लेकर आप परम विद्वान् होनेपर भी बालकके समान संसारमें विचरते हैं । संसारके अधिकांश लोग काम और लोभके दावानलसे जल रहे हैं, परंतु आपको देखकर ऐसा मालूम होता है कि आप उससे मुक्त हैं । आपतक उसकी आँच भी नहीं पहुँच पाती, ठीक वैसे ही जैसे कोई हाथी वनमें दावाग्नि लगनेपर उससे छूटकर गङ्गाजलमें खड़ा हो । आप सदा-सर्वदा अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं । मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि आपको अपने आत्मामें ही ऐसे अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव कैसे होता है?'

ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजीने कहा—'राजन्! मैंने अपनी बुद्धिसे गुरुओंका आश्रय लिया है, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत्में मुक्तभावसे स्वच्छन्द विचरता हूँ । तुम उन गुरुओंके नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षाको सुनो—

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः ।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः ॥
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः ।
कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥
एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः ।
शिक्षावृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ७ । ३३-३५)

'राजन्! मैंने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, मधुमक्खी, हाथी, मधु निकालनेवाला, हरिन, मछली, पिङ्गला वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी कीट—इन चौबीस गुरुओंका आश्रय लिया है और इन्हींके आचरणसे इस लोकमें अपने लिये शिक्षा ग्रहण की है ।'

पृथ्वीसे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने पृथ्वीसे धैर्य और क्षमाकी शिक्षा ली । लोग पृथ्वीपर अनेक प्रकारका उत्पात करते हैं, परंतु वह न तो किसीसे बदला लेती है, न चिल्लाती है और न रोती ही है । धीर पुरुषको चाहिये कि वह आक्रमणकारीके साथ भी अपना धैर्य न खोवे

और क्रोध न करे। सर्वदा सन्मार्गपर चलता रहे। पृथ्वीके ही विकार पर्वत और वृक्षसे उन्होंने यह शिक्षा ग्रहण की कि जैसे उनकी सारी चेष्टाएँ सदा-सर्वदा दूसरोंके हितके लिये ही होती हैं उसी प्रकार मानवमात्रको चाहिये कि वह उनकी शिष्यता स्वीकार करके उनसे परोपकारकी शिक्षा ग्रहण करे।

वायुसे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने शरीरस्थित प्राणवायुसे यह शिक्षा ग्रहण की कि जैसे वह आहारमात्रकी इच्छा रखता है और उसे पाकर ही संतुष्ट हो जाता है, वैसे ही साधकको भी चाहिये कि जितनेसे जीवननिर्वाह हो जाय उतना ही भोजन करे। विषयोंका उपयोग ऐसा करना चाहिये, जिससे बुद्धि विकृत न हो, मन चञ्चल न हो और वाणी व्यर्थकी बातोंमें न लग जाय। शरीरके बाहर रहनेवाली वायुसे उन्होंने यही सीखा कि वायु कहीं भी भ्रमण करे, परंतु उसमें आसक्त न हो, इसी प्रकार साधकको भी अपने लक्ष्यपर स्थिर रहते हुए कहीं अन्यत्र आसक्त नहीं होना चाहिये। गन्ध पृथ्वीका गुण है, परंतु वायुको गन्धका वहन करना पड़ता है, ऐसा करनेपर भी वायु शुद्ध ही रहता है। इसी प्रकार साधकका जबतक पार्थिव शरीरसे सम्बन्ध है, तबतक उसे व्याधि-पीड़ा आदिको सहना पड़ता है, परंतु आत्मदर्शी साधक उसपर भी उक्त पीड़ा आदिसे निर्लिप्त रहता है।

आकाशसे शिक्षा—साधकको आत्माकी आकाश-रूपताकी भावना करनी चाहिये। आग लगती है, पानी बरसता है, अन्नादि पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं। वायुकी प्रेरणासे बादल आते और चले जाते हैं। यह सब होनेपर भी आकाश अछूता ही रहता है। आकाशकी दृष्टिसे यह सब कुछ नहीं है, इसी प्रकार त्रिकालमें न जाने किन-किन नाम-रूपोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं, परंतु आत्माके साथ उनका कोई संस्पर्श नहीं है। दत्तात्रेयजीने आकाशसे यही शिक्षा ग्रहण की है।

जलसे शिक्षा—जिस प्रकार जल स्वभावसे ही स्वच्छ, चिकना, पवित्र और मधुर होता है तथा तीर्थोंमें प्रवाहित गङ्गा आदिके दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे लोग पवित्र होते हैं वैसे ही साधकको भी स्वभावसे शुद्ध, स्निग्ध, मधुरभाषी और लोकपावन होना चाहिये, जिसके दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे लोकको पवित्रताका अनुभव हो।

अग्निसे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने अग्निसे यह शिक्षा ली है कि वह जैसे तेजस्वी और ज्योतिर्मय होती है उसे कोई अपने तेजसे दबा नहीं सकता, उसके पास संग्रह-परिग्रहके लिये कोई पात्र नहीं, सब कुछ अपने पेटमें रख लेती है, सर्वभक्षी होनेपर भी निर्लिप्त है, वैसे ही साधकको संसारमें रहते हुए भी निर्लिप्त होना चाहिये। अग्निकी तरह साधकको भी कहीं प्रकट, कहीं अप्रकट तथा कल्याणकामी पुरुषका उपास्य होना चाहिये। जैसे अग्नि लम्बी-चौड़ी, टेढ़ी-सीधी लकड़ियोंमें रहकर उसके समान ही लम्बी-चौड़ी, सीधी-टेढ़ी दिखायी पड़ती है, वास्तवमें वह वैसी नहीं है, वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए कार्य-कारणरूप जगत्‌में व्याप्त होनेके कारण उन-उन वस्तुओंके नाम-रूपसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी उनके रूपमें प्रतीत होने लगता है।

चन्द्रमासे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने चन्द्रमासे यह शिक्षा ली कि कालके प्रभावसे चन्द्रमाकी कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं तथापि चन्द्रमा चन्द्रमा ही है; वह न घटता है और न बढ़ता ही है, वैसे ही जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ हैं सब शरीरकी हैं। आत्मासे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे आग अथवा दीपककी लौ क्षण-क्षणमें उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, परंतु दीख नहीं पड़ता, वैसे ही जल-प्रवाहके समान वेगवान् कालके द्वारा क्षण-क्षणमें प्राणियोंके शरीरकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, परंतु अज्ञानवश वह दिखायी नहीं देता।

सूर्यसे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने सूर्यसे यह शिक्षा ग्रहण की कि जैसे वे अपनी किरणोंसे जल खींचते और समयपर उसे बरसा देते हैं वैसे ही योगी पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा समयानुकूल विषयोंका ग्रहण और मुञ्चन करता है। किसी भी समय आसक्ति नहीं होती। आत्मा सूर्यके समान एक ही है। वह विभिन्न पात्रोंमें विभिन्न रूपमें प्रतिबिम्बित होनेपर भी अनेक नहीं है।

कपोतसे शिक्षा—भगवान् दत्तात्रेयजीने कबूतरसे यह शिक्षा ग्रहण की कि कहीं किसीके साथ अत्यन्त स्नेह अथवा आसक्ति नहीं करनी चाहिये अन्यथा उसकी बुद्धि अपना स्वातन्त्र्य खोकर दीन हो जायगी और उसे कबूतरकी तरह अत्यन्त क्लेश उठाना पड़ेगा। जो कुटुम्बी अपने कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही सारी सुध-बुध खो बैठा है, उसे कबूतरकी तरह कभी सुख-शान्ति नहीं मिलती। कथा है कि एक कबूतर और कबूतरी अपने बच्चोंको घोंसलेमें छोड़कर चारा चुगने गये थे। चारा लेकर जब वे वापस लौटे, तब उन्होंने देखा कि उनके बच्चोंको एक व्याध जालमें फँसाये हुए है। कबूतरीने बच्चोंके स्नेहमें अन्धा होकर अपनेको भी जालमें जान-बूझकर फँसा दिया और फिर कबूतरने भी अपनी पत्नीके प्रेममें अन्धा होकर अपनेको जालमें फँसा दिया। इस प्रकार मोहान्धताके कारण दोनों कपोत-कपोती नष्ट हो गये। यह मानव-शरीर मुक्तिका खुला हुआ द्वार है। इसे पाकर भी जो कबूतरकी तरह अपनी घर-गृहस्थीमें ही फँसा हुआ मोहान्ध है, वह बहुत ऊँचे स्थानतक पहुँचकर सुरक्षित स्थिति प्राप्त करनेपर भी गिर जाता है, शास्त्रकी भाषामें उसे आरूढ़च्युत कहा जाता है।

अजगरसे शिक्षा—पूर्वकर्मानुसार सुख-दुःखकी प्राप्ति स्वतः होती ही रहती है। बिना माँगि, बिना इच्छा किये स्वयं ही जो कुछ मिल जाय, वह चाहे रूखा-सूखा हो, चाहे बहुत मधुर या स्वादिष्ट हो, थोड़ा हो या अधिक हो, अजगरकी तरह उसे ही खाकर बुद्धिमान् पुरुष अपना जीवन-निर्वाह करे।

समुद्रसे शिक्षा—समुद्रसे भगवान् दत्तात्रेयजीने यह शिक्षा ग्रहण की कि साधकको सर्वदा प्रसन्न, गम्भीर, अथाह, अपार और असीम होना चाहिये। उसे ज्वार-भाटे और तरङ्गोंसे रहित शान्त समुद्रकी तरह रहना चाहिये। समुद्र वर्षा ऋतुमें न बढ़ता है और न ग्रीष्म ऋतुमें घटता है। उसी प्रकार भगवत्परायण साधकको सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिसे अथवा अप्राप्तिसे प्रफुल्लित या उदास नहीं होना चाहिये।

पतंगेसे शिक्षा—भगवान् दत्तात्रेयजीने पतंगेसे यह शिक्षा ग्रहण की कि जैसे पतंगा दीपकके रूपपर मोहित होकर आगमें कूद पड़ता है और जल मरता है वैसे ही अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला पुरुष जब रूपासक्त हो जाता है, तब घोरान्धकारमें गिरकर अपना सत्यानाश कर लेता है। गरुड़पुराणमें कहा है—

पतंगमातंगकुरंगभृंगमीना हता पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रगादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

पतंगा, हाथी, हरिण, भृंग और मछली मात्र एक ही इन्द्रियके वशमें होकर मोहान्ध होनेसे नष्ट हो जाते हैं तो फिर मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके लिये पाँच इन्द्रियोंके माध्यमसे विषयासक्त होनेपर कैसे बचा रह सकता है? भगवान् दत्तात्रेयजीके अनुसार आसक्ति मात्र एक ही विषयसे सम्बन्धित होनेपर नाशका कारण होती है, अतः मनुष्यको सामान्य जीवोंकी अपेक्षा अधिक सावधानीकी आवश्यकता है; क्योंकि वह पाँच इन्द्रियोंके माध्यमके विषयोंमें असक्त हो जानेकी स्थितिमें रहता है।

मधुमक्खीसे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने मधुमक्खीसे यह शिक्षा ग्रहण की कि मनुष्य किसी एकसे बँधे नहीं और जिस प्रकार मधुमक्खी विभिन्न पुष्पोंसे, चाहे वे छोटे हों या बड़े, सार संग्रह करती है वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष छोटे-बड़े सभीसे सार तत्त्वको ग्रहण करे। साथ ही उसे संग्रही नहीं होना चाहिये, अन्यथा वह मधुमक्खीके समान अपना जीवन भी संगृहीत धनके लोभमें गँवा बैठता है।

हाथीसे शिक्षा—दत्तात्रेयजीने हाथीसे यह शिक्षा ग्रहण की कि जिस प्रकार शिकारी हाथीके माध्यमसे ही हाथीको पकड़ता है और हाथी स्वजनके मोहमें अपनेको भी बन्धनमें डाल देता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्यको भी स्वजनोंके मोह और मोहजनित भ्रमसे बचना चाहिये; क्योंकि यही बन्धनका कारण हो जाता है।

मधु निकालनेवालेसे शिक्षा—मधु निकालनेवाले पुरुषसे दत्तात्रेयजीने यह शिक्षा ग्रहण की कि संसारके लोभी पुरुष बड़ी कठिनाईसे धन-संचय तो करते हैं, किंतु उसका स्वयं उपभोग नहीं कर पाते; जैसे मधु निकालनेवाले पुरुषका कष्टसे प्राप्त मधु कोई दूसरा ही

ले लेता है। जैसे मधुहारी मधुमक्खीके द्वारा संचित मधुको उसके खानेके पहले ही साफ कर देता है, वैसे ही मधु निकालनेवाला भी धनके लोभमें मधु बेचकर स्वयं उसे भोगनेसे वञ्चित हो जाता है, उसी प्रकार लोभी और संग्रहकी वृत्तिसे मोहग्रस्त व्यक्ति भी स्वयं कष्टद्वारा उपार्जित और संगृहीत धनका उपभोग स्वयं करनेसे वञ्चित रह जाता है।

हरिनसे शिक्षा—हरिनसे भगवान् दत्तात्रेयजीने यह सीखा कि मनुष्यको कभी विषय-सम्बन्धी गीत, जिससे वासना जगे, नहीं सुनना चाहिये; क्योंकि जैसे हरिन व्याधके गीतसे मोहित होकर बँध जाता है उसी प्रकार श्रुति-मधुर विषयवासनाकी ओर प्रवृत्त करनेवाले गीत, नृत्य, नाद, वचन अथवा शब्दसे मनुष्यको विरत रहना चाहिये अन्यथा वह बन्धन और नाशका कारण होता है।

मछलीसे शिक्षा—मछलीसे भगवान् दत्तात्रेयजीने जो शिक्षा ग्रहण की वह यह है कि जैसे मछली बंसीमें लगे हुए मांसके टुकड़ेके लोभसे अपना प्राण गँवा देती है, वैसे ही स्वादका लोभी मनुष्य भी अपनी जिह्वाके वशमें होकर प्राण गवाँ देता है। विवेकी पुरुषको रसनेन्द्रियको वशमें कर लेना चाहिये।

पिङ्गला नामकी वेश्यासे शिक्षा—स्वेच्छाचारिणी और रूपवती पिङ्गला नामकी वेश्यासे भगवान् दत्तात्रेयजीने यह शिक्षा ग्रहण की कि कभी-कभी निराशा भी वैराग्यका कारण हो जाती है। जिस प्रकार उस वेश्याको अपने व्यवसायमें निराशा होनेपर वैराग्य उत्पन्न हो गया और वैराग्य होनेपर अपनी भावनाओंकी अभिव्यक्तिमें उसने एक गीत गाया, जिसका आशय यह था कि मनुष्य आशाकी फाँसीपर लटक रहा है, इसे तलवारकी तरह काटनेवाली यदि कोई वस्तु है तो वह केवल वैराग्य ही है। पिङ्गलाने कहा कि मैं इन्द्रियोंके अधीन होनेके कारण इन दुष्ट पुरुषोंके अधीन हो गयी, मेरे मोहका विस्तार तो देखो, मैं सचमुच मूर्ख हूँ। मेरा यह शरीर माया-मोहके हाथों बिक गया है। यह शरीर एक घरके समान है, इसमें हड्डियोंके टेढ़े-तिरछे बाँस और खम्भे लगे हुए हैं, चमड़े और रोएँ तथा नाखूनोंसे यह छाया गया है। इसमें नौ दरवाजे हैं, जिनसे मल निकलते रहते हैं। इसमें संचित सम्पत्तिके नामपर केवल मल और मूत्र ही है। अब मैं भगवान्का यह उपकार आदरपूर्वक स्वीकार करती हूँ कि उसने इस निराशाके माध्यमसे वैराग्यका दीप जला दिया। अब मैं विषय-भोगोंकी दुराशा छोड़कर उन्हीं जगदीश्वरकी शरण ग्रहण करूँगी।

कुरर पक्षीसे शिक्षा—प्रिय वस्तुका संग्रह ही दुःखका कारण है, यह शिक्षा भगवान् दत्तात्रेयने कुरर पक्षीसे ली। कहा जाता है कि कुरर पक्षी एक बार मांसका टुकड़ा लेकर उड़ा। उस मांसके टुकड़ेको लेनेके लिये अनेक पक्षी उसे ही मारनेको उद्यत हो गये, किंतु ज्यों ही उसने मुँहमें रखा मांसका टुकड़ा जमीनकी ओर गिराया त्यों ही सभी पक्षी उसी ओर दौड़ पड़े, जिससे वह निश्चिन्त होकर पुनः आकाशमें विचरण करने लगा। बुद्धिमान् पुरुषको अनन्त सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये कुरर पक्षीद्वारा संगृहीत मांसका टुकड़ा फेंकनेकी भाँति संचित धनका त्याग करके सुखी हो जाना चाहिये। त्याग और अपरिग्रहद्वारा ही मनुष्य निश्चिन्त होकर जीवनयापन कर सकता है।

बालकसे शिक्षा—मान-अपमानका ध्यान न रखनेवाले, घर एवं परिवारकी चिन्तासे विहीन, आत्मरागी बालकसे भगवान् दत्तात्रेयजीने यह शिक्षा ग्रहण की कि इस संसारमें दो ही प्रकारके व्यक्ति निश्चिन्त और परमानन्दमें रहते हैं—एक तो भोला-भाला निश्चेष्ट नन्हा-सा बालक और दूसरा वह पुरुष जो गुणातीत हो गया है।

कुमारी कन्यासे शिक्षा—अतिथि-सत्कारके लिये धान कूटनेवाली कुमारी कन्यासे भगवान् दत्तात्रेयजीने यह शिक्षा ग्रहण की कि जब बहुत लोग एक साथ रहते हैं तब कलह होता है और जब दो आदमी एक साथ रहते हैं, तब भी वाद-विवादकी सम्भावना रहती है, इसलिये कुमारी कन्याकी चूड़ीके समान जबतक वह अकेली नहीं हुई तबतक आपसी संघर्षसे और उससे उत्पन्न ध्वनिसे वह अपनेको छिपा न सकी थी। इसीलिये साधकको एकान्त-सेवनकी भी आवश्यकता उसके साधनाकालमें होती ही रहती है।

बाण बनानेवालेसे शिक्षा—बाण बनानेवालेसे भगवान् दत्तात्रेयजीने यह शिक्षा ग्रहण की कि आसन और श्वासको जीतकर वैराग्य और अभ्यासके द्वारा अपने मनको वशमें किया जा सकता है, जैसे एक बाण बनानेवालेको रास्तेसे आने-जानेवालोंका पता नहीं लग सका था ।

साँपसे शिक्षा—साधकको सर्पकी भाँति अकेले ही विचरण करना चाहिये, उसे मण्डली नहीं बाँधनी चाहिये, मठ नहीं बनाना चाहिये, वह गुहा आदिमें पड़ा रहे, बाहरी आचारोंसे पहचाना न जाय, किसीसे सहायता न ले और बहुत कम बोले, अनित्य शरीरके लिये घर बनानेके प्रपञ्चमें न पड़े, सर्पवत् जहाँ-कहीं स्थान मिले वहीं आरामसे समय काट ले । यही भगवान् दत्तात्रेयजीने सर्पसे शिक्षा ग्रहण की ।

मकड़ीसे शिक्षा—सबके प्रकाशक भगवान् ही सृष्टिके कर्ता, धर्ता एवं हर्ता भी हैं । जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुँहके द्वारा जाला फैलाती है, उसीमें विहार करती है और फिर उसे निगल जाती है वैसे ही परमेश्वर भी इस जगत्को अपनेमेंसे उत्पन्न करते हैं, उसमें जीवरूपसे विहार करते हैं और फिर उसे अपनेमें ही लीन कर लेते हैं । यही भगवान् दत्तात्रेयजीने मकड़ीसे शिक्षा ग्रहण की ।

भृङ्गी (बिलनी) कीड़ेसे शिक्षा— यदि प्राणी स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे भी जान-बूझकर एकाग्ररूपसे अपना मन किसीमें लगा दे तो उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जैसे भृंगी एक कीड़ेको ले जाकर दीवालपर अपने रहनेकी जगहमें बंद कर देता है, तब वह कीड़ा भयसे उसीका चिन्तन करते-करते पहले शरीरका त्याग किये बिना उसी शरीरसे तद्रूप हो जाता है । इसलिये मनुष्यको विषयवस्तुका चिन्तन न करके केवल परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये । यही शिक्षा भगवान् दत्तात्रेयने भृङ्गी कीड़ेसे ग्रहण की ।

भगवान् दत्तात्रेयजीने चौबीस गुरुओंका उदाहरण देते हुए यह शिक्षा दी कि साधक यदि उन्मुक्त भावसे शिक्षा ले तो उसे अच्छे-बुरे, छोटे-बड़े सभीसे उपयुक्त ज्ञान मिल सकता है । ज्ञान-प्राप्तिके लिये आवश्यकता है—उन्मुक्त भावकी, पूर्वाग्रहमुक्त, गतानुगतिकतासे रहित शुद्ध दृष्टिकी । साधक जब किसी आग्रह अथवा मोहवश सचको सच माननेसे भागता है, तब उसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती । मनुष्यको जीभ अपनी ओर खींचती है तो प्यास जलकी ओर, त्वचा और कान कोमल स्पर्श और मधुर शब्दकी ओर खींचते हैं । नाक और नेत्र भी मधुर गन्ध और सुन्दर दृश्योंकी ओर खींचते हैं । इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियोंके कारण मनुष्यको दौड़ाती रहती हैं । इसलिये अनेक जन्मोंके बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शीघ्र-से-शीघ्र मृत्युके पहले ही इन बन्धनोंको समझे और इससे मुक्तिका, मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न कर ले । समस्त आसक्तियोंका परित्याग करके भगवान्को प्राप्त करना ही जीवनका मुख्य उद्देश्य है । ज्ञान-प्राप्तिका आधार आग्रहरहित बुद्धि और दृष्टि है । उन्मुक्त भाव ही शुद्ध ज्ञानका आधार और माध्यम है ।

(२)

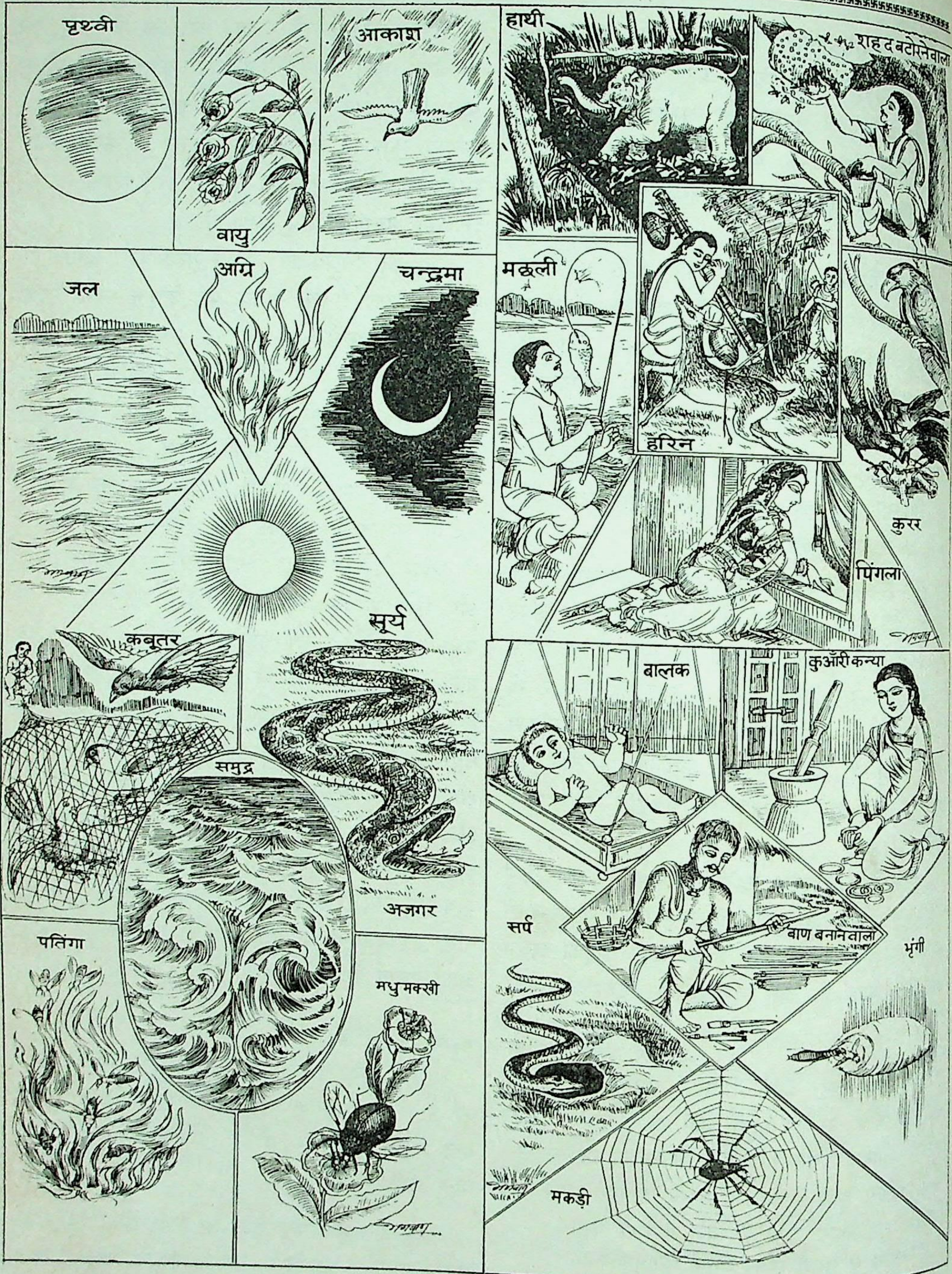
(सप्ताचार्य, काव्यतीर्थ डॉ॰ श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, डी॰ लिट्॰)

महाराज यदु वनमें विचरण करते हुए अवधूत श्रीदत्तात्रेयजीके समीप पहुँचे और वहाँ एकान्त निर्जन स्थानमें आनन्द-सरोवरमें निमग्न अवधूतको देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । यदुके जिज्ञासा करनेपर दत्तात्रेयजीने चौबीस गुरुओंद्वारा प्राप्त शिक्षाके विषयमें कहा—

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः ।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह ताञ् शृणु ॥
(भागवत ११ । ७ । ३२)

राजन्! मैंने पृथिवीसे क्षमा और धैर्यकी शिक्षा ग्रहण की है । अतः प्रत्येक व्यक्तिको क्षमाशील होना चाहिये तथा निरन्तर धैर्यपूर्वक अपने साधनापथमें अग्रसर होते रहना चाहिये ।

वायु प्राण है । प्राण रूप, रस आदि इन्द्रिय-विषयोंकी अपेक्षा शून्य है । वायुके समान मुनिको निर्लिप्त रहना चाहिये ।



भगवान् दत्तात्रेयके चौबीस गुरु

आकाश जैसे वायु-प्रेरित मेघोंसे अस्पृश्य है, वैसे ही पुरुषको कालसृष्ट गुणपरिणामोंसे अस्पृश्य रहना चाहिये ।

जल प्रकृतिसे निर्मल है, मधुर गुणवाला है, स्नेहयुक्त है, तीर्थरूप है, अतः मुनिको चाहिये कि वह जलके समान ही अपने दर्शन, स्पर्श, कीर्तनसे सबको पवित्र करता रहे ।

अग्नि सम्पूर्ण पदार्थोंको खा जाता है, किंतु उनके दोषको ग्रहण नहीं करता, अग्निको स्वाद-अस्वादसे प्रयोजन नहीं, मुनिको भी ऐसा ही स्वभाव बनाना चाहिये और तेजस्वी होना चाहिये ।

चन्द्रमाके दृष्टान्तसे जन्मादि छः विकारोंसे रहित होना चाहिये, इस तथ्यको समझाया गया है । जैसे चन्द्रमाकी कलाएँ उत्पन्न होती हैं और क्षीण होती हैं, किंतु चन्द्रमा बना रहता है, वैसे ही आत्मा भी ह्रास-वृद्धिसे रहित है ।

सूर्य किरणोंसे जल संचय करता है और वृष्टि करता है । महात्माको चाहिये कि वह यदि कोई उपभोग्य वस्तु प्राप्त हो तो उसे उनके इच्छुकोंको दे दे । योगीको विषयोंमें आसक्त नहीं होना चाहिये । एक ही सूर्य अनेक जलपात्रोंमें नाना आकारका दिखलायी देता है, उसी प्रकार मनुष्यादि-देहोंमें आत्मा भी नाना प्रकारका दिखलायी देता है ।

अत्यासक्तिसे कपोतका नाश हुआ, अतः किसीमें अत्यधिक आसक्ति नहीं करनी चाहिये ।

प्रारब्ध-कर्म अवश्य भोगना पड़ता है, अतः उसके लिये उद्यमसे आयुको क्षीण नहीं करना चाहिये ।

जैसा भी भोजन मिले उसे जीवन-निर्वाहके लिये ग्रहण कर ले । आहार न मिले तब भूखा ही रह जाय—यही अजगर-वृत्तिसे शिक्षा मिलती है ।

प्रसन्न-चित्त रहना चाहिये, गम्भीर बनना चाहिये, अथाह बुद्धि रखे, निर्भय रहे, क्षुब्ध न हो, निश्चल रहे—यह समुद्रसे सीखना चाहिये । जैसे नदियोंके जल बढ़नेसे वह न उछलता है और न तो सूखता है, इसी प्रकार मुनिको समान-रूपसे रहना चाहिये ।

स्त्रीको देखकर अजितेन्द्रिय पुरुष उसके भावसे लोभित हो नरकमें गिर पड़ता है । स्त्री-संसर्गसे साधक, कीट-पतंग जिस प्रकार अग्निमें गिरकर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार पथभ्रष्ट होकर नरकगामी बनता है, अतः इन्द्रियविजयी होना चाहिये ।

भ्रमर पद्मपर बैठा था, वह रस-ग्रहणमें समय भूल गया । सूर्यास्त होनेपर जब पद्म बंद हो गया, तब वह भी आबद्ध हो गया । मुनिको चाहिये कि वह देह-निर्वाह-हेतु ग्रास ग्रहण करे, आसक्त होकर भिक्षा ग्रहण न करे, संग्रह न करे, संग्रह करनेसे भ्रमरकी भाँति उसका नाश हो जाता है ।

वनमें गजका बन्धन स्पर्शके कारण होता है, अतः मुनिको काठकी बनी स्त्रीकी मूर्तिका भी स्पर्श नहीं करना चाहिये । यदि मुनि स्त्रीके प्रति आसक्त होगा तो वह भी गजकी भाँति बन्धनमें पड़कर दुःखमय जीवन व्यतीत करेगा ।

मधुमक्खियाँ जैसे बड़े यत्नसे शहद संग्रह करती हैं, किंतु मधुहारी उन्हें भगाकर उसका उपभोग करता है, इसी प्रकार लोभी पुरुषका धन दुःखसे संचित होता है, किंतु दूसरा ही उसका भोग करता है, अतः मुनिको संग्रह नहीं करना चाहिये ।

संगीतके वश होकर हरिण नष्ट हो जाता है, अतः मुनिको भी नृत्य-गीतादिसे सर्वथा पृथक् रहना चाहिये ।

काँटेमें लगे मांस-खण्डको लेने मछली आती है और मांसके भीतर लगे काँटेमें उसका मुख फँस जाता है, अतः मुनिको जिह्वा-रसमें पड़ना उचित नहीं है ।

पिंगला वेश्या मिथिलाकी निवासिनी थी, एक दिन पुरुषोंको आकृष्ट करनेके लिये सुन्दर रूप बनाकर द्वारपर खड़ी थी, धन-कामनासे आने-जानेवाले सभीसे वह आशा कर रही थी, भीतर-बाहर आते-जाते आधी रात व्यतीत हो गयी, उसका मुख सूख गया था, बड़ी दुःखी हो गयी थी, किंतु बादमें निर्वेद हो गया । निर्वेदसे आशारूपी पाश कट जाता है, वह विचारने लगी कि मैं आत्माराम पुरुषको छोड़कर अन्य असतपुरुषोंकी अभिलाषा कर रही हूँ, यही मेरी मूर्खता है । विण्मूत्रसे भरे हुए इस शरीरमें मेरी कैसी आसक्ति है ? अब मैं परमात्मामें रमण करूँगी, वे ही मेरे प्रिय हैं । अतः आशा नहीं करनी चाहिये, आशा परम दुःख है, नैराश्य ही परम सुख है ।

कुरर पक्षी मांसका टुकड़ा मुखमें लेकर उड़ा, चारों ओरसे मांसभक्षी पक्षियोंने उसे घेर लिया । जबतक उसने

मुखसे मांस नहीं छोड़ा तबतक वे उसे ताड़ित करते रहे। मांस छोड़कर वह सुखी हो गया। संग्रह करनेवाले दुःख पाते हैं। अतः मुनिको विषयकी आसक्ति छोड़कर सुखी रहना चाहिये।

बालकको मानापमानका दुःख नहीं है, घरवालोंकी चिन्ता भी नहीं है, अतः यही बालक-वृत्ति मुनिके लिये आदर्श है।

किसीके घरमें एक कुमारी कन्या थी, घरवाले कहीं बाहर गये थे, उसी समय कन्याको देखनेवाले वर-पक्षके लोग आये। घरमें धान थे। कन्या उन्हें कूटकर चावल निकालने लगी, शंखकी चूड़ी पहने धान कूटनेसे आवाज आने लगी, तब उसने विचार किया कि अतिथिके आनेपर धान कूटना दरिद्रताका द्योतक है, अतः आवाज न हो इसलिये उसने एक कंकण उतार दिया, किंतु फिर भी ध्वनि हुई, दो कंकण पहनकर धान कूटनेपर भी ध्वनि आयी, अन्तमें केवल एक-एक कंकण पहनकर धान कूट लिया, अतः जहाँ अनेक रहते हैं वहाँ कलह स्वाभाविक है, अतः मुनिके लिये कुमारीके कंकणकी भाँति एकान्त-वास ही श्रेष्ठ है।

बाण-निर्मातासे पूछा गया कि क्या तुमने राजाकी सवारी देखी है? उसने कहा कि पता नहीं। सवारी उस समय निकल चुकी थी। बाण बनानेवालेकी एकाग्रताके समान ही परमात्माके चिन्तनमें रत रहना चाहिये।

सर्प अपने लिये घर नहीं बनाता, अतः मुनिको घर बनानेकी आवश्यकता नहीं।

जैसे मकड़ी अपने मुखमेंसे जाला प्रकट करती है और विहार करके पुनः उसे ग्रस लेती है, वैसे ही परमेश्वर भी सृष्टि करके पुनः उसका संहार करता है।

जैसे भृंगी कीट अन्य जीवको पकड़कर अपने रूपमें परिवर्तित कर देता है, ऐसे ही भगवान्‌का ध्यान करते-करते जीवका भी आनन्दमय भगवद्रूप हो जाता है।

दत्तात्रेयजीने अपने चौबीस गुरुओंके शिक्षा-निर्देशके अनन्तर यह प्रतिपादन किया कि एक ही गुरुसे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

---

(३)

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी, आदिबदरी)

शिक्षा किससे ग्रहण किया जाय? इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर होगा 'गुरु' से। 'गुरु' शब्दका अर्थ किसी मानव-देहधारीसे ही लेना पर्याप्त नहीं दीखता, अपितु पौराणिक ग्रन्थोंके आधारपर कीट-पतंगोंतकसे शिक्षा ग्रहण कर उन्हें भी गुरुके स्वरूपमें प्रतिष्ठित करना भारतीय संस्कृतिकी विशेषता है। 'पञ्चतन्त्र' और 'हितोपदेश' आदि ग्रन्थोंकी समग्र शिक्षा पशु-पक्षियोंद्वारा दी गयी है। श्रीमद्भागवतका अवधूतोपाख्यान इस दिशामें एक महत्त्वपूर्ण सारगर्भित प्रकरण है।

धर्मके मर्मज्ञ महाराजा यदुने एक बार देखा कि एक दिव्य तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्द्वन्द्व विचरण कर रहे हैं। राजाने विनम्रतापूर्वक उनके चरणोंमें प्रणाम किया और पूछा—

'महात्मन्! प्रायः देखा जाता है कि सांसारिक पुरुष भोगोपभोगकी कामनाएँ लेकर ही धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षकी ओर प्रवृत्त होते हैं, परंतु मैं देख रहा हूँ कि सद्‌गुणसम्पन्न होनेके बाद भी जड़ और उन्मत्तकी भाँति आपने अपने आत्मभावमें ही मग्न रहनेकी बुद्धि कैसे प्राप्त की है? कृपा करके यदि आप इस गूढ़ विषयका रहस्योद्घाटन कर सकें तो मैं आपका ऋणी रहूँगा।'

इसपर अवधूतशिरोमणि दत्तात्रेयजीने कहा—'राजन्! ऐसी बुद्धिके लिये मैंने अनेक प्राणी-पदार्थोंसे शिक्षाएँ ली हैं। इस प्रकार वे सब मेरे गुरु ही हैं। तुम उनके नाम सुनो—पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, मधुमक्खी, हाथी, मधु निकालनेवाला, हरिन, मछली, पिंगला वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण-निर्माता, सर्प, मकड़ी और भृंगी कीट।' (श्रीमद्भागवत् ११। ७। ३३-३४)

महाराजा यदु साश्चर्य दत्तात्रेयजीके दिव्य मुखमण्डलको देखते हुए बोले—'महात्मन्! आपके गुरु विचित्र हैं। क्या मैं जान सकता हूँ कि इन गुरुओंसे आपने क्या शिक्षा ग्रहण की है?'

दत्तात्रेयजीने कहा—राजन्! मैंने इन गुरुओंसे जो शिक्षा ग्रहण की है उसे क्रमशः बता रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो—

(१) पृथिवी—मैंने पृथिवीके धैर्य और क्षमारूपी दो गुणोंसे धीरज और क्षमाका उपदेश ग्रहण किया है। धीर पुरुषको चाहिये कि वह कठिन-से-कठिन विपत्तिकालमें भी अपनी धीरता और क्षमावृत्तिको न छोड़े। मैंने पृथिवीके विकार—पर्वत और वृक्षोंसे परहितकी शिक्षा ग्रहण की है।

(२) वायु—शरीरके अंदर रहनेवाला प्राणवायु जिस प्रकार आहारमात्रकी आकाङ्क्षा रखता है और उसकी प्राप्तिसे ही संतुष्ट हो जाता है, उसी प्रकार साधक जीवन-निर्वाह-हेतु ही भोजन करे, इन्द्रियोंकी तृप्ति-हेतु नहीं तथा शरीरके बाहर रहनेवाली वायु जैसे सर्वत्र विचरण करते हुए भी किसीमें आसक्त नहीं होती, उसी प्रकार साधकको चाहिये कि वह अपनेको शरीर नहीं, अपितु आत्माके रूपमें देखे। शरीर और उसके गुणोंका आश्रय होनेपर भी उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहे। यही मैंने वायुसे सीखा है।

(३) आकाश—'चर-अचर जितने भी सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, उनमें आत्मरूपमें सर्वत्र स्थित होनेके कारण सभीमें ब्रह्म है।' इसका उपदेश मुझे आकाशने दिया। घट-मठ आदि पदार्थोंके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेपर भी आकाश एक और अपरिच्छिन्न (अखण्ड) ही है।

(४) जल—जैसे जल स्वभावसे ही स्वच्छ, स्निग्ध, मधुर और पवित्र करनेवाला है, उसी प्रकार साधकको स्वभावसे ही मधुरभाषी और लोकपावन होना चाहिये।

(५) अग्नि—राजन्! मैंने अग्निसे तेजस्वी और ज्योतिर्मय होनेके साथ ही यह भी शिक्षा ग्रहण की कि जैसे अग्नि लम्बी-चौड़ी या टेढ़ी-सीधी लकड़ियोंमें रहकर उनके समान ही रूपान्तरित हो जाती है, वास्तवमें वह वैसी है नहीं, वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए कार्य-कारण-रूप जगत्में व्याप्त होनेके कारण उन-उन वस्तुओंके नाम-रूप ग्रहण कर लेता है, वास्तवमें वह वैसा है नहीं।

(६) चन्द्रमा—कालकी अदृश्य गतिके प्रभावसे चन्द्रकला घटती और बढ़ती हुई प्रतीत होती है, वास्तवमें चन्द्रमा तो सर्वदा एक-सा ही रहता है, उसी प्रकार जीवनसे लेकर मरण-पर्यन्त शारीरिक अवस्थाएँ भी आत्मासे अलिप्त हैं। यह गूढ़ ज्ञान मैंने चन्द्रमासे ग्रहण किया।

(७) सूर्य—सूर्यसे मैंने दो शिक्षाएँ प्राप्त कीं—अपनी प्रखर किरणोंद्वारा जल-संचय और समयानुसार उस संचयका यथोचित वितरण तथा विभिन्न पात्रोंमें परिलक्षित सूर्य स्वरूपतः भिन्न नहीं है, इसी प्रकार आत्माका स्वरूप भी एक ही है।

(८) कबूतर—कबूतरसे अवधूत दत्तात्रेयजीने जो शिक्षा ग्रहण की उसके लिये उन्हें यदुके समक्ष एक लम्बा आख्यान प्रस्तुत करना पड़ा, जिसका भावार्थ संसारसे आसक्ति न रखना है।

(९) अजगर—अनायास रूखा-सूखा प्रारब्धवश जो भी प्राप्त हो जाय उसीमें संतोष करना, कर्मेन्द्रियोंके होनेपर भी चेष्टारहित रहना, यह मैंने अजगरसे सीखा।

(१०) समुद्र—समुद्रने मुझे सर्वदा प्रसन्न और गम्भीर रहना सिखाया। समुद्रके शान्त भावोंकी तरह साधकको भी सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति और अप्राप्तिपर हर्ष-शोक नहीं होना चाहिये।

(११) पतंग—रूपपर मोहित होकर प्राणोत्सर्ग कर देनेवाले पतंगेकी भाँति मायिक पदार्थोंके हेतु बहुमूल्य जीवनका विनाश न हो, यह मैंने पतंगेसे सीखा।

(१२) मधुमक्खी—साधकको चाहिये कि वह मधुमक्खीकी भाँति संग्रह न करे। अपने शरीरके लिये उपयोगी रोटीके कुछ टुकड़े कई घरोंसे माँग ले।

(१३) हाथी—साधकको चाहिये वह भूलकर भी पैरसे भी काठकी भी बनी स्त्रीका स्पर्श न करे अन्यथा हाथी-जैसी दुर्दशाको प्राप्त होगा।

(१४) मधु निकालनेवाला—राजन्! जैसे मधुमक्खियोंद्वारा कठिनाईसे संचित किये गये मधुका दूसरा ही उपभोग करता है, इसी प्रकार कृपण व्यक्ति भी अपने संचित धनका न तो स्वयं उपभोग करता है और न

शुभ कार्योंमें व्यय ही कर पाता है । अतः गृहस्थको अपने अर्जित धनको शुभकार्यमें लगानेकी शिक्षा मैंने उक्त पुरुषसे ग्रहण की ।

(१५) हरिन—वनवासी संन्यासी यदि विषयसम्बन्धी गीतमें आसक्त हुआ तो हरिनकी भाँति व्याधके बन्धनमें पड़ जाता है, जैसे ऋषि ऋष्यशृंग ।

(१६) मछली—नृपनन्दन ! मछली तो स्वादके लोभमें मृत्युको प्राप्त होती है यह सभी जानते हैं, अतः इन्द्रिय-संयमका पाठ मैंने मत्स्यगुरुसे सीखा ।

(१७) पिंगला—अबतक यदु तन्मयतापूर्वक प्रत्येक गुरुके विषयमें सुन रहे थे । अचानक बोल उठे—'महामुने ! क्या वेश्या भी आपकी गुरु रही ?'

'हाँ नृपराज ! पिंगला वेश्याकी अपने रमणस्थलपर वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत ग्राहकोंकी प्रतीक्षाको मैंने देखा है । रात्रिभर प्रतीक्षाके पश्चात् भी जब उस धन-लोलुपा वेश्याके पास कोई नहीं आया तब वह निराश हो गयी और उसे वैराग्य हो गया । उसने अपने चित्तको इङ्गित कर जो पश्चात्तापका गीत गाया वह मैंने सुना । कुछ पंक्तियाँ तुम भी सुनो—

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्य-
स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम् ।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्
विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ८ । ३३)

'यह शरीर एक घर है । इसमें हड्डियोंके टेढ़े-तिरछे बाँस और खंभे लगे हैं । चर्म, रोम और नाखूनोंसे यह छाया गया है । इसमेंसे मल-मूत्रके निकलनेके नव दरवाजे हैं, इसके अतिरिक्त और क्या है ? मेरे अतिरिक्त ऐसी कौन पतिता स्त्री होगी जो इस स्थूल शरीरको अपना प्रिय समझकर सेवन करेगी ।' राजन् ! '**आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ।**' (श्रीमद्भा० ११ । ८ । ४४) के कारण आशाका परित्याग करनेवाली इस वेश्यासे मैंने शिक्षा ग्रहण की ।

(१८) कुरर पक्षी—इस पक्षीकी चोंचमें जबतक मांसका टुकड़ा था तभीतक अन्य पक्षी इसके शत्रु थे । जैसे ही उसने टुकड़ा छोड़ दिया, उसके पाससे सभी पक्षी दूर हो गये । इससे मुझे त्यागकी शिक्षा मिली ।

(१९) बालक—बालकको जैसे मान-अपमान और परिवारकी चिन्ता नहीं होती, उसी प्रकार मुझे भी अपने मान-अपमानकी चिन्ता नही करनी चाहिये, अतः मैंने बालकको भी गुरु माना ।

(२०) कुँआरी कन्या—धान कूटती कन्याके हाथोंमें अनेक चूड़ियोंके शब्दसे जो ग्लानि हो रही थी, वह उस समय दूर हो गयी जब दोनों हाथोंमें केवल एक-एक चूड़ी ही रही, इसलिये मैंने कन्यासे अकेले ही विचरण करनेकी शिक्षा ग्रहण की ।

(२१) बाण-निर्माता—इस व्यक्तिको मैंने अपने बाण बनानेके कार्यमें इतना तल्लीन देखा कि राजाकी सवारी भी गाजे-बाजेके साथ इसके सामनेसे निकल गयी, पर यह अपने कार्यमें दत्त-चित्त रहा । इससे मैंने यह शिक्षा ली कि साधक अभ्यासके द्वारा अपने मनको वशमें कर उसे सावधानीसे लक्ष्यमें लगा दे ।

(२२) सर्प—राजन् ! इससे मैंने कई गुण ग्रहण किये । जैसे एकाकी विचरण, किसीकी सहायता न लेना, कम बोलना और मठ या घर न बनाना ।

(२३) मकड़ी—मकड़ी तो सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् प्रभुके पूर्वकल्पमें बिना किसी अन्य सहायकके अपनी मायासे रचित संसारके अद्भुत कौशलका दर्शन कराती है । मकड़ी अपने हृदयसे मुँहके द्वारा जाला फैलाकर उसीमें रमण करती है और उसे निगल भी जाती है ।

(२४) भृंगीकीट—राजन् ! मैंने इस कीड़ेसे यह शिक्षा ग्रहण की कि यदि प्राणी स्नेह, द्वेष अथवा भयसे जान-बूझकर एकाग्ररूपसे अपना मन किसीमें लगा दे तो उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जैसे भृंगीद्वारा पकड़े गये कीड़ेका हो जाता है ।

दत्तात्रेयजीने अपने चौबीस गुरुओंका वर्णन कर उपसंहार करते हुए कहा—'राजन् ! अकेले गुरुसे ही यथेष्ट और सुदृढ़ बोध नहीं होता, उसके लिये अपनी बुद्धिसे भी बहुत कुछ सोचने-समझनेकी आवश्यकता है । देखो ! ऋषियोंने एक ही अद्वितीय ब्रह्मका अनेक प्रकारसे गान किया है । (यह तो तुम्हें स्वयं ही निर्णय करना होगा ।)'

हमारी प्राचीन और आधुनिक शिक्षा

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, भूतपूर्व कुलपति)

पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धिमें शिक्षा अद्वितीय साधन है। निश्चित उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये जब विद्यार्थी गुरुसे शिक्षा ग्रहण करता है, तब उसके समक्ष लक्ष्य-सिद्धिके अतिरिक्त कोई समस्या नहीं रहती। अतः प्राचीनकालीन 'विद्यार्थी' निश्चित दिशाकी ओर बढ़ता हुआ अध्ययन करता था। **'अमृतं हि विद्या', 'विद्ययामृतमश्नुते'**— इस लक्ष्य-पूर्तिके लिये वह विद्याध्ययन करता था।

प्राचीनकालमें गुरु-शिष्यका विवाद न था। साक्षात्कृतधर्मा ऋषि अपने तपोबलसे वेदोंका साक्षात्कार कर ज्ञान प्राप्त करते थे।[१] बादमें इन द्रष्टा ऋषियोंने उन व्यक्तियोंको ज्ञानोपदेश दिया जो स्वयं प्रत्यक्ष करनेमें असमर्थ थे।[२] धारणाशक्तिके ह्रास हो जानेके कारण तृतीय कोटिके व्यक्ति जब उन उपदेशोंको यथावत् ग्रहण करनेमें असमर्थ हो गये तो वेद-वेदाङ्गोंका ग्रन्थरूपमें समाम्नात हुआ[३] और उनके अध्ययन-अध्यापनकी प्रक्रिया चल पड़ी। परा तथा अपरा—इन दो भागोंमें विद्याका विभाजन हुआ। धर्म, अर्थ तथा कामकी प्राप्तिमें अपरा और मोक्षकी प्राप्तिमें परा विद्या साधन थी। जिज्ञासु शिष्य अपनी इष्ट-सिद्धिके लिये गुरु-चरणोंकी शरणमें जाता था। गुरु उसके अज्ञानका निवारण करता था।[४]

शिक्षाका चरम उद्देश्य था आत्म-ज्ञानकी उपलब्धि। इसके लिये शिष्य सद्गुरुका आश्रय लेते थे।[५] शिष्य गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् ब्रह्मके रूपमें मानते थे।[६] शरणापन्न शिष्यके भीतर अध्यात्म-ज्ञानके सर्जनके कारण गुरुको ब्रह्मा, त्राण[७] तथा ज्ञान-विज्ञान-संरक्षणके कारण विष्णु, सकल कलुषके संहरणके कारण महेश्वर तथा परमात्म-ज्ञानके प्रदानसे परब्रह्म माना जाता था। गुरुसे बढ़कर और कोई दूसरा तत्त्व नहीं था।[८] यह भावना शिष्यके हृदयमें बद्धमूल थी। गुरु अज्ञान-तिमिरसे अन्ध शिष्यके प्रज्ञा-चक्षुको ज्ञानरूपी अञ्जन-शलाकासे उन्मीलित करते थे। अतः शिष्य आजीवन नतमस्तक रहता था।[९] शिष्यके लिये गुरुका स्थान सर्वोच्च था।

अध्ययनके उपर्युक्त चार पुरुषार्थ प्रयोजन थे, किंतु व्यावहारिक दृष्टिसे अध्यापनके तीन प्रयोजन थे—धर्म, अर्थ और शुश्रूषाप्राप्ति।[१०]

आचार्य धर्मार्थ शिक्षा देते थे। आचार्य शिष्योंमें आचार अर्थात् चरित्रका निर्माण करते थे, शास्त्रके रहस्योंको खोलते थे और शिष्योंकी बुद्धिको विकसित करते थे।[११] शिष्योंका उपनयन-संस्कार कर उन्हें कल्प और रहस्यके

---

१. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।
२. ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्राददुः।
३. उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः, वेदं च वेदाङ्गानि च। (निरुक्त, प्रथमाध्याय)
४. गिरति अज्ञानम् (नाशयति अविद्याम्) इति गुरुः।
५. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाधिगच्छेत्। समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ (उपनिषत्)
तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥ (श्रीमद्भागवत)
समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये। (अध्यात्मरामायण)
६. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
७. शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।
८. नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्।
९. अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
१०. अध्यापनं च त्रिविधं धर्मार्थं चार्थकारणात्। शुश्रूषाकरणं चेति ऋषिभिः परिकीर्तितम्॥ (हारीतः)
११. आचार्य आचारं ग्राहयति। आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा॥ (निरुक्त)

साथ वेदादिकी शिक्षा देते थे ।[१२] आचार्यकी यही कामना रहती थी कि उनका शिष्य विद्वान् बनकर मनस्वी और यशस्वी हो तथा शिष्य-परम्पराको सुदृढ़ करे ।

आंशिकरूपसे वेद या वेदाङ्गोंका जीविकाके लिये अध्यापन करनेवाले 'उपाध्याय' कहलाते थे ।[१३] अतः दस उपाध्यायोंकी अपेक्षा एक आचार्य श्रेष्ठ माना जाता था ।[१४]

जिस किसीसे जो सत्-शिक्षा मिलती थी उसे गुरु मानकर उसका सम्मान किया जाता था ।[१५]

शिक्षार्थी अपनी विशेषताके अनुसार शिष्य, छात्र, विद्यार्थी तथा अन्तेवासीके नामसे व्यवहत होता था । शासन करने योग्यको 'शिष्य'[१६] कहते थे । अनुशासन-प्रियता इसका विशेष धर्म होता था । अध्ययन-कालमें पूर्ण अनुशासित होकर वह सामाजिक जीवनमें सफल होता था ।

'छात्र' उन्हें कहते थे जो केवल स्वाध्यायरत होकर गुरुजनोंके यत्किंचित् दोषपर भी आवरण देकर उनके यशको फैलाते थे ।[१७] तात्पर्य यह कि अध्ययनकालमें उनकी शङ्काका तत्काल समुचित समाधान न होनेपर भी वे समाधानके लिये धैर्यपूर्वक समयकी प्रतीक्षा करते थे । तुरंत गुरुके अज्ञान-दोषका प्रचार नहीं करते थे ।

'विद्यार्थी'[१८] उसे कहते थे जो गुरुको विद्याका धनी समझकर उनसे विनम्रतापूर्वक विद्याकी याचना करता था । विद्याका लाभ ही उसका मुख्य प्रयोजन होता था । विद्याके प्रति उत्कट अनुराग और गुरुके प्रति शुश्रूषाभाव विद्यार्थी शब्दके अर्थसे सूचित होता है ।

'अन्तेवासी'[१९] उसे कहा जाता था जो गुरुके समीप रहकर विद्याध्ययन करता था । इसे सर्वदा शङ्का-समाधानका सुयोग मिलता था और निरन्तर शुश्रूषा करनेका सुअवसर प्राप्त होता था । इसलिये अन्तेवासी अधिक सौभाग्यशाली माना जाता था ।

प्राचीन भारतीय गुरुकुलोंमें समस्त विद्याओंका अध्ययन-अध्यापन गुरु-शिष्य एक साथ रहकर किया करते थे । उनके आवास-भोजनादिका प्रबन्ध वहीं एकत्र होता था । समाजके सभी वर्गके लोग एक साथ पढ़ते थे । श्रीकृष्ण और सुदामाके लिये अलग-अलग गुरुकुल नहीं था । दोनों एक आश्रममें साथ-साथ पढ़ते थे ।

प्राचीन शिक्षा-पद्धतिमें सच्चरित्र और सुसंस्कृत शिक्षार्थी गुरुकुलमें प्रवेशके अधिकारी होते थे । उस पवित्र वातावरणमें विद्याध्ययन करनेवाले छात्र विनयी होते थे । उन्हें ही देखकर नीतिकारोंने कहा है—'**विद्या ददाति विनयम् ।**' शिक्षा-ग्रहणके साथ ही उनमें सद्गुणोंका आधान होता था । वे सच्चरित्र, संयमी, आचारवान्, कर्तव्यनिष्ठ, सत्यपरायण, विनीत, गुरुजनोंमें श्रद्धालु, ब्रह्मचर्य-परायण तथा देश-समाजके लिये उपयोगी नागरिक सिद्ध होकर गुरुकुलसे निकलते थे ।

साधारणतः पञ्चम वर्षमें शिक्षार्थीका गुरुकुलमें प्रवेश होता था । बारह वर्षोंतक वहाँ उनका निरन्तर अध्ययन चलता था । उसके बाद उनका समावर्तन होता था । तब वे स्नातक कहलाते थे । आचार्यद्वारा प्रतिदिनकी

---

१२. आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि । स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य इष्यते ॥
उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ (मनु० २ । १४०)
१३. एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः । योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ (मनु० २ । १४१)
१४. उपाध्यायान् दशाचार्यः .... (मनु० २ । १४५)
१५. एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिमन्यते । षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥
१६. शासितुं योग्यः शिष्यः । शास्+क्यप् प्रत्यय (पा० सू० ३ । १ । १०९) ।
१७. गुरोर्दोषाणामावरणं छत्रम्, तच्छीलमस्य छात्रः । छत्रादिभ्यो णः (पा०सू० ४ । ४ । ६२) ।
१८. विद्याम् अर्थयते तच्छीलः विद्यार्थी । विद्या उपपद 'अर्थ' धातुसे 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा० सू० ३ । २ । ७८) से णिनि प्रत्यय ।
१९. अन्ते गुरुसमीपे वसति तच्छीलः, पूर्ववत् णिनि प्रत्यय । 'शयवासवसिष्वकालात्' (पा० सू० ६ । ३ । १८) से अलुक् ।



गुरुकुलमें विद्याध्ययन

परीक्षा ही उनकी परीक्षा होती थी । शास्त्रार्थमें वे अपनी योग्यताका प्रमाण देते थे । सत्रके अन्तमें दीक्षान्त-समारोह होता था । उसमें क्रियावान् 'कुलपति'[२०] स्नातकोंको '**सत्यं वद, धर्मं चर**·······' आदिका सदुपदेश देते थे । इसके बाद स्नातक यथासम्भव गुरु-दक्षिणा देते थे । इस प्रकार विद्या-ग्रहण करनेके बाद वे अधीत विद्याका स्वाध्याय करते थे, उसे व्यवहारमें लाते थे और अन्तमें उसका प्रवचन करते थे । यह प्रक्रिया महर्षि पतञ्जलिके समय (ई० पूर्व १५०) तक प्रचलित थी ।

आधुनिक शिक्षा

गत शताब्दीके अन्तिम चरणमें लार्ड मैकॉलेद्वारा संचालित शिक्षा आधुनिक शिक्षा मानी जाती है । आधुनिक शिक्षाके आरम्भिक तथा वर्तमान रूपोंमें भी बहुत परिवर्तन हुआ है । युगके अनुकूल मानवकी समस्या, आवश्यकता और आकाङ्क्षाओंके अनुसार शिक्षाका आयाम बढ़ता जा रहा है । विश्वके विकसित देशोंमें जिन वैज्ञानिक आविष्कार—प्रचार-प्रसारोंसे आधिभौतिक सुख-समृद्धिकी श्रीवृद्धि हुई है और आज भी हो रही है, उनका प्रभाव भारतपर भी पड़ा है और पड़ रहा है । फलतः यहाँ भी वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षाकी ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है ।

आजकी यहाँकी शिक्षाको मोटे तौरपर तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—(क) चिकित्सा, अभियान्त्रिकी, तकनीकी, कम्प्यूटर आदिकी शिक्षा । (ख) सामान्य विज्ञान, कला (आर्ट्स), वाणिज्य (कॉमर्स) आदिकी शिक्षा । (ग) वेद-वेदाङ्गादि विषयोंकी संस्कृत शिक्षा ।

इनमें प्रथम कोटिकी शिक्षा आधिभौतिक अभ्युदयके सम्पादनमें अद्वितीय साधन है । अतः आज देशके प्रथम कोटिके मेधावी छात्र इस शिक्षाको पानेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, किंतु इनकी संख्या सीमित है । द्वितीय कोटिकी शिक्षा आज दिशा-विहीन-जैसी है । इसमें सामान्य स्तरके शिक्षार्थी आते हैं । इनकी संख्या अत्यधिक है, अतः इसकी समस्या भी विकराल है । तृतीय कोटिकी संस्कृत शिक्षा जो प्राचीनकालमें सर्वोच्च शिक्षा थी, सरकार और समाजसे उपेक्षित होनेके कारण आज अधोगतिमें है । शिक्षा चाहे सामान्य अथवा विशेष-विषयक हो, किंतु उसका निश्चित उद्देश्य होना चाहिये । उद्देश्यविहीन शिक्षाका परिणाम श्रेयस्कर नहीं होता ।

शिक्षाका उद्देश्य संक्षेपमें शिक्षार्थीको पूर्ण मानव बनाना है । पूर्ण मानवताका अर्थ है मानवमें आधिभौतिक और आध्यात्मिकवादका पूर्ण समन्वय, सामञ्जस्य और संतुलन । आध्यात्मिकताके अभाव या असंतुलनसे मानव दानव हो जाता है और वह समाजके लिये आतङ्कप्रद बन जाता है । उससे सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है । शिक्षासे निम्नलिखित गुणोंकी अपेक्षा की जाती है—(१) मानव-जीवनके महत्त्व तथा आदर्शका ज्ञान, (२) चरित्र-शिक्षण, (३) ज्ञान-अर्जन करनेकी शक्ति, (४) समुचित जीविकोपार्जनके लिये कौशल, (५) सत्यासत्य-परिज्ञान और (६) समाज-परम्परा-मान्यता आदिका परिज्ञान ।

शिक्षाके प्रत्येक क्षेत्रमें शिक्षार्थीके लिये उपर्युक्त उद्देश्योंकी पूर्ति आवश्यक है । स्पष्ट है कि वर्तमान शिक्षासे उद्देश्यकी आंशिक ही पूर्ति हो रही है । देशकी स्वतन्त्रताके चालीस वर्षोंके बाद भी शिक्षामें अपेक्षित सुधार नहीं हो सका है ।

शिक्षाको अभी प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षामें विभक्त कर तदनुसार व्यवस्था की जा रही है । प्राथमिक शिक्षा सभीके लिये अनिवार्य नहीं हो सकी है । प्राथमिक शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियोंकी प्रतिशत संख्या विभिन्न राज्योंमें विभिन्न है ।

माध्यमिक शिक्षा, जो शिक्षाकी रीढ़ मानी जाती है, सुनिश्चित रूप नहीं प्राप्त कर सकी है । स्वतन्त्रताके बाद इसपर निरर्थक अनेक प्रयोग किये गये हैं । पूर्व-स्वातन्त्र्य-कालमें ११+२+२+२ इस तरह १७ वर्षोंका निश्चित पाठ्य-क्रम था । बादमें १२+१+२+२=१७ तथा

२०. छात्राणां दशसाहस्रं योऽन्नपानादिना भरन् । अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः ॥

११+१+१+२+२=१७ वर्षोंका पाठ्य-क्रम बनाया गया। अभी १०+२+३+२ इस प्रकार १७ वर्षोंका पाठ्य-क्रम चलाया जा रहा है। इन परिवर्तनोंसे अभीतक कोई चमत्कार पैदा नहीं हो सका है। परिवर्तन केवल परिवर्तनके लिये हुआ है।

माध्यमिक स्तरमें शिक्षा-माध्यमका निश्चित रूप अभीतक नहीं हो सका है। द्विभाषा, त्रिभाषा, चतुर्भाषा सूत्रोंका निश्चित भाष्य नहीं हो सका है। राष्ट्रकी एकता और अखण्डतामें अद्वितीय साधन संस्कृत भाषाकी सर्वत्र उपेक्षा कर दी गयी है। स्वतन्त्रतासे पूर्व विदेशी शासनकालमें देशमें माध्यमिक स्तरपर संस्कृत अनिवार्य थी। आज देशके किसी राज्यमें भी माध्यमिक स्तरतक संस्कृत अनिवार्य नहीं है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है। संस्कृतकी विशेषताका गुणगान प्रत्येक व्यक्ति करता है, परंतु व्यवहारमें विपरीत निर्णय लेता है।

नवीन शिक्षा-नीतिका ढोल बहुत पीटा जा रहा है। इस सम्बन्धमें प्रकाशित सरकारी दस्तावेजके आमुखमें जीवनके आदर्श और महत्त्वकी चर्चा की गयी है। अध्यात्म और मानव-मूल्योंकी बात उसमें कही गयी है, परंतु उसकी उपलब्धिके उपायका सही निर्देश नहीं हुआ है। इसमें भी संस्कृतकी सर्वथा उपेक्षा की गयी है।

सामान्य-शिक्षा दिशा-विहीन होती जा रही है। आजका स्नातक या स्नातकोत्तर परीक्षोत्तीर्ण अपना जीवन-निर्वाह करनेमें भी असमर्थ है। यही वर्ग सबसे अधिक असंतुष्ट है और अपनी प्रतिक्रिया विभिन्न रूपोंमें व्यक्त करता है। सरकारी नीति और अपेक्षित साधनके अभावमें इसे अग्रिम शिक्षा पानेका भी अवसर नहीं मिलता। इन सबका दुष्परिणाम समाजके सामने है।

स्वतन्त्रताके बाद शिक्षा-क्षेत्रमें जो विकास हुआ है, वह पर्याप्त नहीं है। प्रथम पञ्चवर्षीय योजनाकालमें राष्ट्रिय आयका ७.२ प्रतिशत शिक्षापर व्यय होता था। आज सप्तम योजनाकालमें, कहते हैं, ३.२ प्रतिशत ही खर्च किया जा रहा है। जनसंख्या-वृद्धिके अनुपातमें शिक्षालयोंकी स्थापना नहीं हो सकी है। आज देशमें १५०से अधिक विश्वविद्यालय, ८७००से अधिक महाविद्यालय और लाखोंकी संख्यामें प्राथमिक विद्यालय हैं, किंतु अपनी आबादीकी एक तिहाईसे अधिकको शिक्षित नहीं बना सके हैं। भारतीय प्राद्यौगिक प्रतिष्ठानोंको छोड़कर शिक्षाका स्तर भी बहुत गिरा है और गिरता जा रहा है। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध समाप्त हो चुका है। अध्ययन-अध्यापनकी रुचि कम होती जा रही है। इससे राष्ट्रका बहुत बड़ा अहित हो रहा है।

यद्यपि वर्तमान सामाजिक परिवेशमें अब प्राचीन शिक्षा-प्रणालीपर नहीं जा सकते, किंतु शिक्षाके उद्देश्यकी पूर्तिके अनुकूल तो शिक्षाको बना ही सकते हैं। अतः निम्नलिखित विषयोंपर विचार कर उन्हें यथाशीघ्र कार्यान्वित करनेका प्रयास होना चाहिये—

(१) प्राथमिकसे लेकर उच्चशिक्षातक शिक्षाके प्रत्येक क्षेत्रमें समाज-हितोपयोगी आध्यात्मिक ज्ञानकी शिक्षा अनिवार्य हो, जिससे प्रत्येक शिक्षित स्वयं जीवित रहे और दूसरेको जीने दे। आध्यात्मिकताके साथ आधिभौतिकताका पूर्ण सामञ्जस्य और संतुलन हो।

(२) माध्यमिक स्तरतक प्रत्येक शिक्षार्थीके लिये संस्कृतका ज्ञान अनिवार्य हो। एतदर्थ त्रिभाषा-सूत्रमें संस्कृतकी अनिवार्यता हो।

(३) प्रत्येक शिक्षार्थीको रुचिके अनुकूल जीविकोपार्जनके लिये कुशल बनाया जाय। एतदर्थ (Vocational) व्यावसायिक शिक्षोपयोगी पाठ्यक्रम बनाया जाय।

(४) राष्ट्रिय आयका कम-से-कम दस प्रतिशत शिक्षापर व्यय किया जाय और प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षित बनानेका प्रयास हो।

(५) गुरु-शिष्योंमें अध्ययन-अध्यापनकी प्रवृत्ति सर्वत्र जगायी जाय।

(६) धनी और निर्धन छात्रोंकी प्राथमिक शिक्षाके महान् अन्तरको यथासम्भव कम किया जाय।



भारतमें प्राचीन शिक्षा तथा आधुनिक शिक्षा

(श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

भारतमें वर्तमान शिक्षा-प्रणालीकी नींव तत्कालीन भारत-सचिव, लन्दन-स्थित लार्ड मैकालेने सन् १८३५ के अपने 'परिपत्र'द्वारा डाली थी। मैकाले इतना बड़ा अज्ञानी था कि उसने लिखा था कि 'किसी भी अच्छे यूरोपीय पुस्तकालयके एक खाने (कोष्ठ) में रखी पुस्तकें भारत तथा अरब देशोंके समस्त साहित्यसे अधिक मूल्यवान् हैं।' इस आधारपर गवर्नर जनरल लार्ड ऑक्लेंडने १४ नवम्बर, १८३९ को कहा था कि 'हमें ऐसी शिक्षा देनी है जिससे भारतके उच्च तथा मध्यम वर्गका स्तर ऊँचा उठाया जा सके।' सन् १८८२ ई०में स्थापित विश्वविद्यालय-शिक्षा-कमीशनने अपने अध्यक्ष सर चार्ल्सवर्डउडकी यह नीति स्वीकार की थी कि 'शिक्षा ऐसी हो जो भारतीय परम्परा तथा संस्कृतिके अनुकूल हो।' यह लक्ष्य भारतकी प्राचीन शिक्षा-प्रणालीके बहुत निकट था। पर भारतीय प्राचीन शिक्षा-प्रणालीमें, जब आजकी तरह छपी पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं, रटकर याद करनेकी प्रथाका महत्त्व लार्ड कर्जन-जैसे चतुर भारतके बड़े लार्ड समझ न सके और कलकत्ता-विश्वविद्यालयके समावर्तन-संस्कारके अवसरपर सन् १९०२ ई०में उन्होंने कहा था—'हमें ऐसी शिक्षा देनी है जिसमें दूसरोंके विचार छात्रके मस्तिष्कमें न ठूँसे जायँ—उसका स्वयं चिन्तन दूसरोंके विचारोंके सेकेंड हैंड पुस्तकालयसे न भरा जाय।'

कर्जनको वैदिक ऋषि गौतमके पुत्र नचिकेताका यमराजसे संवादका पता न था, जिसमें जीवनके वास्तविक लक्ष्यके साथ प्रतिपादित किया गया है कि प्रत्येक व्यक्तिको सच्चा स्वस्थ नागरिक बनना चाहिये तथा सत्यका उपासक होना चाहिये। शिक्षाका इससे भी अधिक स्पष्ट विवेचन छान्दोग्य उपनिषद्में है। जिसमें श्वेतकेतु-संवादमें स्पष्ट कहा गया है कि शिक्षाका उद्देश्य मस्तिष्कमें ग्रन्थोंको कोष्ठमें भर कर रखना नहीं है, अपितु उनसे ज्ञान प्राप्त करना है। जिस प्रकार अंग्रेजी शब्द 'रेलिजन' 'धर्म' का पर्यायवाची नहीं है, उसी प्रकार 'एजूकेशन' 'शिक्षा' का पर्यायवाची नहीं है। अंग्रेजी शब्दका अर्थ है 'नियमबद्ध ऐसी पढ़ाई जिससे जीवनके किसी विशेष कार्यमें भाग ले सकें।' पर शिक्षा वैदिक शब्द है। हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें इसका स्पष्ट अर्थमें उपयोग है। जैसे 'महाभारत' या 'किरातार्जुनीय' (१५।३७) में जिनमें स्पष्ट अर्थ है 'सीखना, अध्ययन करना, ज्ञान प्राप्त करना, किसी कलामें निपुण होना' आदि। शिक्षा शब्दका ऋग्वेदमें प्रयोग है। वेदाङ्गके अनुसार किसी विज्ञानका ज्ञान प्राप्त करना शिक्षा है। मुण्डकोपनिषद्के अनुसार शिक्षित वह है जिसमें 'मानवता, विनम्रता तथा अप्रगल्भता हो।' आजतक भारतीय शिक्षाके इस प्राचीनतम सिद्धान्तको हम नहीं अपना सके हैं। शिक्षितका अर्थ है क्षेत्रज्ञ, विज्ञ, प्रवीण। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'में महाकवि कालिदास लिखते हैं—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

(प्रथम अङ्क)

भारतकी भाँति किसी भी देश या सभ्यताने शिक्षाका इतना उच्चस्तरीय उद्देश्य नहीं रखा है। 'शिक्षा' शब्द जिस धातुसे बना है उसका अर्थ ही है 'देना'।

भारतमें प्रचीनकालमें अध्यापककी पाठशालामें प्रवेशके लिये प्रार्थीको कतिपय प्रश्नोंका उत्तर देना होता था। उसके लिये घोषणा या प्रतिज्ञाका निर्धारित वाक्य होता था (हिरण्यकेशिन १,२,५)। दुष्ट प्रकृति, अनियन्त्रित मनोविकारी, दूसरोंकी भर्त्सना करनेवालों आदिका प्रवेश निषिद्ध था। केवल कुशल, होनहार, कर्मठ, सच्चरित्र, चरित्रवान्, अच्छी स्मरणशक्तिवाला आदि गुणोंसे युक्त छात्र या छात्रा भरती हो सकती थी (मनु० २।१०९)। छात्रके लिये अध्यापककी आज्ञा मानना अनिवार्य था। वह अध्यापकके स्थानके नीचे बैठता था। गुरुके कथनका खण्डन नहीं करता था। छात्रको गुरुका चरण-स्पर्श करना

चाहिये तथा जब तक गुरु स्वयं न पढ़ावें, मौन रहना चाहिये ।

आपस्तम्ब-सूत्र (१,२,५-९-१० आदि), मनु० (२।१०१,२२२) तथा गोभिल०(२।८,९,१०) और विष्णुपुराण (२६।२।१३ आदि) के अनुसार छात्रको सुगन्ध लगाना, फूलोंका हार पहनना, काजल लगाना, जूता या छाताका उपयोग करना, नाचना, जूआ खेलना, दिनमें सोना, भीड़भाड़में घुसना आदि मना था । आज बिरले ही छात्र इन नियमोंका पालन करते हैं ।

आधुनिक शिक्षा-प्रणालीकी एक बड़ी देन यह समझी जाती है कि बच्चों, छात्रोंको कक्षामें मारा-पीटा न जाय, किंतु आजसे ५००० वर्ष पहले गौतमने लिख दिया था कि 'छात्रोंको शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिये । यदि उसके सुधारका कोई उपाय न हो तो पतली रस्सी या बेंतसे मारे । यदि अध्यापक किसी अन्य प्रकारसे छात्रको पीटे तो राजाको उसे दण्ड देना चाहिये' (२।४२-४) । मनुने भी यही कहा है—'पतली रस्सी या बाँसकी छड़ीसे मारना चाहिये और वह भी शरीरके किसी कोमल अङ्गपर नहीं' (मनु० ८।२९९-३००) । आपस्तम्ब कहते हैं कि 'यदि डराने, उपवास कराने, ठण्डे पानीमें स्नान कराने या कक्षासे निकाल देनेपर भी न सुधरे तो शारीरिक हलका दण्ड दे' (१।२, ८, २८-२९) ।

गुरुके भरण-पोषणकी जिम्मेदारी शासनकी थी, पर वह छात्रोंसे कोई उपहार नहीं ले सकता था, चाहे धनी हो या निर्धन । नागसेनकी जातक तथा 'मिलिन्द पिन्ह'में मिलता है कि राजपुत्र पेशगी उपहार देना चाहते थे, पर गुरुजन अस्वीकार कर देते थे । विष्णुपुराण (३७।२०,२१ तथा ३४), याज्ञवल्क्य-स्मृति (३।२३६ तथा २४२) तथा मनुस्मृति (२।११२-११५) से भी प्रकट है कि छात्रसे कुछ लेना एकदम मना था । हाँ, दीक्षाके बाद वह चाहे तो गुरु-दक्षिणा दे सकता था ।

प्राचीन शिक्षाका सत्र

प्राचीन सिद्धान्त था कि व्यक्ति अपनेको अजर और अमर समझकर विद्या प्राप्त करता रहे । यों वह आश्वलायन तथा हिरण्यकेशिनके अनुसार १२ वर्षोंमें वेदोंमें पारङ्गत हो सकता है, किंतु एकदम पूर्णता प्राप्त करनेके लिये २४ या ४८ वर्ष भी लग सकते हैं । मानव-जीवनकी सीमाको देखते हुए बोधायनने लिखा है कि जबतक केश काले रहें तभीतक शिक्षा ग्रहण करे । पर आजकी तरह प्रत्येक छात्रको एक विषयमें छमाही परीक्षा देनी होती थी । छमाही परीक्षाका नियम संसारने भारतसे सीखा है । एक सत्र (उपकरणम्) श्रावणकी पूर्णिमासे प्रारम्भ होकर पौषकी पूर्णिमा(अर्थात् जुलाईसे दिसम्बर) तक समाप्त होता था जिसे उत्सर्जन कहते थे । चारों वेदोंके अतिरिक्त वेदोंके छः अङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषके ज्ञान बिना शिक्षा पूरी नहीं होती थी, फिर किसी एक अङ्गमें विशेषताके लिये विशेष अध्ययन होता था । आजकी तरह केवल वेतनके पीछे भागनेवाले, पढ़ानेमें दिलचस्पी न लेनेवाले अध्यापक तथा परीक्षाके लिये पढ़नेवाले छात्र उस युगमें नहीं होते थे । उस समयका पाठ्यक्रम आजसे कहीं कठिन था। उदाहरणके लिये आज कालेजोंमें 'एटीमोलोजी' बड़ा विशद विषय है—इसका अर्थ है 'शब्दव्युत्पत्ति-विद्या' । प्राचीन कालमें 'निरुक्त' यही विषय था जो आजसे कहीं अधिक कठिन और व्यापक था ।

प्राचीन कालमें हमारे विश्वविद्यालय विश्वभरमें प्रसिद्ध थे । आज हमारे ११९ मुख्य विश्वविद्यालयोंमें एक भी वैसी ख्याति नहीं रखता । ये केवल अध्यापकोंकी हड़ताल, छात्रोंकी हड़ताल, परस्पर संघर्षके लिये प्रसिद्ध हैं ।

वर्तमान रावलपिण्डीसे उत्तर-पश्चिमकी ओर बीस मीलकी दूरीपर वर्तमान सरायकलाँ नामक रेलवेस्टेशनके पास तक्षशिला-विश्वविद्यालय था, जो ईसवी पूर्व ३२६में सिकन्दरके आक्रमणके समय संसारमें सबसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय ही नहीं था, अपितु उस समय चिकित्सा-शास्त्रका एकमात्र सर्वोपरि स्थान था । यहाँ वेद, वेदाङ्गके अतिरिक्त अठारह कलाओंकी शिक्षा दी जाती थी, जिनमें चिकित्सा, चीरफाड़(शल्य-चिकित्सा), गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष, कृषि-विज्ञान, वाणिज्य-विज्ञान, हिसाब-किताब रखना (चार्टर्ड एकाउंटेंसी), धनुर्विद्या, सर्प-विद्या आदि थे । चिकित्सा-विज्ञानका पाठ्यक्रम सात वर्षका था तथा पढ़ाई समाप्त कर प्रत्येक छात्रको छः

महीने तक शोध-कार्य कर कोई नयी ओषधिकी जड़ी-बूटी पता लगानेपर डिग्री मिलती थी । शोध-कर्ताओंके अनुसार तक्षशिलामें १२ वर्षतक अध्ययनके बाद दीक्षा मिलती थी ।

दूसरा विश्वविद्यालय नालन्दा था, जो दक्षिणी बिहारमें राजगिरिके निकट है और उसके ध्वंसावशेष बड़गाँव नामक ग्राममें दूरतक बिखरे पड़े हैं । सातवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें चीनी यात्री हुएनसांगने यहाँ वर्षों शिक्षा प्राप्त की थी । गुप्त-सम्राट् बालादित्यने इसमें ४७० ई॰में एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर बुद्धकी ८० फीटकी प्रतिमा स्थापित की थी । यहाँ सभी प्रकारकी शिक्षा दी जाती थी। कई खण्डोंमें विद्यालय तथा छात्रावास तथा प्रत्येक खण्डमें छात्रोंके स्नानके लिये सुन्दर तालाब थे, जिनमें नीचेसे ऊपर जल लानेका अनोखा प्रबन्ध था । इस अन्ताराष्ट्रिय विश्वविद्यालयकी सबसे अद्भुत तथा महान् वस्तु थी इसका पुस्तकालय, जो तीन खण्डोंमें स्थित था तथा एक खण्ड नौ मंजिलका था, जिनमें पुस्तकें भरी थीं । इतना बड़ा पुस्तकालय तथा भवन न संसारमें कभी था, न आजतक है । १३वीं सदीमें मुसलिम आक्रमणमें यह विश्वविद्यालय नष्ट कर दिया गया तथा इसका पुस्तकालय जलाकर छः महीनेतक इसके कागजोंसे १०,००० की सेनाका मांसाहारी भोजन बनता रहा । कल्पना कीजिये—भारतने ही नहीं, संसारने कितना ज्ञान-भण्डार खो दिया । इसके बाद दूसरी हानि संसारकी तब हुई जब अरबोंने मिस्रके सिकन्दरिया तटपर हमला कर उसके पुस्तकालयके दस लाखसे अधिक ग्रन्थ जला डाले थे । हुएनसांग (सन् ६४५ ई॰में वह भारतसे विदा हुआ था) ने लिखा है कि नालन्दामें अध्यापक तथा छात्र मिलाकर १०,००० लोग रहते थे । उसके अनुसार उसे तथा प्रत्येकको नित्य १२० जम्बीरा (फल) के अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके सिवा बहुत बढ़िया 'महाऽाली' चावल तथा चाहे जितना घी भोजनके लिये मिलता था । इसी यात्रीके अनुसार नालन्दामें सुदूर मंगोलियातकके छात्र आते थे और बिना प्रवेश-परीक्षामें सफल हुए कोई भरती नहीं होता था । आवेदकोंमेंसे २० प्रतिशतसे अधिक प्रवेश नहीं पाते थे । यह वास्तवमें सुपठित छात्रोंका शोध-संस्थान था जो आजकलके एम्॰ फिल्॰ तथा डी॰ लिट्॰ कक्षाओंके समान था ।

इसी युगमें दूसरा महान् विश्वविद्यालय पूर्वी काठियावाड़में वलभी नगर (वर्तमान बालाघाट गाँव) में 'मैत्रेय नरेशों' द्वारा स्थापित था (४७५से ७७५ ई॰), जिसमें ६००० छात्र तथा अध्यापक थे । यहाँ भी सैकड़ों छात्र विदेशसे शिक्षा ग्रहण करने आते थे । इसी प्रकार बिहारमें भागलपुर जिलेमें सुलतानगंजके निकट 'विक्रमशिला' विश्वविद्यालय था, जिसमें आजकलके विश्वविद्यालयोंके अन्तर्गत 'इंस्टीट्यूट' की तरह छः कालेज या संस्थान थे, जो एक केन्द्रीय हॉलमें छः फाटकोंसे सम्बद्ध थे । इस हालको 'विज्ञान-गृह' कहते थे और छः कालेजके प्रधानाचार्यको 'द्वार-पण्डित' कहते थे । चौथीसे नवीं शताब्दीतक यह विश्वविद्यालय चलता रहा । इसी प्रकार सन् १०८४ से ११३० ई॰तक बंगालके पाल नरेशोंद्वारा घोषित 'जगदला' विश्वविद्यालय था, जिसे मुसलिम-आक्रमणमें नष्ट किया गया था । यह संस्था गङ्गा-करतोया नदीके संगमपर नव-स्थापित नगर रामावतीमें स्थापित था । भागीरथी (गङ्गा) तथा जांगली नदीके संगमपर स्थित नवद्वीप (वर्तमान नदिया) में मुसलिम शासकोंके प्रश्रयमें ११९८ से १७५७ तक चलनेवाला विश्वविद्यालय उस समय तर्कशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि कई विद्याओंका केन्द्र था, उसके संस्थापक थे बिहारके मैथिल-तर्कशास्त्र-विद्यालयके स्नातक वासुदेव सार्वभौम (१४५०-१५२५) । इस विश्वविद्यालयके अन्तर्गत शान्तिपुरा, गोपालपारा तथा नवद्वीपमें विद्यालय थे ।

ईसासे ३७१ वर्ष पूर्व तामिलनाडूमें मदुराई विद्याका और शिक्षण-संस्थाओंका केन्द्र था । प्रसिद्ध तामिल कवि तिरुवल्लियर यहींके छात्र थे, जिन्होंने पहली शताब्दीमें लिखा था कि 'केवल पठित लोगोंके पास नेत्र हैं । अपठितकी आँखकी जगह दो छिद्र हैं ।'

प्राचीन पाठ्यक्रम

तक्षशिलाका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । यह ईसासे ५०० वर्ष पूर्व, जब संसारमें चिकित्सा-शास्त्रकी परम्परा भी नहीं थी, आयुर्वेद-विज्ञानका सबसे बड़ा केन्द्र

था। जातक-कथाओंसे पता चलता है कि वहाँके स्नातक मस्तिष्कके भीतरतक या पेटकी अँतड़ियोंतकका आपरेशन बड़ी सुगमतासे कर लेते थे। ऐसी अद्भुत जड़ी-बूटियोंका उन्हें ज्ञान था कि बिना जुलाब दिये ही केवल एक जड़ी सुँघा देनेसे पेट स्वच्छ हो जाता था। विश्वविद्यालय या कालेजकी शिक्षासे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थीं भारतमें प्राचीन विद्वानों तथा पण्डितोंकी निजी, अपने घर चलनेवाली पाठशालाएँ, जिनमें वाराणसीने हजारों वर्षसे विशेषता प्राप्त कर ली थी और देशभरमें विद्वान् पण्डित ऐसे केन्द्र चलाते थे। ऐसी पाठशाला चलानेवाले छात्रोंसे कुछ माँगते नहीं थे। शासक लोग ऐसे विद्वानोंके भरण-पोषणके लिये ग्राम दे देते थे, जिसे दक्षिणमें अग्रहार कहते थे। ऐसी पाठशालाओंमें ब्राह्ममुहूर्तमें पाठ आरम्भ होता था। वाराणसीमें ही शिक्षाकी ३२ शाखाओंका वर्णन मिलता है। तक्षशिलामें प्रतिछात्रसे पूरी शिक्षाके लिये १००० मुद्रा पेशगी फीस ली जाती थी, पर जो न दे सके उसे भरती कर लेते थे। शर्त यह थी कि जब वह कमाने लगे, तब फीस अदा कर दे।

'वीरमित्रोदय'के अनुसार जन्मसे यज्ञोपवीततक जो पथ-प्रदर्शन करे वह गुरु है। याज्ञवल्क्यकी स्मृतिके आचाराध्याय (३५)के अनुसार वेदके एक अङ्गको पढ़ानेवाला 'उपाध्याय' है तथा वीरमिताक्षराके अनुसार सम्पूर्ण विद्या देनेवाला 'आचार्य' होता है। तक्षशिलामें कई आचार्य थे। अपने विषयमें पारङ्गत करानेवाला आचार्य था। तक्षशिलामें प्रवेशके लिये वही उम्र थी जो आजकल विश्वविद्यालयोंमें है। याज्ञवल्क्यके अनुसार ब्राह्मण (चूँकि विद्वान् परिवारका है)को यज्ञोपवीतके बाद १६ वर्ष, क्षत्रियको २२ वर्ष तथा वैश्यको २४ वर्षमें शिक्षा पूरी करनी चाहिये। प्राचीन कालके पाठ्यक्रमका वर्णन जातक-कथा 'मिलिन्द पिन्ह'में मिलता है, जिसके अनुसार निम्नलिखित विषय थे—

(१) चारों वेद, (२) इतिहास (पुराण आदि), (३) शब्द-विज्ञान, (४) छन्दः-शास्त्र, (५) स्वर-विज्ञान-ध्वनि-विज्ञान, (६) काव्य, (७) व्याकरण, (८) शब्दव्युत्पत्ति-विद्या, (९) फलित-ज्योतिष, (१०) गणित-ज्योतिष, (११) छः वेदाङ्ग, (१२) शकुन-विज्ञान, (१३) प्रतीक-शास्त्र, (१४) स्वप्न-विज्ञान, (१५) धूमकेतु तथा उल्का-विज्ञान, (१६) नक्षत्र-विज्ञान, (१७) सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, (१८) गणित, (१९) विवेचन-विद्या, (२०) सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक दर्शन, (२१) संगीत-शास्त्र, (२२) जादूगरी, (२३) पक्षियों तथा जन्तुओंकी भाषा, (२४) चिकित्सा तथा शल्य-विज्ञान, (२५) कला, (२६) साहित्य, (२७) चित्रकला, (२८) युद्ध-विद्या आदि। क्षत्रिय-वर्गको युद्ध-विद्याके सब अङ्ग—जैसे रथ चलाना, घोड़ा-हाथीकी सवारी, अस्त्र-शस्त्रका उपयोग आदि विशेष शिक्षा दी जाती थी। छात्र अपना विशिष्ट विषय चुन लेता था। आजके पाठ्यक्रमसे तुलना करें तो प्राचीन पाठ्यक्रम कहीं अधिक पूर्ण, उपयोगी तथा समीचीन था। ऊपर लिखा पाठ्यक्रम उस युगका था, जिसे ब्राह्मण-युग कहते हैं। समय पाकर इसमें संशोधन तथा परिवर्धन हुआ। चीनी यात्री हुएनसांगने अपने समयका पाठ्यक्रम दिया है, पर उससे भी विस्तृत वर्णन चीनी यात्री इत्सिंगका है, जो सन् ६७२ ई०में भारत आया था। उसके अनुसार छः वर्षकी आयुसे पढ़ाई आरम्भ होती थी, जिसमें पहली पोथी (प्राइमर) 'सिद्धिरस्तु' में वर्णमालाके ४९ अक्षर ३०० श्लोकोंमें १०,००० रूपमें अक्षरोंका प्रयोग था। छः महीनेमें इसे समाप्त कर १००० श्लोकोंमें पाणिनिके सूत्र याद करने पड़ते थे। छात्रकी आयु आठ वर्ष होते ८ महीनेमें इन्हें कण्ठस्थ कर लेना पड़ता था। दस वर्षका होनेपर उसे 'द्रुत' (शब्दोंकी धातु) रटनी पड़ती थी—तीन वर्षमें। १५ वर्षकी आयुमें पाणिनिकी जयादित्य-लिखित १८,००० श्लोकोंकी काशिकावृत्ति पढ़नी आरम्भ करनी पड़ती थी। इसके बाद उसे हेतुवाद (तर्कशास्त्र) तथा अभिधर्मकोष (आन्वीक्षिकी-अध्यात्म-विद्या) पढ़नी पड़ती थी। इतना विषय आजके हाईस्कूलतकको परीक्षाके लिये था।

माध्यमिक शिक्षामें व्याकरण, भाषा-विज्ञान, कला, तर्कशास्त्र, चिकित्सा-विज्ञान, विश्व-विज्ञान आदिमें शिक्षा प्राप्तकर वह उच्चतर शिक्षामें प्रवेश करता था, जिसमें

उसे पहले २४,००० श्लोकोंवाली 'चूर्णि'— पतञ्जलिआदि तीन वर्षमें पूरा भर्तृहरिसहस्र (भर्तृहरिकी मृत्यु सन् ६५१ या ६५२में हुई थी) पूरा कर फिर अपने विशिष्ट विषयमें प्रवेश करना पड़ता था।

आजके युगमें शिक्षाका नवीनतम सिद्धान्त है कि छात्र चाहे जब तैयार हो जाय, परीक्षा दे सकता है। ५००० वर्ष पूर्व भारतमें यही नियम था कि छात्र जब तैयार हो जाय, अपने अध्यापकसे जाकर परीक्षा लेनेका अनुरोध करे और परीक्षा लेकर उसे दीक्षित कर दिया जाय और उसका समावर्तन-संस्कार कर लिया जाय। आजकलकी तरह समावर्तन-संस्कार हजारों लड़कोंका एक साथ करना उपहासमात्र है। प्राचीन कालमें भारतमें प्रत्येक छात्रसे जो प्रतिज्ञा करायी जाती थी तथा आशीर्वाद प्राप्त होता था, वह आजकलके बी० ए० आदिकी डिग्रीवालोंको अप्राप्य है। आजकी डिग्रियाँ आक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज कालेजकी नकल मात्र हैं, जिनमें भारतकी आत्मा ही नहीं है।

मुसलिम कालमें भी शिक्षाका अच्छा प्रबन्ध था। ११४ पुस्तकोंके लेखक अलवेरूनी (९७३-१०४८)की 'किताब-अल-हिन्द'से इसका पता चलता है। फीरोजशाहका हौज खास, दिल्लीका मदरसा, बीदरमें मुहम्मद गब्बनका मदरसा, लाहौर तथा जौनपुर (उ० प्र०) के मदरसा नामक विश्वविद्यालय प्रसिद्ध हैं। पर आजकलकी शिक्षाके विषयमें स्व० जयप्रकाशनारायणका बम्बईमें १४ दिसम्बर, १९७७का यह संदेश स्पष्ट कहता है—'आजकलकी उच्च शिक्षा उस बहते पानीकी तरह है, जिसमें मैट्रिकुलेशनसे डिग्री तककी पढ़ाई बिना किसी उद्देश्यके की जाती है। डिग्री केवल नौकरी पानेका साधनमात्र है।' कुछ वर्षपूर्व मध्यप्रदेशके रायपुर नगरके राजकुमार कालेजमें दीक्षान्त-भाषण देते हुए श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डितने कहा था—'शिक्षाका उद्देश्य है— मनुष्य बनाना, किंतु वह उद्देश्य पूरा नहीं हो रहा है।'

१८८२के प्रथम शिक्षाकमीशनने, १९४६-४८के सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्-कमीशनने, १९६०-६२में कोठारी-कमीशनने, किसीने भी भारतकी प्राचीन शिक्षा-प्रणालीका अध्ययन नहीं किया, यद्यपि राधाकृष्णन् तथा कोठारीने भारतीय संस्कृतिके अनुरूप प्राचीन शिक्षा-प्रणालीपर बहुत जोर दिया था। भारत-सरकारकी 'नयी शिक्षा-नीति' बनानेवालोंको प्राचीन प्रणालीकी जानकारी भी नहीं प्रतीत होती।

सन् १९०१-२में समूचे देशमें शिक्षापर सरकारी व्यय ४,०१,२१,४६२ रुपया था। पाँच विश्वविद्यालय, १४५ आर्ट कालेज, ४६ तकनीकी विद्यालय (व्यवसायात्मक), ५०४३९ माध्यमिक विद्यालय, ९७,८५४ प्राइमरी स्कूल तथा १,०८४ स्पेशल स्कूल थे। सरकारद्वारा मान्यता-प्राप्त कुल शिक्षण-संस्थाओंकी संख्या १,०४,६२७ थी। १९२१-२२ में १,६६,१३० हो गयी तथा १६,३२२ निजी स्कूल थे। उस वर्ष कला-संकायोंमें (आर्ट-कालेज) ४५, ४१८, १३, ६६२ व्यवसायी-तकनीकी कालेजोंमें, ११,०६,८०३ माध्यमिक विद्यालयोंमें तथा ६१,०९,७५२ प्राइमरी स्कूलोंमें छात्र-संख्या थी। स्पेशल स्कूलोंमें १,२०,९२६ छात्र-छात्राएँ थीं। इस प्रकार १९०१-०२ में कुल छात्र-संख्या ३८,८६,४९३ से बढ़कर १९२१-२२ में ७३,९६,५६० हो गयी।

१९३६-३७में भारतमें १५ विश्वविद्यालय (छात्र ९,६९७), २७१ आर्ट कालेज (छात्र ८६,२७३), ७५ व्यवसायी कालेज (छात्र २०,६४५), ११,०६,८९३ माध्यमिक विद्यालय (छात्र २२,८७,८७२), १,९२,२४४ प्राइमरी स्कूल (छात्र १,०२,२४,२८८) तथा ५,६४७ स्पेशल स्कूल (२,५९,२६९ छात्र) थे। १९२०-२१ में शिक्षापर सरकारी व्यय १८,३७,५२,९६९ रुपया था तथा १९३६-३७ में २८,०५,६९,३७४ रुपया था, इसमें शुल्कसे ७,१०,५५,६९३ रुपया अर्थात् २५.३ प्रतिशत मिला था। पंद्रह वर्ष बाद भारतमें (स्वतन्त्र भारतमें) शिक्षापर कुल सरकारी व्यय १९४८-४९में ६८ करोड़ ३० लाख रुपया था। सन् १९४७-४८में १६ विश्वविद्यालय, ५४९ कला-विज्ञान-चिकित्सा तथा तकनीकी विद्यालय, ११,९५३ माध्यमिक तथा १,३४,९०७ प्राइमरी स्कूल और ९,७२४ विशेष स्कूल थे। कुल छात्र-संख्या १,३५,७३,७०४ थी, जिनमें ३० लाख २ हजार माध्यमिक तथा १ करोड़

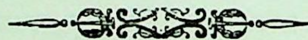
२१ लाख प्राइमरीमें, ३,४०,६०७ विशेष स्कूलोंमें तथा १,९९,५२३ कालेजोंमें छात्र थे । कुल छात्र-संख्यामें ६,८७४ गैर-मान्यता-प्राप्त संस्थाओंमें २,८५,४३८ छात्र थे ।

सरकारी वर्णनके अनुसार १९८४-८५ में ६-११ वर्षकी आयुके ८, ३६, ७७, ००० छात्र-छात्रा पाँचवीं कक्षातक यानी इस आयुकी आबादीका ९५.७३ प्रतिशत होना चाहिये । ११-१४ तक ६-८वीं कक्षातक २,७२,३६,००० अर्थात् इस आयुकी आबादीका ५३.२३ प्रतिशत होना चाहिये अर्थात् कुल छात्र-संख्या ११ करोड़ ९ लाख १४ हजार (६-१४ वर्ष) अर्थात् इस आयुका ८०.०४ प्रतिशत होना चाहिये ।

१९८२-८३में जबतकके आँकड़े प्राप्त हैं—१-५वीं कक्षातक शिक्षा प्राप्त करनेवाले ६-११ वर्षकी आयुके बच्चोंका ८७.२ प्रतिशत अर्थात् ७ करोड़ ७० लाख शिक्षा प्राप्त कर रहा था, ५-८ कक्षातक ११-१४ वर्ष (४३.२ प्रतिशत), २ करोड़ २२ लाख, १४-१७ वर्ष (२४.६ प्रतिशत), ९-१२ वीं कक्षातक १ करोड़ १८ लाख तथा केवल ४७.५ लाख १७-२३ वर्षकी आयुके छात्र (लगभग ४.९ प्रतिशत) उच्चतर (कालेज) शिक्षा प्राप्त कर रहा था । १,७३,७९७ प्राइमरी-बेसिक-मिडिल स्कूल, ५२,२७९ माध्यमिक स्कूल, १४१९ अध्यापक ट्रेनिंग कालेज, ८,०११ आर्ट-सांइस कालेज, १३७१ विश्वविद्यालय, १३,८९,३५६ प्राइमरी स्कूल अध्यापक, ८,५६,३८९ मिडिल स्कूल अध्यापक, ९,९३,११५ माध्यमिक शिक्षाके अध्यापक तथा लगभग २,५०,००० कालेज तथा विश्वविद्यालयके अध्यापक थे । ३० अप्रैल, १९८३को ४०३ केन्द्रीय विद्यालय थे, जिनमें २,७७,०१८ छात्र थे । २ करोड़ ९७ लाख लड़कियाँ ६ से ११ वर्षकी आयुकी प्राइमरी शिक्षा तथा ७५ लाख ११-१४ वर्षकी आयुकी ६-८वीं कक्षातककी शिक्षा प्राप्त कर रही थीं । शिक्षापर सरकारी व्यय केन्द्र तथा प्रदेशका मिलाकर लगभग ५ अरब रुपया है । इतना व्यय होनेपर भी अभी देशमें कुल ४६.८९ प्रतिशत पुरुष तथा २४.६२ प्रतिशत स्त्रियाँ ही पठित या शिक्षित हैं ।

महाभारतमें युधिष्ठिरने शान्तिपर्वमें भीष्मपितामहसे पूछा था कि 'विद्वान् मूर्खके साथ कैसा व्यवहार करे?' इसपर टीका करते हुए नीलकण्ठने लिखा है कि 'मूर्ख केवल वाचाल है, जो बरसाती मेढककी तरह टर्राया करता है।' आजकी शिक्षा वाचाल बनाती है । कुरल नामक काव्यके लेखक महाकवि तिरुवल्लियारने प्रथम शताब्दीमें लिखा था कि 'प्राप्त करने योग्य ज्ञानको पूरी तरहसे प्राप्त करो । जो ज्ञान प्राप्त किया, उसका अनुकरण करो। यद्यपि तुझे अपने अध्यापकके सामने झुकना पड़े, जैसे भिखारीको दाताके सामने, तथापि ज्ञान प्राप्त करनेके लिये वैसा करो । निम्न कुलमें उत्पन्न विद्वान्‌की प्रतिष्ठा उच्च कुलमें उत्पन्न मूर्खसे अधिक है ।'

आजके अध्यापक तथा छात्र देखें तथा सोचें कि वे इस उपदेशका कितना पालन करते हैं ।



उपदेशामृत

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥

(श्रीमद्भा० ५।५।१८)

जो अपने प्रिय सम्बन्धीको भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मृत्युकी फाँसीसे नहीं छुड़ा देता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है ।



भारतके प्राचीन विद्या-केन्द्र और उनकी रूप-रेखा

(डॉ० श्रीरामजी उपाध्याय, एम्० ए०, डी० फिल्०)

सुदूर प्राचीनकालसे लेकर आजतक भारतमें अध्यापन पुण्यका कार्य माना गया है। गृहस्थ ब्राह्मणके पाँच महायज्ञोंमें ब्रह्मयज्ञका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मयज्ञमें विद्यार्थियोंको शिक्षा देना प्रधान है।[1] इस यज्ञका सम्पादन करनेके लिये प्रत्येक विद्वान् गृहस्थके साथ कुछ शिष्योंका होना आवश्यक था। इन्हीं शिष्योंमें आचार्यके पुत्र भी होते थे। आचार्यका घर ही विद्यालय था। इस प्रकारके विद्यालयोंका प्रचलन वैदिककालमें विशेष रूपसे था।

प्राचीनकालमें विद्यालयोंकी स्थिति साधारणतः नगरोंसे दूर वनोंमें होती थी। कभी-कभी विद्यालयोंके आस-पास छोटे गाँव भी बस जाते थे। विद्यालय तो वैदिककालमें वहीं हो सकते थे, जहाँ आचार्यकी गौओंको चरनेके लिये घासका विस्तृत भूभाग हो, हवनकी समिधा वनके वृक्षोंसे मिल जाती हो और स्नान करनेके लिये निकट ही कोई सरोवर या सरिता हो। तत्कालीन विद्यार्थी-जीवनमें ब्रह्मचर्य और तपका सर्वाधिक महत्त्व था। ब्रह्मचर्य और तपके लिये नगर और ग्रामसे दूर रहना अधिक समीचीन है। उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा देनेवाले ऋषियोंकी आवासभूमि अरण्यको ही बताया गया है। इन्हीं ब्रह्मज्ञानियोंके समीप तत्कालीन सर्वोच्च ज्ञानके अधिकारी पहुँचते थे। अरण्यमें रहना ब्रह्मचर्यका एक पर्याय समझा जाने लगा था।[2]

महाभारतके अनुसार एक आचार्य भरद्वाजका आश्रम गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में था। इस विद्यालयमें वेद- वेदाङ्गोंके साथ अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा भी दी जाती थी। अग्निवेश्य और द्रोणाचार्यको इसी आश्रममें आग्नेयास्त्रकी शिक्षा मिली थी (आदिपर्व १२६।३४)। कई राजकुमार भी इस आश्रममें धनुर्वेदकी शिक्षा लेते थे। राजा द्रुपदने इसी आश्रममें द्रोणके साथ धनुर्वेदकी शिक्षा पायी थी। महेन्द्र पर्वतपर परशुरामके आश्रममें भी द्रोणने अध्ययन किया था। परशुरामने प्रयोग, रहस्य और उपसंहार-विधिके साथ सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा द्रोणाचार्यको दी थी।

महर्षि व्यासका आश्रम हिमालय पर्वतपर बदरी-क्षेत्रमें था। आश्रम रमणीय था। इस आश्रममें व्यास वेदाध्यापन करते थे। पर्वतपर अनेक देवर्षि रहा करते थे। इसी आश्रममें सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनि तथा पैल वेद पढ़ते थे। जिस वनमें महर्षि कण्वका आश्रम था, उसकी चारुता मनोहारिणी थी। इसमें सुखप्रद और सुगन्धित शीतल वायुका संचार होता था। वायुमें पुष्परेणु मिश्रित होती थी। ऊँचे वृक्षोंकी छाया सुखदायिनी थी। वनके वृक्षोंमें कण्टक नहीं होते थे और वे सदैव फल देते थे। सभी ऋतुओंमें वृक्षों और लताओंके कुसुमोंकी शोभा मनोहारिणी रहती थी। पथिकोंके ऊपर वृक्षोंकी अनायास पुष्पवृष्टि वायुके संचारके साथ-साथ होती रहती थी।

कण्वके आश्रममें न्याय-तत्त्व, आत्मविज्ञान, मोक्ष-शास्त्र, तर्क, व्याकरण, छन्द, निरुक्त आदि विषयोंके प्रसिद्ध आचार्य थे। लोकायतिक भी वहाँ अपना व्याख्यान देते थे। आश्रममें जो यज्ञ होते थे, उनके सभी विधानों और कर्म-कलापोंके लिये आचार्य नियत थे।

महर्षि कण्वका आश्रम मालिनी नदीके तटपर था। आश्रम रम्य था, अनेक महर्षि विभिन्न आश्रमोंमें आस-पास रहते थे। चारों ओर पुष्पित पादप थे, घास पथिकोंके लिये सुखदायिनी थी। पक्षियोंका मधुर कलरव होता रहता था। नदीके तटपर ही आश्रम ध्वजाकी भाँति उठा हुआ था। हवनकी अग्नि प्रज्वलित रहती थी, पुण्यात्मक वैदिकमन्त्रोंके पाठ हो रहे थे। तपस्वियोंसे आश्रमकी शोभा और अधिक बढ़ गयी थी।

रामायणके अनुसार प्रयागमें (प्रथम) भरद्वाजके रम्य आश्रमके समीप विविध प्रकारके वृक्ष कुसुमित थे, चारों ओर होमका धूम छाया हुआ था। यह आश्रम गङ्गा-यमुनाके

---

१. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः। (मनुस्मृति ३।७०)   २. यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव। (छान्दोग्योपनिषद् ८।५।३)

संगमके संनिकट था, दोनों नदियोंके मिलनेसे जलके घर्षणकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी । विविध प्रकारके सरस वन्य अन्न, मूल और फल वहाँ मिलते थे । मुनियोंके साथ मृग और पक्षी आश्रम-प्रदेशमें निवास करते थे । आचार्य भरद्वाज चारों ओर शिष्योंसे घिरे रहते थे । अध्ययन-अध्यापन और आवासके लिये पर्णशालाएँ बनी थीं ।

दण्डकारण्यमें महर्षि अगस्त्यका आश्रम था । आश्रमके समीप पुष्पित लताओंसे फूले-फले वृक्ष आच्छादित थे । वृक्षोंके पत्ते स्निग्ध थे । इन्हीं लक्षणोंसे ज्ञात हो सकता था कि आश्रम समीप ही है । आश्रमका वन समीपवर्ती होमके धूमसे व्याप्त था । मृगोंका समूह प्रशान्त था, अनेक पक्षियोंका कलरव हो रहा था । आश्रममें आचार्य अगस्त्य शिष्योंसे परिवृत थे ।

अगस्त्यके आश्रममें ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र, विवस्वान् (सूर्य), सोम, भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, वरुण, गायत्री, वसुगण, नागराज, गरुड, कार्तिकेय और धर्मके स्थान बने हुए थे ।

तक्षशिलाका महाविद्यालय या विश्वविद्यालय महाभारतकालसे ही सारे उत्तर भारतमें प्रख्यात था । यहींपर आचार्य धौम्यके शिष्य उपमन्यु, आरुणि और वेदने शिक्षा पायी थी । जातक-कथाओंके अनुसार तक्षशिलामें शिक्षा पानेके लिये काशी, राजगृह, पंचाल, मिथिला और उज्जयिनीसे विद्यार्थी जाते थे । गौतमबुद्धके समकालीन वैद्यराज जीवकने तक्षशिलामें सात वर्षोंतक आयुर्वेदकी शिक्षा पायी थी । आचार्य पाणिनि और कौटिल्यको भी सम्भवतः तक्षशिलामें ही शिक्षा मिली थी । सिकन्दरके समयमें तक्षशिला उच्चकोटिके दर्शनके विद्वानोंके लिये प्रसिद्ध थी । तक्षशिलामें वेदोंकी शिक्षा प्रधान रूपसे दी जाती थी, पर साथ ही प्रायः सभी विद्यार्थियोंको कुछ शिल्पोंमें विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ती थी । विद्यालयमें जिन अठारह शिल्पोंकी शिक्षा दी जाती थी, उनकी गणना इस प्रकार है—चिकित्सा (आयुर्वेद), शल्य, धनुर्वेद, युद्ध-विज्ञान, हस्तिसूत्र, ज्योतिष, व्यापार, कृषि, संगीत, नृत्यकला, चित्रकला, इन्द्रजाल, गुप्तकोशज्ञान, मृगया, अङ्ग-विद्या, पशु-पक्षीकी बोली समझना, निमित्तज्ञान, विषोपचार ।

बौद्धयुगमें नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंकी प्रचुर संख्या थी। नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका परिपालन करनेके लिये वेद और शिल्पमें निष्णात होकर विद्वान् ऋषि प्रव्रज्या लेकर हिमालयपर रहने लगते थे । महर्षियोंके साथ रहनेवाले तपस्वी शिष्योंकी संख्या कभी-कभी पाँच सौ तक जा पहुँचती थी ।

उपर्युक्त युगमें काशी भी भारतीय विद्याओंकी शिक्षाके लिये प्रसिद्ध थी । जातक-कथाओंके अनुसार बोधिसत्वके आचार्य होनेपर उनके पाँच सौ विद्यार्थी थे, जो वैदिक साहित्यका अध्ययन करते थे । बोधिसत्वके विद्यालयमें सौ राज्योंसे आये हुए क्षत्रिय और ब्राह्मणकुमार शिक्षा पाते थे, काशीके समीप परवर्ती कालमें सारनाथमें बौद्ध-दर्शनका महान् विद्यालय प्रतिष्ठित हुआ । इसमें एक हजार पाँच सौ बौद्ध भिक्षु शिक्षा पाते थे ।

गुप्तकालीन विद्यालयोंकी रूप-रेखाकी कल्पना कालिदासकी रचनाओंसे की जा सकती है । कालिदासके अनुसार वसिष्ठका आश्रम हिमालयपर था । निकटवर्ती वनोंमें तपस्वियोंके लिये समिधा, वृक्ष और फल मिलते थे । पर्णशालाओंके द्वारपर नीवारके भाग पानेके लिये मृग खड़े रहते थे । आश्रमके चारों ओर उपवन लगाये गये थे । उपवनके नववृक्षोंके थालोंमें मुनिकन्याएँ जल डालती थीं । पर्णशालाओंके आँगन विस्तृत होते थे, आँगनमें नीवार सूखनेके लिये फैलाया जाता था । धूप चले जानेके पश्चात् नीवारके एकत्र कर लिये जानेपर आँगनमें बैठकर मृग रोमन्थ किया करते थे । आश्रममें अग्निहोत्रका सुगन्धित धूम बहुत ऊँचाईतक उठता था । आश्रममें सोनेके लिये कुशशयन प्रयुक्त होता था । कालिदासकी कल्पनाके अनुसार वरतन्तुके आश्रममें जो वृक्ष लगाये गये थे, उन्हें पुत्रकी भाँति मानकर प्रयत्नपूर्वक बढ़ाया जाता था । श्रान्त पथिक इन्हींके नीचे बैठकर अपनी थकावट मिटाते थे । स्नानके लिये आश्रमसे सम्बद्ध जलाशय होते थे । इस आश्रममें चौदह विद्याएँ पढ़ायी जाती थीं ।

सातवीं शतीकी रचनाओंसे भी विद्यालयोंकी रूप-रेखा प्रायः ऊपर-जैसी ही मिलती है । बाणने कादम्बरीमें महर्षि जाबालिके आश्रमका वर्णन किया है । विद्यालयमें

वटुसमूहके अध्ययनसे सारा आश्रम गूँज रहा था । इस आश्रममें सदा पुष्पित और फलवान् वृक्षों और लताओंकी रमणीयता मनोहारिणी थी । ताल, तमाल, हिन्ताल, बकुल, नारिकेल, सहकार आदिके वृक्ष, एला, पूगी आदिकी लताएँ, लोध, लवली, लवंग आदिके पल्लव, आम्रमञ्जरी तथा केतकीका पराग, निर्भय मृग, मुनियोंके साथ समिधा, कुश, कुसुम, मिट्टी आदि लिये हुए मुखर शिष्य, मयूर, दीर्घिकाएँ, पर्णशालाओंके आँगनमें सूखता हुआ श्यामाक, आमलक, लवली, कर्कन्धू, कदली, लकुच, पनस, आम और तालके फलोंकी राशि आदि इस विद्यालयके प्राकृतिक सौन्दर्यको बढ़ा रहे थे । आश्रममें ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी पूजा होती थी, यज्ञविद्यापर व्याख्यान होते थे, धर्मशास्त्रकी आलोचना होती थी, पुस्तकें पढ़ी जाती थीं, सभी शास्त्रोंके अर्थका विचार होता था । कुछ मुनि योगाभ्यास करते थे, समाधि लगाते थे और मन्त्रोंकी साधना करते थे । आश्रममें पर्णशालाएँ बनी हुई थीं, सारा आश्रम अतिशय पवित्र और रमणीय था । बाणके शब्दोंमें वह दूसरा ब्रह्मलोक ही था ।

प्राचीन विद्यालयोंकी जो रूप-रेखा ऊपर प्रस्तुत की गयी है, उससे ज्ञात होता है कि सदा ही विद्याओंके सर्वोच्च केन्द्र महर्षियोंके आश्रम थे । इन आश्रमोंमें सबसे अधिक महिमा तपोमय जीवन बितानेवाले आचार्यके व्यक्तित्वकी थी । आश्रमोंमें वैदिक साहित्य, दर्शन और याज्ञिक विधानोंकी शिक्षा प्रमुखरूपसे दी जाती थी । आश्रमोंसे जो आध्यात्मिक ज्योति दिग्दिगन्तमें परिव्याप्त होती थी, उससे कृतज्ञ होकर सारा राष्ट्र उसके प्रति नतमस्तक था । आश्रमोंकी तीर्थरूपमें प्रतिष्ठा रामायण और महाभारतकालसे हुई । उसी समयसे आश्रमों और तीर्थोंके लिये 'आयतन' और 'पुण्यायतन' शब्दोंका प्रयोग मिलता है । आयतन और पुण्यायतन 'पवित्र करनेकी शक्ति रखनेवाले स्थान' के अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं ।

ऋषियों और आचार्योंके आश्रमोंकी पुण्यदायिनी शक्तिसे रामायण और महाभारत-कालसे ही लोग प्रभावित रहे हैं । आश्रमोंमें यज्ञ होते थे और वहाँ देवताओंकी प्रतिष्ठा की गयी थी । पौराणिक युगमें जब यज्ञोंका स्थान बहुत-कुछ देवपूजाने ले लिया, तब देवप्रतिष्ठाकी प्रधानता सर्वमान्य हुई और पूर्वयुगके पुण्यायतन ही आगे चलकर मन्दिररूपमें प्रतिष्ठित हुए । आचार्योंके विद्यालय आश्रमके स्थानपर मन्दिर बन गये । उन मन्दिरोंकी रूप-रेखा और वातावरण आधुनिक मन्दिरोंसे भिन्न थे । उन्हें यदि विद्या-मन्दिर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी । मन्दिरोंमें पूर्ववर्ती आश्रम-जीवनका आदर्श ही प्रतिष्ठित हुआ था । मन्दिर पौराणिक युगमें धर्मसम्बन्धी अभ्युदयके प्रमुख प्रतीक रहे हैं । यहींसे धार्मिक भावनाओंकी सरिताका सर्वत्र प्रवाह होता था । इस युगमें भारतीय धर्मके उन्नायक मन्दिरोंमें प्रतिष्ठित हुए । मन्दिरोंमें अध्यापन करना पुण्यावह माना गया ।

स्कन्दपुराणके अनुसार सरस्वतीके मन्दिरमें विद्यादान करना पुण्यका काम माना गया । ऐसे मन्दिरोंमें धर्मशास्त्रकी पुस्तकोंका दान किया जाता था । मन्दिरोंको प्राचीन युगके महर्षियों और तपस्वियोंका स्मारक कहा जा सकता है ।

मन्दिरोंमें शिक्षाके ऐतिहासिक उल्लेख दसवीं शतीसे मिलते हैं । बम्बई प्रान्तके बीजापुर जिलेमें सलोत्गीके मन्दिरमें त्रयीपुरुषकी मूर्तिकी स्थापना राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीयके मन्त्री नारायणके द्वारा की गयी थी । इसके प्रधान कक्षमें, जो ९४५ ई०में बनवाया गया था, विद्यालयकी प्रतिष्ठा की गयी थी । इस विद्यालयमें अनेक जनपदोंसे विद्यार्थी आते थे और उनके रहनेके लिये सत्ताईस छात्रालय बने हुए थे । इस विद्यालयमें लगभग पाँच सौ विद्यार्थी रहे होंगे । विद्यालयको सार्वजनिक सहयोगसे तथा विशेष उत्सवोंके अवसरपर दान प्राप्त हुआ करता था ।

एन्नारियमके वैदिक विद्यालयकी प्रतिष्ठा ११वीं शतीके आरम्भिक भागमें हुई थी । यह दक्षिणी अर्काट प्रदेशमें था । इसमें तीन सौ चालीस विद्यार्थियोंके अध्यापनकी व्यवस्था की गयी थी, जिनमेंसे ७५ ऋग्वेद, ७५ कृष्णयजुर्वेद, ४० सामवेद, २० शुक्लयजुर्वेद, १० अथर्ववेद, १० बौधायन धर्मसूत्र, ४० रूपावतार, २५ व्याकरण, ३५ प्रभाकर मीमांसा और १० वेदान्त पढ़ते थे । इसमें सोलह अध्यापक थे । इस विद्यालयको आसपासकी ग्रामीण जनता चलाती थी ।

चिंगलीपुट जिलेमें तिरुमुक्कुदलके विद्यालयकी स्थापना ११वीं शतीमें वेंकटेश्वरके मन्दिरमें हुई थी । इस विद्यालयमें साठ विद्यार्थियोंके रहने और भोजनका प्रबन्ध किया गया था, जिनमेंसे १० ऋग्वेद, १० यजुर्वेद, २० व्याकरण, १० पञ्चरात्रदर्शन, ३ शैवागमके विद्यार्थी तथा ७ वानप्रस्थ और संन्यासी थे ।

तिरुवोर्रियुर और मल्कापुरम्में उपर्युक्त कोटिके अन्य विद्यामन्दिर थे । इनकी स्थापना १४वीं शतीमें हुई थी । तिरुवोर्रियुरके विद्यामन्दिरमें व्याकरणकी ऊँची शिक्षाका विशेष प्रबन्ध किया गया था । इसमें लगभग पाँच सौ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे । मल्कापुरम्के विद्यामन्दिरमें आठ अध्यापक थे । वे वैदिक साहित्य और व्याकरण, साहित्य, तर्कशास्त्र तथा आगमकी शिक्षा देते थे ।

११वीं शतीमें हैदराबाद राज्यके नगई नगरमें जो विद्यामन्दिर था, उसमें वेद पढ़नेवाले २००, स्मृति पढ़नेवाले २००, पुराण पढ़नेवाले १०० तथा दर्शन पढ़नेवाले ५२ विद्यार्थी थे । विद्यामन्दिरके पुस्तकालयमें छः अध्यक्ष थे । १०७५ ई०में बीजापुरके एक मन्दिरमें योगेश्वर नामक आचार्य मीमांसा-दर्शनकी उच्च शिक्षा देते थे । ऐसे ही अनेक विद्यामन्दिर १०वीं शतीसे लेकर १४वीं शतीतक बीजापुर जिलेमें मनगोली, कर्नाटक जिलेमें बेलगमवे, शिमोग जिलेमें तालगुण्ड, तंजोर जिलेमें पुन्नवयिल आदि स्थानोंमें थे ।

विद्वान् ब्राह्मणोंका भरण-पोषण करनेका उत्तरदायित्व प्रायः राजाओंपर रहा है । ऐसे ब्राह्मणोंके उपभोगके लिये राजा या धनी लोगोंकी ओरसे जो क्षेत्र या अन्न दानरूपमें दे दिया जाता था, उसे 'अग्रहार' कहा जाता था । गुरुकुलोंसे लौटे हुए स्नातकोंको इस प्रकारके अग्रहार प्रायः मिल जाते थे । ऐसे अग्रहारोंका उपभोग करनेवाले ब्राह्मण स्वाध्याय और अध्यापनमें अपना समय निश्चिन्त होकर लगा सकते थे । इस प्रकार अग्रहारोंमें विद्यालयकी प्रतिष्ठा होते देर नहीं लगती थी । अग्रहारोंकी कोटिकी अन्य संस्थाएँ 'घटिका' और 'ब्रह्मपुरी' रही हैं । इस प्रकारकी संस्थाओंकी संख्या दक्षिण-भारतमें बहुत अधिक थी ।

अग्रहार-संस्थाका आरम्भ द्वापर युगके बाद हुआ । उस समयतक देशमें जनसंख्या इतनी बढ़ गयी कि आचार्योंको अपने भरण-पोषण तथा विद्यालय चलानेके लिये राजकीय सहायताकी आवश्यकता विशेषरूपसे हो गयी । इसके पहले तो किसी भी व्यक्तिके लिये वनके किसी भूभागको आश्रमरूपमें परिणत कर लेना सरल था । अग्रहार-संस्था इस बातको सूचित करती है कि तत्कालीन आचार्योंमेंसे कुछ लोग प्राचीन प्रतिष्ठित तपोमय जीवनकी कठिनाइयोंको अपनानेके लिये तैयार नहीं थे और उन्होंने अपने विद्याभ्यासके लिये वनके स्थानपर नगर या गाँवोंको चुना ।

अग्रहारोंकी रूप-रेखाका परिचय उनके नीचे लिखे विवरणसे ज्ञात हो सकता है । राष्ट्रकूट राजवंशकी ओरसे १०वीं शतीमें कर्नाटकके धारवाड़ जिलेमें कटिपुर अग्रहार दो सौ ब्राह्मणोंके लिये दिया गया था । इसमें वैदिक साहित्य, काव्यशास्त्र, व्याकरण, तर्क, पुराण तथा राजनीतिकी शिक्षा दी जाती थी । विद्यार्थियोंके निःशुल्क भोजनका प्रबन्ध अग्रहारकी आयसे होता था । सर्वज्ञपुर अग्रहार मैसूरके हस्सन जिलेमें प्रतिष्ठित था । इस अग्रहारके प्रायः सभी ब्राह्मण सर्वज्ञ ही थे और वे अध्ययन-अध्यापन तथा धार्मिक कृत्योंमें तल्लीन रहते थे । मैसूर राज्यमें वनवासीकी राजधानी बेलगाँवसे सम्बद्ध तीन पुर, पाँच मठ, सात ब्रह्मपुरी, बीसों अग्रहार, मन्दिर और जैन एवं बौद्ध बिहार थे । यहाँपर वेद, वेदाङ्ग, सर्वदर्शन, स्मृति, पुराण, काव्य आदिकी शिक्षा दी जाती थी ।

अग्रहारकी भाँति 'टोल' नामक शिक्षण-संस्थाका प्रचलन उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगालमें रहा है । यह संस्था नागरिकोंकी आर्थिक सहायता और भूदानसे चलती थी । टोल गाँवोंसे सम्बद्ध होते थे । गाँवोंके पण्डित आस-पासके विद्यार्थियोंके लिये भोजन और वस्त्रका प्रबन्ध करते थे और साथ ही विद्यादान देते थे । विद्यार्थियोंके लिये छात्रावास विद्यालयके समीप चारों ओर बने होते थे । टोलोंका अस्तित्व छोटी पाठशालाओंके रूपमें बहुत प्राचीनकालसे रहा है ।

गौतमबुद्धके समयसे ही बौद्धदर्शन और धर्मके अध्ययन तथा अध्यापनके लिये भारतके प्रत्येक भागमें

असंख्य विहार बने। विहारोंमें बौद्धदर्शन और धर्मके अतिरिक्त अन्य मतावलम्बियोंके दर्शन तथा धर्मके शिक्षणका प्रबन्ध किया गया था और साथ ही लौकिक उपयोगिताके विषय भी इनमें पढ़ाये जाते थे। ह्वेनसांगके लेखानुसार भारतमें ७वीं शतीमें लगभग पाँच हजार विहार थे और इनमें सब मिलाकर दो लाख भिक्षु शिक्षा पाते थे।

विहारोंमें भिक्षु आजीवन रहते थे और वे अध्ययन-अध्यापन तथा चिन्तन एवं समाधिमें अपना सारा समय लगा देते थे। नालन्दा, वलभी तथा विक्रमशिलाके बौद्ध विश्वविद्यालय सारे एशिया महाद्वीपमें अपनी उच्च शिक्षाके लिये प्रख्यात थे।

शिक्षाके भारतीय मनोवैज्ञानिक आधार

(श्रीलज्जारामजी तोमर)

शिक्षाके क्षेत्रमें भारतीय विचारधारा और संस्कृतिकी विषयवस्तुको सम्मिलित कर देने मात्रसे कोई शिक्षा भारतीय नहीं बन जाती। हमें भारतकी उन मनोवैज्ञानिक पद्धतियोंकी खोज करनी होगी, जो मनुष्यकी उन नैसर्गिक शक्तियों एवं उपकरणोंको सजीव बना देती हैं, जिनके द्वारा वह ज्ञानको आत्मसात् करता है, नवीन सृष्टि करता है तथा मेधा, पौरुष और ऋतम्भरा प्रज्ञाका विकास करता है। उस विपुल बौद्धिकता, आध्यात्मिकता और अतिमानवीय नैतिक शक्तिका रहस्य क्या था, जिसे हम वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, प्राचीन दर्शनशास्त्रोंमें, भारतके सर्वोत्कृष्ट काव्य, कला, शिल्प और स्थापत्यमें स्पन्दित होते हुए देखते हैं? हमें भारतके आदर्शों और उन पद्धतियोंको अधिक प्रभावशाली और आधुनिकतम परिवेशके अनुरूप जीवित करना होगा, जिनके आधारपर विकसित शिक्षा ही भारतीय शिक्षा होगी। प्रस्तुत लेखमें शिक्षाके उन्हीं भारतीय मनोवैज्ञानिक आधारोंकी संक्षेपमें चर्चा की जा रही है।

मनुष्यकी आध्यात्मिक मूल प्रकृति

भारतीय मनोवैज्ञानिकके अनुसार मनुष्यकी मूल प्रकृति आध्यात्मिक है। प्रायः मनुष्य अपनी इस आध्यात्मिक प्रकृतिकी ओर सचेतन नहीं रहता। आत्मा सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है। इसी कारण मनुष्यको गहरे आध्यात्मिक स्तरपर परम सत्यकी जिज्ञासा है, जिससे प्रेरित होकर मानव वैज्ञानिक अनुसंधान करता है और सत्यकी अनवरत खोजमें संलग्न है। ज्ञानरूपतामें वह अपनी पूर्णताके दर्शन करना चाहता है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतः सुखकी खोज मनुष्यकी सहज प्रवृत्ति है।

श्रीअरविन्दके अनुसार 'मानवकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें एक ऐसी चेतना विद्यमान है, जिसमें वह अपने सीमित भौतिक अस्तित्वसे ऊपर उठ सकता है। यही विशेषता मनुष्यको पशुसे भिन्न ठहराती है। दूसरे शब्दोंमें, मनुष्यमें एक ऐसा आध्यात्मिक तत्त्व विद्यमान है, जो उसके भौतिक, प्राणिक और मानसिक पहलुओंसे ऊँचा है। यही कारण-शरीर है, जो समस्त ज्ञान और आनन्दका वाहक है। यही मनुष्यके भावी विकासका माध्यम है।'

मनुष्यकी इस आध्यात्मिक प्रकृतिके कारण ही उसने कला, संस्कृति, सदाचार और धर्मके रूपमें अपनेको अभिव्यक्त किया है। मनुष्य इस आध्यात्मिक प्रकृतिके कारण अन्य जीवोंसे भिन्न ही नहीं है, अपितु उसमें वह शक्ति भी है जिससे वह अपने वातावरणको बदल सकता है। अन्य जीवोंको विवश होकर भौतिक वातावरणको स्वीकार करके उसीमें पड़ा रहना पड़ता है। या तो वे अपनेको उसके अनुकूल बना लें या समाप्त हो जायँ। मनुष्यकी यह आध्यात्मिक प्रकृति उसपर ऊपरसे लादी हुई नहीं है, वह तो उसके अस्तित्वका मूल तत्त्व है।

इसीलिये जीवशास्त्रियोंने मनुष्यको जो उच्चतम जीव कहा है, वह अपर्याप्त है । वास्तवमें मनुष्य आध्यात्मिक जीव है ।

आधुनिक शिक्षामें मानवकी इस आध्यात्मिक प्रकृतिकी घोर उपेक्षा की जा रही है । परिणामतः विकासकी असीम सम्भावनाओंसे वह पूर्णतः वञ्चित है तथा जीवनके उच्चस्तरीय आयामोंमें प्रवेश नहीं कर पा रहा है । अतः भारतीय मनोविज्ञानके इस महत्त्वपूर्ण तत्त्वको शिक्षाका आधार बनानेकी आवश्यकता है ।

मनुष्यके अन्तरमें समस्त ज्ञान

समस्त ज्ञान मनुष्यके अन्तरमें स्थित है । भारतीय मनोविज्ञानके अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप है । ज्ञान आत्माका प्रकाश है । मनुष्यको बाहरसे ज्ञान प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत आत्माके अनावरणसे ही ज्ञानका प्रकटीकरण होता है । श्रीअरविन्दके शब्दोंमें—'मस्तिष्कको ऐसा कुछ भी नहीं सिखाया जा सकता जो जीवकी आत्मामें सुप्त ज्ञानके रूपमें पहलेसे ही गुप्त न हो ।' स्वामी विवेकानन्दने भी इसी बातको इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—'मनुष्यकी अन्तर्निहित पूर्णताको अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है । ज्ञान मनुष्यमें स्वभाव-सिद्ध है । कोई भी ज्ञान बाहरसे नहीं आता, सब अंदर ही है । हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, यथार्थमें मानवशास्त्र-संगत भाषामें हमें कहना चाहिये कि वह आविष्कार करता है, अनावृत या प्रकट करता है । अतः समस्त ज्ञान, चाहे वह भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक, मनुष्यके आत्मामें है । बहुधा वह प्रकाशित न होकर ढका रहता है और जब आवरण धीरे-धीरे हट जाता है तब हम कहते हैं कि 'हम सीख रहे हैं' । जैसे-जैसे इस अनावरणकी क्रिया बढ़ती जाती है, हमारे ज्ञानकी वृद्धि होती जाती है ।'

जिस मनुष्यपरसे यह आवरण उठता जाता है, वह अन्य व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक ज्ञानी है और जिसपर यह आवरण तहपर पड़ा रहता है, वह अज्ञानी है । जिसपरसे यह आवरण पूरा हट जाता है, वह सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी हो जाता है । चकमकके टुकड़ेमें अग्निके समान ज्ञान छिपा हुआ है । सुझाव या उद्दीपक कारण ही वह घर्षण है, जो उस ज्ञानाग्निको प्रकाशित कर देता है ।

इस प्रकार शिक्षाका लक्ष्य नये सिरेसे कुछ निर्माण करना नहीं, अपितु मनुष्यमें पहलेसे ही सुप्त शक्तियोंका अनावरण और उसका विकास करना है ।

अन्तःकरणचतुष्टय

ज्ञान-प्रक्रियाको समझनेके लिये अन्तःकरणके स्वरूप और उसकी प्रकृतिको समझना आवश्यक है । वेदान्त-परिभाषामें अन्तःकरणकी वृत्तिके चार प्रकार एवं उनके कार्य इस प्रकार बतलाये गये हैं—

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमन्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे॥

(१।१७।१)

'अन्तःकरणकी वृत्तिके चार रूप हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त । मनसे वितर्क और संशय होता है । बुद्धि निश्चय करती है । अहंकारसे गर्व अर्थात् अहंभावकी अभिव्यक्ति होती है । चित्तमें स्मरण होता है ।' अन्तःकरणको मन भी कहा गया है तथा योगदर्शनमें चित्त-संज्ञा दी गयी है । अन्तःकरण जड तत्त्व है । आत्माके प्रकाशसे ही अन्तःकरणद्वारा ज्ञान-प्रक्रिया सम्पन्न होती है ।

ज्ञानप्रक्रिया

आत्माके प्रकाशसे अन्तःकरण चतुर्विध ज्ञानको प्राप्त करता है । प्रत्यक्षादि ज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तियोंके रूपमें प्रकाशित होते हैं और एकाग्रता आदि उपायोंसे इनकी अवस्थितिका पूर्णबोध सम्पन्न होता है । ज्ञेय वस्तुके साथ तादात्म्यसे जो ज्ञान प्राप्त होता है वही एकमात्र सच्चा और सीधा ज्ञान होता है, शेष सब ज्ञान आनुमानिक होता है ।

एकाग्रता

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये केवल एक ही मार्ग है और वह है 'एकाग्रता' । मनकी एकाग्रता ही सम्पूर्ण शिक्षाका सार है । एकाग्रताकी शक्ति जितनी अधिक होगी, ज्ञानकी प्राप्ति उतनी ही अधिक होगी । एक ही विषयपर ध्यान देनेका नाम है 'एकाग्रता' । मनमें सदैव संकल्प-विकल्प पानीकी लहरोंके समान होते रहते हैं । मन या चित्त अति चञ्चल होता है । निरन्तर बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त होता

रहता है। ऐसा चित्त अशान्त और अस्थिर बना रहता है। चित्तकी इस बिखरी हुई शक्तिसे कोई कार्य सम्पादित नहीं होता। प्राचीन भारतीय दार्शनिकोंने चित्तवृत्ति-निरोधको शिक्षाका लक्ष्य माना। वास्तवमें चित्त ही शिक्षाका वाहन है। राजयोगमें धारणा, ध्यान और समाधि एकाग्रताके ही क्रमिक स्तर हैं। समाधि पूर्ण एकाग्रताकी स्थिति है, जहाँ ज्ञानस्वरूप आत्माका दर्शन होकर विषयका यथार्थ ज्ञान होता है।

एकाग्रावस्थामें चित्त विशुद्ध सत्त्वरूप होता है। इस अवस्थामें चित्त एक ही विषयमें लीन रहता है। निरुद्धावस्थामें चित्तकी समस्त वृत्तियोंका निरोध हो जाता है। यह ज्ञानकी पराकाष्ठाकी अवस्था है। इस अवस्थामें ज्ञानके लिये किसी आलम्बनकी आवश्यकता नहीं होती। इस स्थितिको प्राप्त व्यक्ति सत्यका द्रष्टा बन जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान मनकी इस अवस्थासे पूर्णतः अनभिज्ञ है।

ब्रह्मचर्य

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धतिके मूलमें सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु थी 'ब्रह्मचर्यका अभ्यास'। भारतीय चिन्तनके अनुसार जीवन और प्राणका मूल स्रोत भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है; किंतु जिस आधारशिलापर जीवन-शक्ति क्रियाशील होती है, वह भौतिक है। यूरोपीय जडवादकी मूलभूत भूल यह है कि वह भौतिक आधारको ही सब कुछ मान लेता है और उसे ही शक्तिका मूल स्रोत समझता है। भारतीय चिन्तनमें कारण और आधारका स्पष्ट भेद समझा गया है। भारतीय चिन्तनमें शक्तिका कारण आत्मा और स्थूल या भौतिक तत्त्व उसका आधार माना गया है। श्रीअरविन्दके अनुसार—'भौतिक तत्त्वका आध्यात्मिक सत्तामें आकर्षण ही ब्रह्मचर्य है।' भारतीय मनोविज्ञानके अनुसार मूलभूत इकाई रेतस् है। मनुष्यके अन्तःस्थित इस रेतस्में समस्त ऊर्जा विद्यमान है। यह शक्ति या तो स्थूल भौतिक रूपमें व्यय की जा सकती है या सुरक्षित रखी जा सकती है। समस्त मनोविकार, भोगेच्छा और कामना इस शक्तिको स्थूलरूपमें या सूक्ष्मतररूपमें शरीरसे बाहर फेंककर नष्ट कर देती है। अनैतिक आचरण उसे स्थूलरूपसे बाहर फेंकता है तथा अनैतिक विचार सूक्ष्मरूपमें। अब्रह्मचर्य जैसे शारीरिक होता है, वैसे ही मानसिक और वाचिक भी। दक्ष-संहितामें अब्रह्मचर्यके आठ प्रकार बताये गये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥

स्मरण, चर्चा, क्रीडा, दर्शन, एकान्तमें स्त्रीसे बातचीत करना, भोगेच्छा, सम्भोग-निश्चय और सम्भोग-क्रिया—ये आठ प्रकारके मैथुन हैं, जिनके विपरीत आचरण करना ही ब्रह्मचर्य है।

समस्त आत्मसंयम रेतस्में निहित ऊर्जाकी रक्षा करता है और रक्षाके साथ सदा वृद्धि होती रहती है। भारतीय सिद्धान्तके अनुसार रेतस् जल-तत्त्व है, जो प्रकाश, ऊष्मा और विद्युत्से परिपूर्ण है। रेतस्का संचय सर्वप्रथम ऊष्मा या तपस्में परिवर्तित होता है, जो सारे शरीरको प्रदीप्त करता है। इसी कारण आत्मसंयमके सभी रूप तपस् या तपस्या कहलाते हैं। यह तपस् (ऊष्मा) ही समस्त शक्तिशाली कर्म और सिद्धिका मूल स्रोत है। यह रेतस् जलसे तपस्में, तेजस्में और विद्युत्में तथा विद्युत्से ओजमें परिष्कृत होकर शरीरको शारीरिक बल, ऊर्जा और मस्तिष्कको शक्तिसे भर देता है। वह ओजस् ही ऊर्ध्व-गामी होकर मस्तिष्कको उस मूल ऊर्जासे अनुप्राणित कर देता है, जो भौतिक तत्त्वका सबसे परिष्कृत रूप है और जो आत्माके सबसे अधिक निकट है। उस ओजस्का ही नाम 'वीर्य' अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान और आध्यात्मिक शक्तिको प्राप्त करता है।

भारतीय शिक्षाका मूल आधार ब्रह्मचर्य-पालन है जो प्रत्येक विद्यार्थीके लिये अपरिहार्य है। प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धतिके अनुसार विद्याध्ययनकाल ही ब्रह्मचर्य-आश्रम कहलाता था। स्वामी विवेकानन्दजीने भी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक बताया है। उन्हींके शब्दोंमें—'पूर्ण ब्रह्मचर्यसे प्रबल बौद्धिक और

आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है । वासनाओंको वशमें कर लेनेसे उत्कृष्ट फल प्राप्त होते हैं । काम-शक्तिको आध्यात्मिक शक्तिमें परिणत कर लो । यह शक्ति जितनी प्रबल होगी उससे उतना ही अधिक कार्य कर सकोगे । ब्रह्मचारीके मस्तिष्कमें प्रबल कार्यशक्ति और अमोघ इच्छाशक्ति रहती है । पवित्र्यके बिना आध्यात्मिक शक्ति नहीं आ सकती ।'

ज्ञान बौद्धिक प्रक्रिया है । राग, द्वेष, काम, क्रोध, अहंकार आदि मनके विकारोंसे बुद्धि आच्छादित हो जाती है, अर्थात् ज्ञान-शक्तिका नाश हो जाता है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमे आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है और अविवेकसे स्मरण-शक्तिका नाश हो जाता है । स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञान-शक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश होनेसे वह पुरुष अपने श्रेय-साधनसे गिर जाता है ।'

ज्ञानकी प्रक्रियाकी सफलता-हेतु मनको इन विकारोंसे बचाये रखना परम आवश्यक है । इसीलिये प्राचीन भारतीय शिक्षामें ब्रह्मचर्यका पालन महत्त्वपूर्ण था । ब्रह्मचर्य कोई प्राचीन रूढ़ि नहीं है । यह संयम और साधनाका सनातन मन्त्र है । संयम और साधनाकी पीठिकापर ही ज्ञानकी साधना सम्भव होती है । ये सब अध्यात्मकी अभिव्यक्तिके रूप हैं । शिक्षा, विद्या, साहित्य, विज्ञान, कला आदि क्षेत्रोंमें जिन महान् पुरुषोंने कुछ श्रेष्ठ उपलब्धियाँ की हैं, उन्हें यह सफलता इसी साधनाके आधारपर मिली है ।

कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों एवं चिकित्सकोंका यह कथन है कि कामप्रवृत्तिके दमनसे अनेक रोगोंकी उत्पत्ति होती है । इनके अनुसार ब्रह्मचर्य शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्यके लिये घातक है; किंतु कुछ विद्वानोंका मत इसके विपरीत है । सत्य तो यह है कि मनपर नियन्त्रण न होनेसे शरीर तथा इन्द्रियोंके व्यवहारको ही केवल नियन्त्रित करनेसे हानि पहुँचनेकी सम्भावना है ।

ब्रह्मचर्यका ढोंग और ब्रह्मचर्य दोनोंमें बहुत भेद है । गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि 'जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंका मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है ।'—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

अतः ब्रह्मचर्य-पालनके लिये मनका नियन्त्रण आवश्यक है । वास्तवमें ब्रह्मचर्य-पालन शारीरिककी अपेक्षा मानसिक अधिक है । इन्द्रियोंपर पूर्ण नियन्त्रण, सात्त्विक विचार और सात्त्विक आहार ब्रह्मचर्य-पालनके अनिवार्य अङ्ग हैं । संयमसे ही ब्रह्मचर्य-पालन सम्भव है । इस प्रकार ब्रह्मचर्यसे जीवनमें अदम्य उत्साह, शारीरिक बल, बौद्धिक शक्ति उत्पन्न होती है, जो ज्ञान-प्राप्तिके लिये आवश्यक है । भौतिकतापर आधारित पाश्चात्त्य मनोविज्ञानमें तो ब्रह्मचर्यकी संकल्पना ही नहीं है । भारतीय मनोविज्ञानके अनुसार ज्ञानार्जन एवं बालकके व्यक्तित्वका विकास ब्रह्मचर्य-पालनके बिना आकाश-कुसुमके समान है ।

अतः आधुनिक शिक्षा-जगत्के लिये यह विचारणीय विषय है । आज ब्रह्मचर्यके अभावके कारण हमारे देशकी तरुणाई निस्तेज है और दिव्य शक्ति नष्टप्राय हो रही है । क्षात्रतेज एवं ब्रह्मतेजसे ओतप्रोत भारतकी युवाशक्ति जब जाग्रत् होगी, तभी तेजस्वी भारतका निर्माण होगा, जो विश्वका आध्यात्मिक दिशा-निर्देशन करनेमें समर्थ होगा ।

संस्कार-सिद्धान्त

भारतीय ऋषियोंने मानवके अवचेतन मनके क्षेत्रका ज्ञान अति प्राचीनकालमें प्राप्त कर लिया था, जिसका पूर्ण ज्ञान पाश्चात्त्य मनोविज्ञानको अभीतक प्राप्त नहीं है । अवचेतन-मनोविज्ञानके द्वारा किये गये अन्वेषणोंके बहुत पहले ऋषियोंको यह ज्ञान प्राप्त हो गया था कि मनुष्यकी समस्त क्रियाओं, विचारों तथा उद्वेगों आदिका कारण

उसकी अवचेतन-अवस्थाएँ हैं। भारतीय मनोविज्ञानके अनुसार इस अवचेतनको बनानेवाले घटक 'संस्कार' हैं, जिन्हें अवचेतन मनोविज्ञान ससेचन, कामप्रसुप्ति, अवशेष आदि बातोंसे जानता है। भारतीय मनोविज्ञानमें इन संस्कारोंका आधुनिक मनोविज्ञानके समान केवल ज्ञानके लिये अन्वेषण नहीं किया गया; अपितु उनके ऊपर पूर्णरूपसे नियन्त्रण स्थापित करनेकी प्रक्रियाका भी ज्ञान प्राप्त किया गया है।

भारतीय मनोविज्ञानके अनुसार संस्कार-सिद्धान्त शिक्षाका मूलाधार है। संस्कारोंके आधारपर ही शिक्षाके द्वारा बालकका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है। अधिगमकी सम्पूर्ण क्रिया इस संस्कार-सिद्धान्तपर ही आधारित है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंने चूहों और कुत्तोंपर प्रयोग करके अधिगमके विभिन्न सिद्धान्त निर्धारित किये हैं। भारतीय मनोविज्ञानमें अधिगमके समस्त सिद्धान्त इन संस्कार-सिद्धान्तोंके आधारपर सहस्रों वर्षपूर्व सफलतापूर्वक प्रयुक्त किये जा चुके हैं।

वास्तवमें शिक्षा संस्कार-प्रक्रिया है। आधुनिक शिक्षा-प्रणालीमें संस्कार-सिद्धान्तकी घोर उपेक्षा की जा रही है। परिणामतः शिक्षा निष्फल हो रही है। अतः शिक्षाका आधार संस्कार-सिद्धान्तको बनानेकी आवश्यकता है। ज्ञानके उपार्जन और बुद्धिके विकासमें ही नहीं, बालकोंके नैतिक चरित्र एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्वके निर्माणमें भी संस्कारोंका बहुत महत्त्व होता है। हिंदू-समाजमें सोलह संस्कारोंकी परम्परा मानव-प्रकृतिके सांस्कृतिक उन्नयनकी प्रक्रिया ही थी। समाजमें यह संस्कार-परम्परा भी अब ढीली पड़ती जा रही है। उधर संस्कारोंसे शून्य शिक्षा नयी पीढ़ियोंको मन-हीन बना रही है। अतः आज गम्भीर चिन्तन करनेकी एवं वर्तमान स्थितिमें सुधार लाने-हेतु उपाय करनेकी आवश्यकता है। समाज और शिक्षालयोंमें नैतिक और सांस्कृतिक संस्कारोंका वैभव बढ़नेपर ही स्वतन्त्र भारत एक गौरवशाली राष्ट्र बन सकता है।

योग-विज्ञान

योग-विज्ञानका इतिहास अति प्राचीन है। वैदिक ऋषियोंने ब्रह्मविद्याके साथ ही योगविद्याका आविष्कार किया। कुछ विद्वानोंकी मान्यता है कि वैदिक मन्त्रोंकी रचना योगाभ्यासकी उच्चतम भूमिकाओंका ही परिणाम है, जिसे पतञ्जलिने ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा है। मानवका मन जब ब्रह्मरूप ऋतसे संयुक्त हो जाता है, तब ऋतम्भरा प्रज्ञाकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उसी ऋतम्भरा प्रज्ञाकी स्थितिमें विश्वके जिन सत्योंका दर्शन होता है, वे ही वैदिक मन्त्रोंमें प्रकट हुए हैं। योगकी उच्चतम भूमिका समाधि-अवस्था है। उस समाधि-अवस्थामें सत्य-दर्शनकी क्षमता जिन्हें प्राप्त हुई, वे ऋषि थे। अतः ऋषियोंको मन्त्रद्रष्टा कहा गया है।

सत्य-दर्शनकी अभिलाषा मानवका सहज धर्म है, भारतीय साधनाके प्रत्येक क्षेत्रमें सत्यकी जिज्ञासा रही है। सत्य ही सर्वसाधनाओंका साध्य रहा है। अतः भारतीय साधनाके प्रत्येक क्षेत्रमें योगका सर्वोच्च स्थान है। अविद्याके प्रभावसे मानवका चित्त स्वभावतः बहिर्मुख है। इस बहिर्मुख चित्तको अन्तर्मुख करनेका प्रयत्न योगका प्राथमिक रूप है। कर्मके मार्गसे हो, चाहे ज्ञानके मार्गसे हो अथवा भक्तिमार्गसे हो या अन्य किसी उपायसे हो, चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन साध्यकी प्राप्ति-हेतु आवश्यक है। एकाग्रताकी उच्च अवस्था ही समाधि है। इस समाधि-अवस्थामें ही सत्यके दर्शन होते हैं। यही योगका परम उद्देश्य है।

योग-विज्ञान भारतीय मनोविज्ञानका व्यावहारिक रूप है। इसे शिक्षाका आधार बनाना परमावश्यक है, तभी हमारी शिक्षा सही अर्थोंमें फलदायक होगी। परमेश्वरद्वारा प्रदत्त हमारे इस भौतिक शरीरमें अपार शक्तियाँ विद्यमान हैं, परंतु वे सुप्त पड़ी हुई हैं। आधुनिक मनोविज्ञानका कथन है कि मनुष्यके मस्तिष्कका केवल दसवाँ भाग ही उपयोगमें आता है, शेष भाग सुप्त है। यह सुप्त भाग योगके अभ्यासके द्वारा ही जाग्रत् किया जा सकता है। योगाभ्यासके द्वारा मानसिक शक्तियोंका विकास होता है, यह विज्ञान-सिद्ध है।

आज हम असाधारण अशान्तिके कालमें हैं। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान जीवनके प्रति असंतुष्ट है और

परिस्थितियोंके साथ स्वयंको समायोजित कर पानेमें अक्षम दिखायी देता है। आजका व्यक्ति प्रत्येक क्षण टूटनेके चरम बिन्दुपर है। इस परिस्थितिमें उसमें पाशविक आक्रोशका विस्फोट होना स्वाभाविक है। हमारा युवा छात्र-वर्ग भी इसका अपवाद नहीं है।

हम इस समस्याकी गहराईमें पहुँचनेका प्रयास ही नहीं करते और सरलतासे इस प्रश्नको देशकी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओंसे जोड़ देते हैं। कुछ हमारी शिक्षा-पद्धतिको दोष देते हैं। शिक्षामें सुधारके प्रयास भी हुए, परंतु समस्याका समाधान बाह्य परिवेशमें परिवर्तन लानेमें खोजते हैं। परिणामतः सभी प्रयास विफल होते जा रहे हैं।

वास्तवमें आजकी यह समस्या शारीरिकके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब मनुष्यका नाड़ी-केन्द्र, जिसपर उसका व्यवहार निर्भर रहता है, विशेष उत्तेजित हो जाता है, उस समय वह अपनी विवेक-शक्तिको खो देता है। इस अवस्थामें कोई भी बौद्धिक तर्क या उपदेश उसके व्यवहारमें परिवर्तन नहीं ला सकते। हमारी प्राचीन योगविद्याकी पद्धति ही इसका एक सही समाधान है। आसन, प्राणायाम एवं ध्यानके अभ्याससे उत्तेजित नाड़ी-केन्द्र संतुलित एवं शान्त हो जाते हैं एवं विक्षिप्त अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ नियमित स्राव करती हैं। इनके अभ्याससे स्वतः गम्भीरता उत्पन्न होती है। योगसे व्यक्तिके सात्त्विक आचार-विचार बनते हैं। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षाशास्त्री इस सनातन भारतीय विद्याका अध्ययन करें एवं योगको शिक्षा-पद्धतिका आधार बनायें।

निष्कर्ष यह है कि शिक्षा ज्ञानकी साधना है। ज्ञान आत्माका प्रकाश है। मनुष्यको ज्ञान बाहरसे प्राप्त नहीं होता, अपितु आत्माके अनावरणसे ही ज्ञानका प्रकटीकरण होता है। वास्तवमें मनुष्यकी इस अन्तर्निहित ज्ञान-शक्तिको अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। इस ज्ञानकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग एकाग्रता है। चित्तकी एकाग्रता ही शिक्षाका सार है। चित्त ही शिक्षाका वाहन है। चित्तकी एकाग्र-अवस्थामें ही आत्माके प्रकाशसे विषयका यथार्थ ज्ञान होता है। भारतीय चिन्तनमें चित्तवृत्ति-निरोधको ही शिक्षाका लक्ष्य माना है। चित्तकी वृत्तियोंका निरोध ही योग है। वास्तवमें योग-साधना शिक्षाकी प्रणाली है। योग-आधारित शिक्षा ही यथार्थमें शिक्षा है।



मराठी संतोंकी शिक्षा-प्रणाली

(डॉ० श्रीभीमाशंकर देशपाण्डे, एम्०ए०, पी-एच्० डी०, एल्-एल्०बी०)

सभी वैदिक पन्थोंका उद्गम वेदोंसे है। ऋग्वेदवर्णित देवता ऋतकी अभिव्यक्ति करनेवाले तथा ऋतका संरक्षण एवं संवर्धन करनेवाले हैं। आद्य आचार्यों और मराठी संतजनों—मुकुन्दराज, ज्ञानेश्वर, नामदेव, दासोपंत, तुकाराम, एकनाथ, समर्थ रामदास आदिकी समग्र कृतियोंमें ऋतका दर्शन होता है। उनकी शिक्षा महत्त्वपूर्ण है। मराठी संतोंने ऋत-परम्पराका संरक्षण और संवर्धन किया है।

महाराष्ट्रके भागवत-धर्मका कार्य विशिष्ट दृष्टिसे ज्ञानेश्वर महाराजने किया। भागवत-धर्मका पुनरुज्जीवन और संघटन एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। ज्ञानेश्वर नाथपन्थी थे। शिवोपासक होते हुए भी इन्होंने विष्णुस्वरूप विठ्ठलकी उपासनाको महत्त्व दिया। उनके गुरु निवृत्तिनाथजीने अपनी अभङ्ग-रचनामें विठ्ठल-भक्तिका वर्णन किया है। विठ्ठलमें ही सर्वदेवताओंका रूप इन संतोंको दिखायी दिया। महाभारतमें वर्णित शिव-विष्णुका ऐक्य इन संतोंकी अभङ्ग-वाणीमें है। पंढरपुरके विठ्ठलदेव अपने मस्तकपर शिवलिङ्ग धारण किये हैं और भगवान् शंकर रात-दिन श्रीरामनामका जप करते हैं, ऐसा निवृत्तिनाथ कहते हैं। एकनाथजीकी गुरुपरम्परा जनार्दनस्वामी और भगवान् दत्तात्रेयकी है, परंतु वे पंढरपुरके विठ्ठलके विषयमें ही

शिष्योंको उपदेश करते हैं। संत जनार्दनस्वामीके इस उपदेशसे यह ज्ञात होता है कि भागवत-धर्ममें पन्थ अनेक होते हुए भी धर्म एक ही है। वह पंढरीका भागवत-धर्म है। महाराष्ट्रमें ज्ञानेश्वर महाराजद्वारा प्रवर्तित किये गये भागवत-धर्मका प्रसार नामदेवजीने किया। महाराष्ट्रके बाहर पंजाबमें भी उन्होंने विट्ठल-भक्तिका ध्वज फहराया। संस्कृत-भाषाकी अध्यात्म-विद्या ज्ञानेश्वरजीने मराठी-भाषामें सुलभ करायी। ज्ञानेश्वरके तत्त्वज्ञानको नामदेवजीने सरल और प्रिय बनाया। नामदेवजीने भक्तिभावसे 'नाम'को ही देवताकी प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी। पंढरीके धर्मकी प्रतिष्ठा बढ़ायी। हरिकथा, नामस्मरण, विठोबाकी भक्ति— भक्तोंका आचार बना, परंतु केवल भजनको भक्ति नहीं कहा जाता। ज्ञानेश्वर भक्तियोग बताते हुए कहते हैं— ***'जे जे भेटे भूत त्या त्या मानी भगवंत।'*** जो भूतमात्र मिलें उनमें भगवान्‌का रूप देखना आवश्यक है। सर्वभूतात्मभाव ही नामदेवजीकी दृष्टिसे श्रेष्ठ भक्ति है। इस भक्तिको अद्वैतका अनुपम साधन माना गया है।

अद्वैत-प्रतीतिको महाराष्ट्रके संतोंने भावगम्य-स्वरूप दिया है। संतोंके अनुभवमें विश्वको मिथ्या कहकर उपेक्षा नहीं की गयी है। निवृत्तिनाथजीद्वारा जगाये और ज्ञानेश्वरजीद्वारा बोये तथा नामदेवजीद्वारा बढ़ाये गये पंढरीके धर्मका तत्त्वज्ञान ज्ञान-भक्ति-कर्मसमुच्चयात्मक है।

मराठी भाषाके आद्य ग्रन्थकार मुकुन्दराज हैं। उनकी रचना 'विवेक-सिंधु' आचार्य शंकरके 'विवेकचूडामणि'-का भाष्य है। इसका प्रभाव उत्तरकालमें अनेक संतोंकी रचनापर है। संत एकनाथजीका कार्य महाराष्ट्रमें अग्रसर है। उन्होंने विजयनगर-साम्राज्यका पतन स्वयं देखा था। समाजके संकटकालमें उन्होंने यथायोग्य उपदेश किया। सत्य-धर्मका अज्ञान ही सर्वनाशका मूल होता है। वे परम भागवत थे। भागवत-धर्मको उन्होंने अपने आचरणसे साकार किया। परब्रह्मकी प्राप्तिके लिये योगिजन कष्ट उठाते हैं, वह सामान्य लोगोंके लिये कष्टप्रद नहीं—यह विश्वास उन्होंने जगाया। उन्होंने नरदेहका श्रेष्ठत्व इस प्रकार बताया कि 'देह नाशवान् है'— ऐसा समझकर शोक करना सार्थक नहीं है। पुण्यकार्यसे उसे जोड़ना ही जीवनको सार्थक करनेका मार्ग है। नरदेह मिलना तो बड़े सौभाग्यकी बात है। देवता भी इस नरदेहकी इच्छा करते हैं। देहके लाभसे ही परमेश्वरकी प्राप्ति होती है। देहको बुरा समझकर त्याग करनेसे मोक्ष-सुखसे वञ्चित होना पड़ता है। सुन्दर समझकर इसे अपनाते रहें तो नरककी साधना होती है। नरदेह पुरुषोत्तमका गृहस्थाश्रम है। जीवन सार्थक बनानेके लिये परमार्थ करना चाहिये, परंतु इसके लिये प्रपञ्च छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। प्रपञ्च और परमार्थ—ये परस्परविरोधी नहीं हैं। प्रपञ्च और परमार्थका यथार्थ ज्ञान होनेसे प्रपञ्च ही परमार्थ-रूप धारण कर लेता है।'

नाथजी अपनी दस वर्षकी आयुमें ही आत्मोद्धारकी लालसासे गुरुके पास दौलताबाद दुर्ग गये। उनके गुरु जनार्दनस्वामी देशपाण्डे दुर्गके सरदार थे। वे उनकी दीर्घकालतक मनोभावसे सेवा करते रहे। उन्होंने उन्हें भगवान् दत्तात्रेयका अनुग्रह-बोध कराया। एक समय नाथजी रातभर हिसाब जोड़ते रहे। जब उन्हें रातभर बैठनेके बाद एक पैसेकी गलती मालूम हुई तो वे बड़े हर्षित होकर गुरुके पास गये। गुरुने बताया कि इतनी लगन यदि उस परमेश्वरके विषयमें रहती तो जीवन सार्थक हो जाता। इस प्रसंगसे नाथजीका जीवन ही बदल गया।

कविवर दासोपंतके घरानेमें दत्त-भक्ति थी। यवन-राजाने धर्म-परिवर्तन करानेका संकल्प किया था। इस संकटसे भगवान् दत्तात्रेयने उन्हें छुड़ाया। उन्होंने बीदर बादशाहकी सेवा ठुकरायी। उनकी रचना विपुल और विविध है। उनके शुद्धाद्वैत-तत्त्वके ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। उनका 'ग्रन्थराज' ग्रन्थ उल्लेखनीय है। उनकी प्रकृष्ट रचनाके कारण उन्हें मराठी-भाषाका कुबेर कहा जाता है। उन्हींके 'ग्रन्थराज'की प्रेरणासे एक सौ वर्ष बाद समर्थ रामदासजीने 'दासबोध' ग्रन्थकी रचना की। दासोपंत और उनके 'ग्रन्थराज'को रामदास और उनके 'दासबोध'का पूर्वावतार कहते हैं।

समर्थ रामदासजीका कार्य उच्चतम है। उनकी

राजनीतिक शिक्षा और व्यवहार-निरूपण अन्य संतोंकी तुलनामें विशिष्ट है । गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक छत्रपति शिवाजी महाराजको आशीर्वाद प्रदान करके स्वराज्य-संस्थापनमें उन्होंने भारी हाथ बँटाया । छत्रपति शिवाजी महाराज और समर्थ रामदासजीके मिलनका और शिवाजीपर अनुग्रह होनेका प्रसंग बड़ा रोचक है । शिंगणापुर-विभागमें रामदासजी एक अश्वत्थ-वृक्षके नीचे ध्यानमग्न थे । शिवाजी महाराज वहाँ आये और उन्हें प्रणाम करके उनके अनुग्रहकी याचना की । समर्थने उन्हें स्नान करके पवित्र होकर आनेकी आज्ञा दी । अनुग्रह करते हुए रामदासजीने दो मुट्ठी मिट्टी, तीन मुट्ठी कंकड़ और चार मुट्ठी घोड़ेकी लीद पल्लेमें डाली । अन्य लोगोंको इसका अर्थ मालूम नहीं हो सका, परंतु शिवाजी महाराज बड़े ज्ञानी थे । उन्होंने जान लिया कि गुरुदेवके इस प्रसादसे जमीन—भूभाग, किले और घोड़ोंकी सम्पत्ति विपुलतासे प्राप्त होनेवाली है ।

रामदासजीका 'दासबोध' ग्रन्थ एक अत्युत्कृष्ट धर्मकोश है । इस ग्रन्थमें अध्यात्म-ज्ञानके साथ समाज, धर्म और राजनीतिक व्यवहारका सुन्दर और अपूर्व विवेचन प्राप्त होता है । आसेतु-हिमाचल यात्रा करते हुए उन्होंने स्वयं सब अनुभव किया और समाजको यथायोग्य शिक्षा देनेका प्रयास किया । प्रयत्न, प्रत्यय और प्रचितीको उन्होंने विशेष महत्त्व दिया । वे बड़े आचार्य थे ।

रामदासके समकालीन संत तुकाराम महाराज अपनी विपुल रचनासे महाराष्ट्रमें प्रसिद्ध हैं । उनकी अभङ्ग-वाणी अद्वितीय मानी जाती है । इनकी गुरुपरम्परा महाराष्ट्रके चैतन्य-सम्प्रदायके राघवचैतन्य, केशवचैतन्य और बाबाजीकी है । यह चैतन्य-सम्प्रदाय वंगदेशीय चैतन्य-सम्प्रदायसे भिन्न है । यह अद्वैतमतपर आधारित है । तुकारामकी शिक्षासे पूरा महाराष्ट्र प्रभावित है । महाराष्ट्र-भागवत-धर्म-मन्दिरकी नींव ज्ञानेश्वरजीने डाली तो इस मन्दिरका शिखरारोहण करनेका कार्य तुकारामजीका माना जाता है । सरल और भावपूर्ण शब्दोंमें उनकी रचना जन-सामान्यको आकृष्ट करनेमें समर्थ है ।

महाराष्ट्रके इन उपरिनिर्दिष्ट संतोंमें एकनाथ, दासोपंत, तुकाराम और रामदासकी हिंदी-रचना भी है । इनका उपदेश और महत्त्वपूर्ण शिक्षा अद्वैत-तत्त्वज्ञानकी ही है । ज्ञानदेवकी परम्परा नाथपन्थसे सम्बन्धित है ।

'अद्वैत' केवल अध्यात्मकी अथवा पारलौकिक जीवनकी परिभाषा नहीं, अपितु इस जगत्की भाषा है । भाव और स्वार्थवृत्तिका संकोच द्वैतमूलक है । 'मानव' एक है और वही परमेश्वरका अवतार है तथा मानवमात्रका कल्याण ही आत्मकल्याण है—यह व्यापक निष्ठा संतोंकी थी । अध्यात्मवादी विश्वके विषयमें उदास रहते हैं, यह कल्पना भ्रामक है । मराठी संतोंकी ऐसी धारणा उनकी शिक्षासे ज्ञात होती है । महाराष्ट्रके इन प्रसिद्ध संतोंकी परम्परामें उनके उपदेश और शिक्षा-ग्रन्थोंका स्थान उच्चतम है । मराठी संतोंकी शिक्षा-प्रणालीका यह परामर्श भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें महाराष्ट्रका यथायोग्य स्थान बतलानेका साक्ष्यभूत होगा ।



मानवका कर्तव्य

शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ३ । २४)

मिट्टी, जल आदिसे बाह्य शरीरकी पवित्रता, छल-कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, अपने धर्मका अनुष्ठान, सहनशक्ति, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष-विषादसे रहित होना सीखना चाहिये ।



चरित्र-निर्माणकी प्रथम एवं प्रधान शिल्पी—माता

(श्रीचतुर्भुजजी तोषणीवाल, बी० एस्-सी०(आनर्स))

भारतीय संस्कृतिमें चरित्रको सर्वोच्च महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बालकके चरित्र-निर्माणमें माता, पिता, गुरु, शिक्षक, मित्रमण्डली, पढ़ी जानेवाली पुस्तकें, पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश आदि सभीका न्यूनाधिक प्रभाव पड़ता है। गर्भाधानसे ही मनुष्यके चरित्र-निर्माणकी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। हमारी संस्कृतिमें ऐसी व्यवस्था की गयी है कि यदि पथ-प्रदर्शक माता, पिता, गुरु, आचार्य उच्चकोटिके चरित्रवान् मिल जायँ तो मनुष्य अपना चरम उत्कर्ष-साधन कर सकता है। इनमेंसे भी चरित्र-निर्माणमें माताकी भूमिका भित्ति-स्थानीय है और चरित्रपर माताके शील, व्यवहार एवं शिक्षाकी अमिट छाप पड़ना अनिवार्य है।

हमारे दैशिक शास्त्रमें विस्तारसे चर्चित इस विषयपर निम्न निष्कर्ष प्रतिपादित हुए हैं—

१. साधुओंका परित्राण, दुष्टोंका विनाश एवं धर्म-संस्थापन करनेवाले श्रेष्ठ वीर पुरुष तभी उत्पन्न होंगे जब पिताके ब्रह्मचर्यके साथ माताके पतिदेवत्वका संयोग होगा।

२. प्रथमतः माता-पिताके तीव्र संस्कार अपत्यको दाय-रूपमें प्राप्त होते हैं। द्वितीयतः गर्भमें जैसे संनिकर्ष होते हैं, वैसी ही जीवकी प्रवृत्ति बन जाती है। तृतीयतः रजस्वला होनेके पश्चात् प्रायः एक पक्षतक गर्भाधान हुआ करता है। आधिजनिक शास्त्रके अनुसार इन तीनों बातोंको एकत्र करनेसे यह सिद्धान्त प्रतिपादित होता है कि रजस्वला होनेके पश्चात् प्रायः एक पक्षतक स्त्रीके चित्तमें जैसे संस्कार होते हैं, जैसे उसके आचार-विचार और आहार-विहार रहते हैं, जैसी उसके गर्भाशयकी अवस्था होती है, गर्भस्थ जीवमें वैसे ही गुण होते हैं। अतः इस शास्त्रमें ऋतुमती स्त्रीके लिये विशेष प्रकारकी चर्या, विशेष प्रकारकी ओषधियाँ और विशेष प्रकारका भोजन कहा गया है। तदनन्तर गर्भधारणके दिनसे प्रसव होनेतक गर्भवती स्त्रीके लिये भिन्न-भिन्न मासोंमें भिन्न-भिन्न विधिसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी ओषधियाँ और विशेष प्रकारका भोजन बताया गया है। इनका कुछ उल्लेख हमारे वैद्यक शास्त्र और संस्कार-विधिमें पाया जाता है। आधुनिक जीवशास्त्रका भी यह मत रहा है कि जीवकी अनेक प्रवृत्तियाँ उसके गर्भावस्थासे ही बन जाती हैं।

अतः वीर एवं सच्चरित्र बालकके प्राप्त्यर्थ माताके लिये गर्भावस्थामें अपने आचार-विचार, व्यवहार, भोजन, वेशभूषा, स्वाध्याय प्रभृति पूर्णतः सात्त्विक एवं शुद्ध रखना आवश्यक है। ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिये जिससे सात्त्विक संनिकर्षोंकी हानि होकर राजसिक या तामसिक संनिकर्ष प्रबल हो जायँ। वेशभूषा, भोजन, मनोरञ्जनके साधन आदि सभीका सात्त्विक रहना आवश्यक है।

३. शिशु तो कच्ची गीली मिट्टी-सरीखा होता है। उसे माता चाहे जैसा ढाल सकती है। शैशवमें शिशुके मन, बुद्धि और शरीरका तीव्र गतिसे विकास होता है और चूँकि उसका अधिकतर समय माँके साहचर्यमें ही व्यतीत होता है, इसलिये शैशवावस्थामें माँकी दैनन्दिन चर्या—भोजन, व्यवहार, परिधान, स्वाध्याय आदिका शिशुके अत्यन्त कोमल चित्तपर अमिट प्रभाव पड़ता है। बालकको श्रेष्ठ चरित्रसम्पन्न बनाने-हेतु उसे उत्तम आध्यापनिक संनिकर्ष भी मिलना चाहिये जो कि बाल्यावस्थामें प्रायः माँसे ही प्राप्त होता है। अध्यापनका अर्थ है उन्नतिके मार्गमें ले जाना अर्थात् धर्मको समझने एवं पालन करनेकी शक्ति उत्पन्न करना, न कि केवल अक्षर-ज्ञान। मात्र पढ़ने-लिखनेसे किसीमें धर्मपालन करनेकी शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, न किसीकी मूर्खता अथवा धूर्तता कम हो सकती है। इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें बाल्यकालकी शिक्षाके लिये कुछ नियम बताये गये हैं, जैसे—(क) सात्त्विक आहार, (ख) अनामय, (ग) ब्रह्मचर्य, (घ) प्रेमाचरण, (च) क्रीडा, (छ) बुद्धि-उद्बोधन, (ज) शीलोत्पादन, (झ) आदर्श जनन और (ट) औदार्य शिक्षा।

उपर्युक्त नियमोंमेंसे अधिकांशका पालन बाल्यावस्थामें माताद्वारा ही कराया जाना श्रेयस्कर और सुगम भी है। आहार और स्वास्थ्यका ध्यान तो माताको रखना ही है।

उचित कार्य करवाने-हेतु माताको बालकपर ताड़नाका प्रयोग नहीं करना चाहिये; प्रत्युत अत्यन्त प्रेमसे उसे समझाकर वही कार्य करवाना चाहिये। बाल्यकालके खेलोंसे ही यौवनके चरित्रका सूत्रपात हो जाता है, अतः बालकको ऐसे खेलोंमें लगाना चाहिये जिससे उसका शरीर और बुद्धि तुल्यरूपसे समृद्ध होती रहे और साथ-ही-साथ कल्पनाशक्ति या सहृदयताका भी आविर्भाव होता रहे। शैशवसे ही धर्मात्मा महापुरुषोंके चित्र दिखाकर और उनकी कथा सुनाकर बालकका आदर्श उच्च बना देना चाहिये। उसके सामने किसी आसुरी सम्पद्-विशिष्ट नीच गुणवाले व्यक्तिकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, चाहे वह व्यक्ति कैसा ही धनवान् और उच्चपदस्थ क्यों न हो। ऐसा सतर्क रहना चाहिये जिससे बालक नीच-संस्कारयुक्त या ऐश्वर्यमदोन्मत्त व्यक्तियोंके सम्पर्कमें न आ सके। बालकमें औदार्य गुणकी प्रवृत्ति-हेतु माँ अपने आचरणसे बच्चेको स्वार्थ-त्यागका अनुशीलन कराये।

यदि उपर्युक्त शास्त्रीय दिशा-दर्शनपर पूर्ण ध्यान दिया जाय तो बालक सच्चरित्र होंगे ही। महाभारत और पुराण ऐसे महापुरुषोंके उपाख्यानोंसे भरे पड़े हैं। वर्तमान युगमें भी ऐसे महापुरुषोंके असंख्य उदाहरण हैं। ऐसे कुछ महापुरुषोंका वर्णन यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

१ .महाभागवत प्रह्लादका जन्म दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधूके गर्भसे होना था। इन्हें गर्भावस्थामें ही उत्तम सत्सङ्ग एवं ज्ञानोपदेश प्राप्त हो, इस हेतु श्रीभगवान्ने एक विचित्र घटनाचक्र चलाया। देवराज इन्द्रने हिरण्यकशिपुकी अनुपस्थितिमें दैत्योंपर प्रचण्ड आक्रमण कर दिया और गर्भवती राजमहिषी कयाधूको बंदी बनाकर वे उसे इस उद्देश्यसे ले चले कि बालक उत्पन्न होनेपर उसकी हत्या करके निर्भय हो जाऊँ। भगवदिच्छासे देवर्षि नारद इन्द्रको समझाकर कयाधूको अपने आश्रममें ले आये, जिससे गर्भावस्थामें ही प्रह्लाद एवं उनकी माँको उत्तम सत्सङ्ग प्राप्त हुआ। प्रह्लादजीके मुखसे ही इसका सुन्दर वर्णन सुनिये—

ऋषिं पर्यचरत् तत्र भक्त्या परमया सती।
अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छाप्रसूतये॥
ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम्॥

(श्रीमद्भागवत ७।७।१४-१५)

यहाँ दैत्यपत्नी कयाधूकी इस समयकी उच्च आध्यात्मिक स्थिति विशेष ध्यान देनेयोग्य है। अपनी संतानकी कल्याणकामनासे दैत्य-पत्नीद्वारा देवर्षिकी परम भक्तिपूर्वक सेवा-शुश्रूषा तथा दैत्याद्वारा भी देवर्षिसे भागवत-धर्मका गूढ़ रहस्य-श्रवण और विशुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति आश्चर्यजनक नहीं लगता क्या? किंतु प्रह्लादको तो जन्मसे ही महाभागवत जो बनाना था।

२ . दितिने काम-पीड़ित होकर देवताओंकी अवहेलना करते हुए हठपूर्वक प्रजापति कश्यपद्वारा अनुचित वेलामें गर्भ धारण किया, जिसका फल यह हुआ कि उसे दो अधम और अमङ्गलमय पुत्र प्राप्त हुए—हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु। उसी दितिने जब दुबारा एक वर्षतक कठोर पुंसवन-व्रतका पालन करते हुए गर्भ धारण किया तो एक नियममें, एक दिन त्रुटि हो जानेपर भी उसे महाप्रतापी मरुद्गण पुत्र-रूपमें प्राप्त हुए। उत्तम संतानकी प्राप्ति-हेतु गर्भिणी माताद्वारा पालनीय व्रतके नियमोंका प्रजापति कश्यपजीने क्या ही सुन्दर वर्णन किया है—

'किसी भी प्राणीको मनसा वाचा कर्मणा सताये नहीं, किसीको शाप या गाली न दे, झूठ न बोले, शरीरके नख एवं रोएँ न काटे, किसी अशुभ वस्तुका स्पर्श न करे। जलमें घुसकर स्नान न करे, दुर्जनोंसे बातचीत न करे, बिना धुला वस्त्र न पहने और किसीकी पहनी हुई माला न पहने। जूठा न खाय, मांसयुक्त अन्नका भोजन न करे, शूद्रका लाया हुआ और रजस्वलाका देखा हुआ अन्न न खाय, अंजलिसे पानी न पिये। जूठे मुँह बिना आचमन किये, खुले बालोंसहित, बिना शृंगारके, वाणीका संयम किये बिना, चद्दर ओढ़े बिना घरसे बाहर न निकले, बिना पैर धोये, अपवित्र अवस्थामें, गीले पैरोंसे, उत्तर या पश्चिमको सिरहाना करके, दूसरेके साथ, नग्नावस्थामें तथा सुबह-शाम नहीं सोना चाहिये। उपर्युक्त निषिद्ध कर्मोंका त्याग करके सर्वदा पवित्र रहे, धुला वस्त्र धारण करे और सभी सौभाग्यके चिह्नोंसे सुसज्जित रहे। प्रातःकाल

कलेवा करनेके पहले ही गाय, ब्राह्मण, लक्ष्मीजी और भगवान् नारायणकी पूजा करे। इसके बाद पुष्पमाला, चन्दनादि सुगन्ध-द्रव्य, नैवेद्य और आभूषणादिसे सुहागिन स्त्रियोंकी पूजा करे तथा पतिकी पूजा करके उसकी सेवामें संलग्न रहे। यह भावना बनाये रखे कि पतिका तेज मेरी कोखमें स्थित है' (श्रीमद्भा० ६।१८।४७ से ५३)।

भिन्न परिस्थितियोंमें जन्मनेवाले एक ही माता-पिताके पुत्रोंमें आकाश-पाताल-जैसा अन्तर होता है।

३. देवमाता अदितिने पयोव्रतका पूर्ण विधिके साथ अनुष्ठान किया तो स्वयं भगवान् ही वामन-रूपसे पुत्र-रूपमें प्राप्त हुए। व्रतानुष्ठानके समय माता अदितिके संयमित जीवनचर्याका क्या ही सुन्दर वर्णन है—

चिन्तयन्त्येकया बुद्ध्या महापुरुषमीश्वरम्।
प्रगृह्येन्द्रियदुष्टाश्वान् मनसा बुद्धिसारथिः॥
मनश्चैकाग्रया बुद्ध्या भगवत्यखिलात्मनि।
वासुदेवे समाधाय चचार ह पयोव्रतम्॥

(श्रीमद्भा० ८।१७।२-३)

'बुद्धिको सारथि बनाकर मनकी लगामसे उसने इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंको अपने वशमें कर लिया और एकनिष्ठ बुद्धिसे वह पुरुषोत्तम भगवान्का चिन्तन करने लगी। उसने एकाग्र-बुद्धिसे अपने मनको सर्वात्मा भगवान् वासुदेवमें पूर्णरूपसे लगाकर पयोव्रतका अनुष्ठान किया।'

४. इसी प्रकार कपिलदेवजीको अपने गर्भमें धारण करनेयोग्य बननेके लिये मुनीश्वर कर्दमके निम्न उपदेशानुसार देवहूतिने तीव्र व्रतचर्याका पालन किया—

धृतव्रतासि भद्रं ते दमेन नियमेन च।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज॥

(श्रीमद्भा० ३।२४।३)

'देवि! तुमने अनेक व्रतोंका पालन किया है, अतः तुम्हारा कल्याण होगा। अब तुम संयम, तप और दानादि करती हुई श्रद्धापूर्वक भगवान्का भजन करो। तभी भगवान् तुम्हारे गर्भसे प्रकट होंगे—**'ते औदर्यो ब्रह्मभावनः'** (३।२४।४)।

५. माँ अपने बालक पुत्रको सही मार्ग-दर्शनद्वारा कितने उच्च पदकी प्राप्ति करा सकती है इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माता सुनीतिका है जिसने अपने तिरस्कृत और रोरुद्यमान बालक ध्रुवको निम्न उपदेश देकर सर्वोत्कृष्ट पदकी प्राप्तिका उपाय बताया—

मामङ्गलं तात परेषु मंस्था भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तत्॥
आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्वमुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम्।
आराधयाधोक्षजपादपद्मं यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा॥

(श्रीमद्भा० ४।८।।१७,१९)

'बेटा! तू दूसरोंके लिये किसी प्रकारके अमङ्गलकी कामना मत कर। जो मनुष्य दूसरोंको दुःख देता है, उसे स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ता है। सुरुचिने विमाता होते हुए भी बात एकदम सही कही है। अतः यदि राजकुमार उत्तमके समान राज-सिंहासनपर बैठना चाहता है तो द्वेषभावको छोड़कर उसीका पालन कर। बस, श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी आराधना कर।' माताके उपदेशानुसार चलकर बालक ध्रुवने उत्तरोत्तर गुरुकृपा, भगवद्दर्शन और परमपद प्राप्त कर लिया।

६. आधुनिक युगके महापुरुषोंके चरित्रपर भी माँकी साधना एवं शिक्षाका विशेष प्रभाव परिलक्षित हुआ है। परमहंसदेव रामकृष्णकी माता चन्द्रमणिदेवी अत्यन्त धर्मनिष्ठ, सरल-स्वभाव एवं पतिव्रता महिला थीं। एक बार उन्हें शारदीय पूर्णिमाके दिन श्रीलक्ष्मीदेवीके प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे। परमहंसदेवके आविर्भावसे ठीक पूर्व उन्हें भगवान् शिवकी दिव्यज्योतिके एवं गयातीर्थके अधिष्ठातृ-देवता गदाधर विष्णुके नाना रूपका दिव्य दर्शन हुआ करते थे। इसीलिये उनका जन्म-नाम भी गदाधर ही रखा गया था। वह जैसी ऋजुस्वभावा, धर्मशीला, भक्तिमती महिला थीं एवं जैसा सात्त्विक उनका आहार-विहार था, उन्हें वैसा ही धर्मप्राण, सरल, भक्तिमान्, संसारको ईश्वरप्राप्तिका सही मार्ग-प्रदर्शन करनेवाला पुत्र रामकृष्णके रूपमें प्राप्त हुआ था।

७. स्वामी विवेकानन्दके नामसे सुदूर विदेशोंमें हिंदू-धर्मकी विजय-पताका फहरानेवाले नरेन्द्रदत्तकी माँ श्रीमती भुवनेश्वरी देवीका तो अपने पुत्रके चरित्र-निर्माणपर अत्यधिक प्रभाव था। भुवनेश्वरी देवी प्राचीनपंथी, धर्मपरायणा एवं अत्यन्त तेजस्विनी महिला थीं। वे प्रतिदिन स्वहस्तसे

शिवपूजा किया करती थीं । पुत्र-कामनासे उन्होंने काशीवासी-जनैक-आत्मीया महिलाको पत्र लिखकर श्रीविश्वनाथकी पूजा एवं होमादिकी व्यवस्था की थी । फलस्वरूप उन्हें स्वप्नमें तुषार-धवल रजतभूधरकान्ति श्रीविश्वेश्वरके दर्शन हुए थे और वरदान मिला था । नरेन्द्रका जन्मनाम भी इसीलिये वीरेश्वर (संक्षेपमें 'विले') रखा गया था । बालक नरेन्द्र बाल्यकालमें अत्यन्त स्वेच्छाचारी और उद्दण्ड थे, किंतु उन्हें शान्त करनेका माँने एक अद्भुत उपाय आविष्कार किया और वह सफल भी हुआ था । 'शिव, शिव' कहकर मस्तकपर थोड़ा-सा जल छिड़कते ही उद्दण्ड नरेन्द्र मन्त्रमुग्धकी भाँति शान्त हो जाते थे । बालकका जन्म शिवांशसे है, यह दृढ़ विश्वास होते हुए भी बुद्धिमती माँने इसे कभी प्रकट नहीं किया । केवल एक बार नरेन्द्रके औद्धत्यसे समधिक क्षुब्ध होकर वे बोल उठी थीं—'महादेवने स्वयं न आकर कहाँसे एक भूतको पकड़कर भेज दिया है ।'

माँके मुखसे रामायण एवं महाभारतके उपाख्यान सुननेके लिये नरेन्द्र अत्यन्त आग्रहान्वित रहते । माँ भी प्रतिदिन मध्याह्नकालमें उन्हें रामायण एवं महाभारत सुनातीं । अतीतयुगके धर्मवीरोंके पावन चरित्र सुनकर उनके कोमल मनपर विशेष प्रभाव होता और उनका शिशुमन न जाने किन भावतरंगोंसे आन्दोलित होता रहता कि वे अपनी स्वभावसुलभ चञ्चलताका परित्याग करके घंटोंतक मन्त्रमुग्ध होकर शान्त बैठे रहते । कभी-कभी माँका अनुकरण करके बालक नरेन्द्र भी चक्षु मुद्रित करके ध्यानमें बैठ जाते और उन्हें अविलम्ब बाह्यजगत्‌की विस्मृति हो जाती थी । यह एक अद्भुत बात थी । उनके चरित्रपर माँकी साधना एवं शिक्षाकी अमिट एवं स्पष्ट छाप विद्यमान थी । परमहंसदेव और स्वामी विवेकानन्दमें स्त्रीमात्रके लिये मातृभावना इस प्रकार दृढ़ थी कि कोई भी प्रलोभन उन्हें इस भावनासे विचलित नहीं कर सका था ।

८. पितृभक्ता बेटी भानी सिखोंके तृतीय पातशाह गुरु अमरदासकी सेवा-शुश्रूषामें सदैव तत्परतासे लगी रहती । एक बार गुरु अमरदासको चौकीसे गिरनेसे बचानेके लिये उसने चौकीके पायेकी जगह अपना पैर ही लगा दिया । कील गड़नेसे रक्तकी धारा बह चली; किंतु उसने उफ तक नहीं किया । सहनशक्तिकी इस अपूर्व साधनाका फल ही था कि वह हिंदूराष्ट्रको पञ्चम गुरुके रूपमें अर्जुनदेव-सरीखा धर्मनिष्ठ, कवि और बलिदानी पुत्र उपहारमें दे सकी । सिखोंका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्रीगुरुग्रन्थ साहिब' गुरु अर्जुनदेवकी ही देन है । अत्याचारी बादशाह जहाँगीरने उन्हें उत्तप्त तवेपर भूना, ऊपरसे उत्तप्त बालूकी वर्षा की, किंतु वे शान्त-मुद्रामें ध्यानस्थ होकर बिना उफ किये सब सह गये । नहानेके बहाने वे रावी नदीमें ऐसे विलीन हुए कि शवका भी पता न चला । ऐसा चमत्कार !

९. छत्रपति शिवाजीको अत्याचारी मुसलमानोंके विरुद्ध कमर कसनेके लिये माँ जीजाबाईकी प्रेरणा एवं शिक्षा ही मुख्य कारण थी । स्त्रीमात्रमें उनका मातृभाव इतना दृढ़मूल था कि अनेक प्रसंगोंपर सुन्दर युवती स्त्रियोंके उनके एकान्त अधिकारमें आ जानेपर भी उन्होंने उन्हें अपने मुसलमान पतियोंके पास ससम्मान वापस पहुँचाया ।

१०. प्रातःस्मरणीया वीरमाता कुन्ती तो आजीवन अपने पुत्रोंका पथ प्रदर्शन करती रहीं । युद्धके अनिच्छुक शान्तिप्रिय युधिष्ठिरमें जिगीषा उत्पन्न करने-हेतु उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा जो संदेश कहलाया वह द्रष्टव्य है—

युद्ध्यस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान् ।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम् ॥

(महा० उद्योगप० १३२ । ३४)

अतः 'तुम राजधर्मके अनुसार युद्ध करो । कायर बनकर अपने बाप-दादोंका नाम मत डुबाओ और भाइयोंसहित पुण्यहीन होकर पापमयी गतिको प्राप्त न होओ ।' फिर अपने संदेशकी पुष्टिमें वीर क्षत्राणी विदुलाका प्रेरणादायक उपाख्यान याद दिलाया । विदुलाका पुत्र संजय सिन्धुराजसे पराजित हो उद्योगशून्य होकर सो रहा था । उसे अनेक युक्तियोंसे युक्त कड़ी फटकार बताते हुए पुनः युद्धके लिये उत्साहित करना और उसमें कूट-कूटकर जिगीषाकी भावना भर देना माँ विदुलाका ही काम था । मातृ-उद्‌बोधनसे उल्लसित संजय बोल उठा—

उदके भूरियं धार्या मर्तव्यं प्रवणे मया ।
यस्य मे भवती नेत्री भविष्यद्भूतिदर्शिनी ॥

(महा० उद्योगप० १३६ । १३)

'माँ! मेरा यह राज्य शत्रुरूपी समुद्रमें डूब गया है। मुझे या तो इसका उद्धार करना है या अपने प्राणोंकी बलि दे देनी है। जब मुझे भावी वैभवका दर्शन करानेवाली तुम-जैसी संचालिका प्राप्त है, तब मुझे भय किस बातका है।'

माँ कुन्तीने तो युधिष्ठिरको यहाँतक कहलवा दिया था—

यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः॥

(महा॰ उद्योगप॰ १३७। १०)

'क्षत्राणी जिसके लिये पुत्रको जन्म देती है, उसका उपयुक्त अवसर उपस्थित है। श्रेष्ठ पुरुष किसीसे वैर ठन जानेपर निरुत्साह नहीं होते।' माँके इस संदेशसे उत्साहित होकर ही पाण्डवोंने महाभारतके युद्धमें विजय पायी थी।

११. माँ कुन्ती एवं विदुलाके आदर्शपर चलकर ही राजस्थानकी क्षत्राणियाँ अपनी संतानोंको उच्च चरित्र-सम्पन्न बनाया करती थीं। वे अपने पुत्रोंको मातृभूमिके रक्षार्थ अपने ही हाथोंसे रणसज्जासे सजाकर हँसती हुई उन्हें मातृभूमिकी बलिवेदीपर जीवन उत्सर्ग करने-हेतु भेज सकती थीं। किसी किंकर्तव्यविमूढ़ युवा पुत्रको वीरमाता किस प्रकार सही रास्तेपर ला सकती थी, उसका एक आधुनिक उदाहरण प्रस्तुत है।

कुम्भलगढ़के दुर्गपति आशादेपुरा महेश्वरीके पास पन्ना धाय जब महाराणा साँगाके बालक पुत्र उदयसिंहको लेकर शरण लेने पहुँची तो बलवीरके आतंकसे भयभीत होकर आशादेपुरा घबरा गया और उन्हें शरण देनेसे मुकर गया। आशादेपुराकी अनपढ़ माँने जब यह सुना तो उसने क्षुब्ध होकर अपने पुत्रको बुरी तरह फटकारा और अपने कर्तव्यकी याद दिलायी। वही आशादेपुरा अब बालक राणा उदयसिंहका संरक्षक बन गया। इसी अनपढ़ किंतु कर्तव्यपरायणा माँकी बदौलत ही हिंदवा-सूर्य महाराणा प्रताप-जैसे महापुरुषका आविर्भाव सम्भव हुआ जो अपने अपूर्व बलिदान और शौर्यगाथाओंसे आनेवाली पीढ़ियोंके लिये एक समुज्ज्वल प्रेरणा-स्रोत बन गये।

इसी प्रकारके अनगिनत पौराणिक एवं ऐतिहासिक दृष्टान्त हमारे दैशिक शास्त्रके इस सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं कि चरित्र-निर्माणकी प्रथम एवं प्रधान शिल्पी माता ही है। भारतको अपने अतीत गौरवके समुन्नत शिखरपर पुनः आरूढ करानेके लिये हमें उच्च-चरित्रसम्पन्न नागरिकोंकी आवश्यकता है। इस आवश्यकताकी पूर्ति तो हमारी मातृशक्तिद्वारा हमारे प्राचीन दैशिक शास्त्रानुसार अपना आहार-विहार, परिधान, शिक्षा आदिके अपनानेपर ही होगी।

पौराणिक इतिहासमें माताकी शिक्षा

(आचार्य श्रीदीनानाथजी चतुर्वेदी 'सुमनेश')

विचारकोंने चार प्रकारके गुरु माने हैं—(१) ईश्वर, (२) माता-पिता, (३) दीक्षा-गुरु एवं (४) शिक्षा-गुरु। इनमें ईश्वरके उपरान्त माता-पिताका ही प्रमुख स्थान है और इन दोनोंमें भी माताका स्थान अक्षुण्ण है। माता ही जैसी चाहे वैसी शिक्षा शिशुको दे सकती है। मनुने कहा है—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(मनुस्मृति २। १४५)

यहाँ इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—महाराज कुवलयाश्वकी पत्नी मदालसा जब परिणय-बन्धनमें बँधकर अपने पति-गृहमें आयीं, तब उन्होंने अपने पतिसे कहा कि 'मैं जो कुछ करूँ उसे देखना, पर मुझे रोकना मत।' महाराज कुवलयाश्वने उसे स्वीकार कर लिया। जब महारानीके प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ और जब वह रोता तब रानी उस पुत्रको पालनेमें डालकर झुलाती हुई उसे लोरियाँ न सुनाकर कहती थीं—'तू क्यों रोता है? तेरा कौन है जो तेरे रुदनको सुनकर द्रवित होगा?

किसीके सम्मुख दीनता प्रदर्शित क्यों करता है? तेरे रोनेसे क्या लाभ होगा? व्यर्थ अपने आँसुओंको क्यों बहाता है? इस रोनेकी अपेक्षा चुप रहकर विचार किया कर।' पुत्र इन्हें सुनकर चुप रहने लगा। बड़ा होनेपर यज्ञोपवीत-संस्कार होते ही वह विरक्त होकर वनमें चला गया और तप करने लगा। इसी प्रकार दूसरा, फिर तीसरा पुत्र हुआ और रोते समय इसी प्रकार शिक्षा देनेसे वे दोनों पुत्र भी विरक्त होकर जंगलमें तपस्या करते घूमने लगे। जब समय आनेपर चौथा पुत्र अलर्क हुआ, तब महाराज कुवलयाश्वने एक दिन महारानी मदालसासे बहुत ही विनम्र होकर कहा—'रानी! अबतक जो कुछ भी तुमने किया, मैंने वह सब अपनी आँखोंसे देखा। तीन पुत्र हुए और वे तीनों विरक्त होकर वनोंमें भटकते, तप करते, भिक्षाटन करते हैं। यदि इस प्रकार इस चौथे पुत्रको भी यही शिक्षा दी गयी तो मेरे गृहस्थ-जीवनका विनाश हो जायगा। अतः यदि तुम चाहो तो इसे गृहस्थ-धर्मकी शिक्षा प्रदान करो।' महारानी मदालसाने हँसकर पतिका आदेश सहर्ष स्वीकार कर लिया। जब अलर्क रोता था तो रानी पालनेमें उसे डालकर कहती थीं—'बेटा! रोना व्यर्थ है। किसीके सामने दीनता कभी भी नहीं दिखानी चाहिये, जो होता है उसे अपनी आँखोंसे देखा कर! किसी भी वस्तुके लिये रोना नहीं चाहिये। संसारमें जो कुछ भी है सब तेरा है।'

मातासे इस प्रकार उपदेश ग्रहण करके राजा ऋतध्वजके पुत्र अलर्कने युवावस्थामें विधिपूर्वक अपना विवाह किया। उससे अनेक पुत्र उत्पन्न हुए। उसने यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन किया और हर समय वह पिताकी आज्ञाका पालन करनेमें संलग्न रहता था। तदनन्तर बहुत समयके बाद बुढ़ापा आनेपर धर्मपरायण महाराज ऋतध्वजने अपनी पत्नीके साथ तपस्याके लिये वनमें जानेका विचार किया और पुत्रका राज्याभिषेक कर दिया। उस समय मदालसाने अपने पुत्रकी विषयभोगविषयक आसक्तिको हटानेके लिये उससे यह अन्तिम वचन कहा—'बेटा! गृहस्थ-धर्मका अवलम्बन करके राज्य करते समय यदि तुम्हारे ऊपर प्रिय बन्धुके वियोगसे, शत्रुओंकी बाधासे अथवा धनके नाशसे होनेवाला कोई असह्य दुःख आ पड़े तो मेरी दी हुई इस अँगूठीसे यह उपदेशपत्र निकालकर, जो रेशमी वस्त्रपर बहुत सूक्ष्म अक्षरोंमें लिखा गया है, तुम अवश्य पढ़ना; क्योंकि ममतामें बँधा रहनेवाला गृहस्थ दुःखोंका केन्द्र होता है।' यों कहकर मदालसाने अपने पुत्रको सोनेकी अँगूठी दे दी, साथ ही अनेकानेक आशीर्वाद भी दिये। तत्पश्चात् पुत्रको राज्य सौंपकर महाराज कुवलयाश्व महारानी मदालसाके साथ तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये।

धर्मात्मा राजा अलर्कने भी पुत्रकी भाँति प्रजाका न्यायपूर्वक पालन किया। उनके राज्यमें प्रजा बहुत प्रसन्न थी और सब लोग अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहते थे। वे दुष्ट पुरुषोंको दण्ड देते और सज्जन पुरुषोंकी भलीभाँति रक्षा करते थे। राजाने बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान भी किया। इन सब कार्योंमें उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था। महाराजको अनेक पुत्र हुए, जो महान् बलवान्, अत्यन्त पराक्रमी, धर्मात्मा, महात्मा तथा कुमार्गके विरोधी थे। उन्होंने धर्मपूर्वक धनका उपार्जन किया और धनसे धर्मका अनुष्ठान किया तथा धर्म और धन दोनोंके अनुकूल रहकर ही विषयोंका उपभोग किया। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काममें आसक्त हो पृथ्वीका पालन करते हुए राजा अलर्कको अनेक वर्ष बीत गये, किंतु उन्हें वे एक दिनके समान ही जान पड़े। मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंका भोग करते हुए उन्हें कभी भी उनकी ओरसे वैराग्य नहीं हुआ। उनके मनमें कभी ऐसा विचार नहीं उठा कि अब धर्म और धनका उपार्जन पूरा हो गया। उनकी ओरसे उन्हें अतृप्ति ही बनी रही।

उनके इस प्रकार भोगमें आसक्त, प्रमादी और अजितेन्द्रिय होनेका समाचार उनके भाई सुबाहुने भी सुना, जो वनमें निवास करते थे। अलर्कको किसी तरह ज्ञान प्राप्त हो, इस अभिलाषासे उन्होंने बहुत देरतक विचार किया, अन्तमें उन्हें यही ठीक मालूम हुआ कि अलर्कके साथ शत्रुता रखनेवाले किसी राजाका सहारा लिया जाय। ऐसा निश्चय करके वे अपना राज्य प्राप्त करनेका उद्देश्य लेकर असंख्य बल-वाहनोंसे सम्पन्न काशिराजकी शरणमें

आये । काशिराजने अपनी सेनाके साथ अलर्कपर आक्रमण करनेकी तैयारी की और दूत भेजकर यह कहलाया कि अपने बड़े भाई सुबाहुको राज्य दे दो । अलर्क राज्यधर्मके ज्ञाता थे । उन्हें शत्रुके इस प्रकार आज्ञापूर्वक संदेश देनेपर सुबाहुको राज्य देनेकी इच्छा नहीं हुई । उन्होंने काशिराजके दूतको उत्तर दिया कि 'मेरे बड़े भाई मेरे ही पास आकर प्रेमपूर्वक राज्य माँग लें । मैं किसीके आक्रमणके भयसे थोड़ी-सी भी भूमि नहीं दूँगा ।' बुद्धिमान् सुबाहुने भी अलर्कके पास याचना नहीं की । उन्होंने सोचा—'याचना क्षत्रियका धर्म नहीं है । क्षत्रिय तो पराक्रमका ही धनी होता है ।' तब काशिराजने अपनी समस्त सेनाके साथ राजा अलर्कके राज्यपर चढ़ाई करनेके लिये यात्रा की । उन्होंने अपने समीपवर्ती राजाओंसे मिलकर उनके सैनिकोंद्वारा आक्रमण किया और अलर्कके सीमावर्ती नरेशको अपने अधीन कर लिया । फिर अलर्कके राज्यपर घेरा डालकर उनके सामन्त राजाओंको सताना आरम्भ किया । दुर्ग और वनके रक्षकोंको भी काबूमें कर लिया । किन्हींको धन देकर, किन्हींको फूट डालकर और किन्हींको समझा-बुझाकर ही अपना वशवर्ती बना लिया । इस प्रकार शत्रुमण्डलीसे पीड़ित राजा अलर्कके पास बहुत थोड़ी-सी सेना रह गयी । खजाना भी घटने लगा और शत्रुने उनके नगरपर घेरा डाल दिया । इस तरह प्रतिदिन कष्ट पाने और कोश क्षीण होनेसे राजाको बड़ा खेद हुआ । उनका चित्त व्याकुल हो उठा । जब वे अत्यन्त वेदनासे व्यथित हो उठे, तब सहसा उन्हें उस अँगूठीका स्मरण हो आया, जिसे ऐसे ही अवसरोंपर उपयोग करनेके लिये उनकी माता मदालसाने दिया था । तब स्नान करके पवित्र हो उन्होंने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और अँगूठीसे वह उपदेशपत्र निकालकर देखा । उसके अक्षर बहुत स्पष्ट थे । राजाने उसमें लिखे हुए माताके उपदेशको पढ़ा, जिससे उनके समस्त शरीरमें रोमाञ्च हो आया और आँखें प्रसन्नतासे खिल उठीं । वह उपदेश इस प्रकार था—

'सङ्ग (आसक्ति) का सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये, किंतु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका सङ्ग ही उसकी ओषधि है । कामनाको सर्वथा छोड़ देना चाहिये परंतु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मुक्तिकी इच्छा) के प्रति कामना करनी चाहिये; क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है ।'

उसे पढ़ते ही जैसे अन्धेको नेत्रज्योति मिल जाती है, उसी प्रकार उन्हें मार्ग मिल गया । उन्होंने दूत बुलाकर काशी-नरेशके पास भेजा और कहलाया कि 'मैं राज्यको छोड़ रहा हूँ, इसे आप ग्रहण करें ।' काशी-नरेशने उन तीनों बड़े भाइयोंसे राज्य लेनेको कहा तो वे सब हँसकर बोले—'हमें राज्य नहीं चाहिये । हम तो अपने भाई अलर्कको मोक्षकी ओर प्रेरित करना चाहते थे और वह हो गया ।' लड़ाई बंद हो गयी तथा काशिराज भी अपना राज्य छोड़कर अलर्कके साथ तप करनेके लिये वनमें चले गये । महर्षि दत्तात्रेयकी कृपासे वे संसार-संकटसे मुक्त होकर महान् योग-सम्पत्तिको प्राप्तकर परम निर्वाणको प्राप्त हो गये ।

महाराज उत्तानपादके दो रानियाँ थीं । सुनीति और सुरुचि । सुनीतिके पुत्र ध्रुव हुए तथा सुरुचिके उत्तम कुमार । एक दिन जब उत्तम पिताकी गोदमें बैठे थे, उसी समय ध्रुव भी विमाता सुरुचिके भवनमें गये । विमाताने सिंहासनपर बैठनेकी इच्छा देख उससे कहा—'मूढ ! तू मेरी कोखसे उत्पन्न नहीं हुआ है । तेरी माता मेरी दासी है और दासीके गर्भसे उत्पन्न तू कैसे महाराजकी गोदमें चढ़कर सिंहासनपर बैठ सकता है? जा, वनमें जा । वहाँ भगवान्का भजन कर और उनसे वरदान माँग कि मैं माता सुरुचिके गर्भसे उत्पन्न होकर महाराज उत्तानपादकी गोदमें चढ़कर सिंहासनपर बैठूँ ।' बालक ध्रुव रोते हुए वहाँसे लौटकर अपनी माँके भवनमें गये । माँने पुत्रको रोते देखकर उससे पूछा—'तू क्यों रो रहा है बेटा?' फिर ध्रुवके मुँहसे ये बातें सुनकर उसने दीर्घ श्वास लेकर पुत्रसे कहा—'बेटा ! तू दूसरोंके लिये किसी अमङ्गलकी कामना मत कर । जो दूसरोंको दुःख देता है, उसे स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ता है । यदि तू राज-सिंहासनपर बैठना चाहता है तो उसी परमात्माकी

आराधना कर । तेरे परबाबा ब्रह्माको भी उन्हींकी कृपासे सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है । तेरे बाबा मनुजीने भी यज्ञोंद्वारा उन्हींकी आराधनासे मोक्ष प्राप्त किया है । तेरे दुःख अन्य किसी प्रकारसे दूर नहीं हो सकते । अतः उसी परमाराध्यकी आराधना कर । मुमुक्षु भी निरन्तर उसीकी आराधना करते हैं । चिन्ता मत कर । भगवान् तेरा कल्याण करेंगे । धन एवं राज्यकी अपेक्षा भजन अधिक श्रेयस्कर है ।' ध्रुव माँकी शिक्षा ग्रहणकर यमुनातटपर मधुवनमें तप करके अक्षय लोक ध्रुवलोकको प्राप्त कर सके और पिताका राज्य ३६ हजार वर्ष भोगकर अक्षय यश प्राप्त कर सके ।

महाराज शान्तनुकी भार्या पतितपावनी गङ्गाने भी अपने पतिसे यह प्रतिज्ञा करा ली थी कि मेरे कार्यको देखना, मुझे रोकना नहीं । महाराज अपनी पत्नीके सदाचरणसे परम संतुष्ट थे ही । माता गङ्गाके प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ । दो-चार दिन उसे दूध पिलाकर एक दिन वे अपने पुत्रको लेकर वनमें गङ्गा-तटपर गयीं । महाराज यह देखने पीछे-पीछे वनमें गये कि देखूँ गङ्गा क्या करती है । पर गङ्गाने उस बालकको पैर पकड़कर गङ्गाकी धारमें फेंक दिया । प्रतिज्ञावश महाराज भी कुछ न कह सके । मन मारकर चुपचाप बैठ गये । इसी प्रकार वे सात पुत्रोंको गङ्गाकी धारमें बहाकर निश्चिन्त हो गयीं । समय आनेपर फिर आठवाँ पुत्र गर्भमें आया, जो भीष्म थे । प्रसव होनेपर जब गङ्गा उसे भी फेंकने वनकी ओर चलीं, तभी महाराज शन्तनुने अपनी पत्नीकी बहुत भर्त्सना की और कहा कि 'क्या तुमने मेरे कुल-नाशका प्रण ठान लिया है?' सुनते ही गङ्गाने पुत्रको पतिके चरणोंमें रख दिया और कहा—'महाराज! मैं देवताओंके शापसे आज मुक्त हो गयी । मैं आजतक ही आपकी पत्नी बनकर रह सकती थी, अब जा रही हूँ ।' इसपर महाराजने समझाते हुए उससे कहा कि 'जबतक यह पुत्र बड़ा होकर विद्याध्ययन पूर्ण न कर ले, तबतक तुम मेरे घरमें और रहो ।' यह सुनकर गङ्गाने कहा कि 'महाराज! प्रतिज्ञा तोड़ी नहीं जाती । मैं जा रही हूँ और साथमें अपने पुत्रको लिये जा रही हूँ । जब यह सम्पूर्ण विद्याओंमें पारङ्गत हो जायगा तब मैं इसे आपको सौंप दूँगी ।' यह कहकर पुत्रको साथ ले गङ्गा चली गयीं और पचीस वर्षतक उन्होंने अपने पुत्रको शिक्षा प्रदान की, जिससे ये भीष्म विश्वमें स्वनामको धन्य कर सके ।

गुरु शब्द तो अति महत्त्वपूर्ण है । गु+रु=गुरु । गु=अज्ञान, रु=अवरोधक । अर्थात् जो अज्ञानका नाश कर ज्ञान प्रदान करे उसे 'गुरु' कहते हैं । इसके लिये मातासे बढ़कर प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाला दूसरा कौन हो सकता है? इस संदर्भमें वेदों एवं पुराणोंमें अनेक उपाख्यान भरे पड़े हैं ।

दोमेंसे एक कर

कै तोहि लागहिं राम प्रिय कै तू प्रभु प्रिय होहि ।
दुइ में रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि ॥
तुलसी दुइ महँ एक ही खेल छाँड़ि छल खेलु ।
कै करु ममता राम सों कै ममता परहेलु ॥

(दोहावली ७८-७९)

या तो तुझे श्रीराम प्रिय लगने लगें या प्रभु श्रीरामका तू प्रिय बन जा । दोनोंमेंसे जो तुझे सुगम जान पड़े तथा प्रिय लगे, तुलसीदासजी कहते हैं कि तू वही कर । तुलसीदासजी कहते हैं कि छल छोड़कर तू दोनोंमें एक ही खेल खेल—या तो केवल श्रीरामसे ही ममता कर या ममताका सर्वथा त्याग कर दे ।

शिक्षाकी निष्पत्ति—अखण्ड व्यक्तित्वका निर्माण

(अणुव्रत-अनुशास्ता, युगप्रधान आचार्य श्रीतुलसीजी)

जीवन जीना एक बात है और विशिष्ट जीवन जीना दूसरी बात है। ऐसा जीवन, जो दूसरोंके लिये उदाहरण बन सके, विशिष्ट जीवन होता है। ऐसा जीवन, जो विकासकी सब सम्भावनाओंको उजागर कर सकता है, विशिष्ट जीवन होता है। ऐसा जीवन तभी जीया जा सकता है, जब कि उसे सही ढंगसे निर्मित किया जा सके। जीवनका निर्माण करनेमें अनेक तत्त्वोंका योग रहता है। उनमें कुछ तत्त्व हैं—संस्कार, वंशानुक्रम, वातावरण, माँका व्यक्तित्व, शिक्षा आदि। इनमें कुछ तत्त्व सहज और कुछ परोक्ष-रूपमें सक्रिय रहते हैं; पर शिक्षाका प्रयोग सार्थक उद्देश्यके साथ प्रयत्नपूर्वक होता है। वास्तवमें वही शिक्षा शिक्षा है, जो जीवनका निर्माण कर सके। शिक्षा प्राप्त करनेके बाद भी यदि जीवन नहीं बनता है तो शिक्षाकी गुणात्मकताके आगे प्रश्न-चिह्न लग जाता है।

शिक्षाके साथ जीवन-निर्माणका निश्चित अनुबन्ध है। जहाँतक यह अनुबन्ध पूरा नहीं होता, वहाँ कुछ किंतु-परंतु खटकने लगता है। व्यक्ति भोजन करे और उसकी भूख न मिटे, यह उसी स्थितिमें सम्भव है, जब भोजन करनेवाला भस्मक व्याधिसे पीड़ित हो। अन्यथा मात्रा-भेद हो सकता है, पर भोजनके साथ भूख मिटनेकी अनिवार्यता है। इसी प्रकार शिक्षा मिले और जीवनका निर्माण न हो, इसमें शिक्षा-पद्धति, शिक्षक या विद्यार्थीकी कोई-न-कोई कमी अवश्य कारण बनती है। शिक्षा-पद्धति त्रुटिपूर्ण या अपूर्ण हो, शिक्षकका चरित्र, निष्ठा और पुरुषार्थ सही न हो अथवा विद्यार्थियोंमें शिक्षा प्राप्त करनेकी अर्हता न हो, उसी स्थितिमें शिक्षाका उद्देश्य पूरा नहीं होता।

शिक्षाके द्वारा जीवन-निर्माणका अर्थ है—विद्यार्थीके सर्वाङ्गीण एवं अखण्ड व्यक्तित्वका निर्माण। यह मनुष्यकी दुर्बलता है कि वह खण्ड-खण्डमें जीता है। अपने व्यक्तित्वको समग्र रूपसे बनाने या सँवारनेकी चिन्ता उसे नहीं होती। उसके सामने अखण्ड व्यक्तित्ववाला कोई आदर्श भी नहीं होता। ऐसी स्थितिमें वह अपने व्यक्तित्वको खण्डोंमें बाँट लेता है। खण्डित व्यक्तित्व प्रत्येक युगकी ऐसी त्रासदी है, जिसे वर्तमान और भावी दो-दो पीढ़ियोंको भोगना होता है।

जीवन-निर्माण या व्यक्तित्व-निर्माणकी दृष्टिसे कितनी ही ऊँची शिक्षा दी जाय, कितने ही अच्छे एवं योग्य शिक्षकोंका योग मिले, किंतु जबतक विद्यार्थीकी भूमिका ठीक नहीं होती तबतक समय और श्रमका सही उपयोग नहीं हो सकता। जैन-आगमके उत्तराध्ययनमें विद्यार्थीकी अर्हताके कुछ मानदण्ड निर्धारित किये गये हैं। उनके अनुसार शिक्षाके योग्य वह विद्यार्थी होता है जो—(१) हास्य न करे, (२) इन्द्रियों और मनको नियन्त्रित रखे, (३) किसीकी गोपनीय बातका प्रकाशन न करे, (४) चरित्रसे हीन न हो, (५) चारित्रिक दोषोंसे कलुषित न हो, (६) रसोंमें अति लोलुप न हो, (७) क्रोध न करे और (८) सत्यमें रत हो।

यह आवश्यक है कि ज्ञान-मन्दिरमें प्रवेश करनेसे पहले ही विद्यार्थीको प्रारम्भिक संस्कार दिये जायँ; क्योंकि जब बालकका जीवन गलत संस्कारोंसे भावित हो जाता है, तब संस्कार-परिवर्तनकी बात कठिन हो जाती है; इसीलिये प्राचीनकालमें बच्चोंको गुरुकुलोंमें रखकर पढ़ाया जाता था। वहाँ उन्हें जो शिक्षा दी जाती थी, उसका आधार केवल पुस्तकें नहीं होती थीं। उस समय दी जानेवाली शिक्षाका उद्देश्य केवल जीविका नहीं होती थी। जीविकाके साथ शिक्षाको जोड़ना ही शिक्षा-नीतिका अतिक्रमण करना है। यह बात विद्यार्थी और शिक्षक—दोनोंके लिये समान रूपसे लागू होती है। शिक्षक यदि शिक्षाको जीविकाका साधनमात्र मानता है तो वह विद्यार्थीको पुस्तक पढ़ा सकेगा, पर जीवन-निर्माणकी कला नहीं सिखा सकेगा। इसी प्रकार विद्यार्थी यदि जीविकोपार्जनके उद्देश्यसे पढ़ता है तो वह डिग्रियाँ भले ही उपलब्ध कर लेगा, किंतु ज्ञानके शिखरपर नहीं चढ़ सकेगा।

शिक्षा प्राप्त करनेका उद्देश्य यदि केवल बौद्धिक विकास अथवा डिग्री पाना ही हो, तो यह दृष्टिकोणकी संकीर्णता है; क्योंकि शिक्षाका सम्बन्ध शरीर, मन, बुद्धि और भाव—सबके साथ है। एकाङ्गी विकासकी तुलना शरीरकी उस स्थितिके साथ की जा सकती है, जिसमें सिर बड़ा हो जाय और हाथ-पाँव दुबले-पतले रहें अथवा हाथ-पाँव मोटे हो जायँ और सिरका विकास न हो। शरीरका असंतुलित विकास उसके भौंडेपनको प्रदर्शित करता है, ऐसी दशामें व्यक्तित्वका असंतुलित विकास उसके भीतरी भौंडेपनकी अभिव्यक्ति कैसे नहीं करेगा?

जीवनके समग्र विकासकी दृष्टिसे शिक्षाको रचनात्मक मोड़ देनेके लिये आवश्यक है कि निर्धारित पाठ्यक्रमके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट प्रशिक्षणकी व्यवस्था की जाय। विशिष्ट प्रशिक्षणके क्रममें कुछ महत्त्वपूर्ण उपक्रम ये हैं—(१) जीवन-मूल्योंकी शिक्षा, (२) मानवीय सम्बन्धोंकी शिक्षा, (३) भावनात्मक विकासकी शिक्षा तथा (४) सिद्धान्त और प्रयोगके समन्वयकी शिक्षा।

शिक्षाके ये उपक्रम विद्यार्थीमें जिज्ञासा, बुभूषा और चिकीर्षाकी भावनाको जगा सकते हैं। जिज्ञासाका अर्थ है जाननेकी इच्छा। जब यह इच्छा घनीभूत हो जाती है, तब विद्यार्थी प्रत्येक बातको बहुत बारीकीके साथ ग्रहण करता है। तत्त्वको जानने-समझनेकी स्थितिमें परिपाक आनेपर व्यक्तिमें कुछ होनेकी भावना जन्म लेती है। इस भावनाका नाम है बुभूषा। जो कुछ होना चाहेगा, उसमें कुछ करनेकी इच्छा जागेगी। कुछ करनेकी इच्छा जब विशिष्ट क्रियायोगके साथ जुड़ जाती है, तब वह विद्यार्थीको अखण्ड व्यक्तित्व प्रदान कर सकती है। अखण्ड व्यक्तित्वके निर्माणकी एक प्रायोगिक प्रक्रियाका नाम है जीवन-विज्ञान। जीवन-विज्ञान जीवन जीनेकी ऐसी कला है, जो विद्यार्थीके बौद्धिक एवं भावनात्मक विकासमें संतुलन लाती है। इस प्रक्रियामें कायोत्सर्ग, योगासन, शरीर-विज्ञान, प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा आदिका क्रमिक अभ्यास कराया जाता है। इस अभ्याससे शरीरगत ग्रन्थियोंके स्राव बदलते हैं, नाडीतन्त्र संतुलित रहता है और आदतोंमें परिवर्तन होता है।

भारतकी स्वतन्त्रताके बाद यहाँ शिक्षाकी दृष्टिसे कई नये आयाम खुले। उन आयामोंसे अच्छे-अच्छे डाक्टर, अभियन्ता, वैज्ञानिक आदि सामने आये, पर आत्मवान् व्यक्तियोंके निर्माणकी प्रक्रिया बहुत शिथिल हो गयी। आत्मवान् वह होता है, जो आत्मविद्यामें निष्णात बन जाता है। आत्मविद्या पानेका अर्थ है अपनी पहचानसे परिचित होना। पहचान किसकी? नाम या रूपकी? यह सारी पहचान ऊपरकी है। इस पहचानको करनेवाला जो अज्ञात तत्त्व है, जो इस शरीरके भीतर है, उस अज्ञातको ज्ञात करनेवाला आत्मवान् हो सकता है, विद्यावान् हो सकता है।

आत्माकी पहचानका माध्यम है धर्म। ऐसा धर्म, जो मानवीय मूल्योंके विकाससे, जीवनकी पवित्रतासे और व्यवहार-शुद्धिके साथ जुड़ा हुआ है। आधुनिक शिक्षा-पद्धतिमें धर्मकी शिक्षाको कोई स्थान नहीं है। शिक्षामें धर्मका प्रवेश होनेसे साम्प्रदायिकताके उभरनेका भय है। किंतु यह भय उन लोगोंको है, जो धार्मिक कट्टरता और अन्धविश्वासोंसे घिरे हुए हैं। अन्यथा धर्मकी शिक्षाका अर्थ है—सत्य और अहिंसाकी शिक्षा, सहिष्णुता और समन्वयकी शिक्षा, भ्रातृत्व और सहयोगकी शिक्षा तथा नैतिकता और उदारताकी शिक्षा। ऐसी शिक्षाको कोई भी चिन्तनशील व्यक्ति नकार नहीं सकता। पर जो लोग धर्मके नामसे ही परहेज करते हैं, वे यदि जीवन-विज्ञानके नामसे एक समग्र और प्रायोगिक शिक्षाक्रमको आगे बढ़ा सकें तो जीवन-निर्माण या अखण्ड व्यक्तित्वके निर्माणकी समस्याका स्थायी हल निकल सकता है।



सातवीं सदीकी शिक्षा

(डॉ० श्रीहरगोविन्दजी पाराशर)

शिक्षा

वाणने शिक्षा-अर्थमें 'विद्या' शब्दका प्रयोग किया है। हर्षचरितमें विद्याके पठन, उपदेश, श्रवण, अभ्यास, गोष्ठी एवं विनोदके रूपमें उपयोगसम्बन्धी उल्लेख हैं। राजा हर्ष सर्वविद्या एवं संगीतयुक्त गृहके समान थे। बौद्ध दिवाकरमित्रके आश्रममें 'शिक्षा' शब्दका प्रयोग होता था। इस तरह सातवीं सदीमें पढ़ाईके लिये विद्या और शिक्षा—दो शब्दोंका प्रयोग होता था।

सातवीं सदीके प्रामाणिक ग्रन्थ हर्षचरितसे ज्ञात होता है कि पढ़नेके इच्छुक बालकको सर्वप्रथम ध्वनि सिखायी जाती थी और इसके बाद तीन वेद पढ़ाये जाते थे। वेद पढ़ानेके साथ क्रातवी क्रिया (यज्ञ करना) करायी जाती थी, जिसमें सम्पूर्ण मन्त्र बोलकर हवन-द्रव्य अग्निमें छोड़ा जाता था। प्रतिदिन निश्चित समयपर वेदाभ्यास कराया जाता था। व्याकरण, न्याय एवं मीमांसाका अध्ययन होता था और अन्तमें काव्य पढ़ाये जाते थे। हर्षचरितके उक्त विवरणसे सिद्ध है कि तत्कालीन पहली शिक्षाके रूपमें अक्षरध्वनि (वर्णमाला), वेद, कर्मकाण्ड, व्याकरण, न्याय, मीमांसा और काव्य—ये सात विषय पढ़ाये जाते थे।

शिशुओंकी शिक्षा पाँच वर्षकी अवस्थामें प्रारम्भ होती थी। सात वर्षकी आयुमें उन्हें व्याकरण पढ़ाया जाता था, जिसमें वर्णोंकी व्याख्या एवं उनका वर्गीकरण रहता था। बादका अध्यापन कुशल कला-सम्बन्धी था, जिसमें यान्त्रिक कलाके सिद्धान्त रहते थे— गणित और ज्योतिष। तृतीय विज्ञान था आयुर्वेद, जिसमें दवाओं आदिका अभ्यास कराया जाता था। चतुर्थ विज्ञान था तर्क (न्याय), जिसमें असत्य और सत्यका परीक्षण किया जाता था। पञ्चम विज्ञान अध्यात्म था, जिसमें धार्मिकताकी प्राप्ति और कर्मका सिद्धान्त पढ़ाया जाता था।

उपर्युक्त शिक्षा-विषयोंको शिक्षक अपने छात्रोंको पढ़ाते थे और तदनुसार क्रियाएँ कराते थे। वे उनकी अन्तश्चेतनाको तेज करते थे, जिससे मन्द भी बुद्धिमान् बन जायँ। जब शिष्य बुद्धिमान् और कर्मठ हो जाते थे तब उनका प्रशिक्षण पूरा हो जाता था। जब शिष्य तीस वर्षकी आयुके हो जाते और उनका मस्तिष्क परिपक्व हो जाता, उनकी शिक्षा पूरी हो जाती, तब वे अपने निवासगृह जाते थे, जहाँसे वे सर्वप्रथम अपने शिक्षकोंको पुरस्कार लाकर देते थे। शिक्षा-प्राप्तिके पश्चात् राज्य और राज्यवासी उन शिक्षाप्राप्त वयस्क विद्यार्थियोंका आदर करते थे। वे (वयस्क विद्यार्थी) अपनी रुचि एवं योग्यताके अनुसार शासनकी या जनताकी सेवा करते थे।

सातवीं सदीके प्रामाणिक इतिहासकार महाकवि वाणभट्ट एवं चीनीयात्री हुएनसांग दोनोंके अनुसार सातवीं सदीकी शिक्षा सुव्यवस्थित थी। प्राथमिक स्तरसे लेकर उच्चतम स्तरतक शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी। यह सम्राट् हर्षवर्धनका साम्राज्यकाल था। इस कालमें प्रचलित उक्त शिक्षा हर्षके पूर्ववर्ती युगके अनुरूप थी; क्योंकि कौटिल्य एवं मनु आदि राजशास्त्र-प्रणेताओंने भी उक्त शिक्षाकी व्यवस्था अपने-अपने ग्रन्थोंमें वर्णित की है। उन्होंने उक्त शिक्षाको विद्या कहा है और उसके चार प्रकार—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति माने हैं, जिनमें वाणवर्णित और हुएनसांगवर्णित शिक्षाके विषय समाविष्ट हैं।

सातवीं सदीके शिक्षा-केन्द्र

वाणने हर्षचरितके तृतीय उच्छ्वासमें स्थाण्वीश्वर नगरका वर्णन करते हुए वहाँ गुरुकुलोंका अस्तित्व सूचित किया है। उसने स्वयं भी गुरुकुलोंका सेवन किया था। ये गुरुकुल कहाँ होते थे? कैसे होते थे? और उनमें क्या-क्या विषय पढ़ाये जाते थे? इसपर वाणने लिखा है कि गुरुकुल किसी नगरमें ही होते थे, पर छोटे गुरुकुल या विद्यालय ग्राममें भी होते थे। वाणका प्रीतिकूट नामक

ग्राम बालक-बालिकाओंके अध्ययनसे मुखरित रहता था। अतः स्पष्ट है कि सातवीं सदीमें गाँवोंमें भी पढ़ाईकी व्यवस्था थी। ये गुरुकुल कैसे होते थे? इस विषयमें वाणने लिखा है कि उसका घर पढ़नेकी ध्वनिसे गुंजित रहता था। विद्यार्थी ललाटपर भस्मका तिलक लगाते थे। यज्ञके लोभसे वटुगण (विद्यार्थी) वहाँ जाते थे। वहाँके तोता, मैनातक शिष्योंको पढ़ा लेते थे, जिनसे उपाध्यायोंको विश्रामका सुख मिलता था और वहाँ तीनों वेद पढ़ाये जाते थे। वाणके घर लौटनेपर उसने अपने ग्रामवासी भाइयोंसे मन्त्रपठन, वेदाभ्यास, यज्ञविद्या या कर्मकाण्ड, व्याकरण, न्याय, मीमांसा और काव्यालापके पूर्ववत् चलते रहनेका समाचार पूछा है, जिससे संकेत मिलता है कि इन गुरुकुलोंमें—(१) अक्षराभ्यास, (२) वेदाभ्यास, (३) कर्मकाण्ड, (४) व्याकरण, (५) न्याय, (६) मीमांसा और (७) काव्य—ये सात विषय पढ़ाये जाते थे।

गुरुकुलोंके अतिरिक्त शिक्षालयके रूपमें आश्रममें चलनेवाले अनवरत शास्त्राभ्यासका उल्लेख वाणने किया है। अतः स्पष्ट है कि गुरुकुल और आश्रम-शिक्षालय दो प्रकारके विद्यालय थे। आश्रम-शिक्षालयोंमें अनेक देशोंसे आये छात्र अपने-अपने सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंका श्रवण, चिन्तन, उच्चारण, शङ्का-समाधान, व्युत्पत्ति, वाद-विवाद, अभ्यास एवं व्याख्या करते थे। अतः यह निश्चित है कि कुछ ऐसे भी विद्याकेन्द्र या आश्रम थे जहाँ विश्वविद्यालयीन स्तरकी शिक्षा प्राप्त होती थी। हुएनसांगने ऐसे शिक्षाकेन्द्रोंमें नालन्दा महाविहारका उल्लेख किया है, जो आधुनिक पटना जिलेके राजगृहसे आठ मीलकी दूरीपर बड़गाँवके पास था। यहाँ दस हजार छात्र और एक हजार अध्यापक थे। भोजनालय निःशुल्क थे। शब्द-विद्या (व्याकरण), हेतुविद्या (न्याय), अध्यात्मयोग, तन्त्र, चिकित्सा, शिल्प और रसायन पढ़ाईके विषय थे। यहाँ मुख्य व्यवस्थापकोंमें क्रमशः द्वारपण्डित, धर्मकोश, कर्मदान और स्थविर मुख्य थे।



श्रीरामकृष्ण और उच्च शिक्षा

(स्वामी श्रीविदेहात्मानन्दजी)

ईसाके जन्मके लाखों वर्ष पूर्व सत्ययुग या वैदिककालसे ही भारतवर्षमें लौकिक एवं पारमार्थिक अनेकविध विद्याओंका प्रस्फुटन होता रहा है। उस सुदूर प्राचीनमें शिक्षाके केन्द्र नागरिक कोलाहल एवं चाकचिक्यसे दूर वनों, पर्वतों तथा तीर्थक्षेत्रोंमें विकसित हुआ करते थे, जहाँ समाजके सभी श्रेणीके विद्यार्थी सादगी एवं त्याग-तपस्याके परिवेशमें आचार्योंके प्रति श्रद्धा एवं सेवाका भाव रखते हुए अपने जीवनके पचीसवें वर्षतक सभी प्रकारकी शिक्षाका अर्जन करते थे। इन शिक्षा-संस्थानोंको गुरुकुल अथवा आश्रमकी संज्ञा दी जाती थी। ज्ञानको इतना पुनीत माना जाता था कि इसका केवल दानके रूपमें ही आदान-प्रदान किया जाता था। उपनिषदों, पुराणों, रामायण, महाभारतमें हम ऐसे अनेक विद्यापीठोंका उल्लेख पाते हैं। फिर बौद्ध-युगमें तो विद्याका और भी उत्कर्ष हुआ। नालन्दा और तक्षशिलामें पूरे एशियाके दूर-दूर देशोंके विद्यार्थी भी अध्ययनार्थ आया करते थे। इसके अतिरिक्त दक्षिणमें कांचीपुरम्, गुजरातमें वलभी, बिहारमें विक्रमशिला एवं अवन्तिपुरी तथा बंगालमें नवद्वीप भारतीय विद्याके प्राचीन केन्द्रोंके रूपमें विख्यात रहे हैं।

लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व बौद्ध प्रभावसे भारतीय सभ्यता एवं संस्कृतिकी अवनति होने लगी और हिंदू-समाज इतना अहिंसावादी हो गया कि मुट्ठीभर विदेशी आक्रान्ताओंके आक्रमणका सामना नहीं कर सका और आगामी कुछ शताब्दियोंमें विस्तारोन्मुख इस्लामी साम्राज्यने भारतीय उच्चतम शिक्षा-प्रणालीको पूर्णतः विध्वस्त कर दिया। मुसलमान शासकोंने अपनी संस्कृति एवं शिक्षाके विस्तार-हेतु इलाहाबाद, अजमेर, बीदर, दिल्ली, जौनपुर, लाहौर, लखनऊ और रामपुर आदि स्थानोंमें बड़े मदरसोंकी

स्थापना की, जहाँ अरबी एवं फारसीको ही शिक्षाका माध्यम बनाया गया । भारतकी परम्परागत शिक्षाका क्षेत्र संकुचित होता गया और बहुत-सी विद्याओंका पूर्णतः लोप हो गया ।

१७वीं-१८वीं शताब्दीसे भारतमें अंग्रेजोंका प्रभाव बढ़ने लगा और ज्यों-ज्यों भारतमें उनका साम्राज्य पाँव पसारता गया, त्यों-त्यों शासकवर्ग स्थानीय लोगोंको शिक्षित करनेकी आवश्यकताका अनुभव करने लगे । इस दिशामें छिटपुट प्रयास होते रहे, परंतु भारतमें पाश्चात्त्य उच्च शिक्षाकी प्रणालीको व्यापक स्तरपर प्रारम्भ करनेका श्रेय लार्ड हेस्टिंग्ज, कर्जन और मैकालेको दिया जाता है । लॉर्ड मैकाले १८३४ ई०में गवर्नर जनरलके सर्वोच्च कौंसिलके 'ला मेम्बर' के रूपमें भारत आये । उन दिनों सरकारमें विवाद छिड़ा हुआ था कि शिक्षाका माध्यम संस्कृत, अरबी और फारसी ही रखा जाय अथवा उनकी जगह अंग्रेजीको स्थान दिया जाय । मैकालेने अंग्रेजी-शिक्षाके प्रबल समर्थनमें एक मसविदा तैयार किया और ७ मार्च १८३५ ई०को सरकारने उसे स्वीकार कर लिया । इसके फलस्वरूप भारतकी शिक्षासम्बन्धी नीतिमें एक बड़ा ही क्रान्तिकारी परिवर्तन आया । मैकालेने अपने उस मसविदेमें प्राच्य भाषाओं एवं संस्कृतिकी तीव्र निन्दा करते हुए अंग्रेजी-शिक्षाका उद्देश्य निम्नलिखित शब्दोंमें अभिव्यक्त किया था —

"We must at present do our best to form a class of such persons, who may be interpreters between us and the millions, whom we govern--a class of persons Indian in blood and colour, but English in tests, in opinions, in morals and in intellect" [1] (A source book of modern Indian Education, M.R. Paranjape, Page 28)

इस नवीन शिक्षा-प्रणालीके आधारपर सरकारने १८३६ ई०में पहले तो हुगलीमें, तदुपरान्त ढाका और पटनामें कॉलेजोंकी स्थापना की । उसी वर्षके अन्तमें १२ अक्टूबर १८३६ ई०को मैकालेने कलकत्तेसे अपने पिताको एक पत्रमें लिखा था—'हमारे अंग्रेजी स्कूल अद्भुत रूपसे उन्नति कर रहे हैं । शिक्षा पानेके इच्छुक सभी छात्रोंको पढ़ानेकी व्यवस्था कर पाना बड़ा कठिन हो रहा है और कहीं-कहीं तो असम्भव हो उठा है । एक हुगलीके स्कूलमें ही कुल चौदह सौ लड़के अंग्रेजी सीख रहे हैं और हिंदुओंपर इस शिक्षाका प्रभाव बड़ा ही विलक्षण होता है । अंग्रेजी-शिक्षा पानेके बाद कोई भी हिंदू अपने धर्मके प्रति सच्ची निष्ठा नहीं रख पाता । यद्यपि उनमें कुछ इसे (हिंदू-धर्मको) नीतिकी दृष्टिसे मानते हैं, पर बहुत-से अपनेको पूर्णतः अज्ञेयवादी मानते हैं और कुछ तो ईसाई-धर्म ही स्वीकार कर लेते हैं । मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा-योजनाएँ जारी रखी गयीं तो अबसे तीस वर्ष बाद बंगालके सम्भ्रान्त वर्गोंमें एक भी मूर्तिपूजक दृष्टिगोचर न होगा और यह सब केवल ज्ञान एवं चिन्तनकी स्वाभाविक प्रक्रियासे सम्पन्न हो जायगा । इसके लिये न तो हमें धर्मान्तरणकी कोई चेष्टा करनी होगी और न उनके धार्मिक स्वाधीनतामें थोड़ा भी हस्तक्षेप करना होगा । मुझे इन सम्भावनाओंपर हार्दिक आनन्दकी अनूभूति होती है ।' परवर्ती ५०-६० वर्षोंके इतिहासके घटनाचक्रोंका अध्ययन करके हम लॉर्ड मैकालेकी दूरदृष्टिकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते ।

मनुष्य सोचता कुछ और है परंतु नियतिको कुछ और ही स्वीकार होता है । १८३६ ई०में लॉर्ड मैकालेद्वारा प्रवर्तित आधुनिक शिक्षा देनेके निमित्त बंगालके हुगली नामक स्थानमें पहला कॉलेज खुला और उसी वर्ष उसी जिलेके कामारपुकुर नामक एक लघु ग्राममें १७ फरवरीको एक ऐसे शिशुने जन्म लिया, जिसने उक्त शिक्षा-प्रणालीके विनाशकारी प्रभावसे भारतको उबार लिया । बादमें

१. 'इस समय तो हमारा सर्वोच्च कर्तव्य एक ऐसा वर्ग तैयार करना है, जो हमारे तथा हमारे द्वारा शासित करोड़ों भारतवासियोंके बीच सम्पर्कसूत्रका कार्य करे । यह एक ऐसे लोगोंका वर्ग होगा, जो केवल रक्त एवं वर्णसे भारतीय दीखेंगे, पर रुचि, भाषा तथा आचार-विचार आदिकी दृष्टिमें अंग्रेज होंगे ।'

श्रीरामकृष्ण परमहंसके रूपमें सुविख्यात होनेवाले बालक गदाधरकी प्रारम्भसे ही सत्य एवं धर्ममें निष्ठा थी। रामायण, भागवत तथा पौराणिक कथाओं एवं भजन आदिकी ओर उसका रुझान था और बचपनसे ही उसे कुछ अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ भी होने लगी थीं। 'मैं पेट भरनेवाली विद्या प्राप्त करना नहीं चाहता'—कहकर उसने स्कूल जानेसे इनकार कर दिया था, फलतः वह आजीवन निरक्षर भट्टाचार्य ही रह गया। कलकत्ता उन दिनों ब्रिटिश भारतकी राजधानी थी, जहाँ उनके बड़े भाई रामकुमार चट्टोपाध्यायने एक छोटी-सी संस्कृत-पाठशाला खोल रखी थी, इसके अतिरिक्त कुछ सम्पन्न परिवारोंमें पूजा-पाठ करके वे अपनी आजीविका चला लेते थे। अपने साथ रखनेसे गदाधरकी थोड़ी शिक्षा भी हो जायगी और मेरे काममें भी सहायता मिल जायगी, ऐसा सोचकर वे अपने अनुजको कलकत्ते ले आये। उन्हीं दिनों कलकत्तेके समीप ही दक्षिणेश्वर नामक स्थानमें गङ्गा-तटपर रानी रासमणिने एक विशाल देवालय बनवाया, जिसमें भवतारिणी काली, राधाकान्त श्रीकृष्ण तथा बारह शिवके मन्दिर निर्मित हुए। एक युवकके रूपमें गदाधर (श्रीरामकृष्ण) यहीं काली-मन्दिरके पुजारी नियुक्त होकर रहने लगे। जगदम्बाकी पूजा करते समय उनके मनमें प्रश्न उठता कि माँकी मूर्ति पाषाणमात्र है अथवा उसमें जीवन भी है। उनकी कठोर साधना एवं व्याकुल प्रार्थनापर द्रवित होकर जगन्माताने प्रतिमासे चिन्मय रूपमें प्रकट होकर उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया। तदुपरान्त उन्होंने हिंदू-परम्पराके वात्सल्य, मधुर, दास्य आदि भावोंका आश्रय लेकर भी ईश्वरोपलब्धिकी, तन्त्र एवं वेदान्तकी साधनामें भी सिद्धि पायी। अपनी समस्त साधनाओंमें सिद्धि पा लेनेके पश्चात् वे इस निष्कर्षपर पहुँचे कि प्रत्येक धर्म मानवको ईश्वरतक ले जानेवाला एक-एक सच्चा मार्ग है।

फिर जैसे पुष्पके प्रस्फुटित होनेपर भौंरोंका झुंड अपने-आप ही खिंचा चला आता है, उसी प्रकार सभी तरहके धर्मपिपासुओंका दल दक्षिणेश्वरके परमहंसकी दो बातें सुननेको उमड़ पड़ा। इनमें हिंदू-अहिंदू, धनी-दरिद्र, शिक्षित-अशिक्षित, वृद्ध-युवा, पुरुष-नारी—सभी श्रेणीके लोग थे। उन दिनों सुचारुचालित पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे दिग्भ्रमित होकर बंगालके अधिकांश नवयुवक अपनी धर्म-संस्कृतिमें आस्था खो रहे थे और उनमेंसे कुछ ईसाई-धर्मकी ओर भी आकृष्ट हो रहे थे। हिंदू-संस्कृतिपर ईसाई-आक्रमणके प्रतिक्रियास्वरूप हिंदू-समाजने आत्मरक्षार्थ आर्य-समाज, ब्राह्म-समाज, प्रार्थना-समाज तथा अन्य सुधारक दलोंको जन्म दिया; पर ये दल भी मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि हिंदुत्वके अविभाज्य अङ्गोंपर कठोर आघात करने लगे थे। उसी समय श्रीरामकृष्णका जीवन प्रकाशमें आया, जो सर्वाङ्गीण हिंदूधर्मका जीवन्त साक्ष्य था।

श्रीयुत केशवचन्द्र सेन ब्राह्म-समाजके लोकप्रिय नेता एवं सुप्रसिद्ध वक्ता थे। ईसाई-धर्मकी ओर उनका विशेष रुझान था और वे इंग्लैंड आदि देशोंकी यात्रा भी कर आये थे। उस कालके अधिकांश और विशेषकर बंगालके शिक्षित नवयुवक प्रेरणा एवं नेतृत्वके लिये उनकी ओर बड़ी आशाभरी दृष्टिसे देखते थे। १८७५ ई॰में केशव बाबूका श्रीरामकृष्णके सम्पर्कमें आना एक महान् ऐतिहासिक घटना थी और इसके बड़े दूरगामी परिणाम हुए। श्रीरामकृष्णके साथ अपने भेंटोंकी बातें केशव बाबूने अपने पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित कीं, जिसके फलस्वरूप भारतका सम्पूर्ण शिक्षित समाज दक्षिणेश्वरके इन निरक्षर, परंतु ज्ञानी संतके विचारों एवं अनुभूतियोंसे परिचित हुआ। बड़े-बड़े देशी पण्डित एवं विदेशी विद्वान् उनका दर्शन करने तथा उनके दो शब्द श्रवण करनेको लालायित हो उठे। इस प्रकार सम्पूर्ण शिक्षित समाज धीरे-धीरे सर्वाङ्गीण हिंदू-धर्मके विषयमें अपना दृष्टिकोण बदलने लगा। ब्राह्म समाजके ही एक अन्य प्रसिद्ध नेता श्रीप्रतापचन्द्र मजुमदारने 'Theistic Quarterly Review' अक्टूबर १८७९ ई॰के अङ्कमें श्रीरामकृष्णके विषयमें एक सुन्दर लेख लिखा, जिसमें इस प्रभावका वे निम्नलिखित शब्दोंमें वर्णन करते हैं—'उनके और मेरे बीच भला क्या सादृश्य है? कहाँ तो मैं यूरोपीय भावापन्न, सुसभ्य, आत्मकेन्द्रित, अर्धनास्तिक और तथाकथित शिक्षित युक्तिवादी हूँ और कहाँ वे एक अपढ़, निर्धन, ग्रामीण, मूर्तिपूजक और

परिचयहीन हिंदू-भक्त हैं। क्यों मैं उनकी बातें सुननेके लिये घंटों बैठा रहता हूँ। मैंने जिसने डिजरायली और फासेटके व्याख्यान सुने हैं, स्टैनली और मैक्समूलरके भाषण सुने हैं, समस्त यूरोपीय विद्वानों एवं धर्मनेताओंकी वक्तृताएँ सुनी हैं, भला क्यों उनकी वाणी सुनते हुए मन्त्रमुग्ध-सा रह जाता हूँ? और केवल मैं ही नहीं, अपितु मेरे ही-जैसे और भी दर्जनों लोग उनके पास इसी प्रकार जाया करते हैं।'

इस लेखके प्रकाशित होनेके कई वर्ष बाद स्वामी विवेकानन्दकी पारी आयी। तब वे १८-१९ वर्षके तरुण थे तथा नरेन्द्रनाथ दत्तके नामसे जाने जाते थे। कालेजकी शिक्षा पाकर तथा ब्राह्म-समाजके सम्पर्कमें आकर नरेन्द्रनाथ परम्परागत हिंदू-धर्ममें अपनी आस्था खो बैठे, उन्होंने मूर्तिपूजा न करनेका प्रतिज्ञापत्र भर दिया और यहाँतक कि वे ईश्वरके अस्तित्वमें भी संदेह करने लगे। उनके मनमें यह सहज प्रश्न उठने लगा कि यदि इस जगत्के कर्ता, धर्ता या संहर्ताके रूपमें सचमुच ही किसी ईश्वरका अस्तित्व है, तो क्या किसीने उनका दर्शन भी किया है? इस प्रश्नको लेकर वे अपने समयके सभी प्रमुख धर्माचार्योंतक गये, पर कोई भी उनकी शङ्काका समाधानपरक उत्तर दे सका। अन्ततः वे अपने कालेजके पादरी प्राध्यापकके संकेतसे दक्षिणेश्वर जाकर श्रीरामकृष्णसे मिले और उनके समक्ष भी अपना वही पुराना प्रश्न दुहराया—'क्या आपने ईश्वरको देखा है?' परंतु इस बार उन्हें एक अप्रत्याशित उत्तर मिला—'हाँ देखा है। जैसे तुझे देख रहा हूँ, उससे भी कहीं स्पष्टरूपसे उन्हें देखता हूँ।' नरेन्द्रनाथके बौद्धिक संशयका कुहासा छँटने लगा और उनका अन्तर आस्था एवं श्रद्धाकी रवि-रश्मियोंसे उद्भासित हो उठा। आगामी चार वर्षोंतक वे कॉलेजमें पाश्चात्त्य शिक्षा पानेके साथ ही श्रीरामकृष्णके सांनिध्यमें साधना एवं स्वाध्यायके द्वारा अध्यात्मविद्या भी आयत्त करते रहे। इस अद्भुत मिलनका वर्णन सुप्रसिद्ध कवि रामधारीसिंह 'दिनकर' ने इन शब्दोंमें किया है—'वस्तुतः नरेन्द्रनाथ जब श्रीरामकृष्णकी शरणमें गये, तब वस्तुतः नवीन भारत ही प्राचीन भारतकी शरणमें गया था। अथवा यूरोप भारतके सामने आया था। श्रीरामकृष्ण और नरेन्द्रनाथका मिलन श्रद्धा और बुद्धिका तथा रहस्यवाद और बुद्धिवादका मिलन था।'[२] स्वामी विवेकानन्द स्वयं भी इस प्रसङ्गमें कहते हैं—'आजकल मूर्तिपूजाको गलत बतानेकी प्रथा-सी चल पड़ी है। मैंने भी एक समय ऐसा ही सोचा था और इसके दण्डस्वरूप मुझे एक ऐसे व्यक्तिके चरण-कमलोंमें बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी, जिन्होंने सब कुछ मूर्तिपूजाके ही द्वारा प्राप्त किया था।'[३]

स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य सहस्रों पाश्चात्त्य-भावापन्न नवयुवकोंको श्रीरामकृष्णने जो भारतीय संस्कृतिका दुग्धपान कराया था, इस विषयमें प्रसिद्ध क्रान्तिकारी, दार्शनिक एवं योगी श्रीअरविन्दने भी बम्बईमें १९ जनवरी १९०८ ई॰को प्रदत्त व्याख्यानमें कहा था—'परमात्माने उन्हें बंगालमें भेजा और कलकत्तेके दक्षिणेश्वर-मन्दिरमें नियुक्त किया। उत्तर एवं दक्षिणसे, पूर्व एवं पश्चिमसे शिक्षित लोग, ऐसे लोग जो विश्वविद्यालयके गौरव थे और जिन्होंने वह सब कुछ पढ़ लिया था, जो यूरोप उन्हें पढ़ा सकता था, इन संन्यासीके चरणोंमें बैठनेके लिये आये। (और तभीसे) मुक्तिका कार्य, भारतकी उन्नतिका कार्य प्रारम्भ हो गया।'

आक्सफोर्डके जर्मन प्राध्यापक मैक्समूलरने कहा था—'श्रीरामकृष्ण एक मौलिक विचारक थे; क्योंकि उनकी शिक्षा-दीक्षा किसी विश्वविद्यालयकी परिधिमें नहीं हुई थी।' फ्रांसके सुप्रसिद्ध नोबल पुरस्कार-विजेता मोशियो रोमाँ रोलाँने उन्हें नरदेव (Man-God) और 'विश्वात्माकी अनुपम संगीत रचना' के रूपमें प्रस्तुत किया। इसी प्रकार विश्वके अनेक देशोंके हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी विद्वानों, मनीषियों एवं विचारकोंने श्रीरामकृष्णके अनुपम व्यक्तित्वके प्रति तीव्र आकर्षणका अनुभव किया है।

---

२. संस्कृतिके चार अध्याय, 'दिनकर', पृ॰ ४९५।
३. विवेकानन्द-साहित्य, खण्ड ५, पृ॰ ११३।

यह सोचकर बड़ा ही विस्मय होता है कि कैसे भारतके एक सुदूर गाँवमें जन्मा एक निर्धन एवं अशिक्षित व्यक्ति विश्वभरके इतने सारे प्रतिभावान् लोगोंका श्रद्धाभाजन एवं प्रेरणाका केन्द्रबिन्दु बन सकता है, परंतु थोड़ा-सा विचार करनेपर ही इसका कारण स्पष्ट समझमें आ जाता है। श्रीरामकृष्णने अपनी साधनामें वैज्ञानिक पद्धतिका सहारा लिया और साक्षात्कार किये बिना किसी भी बातको सत्य नहीं माना। अनुभूतिपर आधारित होनेके कारण ही उनकी उक्तियाँ इतनी अपील करती हैं। महात्मा गाँधी लिखते हैं—'उनका जीवन हमें ईश्वरको प्रत्यक्ष-रूपसे देखनेमें समर्थ बनाता है। उनकी उक्तियाँ एक पण्डितके विचारमात्र नहीं, अपितु उनके जीवनग्रन्थके पृष्ठ हैं। वे उनकी अपनी अनुभूतियोंकी अभिव्यक्तियाँ हैं।' इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीरामकृष्णने धर्मको एक वैज्ञानिक एवं यौक्तिक आधार प्रदान किया है।

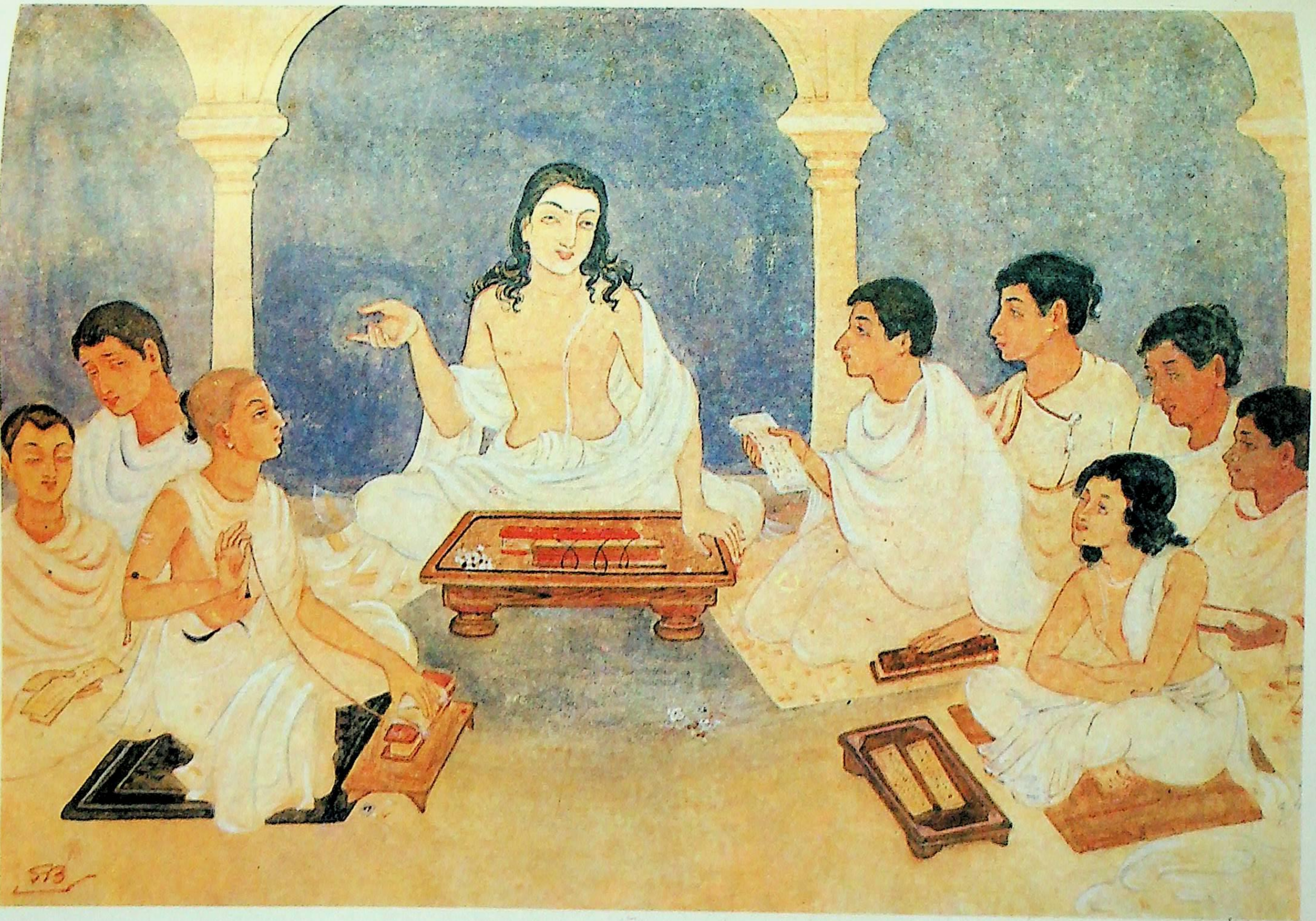
आज जो धर्मके नामपर अज्ञान, अन्धविश्वास तथा साम्प्रदायिक विद्वेषका राज्य चल रहा है, उसके लिये पर्याप्त हदतक हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली तथा सरकारकी धर्मनिरपेक्षताकी नीति ही उत्तरदायी है। धर्मनिरपेक्षताका अर्थ धर्महीनता लगाकर यदि लोगोंको धर्मके आलोकसे वञ्चित रखा जायगा तो फिर अधर्मका अन्धकार फैलनेसे कौन रोक सकता है? यदि हमें धर्मके नामपर प्रचलित अयुक्तिपूर्ण प्रथाओं, अन्धविश्वासों, कट्टरता, पुनरुत्थानवाद, जादू-टोने, रहस्यवाद, साम्प्रदायिक कलह आदिसे देश एवं समाजको बचाना है, तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम शिक्षाके सभी स्तरों और विशेषकर विश्वविद्यालयके पाठ्यक्रममें धर्मकी शिक्षाको अनिवार्यरूपसे संयोजित कर दें। शिक्षाका लक्ष्य इन्द्रियग्राह्य विषयोंके साथ ही इन्द्रियातीत तत्त्वोंका भी ज्ञान पाना हो। शिक्षा-संस्थानोंके उपयोगके लिये सभी धर्मके मूल तत्त्वोंका सार-संग्रह करना होगा और इस दिशामें श्रीरामकृष्ण और उनकी उक्तियाँ दिशा-निर्देश कर सकती हैं; क्योंकि स्वामी विवेकानन्दके शब्दोंमें 'श्रीरामकृष्णका जीवन एक असाधारण ज्योतिर्मय दीपक है, जिसके प्रकाशमें हिंदू-धर्मके विभिन्न अङ्ग एवं आशय समझे जा सकते हैं। शास्त्रोंमें निहित सिद्धान्त-रूप ज्ञानके वे प्रत्यक्ष उदाहरणस्वरूप थे। ऋषिगण और भगवान्के अवतार हमें जो वास्तविक शिक्षा देना चाहते थे, उसे उन्होंने अपने आचरणद्वारा दिखाया। श्रीरामकृष्ण शास्त्रीय मतवादकी प्रत्यक्ष अनुभूति हैं। उन्होंने ५१ वर्षमें पाँच हजार वर्षका राष्ट्रिय आध्यात्मिक जीवन जिया और इस तरह वे भविष्यकी संतानोंके लिये अपने-आपको एक शिक्षाप्रद उदाहरण बना गये।'[४]

अहंकार-दमन

एक पढ़े-लिखे बाबू नावद्वारा नदी पार कर रहे थे। उन्होंने नाविकसे पूछा—'क्या तुम व्याकरण जानते हो?' नाविकने उत्तर दिया—'नहीं।' बाबूने कहा—'तुम्हारी चार आनेकी जिंदगी निकम्मी है।' थोड़ी देर बाद बाबू फिर बोले—'क्या तुम्हें काव्य करना आता है?' नाविकने कहा —'नहीं।' 'फिर तो तुम्हारी आठ आना जिंदगी बेकार हो गयी।' बाबूने कहा—'अच्छा, तो तुमको गणित तो आता होगा?' नाविक बोला—'बाबूजी! मुझे गणित भी नहीं आता।' बाबूने कहा कि 'तब तो तुम्हारी बारह आना जिंदगी व्यर्थ हो गयी।'

उसी समय संयोगवश नदीमें तूफान उठा और नाव डगमगाने लगी। नाविक नदीमें कूद गया और तैरते हुए उसने बाबूसे पूछा—'बाबूजी! तैरना तो आप जानते होंगे?' बाबू बोले—'नहीं।' नाविकने कहा 'फिर तो आपकी जिंदगी इस समय सोलह आना पानीमें है।'

४. विवेकानन्द-साहित्य खण्ड ३, पृ० ३३९।



चैतन्यमहाप्रभुकी भक्ति-शिक्षा




परम तत्त्वोपदेष्टा गुरु और जिज्ञासु शिष्य

(डॉ० श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी)

भारतीय परम्परामें गुरु, आचार्य, उपाध्याय आदि शब्दोंका पारिभाषिक अर्थोंमें प्रयोग मिलता है। पर 'गुरु' शब्द सर्वत्र विशेष व्याप्त है। प्राचीन साहित्यकी आलोचना करनेसे यह सुस्पष्ट है कि तान्त्रिक-प्रधान धर्मसम्प्रदायोंके मध्यमें तथा अध्यात्मसाधनाके क्षेत्रोंमें गुरुकी अपरिहार्यता है। अध्यात्म एवं साधनाका वैशिष्ट्य आरम्भसे ही गौरवमयी मूर्तिके रूपमें स्वीकृत है। दीक्षाके बिना किसी भी क्रियामें अधिकार न होनेके कारण कुलार्णवतन्त्र आदिके अनुसार गुरुकी विभिन्न व्याख्याओंके साथ महत्त्व वर्णित है—'**तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत्।**' (कु० त० १४)।

मोक्षकी प्राप्ति ही सम्प्रदायका परम लक्ष्य है और इसकी प्राप्ति गुरुसे दीक्षित हुए बिना सम्भव नहीं है, अतः अनायास ही गुरुका महत्त्व सिद्ध होता है—

विना दीक्षां न मोक्षः स्यात् तदुक्तं शिवशासने।
सा च न स्याद्विनाऽऽचार्यमित्याचार्यपरम्परा॥

मुण्डकोपनिषद्में स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मज्ञ गुरु संयत-इन्द्रियसम्पन्न प्रशान्त-चित्त समीपमें आये हुए शिष्यको तत्त्वके अनुरूप उस ब्रह्मविद्याका उपदेश दे।[1] जिसके द्वारा शिष्य अक्षर पुरुषके स्वरूपको भलीभाँति अवगत करे। इनसे सुस्पष्ट है कि सिद्ध गुरुमुखसे ही विद्याका लाभ करना चाहिये।

रुद्रयामल (उ० ४।२) के अनुसार गुरुका स्वरूप वर्णन करते हुए कहा गया है कि शान्त, जितेन्द्रिय, कुलीन, शुद्ध वेश धारण करनेवाला, पवित्र आचार-सम्पन्न, सुप्रतिष्ठित, शुद्ध, दक्ष, सुबुद्धि, आश्रमी अर्थात् गृहस्थ, ध्याननिष्ठ, मन्त्रार्थका ज्ञान करानेवाला, निग्रह और अनुग्रह करनेमें समर्थ, मन्त्र-तन्त्र-विशारद, रोगहीन, अहङ्काररहित, निर्विकार, महापण्डित, वाक्पति, श्रीसम्पन्न, सदा यज्ञका विधान करनेवाला, पुरश्चरणका सम्पादक, सिद्ध-हित और अहित-विवर्जित, सभी सुन्दर लक्षणोंसे समन्वित, विशिष्ट व्यक्तियोंके द्वारा समादृत, प्राणायामादि-सिद्ध, ज्ञानी, मौनी, वैराग्यसम्पन्न, तपस्वी, सत्यवादी, सदा ध्यानपरायण, आगमके अर्थोंका विशेषज्ञ, अपने धर्मके आचरणमें तत्पर, अव्यक्त लिङ्गचिह्नयुक्त, भावुक, कल्याणकर, दानपरायण, लक्ष्मीवान्, धैर्यसम्पन्न एवं प्रभुतासम्पन्न गुरु होना चाहिये।

सम्मोहनतन्त्र, कुलार्णवतन्त्र, तन्त्रराजतन्त्र आदिमें अतिशय विस्तारके साथ गुरुका स्वरूप वर्णित है। यह सत्य है कि शास्त्रोक्त लक्षणसम्पन्न गुरु सर्वथा दुर्लभ हैं, किंतु गुरुतन्त्रके अनुसार गुरुके विषयमें ऐसा वर्णन किया गया है कि शिष्यके वित्त (धन)का अपहरण करनेवाले गुरु अनेक हैं, परंतु शिष्यके हृदयके संतापको दूर करनेवाले गुरु दुर्लभ हैं। इन गुरुओंमें शिष्योंको अभ्युदय-योग और निःश्रेयस्-मोक्ष प्रदान करनेवाले गुरु श्रेष्ठ हैं।

गुरु और शिष्यकी परस्पर परीक्षा

गुरु और शिष्यकी परीक्षा दीक्षार्थी शिष्य और शिक्षा देनेवाले गुरुके प्रसंगमें कही गयी है। अयोग्य शिष्यको मन्त्र देनेपर देवताके अभिशापकी सम्भावना रहती है। जिस प्रकार मन्त्रीके द्वारा किये गये पापका भोग राजाको करना पड़ता है तथा पत्नीके द्वारा किये गये पापका भोग

---

१. तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ (१।२।१३)

पतिको भी करना पड़ता है, वैसे ही शिष्यके पापका भागी गुरु होता है, इसमें संदेह नहीं है—

मन्त्रिदोषश्च राजानं जायादोषः पतिं यथा।
तथा प्राप्नोत्यसंदेहं शिष्यपापं गुरुं प्रिये॥

(उ० त० ११)

यदि स्नेह या लोभके कारण अयोग्य शिष्यको दीक्षा दी जाती है तो गुरु और शिष्य दोनोंको ही देवताका अभिशाप लगता है—

स्नेहाद्वा लोभतो वापि योऽनुगृह्णाति दीक्षया।
तस्मिन् गुरौ च शिष्ये तु देवता शापमापतेत्॥

(प्र० सा० त० ३६५०)

इसलिये शिष्य बनानेके पहले उसकी परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। सारसंग्रहके अनुसार एक वर्ष शिष्यकी परीक्षाका समय निर्धारित किया गया है। वर्णके अनुसार परीक्षा-कालका भेद भी शारदातिलकमें वर्णित है, यथा—ब्राह्मणका एक वर्ष, क्षत्रियका दो वर्ष, वैश्यका तीन वर्ष और शूद्रका चार वर्ष कहा गया है। शारदातिलक (२।१४५,२५०) में कहा गया है कि सत्-शिष्यको कुलीन, शुद्धात्मा, पुरुषार्थपरायण, वेदाध्ययनसम्पन्न, काममुक्त, प्राणियोंका हितचिन्तक, अपने धर्ममें निरत, भक्तिपूर्वक पिता-माताका हितकारी, शरीर, मन, वाणी और धनके द्वारा गुरुकी सेवामें रत, गुरुके सम्पर्कमें जाति, विद्या और धनके अभिमानसे शून्य, गुरुकी आज्ञाका पालन करने-हेतु प्राणविसर्जनके लिये उद्यत, अपना काम छोड़कर भी गुरुके कार्यके लिये तत्पर, गुरुके प्रति भक्तिपरायण, आज्ञाकारी और शुभाकाङ्क्षी होना चाहिये।

'तन्त्रराज'के अनुसार सुन्दर, सुमुख, स्वच्छ, सुलभ, श्रद्धावान्, निश्चित आशयवाला, लोभरहित, स्थिर-शरीर, ऊहापोह-कुशल (प्रेक्षाकारी), जितेन्द्रिय, आस्तिक, गुरु, मन्त्र और देवताके प्रति दृढ़ भक्तिसम्पन्न शिष्य गुरुके लिये सुखप्रद होता है अन्यथा वह दुःखदायी होता है।

इतना ही नहीं, आचार्योंने त्याज्य शिष्योंका भी लक्षण बतलाया है। रुद्रयामलके अनुसार कामुक, कुटिल, लोकनिन्दित, असत्यवादी, अविनीत, असमर्थ, प्रज्ञाहीन, शत्रुप्रिय, सदा पाप-क्रियामें रत, विद्याहीन, मूढ़, कलिकालके दोषोंसे समन्वित, वैदिक क्रियासे रहित, आश्रमके आचारसे शून्य, अशुद्ध अन्तःकरणवाला, श्रद्धाहीन, धैर्यरहित, क्रोधी, भ्रान्त, असच्चरित्र, गुणहीन, सदा पर-स्त्रीके लिये आतुर, भक्तिहीन, अनेक प्रकारकी निन्दाओंका पात्र शिष्य वर्जित माना गया है।

इस प्रकार पुराणों और तन्त्र-ग्रन्थोंमें गुरु-शिष्यके विषयमें विशद वर्णन मिलता है। गुरुकी महिमाका वर्णन करते हुए मुण्डमालातन्त्रमें सम्पूर्ण विश्वको गुरुमय माना गया है—

गुरुरेकः शिवः साक्षाद् गुरुः सर्वार्थसाधकः।
गुरुरेव परं तत्त्वं सर्वं गुरुमयं जगत्॥

कौलावली-निर्णयमें कहा गया है कि ब्रह्मा, पराशर, व्यास, विश्वामित्र आदिने गुरुशुश्रूषाके कारण ही सिद्धि लाभ किया था। योगसूत्रमें भी ईश्वरको गुरु-रूपमें वर्णित करते हुए कहा गया है कि अनवच्छिन्नकालसे ही वह सभीका गुरु है—**'स सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।'** इस प्रकारके महत्त्वके लिये 'गुरु' शब्दसे उनका अभिधान किया गया है। अनेक उपनिषदोंमें शिष्योंकी गाथाएँ उपलब्ध हैं, जिनके द्वारा यह सिद्ध है कि सद्गुरुके समीप आत्मनिवेदन या शरणागतिके द्वारा आध्यात्मिक ज्ञानकी उपलब्धि हो जाती है। जैसे—श्वेतकेतु, नचिकेता, मैत्रेयी आदिको सत्यनिष्ठ रूपमें गुरुके समीप जाकर उनके आज्ञानुसार सेवामें तत्पर होनेसे सभी कुछ प्राप्त हुए थे। पौराणिक एवं आधुनिक गाथाएँ भी इसका साक्ष्य वहन कर रही हैं, जैसे ध्रुव, प्रह्लाद आदि।

श्रीगुरुके प्रति कर्तव्य

गुरु, कुलशास्त्र, पूज्यस्थान—इनके पूर्वमें श्रीशब्दका प्रयोग कर भक्तिपूर्वक उच्चारण करते हुए प्रणाम करे। अपना और गुरुके नामका उच्चारण न करे। जपके अतिरिक्त विचार आदिके समयमें गुरुका नाम उच्चारण न कर श्रीनाथ, स्वामी, देव आदि शब्दोंसे गुरुका उल्लेख करना शिष्यके लिये विहित है।

आगमानुसार आनन्दनाथ एवं अम्बा शब्दका अन्तमें प्रयोग कर विचार और साधनाके समय गुरुका स्मरण करना चाहिये। गुरुके सम्मुख मिथ्या भाषण करनेपर



तत्त्वोपदेष्टा गुरु और जिज्ञासु शिष्य

गोवध एवं ब्रह्मवधका-सा पाप होता है । गुरुके साथ एक आसनपर शिष्यको नहीं बैठना चाहिये तथा गुरुके आगे-आगे नहीं चलना चाहिये । शक्ति, देवता और गुरुकी छायाका लङ्घन नहीं करना चाहिये । गुरुके समीप रहनेपर उनके आदेशके बिना, उनकी वन्दनाके बिना निद्रा, ज्ञानका परिचय- प्रदान, भोजन, शयन न करे । अपना प्रभुत्व और औद्धत्य न प्रकट करे तथा शास्त्र-व्याख्यान, दीक्षा आदि न दे । गुरुकी आज्ञाके बिना उनकी वस्तुको नहीं लेना चाहिये । इष्टतम वस्तु गुरुको प्रदान करनी चाहिये । शिष्यके द्वारा किया गया पुष्प आदि स्वल्प वस्तुका दान भी शिष्यको अधिक महत्त्वका मानना चाहिये । गुरुवंश भी शिष्यकी पूजाके योग्य है । युवती गुरुपत्नीके पैरका स्पर्श हाथसे न करे । शिष्य गुरुकी निन्दा न करे, उसे गुरुकी निन्दा भी नहीं सुननी चाहिये । रुद्रयामलके अनुसार शिष्य जिस दिनसे गुरुकी निन्दा, पिशुनता आदि करता है, उसी दिनसे देवी उसकी पूजाको स्वीकार नहीं करतीं ।

कुलचूडामणिके अनुसार उदासीनका गुरु उदासीन होगा । वानप्रस्थाश्रमीका गुरु वनवासी अर्थात् वानप्रस्थी होगा । यतिका गुरु यति होगा और गृहस्थका गुरु गृहस्थ होगा—

उदासीनो ह्युदासिनां वनस्थो वनवासिनाम् ।
यतीनां च यतिः प्रोक्तो गृहस्थानां गुरुर्गृही ॥

रुद्रयामल एवं महाकपिञ्जल-पञ्चरात्रके अनुसार भी गृहस्थका गुरु गृहस्थ ही होना चाहिये । मत्स्यसूक्तवचनके अनुसार स्त्री-पुत्रसमन्वित गुरु ही गृहस्थका गुरु होता है—**'पुत्रदारैश्च सम्पन्नो गुरुरागमसम्मतः ।'**

गणेशविमर्शिनी तन्त्रके अनुसार गृहस्थको यति, पिता, वानप्रस्थाश्रमी एवं उदासीनसे दीक्षा नहीं ग्रहण करनी चाहिये ।[२] आशय यह है कि गृहस्थके लिये गृहीकी ही दीक्षा विहित है ।

गुरुके भेद

कुलार्णवतन्त्रके अनुसार गुरुके छः भेद बतलाये गये हैं—प्रेरक, सूचक, वाचक, दर्शक, शिक्षक और बोधक ।[३]

वस्तुतः अन्य तन्त्रोंके अनुसार गुरुके दो ही भेद माने गये हैं—दीक्षागुरु और शिक्षागुरु । साधना-व्यापारमें प्रथम दीक्षागुरु तत्पश्चात् शिक्षागुरु होते हैं ।[४] दीक्षागुरु और शिक्षागुरु एक या भिन्न भी हो सकते हैं ।

तन्त्रके अनुसार गुरु आचार्य एवं देशिक नामसे कहे जाते हैं । आचार्य शब्द प्राचीन है और देशिक शब्द सम्प्रदाय-क्रममें उपलब्ध होता है, किंतु उपनिषद्में शिक्षागुरु ही व्यवहृत होता है ।

तन्त्रके आचार्यके व्याख्या-प्रसङ्गमें कहा गया है—'जो स्वयं आचरणके द्वारा शिष्यके आचारको प्रतिष्ठित करते हैं और शास्त्रार्थका निर्णय कर सकते हैं, वे आचार्य कहे जाते हैं । आचार-परायण शिष्यको स्वयं शिक्षा देनेवाला आचार्य कहा जाता है ।[५]

देशिक-रूपधारी देवता, शिष्यके प्रति अनुग्रहकारी तथा करुणामयी मूर्ति देशिक कहा जाता है । देवता, शिष्य और करुणा—इन तीन शब्दोंके आदि अक्षरको लेकर देशिक शब्द बनता है—

देवतारूपधारित्वाच्छिष्यानुग्रहकारणात् ।
करुणामयमूर्तित्वाद् देशिकः कथितः प्रिये ॥

(कु० तं० १७)

महाभारतके अनुसार उपदेशकुशलको 'देशिक' कहा जाता है—

धर्माणां देशिकः साक्षात् स भविष्यति धर्मभाक् ।

(महा० भा० १३ । १४७ । ४२)

इस प्रकार तन्त्रके अनुसार संक्षेपमें 'गुरु-शिष्य'-भावका दिग्दर्शन कराया गया है ।

---

२. पितुर्दीक्षा यतेर्दीक्षा दीक्षा च वनवासिनः । विविक्ताश्रमिणो दीक्षा न सा कल्याणदायिनी ॥ (पू० च० त० १ । ६४)
३. प्रेरकः सूचकश्चैव वाचको दर्शकस्तथा । शिक्षको बोधकश्चैव षडेते गुरवः स्मृताः ॥ (कु० १३)
४. गुरुस्तु द्विविधः प्रोक्तो दीक्षाशिक्षाप्रभेदतः । आदौ दीक्षागुरुः प्रोक्तः शेषे शिक्षागुरुर्मतः ॥ (पि० तं० २ । २)
५. स्वयमेवाचरेच्छिष्यानाचारे स्थापयत्यपि । आचिनोतीह शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन कथ्यते ॥
आचारवशमापन्नमध्यापयति । (कृ० त० १७)

शिक्षा एवं गुरु शब्दोंकी निरुक्ति

(श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)

'शिक्षा' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—**'शिक्ष विद्योपादाने'** धातुसे 'अ' प्रत्यय करके स्त्रीलिङ्गके लिये 'टाप्' प्रत्यय लगानेसे 'शिक्षा' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार इसका अर्थ होता है विद्याका उपादान या ग्रहण। 'शिक्षा' मनुष्यको जीवनके नानाविध क्षेत्रोंमें सफलता प्राप्त करनेके लिये सुयोग्य और सक्षम बनाती है।

'गुरु' शब्दकी व्युत्पत्ति अनेक प्रकारसे की जा सकती है—

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य हारकः।
उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः॥

(तन्त्रसार)

अर्थात् 'ग' अक्षर सिद्धिदायक कहा गया है और 'र' पापका हरण करनेवाला है। 'उ' अव्यक्त विष्णु है। इस प्रकार उन तीन अक्षरोंसे बना यह शब्द परमगुरुका वाचक है। **'गॄ शब्दे। गृणाति उपदिशति धर्मं ज्ञानं भक्तिं च इति। गृणाति उपदिशति तत्त्वं वेदादिशास्त्राणि आत्मज्ञानसाधनानि वा इति।'** अर्थात् धर्म, ज्ञान और भक्तिका उपदेश करनेके कारण वह गुरु कहलाता है। तत्त्वका, वेदादि शास्त्रोंका और आत्मज्ञानके साधनोंका उपदेश करनेके कारण उसे गुरु कहते हैं। **'गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वमनुष्यादिभिः। गीर्यते स्तूयते महत्त्वाद् इति वा।'**—देवों, गन्धर्वों और मनुष्य आदिसे स्तुति किये जानेके कारण वह गुरु कहलाता है। महिमा और माहात्म्यके कारण उसकी स्तुति की जाती है, इसीलिये उसे गुरु कहते हैं। **'गृ सेचने। गरति सिञ्चति ज्ञान-वारिणा शिष्यहृदयक्षेत्रम्।'** वह ज्ञान-वारिसे शिष्यके हृदय-क्षेत्रको सींचता है, इसलिये गुरु शब्दसे कहा जाता है। **'गॄ विज्ञाने। गारयते बोधयति वेदशास्त्रादीनि आत्मतत्त्वादिकं वा इति।'** वह वेदादि शास्त्रोंका तथा आत्मतत्त्व आदिका ज्ञान कराता है, इसलिये गुरु शब्दसे वाच्य है। **'गॄ निगरणे। गिरति गिलति अज्ञानम् इति।'** वह शिष्यके अज्ञानको निगल जाता है, इसलिये गुरु नामसे अभिहित होता है। **'गुरी उद्यमने। गुरते सत्पथे प्रवर्तयति शिष्यम् इति।'** शिष्यको सत्पथपर प्रवृत्त एवं परिचालित करता है, अतः वह गुरु कहा जाता है।

गुशब्दस्त्वन्धकारे स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधके।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥

(गुरुगीता १९)

'गु' शब्दका अर्थ है 'अन्धकार' और 'रु' शब्दका अर्थ है उसका निरोध या विनाश करनेवाला। इस प्रकार अन्धकारका निरोधक होनेसे वह 'गुरु' पदसे वाच्य है।

सच्चे गुरुके लक्षण

विदलयति कुबोधं बोधयत्यागमार्थं
सुगतिकुगतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति।
अवगमयति कृत्याकृत्यभेदं गुरुर्यो
भवजलनिधिपोतस्तं विना नास्ति कश्चित्॥

'सच्चा गुरु हमारे मिथ्याबोधको नष्ट कर देता है और हमें शास्त्रोंके सच्चे अर्थका बोध करा देता है, सुगति और कुगतिके मार्गों तथा पुण्य और पापका भेद प्रकट कर देता है, कर्तव्य और अकर्तव्यका भेद समझा देता है। उसके बिना और कोई भी हमें संसार-सागरसे पार नहीं कर सकता।'

अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते
प्रवर्तयत्यन्यजनं च निःस्पृहः।
स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः
स्वयं तरंस्तारयितुं क्षमः परम्॥

'यदि व्यक्ति अपना हित चाहता है तो उसे ऐसे गुरुका वरण करना चाहिये कि जो स्वयं पापरहित मार्गपर चलता है और निष्काम भावसे दूसरोंको भी उसी पथपर चलाता है, स्वयं तर चुका है और दूसरोंको तारनेमें समर्थ है।'

अन्तःस्थसच्चिदानन्दसाक्षात्कारं सुसाधयेत्।
योऽसावेव गुरुः प्रोक्तः परो नामधरः स्मृतः॥

'सच्चा गुरु वही है जो हमें हमारे अंदर स्थित

सच्चिदानन्दका साक्षात्कार सम्यक्तया करा दे । अन्य सब तो नामधारी गुरु ही हैं ।'

दुर्लभः सद्गुरुर्देवः शिष्यसंतापहारकः ।

'शिष्यके संतापको हरनेवाला सद्गुरुदेव अत्यन्त दुर्लभ है ।'

मन्त्रदाता गुरुः प्रोक्तो मन्त्रस्तु परमो गुरुः ।

'मन्त्रदाताको ही गुरु कहा गया है । वस्तुतः मन्त्र ही परम गुरु है ।'

गुरुकी शरण लेना अनिवार्य है

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ३ । २१)

'जो परमोच्च कल्याणका मार्ग जानना चाहता हो उसे गुरुदेवकी शरण लेनी ही चाहिये । गुरुदेव ऐसे हों जो शब्द-ब्रह्ममें—वेदादि शास्त्रोंमें निष्णात हों तथा नित्य-निरन्तर परब्रह्ममें प्रतिष्ठित रहते हों और जिनका चित्त पूर्णतया शान्त हो चुका हो ।'

गुरु ही ध्यान, पूजा, मन्त्र और मोक्षका मूल है

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥

'ध्यानका मूल है गुरुकी मूर्ति, पूजाका मूल है गुरुका चरण, मन्त्रका मूल है गुरुका वाक्य और मोक्षका मूल है गुरुकी कृपा ।'

ब्रह्मज्ञानी गुरु यथाविधि समीप आये हुए दर्प आदि दोषोंसे मुक्त शान्तियुक्त शिष्यको ब्रह्मविद्याका तत्त्व समझाये, जिससे वह सत्यको और वास्तविक अक्षर पुरुषको जान सके ।

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते ।

(मुण्डकोपनिषद् १ । १ । ४-५)

'वह ब्रह्मज्ञाता उसे बतायेगा कि दो विद्याएँ जाननेयोग्य हैं । एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या । उनमें अपरा विद्या है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, धर्मविधि, व्याकरण, वैदिक-शब्द-विवरण, छन्दःशास्त्र और ज्योतिष । परा विद्या वह है, जिससे वह अक्षर ब्रह्म जाना जाता है ।'

प्राचीन भारतीय कलामें गुरु-शिष्य

(प्रो० श्रीकृष्णदत्तजी बाजपेयी)

प्राचीन भारतीय समाजमें शिक्षाका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था । जीवन-निर्माणके लिये योग्य गुरुओंसे शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक था । वर्णाश्रम-धर्म तथा पुरुषार्थ-चतुष्टयकी चरितार्थतामें शिक्षाकी अनिवार्यता स्पष्ट थी । भारतीय जीवन-दर्शनमें सत्य, अहिंसा, त्याग और परोपकार—ये चार प्रमुख स्तम्भ थे । इनपर राष्ट्रके भवनका निर्माण हुआ, जिसने संसारमें अपना प्रमुख स्थान बनाया ।

भारतीय आदर्श राज्यकी स्थापनाके लिये चार बातें आवश्यक समझी गयीं—(१) स्वतन्त्र-अखण्ड देश, (२) आर्थिक समृद्धि, (३) सभी वर्गोंको उचित न्याय तथा (४) ज्ञान-विज्ञानकी उन्नति । इन चारोंके लिये उपयुक्त शिक्षाकी नितान्त आवश्यकता थी । इस दिशामें भारतीय मनीषियोंने शिक्षाके व्यापक रूपकी व्यवस्था की ।

शिक्षाके प्राचीनतम केन्द्र ऋषि-मुनियोंके आश्रम थे । नगरोंकी भीड़-भाड़से दूर प्रायः रम्य प्राकृतिक स्थलोंपर ये आश्रम स्थापित हुए । भरद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि, गालव, अगस्त्य आदिके आश्रम प्रख्यात थे । इनमें प्रायः बालकोंको छोटी आयुसे ही रखकर उन्हें शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान की जाती थी । उच्च आयुके स्त्री-पुरुष भी इन आश्रमोंका लाभ उठाते थे । किसी-किसी आश्रममें ज्ञानके विशिष्ट

विषयोंका अध्यापन होता था। ऐसे स्थलोंपर अन्य आश्रमोंके विद्यार्थी जाकर अपनी शङ्काओंका समाधान करते थे। आवश्यक ज्ञान प्राप्तकर जब वे अपनेको उपयुक्त पाते तभी अन्य विद्यार्थियोंको स्वयं ज्ञान प्रदान करते थे।

भवभूति-रचित उत्तररामचरित नाटकमें मिलता है कि अगस्त्यके आश्रममें उच्च तत्त्वज्ञानकी शिक्षा श्रेष्ठ विद्वानोंद्वारा प्रदान की जाती थी। आत्रेयी नामक महिलाने वाल्मीकिजीके आश्रमसे अगस्त्य-आश्रममें जाकर 'निगमान्त-विद्या' उपलब्ध की—

अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे
भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां
वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि॥

(उत्तररामचरितम्, अङ्क २, श्लोक ३)

इन प्राचीन आश्रमोंकी भाँति जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बियोंने अपने-अपने आश्रमोंकी स्थापना की। उनमें विविध विषयोंकी शिक्षाके व्यवस्थित प्रबन्ध थे। शासक, व्यवसायीजन तथा समाजके अन्य वर्गोंद्वारा इन आश्रमों और मठोंको आवश्यक सहायता प्रदान की जाती थी।

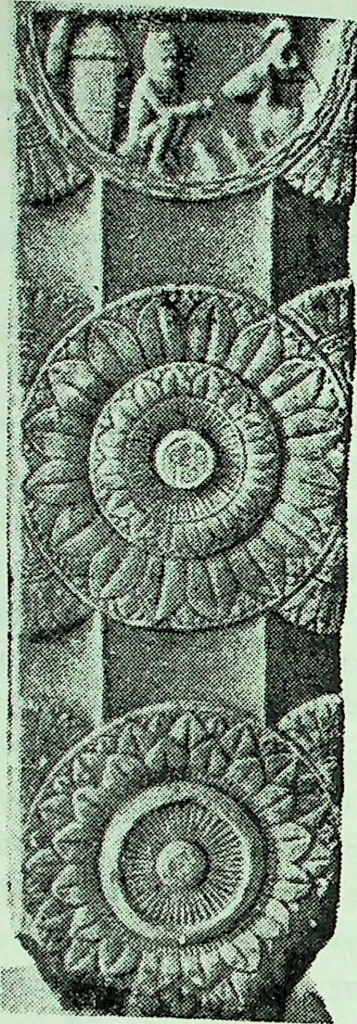
प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखोंसे ज्ञात होता है कि राज्यकी ओरसे शिक्षक ब्राह्मणोंको भूमिदानकी व्यवस्था थी। कुछ शासक विद्वान् ब्राह्मणोंको पूरा ग्राम दे देते थे, जिसकी संज्ञा 'अग्रहार' प्रसिद्ध हुई। एक ग्राममें आस-पासके गाँवोंके विद्यार्थी भी अध्ययन-हेतु आते थे। कोसल तथा मगधके राजाओंने योग्य विद्वानोंको प्रभूत आर्थिक सहायता इसी उद्देश्यसे प्रदान की कि वे शिक्षाके स्तरको ठीक रखें तथा जन-समाजको शिक्षित कर देशका उत्थान करें। गुरुओंद्वारा शिष्योंको ऐहिक तथा पारमार्थिक शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे योग्य व्यक्ति बनें और अन्य जनोंको दिशा-निर्देश दे सकें।

ग्रामीण क्षेत्रोंमें मन्दिर बड़ी संख्यामें शिक्षा-केन्द्र बने। पावन वातावरणमें शिक्षा प्राप्तकर शिष्योंमें पवित्र भावनाएँ जाग्रत् होती थीं। यह परम्परा आधुनिक युगतक कुछ स्थलोंपर जीवित है।

भारतीय साहित्यमें शिक्षा-सम्बन्धी जो प्रचुर उल्लेख मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि हमारे यहाँ शिक्षाको ऊँचा स्थान दिया गया था। जनता तथा शासनके उद्योगसे देशमें बड़ी संख्यामें विद्यालयोंकी स्थापना हो गयी। गाँवों तथा नगरोंमें विद्यालय खुले। तक्षशिला, नालन्दा, काशी, वलभी आदि स्थानोंमें विश्वविद्यालय स्थापित किये गये, जिनमें ज्ञान-विज्ञानके विविध विषयोंका शिक्षण होता था। विदेशोंके भी विद्यार्थी कुछ विषयोंमें उच्च शिक्षाका ज्ञान अर्जित करनेके लिये भारत आते थे। तक्षशिलामें मगध, कलिंग और उज्जैनतकके विद्यार्थी जाते थे। वहाँ शल्य-चिकित्सा तथा धनुर्विद्याका शिक्षण उच्चकोटिका था। नालन्दाके विश्वविद्यालयमें चीनी यात्री हुएन-सांगने अध्ययन किया था। उस समय वहाँ दस हजार विद्यार्थी पढ़ते थे। नालन्दाका पुस्तकालय भी बहुत बड़ा था।

साहित्यिक उल्लेखोंके अतिरिक्त प्राचीन कलाके कुछ ऐसे अवशेष मिले हैं, जिनमें गुरुओं और विद्यार्थियोंके चित्रण मिलते हैं। मथुरा, अजंता, गंधार, भुवनेश्वर आदि स्थानोंकी कलामें शिक्षणके विविध दृश्य उपलब्ध हैं। मथुराके एक वेदिका-स्तम्भपर एक अध्यापकद्वारा शिष्योंको व्याख्यान देनेका चित्रण मिलता है। गुरु महोदय बायें हाथमें छत्र लिये खड़े हैं। दायाँ हाथ ऊपर उठाकर वे शिष्योंको कुछ समझा रहे हैं। शिष्यलोग नीचे बैठे हुए बड़ी तन्मयतासे शिक्षकका उपदेश सुन रहे हैं। उनमेंसे कई अपने घुटनोंपर कपड़ा लपेटे उसी प्रकार बैठे हैं जैसे कि आजकल कुछ ग्रामीण लोग किसी नेताका भाषण सुननेके लिये बैठते हैं। मथुराके एक दूसरे वेदिका-स्तम्भपर पर्णशालाके बाहर स्थित एक ऋषि दिखाये गये हैं। वे अपने पास बैठे हुए पशु-पक्षियोंको उपदेश दे रहे हैं। ये दोनों वेदिका-स्तम्भ शुंगकाल (ई० पू० प्रथम शती) के हैं।

अजंताके चित्रोंमें एक जगह बालकोंको पढ़ाते हुए गुरुजी दिखाये गये हैं। अध्यापक महोदय ऊँची चौकीपर विराजमान हैं। उनके हाथमें एक बड़ा दंड है। विद्यार्थी हाथोंमें पट्टी लिये हुए नीचे बैठे हैं। यह चित्र ईसवी



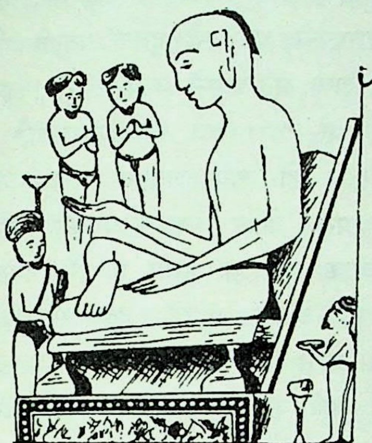
उत्फुल्ल कमलोंसहित पत्थरका वेदिका-स्तंभ । ऊपर ऋषिद्वारा अपनी पर्णशालाके बाहर पशु-पक्षियोंको देहकी नश्वरताका पाठ पढ़ा रहे हैं । (मथुरासे प्राप्त समय ई० पूर्व प्रथम शती)

पाँचवीं शतीका है। दंडधारी गुरुओंके वर्णन प्राचीन साहित्यमें मिलते हैं। पढ़नेमें मन न लगानेवालों और उद्दण्ड लड़कोंको डंडेके जोरसे सुधारा जाता था। तिलमुट्ठि नामक बौद्ध जातक (संख्या २५२) में काशीमें राजा ब्रह्मदत्तके सम्बन्धमें लिखा है कि कुमारावस्थामें उन्होंने तक्षशिलाके विद्यालयमें अध्ययन किया था। वहाँ उन्होंने लगातार तीन दिनोंतक एक बुढ़ियाके तिल चुराकर खा लिये। इस बातके जाननेपर अध्यापक बहुत रुष्ट हुए। उन्होंने अपने दो शिष्योंको आज्ञा दी कि वे ब्रह्मदत्तको पकड़े रहें। फिर उन्होंने ब्रह्मदत्तको छड़ीसे पीटा। ब्रह्मदेश (वर्मा) के पगान नामक स्थानसे खुदाईमें मिट्टीके बहुसंख्यक फलक मिले थे, जिनमें अनेक जातक-कथाएँ प्रदर्शित हैं। एक कथा तिलमुट्ठि जातककी भी है। इस फलकपर चौकीके ऊपर बैठे हुए गुरु-शिष्य दिखाये गये हैं। वे ब्रह्मदत्तकी शिखाको अपने दायें हाथसे पकड़े हुए हैं और बायें हाथसे उसे पीट रहे हैं। पासमें दो शिष्य भयभीत मुद्रामें हाथ जोड़े बैठे हैं। ब्रह्मदत्तने जिस बुढ़ियाके तिल चुराये थे वह भी दिखायी गयी है। यह फलक ईसवी ११वीं शतीका है।

गांधारकी कलामें कुमार गौतम (बोधिसत्व) के विद्याध्ययनका आलेखन मिलता है। एक शिलापट्टपर, जो इस समय लंदनके विक्टोरिया अल्बर्ट संग्रहालयमें सुरक्षित है, अध्ययनार्थ जाते हुए राजकुमार सिद्धार्थ दिखाये गये हैं। वे एक रथपर बैठे हुए हैं जिसमें दो मेष (मेढ़े) जुते हैं। रथपर आगे कोचवान बैठा है। पीछे प्रभामण्डल तथा सिरपर उष्णीष (बालोंका जूड़ा)-सहित कुमार सिद्धार्थ आसीन हैं। उनके समीप दो विद्यार्थी खड़े हैं। राजकुमारके चार साथी रथके बगलमें चल रहे हैं। प्रत्येकके दायें हाथमें पट्टी और बायेंमें दावात है। एक अन्य विद्यार्थी हाथोंमें पट्टी-दावात लिये रथके आगे-आगे चल रहा है। चित्रमें प्रदर्शित सभी बालकोंकी आकृति तथा वेशभूषा यूनानी ढंगकी है, जो कि गांधार-कलाकी विशेषता है। रथमें जुते हुए दोनों मेढ़ोंका अङ्कन भी सुन्दर है। यह कलाकृति ई० पाँचवीं शतीकी है। पकी मिट्टीके एक प्राचीन फलकपर ब्राह्मी लिपिका अभ्यास करते हुए एक बालक अङ्कित है। यह शुंगकालीन फलक चंडीगढ़के पाससे प्राप्त हुआ है।

भुवनेश्वर (उड़ीसा) के राजा-रानी मन्दिरमें एक शिलापट्टपर एक गुरु और उनके शिष्योंका चित्रण बड़ा प्रभावोत्पादक है। गुरुजी एक ऊँची आसन्दीपर आसीन हैं। यह आसन्दी आजकलकी आरामकुर्सियोंके ढंगकी है। उसपर नीचे तथा पीठकी ओर गद्दियाँ लगी हैं। लम्बी शिखावाले अध्यापक महोदयका दायाँ हाथ वेदपाठकी मुद्रामें उठा हुआ है। उनके दोनों शिष्य हाथ जोड़े खड़े

हैं। सम्भवतः वे भी अपने गुरुके साथ वेदपाठ कर रहे हैं। एक अन्य शिष्य गुरुजीके बायें पैरके समीप खड़ा है। उसके हाथमें पुस्तक है। ग्रन्थ ताड़-पत्रका प्रतीत होता है। चौथा शिष्य आसन्दीके पीछे खड़ा है। उसके हाथोंमें दीपक-जैसी वस्तु है। नीचे एक दीवट रखी है। यह शिष्य सम्भवतः गुरुजीकी आरती कर रहा है। दूसरी दीवट गुरुके सामने रखी है। प्राचीन भारतमें गुरुओंके प्रति महान् श्रद्धाका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है। गुरुलोग देवताके समान ही पूज्य माने जाते थे। गुरुजन अपने विद्यार्थियोंके प्रति बहुत स्नेहका भाव रखते थे और अपनी संतानंकी तरह उन्हें प्यारसे पढ़ाते थे। असावधानी बरतनेवाले या उद्दण्ड छात्रोंको प्रताडित किया जाता था।



छात्रोंको वेदपाठ कराते हुए गुरुदेव। भुवनेश्वर (उड़ीसा) स्थित राजारानी मन्दिर में शिलापट्ट पर उत्कीर्ण दृश्यका रेखाचित्र।
(समय-लगभग १००० ई०)

उक्त शिलापट्टमें चारों शिष्योंकी वेशभूषा दर्शनीय है। चारोंके दाढ़ी है, पर वह बहुत लम्बी नहीं है। शिष्योंकी आकृतिको देखते हुए उनकी अवस्था बीस वर्षसे ऊपर प्रतीत होती है। सिरपर बाल अच्छी तरह बँधे हुए हैं। दो शिष्योंने केशोंका जटाजूट बना लिया है। चारों विद्यार्थी लँगोटा पहने हुए हैं। उनमेंसे केवल एक जनेऊ धारण किये दिखाया गया है। शिक्षक धोती पहने हुए हैं। उनकी शान्त निर्विकार मुद्रा कलाकारद्वारा बड़े अच्छे ढंगसे व्यक्त की गयी है। यह कलाकृति ईसवी दसवीं शतीकी है। इसमें तत्कालीन गुरु-शिष्यका वास्तविक चित्रण उपलब्ध होता है।

अन्तिम परीक्षा

एक पुराने गुरुकुलमें तीन विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उन्होंने जब पढ़ाई पूरी कर ली और औपचारिक परीक्षा भी पास कर ली तब गुरुने कहा—'तुम्हारी एक परीक्षा और होनी है। उसमें उत्तीर्ण होनेपर ही उत्तीर्ण माने जाओगे।' विद्यार्थियोंने कुछ दिन प्रतीक्षा की। फिर तीनों गुरुके पास बिदा होनेकी आज्ञा लेने गये। गुरुने उन्हें आज्ञा भी दे दी और वे घरके लिये चल भी दिये। विद्यार्थी समझे कि गुरुदेव परीक्षा लेना भूल गये। रास्तेमें जंगल था, वहाँ पहुँचते-पहुँचते रात होने लगी। वे थोड़ी दूर चले थे कि रास्तेपर काँटे फैलाये दिखे। दो विद्यार्थी तो काँटोंके किनारेसे निकल गये; किंतु तीसरा रुककर रास्तेपर बिखरे काँटोंको बीन-बीनकर दूर फेंकने लगा। उन दोनोंने कहा—'रात हो रही है, जल्दी जंगलसे निकलना है, काँटा बीनना बंद करके आगे चलो।' तीसरेने कहा—'रातके कारण ही तो काँटा बीनकर रास्ता साफ कर रहा हूँ, जिससे किसीको गड़े नहीं।' वे दोनों आगे जाने लगे तब भी तीसरा काँटे बीनता रहा। इसी बीच झाड़ीसे गुरुदेव निकले गुरुदेव और आगे जा रहे दोनों शिष्योंको बुलाकर कहे कि 'तुम दोनों अभी परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं हो। मात्र यह तीसरा ही उत्तीर्ण हुआ। अन्तिम परीक्षा यही थी।'

गुरुभक्तिसे ब्रह्मज्ञान

सामान्य ज्ञानकी तो बात ही क्या, ब्रह्मज्ञान भी गुरुवचनोंके प्रति आदर-सम्मान और श्रद्धापूर्वक उनके पालन करनेसे प्राप्त हो सकता है, जिसके अप्रतिम उदाहरण उपनिषदोंमें प्राप्त हैं। यहाँ एक आख्यान प्रस्तुत किया जा रहा है।

जबाला नामकी एक ब्राह्मणी थी। उसके सत्यकाम नामका एक पुत्र था। जब वह विद्याध्ययन करने योग्य हुआ, तब एक दिन उसने गुरुकुल जानेकी इच्छासे अपनी मातासे पूछा—'माता! मैं ब्रह्मचर्यपालन करता हुआ गुरुकी सेवामें रहना चाहता हूँ। गुरु मुझसे नाम और गोत्र पूछेंगे, मैं अपना नाम तो जानता हूँ परंतु गोत्र नहीं जानता, अतएव मेरा गोत्र क्या है वह बतलाओ।'

जबालाने कहा—'बेटा! तू किस गोत्रका है, इस बातको मैं नहीं जानती; मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम, बस मैं इतना ही जानती हूँ। तुझसे आचार्य पूछें तो कह देना कि मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।'

माताकी आज्ञा लेकर सत्यकाम महर्षि हरिद्रुमान्के पुत्र गौतम ऋषिके आश्रममें गया और प्रार्थना करके उनसे बोला—'भगवन्! मैं ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ आपके समीप रहकर सेवा करना चाहता हूँ। मुझे स्वीकार कीजिये।' गुरुने बड़े स्नेहसे पूछा—'सौम्य! तेरा गोत्र क्या है?' सरल सत्यकामने नम्रतासे कहा—'भगवन्! मेरा गोत्र क्या है, इस बातको मैं नहीं जानता। मैंने यहाँ आते समय अपनी मातासे पूछा था, तब उन्होंने कहा कि मैं युवावस्थामें अनेक अतिथियोंकी सेवामें लगी रहनेके कारण केवल इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम। अतएव भगवन्! मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।'

सत्यवादी सरलहृदय सत्यकामकी सीधी-सच्ची बात सुनकर ऋषि गौतम प्रसन्न होकर बोले—'वत्स! ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरलभावसे सच्ची बात नहीं कह सकता—**'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति'** ऐसा सत्य और कपटरहित वचन कहनेवाला तू निश्चय ब्राह्मण है। मैं तेरा उपनयन-संस्कार करूँगा, जा थोड़ी-सी समिधा ले आ।'

विधिवत् उपनयन-संस्कार करनेके बाद ऋषि गौतमने अपनी गोशालासे चार सौ दुबली-पतली गौएँ चुनकर अधिकारी शिष्य सत्यकामसे कहा—'पुत्र! इन गौओंको चराने वनमें ले जा। देख, जबतक इनकी संख्या पूरी एक हजार न हो जाय, तबतक वापस न आना।' सत्यकामने प्रसन्न होकर कहा—'भगवन्! इन गौओंकी संख्या जबतक पूरी एक हजार न हो जायगी, तबतक मैं वापस नहीं आऊँगा।' यों कहकर सत्यकाम गौओंको लेकर जिस वनमें चारे-पानीकी बहुतायत थी, उसीमें चला गया और वहीं कुटिया बनाकर वर्षोंतक उन गौओंकी तन-मनसे खूब सेवा करता रहा।

गुरु-भक्तिका कितना सुन्दर दृष्टान्त है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छावाले शिष्यको गौ चरानेके लिये गुरु वनमें भेज दें और वह चुपचाप आज्ञा शिरोधार्य कर वर्षोंतक निर्जन वनमें रहने चला जाय। यह बात ज्ञानपिपासु गुरुभक्त भारतीय ऋषिकुमारोंमें ही पायी जाती है। आजकी संस्कृति तो इससे सर्वथा विपरीत है। अस्तु!

सेवा करते-करते गौओंकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी। तब एक दिन एक वृषभने आकर पुकारा—'सत्यकाम!' सत्यकामने उत्तर दिया—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' वृषभने कहा—'वत्स! हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, अब हमें गुरुके आश्रममें ले चलो। मैं तुम्हें ब्रह्मके एक पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकामने कहा—'कहिये भगवन्!' इसके बाद वृषभने ब्रह्मके एक पादका उपदेश देकर कहा—'इसका नाम ''प्रकाशवान्'' है। अगला उपदेश तुम्हें अग्निदेव करेंगे।'

दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम गौओंको हाँककर आगे चला। संध्याके समय मार्गमें पड़ाव डालकर उसने गौओंको वहाँ रोका और उन्हें जल पिलाकर रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। तदनन्तर वनसे लकड़ियाँ बटोरा और अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। अग्निदेवने

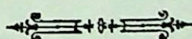
उसे सम्बोधन किया—'सत्यकाम!' सत्यकामने उत्तर दिया—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' अग्निदेवने कहा—'सौम्य! मैं तुम्हें ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकाम बोला—'कीजिये भगवन्!' तदनन्तर अग्निदेवने ब्रह्मके दूसरे पादका उपदेश करके कहा—'इसका नाम "अनन्तवान्" है। अगला उपदेश तुम्हें हंस करेगा।'

सत्यकाम रातभर उपदेशका मनन करता रहा। प्रातःकाल गौओंको हाँककर आगे बढ़ा और संध्या होनेपर किसी सुन्दर जलाशयके किनारे ठहर गया। गौओंके लिये रात्रिनिवासकी व्यवस्था की और स्वयं आग जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। इतनेमें एक हंस ऊपरसे उड़ता हुआ आया और सत्यकामके पास बैठकर बोला—'सत्यकाम!' सत्यकामने कहा—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' हंसने कहा—'सत्यकाम! मैं तुम्हें ब्रह्मके तीसरे पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकामने कहा—'भगवन्! कृपा करके कीजिये।' पश्चात् हंसने ब्रह्मके तीसरे पादका उपदेश करके कहा—'इसका नाम "ज्योतिष्मान्" है। अगला उपदेश तुम्हें मद्‌गुनामका एक जलपक्षी करेगा।'

रातको सत्यकाम ब्रह्मके चिन्तनमें लगा रहा। प्रातःकाल गौओंको हाँककर आगे चला और संध्या होनेपर एक वट-वृक्षके नीचे ठहर गया। गौओंकी उचित व्यवस्था करके वह अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। इतनेमें मद्‌गु नामक एक जलपक्षीने आकर पुकारा—'सत्यकाम!' सत्यकामने उत्तर दिया—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' मद्‌गुने कहा—'वत्स! मैं तुम्हें ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकाम बोला—'प्रभो! कीजिये।' तदनन्तर उसने "आयतनवान्" रूपसे ब्रह्मका उपदेश किया।

इस प्रकार सत्य, गुरुसेवा और गौ-सेवाके प्रतापसे वृषभरूप वायु, अग्निदेव, हंसरूप सूर्यदेव और मद्‌गुरूप प्राणदेवतासे ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर सत्यकाम एक हजार गौओंके बड़े समूहको लेकर आचार्य गौतमके आश्रममें पहुँचा। उस समय उसके मुखमण्डलपर ब्रह्मतेज छिटक रहा था, आनन्दकी सहस्र-सहस्र किरणें झलमला रही थीं। गुरुने सत्यकामकी चिन्तारहित, तेजपूर्ण दिव्य मुखकान्तिको देखकर कहा—'वत्स! सत्यकाम!' उसने उत्तर दिया—'भगवन्!' गुरु बोले—'सौम्य! तू ब्रह्मज्ञानीके सदृश दिखायी दे रहा है, वत्स! तुझे किसने उपदेश किया?' सत्यकामने कहा—'भगवन्! मुझे मनुष्येतरोंसे उपदेश प्राप्त हुआ है।' यों कहकर उसने सारी घटना सुना दी और कहा—'भगवन्! मैंने सुना है कि आप-सदृश आचार्यके द्वारा प्राप्त की हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतएव मुझे आप पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये।' गुरु प्रसन्न हो गये और उन्होंने कहा—'वत्स! तूने जो कुछ प्राप्त किया है, यही ब्रह्मतत्त्व है। अब तेरे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहा।'

इस प्रकार अपनी कर्तव्यनिष्ठामें तत्पर सत्यकाम गायें चराकर गुरु-सेवा और आज्ञापालन मात्रसे ही ब्रह्मज्ञानी हो गये। यह है—ज्ञान-प्राप्तिका मर्म।



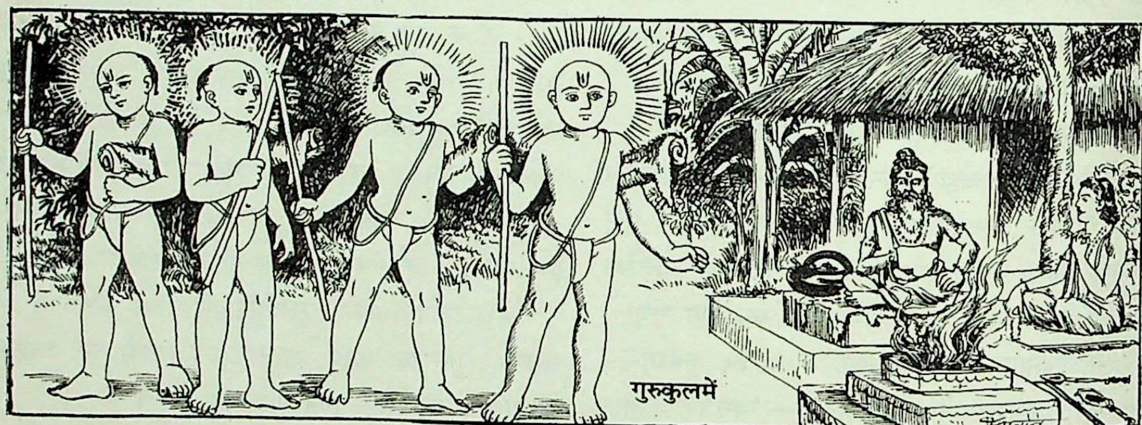
प्राचीन भारतमें गुरुकुलकी परम्परा

(साहित्यवाचस्पति डॉ॰ श्रीविष्णुदत्तजी राकेश, एम्॰ए॰, पी-एच्॰ डी॰, डी॰ लिट्॰)

भारतीय आचार्योंने शरीर, मन और आत्माके विकासका साधन शिक्षाको माना है। अतः शिक्षा भौतिक उपलब्धियोंतक ही सीमित न रहकर आत्मचिन्तनतकका लक्ष्य निर्धारित करती है। शिक्षाका सम्बन्ध बालकके जन्मके पूर्वसे लेकर उसके परिपक्व नागरिक बननेतक निरन्तर रहता है। शिक्षित वह है, जो माता, पिता तथा आचार्यसे गहराईके साथ जुड़ा है। माता-पिताके संस्कारोंसे संतानके प्रारम्भिक व्यक्तित्वका निर्माण होता है और फिर उसका परिवेश और वातावरण उसके संस्कारोंको जन्म देता है। संस्कारोंका क्रमबद्ध निर्माण ही बालककी शिक्षा है। यही कारण है कि गर्भाधान-संस्कारसे लेकर उपनयन-संस्कारतक बालकको उद्देश्यनिष्ठ दृष्टिसे तैयार

किया जाता है । भारतीय शिक्षा केवल परिवेशको ही उपयोगी व्यक्तित्वके निर्माणका घटक नहीं मानती, वह उसके अर्जित संस्कार तथा माता-पिताकी शिक्षाको भी उसके निर्माणमें प्रमुख कारक स्वीकार करती है । माता-पिता जब संतानको महान् बनानेका संकल्प करते हैं, तब इस महान् लक्ष्यकी पूर्तिके लिये उन्हें भी महान् बनना पड़ता है । गर्भावस्थामें संतानके उचित भरण-पोषणके लिये उन्हें भी संयमित जीवन जीना पड़ता है तथा प्रसवके पश्चात् शिशुके शारीरिक विकासके लिये जागरूक रहना पड़ता है । माता-पिता यदि शिक्षित, सदाचारी, धार्मिक तथा स्वस्थ नहीं हैं तो वे अपने शिशुका समुचित विकास नहीं कर सकते । तात्पर्य यह कि माता-पिता अपने संकल्प और आचरणसे मनचाही संतानका निर्माण कर सकते हैं ।

है । आज जिस 'प्रसार-शिक्षा' या क्षेत्र-कार्यकी प्रणालीको शिक्षाका अनिवार्य अङ्ग बनानेपर बल दिया जा रहा है, वह प्राचीन 'आश्रम-प्रणाली' का अनिवार्य भाग थी; क्योंकि आचार्योंके आश्रम या गुरुकुल नगरोंसे दूर वनोंमें होते थे, अतः प्रत्येक बालकको वहाँ श्रमकी व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी । राजा-रंकके बालक बिना किसी भेद-भावके वहाँ परिश्रम कर जीवन जीना सीखते थे । छान्दोग्य उपनिषद्‌में हारिद्रुमत मुनिने जाबाल सत्यकामको शिक्षा देनेसे पूर्व क्षेत्र-सेवाका कार्य ही सौंपा था; क्योंकि वह युग पशु-पालन और कृषि-जीविकाका था, अतः गोसंवर्धन और वन्यरक्षणका कार्य उसकी शिक्षाका अनिवार्य अङ्ग बनाया गया । उसका उपनयन-संस्कार करके मुनिने अत्यन्त दुर्बल चार सौ गौएँ छाँटकर उससे कहा—'सौम्य ! इनकी सेवा करो और जबतक ये बढ़कर एक हजार न


गुरुकुलमें

शिक्षाका दूसरा घटक है परिवेश । शिक्षाके लिये उचित परिवेशका होना आवश्यक है । खुले-प्रशस्त वनों, मैदानों, नदियोंके तटों और सुरम्य पर्वतोंकी उपत्यकाओंमें जन-कोलाहलसे दूर शिक्षण-संस्थाओंकी स्थापना होनी चाहिये । छान्दोग्य उपनिषद् धर्मके जिन तीन स्कन्धोंकी चर्चा— (१) यज्ञ—अध्ययन-दान, (२) कष्ट-सहिष्णुता—तप तथा (३) श्रम—संयमपूर्वक कुलवासके रूपमें करती है, वह ऐसे ही शान्त—एकान्त स्थानोंपर सम्भव है । भोग-विलासके वातावरणसे दूर रहकर ही बालक आत्मनिर्भर और आत्मसंयमी हो सकता

हो जायँ, तबतक अपनी पुस्तकीय शिक्षाको अधूरी समझो ।' सत्यकामने कहा—'जबतक ये गौएँ बढ़कर एक हजार न हो जायँगी, तबतक मैं नहीं लौटूँगा ।' वह वर्षों जंगलमें रहा और जब वे गायें एक हजार हो गयीं तब लौटा—

'स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रं सम्पेदुः ।'

इस प्रकार पुस्तकीय ज्ञानके अतिरिक्त क्षेत्रीय कार्य-सम्पादनका प्रमाणपत्र भी तत्कालीन शिक्षाके लिये अनिवार्य था । सत्यकाम उन्मुक्त प्रकृतिके साहचर्यमें रहा । उसने आँधी-पानी, धूप-हिमपात, दिन-रात भूख-प्यास सभी

कुछ सहे तथा हिंसक-अहिंसक प्राणियोंका संघर्ष भी निकटसे देखा। प्राणिमात्रके प्रति दयाका उन्मेष भी उसमें हुआ। गाय चराते हुए उसने बैलको देखा, तब उसे पता चला कि सृष्टि कैसे होती है। वह प्रातः अग्निहोत्र करता, फिर आगपर भोजन बनाता और रातको आग जलाकर हिंसक पशुओंसे अपनी रक्षा करता या अग्नि तापकर जाड़ेकी कड़क-रातें बिताता। अतः आग उसकी मित्र थी। वन-वन भटकते हुए उसे अपना साथी सूर्य दिखायी पड़ता। अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा-विद्युत् सब उसे अपने साथी जान पड़ते। उसे हंस तथा मद्गु नामक जलचर भी अपनी ओर आकृष्ट करते। इस प्रकार प्रकृतिके साहचर्यमें रहकर उसने एक विराट् तत्त्वका दर्शन किया। श्रीमद्भागवतमें कवि नामक योगेश्वर इसी विराट् दर्शनको वास्तविक विद्या मानते हैं—'**यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः**'। दत्तात्रेय अवधूतने पृथ्वी, सूर्य, समुद्र, मधुमक्खी आदिको जब अपना गुरु बताया तब उनके सामने भी यही विराट् चेतना थी। संसारके कण-कणमें यदि आत्म-दर्शन न हुआ तो पुस्तकीय शिक्षा किस कामकी? वर्ड्सवर्थने कहा था—'एक लकड़ीका लट्ठा जो सिखा देता है, वह सैकड़ों आचार्य या संत भी नहीं सिखा सकते'—

One impulse of a vernal wood
may teach you more of man.
Of moral, evil and of good
than all the sages can.

फिर श्रीमद्भागवतकी यह उक्ति '**सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरम्**' मिथ्या कैसे हो सकती है? परिवेशकी शिक्षामें यही भूमिका है—वह बालकको कष्ट-सहिष्णु, परिश्रमी, संयमी तथा उदार-दृष्टिसम्पन्न बनाती है, इसीलिये सत्यकामसे आचार्यने कहा—'प्रकृतिके सम्पर्कमें रहकर जो कुछ तूने सीख लिया है, इसमें कुछ शेष नहीं रहा, कुछ जानने योग्य नहीं रहा'—

'**तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति।**'

इस प्रकार आश्रम-प्रणाली तप, त्याग और श्रमपर आधारित प्रणाली थी। इसे गुरुकुल इसलिये कहा गया कि इसमें गुरुका महत्त्व था। अपने परिवारका मुखिया तो स्वार्थी भी हो सकता है, पर इस कुलका मुखिया तो उदार और लोकचेता होता था। वह अपने सम्पर्कमें आये छात्रको उसी ममतासे रखता था जैसे माता अपने गर्भस्थ शिशुको रखती है। शिक्षणालयको कुल इसलिये कहा गया कि वहाँ बालकको निजी परिवारकी क्षुद्र भावनासे निकालकर एक बड़े परिवारकी सामाजिक चेतनासे जोड़ना था। वह किसी देश, परिवार, जातिका सदस्य नहीं, वह तो मानव-कुलका सदस्य है। समाजके प्रति इसी 'कुलभावना' के कारण उसका दायित्व बोध है। इस प्रकार गुरुकुल राष्ट्रिय रचनाधारामें विद्यार्थीके समर्पणकी एक प्रक्रियाको जन्म देनेवाला विचार है, जहाँ उसे परिवार और व्यक्तिगत संकीर्णताओंसे ऊपर उठाकर राष्ट्रोपयोगी या मानवोपयोगी बनाया जाता है। आचार्य बिना किसी भेदभावके जब सभी बालकोंको निकट बैठाकर '**सह नाववतु**' और '**सह नौ भुनक्तु**' का उपदेश करता था तब विघटनकी भावना स्वतः नष्ट हो जाती थी। साथ-साथ चलना, साथ खाना-पीना, साथ काम करना 'कुलभावना'-को जन्म देता था। इसी संगठन-भावनासे समाज और राष्ट्रकी समृद्धिका द्वार खुलता है। अथर्ववेदमें आता है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

बालक जब शिक्षाके लिये गुरुकुलमें आता है तब आचार्य उसका उपनयन करनेके लिये, अपने समीप बैठने और अपने ध्येयके अनुरूप बनानेके लिये तीन रात उसे उदरमें रखता है। यहाँ रात्रिका अर्थ है अज्ञान। बालक जिस परिवेशसे गुरुकुलमें आया है, उसमें उसका जन्मगत, परिवारगत तथा परिवेशगत अज्ञान निहित है। आचार्य इन बाधाओंको दूरकर अपने पेटमें अर्थात् अपने संरक्षणमें लेकर उस बालकके इन तीनों दोषोंको मिटा देता है तथा देश, जाति और कुलके विशेष संस्कारको मिटाकर उसे विराट् कुलकी दीक्षा दे देता है। प्रकृति, जीव और ब्रह्मकी आध्यात्मिक शिक्षा देकर वह उसकी आत्माका विकास करता है तो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकपर्यन्त ज्ञान-विज्ञानकी शिक्षाद्वारा उसकी देह और भौतिक सुख-सुविधाओंकी जानकारी कराता है, विभिन्न विधाओं,

विज्ञानोंका ज्ञानसंग्रह करनेकी प्रेरणा देता है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थकी प्रक्रिया समझाता है और विश्व-मानवतावादी दृष्टिका संन्यासके रूपमें अन्तिम लक्ष्य प्रतिपादित करता है। इस मन्त्रसे यह भी संकेत मिलता है कि शिक्षा ज्ञानसंग्रह नहीं, ज्ञानका लोकोपयोगी क्रियान्वयन भी है, अतः शिक्षा-संस्थाओंमें भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकारकी शिक्षा दी जानी चाहिये। छान्दोग्य उपनिषद्के अनुसार नारदजी सनत्कुमारजीसे कहते हैं कि उन्होंने वेद, इतिहास, पुराण, विज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र (विधिशास्त्र), भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, ललित कला (देवजनविद्या) तथा ब्रह्मविद्या आदि सब पढ़े हैं। वे मन्त्रवित् हैं, पर आत्मवित् नहीं। अर्थात् पुस्तकीय ज्ञान तो उनके पास है, पर आत्मज्ञान नहीं—

'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुत ँ ह्येव।'

इसपर सनत्कुमारजीने कहा—'तू नामकी उपासना कर अर्थात् यात्रा तो पुस्तकीय ज्ञान या शब्दज्ञानसे कर, पर यहीं मत रुक, वैयक्तिक चारित्रिक गुणोंका विकास कर तथा अन्तर्हित शक्तियोंका पूर्ण जागरण कर।' गुरुकुल या गुरुका सामीप्य शरीर, मन और आध्यात्मिक उत्कर्षके लिये है। इसीलिये वह अपने निकट रखकर शिष्यकी शारीरिक, मानसिक और अनाध्यात्मिक जड़ताको दूर करता है। आचार्य यदि माँकी तरह सावधान नहीं रहता तो उसके गुरुकुलस्थ शिशुका गर्भस्थ शिशुकी तरह अहित होनेकी पूर्ण सम्भावना है। कहते हैं—Example is better than Precept अर्थात् आचरणसे विद्यार्थीको उपदेशकी अपेक्षा अधिक सिखाया जा सकता है।

प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षाकी एक विशेषता थी—आत्मनिरीक्षणद्वारा शिक्षा देना। बृहदारण्यक उपनिषद्में आया है कि देव, मनुष्य और असुर प्रजापतिके पास उपदेशके लिये जाते हैं। प्रजापति केवल 'द' कहते हैं और फिर तीनोंसे पूछते हैं, तुमने क्या समझा? देव विलासी थे, उन्होंने स्वयं निरीक्षणकर अपनी त्रुटि पहचानी। वे बोले **'दाम्यत'** समझ गये, आपने कहा है—इन्द्रियोंका दमन करो। मनुष्य लोभी और संग्रही थे। उन्होंने भी अपनी भूल पहचानी और कहा कि हम भी जान गये। आप कहते हैं—**'दत्त'**—दान करो। असुर हिंसक और क्रूर थे और थे परपीड़क तथा संतापी। वे बोले—'प्रजापते! हमने अपनी कमी समझ ली है। आप कहते हैं—**'दयध्वम्'** दया करो, जीओ और जीने दो। प्रजापति संतुष्ट हुए और बोले—'शिक्षाका यही उद्देश्य है।' अपने व्यक्तित्वमें जिस वस्तुकी कमी पाओ, उसे दूर करनेकी चेष्टा करो। सर्वाङ्गीण विकास ही शिक्षाका लक्ष्य है और यह पुस्तकीय ज्ञान या प्रवचनोंसे नहीं, आत्मनिरीक्षणसे प्राप्त होता है। इसके लिये आवश्यक है कि गुरुलोग भी संयमी, सरल और निःस्पृह जीवन व्यतीत करें। तभी वे विद्यार्थियोंका सही निर्माण कर सकते हैं। आचार्य भोग-विलासी होकर विरक्त विद्यार्थी नहीं पैदा कर सकते। जब वेद कहता है कि आचार्य ब्रह्मचारी रहकर ही ब्रह्मचारी बना सकता है—**'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते'** तब उसका तात्पर्य होता है कि जैसा आचार्य होगा, उसका विद्यार्थी भी वैसा ही होगा।

प्राचीनकालमें ऐसे शिक्षणालयोंका उल्लेख मिलता है जो गुरुकुल थे और जिनका निर्माण नगरोंसे दूर होता था। प्रश्नोपनिषद्में सुकेशा आदि छः शिष्य पिप्पलादके आश्रममें जाकर शिक्षा ग्रहण करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्में वरुणसे भृगु, छान्दोग्य उपनिषद्में हारिद्रुमतसे सत्यकाम तथा बृहदारण्यक उपनिषद्में प्रजापतिसे इन्द्र तथा विरोचन आश्रममें ही शिक्षा ग्रहण करते हैं। रामायणकालमें वसिष्ठ, विश्वामित्र तथा अगस्त्यके आश्रम गुरुकुल ही हैं। भरद्वाजका आश्रम भी गुरुकुल है। वाल्मीकिरामायणके अरण्यकाण्डमें अगस्त्यके विद्यापीठकी बड़ी प्रशंसा वर्णित है। यहाँ देवता, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध आदि भी अगस्त्यसे शिक्षा ग्रहण करने आते थे—

अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
अगस्त्यं नियताहाराः सततं पर्युपासते॥

महाभारतकालमें अङ्गदेशमें कौशिकीके तटपर शृङ्गका तपोवन था, जहाँ आयुर्वेदकी शिक्षा दी जाती थी। बदरीनाथमें व्यासजीका आश्रम था। पैल, जैमिनि तथा वैशम्पायन यहींके स्नातक थे। मेरु पर्वतके पार्श्वभागमें कर्मकाण्डकी शिक्षाके लिये वसिष्ठका गुरुकुल था।

आदिपर्वके अनुसार कण्वके आश्रममें अनेक छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। महेन्द्र पर्वतपर परशुरामजी युद्ध-विद्याकी शिक्षा देते थे। नैमिषारण्य पुराणोंके अध्यापनका केन्द्र था, जिसके कुलपति शौनक थे। मध्यप्रदेशमें उज्जैन और पूर्वमें काशीमें अनेक आचार्य-कुल रहे। आधुनिक युगमें गुरुकुल और ऋषिकुल नामसे प्राचीन परिपाटीको पुनरुज्जीवित स्वामी श्रीश्रद्धानन्द और मदनमोहन मालवीयजीने किया। सैद्धान्तिक और प्रायोगिक शिक्षाकी समन्वित प्रणालीका अनुगमन इनका लक्ष्य था। नगरोंसे दूर सुरम्य वातावरणमें योग्य, सदाचारी गुरुओंके निकट रहकर बारह या सोलह वर्षतक शिक्षा समान आवास, समान वेशभूषा, समान शिक्षा और समान व्यवहारके आधारपर दी जाती थी। वेद भी कहता है—**'समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः ।'** अतः गुरुकुल उस शिक्षा-प्रणालीके आदर्शरूप थे, जहाँ द्रुपद और द्रोण, श्रीकृष्ण और सुदामा बिना किसी भेद-भावके समान सुविधाओंके साथ पढ़ते थे। तुल्य खान-पान, रहन-सहन और शिक्षाकी समाजवादी रूपरेखा यहाँ मूर्तरूपमें स्वीकृत थी।

गुरुकुल या गुरुगृहवासके मनोरम चित्र भी प्राचीन साहित्यमें मिलते हैं। विद्यार्थीको वहाँ रहते हुए खेती-वाड़ीमें सहायता करना, गोपालन, होमके लिये लकड़ी बीनना तथा स्वयंकी देख-रेख करना आवश्यक होता था। धौम्य ऋषिके खेतकी मेड़पर आरुणि स्वयं लेटकर बाढ़से रक्षा करता है। इसी प्रकार उपमन्यु भी आचार्यका अनन्य सेवक है। शुक्राचार्यके आश्रममें कचकी दिनचर्या ऐसी ही है। व्यासपुत्र शुकदेवने बृहस्पतिके आश्रममें विद्या प्राप्त की और अपनी अर्हता प्रतिपादित करनेके लिये तप भी किया। कुछ समर्थ परिवार अपने घरपर गुरुको रखकर विद्या ग्रहण करने लगे थे, पर यह गुरुकुल-परम्पराके विपरीत अनर्थकारी पद्धति थी। विद्यार्थीसे धन लेकर शिक्षादानको 'मृतकाध्यापन' की निकृष्ट संज्ञा दी गयी। ऐसे-ऐसे आचार्योंके गुरुकुल इस देशमें थे जो दस हजार शिष्योंको निःशुल्क विद्यादानके साथ भोजन, आवास आदिकी सुविधाएँ भी देते थे। महाभारतके टीकाकार नीलकण्ठने कहा है—

'एको दश सहस्राणि योऽन्नदानादिना भरेत् स वै कुलपतिः ।'

महाभारतके सभापर्वमें कहा गया है—**'शीलवृत्तफलं श्रुतम्'** अर्थात् शिक्षाका लक्ष्य चरित्रगठन और पुण्यकर्म-सम्पादन है। व्यासजीको 'गुरुकुल' शब्द इतना प्रिय है कि वे विद्याश्रम या शिक्षणालय, शाला या विद्यापीठ पसंद न कर 'गुरुकुल' ही सार्थक तथा उपयुक्त नाम मानते हैं। श्रीकृष्ण सुदामासे मिलनेपर सांदीपनिके आश्रमको याद करते हैं तो उसे गुरुकुल ही सम्बोधित करते हैं—

'अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणात् ।'

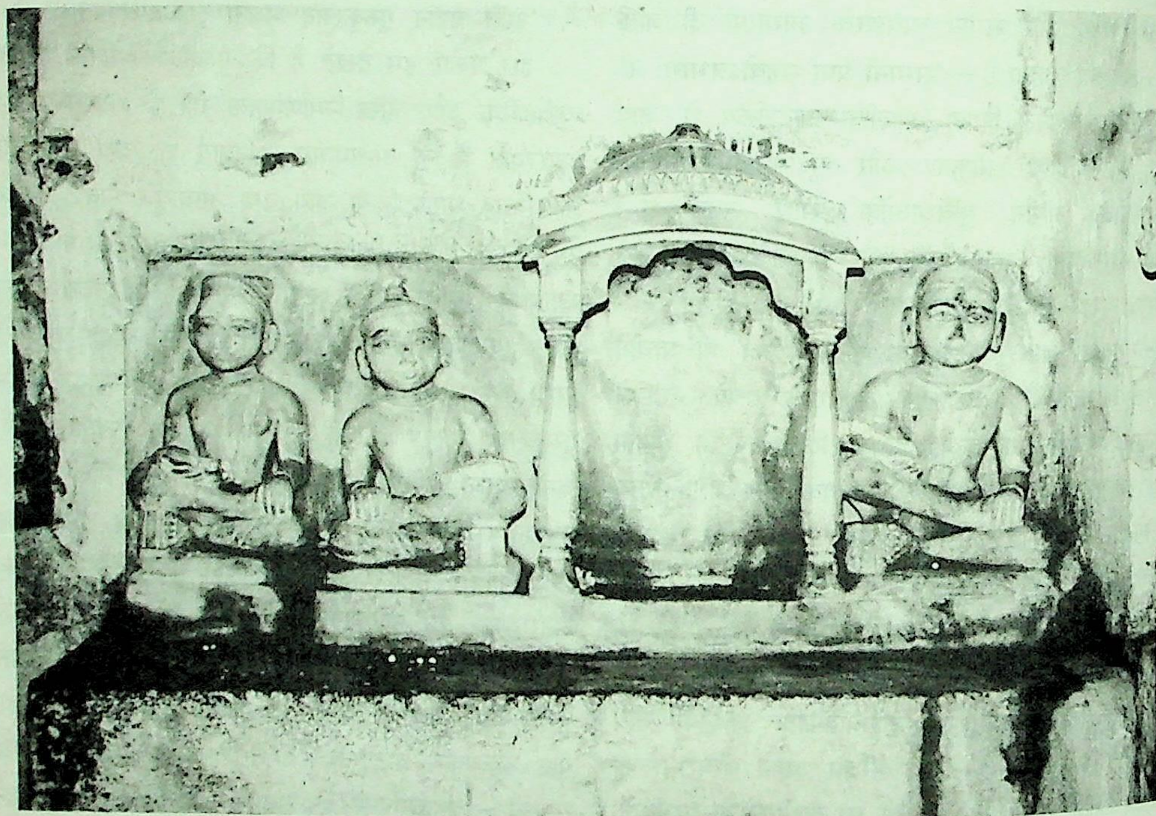
इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरुकुलोंकी शिक्षा-पद्धति व्यावहारिक और चरित्र-निर्माणमूलक रही है। इसके लिये आवश्यक है कि आश्रमवास अनिवार्य हो, वहाँ रहते हुए ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया जाय तथा आचार्यके निकट रहकर उनके निजी जीवनसे शिक्षा ग्रहण की जाय। मनोरम प्राकृतिक वातावरणमें रहकर बलिष्ठ शरीरका निर्माण, समानताका जीवन जीकर सामाजिक चेतनाकी प्राप्ति तथा गुरुके आदर्श जीवनसे प्रेरणा लेकर आत्मिक विकास या सर्वाङ्गीण व्यक्तित्वका अर्जन गुरुकुलकी देन है। इसी पद्धतिको ध्यानमें रखकर गाँधी, विनोबा तथा जाकिर हुसेनने बुनियादी तालीमकी नींव डाली। रवीन्द्रनाथ ठाकुरका शान्तिनिकेतन इसी साँचेमें ढला हुआ था। आजके वातावरणमें यदि प्राचीन गुरुकुलीय परम्पराका अनुसरण किया जाय तो अध्यात्ममूलक समतावादी समाजकी स्थापनाका लक्ष्य पूरा हो सकता है। स्वतन्त्र देशकी शिक्षा-नींव आज भी मैकालेकी परम्परासे जुड़कर खड़ी हो, यह लज्जाकी बात है। गुरु-शिष्यका माता-पिता-जैसा सम्बन्ध, ब्रह्मचर्यपालन, समान शिक्षा तथा समान रहन-सहनपर आधृत शिक्षा ही आदर्श शिक्षा है, उसके अभावमें सामाजिक अभ्युत्थान और राष्ट्रनिर्माणकी बात करना निर्मूल है।



सांदीपनिके आश्रममें भगवान् श्रीकृष्ण और भक्त सुदामाका विद्याध्ययन

(श्रीनाथूशंकरजी शुक्ल)

मध्यभारतमें उज्जैन अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान है । यह अहमदाबाद-फतेहाबाद तथा भोपाल-उज्जैन लाइनपर स्थित है । स्कन्दपुराणका सम्पूर्ण विशाल अवन्तीखण्ड मुख्यतया उज्जैनका ही माहात्म्य है । इसे वहाँ पृथ्वीकी नाभि कहा गया है । यह उज्जयनी विक्रमादित्यकी राजधानी रही है । विष्णुदेहप्रसूता शिप्रा इस नगरके मध्यसे प्रवाहित होती है । यहाँके महाकाल ज्योतिर्लिङ्ग, हरसिद्धि शक्तिपीठ, कुम्भमेला आदि विश्वप्रसिद्ध हैं । यह शैव, शाक्त एवं वैष्णवजनोंका स्थल होनेके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी शिक्षास्थलीके रूपमें भी विशिष्टताको प्राप्त है । भारतीय ज्योतिषके वेधालय एवं शून्य देशान्तरपर स्थित होनेसे भी यह महामहिम रहा है । यहाँ शिक्षासे सम्बद्ध सांदीपनि-आश्रमपर विशेष विचार प्रस्तुत है ।



(श्रीसांदीपनि-आश्रम, उज्जैनकी प्राचीन मूर्ति)

भगवान् श्रीकृष्णकी एक फूआ यहाँके राजा जयत्सेनको ब्याही गयी थी, अतः यही हो सकता है कि उन्होंने उज्जैनमें प्रजाके हितके लिये सांदीपनि-विद्यापीठकी स्थापना की होगी । इस विद्यापीठमें प्राचीनकालसे ही दूर-दूरसे विद्यार्थी आकर लाभान्वित होते रहे । इनमें भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम, सुदामा, राजकुमार विन्द, अनुविन्द, मित्रविन्द, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, वज्रनाभ आदि मुख्य रूपसे

उल्लेख्य हैं । नन्द-यशोदाको वात्सल्य दान कर, कंसवधके पश्चात् आपका १२वें वर्षमें यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न हुआ ।

गर्गसंहिता, श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों (अ० १०२) के अनुसार श्रीकृष्णने यहाँ गुरुजीके चरणोंमें बैठकर साङ्गवेद, उपनिषद्, राजनीति, अर्थनीति, शस्त्रविद्या, अश्वविद्या, गजविद्या, आयुर्वेद, गान्धर्वविद्याके साथ ६४ कलाओंका भी अध्ययन किया । ब्रह्मवैवर्तके अनुसार एक मासमें ही वे समग्र विद्याओंमें पारङ्गत हुए थे (श्रीकृष्णजन्म० १०२ । ३०) । श्रीमद्भागवतके अनुसार आपने ६४ कलाओंके लिये अलगसे ६४ दिन रहकर उनका अनुभव किया—

अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः ।

(१० । ४५ । ३६)

महाभारतके सभापर्व (३८ । १-१५) से भी इसी बातकी पुष्टि होती है । यहाँ १२६ दिन विराजनेका उल्लेख प्राप्त है । वैसे तो भगवान्‌की उज्जैनमें कई एक लीलाएँ हुई हैं, किंतु उनमें चार लीलाएँ मुख्य हैं—(१) विद्याध्ययन-लीला (भागवत), (२) मित्रविन्दाके साथ पञ्चम विवाहकी लीला (भागवत), (३) केशवादित्य नरादित्यके मन्दिरके निमार्णकी लीला (स्कन्दपु० ५) और (४) पुरुषोत्तममासमें रुक्मिणीके साथ तीर्थयात्राकी लीला (स्कन्दपु० अवन्ती-खण्ड ५) ।



(श्रीसांदीपनि-आश्रम, उज्जैनमें स्थापित नवीन मूर्तियाँ)

गुरु-दक्षिणा

गुरुकुलसे गोदान करके विद्यार्थी जब वापस अपने घरपर ब्रह्मचर्य-आश्रमको त्यागकर द्वितीय गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करता है तब उसके पहले वह अपने गुरुको संतुष्ट करने और उनसे विद्याकी सफलताके लिये अन्तिम आशीर्वाद लेनेके लिये जाता है, तब गुरु-दक्षिणा देनेके लिये प्रार्थना करता है और उसमें भी गुरुजीकी इच्छित प्रिय वस्तु देनेको उत्सुक रहता है ।

भगवान्‌ने यह प्रस्ताव जब सांदीपनि मुनिके समक्ष रखा, तब पूर्णकाम गुरुजीने तो किसी वस्तुकी इच्छा नहीं प्रकट की, किंतु गुरु-पत्नीकी पुत्रैषणा अभी शेष थी, अतः उन्होंने अपने प्रभासतीर्थकी दुर्घटनाको याद करके उनसे मृत पुत्रको लानेके लिये कहा। तब श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों भाई वरुणके दिये हुए रथके द्वारा प्रभासमें जाकर समुद्रसे गुरुपुत्रको प्राप्तिके लिये कहने लगे। उसने बताया कि मेरेमें संह्लादका पुत्र पञ्चजन दैत्य शंखका रूप धारण कर रहता है, कदाचित् वह आपके गुरुपुत्रको ले गया होगा। आप उसे मारकर उन्हें प्राप्त कर लें (श्रीमद्भा० ६।१८।४, १०।४५।४०)।

यह सुनकर भगवान्‌ने शंखासुरको मारा, परंतु उसके पास गुरुपुत्रको नहीं पाया। आपने दैत्यपर कृपा की और प्रह्लादके भाईके पुत्र या अपने भक्तकी स्मृतिमें उसका बनाया हुआ शङ्ख स्वयं धारण किया और उसका नाम उसीकी स्मृतिमें पाञ्चजन्य शङ्ख रखा। तबसे यह सर्वप्रथम आयुध शङ्ख भगवत्प्रिय हुआ।

भगवान् गुरुपुत्रकी खोजमें पुनः निकले और यमराजकी संयमनीपुरीके बाहरसे ही आपने शङ्ख-ध्वनि की। उसे सुनकर सब नारकीय जीव मुक्त होकर स्वर्गको जाने लगे। यह देखकर यमराज बहुत क्रुद्ध हुए और इनसे युद्ध करनेके लिये दलबलके साथ आये, किंतु हारकर अन्तमें गुरुपुत्रको लाकर भेंट किये और अनेक प्रकारसे अपने बहनोईकी स्तुति कर उन्हें प्रसन्न किया (स्कन्द०, अवन्तीखण्ड ५।२७)।

आपने उज्जैनमें आकर गुरुजीके श्रीचरणोंमें गुरु-दक्षिणा समर्पण की और दण्डवत् प्रणाम किया (म०भा०स०परि० १।२१।८५७)। उस पुत्रका नाम 'दत्त' रखा गया। सपत्नीक गुरुजीने मुक्तकण्ठसे इन्हें विद्या सफल होनेका आशीर्वाद दिया (चरित्रकोश २६१)।

भगवान् श्रीकृष्णने ६४ दिनोंमें जो ६४ कलाओंका अध्ययन किया उनके नाम ये हैं—

गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, आलेख्य, विशेषकछेद्य, तंडुलकुसुमबलिविकार, पुष्पास्तरण, दशनवसनाङ्गराग, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचन, उदकवाद्य, चित्रयोग, माल्यग्रथनविकल्प, शेखरकापीडयोजन, नेपथ्यप्रयोग, कर्णपत्रभङ्ग, गन्धयुक्ति, भूषणयोजन, ऐन्द्रजाल, कौचुमारयोग, हस्तलाघव, पानकरस-रागासवयोजन, सूचीकर्म, सूत्रक्रीडा, प्रहेलिका, प्रहेलीमाला, दुर्वाचकयोग, पुस्तकवाचन, नाटकाख्यायिकादर्शन, काव्यसमस्यापूरण, पट्टिकावेत्रवान-विकल्प, तर्कुकर्म, वास्तुविद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद, मणिरागज्ञान, आकारज्ञान, वृक्षायुर्वेदयोग, मेषकुक्कुटलावयुद्ध-विद्या, शुक-सारिका-प्रलापन, उत्सादन, अक्षरमुष्टिकाकथन, म्लेच्छितकविकल्प, देशभाषाज्ञान, पुष्पशकटिका, निमित्तज्ञान, यन्त्रमात्रका धारण-संवाच्य, मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोष, छलितयोग, वस्त्रगोपन, द्यूतविशेष, बालक्रीडा, छन्दोज्ञान, क्रियाविकल्प, वैनायिक, वैजयिक, व्यासकयान, केशमार्जन, चित्रशाकयूपभक्तविकारक्रिया, वीणाडमरुकवाद्य, तक्षण, व्यायामिकी विद्या।

श्रीकृष्णके सतीर्थ सखा सुदामा

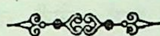
ये पोरबंदरके रहनेवाले बड़े संतोषी एवं भगवद्भक्त ब्राह्मण थे। इनके माता-पिताका नाम अज्ञात है। ये भगवान्‌के उज्जैन आनेके पहलेसे ही सांदीपनिके पास विद्याध्ययन कर रहे थे। इनके हृदयपटलपर उपनिषदोंका प्रभाव अधिक हुआ। ये खाने, पहनने आदि लौकिक व्यवहारको तुच्छ मानते थे। जैसे मिल जाय वैसे खा लेना और जो मिल जाय उस फटे-पुराने वस्त्रको केवल शरीर ढाँकनेके लिये धारण करना इनका सहज स्वभाव था। भगवान्‌ने जब इन संतोषी एवं अध्ययनशील ब्राह्मण-बालकको देखा तो वे बड़े प्रसन्न एवं संतुष्ट हुए। आपने जान-बूझकर ब्राह्मणमें अपनी अहैतुकी भक्ति देखकर उन्हें अपना मित्र बना लिया। आपने उद्धवको उपदेश करते समय इन आवन्त्य ब्राह्मणका उदाहरण देकर मनोविज्ञानका संदेश भी उन्हें दिया था।

ये अयाचित व्रत रखनेवाले ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। एक दिन सत्सङ्गके प्रसङ्गमें इन्होंने अपनी पत्नी सत्याको उपदेश करते हुए संतोषका महत्त्व बतलाया। जीवनमें भगवद्भक्ति ही मुख्य पुरुषार्थ है और वह तप तथा

संतोषसे सहज प्राप्त हो सकती है, किंतु पत्नीने इनसे कहा—'अन्य लोगोंसे तो काम नहीं है, किंतु द्वारकानाथके द्वारपर आप अवश्य जाइये। वहाँ जानेपर आपका अयाचित व्रत भंग नहीं होगा। आप कुछ भी मत माँगिये।' यों कहकर उसने इन्हें भेंटके लिये कुछ चिउड़ा बाँधकर वहाँ जानेकी तैयारी कर दी। तब इन्होंने सोचा कि—**'अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्।'**

अन्ततः ये किसी तरह द्वारकापुरी पहुँच ही गये। वहाँ भगवान्ने इनका बड़ा सम्मान किया और जिसने भेंट पठायी थी उसके लिये अपार धन-सम्पत्ति गुप्तरूपसे भेज दी। सुदामाजीने न तो कुछ इनसे याचना की और न ब्रह्मण्यदेवने इस ब्राह्मणका अयाचित व्रत ही टूटने दिया, वैसे ही इन्हें वहाँसे विदा कर दिया।

घर आनेके बाद इन्हें ज्ञात हुआ कि भगवान्ने अतुल ऐश्वर्य भेज दिया है। ये सब जिस सुशीलाने इच्छा की थी उसका है, मेरा धन तो मेरे पास पहले भी था और अब भी है; वह कहीं आता-जाता नहीं। मुझे तो गुरु सांदीपनिकी कृपाका प्रसाद प्राप्त है, वही सब कुछ है—**'गुरुकृपा हि केवलम्।'**



श्रीकृष्णकी छात्रावस्था

(पं० श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा, बी० ए०)

कंस-कण्टकके उखाड़े जानेके पश्चात् जब द्विजाति-संस्कार हो चुका, तब श्रीकृष्णकी गुरुकुलमें रहनेकी इच्छा हुई। उस समय उज्जैन-नगरीमें काश्य अर्थात् 'काश' गोत्रवाले अथवा 'काशी'में उत्पन्न हुए सभी विद्याओं और कलाओंसे सम्पन्न एक सांदीपनि नामके पण्डित रहते थे। श्रीकृष्ण शास्त्रोक्त-विधिसे हाथमें समिधा लेकर और इन्द्रियोंको वशमें रखकर विद्वद्वर सांदीपनिके समीप गये तथा गुरुके प्रति कैसा शुद्ध व्यवहार रखना चाहिये इसकी सीख औरोंको देते हुए भक्तिपूर्वक गुरुकी देवताके समान सेवा करने लगे। गुरु भी उन्हें तीक्ष्णबुद्धि देखकर उनका आदर करते और उनकी निष्कपट, स्नेहयुक्त सेवाओंसे उनपर प्रसन्न रहते थे। यथार्थमें यह भी श्रीकृष्णकी लोकसंग्रहके लिये मानव-लीलामात्र थी, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ।
नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः॥

(१०।४५।३०)

'सभी विद्याएँ उनसे निकली थीं। वे सर्वज्ञ और जगत्के स्वामी थे। निर्मल ज्ञान उन्हें स्वतः सिद्ध था, परंतु वे उसे छिपा रहे थे; क्योंकि उन्हें मनुष्योंकी भाँति लीला करनी थी।'

गुरुकुलवास, गुरु और गुरुशुश्रूषाकी महिमा तथा गुरुकुलमें कैसे-कैसे काम करने पड़ते थे और कैसे-कैसे कष्ट उठाने पड़ते थे, इन विषयोंका पुराणाचार्यने सुदामाकी कथा (श्रीमद्भा० १०।८०) में बड़े ही सुन्दर ढंगसे वर्णन किया है। श्रीकृष्ण अपने उस समयके सहपाठी सुदामासे कहते हैं—

'ब्रह्मन्! क्या आपको कभी अपना और हमारा गुरुकुलवाला ब्रह्मचर्याश्रमका वृत्तान्त भी स्मरण आता है? गुरुकुल ऐसा स्थान है, जहाँ द्विजातिको धर्मादिका वह ज्ञान होता है, जिससे अविद्यामय संसारसे मुक्ति मिल जाती है। द्विजाति और उसके सत्कर्मोंका उत्पत्ति-स्थान, सच पूछिये तो यह गुरुकुलवास अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम ही है, गर्भ नहीं; क्योंकि उसमेंसे तो शूद्र भी उत्पन्न होता है। इसीलिये भिन्न-भिन्न आश्रमवालोंको भिन्न-भिन्न ज्ञान देनेवाला गुरु वैसा ही पूज्य है, जैसा मैं हूँ। सचमुच वर्ण और आश्रमवालोंमें वे ही लोग पुरुषार्थकुशल हैं जो गुरुरूप मेरे उपदेशसे सुखपूर्वक संसारसागरको तर जाते हैं। सब भूतोंका आत्मा होकर भी मैं पञ्चमहायज्ञादि गृहस्थधर्म, ब्रह्मचारिधर्म, अनशनादि

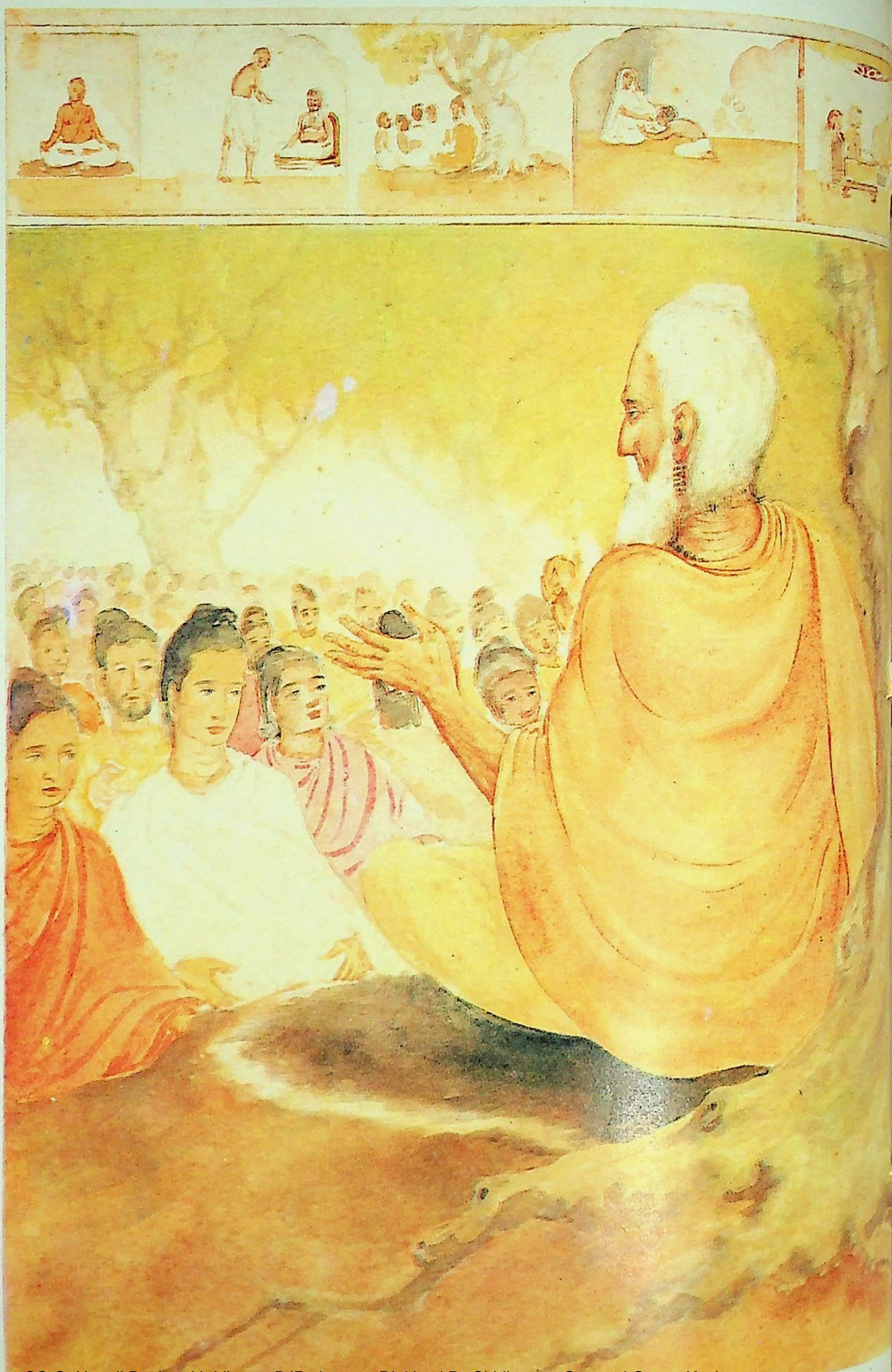
वानप्रस्थधर्म और इन्द्रिय-निग्रहादि यतिधर्मसे उतना प्रसन्न नहीं होता, जितना गुरुकी सेवासे। ब्रह्मन्! क्या वह दिन भी आपको स्मरण आता है, जब गुरुपत्नीने हम दोनोंको ईंधन लानेके लिये वन भेजा था? शीत ऋतु लग गयी थी। हम दोनों भयंकर वनमें गये हुए थे, इतनेमें आँधी चलने लगी। मूसलाधार पानी बरसने लगा, निठुर बादल गरजने लगे। थोड़ी देरमें संध्या हो गयी। चारों ओर अँधेरा छा गया। जल-ही-जल हो जानेसे यह नहीं जान पड़ता था कि कहाँ नीचा और कहाँ ऊँचा है। उस वनमें इस प्रकार वायु और उपल-जलादिवृष्टिसे अत्यन्त कष्ट पाते हुए हम दोनों मार्ग न पाकर परस्पर हाथ पकड़े हुए व्याकुल होकर इधर-उधर भटकते रहे। हम दोनोंको न आया जानकर दिन उगते ही आचार्य सांदीपनि खोजनेके लिये निकले और जब उन्होंने हम दोनोंको कष्टमें देखा तो दया करके कहने लगे कि 'प्रिय पुत्रो! हमारे लिये तुम दोनोंको बहुत कष्ट उठाना पड़ा। प्राणियोंको यह आत्मा सबसे प्यारा है, पर हमारी सेवाके आगे तुम दोनोंने इसे कुछ नहीं गिना। शुद्ध भक्तिसे अपने सब कुछ अर्थ और देहको गुरुके लिये अर्पण कर देना—ऐसा ही सच्छिष्योंको गुरुका उपकार करना चाहिये। द्विजश्रेष्ठो! मैं तुम दोनोंसे प्रसन्न हूँ। तुम दोनोंके मनोरथ सफल हों और पढ़े हुए वेद इस लोक और परलोकमें सदा उपस्थित तथा सारवान् रहकर अभीष्ट फलको देनेमें समर्थ रहें।'—ऐसे अनेक वृत्तान्त गुरुकुलमें रहते समय हुआ करते थे। क्या वे आपको स्मरण हैं? गुरुकी कृपासे ही मनुष्य पूर्णकाम होकर मुक्ति-प्राप्तिके लिये समर्थ होता है।'

गुरु सांदीपनिने श्रीकृष्णको (१) चारों वेद, (२) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्दःशास्त्र, ज्योतिष और निरुक्त—ये छः वेदाङ्ग, (३) उपनिषद्, (४) सरहस्य अर्थात् मन्त्रदेवताके ज्ञानसहित धनुर्वेद, (५) मन्वादिके कहे हुए धर्मशास्त्र, (६) मीमांसादि न्यायमार्ग (दर्शन), (७) तर्कविद्या और (८) संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—ऐसी छः प्रकारकी (राज) नीतियाँ सिखायीं। श्रीकृष्णने भी प्रखर बुद्धिके कारण गुरुके एक बार कहनेमात्रसे ही इन्हें सीख लिया। विष्णुपुराणके मतसे चौंसठ दिन-रातमें ही श्रीकृष्णने सभी चौंसठों कलाएँ सीख लीं।

जब श्रीकृष्णने उस समय इस लोक और परलोकके लिये उपयोगिनी जितनी विद्या और कलाएँ प्रचलित थीं, सब सीख लीं, तब उन्होंने गुरुसे दक्षिणा चाहनेके लिये प्रार्थना की। गुरु उनकी मनुष्योंमें दुर्लभ दिव्य बुद्धिको देख ही चुके थे, जिसके बलसे उन्होंने बिना परिश्रम ही केवल चौंसठ दिनोंमें सभी विद्याएँ सीख ली थीं। इसलिये उन्हें महापुरुष समझकर कोई ऐसी गुरुदक्षिणा लेनी चाही, जिससे उनका कोई असाधारण मनोरथ पूर्ण हो सकता था। इस प्रयोजनसे उन्होंने अपनी पत्नीसे अनुमति ली। कुछ वर्ष पहले उनका पुत्र प्रभास-क्षेत्रके समुद्रके जलमें खेल रहा था। वहाँ उसे शङ्खासुर निगल गया था। पत्नीकी अनुमतिसे उसीको गुरुने गुरुदक्षिणाके रूपमें माँग लिया।

'तथास्तु' कहकर श्रीकृष्ण रथपर सवार हो प्रभास-क्षेत्र पहुँचे और वहाँ समुद्रके किनारे जाकर कुछ देर ठहरे। समुद्रने उन्हें परमेश्वर जानकर उनकी यथायोग्य पूजा की। श्रीकृष्णने उससे कहा—'तुमने अपनी बड़ी-बड़ी लहरोंसे हमारे गुरुपुत्रको हर लिया था, उसे शीघ्र लौटा दो।' समुद्रने उत्तर दिया—'मैंने बालकको नहीं हरा है, मेरे भीतर पञ्चजन नामक एक बड़ा दैत्य शङ्खरूपसे रहता है। निःसंदेह उसीने आपके गुरुपुत्रको हरण किया है।' श्रीकृष्णने तत्काल जलके भीतर घुसकर उस दैत्यको मार डाला, पर उसके पेटमें गुरुपुत्र नहीं मिला। तब उसके शरीरमेंसे पाञ्चजन्य शङ्खको लेकर श्रीकृष्ण लौट आये। वस्तुतः श्रीकृष्ण पहले ही जानते थे कि गुरुपुत्र समुद्रमें नहीं है तथापि उन्हें शङ्ख लेना था। अतः नरलीला दिखानेके लिये गुरुपुत्रको ढूँढ़नेके मिससे उन्होंने यह कार्य किया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण यमराजकी नगरी संयमनीमें गये। वहाँ भगवान्ने उस शङ्खको बजाया। कहते हैं कि उस ध्वनिको सुनकर नारकी जीव पाप नष्ट हो जानेसे वैकुण्ठ पहुँच गये। यमराजने बड़ी भक्तिके साथ श्रीकृष्णकी पूजा



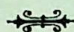
शिष्योंको सत्-शिक्षा

की और नम्र होकर निवेदन किया—'लीला-मानव ! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' श्रीकृष्णने कहा—'तुम तो नहीं, पर तुम्हारे दूत कर्मवश हमारे गुरुपुत्रको यहाँ ले आये हैं, उसे मेरी आज्ञासे दे दो ।' 'तथास्तु' कहकर यम उस बालकको ले आये ।

श्रीकृष्णने गुरुपुत्रको, जैसा वह मरा था वैसा ही उसका शरीर बनाकर, समुद्रसे लाये हुए रत्नादिके साथ गुरुके चरणोंमें निवेदित कर कहा—'गुरुदेव ! और भी जो कुछ आप चाहें आज्ञा करें ।' गुरुने उत्तर दिया—'वत्स ! तुमने गुरुदक्षिणा भली प्रकार सम्पन्न कर दी । तुम्हारे-जैसे शिष्यसे गुरुकी कौन-सी कामना अवशेष रह सकती है ? वीर ! अब तुम अपने घर जाओ, तुम्हारी कीर्ति श्रोताओंको पवित्र करे और तुम्हारे पढ़े हुए वेद नित्य उपस्थित और सारवान् रहकर इस लोक और परलोकमें तुम्हारे अभीष्ट फलको देनेमें समर्थ हों ।'

गुरुकी इस प्रकार अनुज्ञा पाकर श्रीकृष्ण वायुके-से वेग और बादलकी-सी गरजवाले रथपर सवार हो अपने नगरको लौट आये । बहुत दिनोंतक न दिखायी देनेके कारण उन्हें देखकर प्रजा ऐसी आनन्दित हुई जैसा कि खोया हुआ धन वापस मिल जानेसे आनन्द होता है ।

इससे यह शिक्षा मिलती है कि छात्रावस्थामें शिक्षार्थीको शिक्षककी अनुकम्पा प्राप्त करनेके लिये उनकी सेवामें दत्तचित्त होकर लगा रहना चाहिये । उनकी कृपासे वह पूर्णकाम होकर जगत्में अपने जीवनको जन-समाजके लिये आदर्श बना सकता है ।

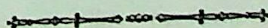


स्नातकोंके लिये सदुपदेश

प्राचीनकालमें जब ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करके घर लौटना चाहता था, तब आचार्य उसे ऐसा उपदेश देते थे—

'सत्य बोलो । धर्मका आचरण करो । स्वाध्यायका कभी त्याग न करो । आचार्यको गुरु-दक्षिणा देकर प्रजाके सूत्रको न काटो अर्थात् ब्रह्मचर्यका पालन कर चुकनेपर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करो । सत्यका कभी किसी अवस्थामें भी त्याग न करो । धर्मका कभी त्याग न करो । कल्याणकारी कर्मोंका त्याग न करो । साधनकी जो विभूति प्राप्त है, उसे कभी मत त्यागो । स्वाध्याय और प्रवचनमें कभी प्रमाद न करो । देवकर्म (यज्ञ) और पितृकर्म (श्राद्ध, तर्पण आदि) का कभी त्याग न करो । माताको देवरूपसे पूजो । पिताको देवरूपसे पूजो । आचार्यको देवरूपसे पूजो । अतिथिको देवरूपसे पूजो । जो कर्म निन्दारहित हैं उन्हींको करो । अन्य (निन्दित कर्म) मत करो । हमारे (गुरुके) श्रेष्ठ आचरणोंका अनुसरण करो, दूसरोंका नहीं ।

'जो ब्राह्मण अपनेसे श्रेष्ठ हों उन्हें तुरंत बैठनेके लिये आसन दो । जो कुछ दान करो श्रद्धासे करो, अश्रद्धासे नहीं । श्रीके लिये दान करो (लक्ष्मी चञ्चला है, प्रभुकी सेवामें उसे समर्पण नहीं करोगे तो वह तुम्हें त्यागकर चली जायगी ।), देय वस्तुको कम मानकर संकोच करते हुए भगवान् और शास्त्रसे डरकर दान करो, दान करना उचित है, इस विवेकसे दान करो । अपने किसी कर्म अथवा लौकिक विचारके सम्बन्धमें मनमें कोई शङ्का उठे तो अपने समीप रहनेवाले ब्राह्मणोंमें जो वेदविहित कर्मोंमें विचारशील हों, समदर्शी हों, स्वतन्त्र हों (किसीके दबावमें आकर व्यवस्था देनेवाले न हों), क्रोधरहित अथवा शान्त-स्वभाव हों और धर्मके लिये ही कर्तव्यपालन करनेवाले हों, वे जिस प्रकारका आचरण करें, उसी प्रकारका आचरण तुम भी करो । यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदोंका भाव है, यही आज्ञा है ।' ऊपर बतलायी हुई प्रणालीसे ही आचरण करना चाहिये । (तैत्तिरीय उपनिषद्)



आदर्श शिष्य

श्रीकृष्ण-सुदामा

श्रीकृष्ण इस किशोरवयमें राजकुमार नहीं, युवराज नहीं, सम्राट् भी नहीं, साम्राज्यके संस्थापक हैं । दिगन्तविजयी कंस उनके करोंके एक झटकेमें ध्वस्त हो गया और उग्रसेन—मथुरेश उग्रसेनको प्रणाम न करें तो इन्द्र भी देवराज न रह सकें; यह श्रीकृष्णका प्रचण्ड प्रताप । यहाँ उज्जयिनीके सिंहासनपर भी उनके बुआके पुत्र हैं । उनकी बुआ हैं, यहाँकी राजमाता । वे यहाँ भी सर्वथा अपरिचित देशमें नहीं हैं ।

श्रीकृष्णका यह ब्रह्मचारी-वेश और उनके साथ समवेशधारी दरिद्र ब्राह्मण-कुमार सुदामा । कोई विशेषता नहीं, कोई सम्मानाधिक्य नहीं । ब्राह्मणकुमारके साथ उसीके समान श्रीकृष्ण भी गुरुसेवाके लिये समिधाएँ वहन करते हैं, गुरुकी हवन-क्रियाके लिये जंगलसे लकड़ी लाते हैं ।

किंतु महर्षि सांदीपनिका आश्रम—किसी महर्षिका गुरुकुल तो साम्यका आश्रम है । श्रीकृष्ण कोई हों, कैसे भी हों, कितने भी ऐश्वर्यशाली हों और कितना भी दरिद्र हो सुदामा—महर्षिके चरणोंमें दोनों छात्र हैं । मानव-मानवके मध्य किसी भेदका प्रवेश गुरुकुलकी सीमामें यह कैसे सम्भव है ।

एकलव्य

आचार्य द्रोण—कुरुकुलके राजकुमारोंके शस्त्र-शिक्षक, उनका भी क्या वश था ? राजकुमारोंके साथ एक भीलके लड़केको वे कैसे बैठनेकी अनुमति देते । एकलव्य जब उनके समीप शस्त्र-शिक्षा लेने आया था, तब उन्होंने अस्वीकार कर दिया था ।

एकलव्यकी निष्ठा—सच्ची लगन सदा सफल होती है । उसने वनमें आचार्य द्रोणकी मृत्तिका-मूर्ति बनाकर उसीको गुरु माना और अभ्यास प्रारम्भ कर दिया । उसका अभ्यास—उसका नैपुण्य अन्ततः चकित कर गया एक दिन आखेटके लिये वनमें निकले आचार्य द्रोणके सर्वश्रेष्ठ शिष्य अर्जुनको भी ।

अर्जुनकी ईर्ष्यासे प्रेरित आचार्य एकलव्यके पास पहुँचे । जिनकी मूर्ति पूजता था एकलव्य, वे जब स्वयं उसके यहाँ पधारे । गुरुदक्षिणामें उन्होंने उसके दाहिने हाथका अँगूठा माँगा । किस लालसासे एकलव्यने शस्त्राभ्यास किया था, उस समस्त अभिलाषापर पानी फिर रहा था, किंतु धन्य एकलव्य ! उसने बिना हिचके अँगूठा काटा और बढ़ा दिया आचार्य द्रोणके सम्मुख ।

आरुणि

न पुस्तकें, न फीस—छात्रावास-शुल्क भी नहीं । उन दिनों छात्र गुरुगृहमें रहते थे । निवास, भोजन, वस्त्र तथा अध्ययनका सारा दायित्व गुरुदेवपर । शिष्य सनाथ था गुरुसेवा करके ।

तीव्र वर्षा देखकर महर्षि धौम्यने अपने शिष्य आरुणिको धानके खेतकी मेंड़ ठीक करनेके लिये भेजा । खेतकी मेंड़ एक स्थानपर टूटी थी और जलका वेग बाँधनेके लिये रखी मिट्टीको बहा ले जाता था । निष्फल लौट जाय आरुणि—यह कैसे सम्भव था ? वह स्वयं टूटी मेंड़के स्थानपर लेट गया जलका वेग रोककर । शरीर शीतल हुआ, अकड़ा, वेदनाका पार नहीं, किंतु आरुणि उठ जाय और गुरुदेवके खेतका जल बह जाने दे—यह नहीं हुआ ।

गुरुदेवके यहाँ रात्रिमें भी आरुणि नहीं पहुँचा तो वे चिन्तित हुए । ढूँढ़ने निकले और उनकी पुकारपर आरुणि उठा । उसकी गुरुभक्तिसे प्रसन्न गुरुके आशीर्वादने उसी दिन उसे महर्षि उद्दालक बना दिया ।

उपमन्यु

महर्षि आयोद धौम्यने अपने दूसरे शिष्य उपमन्युका आहार रोक दिया । उसकी लायी हुई सारी भिक्षा वे रख लेते । उसे दूसरी बार भिक्षा लानेसे भी रोक दिया गया । वह गौओंका दूध पीने लगा तो वह भी वर्जित और बछड़ोंके मुखसे गिरे फेनपर रहने लगा तो वह भी निषिद्ध हो गया । क्षुधासे पीड़ित होकर आकके पत्ते खा लिये उसने । उसकी नेत्रज्योति चली गयी । वह कुएँमें—जलरहित कूपमें गिर पड़ा ।

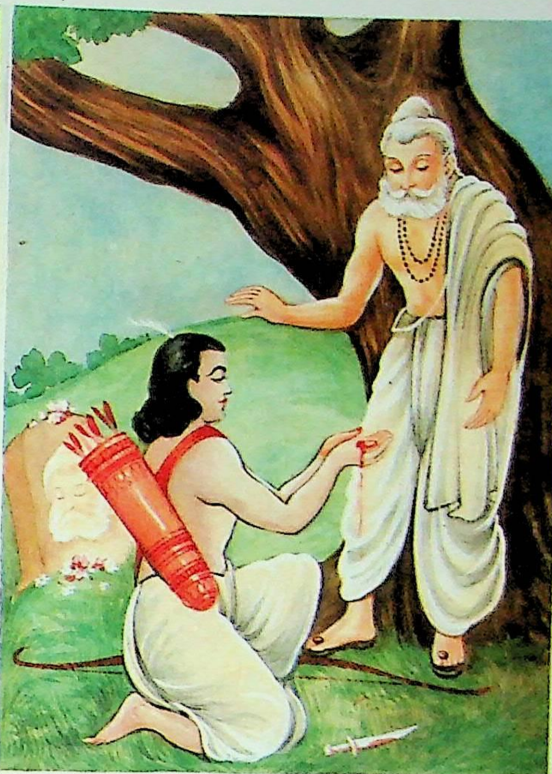
महर्षि उसे ढूँढ़ते कूपपर पहुँचे । उनके आदेशसे उपमन्युने स्तुति की और देववैद्य अश्विनीकुमार प्रकट हुए । उनका आग्रह, किंतु गुरुको निवेदित किये बिना उनका दिया मालपुआ उपमन्यु कैसे खा ले । देववैद्य एवं गुरुदेव दोनों द्रवित हो उठे । उपमन्युकी दृष्टि ही नहीं, तत्काल समस्त विद्याएँ प्राप्त हो गयीं उसे ।

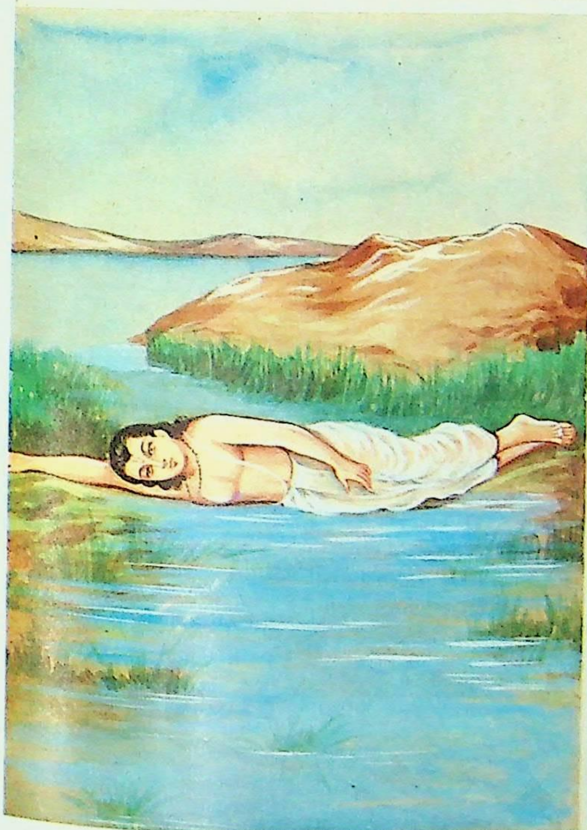
आदर्श शिष्य

श्रीकृष्ण-सुदामा



एकलव्य





आरुणि



उपमन्यु

विविध शिक्षा

महाकवि कालिदासकी दृष्टिमें शिक्षा

(डॉ॰ श्रीरामकृष्णजी सराफ)

महाकवि कालिदास अद्वितीय प्रतिभाके धनी थे। उनकी कृतियोंमें अनेक ज्ञान-विद्याओंका समावेश है। अपने देशकी तत्कालीन संस्कृतिका चित्रण उनकी रचनाओंमें स्पष्ट अंकित है। महाकविने अपनी रचनाओंमें सांस्कृतिक मान्यताओं, धर्म-दर्शन-कला-शिक्षा आदिकी चर्चा की है। शिक्षाके सम्बन्धमें उनके विचार सुस्पष्ट हैं। शिक्षाका उद्देश्य क्या हो, शिक्षकका व्यक्तित्व कैसा हो, शिक्षक और छात्रोंके सम्बन्धोंका स्वरूप कैसा हो, शिक्षा-संस्थाओंमें अनुशासनकी अपरिहार्यता है या नहीं, शिक्षाके प्रति शासनकी नीति क्या हो, लोकका शिक्षाके प्रति दृष्टिकोण किस प्रकारका हो, शिक्षामें परीक्षा तथा उपाधि (डिग्री)-का क्या सम्बन्ध हो आदि प्रश्नोंका उत्तर हमें महाकवि कालिदासकी कृतियोंमें मिलता है।

महाकविने किसी शिक्षण-संस्थामें अध्यापन भले ही न किया हो, किंतु शिक्षाके सम्बन्धमें उन्होंने जो अपने विचार रखे हैं, उनसे उनकी इस राष्ट्रिय समस्याके प्रति पूर्ण सजगताका संकेत मिलता है। शिक्षाके उद्देश्यको स्पष्ट करते हुए महाकवि कहते हैं कि कोरे पुस्तकीय ज्ञानको प्राप्त कर लेना अपनेमें कोई अर्थ नहीं रखता। विद्या-अर्जनके पश्चात् सतत अभ्यासकी आवश्यकता होती है **'विद्यामभ्यसनेन'** (रघुवंश १।८८)। हमारे अर्जित ज्ञानकी लोकमें सार्थकता तभी है, जब वह व्यवहारमें भी उतना ही खरा उतरे।

एक अच्छे शिक्षकके सम्बन्धमें अपना विचार व्यक्त करते हुए महाकविने कहा है कि श्रेष्ठ शिक्षक वही है, जिसकी अपने विषयमें गहरी पैठ हो। उसका अपने विषयपर तो पूर्ण अधिकार होना ही चाहिये, अध्यापन-क्षमता भी उसकी उत्कृष्ट कोटिकी होनी चाहिये, जिससे छात्रोंको श्रेष्ठ ज्ञानका लाभ मिल सके—

शिलष्टाक्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥

(मालविकाग्नि॰ १।१६)

सुसिक्खिदोवि सव्वो उवदेसदंसणे णिण्णातो होदि।
(सुशिक्षितोऽपि सर्वः उपदेशदर्शने निष्णातो भवति।)

(मालविकाग्नि॰)

— ऐसा अध्यापक ही समाजमें अपना स्थान बना पाता है। महाकविने ऐसे अध्यापकको ही 'सुतीर्थ' की संज्ञा दी है, किंतु अध्यापक यदि अपने उत्तरदायित्वका सही निर्वाह नहीं करता तो कालिदासकी लेखनी उसे क्षमा भी नहीं करती। मालविकाग्निमित्रमें ऐसे शिक्षकोंके सम्बन्धमें उन्होंने स्पष्टरूपसे कहा है कि जिसका शास्त्रज्ञान केवल जीविकानिर्वाहके लिये है, वह तो ज्ञानको बेचनेवाला वणिक् है।[1] कालिदासकी मान्यता है कि उत्तम पात्रको दी गयी शिक्षा अवश्य उत्कर्ष प्रकट करती है—

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।

(मालवि॰ १।६)

१. यस्यागमः केवलं जीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति॥ (मालवि॰ १।१७)

किंतु उत्तम पात्रका चयन भी उत्तम अध्यापक ही कर सकता है । राग-द्वेषसे लिप्त अथवा पूर्वाग्रहग्रस्त अध्यापक इस कार्यको करनेमें असफल रहेगा और वह उसकी अयोग्यताका सूचक होगा—

विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयति ।

(मालवि॰)

यदि सही शिष्यको सही अध्यापकके द्वारा शिक्षा प्रदान की गयी है तो कोई कारण नहीं है कि उसका परिणाम भी सही न निकले । अध्यापक एवं छात्रोंके बीचके सम्बन्धकी चर्चा करते हुए कालिदासने कहा है कि शिक्षण-अवधिमें आचार्य छात्रोंके लिये अध्यापक भी हैं और अभिभावक भी । छात्रके सर्वाङ्गीण कल्याणको दृष्टिमें रखते हुए वे उसे विद्या प्रदान करते हैं । आश्रममें सभी छात्र समान होते हैं । सभीको आचार्यसे समान व्यवहार और एक-सा स्नेह मिलता है, चाहे वाल्मीकिके आश्रममें लव-कुश हों अथवा वरतन्तुके आश्रममें कौत्स । गुरुके यहाँ छात्रको पुत्रवत् प्रेम मिलता है । छात्रके व्यक्तित्वका आश्रममें सम्यक् विकास होता है । आचार्यको इसीलिये शिष्यपर पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है—***पभवदि आआअरिओ सिस्सजणस्स*** **(प्रभवत्याचार्यः शिष्यजनस्य)** (मालविकाग्नि॰), जिससे अपने छात्रके व्यक्तित्वको वह सही रूपसे सँवार सके । अतः यह स्वाभाविक है कि छात्रोंसे भी आचार्यको अटूट सम्मान प्राप्त हो । कालिदासकी कृतियोंमें यह मान्यता स्थापित मिलती है । इससे संकेत मिलता है कि कालिदासके युगमें अध्यापकों और छात्रोंके बीचके सम्बन्ध अपेक्षाके अनुरूप प्रियकर थे ।

कालिदासकी रचनाओंमें इस तथ्यके भी पर्याप्त संकेत मिलते हैं कि शिक्षण-संस्थाओंमें अनुशासनसम्बन्धी कोई समस्या नहीं थी । उसके विपरीत आश्रमोंमें अनुशासनका पालन कड़ाईसे होता था । वहाँ सबसे अपेक्षित था कि अनुशासनके नियमोंका सभी लोग समानरूपसे पालन करें । इसके लिये कोई अपवादरूप नहीं था । आश्रमके प्रधानके आदेशका कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता था । फिर चाहे वह राजपुत्र ही क्यों न हो ? यदि कोई राजकुमार आश्रमके नियमोंका उल्लङ्घन करता तो उसे भी क्षमा नहीं किया जाता था । उसे भी दण्डित होना पड़ता था । महर्षि च्यवनके आश्रममें महाराज पुरूरवाके पुत्र कुमार आयुके आश्रमविरुद्ध आचरण करनेपर—आश्रममें एक पक्षीको बाणसे मारनेपर—उसे आश्रमसे तत्काल निष्कासित कर दिया गया था ।[२] शासन भी आश्रमके नियमोंका पूर्ण सम्मान करता था । कालिदासकी कृतियोंमें ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं मिलता जहाँ आश्रमके नियमोंको शिथिल करनेके लिये शासनके द्वारा अपने प्रभावका उपयोग किया गया हो । स्पष्ट है कि आश्रमके कुलपति अपने कार्यक्षेत्रमें छात्रोंके हितमें यथोचित निर्णय लेनेके लिये पूर्ण सक्षम एवं स्वतन्त्र थे । शिक्षाके क्षेत्रमें नीतिविषयक निर्णय लेनेका अधिकार किसी वसिष्ठ अथवा वरतन्तु, कण्व अथवा च्यवनका ही होता था । शासन इस क्षेत्रमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं करता था ।

उस युगमें शासनकी तरह प्रजावर्ग भी आश्रमों अथवा शिक्षा-संस्थाओंको आदरपूर्ण दृष्टिसे देखता था। कुलपतिका पद सर्वत्र सम्मानित था । आश्रमकी मर्यादाके परिपालनमें सबका पूर्ण विश्वास था । उच्चवर्ग और सामान्यवर्ग सभी अपने पुत्रोंको आश्रममें शिक्षा ग्रहण करनेके लिये भेजते थे । महर्षि कण्वके आश्रममें शार्ङ्गरव और शारद्वत समाजके सामान्य वर्गसे आनेवाले छात्र प्रतीत होते हैं । रघुवंशमें वरतन्तुका शिष्य कौत्स भी सामान्य श्रेणीसे आनेवाला छात्र है । इन छात्रोंके विवरणसे ज्ञात होता है कि इस वर्गके छात्र भी पूर्ण निष्ठासे श्रद्धापूर्वक ज्ञान प्राप्त करते थे एवं अपने आचार्यका आशीर्वाद और स्नेह प्राप्त करते थे । ऐसा कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता जहाँ इस वर्गके छात्रोंने आश्रमके अनुशासनको उल्लङ्घित करनेका कभी प्रयास किया हो ।

शिक्षा-पद्धतिके समान परीक्षाके सम्बन्धमें भी कालिदासके विचार स्पष्ट हैं । सही शिक्षा परीक्षित होनेपर उसी प्रकार खरी उतरती है, जिस प्रकार अग्निमें डाला हुआ

२. विक्रमोर्वशीयम् ।

सोना। वह कभी मलिनताको प्राप्त नहीं होती।[3] परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर न केवल शिष्यकी प्रशंसा होती है, अपितु अपने उपदेष्टाको भी वह गौरव प्राप्त कराता है। मालविकाग्निमित्र नाटकमें आयोजित नृत्यस्पर्धामें मालविकाके उत्कृष्ट नृत्य-प्रदर्शनके लिये देवी धारिणीने नृत्याचार्य गणदासकी प्रशंसा की थी।

कालिदासकी मान्यता रही है कि प्राप्त किये हुए ज्ञानकी परीक्षाके लिये कोई निश्चित समय नहीं रहता। शिष्यको अपने ज्ञानकी परीक्षा देनेके लिये सदा तैयार रहना चाहिये। उसकी परीक्षा कहीं भी और किसी भी समय ली जा सकती है। यदि छात्रको सही मार्गदर्शन मिला है और यदि उसने अपने आचार्यके बतलाये मार्गपर चलते हुए शिक्षा ग्रहण की है, तो कोई कारण नहीं कि किसी भी समय परीक्षा देनेमें उसे कोई हिचक हो। छात्रको अपने आचार्यकी योग्यतापर पूर्ण विश्वास होना चाहिये और अपने ऊपर आत्मविश्वास भी। ऐसा छात्र अवसर आनेपर सदा सफल ही रहता है। महर्षि वाल्मीकिसे विद्या प्राप्त कर बालक लव-कुशने अपने मौखिक रामायण-पाठसे अयोध्यामें सारी राजसभाको मन्त्रमुग्ध कर दिया था।

कालिदासने आचार्यसे प्राप्त की हुई विद्याके प्रमाणस्वरूप किसी उपाधि अथवा प्रमाणपत्रको कभी आवश्यक नहीं ठहराया। उनकी स्पष्ट मान्यता रही है कि यदि सम्यक्रूपसे प्रदत्त विद्या सम्यक्रूपसे ग्रहण की गयी है तो वह फलवती अवश्य होगी। यदि आचार्यको विश्वास हो जाता है कि छात्रने पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर ली है, तो उनका छात्रको प्रसन्नतापूर्वक प्रदान किया गया आशीर्वाद ही अपने-आपमें सबसे बड़ी उपाधि होती थी। फिर तो शिष्य कहीं भी जाकर अपनी योग्यताके आधारपर अपना स्थान बना लेता था। रघुवंशमें आचार्य वरतन्तुने अपने शिष्य कौत्सके विद्याध्ययनके प्रति अपना पूर्ण संतोष व्यक्त किया।[4] छात्र कौत्सके लिये गुरु-प्रतोष ही सर्वोच्च उपाधि थी।

कालिदासने योग्यताका मापदण्ड गुरुसे प्राप्त ज्ञानको माना है न कि मात्र उपाधि-पत्रकको। उस युगमें छात्रोंके बीच स्पर्धा ज्ञानप्राप्तिके लिये होती थी, उपाधिप्राप्तिके लिये नहीं। यही कारण था कि कोई भी योग्य छात्र अपनी उपाधि लेकर कामके लिये यत्र-तत्र भटकता हुआ कालिदासके साहित्यमें नहीं मिलता। इस प्रकार महाकविने अपनी कृतियोंमें शिक्षासम्बन्धी कतिपय ज्वलन्त प्रश्नोंको उठाया है और उन प्रश्नोंका अपने ढंगसे समाधान भी रखा है। महाकवि कालिदास एक महान् दूरद्रष्टा थे। महाकविकी और उनके विचारोंकी आज भी प्रासंगिकता है। आजके संदर्भमें भी उनकी अवधारणाएँ मननीय एवं विचारणीय हैं।

रघुवंशमें शिक्षाके कुछ मूल्यवान् सूत्र

(डॉ॰ श्रीशशिधरजी शर्मा, एम्॰ ए॰, डी॰ लिट्॰)

शिक्षापर भारतीय शास्त्रोंमें पर्याप्त विवेचना हुई है। 'रघुवंश' कविकुलगुरु कालिदासकी सर्वोदात्त कृति होनेपर भी समग्र रघुकुलकी ललामतम उपलब्धियोंका भी लेखा-जोखा है, अतः उसमें किसी आनुषङ्गिक विषयपर जमकर लिखना महाकविके लिये कठिन था। फिर भी उसमें शिक्षाके प्रसङ्गमें जो कुछ कहा गया है, वह मौलिक है और आजकी शिक्षा-समस्याओंके समाधान-निमित्त मूल्यवान् सूत्रोंको उपस्थित करता है। कालिदासके कुमारसम्भव, अभिज्ञान-शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्रादिमें भी शिक्षा-सम्बन्धी अत्यन्त महत्त्वके निर्देश हैं, पर विस्तारभयसे यहाँ रघुवंशका ही विवेचन प्रस्तुत है।

---

३. उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः। श्यामायते न विद्वत्सु यः काञ्चनमिवाग्निषु॥ (मालवि॰ २।९)
४. समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै। स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत् पुरस्तात्॥ (रघुवंश ५।२०)

संस्कारोंकी पृष्ठभूमि

पहलेकी अपेक्षा आज शिक्षाका प्रसार बहुत अधिक है, पद-पदपर शिक्षालय सुलभ हैं। विदेशोंमें तो शिक्षाका प्रतिशत बहुत ही बढ़ा हुआ है, फिर भी शिक्षा अपने लक्ष्यसे बहुत दूर है। शिक्षाका लक्ष्य है व्यक्तिका परिष्कार, जिसके द्वारा मानवमें देवत्वका आधान होता था, किंतु आजकी शिक्षामें बिलकुल विपरीत है। अशिक्षितोंकी अपेक्षा आजका शिक्षित-समुदाय अधिक गहरे अपराधोंसे लिप्त है। राष्ट्रिय रहस्योंका विक्रय करनेवाले या कम-से-कम समयमें अधिक-से-अधिक व्यक्तियोंकी हत्याके साधनोंका आविष्कार करनेवाले सब सुशिक्षित हैं। विकासका साधन शिक्षा आज विनाशका साधन बनी है। यह विपर्यय कैसा? रघुवंशमें इसका समाधान प्राप्त होता है—संस्कारोंमें। संस्कार किये जानेपर विष भी औषध बन जाता है और संस्कारके बिना औषध-द्रव्य भी व्यवहार्य नहीं होते।

भारतीयोंके षोडश संस्कार शिक्षाकी पूर्णताके ही तो साधन थे। इसीलिये कालिदासने रघुका चित्रण करते हुए लिखा है कि चूडाकर्म-संस्कारके अनन्तर जब उन्होंने लिपिको ग्रहण किया—लिखना प्रारम्भ किया—तब उनका वाङ्मयमें अनायास सहज प्रवेश हो गया, जैसे जलका नदीके मुहानेसे समुद्रमें प्रवेश हो जाता है—

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकै-
रमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं
नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥

(३। २८)

उपनयन-संस्कार हो जानेके पश्चात् गुरुजनोंके प्रिय उन रघुको गुरुओंने शिक्षा प्रदान की और उनके प्रयास सफलतासे मण्डित हुए; क्योंकि पात्रमें दी गयी शिक्षा ही सफल होती है।

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो
विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते
क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति॥

(३। २९)

यहाँ यह बतलाया गया कि यद्यपि रघु सहज ही गुरुजनोंको प्रिय थे, फिर भी उन्होंने उपनयन-संस्कारके पश्चात् ही उन्हें शिक्षा-वितरण किया। दूसरी बात यहाँ यह कही गयी कि पात्रमें दी गयी शिक्षा ही सफल होती है। आज पात्रापात्र-विचारके अभावमें ही शिक्षा बंदरके हाथका खंजर बन गयी है।

रघुवंशीय शिक्षाकी तीसरी विशेषता है उसका विनयके साथ नित्यसम्बन्ध। इस विनयने ही उन्हें गुरुजनोंका सहज स्नेहपात्र गुरुप्रिय बनाया था। विनयकी शिक्षा तो अँगुली पकड़कर चलनेकी अवस्थासे ही मिलने लगती थी। तभी तो लिखा है—

ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलि-
मभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया॥

(३। २५)

उनका यह विनय सदा एकरस रहा। तभी तो कविने लिखा है कि युवक रघु यद्यपि देहसे अपने पितासे बढ़ गये थे, फिर भी विनयवश वे नीचे (झुके हुए) ही दीखे—

वपुःप्रकर्षादजयद् गुरुं रघु-
स्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत॥

(३। ३४)

कविकी दृष्टिमें यह विनय दो प्रकारका है—एक सहज और दूसरा संस्कार अर्थात् समग्र विद्याभ्याससे प्राप्त होनेवाला।[1] रघुमें ये दोनों ही विनय विद्यमान थे—**'निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ'** (३। ३५)। आजकी शिक्षा इसलिये भी असफल है; क्योंकि उसका विनयसे कोई नाता नहीं। फलतः वह मानवताका नहीं, केवल दम्भका पोषण करती है।

सर्वपथीनता

रघुकी शिक्षाके प्रसङ्गमें एक वैशिष्ट्य यह भी द्रष्टव्य

१. निसर्गेण स्वभावेन संस्कारेण शास्त्राभ्यासजनितवासनया च विनीतो नम्रः। (मल्लिनाथ)

है कि उसका क्षेत्र लोक और परलोक दोनोंको समेटे हुए है। कविसम्राट् लिखते हैं कि उदारमना रघुने बुद्धिके सम्पूर्ण गुणोंद्वारा चतुःसमुद्र-सदृशी त्रयी, आन्वीक्षिकी आदि चारों विद्याओंको यों पार कर लिया, जैसे सूर्य वायुसे भी अधिक वेगवान् अपने घोड़ोंके सहारे चार समुद्र-जैसी (अपार) चारों दिशाओंको पार कर लेते हैं—

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः
क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभि-
र्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥

(३।३०)

इस पद्यमें संकेतित बुद्धिके सात गुण हैं—गुरुजनोंकी सेवा, उनके मुखारविन्दसे श्रवण, सुने हुएको ग्रहण करना, उसे धारण करना, तर्क-वितर्क, अर्थ-ज्ञान और तत्त्वतक पहुँच। जैसा कि कामन्दकमें कहा गया है—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥

इनमें सर्वप्रथम गुण है गुरु-सेवा। शुश्रूषाका अर्थ गुरुमुखसे सुननेकी इच्छा भी किया जा सकता है—तब भी अभिप्राय गुरुमहिमापर ही केन्द्रित रहेगा। फलतः छात्रोंकी अनुशासनहीनताका प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही गुरु भी तो तब योग्य ही हो सकेंगे, संस्तुतिसे नहीं। इसके साथ ही पाठ्यक्रमकी सर्वाङ्गीणता भी यहाँ दर्शनीय है। रघुने आन्वीक्षिकी (न्यायशास्त्र), त्रयी (अध्यात्मविद्या), वार्ता (कृषि-वैज्ञानिकी) और दण्डनीति (राजनीति) चारों विद्याएँ पढ़ी थीं। सारांश—तब शिक्षा लोक-परलोक दोनोंको बनानेवाली होती थी। अंग्रेजोंने भारतमें तो लिपिक पैदा करनेवाली शिक्षा चलायी ही, किंतु अन्य देशोंमें भी केवल भौतिक शिक्षाकी उपलब्धियाँ मानवके सम्पूर्ण विकासमें अक्षय रहती हैं। अतिलौकिक बला-अतिबला-जैसी विद्याओंकी बात यहाँ जान-बूझकर छोड़ दी गयी है।

घरसे शिक्षा

आजकल माता-पिता बच्चोंको स्कूल भेज देने मात्रसे अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझते हैं। विश्वशिक्षाविदोंके अनुसार बच्चोंमें पनपनेवाली कुण्ठामें यह एक प्रमुख कारण है, जिसका पर्यवसान अपराधोन्मुखतामें होता है, किंतु रघुने धनुर्वेद अपने पिताश्री महाराज दिलीपसे ही पवित्र मृगचर्म धारण करके (नियमपूर्वक) सीखा था। उनके पिता भी तो सम्राट् मात्र ही न थे, वे धनुर्धरोंके अग्रणी भी थे—

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवी-
मशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः
क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥

(३।३१)

अतः रघुवंशका आदर्श रहा कि शिक्षाका आरम्भ घरसे हो और उसमें पिताकी भूमिका प्रमुख हो। फलतः पितामें शील एवं योग्यता सहज आक्षिप्त है।

त्यागरूप पारसमणि

त्याग जीवनकी पारसमणि है। यह जिसे छू देती है, वही सोना बन जाता है। आज शिक्षामें बहुमुखी प्रगति होनेपर भी उसकी विफलताका प्रधान कारण उसमें त्यागकी भावनाका न रहना है। गुरुदक्षिणाके लिये अड़े हुए कौत्सको खीझकर जब गुरुने कहा कि तुमने चौदह विद्याएँ पढ़ी हैं तो चौदह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ लाओ। रघुने याचक बनकर आये हुए कौत्सके आगे कुबेरसे सैकड़ों करोड़ स्वर्णमुद्राओंकी वर्षा करा दी, तब कौत्स गुरुदक्षिणाके चौदह करोड़से अधिक एक पाई भी लेनेको उद्यत न था। उदार दाता रघुका आग्रह था कि सब आपको ही ले जाना होगा; क्योंकि मैं तो सर्वस्व दान कर चुका हूँ। सारा साकेत ठगा-सा खड़ा था कि रघु और कौत्समेंसे किसे बढ़कर मानें—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी
नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥

(५।३१)

यदि हम रघुवंशकी शिक्षासे सूत्रोंको पकड़ सकें तो निस्संदेह हमारी शिक्षा-समस्याएँ समाप्त हो सकती हैं।

शिक्षा, सेवा, विनय और शील

(डॉ॰ श्रीअनन्तजी मिश्र)

शिक्षा शब्दका उच्चारण करते ही इसके दो परिपार्श्व अर्थात् दो समानान्तर संदर्भ तुरंत सामने आ जाते हैं। एक है शिक्षक और दूसरा शिक्षार्थी। प्रथम बात तो यह है कि शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों ही भगवान्के स्वरूप हैं। दोनोंको दोनोंके रूपोंका यथार्थ बोध हुए बिना शिक्षाका वास्तविक उद्देश्य प्राप्त नहीं होगा। दोनोंको दो रूपोंमें भगवान्का ही कार्य सम्पादित करना होता है। एकको शिक्षा देनी है, वह दाता है और दूसरेको ग्रहण करनी है, वह ग्रहीता है। पर दोनोंके मनमें क्रमशः न तो यह अभिमान होना चाहिये कि वह शिक्षक है, ज्ञानी है और न यह हीनता-बोध कि वह अज्ञानी है। इसमें पहलेका दायित्व दुगुना है। उसे शिक्षार्थीके प्रति यह जिम्मेदारी भी निभानी है कि वह उसे किसी प्रकारके हीनता-बोधसे बचाये भी रखे और यह भी देखता रहे कि शिक्षार्थीकी जिज्ञासा घटने न पाये, उसे अल्प ज्ञानका संतोष न होने पाये।

भगवत्कार्य समझकर शिक्षा और शिक्षितके कार्योंका पर्यालोचन करनेसे शिक्षाकी बहुत-सी समस्याएँ अपने-आप समाप्त हो जाती हैं। वस्तुतः शिक्षक और शिक्षार्थी अध्यापन और अध्ययनके वातावरणमें स्वयंको ही माँजते, धोते और इस प्रकार निर्मल होते हैं जिसे भगवान्ने गीतामें '**परिप्रश्नेन सेवया**'के संकेतसे स्पष्ट किया है। वह केवल शिक्षार्थीपर ही लागू नहीं होता। यह बात दोनोंपर लागू होती है। शिक्षाका संदर्भ सेवासे कृतार्थ होता है। कोई यह कह सकते हैं कि सेवाका यहाँ क्या संदर्भ है। यह तो ज्ञान-दान है। ज्ञान-दान भी क्या, ज्ञानका प्रसार है। पर प्रसारसे ज्ञानका आचरण-पक्ष उजागर नहीं होता। जो आधुनिक शिक्षामें खोट उत्पन्न होती जा रही है और जो दोष आज तिलसे ताड़ बनता जा रहा है, उसके पीछे 'शिक्षाका प्रसार' एक कारण है। शिक्षाको प्रचार-प्रसारसे जोड़ना मात्रात्मक अर्थमें तो उपयोगी हो सकता है, पर गुणात्मक स्तरपर इसकी कृतकार्यता तबतक नहीं हो सकती जबतक कि शिक्षक-समुदाय इसे सेवाके रूपमें ग्रहण नहीं करता। वस्तुतः वे निष्ठा और पवित्रताके भाव, जो शिक्षा-प्राप्त व्यक्तिको सदाचारी बनाते हैं, बिना सेवा-भावनाके प्रकट नहीं होते।

शिक्षाका सम्बन्ध संस्कारों, साधनों और विधाओंसे है। संस्कार तो व्यक्तिगत होते हैं, पर विद्या और साधनाको अपेक्षित दिशा और भूमिका देनी पड़ती है। विद्याके लिये साधना और साधनाके लिये विद्या, इन दोनों ही वस्तुओंको तत्त्वसे जाननेकी आवश्यकता है। विद्या-प्राप्तिका उद्देश्य विवाद, धन-मद और अहंकार-वर्धन नहीं होना चाहिये। विद्यासे विनयकी ही प्राप्ति होनी चाहिये। विनय केवल निरभिमानिताका पर्याय नहीं है। इसके लिये विशेष दिशा अर्थात् पारमार्थिक तत्त्वज्ञान, तत्त्वप्रवेश, तत्त्व-बोध और तत्त्वात्मबोधकी प्रक्रियाके क्रममें अपनेको ले जाना पड़ता है; क्योंकि विनय शब्दमें भी (**'णीञ् प्रापणे'**) धातु विद्यमान है। शिक्षार्थी और शिक्षकको इस गम्भीर अनुरोधके अनुकूल अपनी जागतिक शिक्षाको भी देखना एवं परखना चाहिये।

शिक्षा अपने तत्त्वार्थमें एक प्रकारकी दीक्षा है। शिक्षाके बाद दीक्षान्त-भाषणोंका यही अद्यतन महत्त्व है। शिक्षा और दीक्षा— दोनों मिलकर आचारका निर्धारण एवं नियन्त्रण करते हैं। यह आचार जब प्रवृत्तिका पर्याय बन जाता है तब शीलका उदय होता है। यह शील ही शिक्षाका चरम फल है। शील सघन साधनाके पश्चात् अमृत-तत्त्वकी प्राप्ति कराता है। महान् आत्माओंकी लोक-यात्राएँ उनके शील तथा साधनाओंकी चरम परिणतियाँ हैं। प्रत्येक व्यक्तिके शीलका निर्माण शिक्षा-व्यवस्था करे और सम्पूर्ण व्यक्तियोंका संनिवेश एक सम्पूर्ण शीलवान् समाजका निर्माण कर सके तो पूरे समाजको विद्यारूप अमृतका फल प्राप्त हो सकेगा, ऐसा विश्वास सभीको सद्बुद्धि प्रदान करे। ऐसी मङ्गलमयी कामना हम सबको करनी चाहिये।

शिक्षार्जनमें विशिष्ट कोशों, विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों और प्रकाशन-संस्थाओंका योगदान

(पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

शिक्षाके मूल स्रोत श्रीभगवान् ही हैं। उनके सहज श्वाससे अपौरुषेय वेदोंके साथ वेदाङ्ग स्वतः प्रकट हुए। बादमें कोशोंमें यास्कमुनिका निरुक्त विशेष प्रचलित हुआ। फिर लौकिक संस्कृत-ज्ञानार्थ व्याडि, विश्वप्रकाश, अमर, हैम, मेदिनी, रत्नमाला, वैजयन्ती, हलायुध आदि पर्यायवाची एवं बहु-अर्थक कोश प्रकाशमें आये। अमरकोशपर पचाससे अधिक संस्कृत टीकाएँ हैं। पाश्चात्त्य विद्वानोंने अनेक विश्वकोश रचे, जिनमें प्रायः व्यक्ति, देश, नदी, पर्वत आदिके नाम भी हैं तथा उनका पूर्ण परिचय एवं विवरण भी वहाँ प्राप्त होता है, पर इनमें जातिवाचक कोशोंके शब्द प्रायः नहीं हैं। इनमें इनसाइक्लोपीडिया-ब्रिटानिका (३० जिल्दोंमें) के अबतक प्रायः २५ संस्करण छप चुके हैं। जैम्स हेस्टिंग्सका धर्म एवं आचारका विश्वकोश सर्वोत्तम है, जो १५ जिल्दोंमें है। विश्वबन्धुका वैदिक-पदानुक्रमकोश २० जिल्दोंमें है, यह दुष्कर तपका ही परिणाम है। इसमें हजारों विद्वानोंका योगदान रहा है। संस्कृत, अंग्रेजी कोशोंमे बेनेफी, विल्सन, मैकडेनाल, मोनियर विलियम्स, आप्टे, ह्विटने आदिके कोश प्रसिद्ध हैं। संस्कृत-शब्द-कोश (राथका) दस विशाल भागोंमें विशेष उल्लेख्य है। सिद्धेश्वर शास्त्री चित्रावका मराठी चारित्रिक विश्वकोश प्राचीन, मध्ययुगीन एवं अर्वाचीन सभी व्यक्तियोंके चरित्र-ज्ञान, शिक्षण-लेखन एवं कार्योंका एक वाङ्मय दर्पण कहा जा सकता है।

कुन्हनराजा आदिके कैट्लगस ग्रन्थ ज्ञान-कोशोंके रूपमें अत्यन्त सहायक हैं। मालशेखरका पाली वैयक्तिनामकोश (लंदनसे प्रकाशित) २ बड़े जिल्दोंमें है। टैंककी जैन-बाइओग्राफी भी बड़े महत्त्वकी है। सेंटपीट्स राजेट्सने विद्याओंका परिचयात्मक कोश पर्याय-कोशके साथ प्रस्तुत किया है। इनमें शिल्पशास्त्र, यन्त्र, विज्ञान, नौयान, वायुयान, विद्युत्, चिकित्साशास्त्र, पुरातत्त्व, भूगोल, ज्यामिति, रसायन, दर्शनशास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान, भविष्यकथन आदि प्रत्येकके तीन-चार सौ भेदतक प्रदिष्ट हैं। केवल पाश्चात्त्य दर्शनशास्त्रके पाँच सौ भेद-उपभेद इसके ३२३-२५ पृष्ठोंपर निर्दिष्ट हैं। भविष्यकथन-सम्बन्धी चार सौ विद्याओं, रंगके हजारों भेद, व्यापारशास्त्र, सिलाई, तौल, जीवविद्या, भूगर्भविद्या, अणुवीक्षण, हजारों रत्नोंके भेद, परिचय, फोटो, कानून, संगीत, रेडियो, गैस, मुद्रा, विश्वकी हजारों भाषाओंके संग्रह-परिचय इसमें निर्दिष्ट हैं तथा पृष्ठ १८०—८३ पर हजारों फल, पुष्प, शाक और भोज्यपदार्थोंका विवरण है। शिक्षा-शिक्षक, विद्या-विद्यार्थी, विद्यालय, ग्रन्थ-ग्रन्थालय, ज्ञान, अध्ययनादिसे सम्बन्धित प्रायः एक लाख महत्त्वपूर्ण शब्दोंका संकलन ५३५ वें प्रकरणके एज्यूकेशनशब्दसे प्रारम्भ कर ६५० वें प्रकरणतक विभिन्न धारा एवं शाखा-उपशाखाओंमें अद्भुत ढंगसे किया गया है।

शिक्षा-विद्या-विज्ञान-कलाके प्रेमियोंने तपद्वारा इनपर अलग-अलग विशाल कोश बनाये हैं, उदाहरणार्थ—पी० आर० ऐय्यरका कानूनकोश, भारत-सरकारकी विधिशब्दावली (तीसरा संस्करण), डॉ० रघुवीरका पक्षी-नाम-विज्ञान-कोश (भारत, वर्मा, लंकाके विशेषरूपसे), वसु एवं बोरेका वनौषधिकोश (७ जिल्दोंमें), बर्नेटका केमिकल तथा टेकनिकल कोश, बर्गीजका वैक्टेरियोलॉजीका बृहत् कोश (दसवाँ संस्करण), वंसकेनेडीका मारफॉलोजीकोश, ह्विटने धातुकोश, चैम्बर्स तथा आक्सफोर्डके विभिन्न कोश एवं विश्वकोश इस दिशामें विशेष उल्लेख्य हैं। इंग्लैंडसे छपा रंगोंका कोश (सोसायटी ऑफ डायर्स एण्ड पेन्टर्स) भी उल्लेख्य है। राल्फ टर्नरका भाषायीकोश ११ बड़े जिल्दोंमें है, जिसमें पहले संस्कृत बादमें पचासों दूसरी भाषाओंके पर्याय हैं।

भारतीय कोशोंमें इधर वैदिक, पौराणिककोश

(हिंदी-अंग्रेजी पौराणिक इन्साइक्लोपीडिया), मीमांसाकोश, श्रौतकोश निर्मित हुए हैं। ब्रह्मसूत्र स्वयं ही पचासों विद्याओं, संवर्गविद्या, मधुविद्या, पर्यङ्कविद्या आदि सैकड़ों वेद-वेदान्तकी विद्याओंका विश्वकोश है। नरेन्द्रनाथ वसुका बंगला एवं हिंदी विश्वकोश भी प्राच्य-पाश्चात्त्य विद्याओंका २६ बृहत् जिल्दोंमें महान् कोश है। इसी प्रकार वाचस्पत्य, शब्दकल्पद्रुम, अभिधानचिन्तामणि, तुलसी-शब्द-सागर आदि भी महान् श्रेष्ठ कोश हैं।

विश्वके प्रमुख विश्वविद्यालय एवं पुस्तकालय

भारतमें पहले महर्षि व्यास, भरद्वाज और वसिष्ठ आदिके महान् विश्वविद्यालय थे, जहाँ श्रीरामप्रेम एवं श्रीरामदर्शन सुलभ था। बादमें तक्षशिला, विक्रमशिला, वलभी (कल्याणी), नालंदा, मिथिला, नदिया आदिके विश्वविद्यालय इतिहासमें अति प्रसिद्ध हुए। कालिफोर्निया, टोकियो, मास्को, पेरिस, सिडनी आदिके विश्वविद्यालय भी विश्वमें विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतमें अलीगढ़ (स्थापित १९२२ई०), काशी हिंदू-विश्वविद्यालय, नेहरू-विश्वविद्यालय (स्था० १९६७ई०) एवं विश्वभारती (शान्तिनिकेतन) बोलपुर, बंगाल (स्था० १९२१ई०)—ये केन्द्रिय विश्वविद्यालय हैं। कलकत्ता-विश्वविद्यालय सर्वाधिक प्राचीन है, इसकी स्थापना विक्टोरियाने १८५७ई०में प्रथम स्वतन्त्रता-संग्रामके बाद तत्काल की थी। उसके अन्तर्गत २०० महाविद्यालय हैं। बम्बई एवं मद्रासके विश्वविद्यालय भी कलकत्ताके थोड़े ही बाद १८५७ई०में ही स्थापित हुए। इन्हें मान्यता १९०४ई०में मिली। वहाँ अंग्रेजी, बंगला एवं तमिल आदि भी माध्यम हैं। मद्राससे सम्बद्ध १२० महाविद्यालय हैं। प्रयाग (इलाहाबाद)-विश्वविद्यालय (उत्तरप्रदेश) भारतका चौथा पुराना विश्वविद्यालय है, जिसकी स्थापना १८८७ई०में हुई थी। पटना-विश्वविद्यालयकी स्थापना १९१७ई०में, लखनऊ-विश्वविद्यालयकी १९२१ई०में और आन्ध्र-विश्वविद्यालयकी १९२१ई०में हुई। अन्नामल्लाई-विश्वविद्यालयकी स्थापना १९२९ई०में और उस्मानिया-विश्वविद्यालय हैदराबादकी १९२८ई०में हुई।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद भारतमें अबतक प्रायः २०० विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके हैं, जिनमें कुछ प्रमुख ये हैं—अवध-विश्वविद्यालय, फैजाबाद १९७५ई०, अवधेशप्रताप-विश्वविद्यालय—रीवाँ १९७०ई०, असम-कृषि-विश्वविद्यालय—जोरहाट १९७०ई०, आन्ध्र-कृषि-विश्वविद्यालय—राजेन्द्रनगर १९६५ई०, दिलकुशा—हैदराबाद १९६०ई०, इन्दिरा-कलासंगीत-विश्वविद्यालय—खैरागढ़ (म०प्र०) १९६४ई०, इन्दौर-विश्वविद्यालय—इन्दौर १९६४ई०, उत्तरप्रदेश-कृषि-विश्वविद्यालय—पंतनगर-नैनीताल १९६०ई०, उत्तर-बंग-विश्वविद्यालय—राजाराम-मोहनपुर, दार्जिलिंग—(पश्चिम बंगाल) १९६२ई०, उदयपुर-विश्वविद्यालय—प्रतापनगर, उदयपुर १९६२ई०, उत्कल-विश्वविद्यालय—वाणीबिहार, भुवनेश्वर १९४६ई०, उड़ीसा-कृषि-तकनीकी-विश्वविद्यालय—भुवनेश्वर (उड़ीसा) १९६२ई०, कर्नाटक-विश्वविद्यालय (कर्नाटक) १९४९ई०, कल्याणी-विश्वविद्यालय—कल्याणी (गुजरात) १९५५ई०, कानपुर-विश्वविद्यालय—सर्वोदयनगर-कानपुर (उ० प्र०) १९६६ई०, कामेश्वरसिंह-दरभंगा-संस्कृत-विश्वविद्यालय—दरभंगा (बिहार), कालीकट-विश्वविद्यालय, कश्मीर-विश्वविद्यालय, काशीविद्यापीठ, कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय, केरल-विश्वविद्यालय (त्रिवेन्द्रम्) १९३७ई०, गुजरात-विश्वविद्यालय—नवरंगपुरा, अहमदाबाद-विश्वविद्यालय, गुरुनानक-विश्वविद्यालय—अमृतसर १९७०ई०, गोरखपुर-विश्वविद्यालय १९५७ई०, गोहाटी-विश्वविद्यालय १९४८ई०, जबलपुर-विश्वविद्यालय १९५७ई०, जम्मू-विश्वविद्यालय १९४९ई०, जवाहरलाल-कृषि-विश्वविद्यालय—जबलपुर १९६४ई०, जो (या) देवपुर १९५५ई०, जीवाजी-विश्वविद्यालय १९६४ई०, जोधपुर-विश्वविद्यालय १९६२ई०, झाँसी-विश्व-विद्यालय १९८३ई०, दिल्ली-विश्वविद्यालय १९२२ई०, डिब्रूगढ़-विश्वविद्यालय १९६५ई०, नागपुर-विश्वविद्यालय १९२३ई०, पूना-विश्वविद्यालय १९४९ई०, पंजाब-कृषि-विश्व-विद्यालय—लुधियाना १९६२ई०, पंजाबी-विश्वविद्यालय—पटियाला १९६२ई०, बंगलौर-विश्वविद्यालय १९६४ई०, बरहामपुर-विश्वविद्यालय १९६७ई०, बिहार-विश्वविद्यालय—मुजफ्फरपुर १९५२ई०, बर्दवान-विश्वविद्यालय १९६०ई०, भोपाल-विश्वविद्यालय १९७०ई०, भागलपुर-विश्वविद्यालय

१९६०ई०, मगध-विश्वविद्यालय—गया १९६२ई०, महामना मालवीय-कृषि-विश्वविद्यालय—पूना १९७०ई०, मराठवाड़ा-विश्वविद्यालय—औरंगाबाद १९५८ई०, महाराष्ट्र-कृषि विद्यापीठ—वुरली, बम्बई १९६८ई०, मेरठ-विश्वविद्यालय १९६६ई०, मैसूर-विश्वविद्यालय १९२६ई०, रविशंकर-विश्वविद्यालय—रामपुर १९६४ई०, राँची-विश्वविद्यालय—राँची १९६०ई०, रवीन्द्रभारती-विश्वविद्यालय—कलकत्ता १९६२ई०, राजस्थान-विश्वविद्यालय—जयपुर १९४७ई०, रुड़की-विश्वविद्यालय—रुड़की १९४९ई०, वाराणसेय सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय—वाराणसी १९५८ई०, विक्रम-विश्वविद्यालय—उज्जैन १९५७ई०, विश्वभारती-विश्वविद्यालय बोलपुर १९५१ई०, वेंकटेश्वर-विश्वविद्यालय—तिरुपति (आन्ध्र) १९६४ई०, शिवाजी-विश्वविद्यालय— कोल्हापुर (महाराष्ट्र), सम्बलपुर-विश्वविद्यालय (उड़ीसा) १९६७ई०, सरदार पटेल विश्वविद्यालय—वल्लभविद्यानगर (गुजरात) १९५५ई०, सागर-विश्वविद्यालय (म०प्र०) १९४६ई०, सौराष्ट्र-विश्वविद्यालय—राजकोट, गुजरात १९६५ई०, हरियाणा-कृषि-विश्वविद्यालय (हरियाणा) १९७८ई०, हिमाचल-विश्वविद्यालय—शिमला (हि०प्र०) १९७२ई० । इनके अतिरिक्त कई औषध-शिक्षणानुसंधान आदि भी हैं। गुरुकुल-कांगड़ी, गुजरात-विद्यापीठादि अन्य बीसों विश्वविद्यालय मान्यता-प्राप्त शिक्षण-संस्थाएँ हैं और जौनपुर आदिमें भी नये विश्वविद्यालय निर्मित हो रहे हैं।

प्रसिद्ध पुस्तकालय

प्रायः इन सब विश्वविद्यालयोंमें विभागीय एवं केन्द्रीय पुस्तकालय भी हैं। इनमें हिंदू-विश्वविद्यालय काशी, आड्यार-ग्रन्थालय मद्रास और सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालयके पुस्तकालय अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। हिंदू-विश्वविद्यालयके गायकवाड़-पुस्तकालयमें ३ लाखके लगभग पुस्तकें हैं। राष्ट्रिय पुस्तकालय कलकत्ता, इंडिया-आफिस लंदन और बर्लिन-लाइब्रेरी जर्मनीमें ग्रन्थोंके विशाल भण्डार हैं। बुद्धनगर-लाइब्रेरी और सिन्हा-ग्रन्थागार पटना भी प्रसिद्ध हैं। कलकत्ताके राष्ट्रिय पुस्तकालयकी स्थापना लार्ड कर्जनद्वारा १९००ई०में हुई, पर उसकी नींव हेस्टिंग्जद्वारा १८३५ई०में ही इम्पीरियल लाइब्रेरीके रूपमें पड़ गयी थी। लार्ड कर्जनने इसका (१८९९-१९०२ई० तक) अधिक विस्तार किया। पं० जवाहरलाल नेहरूने १९६२ई०में इसका नेशनल लाइब्रेरी नाम रख दिया। इसमें इस समय २० लाख पुस्तकें हैं, ६०० कार्यकर्ता हैं, २० हजार ग्रन्थ प्रतिवर्ष आते हैं, वार्षिक व्यय ४० लाख रुपया है, २० हजार पाठक पंजीकृत हैं, ८० हजार पुस्तकें प्रतिवर्ष पढ़ी जाती हैं, बुक-डिलेवरीसे पुस्तकें आती हैं तथा बाहर भी पाठकोंको भेजी जाती हैं। इसी प्रकार नेपालराज्य काठमाण्डू, चम्बा स्टेट पंजाब तथा कोचीन आदि नरेशोंके ग्रन्थागार एवं खुदावख्श खाँकी लाइब्रेरी भी हस्तलेख एवं प्रकाशित पुस्तकोंके संग्रहके लिये आदर्शभूत एवं उल्लेखनीय हैं।

इसी प्रकार शिक्षामें ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रमों एवं विश्वविद्यालयोंके शिक्षणका भी महत्त्वपूर्ण योगदान हुआ है। पंजाबका विश्वेश्वरानन्द-शोध-संस्थान, पूनाके ट्रेनिंग कालेज एवं भण्डारकर शोध-संस्थान, बड़ौदा एवं तंजोरमें महाराजाओंके सरस्वती-महल आदि पुस्तकालय अत्यन्त विख्यात हैं। इनमें लाखों बहुमूल्य संग्रह हैं। इनके अतिरिक्त आनन्दाश्रम-पूना, ऐंग्लो संस्कृत लाइब्रेरी—नवद्वीप, अनूपसंस्कृत-पुस्तकालय—बीकानेर, हनुमान-पुस्तकालय—रतनगढ, भारतीय इतिहास-संशोधन-मण्डल—पूना, भारतीय विद्याभवन—बम्बई, एशियाटिक सोसायटी—कलकत्ता, बम्बई, लंदन, दाहिलक्ष्मी-लाइब्रेरी—नाडियाड, मद्रास और मैसूरकी सरकारी लाइब्रेरी, ग्रेटर इंडिया सोसायटी—चितपुर—कलकत्ता, सिंधिया ओरियंटल इन्स्टीच्यूट (प्राच्य ग्रन्थ-संग्रह)—उज्जैन, त्रिवेन्द्रम् पब्लिक-लाइब्रेरी, बंगीय साहित्य-परिषद कलकत्ता, विश्वभारती-पुस्तकालय कलकत्ता, मीरघाट काशीके विश्वनाथ पुस्तकालय आदि विशेष उल्लेख्य हैं। सबसे अधिक छपी पुस्तकें ब्रिटिश म्यूजियम लंदनमें हैं, जिसकी छपी सूची स्वतन्त्र रूपसे बिकती है। कटक और कोलम्बो म्युजियम्समें भी पर्याप्त ग्रन्थसंग्रह हैं। बम्बईके प्रिन्स आफ बुक म्युजियममें भी एक बड़ा ग्रन्थागार है।

कतिपय विराट् मन्दिर, मठों और संस्कृत-

महाविद्यालयोंमें भी विशाल पुस्तकालय हैं। विजयनगर महाराज, कलकत्ताके गवर्नमेंट संस्कृत-कालेज, सताराके वई नगरकी प्रज्ञा-पाठशाला, पुडुंकोट और उदीपीके ग्रन्थागार, श्रवणवेलागावो चारुकीर्ति जैनभण्डार, श्रीरंगम्के महोविल मठ, कांची कामकोटिपीठके शृंगेरीके शंकरमठ, नाथद्वारा उदयपुर और उदयगिर कांचीके प्रतिवादिभयंकरमठमें भी विशाल पुस्तकालय हैं। काशीके जङ्गमवाड़ी मठ (गोदौलिया) में प्राचीन हस्तलेखोंका अच्छा संग्रह है।

प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाएँ और ग्रन्थ-मालाएँ

विभिन्न प्रकाशन-संस्थाओंने श्रेष्ठ हस्तलेखोंका मुद्रण कर शिक्षा-प्रसारमें अद्वितीय सहयोग प्रदान किया है। इनकी चर्चाके बिना शिक्षाक्षेत्रका परिचय अधूरा रहेगा। भारतमें छपाईका कार्य १७६०ई०में कलकत्तेमें प्रारम्भ हुआ। वहाँ एशियाटिक सोसायटीके हजारों दुर्लभ संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदिके ग्रन्थ छपे, पर उनका अधिक ध्यान संस्कृतपर ही था। उनके मुख्य पत्र 'जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी और एशियाटिक रिसर्चेज'में संस्कृत तथा प्राचीन भारतीय पुरातत्त्व ही लक्ष्य था। बादमें बम्बई निर्णयसागरप्रेस, गुजरात प्रिंटिंग प्रेस तथा उसके कुछ समय बाद वेंकटेश्वर प्रेसकी स्थापना हुई। मैसूर, कश्मीर, बड़ौदा आदिके महाराजाओंने रिसर्च-संस्थाओंके बड़े प्रेस स्थापित किये। इन सभीने शिक्षा-प्रचारमें अवर्णनीय सहयोग प्रदान किया और अब भी कर रहे हैं। कलकत्ताके जीवानन्द-विद्यासागर तथा बंगवासी प्रेसने क्रमशः १८ पुराण मूल तथा बंगला-अनुवादसहित एवं प्रायः सभी वैदिक संहिताएँ, दर्शन, वेदाङ्ग एवं काव्य, नाटक, कोशादि प्रकाशित किये। इसी प्रकार चित्रशाला प्रेस पूना, आनन्दाश्रम संस्कृत-संस्थान पूना, भण्डारकर-शोध-संस्थान, प्राच्य ग्रन्थालय पूनाके महत्त्वके ग्रन्थ छापे हैं।

लक्ष्मी वेंकटेश्वरादिके कार्य विश्वविद्यालयोंसे भी महान् हैं। रामचरितमानस विश्वका सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है, इसे तथा ऐसे अन्य कई ग्रन्थोंको इन प्रकाशनोंने तथा कई विदेशी प्रकाशनोंने भी भारतके घर-घरमें पहुँचाया है और शिक्षोपयोगी ग्रन्थमालाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें अद्वैत-मञ्जरी-ग्रन्थमाला, आड्यार-ग्रन्थागार-ग्रन्थमाला—आड्यार (मद्रास), आगम-संग्रह-ग्रन्थमाला कलकत्ता, आगमोदय-समिति-ग्रन्थमाला—बम्बई, इलाहाबाद-विश्वविद्यालय-संस्कृत-ग्रन्थमाला—प्रयाग, बालमनोरमा-ग्रन्थमाला—मद्रास, बुद्ध-संस्कृत-ग्रन्थमाला—मिथिला, काशी-संस्कृत-ग्रन्थमाला— वाराणसी, भारती-मन्दिर-ग्रन्थमाला—वाराणसी, भारतीय ज्ञानपीठ—वाराणसी, भारतीय ग्रन्थमाला—विद्याभवन बम्बई, कलकत्ता ओरियंटल सिरीज— कलकत्ता, एशियाटिक सोसाइटी-ग्रन्थमाला—कलकत्ता, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-ग्रन्थमाला—पटना, कलकत्ता-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला—कलकत्ता १२, चुन्नीलाल जैन, सार्वजनिक शिक्षण-संस्थान-ग्रन्थमाला—सूरत, कोचीन-संस्कृत-ग्रन्थमाला—कोचीन, ढाका-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला ढाका (बंगलादेश), दयानन्द ग्रन्थमाला—लाहौर, दिल्ली-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला—दिल्ली, मद्रास-हिंदी-अनुसंधान-परिषद्-ग्रन्थमाला—मद्रास, हिन्द -विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला—नेपाल, कोलम्बिया-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला—न्यूयार्क (अमेरिका), कश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थमाला—श्रीनगर (कश्मीर), काव्यमाला-गुच्छक तथा राजस्थान-पुरातन-ग्रन्थमाला—जोधपुर आदि प्रमुख हैं। विशिष्ट प्रकाशनवाले मुद्रणालयोंने भी शिक्षाके क्षेत्रमें अपरिमित योगदान दिये हैं। जिनमें कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—गणेशनारायण एण्ड कं०—बम्बई, गीताप्रेस गोरखपुर, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, चौखम्बा ग्रन्थमाला—वाराणसी।

इनके अतिरिक्त इम्पीरियल गजेटियर्स, ईस्टइंडियन गजेटियर्स, प्रान्तीय गजेटियर्स आदि तथा परशुरामकृष्ण गोडेके शोध-लेख-संग्रह और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदिके संस्कृत-बाल-शिक्षा-सहायक ग्रन्थ, पं० गंगाशंकरजी मिश्रके एवं सरसुन्दरलालके भारतमें (ब्रिटिश) अंग्रेजी राज्य आदि ग्रन्थ भी श्रेष्ठ हैं। सागर-नंदीका नाटक-लक्षणरत्नकोश, गोरखप्रसादका भारतीय ज्योतिषका इतिहास, शंकरबालकृष्ण दीक्षितका भारतीय ज्योतिष आदि ग्रन्थ भी बड़े लाभप्रद हैं। वामन परशुराम आप्टे आदिके ग्रन्थ, वी०वी० काणेका ७ जिल्दोंमें भारतीय धर्मशास्त्रोंका इतिहास (अंग्रेजी, हिंदीमें) भी अत्यन्त महत्त्वके एवं उल्लेख्य हैं।

मानसका एक शिक्षापूर्ण प्रसंग

श्रीरामका चरित स्वयंमें शिक्षाका आदर्श और आदर्श शिक्षा दोनों है, किंतु शिक्षाके क्षेत्रमें उन्होंने शिक्षा ग्रहण करनेका जो स्वरूप चरितार्थ किया, वह सदैव अनुकरणीय रहा है और आगे भी रहेगा ।

श्रीराम स्वयं मर्यादापुरुषोत्तम थे तथा अखण्ड ज्ञानके अवतार थे—*'ग्यान अखंड एक सीताबर ।'* इसीलिये उनका गुरुके माध्यमसे शिक्षा ग्रहण करना भी तुलसीदासजीके लिये आश्चर्यका विषय था । तुलसीदासजीने कहा है—

'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी । सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी' ॥

अवश्य ही यह भारी कौतुक है, किंतु मर्यादापुरुषोत्तमके लिये यह भी मर्यादाके निर्धारणका एक मापदण्ड था । भारतीय परम्परामें गुरुकी अनिवार्यता और उपादेयता सहज स्वीकृत तथ्य है । इसी तथ्यको गोस्वामीजीने इस प्रकार सरल ढंगसे*'बिन गुर होइ कि ग्यान'* के रूपमें तो कहा ही, श्रीरामद्वारा कुलगुरु वसिष्ठ और शिक्षा-गुरु विश्वामित्रसे शिक्षा ग्रहण करनेके प्रसंगोंमें भी प्रतिपादित किया ।

श्रीराम स्वयं तो ईश्वरावतार थे ही, चक्रवर्ती सम्राट् महाराज दशरथके ज्येष्ठ पुत्र भी थे । महर्षि वसिष्ठ उनके कुलगुरु थे—राजपुरोहित, किंतु विद्यार्जनके लिये श्रीरामको परम्परानुसार गुरुके आश्रममें जाकर ही शिक्षा लेनी पड़ी । घरके ऐश्वर्यमय वातावरणको छोड़कर ऋषिके आश्रममें सहज, सरल, कष्टमय जीवन जीकर विद्या-अर्जन आदर्श शिक्षाका भारतीय परम्परामें प्रमुख आधार था । विद्या यदि विनयसे शोभित होती है तो विनयको चरित्रमें उतारनेकी यह सर्वोत्तम विधा है ।

गोस्वामीजीने संकेत किया है—

गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई । अलप काल बिद्या सब आई ॥

जिस प्रकार गुरुकी महत्ता है, ठीक उसी प्रकार शिष्यका भी अपना एक स्थान है । शिष्य अपनी योग्यता और पात्रताके आधारपर गुरुसे प्राप्त विद्याको ग्रहण करता है, विद्याको फलवती बनाता है । इसलिये योग्य शिक्षार्थीके ही रूपमें श्रीरामने अल्पकालमें ही सभी विद्याओंमें कुशलता प्राप्त कर ली ।

पुस्तकोंका महत्त्व शिक्षार्जनमें है अवश्य, किंतु वे बोध करानेमें कदाचित् ही सक्षम होती हों । पुस्तकोंसे प्राप्त ज्ञान वाक्य-ज्ञानतक ही सीमित रह जाता है; किंतु गुरु-कृपा अथवा 'प्रसाद'का अपना महत्त्व अलग ही है । जिन्होंने प्रभुकृपासे गुरु पाया है, वे ही उसका महत्त्व जान और बखान सकते हैं । इसका प्रमुख कारण यह है कि गुरुके सांनिध्यमें शङ्का-समाधान होता रहता है और साथ ही गुरु अपने आचरणसे भी शिक्षार्थीमें 'प्रत्यक्ष ज्ञान'का प्रसाद प्रत्यक्ष और परोक्ष-रूपसे भरते रहते हैं । इसीलिये कहा है—**'शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः ।'** इसी संदर्भमें नारदजीकी एक उक्ति इस प्रकार है—

पुस्तकप्रत्याधीतं हि नाधीतं गुरुसंनिधौ ।
भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियः ॥

'गुरुके सांनिध्य बिना मात्र पुस्तकोंद्वारा अध्ययन की हुई विद्या उसी प्रकार सभामें शोभा नहीं पाती जैसे स्त्रीका जार-गर्भ ।'

गुरुमें श्रद्धा और उनकी सेवा अपनेमें स्वयं विद्यार्जनका एक स्वरूप और माध्यम है । गोस्वामीजीने कहा है—*'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई ।'* भगवान् श्रीरामके दूसरे गुरु महर्षि विश्वामित्र थे । रामचरितमानसमें एक प्रसंग है—श्रीरामका विश्वामित्रजीके साथ उनके यज्ञकी रक्षाके निमित्त जानेसे सम्बन्धित रास्तेमें ताड़का नामकी राक्षसी मिलती है । विश्वामित्रजी श्रीरामको संकेत करते हैं और वे एक ही बाणसे उसका नाश कर देते हैं ।

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही । बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही ॥

इस क्षणतक श्रीराम विश्वामित्रजीकी दृष्टिमें एक सामान्य विद्यार्थीके रूपमें थे । जब उन्होंने ताड़का-जैसी प्रबल राक्षसीका नाश कर दिया, तब उनकी योग्यता पहचानी गयी और तब उन्हें विश्वामित्रजीने विद्या दी । इस प्रसंगसे जहाँ एक ओर शिष्यकी क्षमता समझकर तदनुकूल शिक्षा देनेका संकेत मिलता है, वहीं श्रीराम-श्रीकृष्ण-जैसे योग्यतम शिष्यको अपना आराध्य

मानते हुए भी उपयुक्त शिक्षा देनेके कर्तव्य-पालनका भी संकेत मिलता है । ब्रह्मविद्यामें पारङ्गत गुरु अथवा विद्यार्थी जब निष्ठापूर्वक एक-दूसरेमें ईश्वरभाव रखकर विद्याका आदान-प्रदान करते हैं, तब गुरु और शिष्यका कल्याण होनेके साथ ही सम्पूर्ण जगत्का भी कल्याण होने लगता है । विद्याका प्रयोजन यही है । यह देनेसे बढ़ती है, उपयुक्त पात्रमें विकास करती है और इस चराचर जगत्में अपनी सुगन्ध फैलाकर फलवती बनती है । इसी दृष्टिसे शिक्षा-जगत्में ऋषिप्रणीत अध्यात्मपरक व्यवस्थाकी उपयोगिता है । बिना इस आदर्शको अपनाये 'विद्या' और 'शिक्षा' की यथार्थता प्रतिष्ठापित नहीं हो सकती ।

गोस्वामीजीने जिस प्रकारकी गुरु-सेवाका चित्रण इन प्रसंगोंमें किया है वह समझने योग्य है । वे कहते हैं—

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई । लगे चरन चापन दोउ भाई ॥

× × ×

बार बार मुनि अग्या दीन्ही । रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥

× × ×

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान ।
गुर तें पहिलेहिं जगतपति जागे रामु सुजान ॥

गोस्वामीजीने गीतावलीमें भी कहा है—

नीच ज्यों टहल करैं रुख राखैं अनुसरैं ।
कौसिक-से कोही बस किये दुहूँ भाई ॥

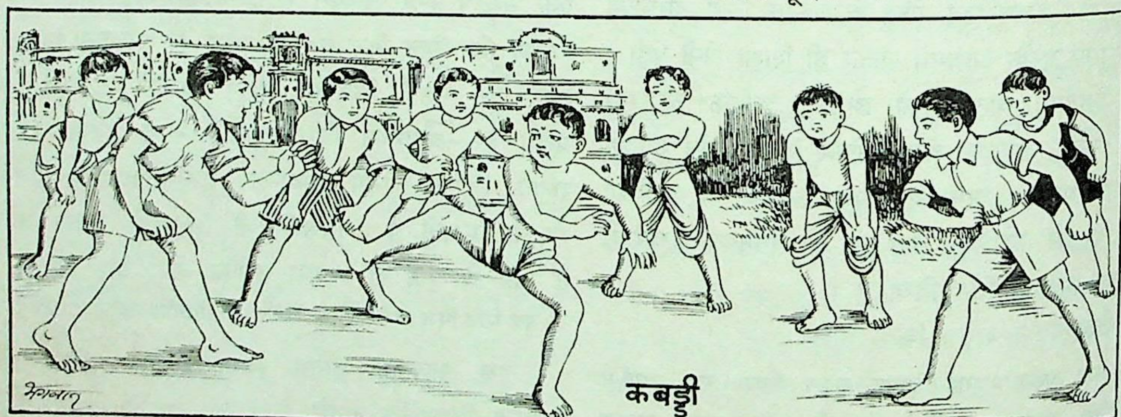
गुरु क्रोधी हैं तो कोई बात नहीं, श्रीराम इतना झुक गये कि गुरुके क्रोधको स्थान ही न रहा और इस विनयावनत शिष्यने अपनी नम्रतासे, अपनी सेवासे गुरुको भी जीत लिया । शिक्षाकी कुंजी यही है, शिक्षाकी उपलब्धि भी यही है ।



बच्चोंके पूर्ण विकासके लिये खेलोंकी महत्त्वपूर्ण भूमिका

बच्चोंके पूर्ण विकासके लिये जहाँ शिक्षा, अनुशासनका महत्त्व है, वहीं खेलकूद, मनोरञ्जनका भी अपना अलग महत्त्व है । खेलते-कूदते तथा प्रसन्नचित्त रहनेवाले बच्चोंका शारीरिक एवं मानसिक विकास बड़ी तेजीसे होता है ।

बच्चोंकी परीक्षाके दिनोंमें तो यह आवश्यक हो जाता है कि वे पढ़ाईपर अधिक ध्यान दें, खेलकी ओर कम ध्यान दें; किंतु जब पढ़ाईका जोर कम हो तो बच्चोंका खेलना-कूदना भी आवश्यक हो जाता है ।



कबड्डी

प्रायः माता-पिता इसी भ्रममें रहते हैं कि हमारा बच्चा पढ़ता नहीं है । वह प्रत्येक समय खेलके विचारमें रहता है, इसलिये वे दिनभर, बच्चा जबतक उनके पास रहता है, उसे पढ़नेके लिये टोकते रहते हैं अर्थात् बच्चोंको बलपूर्वक पढ़नेके लिये बैठाते हैं

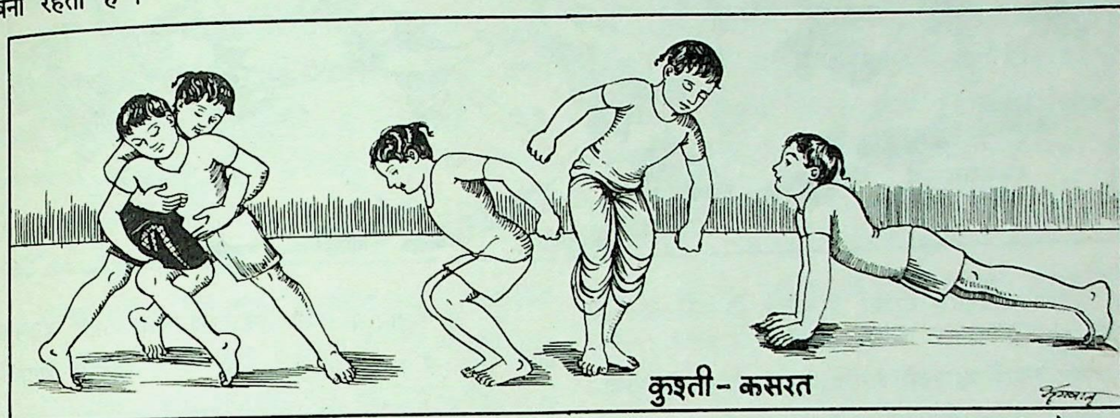
सामाजिक उन्नति एवं कलात्मक विकासके लिये खेलकूद आवश्यक हैं । बच्चा प्रत्येक काम खेल-खेलमें ही शीघ्र सीख जाता है ।

यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि दौड़ने, भागने, कूदनेवाले खेलोंमें स्फूर्ति बनी रहती है, बच्चा चुस्त तथा

फुर्तीला बना रहता है तथा मांसपेशियाँ गतिशील रहनेसे उनपर अतिरिक्त चर्बी चढ़नेका भय नहीं रहता, जिस कारण रुकने-मुड़नेमें सरलता रहती है और बदन लचीला बना रहता है।

उनके मनपर किसी प्रकारका बोझ या डर नहीं व्याप्त हो पाता। एकदम खुलेमें स्वतन्त्र पक्षीकी भाँति चहचहाते बच्चे हम सभीका मन मोह लेते हैं।

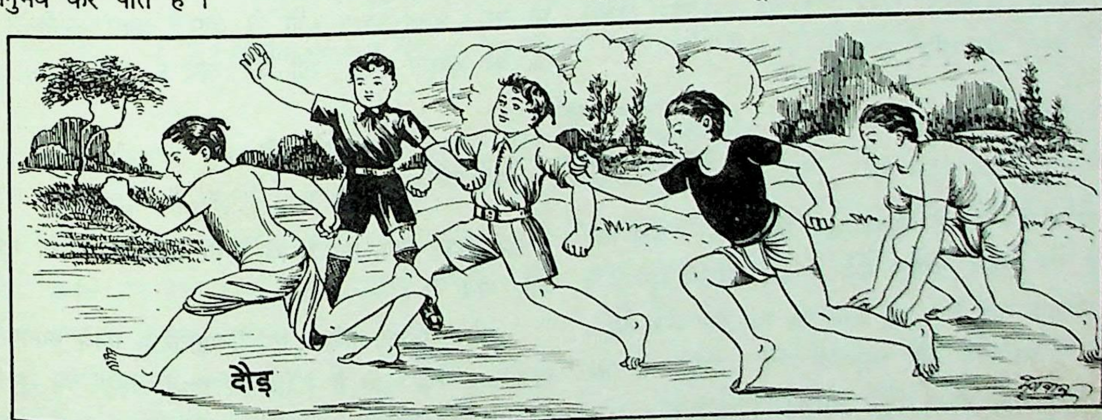
कई बार ऐसा देखा गया है कि जो बच्चा समाजसे



कुश्ती-कसरत

इसके विपरीत यदि बच्चेको खेलकूदके साधन सुलभ न हों तो वह बीमार, चिड़चिड़ा, उद्दण्ड और विद्रोही हो जाता है। खेलनेसे रक्तका प्रवाह भी तेजीसे होता है और रक्त शुद्ध होता है। पसीनेके रूपमें अंदरकी गंदगी बाहर आ जाती है और बच्चे अपनेको चुस्त एवं स्वस्थ अनुभव कर पाते हैं।

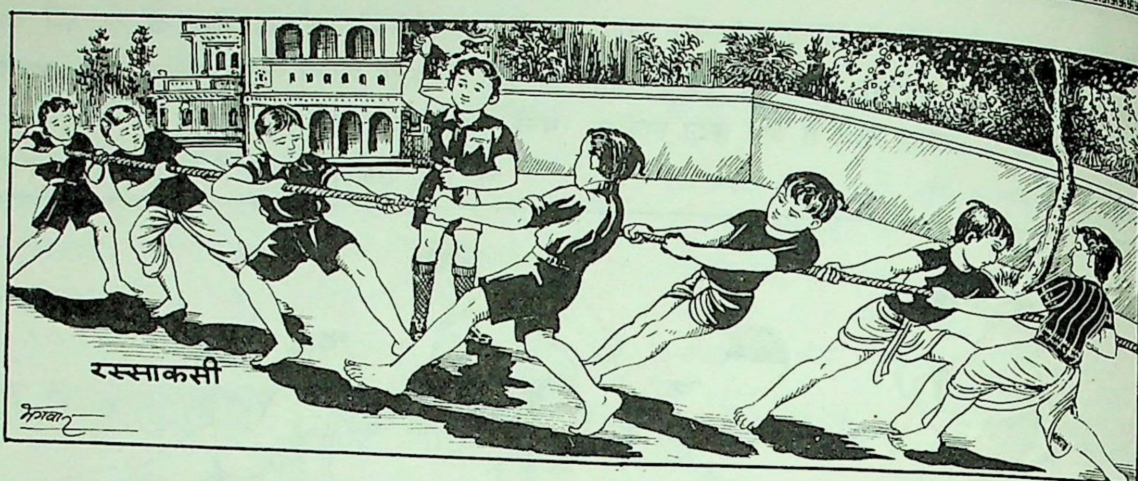
अलग रखा जाता है वह अहंकारी, स्वार्थी और उद्दण्ड बन जाता है। उसमें आत्मविश्वासकी कमी हो जाती है। समवयस्क साथियोंसे मिलनेमें वह झिझकता है और उसमें हीन भावना उत्पन्न हो जाती है। ऐसे बच्चे बड़े होनेपर भी किसी प्रकारका आत्मनिर्णय लेने-योग्य नहीं रहते और सदा दूसरोंकी राय माँगते रहते हैं।



दौड़

सामाजिक विकासके लिये बच्चोंका खेलकूद भी बहुत आवश्यक है। अपने घरकी चहारदीवारीसे बाहर अपने घर-परिवारसे थोड़ी देरके लिये वे एकदम अलग हो जाते हैं और तब वे सारे भयको भुलाकर दूसरे बच्चोंके साथ खेल-कूदकर आपसमें सहयोग, मेल-जोल और आदान-प्रदान निर्भीक होकर सीखते हैं। उस समय

वैसे तो स्कूलोंमें भी खेल-कूदकी व्यवस्था होती है, पर बच्चे उतनेसे ही संतुष्ट नहीं हो पाते। कड़े अनुशासनके कारण बच्चे स्कूलके खेलोंमें स्वतन्त्रता नहीं अनुभव कर पाते। सामाजिक विकासके लिये यह आवश्यक है कि बच्चा स्कूलके बाहर भी स्वतन्त्र रूपसे खेले। इससे बच्चे एक-दूसरेका सहयोग पायेंगे। भाषाके आदान-प्रदान



एवं आपसी व्यवहारसे परस्पर संस्कृतिके विषयमें जानकारी प्राप्त करेंगे ।

यदि किसी कारणसे बच्चेको बाहर खेलनेकी सुविधा नहीं मिल पाती तो माँ-बापको चाहिये कि वे स्कूलके प्रत्येक खेल, नाटक, जिमनास्टिक तथा आसन आदिमें भाग लेनेके लिये प्रोत्साहित करें । इससे शारीरिक स्फूर्ति, रक्त-शुद्धता और मानसिक विकासमें सहायता मिलती है ।

बच्चे घरमें भी इंडोर गेम खेल सकते हैं । आजकल बच्चोंमें ज्ञानवर्धक बहुत-से खेल प्रचलित हैं । खिलौनोंको चुनते समय इस बातका ध्यान रखिये कि बच्चे खेल-खेलमें अपने ज्ञानमें भी वृद्धि कर सकें ।

खेलके मैदानोंसे बच्चे एकताका तथा आगे बढ़नेका पाठ पढ़ते हैं । वे प्रतियोगिताका पाठ खेलके मैदानसे ही पढ़ते हैं । उनमें हार-जीतको समान भावनासे स्वीकार करनेकी क्षमता आ जाती है ।

अतएव प्रत्येक माता-पिताका कर्तव्य है कि वे बच्चोंमें मित्र-भावनाको भरपूर पनपने दें, उनके पढ़ने, खेलने और छिटपुट काम करनेका समय बाँध दें । इससे उनकी पढ़ाई भी सुचारुरूपसे चलती रहेगी, उनके उत्साहका भी वर्धन होता रहेगा और वे अपना काम अपने-आप करनेकी क्षमता स्वतः पैदा कर लेंगे ।

सुलेखका महत्त्व

गाँधीजीने अपनी आत्मकथामें लिखा है—'पता नहीं कहाँसे यह गलत खयाल मुझे था कि पढ़ाईमें सुलेखकी आवश्यकता नहीं है । यह विलायत जानेतक बना रहा । बादमें मैं पछताया और शरमाया । मैं समझ गया कि अक्षरोंका खराब होना अधूरी शिक्षाकी निशानी है । अतः हर एक व्यक्ति मेरे इस उदाहरणसे सबक ले और समझे कि सुन्दर अक्षर शिक्षाका आवश्यक अङ्ग है ।'

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अस्पष्ट एवं गंदा लेख पढ़नेका मन किसीका नहीं होता । सुन्दर लिखावट देखकर पढ़नेवाले व्यक्तिको प्रसन्नता होती है । इसमें संदेह नहीं कि लिखावटका सुन्दर, स्पष्ट और शुद्ध होना प्रत्येक क्षेत्रमें सफलता पानेके लिये एक आवश्यक गुण माना गया है ।

अनेक परीक्षाओंमें सुन्दर लिखावटके लिये अलगसे पाँच अङ्क रखे जाते हैं । रोजगार प्राप्त करनेमें भी सुन्दर लिखावटके लिये महत्त्व दिया जाता है । अनेक अच्छे पदोंके विज्ञापनमें तो विशेषरूपसे लिख दिया जाता है कि 'प्रार्थी स्वयंका लिखा हुआ पत्र ही भेजें ।'

सम्भवतः आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि विज्ञानकी एक शाखा ग्राफीलाजीकी सहायतासे आपकी लिखावटको देखकर चरित्र-विश्लेषण किया जा सकता है । लिखावट-विशेषज्ञोंके अनुसार जब हम चिन्ता या

तनावकी स्थितिमें होते हैं, तब लिखावट सिकुड़ जाती है और जब प्रसन्नताकी स्थितिमें रहते हैं, तब लिखावटके अक्षर बड़े-बड़े और काफी फैले हुए शुद्ध रूपमें आते हैं ।

आजकल अधिकांश विद्यार्थियोंकी लिखावट सुन्दर नहीं होती । इसका प्रमुख कारण है कि लिखना प्रारम्भ करते ही वे पेन, बाल-पेन या पेंसिलका अनुचित ढंगसे प्रयोग करना प्रारम्भ कर देते हैं । शिक्षक, माता, अभिभावक व्यस्तताके कारण बच्चोंकी खराब लिखावटकी ओर ध्यान नहीं दे पाते । इससे उनकी लिखावट भविष्यमें और भी खराब हो जाती है ।

अस्पष्ट एवं गंदी लिखावट लिखनेका कारण जल्दबाजी और समयका अभाव बताया जाता है, जो बहाना मात्र है । वास्तविक कारण तो लिखनेसे जी चुराना होता है । इस दिशामें निरन्तर उपेक्षासे हस्तलिखावट प्रतिदिन बिगड़ती जाती है । यह निश्चित रूपसे जान लेना चाहिये कि विद्यार्थी-जीवनमें अधिक-से-अधिक लिखनेकी बहुत बड़ी आवश्यकता होती है । इसमें पीछे रह जानेवाले विद्यार्थी परीक्षा-हालमें सब कुछ आते हुए भी पूरे उत्तर निश्चित समयमें नहीं लिख पाते, अतः लिखनेसे जी चुराना बिलकुल ठीक नहीं है ।

सुन्दर लिखावट हो, इसके लिये आपका पेन या बालपेन ऐसा हो जो बिना रुकावटके अच्छी तरह सरलतासे चलता रहे । सदैव लिखते समय पर्याप्त हाशिया, डैश, पैराग्राफ, अर्धविराम, पूर्णविराम तथा अनुस्वारकी ओर अवश्य ध्यान दें । शब्दोंके बीचमें थोड़ी-थोड़ी जगह बराबर छोड़ें और इस ढंगसे लिखनेका प्रयास करें कि ऊपरकी पंक्तिके शब्दके नीचे ही नीचेकी पंक्तिके शब्द आयें । इससे लिखावटमें सुन्दरता आ जायगी । लेखनमें काटा-पीटी न करें, शब्दोंके अक्षर छपे हुए अक्षरोंके समान एकदम सीधे लिखें । घसीटकर न लिखें । अशुद्ध शब्दको मात्र एक लकीर खींच कर काटें । अंग्रेजीके अक्षर एक ही आकारके हों, इस प्रकारसे लिखें ।

स्वास्थ्योपयोगी आयुर्वेदिक शिक्षाएँ

(वैद्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, आयुर्वेदाचार्य (स्वर्णपदक-प्राप्त), आयुर्वेदवाचस्पति)

मानव-जीवनका परम लक्ष्य पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्ति है । उत्तम स्वास्थ्यके अभावमें रुग्ण शरीरसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी उपलब्धि असम्भव है । आरोग्यके बिना जीवन भार है । स्वस्थ योद्धा राष्ट्रको विजयी बनाते हैं । आचार्य चरकके अनुसार—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ॥

आरोग्यके लिये स्वास्थ्य-शिक्षा आवश्यक है । प्राचीन ऋषि-मुनि आयुर्वेदके उपदेशोंका पालन करते हुए स्वस्थ तथा दीर्घ जीवन प्राप्त करते थे । सम्प्रति विद्यार्थियोंके पाठ्यक्रममें आयुर्वेदीय स्वास्थ्य-सूत्रोंकी उपेक्षा होनेसे रोग, अवसाद एवं नैराश्यकी वृद्धि हो रही है ।

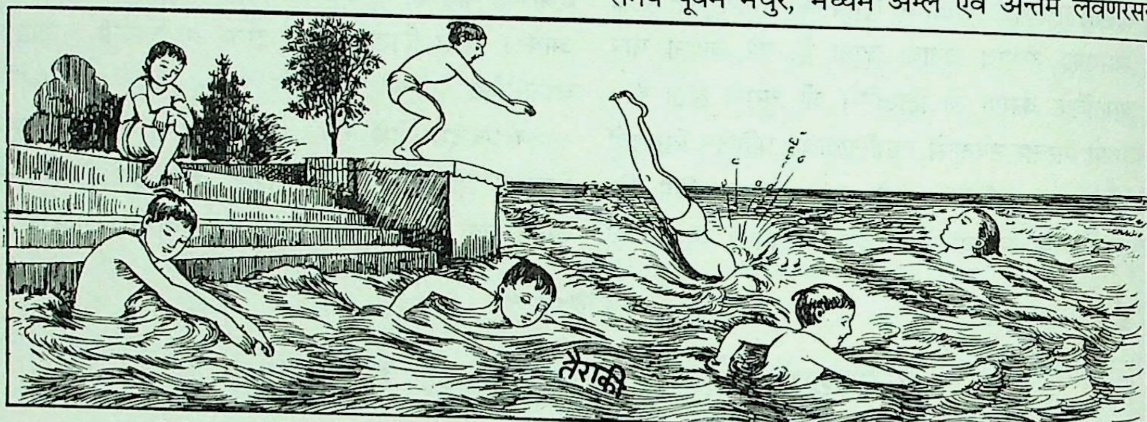
आयुर्वेद जीवनका विज्ञान है । इसमें शरीर, मन तथा आत्माके प्रसाद और उन्नयनका विशद विवेचन किया गया है । स्वस्थकी स्वास्थ्य-रक्षा एवं आतुरका विकार-प्रशमन—ये आयुर्वेदके दो मुख्य प्रयोजन हैं । इसमें स्वस्थ व्यक्तिकी परिभाषा वैज्ञानिकरूपमें प्रस्तुत की गयी है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुर्मलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

अर्थात् वात-पित्त-कफकी समता, त्रयोदश अग्नियों, सप्त धातुओं और मलद्रव्योंकी क्रिया एवं परिमाणका साम्य तथा आत्मा, इन्द्रियों और मनकी प्रसन्नता स्वस्थता कहलाती है । स्वस्थ रहनेके लिये आयुर्वेदमें पद-पदपर दिनचर्या एवं ऋतुचर्याके अन्तर्गत आरोग्यदायक शिक्षाओंका समावेश किया गया है ।

शौचके पश्चात् स्वच्छ मिट्टीसे हाथ धोने चाहिये । अब यह सिद्ध हो चुका है कि मलमें विद्यमान फेरस साबुनसे स्वच्छ नहीं होता । मिट्टीमें स्थित सिल्किन तत्त्व फेरसके साथ मिलकर फेरोसिल्किन आक्साइडके झाग पैदा करता है । परिणामतः मल पूर्णांशमें मुक्त हो जाता है ।

दन्तधावन—दाँत तथा मुखकी शुद्धि-हेतु नीम या बबूलकी दातुन श्रेष्ठ है । दाँतोंकी अशुद्धिसे अधिकांश पेटकी व्याधियाँ जन्म लेती हैं । विश्व-स्वास्थ्य-संगठनके प्रमुख चिकित्सक डॉ० डेविड बर्नीजने यह प्रमाणित किया है कि नीमका दातुन कैंसर और मुँहकी अन्य विकृतियोंको रोकनेमें सक्षम है ।



व्यायाम—विभिन्न रोगोंका प्रतीकार करने या रोग-प्रतिरोध-क्षमता बढ़ाने-हेतु व्यायाम बहुत लाभकारी है । प्राणायाम, भ्रमण, योगासन, तैरना आदि शरीर और मन दोनोंके लिये बलदायक हैं ।

स्नान—भारतीय जीवनमें नित्य-स्नानका विशेष महत्त्व है । शरीरकी त्वचामें असंख्य छिद्र होते हैं, जिनसे वाष्प या पसीनेके द्वारा हर समय सोडियम क्लोराइड, यूरिया, लेक्टिक एसिड आदि मल-द्रव्य निकलते रहते हैं । त्वचाके छिद्रोंका अवरोध होनेपर ये हानिकारक द्रव्य शरीरमें ही रहकर विकृति पैदा करते हैं । स्नानद्वारा इन छिद्रोंका मुँह खुल जाता है तथा त्वचा निर्मल, नीरोग और पुष्ट होकर शरीरकी रक्षा करती है ।

आहार—आयुर्वेदमें आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य—ये तीन जीवनके उपस्तम्भ माने गये हैं । आहार ही प्राणोंका आधार है । आहार संतुलितरूपमें तथा समयपर करना चाहिये । प्रकृति, संयोग, देश और कालके विरुद्ध किया गया भोजन अहितकारी होता है । भोजन पाँव धोकर एवं बैठकर करना चाहिये । पैर धोनेसे रक्तवाहिनियोंका संकोच होता है, जिससे रक्तप्रवाह पाँवोंमें कम और पेटमें अधिक होता है । बैठनेपर भी पैरोंकी नसें दबनेसे खून पेटकी ओर अधिक प्रवाहित होता है । इस अवस्थामें पाचन-क्रिया सुधरती है । मौन होकर भोजन करनेसे वायुरोग नहीं होते । भोजन न तो अधिक शीघ्र करना चाहिये न अत्यन्त धीरे । उष्ण, स्निग्ध और मन लगाकर किया हुआ आहार शीघ्र पोषण देता है । भोजन करते समय पूर्वमें मधुर, मध्यमें अम्ल एवं अन्तमें लवणरसयुक्त पदार्थ खाने चाहिये । अजीर्णावस्थामें किया गया भोजन विषके समान होता है ।

निद्रा—प्रगाढ़ निद्रा अरोगता, बल, वर्ण तथा स्फूर्ति प्रदान करती है । मध्यरात्रिके पहलेकी नींद अधिक लाभप्रद है । अधिक निद्रा, अल्प निद्रा तथा सूर्योदय और सूर्यास्तके समयकी निद्रासे आयु क्षीण होती है । चिन्तामुक्त होकर स्वच्छ और शान्त स्थानपर सोना चाहिये । तेज गंध, उपवास, शोक, भय एवं क्रोध तथा अनिद्रा रोगको उत्पन्न करते हैं । पर्याप्त और सम्यक् निद्रा शारीरिक तथा मानसिक रोगोंसे बचाती है ।

ब्रह्मचर्य—अधिक विषय-भोग शरीरका विनाशक होता है । ब्रह्मचर्य आरोग्यका मुख्य सूत्र है । आयुर्वेदके अनुसार अधिक विषयभोगसे भ्रम, बलक्षय, सुस्ती, पैरोंकी कमजोरी, धातुक्षय, इन्द्रियोंका क्षय तथा अकाल-मृत्यु होती है । ब्रह्मचर्य या अत्यल्प कामाचारसे स्मृति, आरोग्य,

आयुष्य, मेधा, पुष्टि, यश एवं चिरयौवनकी प्राप्ति होती है ।

वेगधारण—महर्षि चरकके उपदेशानुसार मनुष्यको अत्यन्त साहस, लोभ, शोक, भय, क्रोध, मान, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिराग, परधन तथा परस्त्रीहरणकी इच्छा, कठोर वचन, चुगलखोरी, असत्यभाषण, परपीडन, हिंसा प्रभृति वेगोंको धारण करना अर्थात् इन्हें रोकना चाहिये । मानसिक रोगोंसे बचनेका यह उत्कृष्ट उपाय है । इसी प्रसंगमें अधारणीय वेगोंका वर्णन करते हुए कहा गया है कि मूत्र, पुरीष, शुक्र, अपानवायु, वमन, छींक, डकार, जँभाई, क्षुधा, पिपासा, आँसू, निद्रा और श्रमजन्य निःश्वासके वेगको कभी नहीं रोकना चाहिये । अधारणीय वेगोंके धारण तथा धारणीय वेगोंके अधारणसे बहुत-सी व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं ।

प्रज्ञापराध निषेध—बुद्धि, धैर्य एवं स्मृतिका भ्रंश या नाश दुःख और रोगोंको आमन्त्रित करता है । इनकी विकृतिमें जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें प्रज्ञापराध कहते हैं । बुद्धि क्षीण होनेपर मनुष्य हितकारी काल, कर्म तथा अर्थको अहितकारी और अहितकारीको हितकारी समझने लगता है । धृति-भ्रंश होनेपर विषयभोगोंकी ओरसे विमुख होना असम्भव हो जाता है । स्मृतिह्राससे विभ्रमता एवं अन्य मानसिक रोग प्रादुर्भूत होते हैं । अतः मनुष्यको ज्ञानमार्गसे कभी च्युत नहीं होना चाहिये ।

आचार-रसायन—व्याधिका विनाश करनेकी अपेक्षा उसे उत्पन्न ही न होने देना अधिक श्रेष्ठ है । आयुर्वेदमें रसायन-प्रकरणमें यह व्यवस्था की गयी है । रसायनोंमें आचार-रसायनका शीर्षस्थान है । पुनर्वसु आत्रेयके मतानुसार सत्यवादी, अक्रोधी, मदिरा और अतिवासनासे विरत, अहिंसक, अतिश्रमरहित, शान्त, प्रियवादी, जपशील, पवित्र, धीर, दानी, तपस्वी, देवता, गाय, गुरु और वृद्धोंकी सेवामें रत, अक्रूर, दयालु, समयपर सोनेवाला, दूध और घीका नित्य सेवन करनेवाला, युक्तिविद्, निरहंकारी, उत्तम आचार-विचारवाला, विशालहृदय, आध्यात्मिक विषयोंमें प्रवृत्त, आस्तिक, जितेन्द्रिय तथा देश-कालके अनुसार आचरण करनेवाला मनुष्य सदा रसायनयुक्त होता है । रसायनके सेवनसे दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, यौवन, प्रभा, वर्ण, बल, सिद्धि, नम्रता और कान्तिकी प्राप्ति होती है । आप्तजनोंकी शिक्षाका अनुपालन करते हुए हितकारी आहार-विहारका सेवन करनेवाला व्यक्ति कभी रोगी नहीं होता—

नरो हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।
दाता समः सत्यपरः क्षमावा-
नाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥

(च० शरीरस्थान २)

बुन्देलखण्डमें मुगलकालीन शिक्षा

(पं० श्रीगंगारामजी शास्त्री)

मुगलकालमें बुन्देलखण्डमें शिक्षाका बड़ा व्यापक प्रचार था । उस समय बुन्देलखण्ड शिक्षाके क्षेत्रमें किसी भी प्रदेशसे पिछड़ा न था । ज्योतिष, आयुर्वेद, नीतिशास्त्र, संगीत, चित्रकला, काव्य-शास्त्र, स्थापत्य-मूर्तिकला, सामुद्रिक, मन्त्र-तन्त्र-शास्त्र, कर्मकाण्ड आदि विषयोंपर उस समयका लिपिबद्ध किया हुआ जो प्रचुर साहित्य बुन्देलखण्डमें उपलब्ध होता है, उससे तत्कालीन विद्वत्ता और सृजन-शक्ति सहजमें आँकी जा सकती है । यद्यपि आजकी भाँति उन दिनों शिक्षाका पूर्ण उत्तरदायित्व शासनपर न था; हाँ, मुगल बादशाहोंके द्वारा दिल्ली, आगरा, जौनपुर आदि कुछ स्थानोंपर शासकीय व्ययसे कुछ मदरसे चलाये जा रहे थे; बुन्देलखण्डमें केवल सिकन्दर लोदीके समयमें नरवरमें एक संस्कृत-पाठशाला खोलनेके अतिरिक्त इस क्षेत्रमें अन्य किसी शासकीय शिक्षण-संस्थाका उल्लेख नहीं मिलता; तथापि उस समय प्रत्येक गाँवमें एक अध्यापक होता था, जो गाँवके प्रत्येक बालकको शिक्षा देता था ।

अधिक जनसंख्यावाले गाँवोंमें, जिन्हें कस्बा कहा

जाता था, दो अथवा तीन प्रकारके विद्यालय हुआ करते थे । उस समय पढ़ाईके तीन पाठ्यक्रम थे—पहलेमें हिंदी-माध्यमकी पाठशालाओंमें कोई ब्राह्मण अथवा कायस्थ बालकोंको पढ़ाता था । शिक्षकको पाँड़े (पाण्डेय) कहा जाता था । इस प्रकारकी पाठशालामें हिंदी-वर्णमालासे शिक्षाका आरम्भ कराया जाता था । दूसरेमें उर्दू, फारसी पढ़ायी जाती थी । सिकन्दर लोदीके समयमें ही कायस्थोंने फारसीमें साहित्य और भाषाका अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था । नरवरमें उस समय ऐसे अनेक कायस्थ-परिवार थे, जो हिंदी और फारसी दोनों भाषाओंका अच्छा ज्ञान रखते थे । तीसरे प्रकारके स्कूलोंमें संस्कृतकी शिक्षाका प्रबन्ध था । अध्यापक प्रत्येक विद्यार्थीपर व्यक्तिगत ध्यान देता था । उस समय शिक्षक और विद्यार्थीमें नियमित और घनिष्ठ सम्पर्क बना रहता था, जो तत्कालीन शिक्षा-प्रणालीकी प्रमुख विशेषता थी । उस समयका तो यह सिद्धान्त था—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा ।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थी नोपलभ्यते ॥

(विक्रमच० २८)

'गुरुकी सेवासे या विपुल धन देकर गुरुको संतुष्ट करके अथवा विद्याके परस्पर आदान-प्रदानसे विद्या प्राप्त की जा सकती है, विद्या-प्राप्तिके लिये इनके अतिरिक्त चौथा कोई मार्ग नहीं है ।'

पाठशाला—कोई मन्दिर, मस्जिद, चौपाल अथवा अध्यापकका निवास-स्थान ही पाठशालाके उपयोगमें लाया जाता था । कहीं-कहीं किसी गाँवके जमींदार अथवा जागीरदार रईसका मकान, जिसे हवेली कहा जाता था, उसका एक भाग पाठशाला-भवनका काम देता था । छायादार वृक्षके नीचे, गाँवके समीपकी अमराई अथवा किसी बाग-बगीचेमें भी पाठशाला हुआ करती थी । पाठशालाके लिये पृथक्से भवन-निर्माण करानेकी अथवा किरायेपर भवन लेनेकी आवश्यकता नहीं होती थी ।

बर्नियरने वाराणसीके विषयमें लिखा है कि कोई नियमित कालेज अथवा युनिवर्सिटी न होनेपर भी वहाँ नगरके अनेक भागोंमें आचार्य मिलते थे । अध्यापककी जीविकाके लिये गाँवकी ओरसे किसी-किसीको जमीन मिली रहती थी । व्रत, त्योहार, अमावस और पूर्णिमाके अवसरोंपर गुरुजीको अधिकांश विद्यार्थी भोजनके लिये आटा, दाल आदि सामग्री देते थे, जिसे सीधा कहा जाता था । सम्पन्न परिवार कुछ धन भी देते थे । वर्णमाला और सौतक गिनती पूरी हो जानेपर अध्यापकको एक रुपया दक्षिणामें दिया जाता था ।

शिक्षण-सामग्री—शिक्षाका प्रारम्भ पाटी और खड़ियासे कराया जाता था । उर्दूमें पाटीको तख्ती कहा जाता है । इसका आकार १५×२५×१ सेंटीमीटरके लगभग होता था । उसके एक सिरेपर पकड़नेके लिये मूठ होती थी, जिसमें एक सुराख करके डोरी बाँध दी जाती थी । इस डोरीमें पाटी माँठकर स्वच्छ करनेके लिये एक चिथड़ा बँधा रहता था । इसपर मुलतानी मिट्टी अथवा खड़िया मिट्टी घोलकर सरकंडे-नरकट आदिके कलमसे लिखा जाता था । पाटीको कालिखसे पोता जाता था, जिससे उसपर सफेद अक्षर स्पष्ट लिखे जा सकें । इससे विद्यार्थीको सुलेखका अभ्यास कराया जाता था । दावातके स्थानपर मिट्टीके दो खानेवाले छोटेसे पात्रमें एक खानेमें पाटी पोतनेकी कालिख और दूसरेमें खड़िया मिट्टी अथवा मुलतानी मिट्टी घुली हुई रहती थी । उसीसे कलात्मक महीन और सुन्दर लेखनके लिये तूलिकाकी भाँति पंखोंका प्रयोग प्रचलित था । मुगलकालतक आते-आते ताड़पत्र और भोजपत्रका चलन कम हो गया था । केवल धार्मिक ग्रन्थ और मन्त्र-तन्त्र-शास्त्रके ग्रन्थको लिखनेके लिये उनका प्रयोग किया जाता था । कागज बनानेका एकमात्र केन्द्र कालपीमें था । उस समयका कागज चिकना कम पर स्थायी होता था । आजकलके कागजकी भाँति अल्प समय बीतनेपर ही उसका भार कम होकर पतला और जर्जर नहीं होता था । कृमि-कीटोंसे सुरक्षाके लिये ऐसे कागजपर कभी-कभी हरताल पानीमें घोलकर पोत दिया जाता था । लिखनेमें प्रमुख रूपसे काली स्याहीका ही उपयोग होता था । जिससे लिखे हुए अक्षर दो-चार सौ वर्ष बीतनेपर भी फीके नहीं पड़ते थे । पूर्ण विराम और अङ्क लिखनेमें लाल और पीली स्याहीका भी उपयोग किया जाता था । पीली स्याही हरताल घोलकर और

लाल स्याही शिंगरफ घोलकर बनायी जाती थी । शिंगरफ, जिसे बुन्देली भाषामें इंगुर कहते हैं, कृमिघ्न होनेके साथ ही उसमें पारेका मिश्रण होनेके कारण चमकीला भी होता है । ताड़पत्र, भोजपत्र और कालपीमें निर्मित कागजपर लिखे गये उस समयके अनेक ग्रन्थ आज भी बुन्देलखण्डमें प्रचुरतासे मिलते हैं । इन पुस्तकोंके चमकदार सुन्दर अक्षर देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वे अभी-अभी सुन्दर छापेसे निकाली गयी हों ।

उस समय शिक्षा आजकलकी भाँति व्यय-साध्य न होनेके कारण अन्त्यजोंको छोड़कर शेष सभी वर्ग और जातियोंके विद्यार्थी प्राथमिक शिक्षा सरलतासे प्राप्त कर लेते थे । पर हस्तशिल्प-शिक्षाका प्रचार प्रधान जातियोंमें उस समय कम था जैसा कि तुलसीदासजीके— ***'पात भरी सहरी, सकल सुत बारे बारे, केवट की जाति कछु बेद न पढ़ाइहौं ।'*** (कवितावली २/८)—इस कथनसे स्पष्ट होता है ।

प्राचीन गुरु-परम्पराकी पढ़ाई आजके सामूहिक शिक्षणके प्रचलित दोषोंसे मुक्त होनेके साथ ही परीक्षा-प्रणालीसे प्रतिदिन बढ़ती जानेवाली बुराइयोंसे भी मुक्त थी । आज ज्ञानका मानदण्ड केवल प्रमाण-पत्रतक सीमित है । ज्ञानके स्थानपर उस कागजके प्रमाणित टुकड़ेका ही महत्त्व समाज और शासनके द्वारा स्वीकार किया गया है, जिससे शिक्षाके सम्पूर्ण प्रयत्न ज्ञानार्जनके लक्ष्यसे हटकर प्रमाणार्जनमें ही केन्द्रित होकर रह गये हैं । मुगलकालमें केवल अपने गुरुकुलके नामसे ही विद्यार्थीकी योग्यताका बोध होता था । महाराज रघुके पास आनेपर वरतन्तुका सम्मान महर्षि कौत्सके शिष्य होनेके कारण ही हुआ था । अकबरके दरबारमें 'प्रवीणराय' की योग्यताका प्रमाण आचार्य केशवदासके कारण माना गया था ।

अवकाशके लिये उन दिनों 'अनध्याय' शब्द प्रचलित था । जिस दिन अध्ययन-अध्यापन बंद रहे उसे 'अनध्याय' का दिन कहा जाता था । इस सम्बन्धमें सामान्यतया निम्नलिखित श्लोक प्रचलित था—

अष्टमी गुरुहन्त्री च शिष्यहन्त्री चतुर्दशी ।
अमावास्या द्वयोर्हन्त्री प्रतिपत्पाठवर्जिता ॥

एक चान्द्रमासमें दो प्रतिपदा, दो अष्टमी, दो चतुर्दशी और एक अमावस्या होती है—इस प्रकार सात दिन अनध्यायके हो जाते हैं । मुगलकालतक इन अनध्यायके दिनोंमें कमी हो गयी थी । प्रतिपदाको केवल व्याकरणका अध्ययन बंद रहता था । अमावस्याको सबका पूर्णरूपसे अनध्याय होता था । पर्व, ग्रहण और मकरसंक्रान्ति अनध्यायके दिन माने जाते थे । आजकलकी भाँति उस समय शरत्कालीन और ग्रीष्मकालीन लंबे अवकाश नहीं होते थे; क्योंकि पाठशालाओंका समय प्रातःसे मध्याह्न और अपराह्णसे सायं-कालतक रहता था । यह परम्परा आजसे कुछ समय पूर्वतक बनी रही ।

माध्यमिक शिक्षामें भास्कराचार्यकृत लीलावतीका हिंदी-अनुवाद अथवा गुरप्रकाश गणितकी पाठ्यपुस्तक थी । नाममंजरी और अनेकार्थप्रकाश पाठ्य-ग्रन्थके रूपमें पढ़ाये जाते थे । काव्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये केशवदासकृत कविप्रिया, रसिकप्रिया तथा मतिरामकृत रसराज और अलंकारचन्द्रिका नामकी पुस्तकें पढ़ायी जाती थीं । माध्यमिक स्तरसे जो विद्यार्थी संस्कृत पढ़ना चाहते थे, उन्हें अमरकोष, सारस्वत, सिद्धान्तचन्द्रिका, भर्तृहरि-रचित नीतिशतक और रघुवंश आदि ग्रन्थोंका अनुशीलन कराया जाता था । विषयविशेषके लिये ज्योतिषमें मुहूर्तचिन्तामणि, शीघ्रबोध, जातकविहार आदि तथा आयुर्वेदमें माधवनिदान, शार्ङ्गधरसंहिता, वैद्यजीवन आदि पढ़ाये जाते थे । फारसी-माध्यमसे पढ़नेवालोंके लिये खालिकवारी, करीमा, गुलिस्ताँ और बोस्ताँ पाठ्यक्रममें निर्धारित थे[१]।

उच्चशिक्षाके उदाहरणके लिये यहाँ केवल संस्कृत और ज्योतिषका पाठ्यक्रम ही दिया जा रहा है । तत्कालीन सभाप्रकाश-ग्रन्थके अनुसार उस समय संस्कृतमें मेघदूत, कुमारसम्भव, रघुवंश, शिशुपाल-वध, किरातार्जुनीय और नैषधीयचरित अनिवार्यरूपसे पाठ्यपुस्तकें थीं ।

रसगङ्गाधर, काव्यप्रकाश, कुवलयानन्द, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थोंके अतिरिक्त वाल्मीकि-रामायण, महाभारत,

और श्रीमद्भागवत भी पाठ्यग्रन्थके रूपमें पढ़ना आवश्यक था। ज्योतिषके चारों अङ्ग—जातक, ताजिक, मुहूर्त, प्रश्नका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सारावली, बृहज्जातक, ताजिक नीलकण्ठी, मुहूर्तचिन्तामणि, पञ्चपक्षी आदि तथा गणितमें सूर्यसिद्धान्त, ग्रहलाघव, होरामकरन्द आदि प्रमुख रूपसे पढ़ाये जाते थे। गणित ज्योतिष प्रत्येकके लिये अनिवार्य था। उस समय प्रत्येक गणकको अपना स्वयंका पञ्चाङ्ग बनाकर उपयोगमें लाना होता था; क्योंकि प्रकाशनकलाके अभावमें हाथसे लिखे हुए पञ्चाङ्ग उतने सुलभ न थे।

विधाध्ययनके प्रमुख केन्द्र

बुन्देल-शासकोंके प्रारम्भ-कालसे ही ओड़छा विद्याका प्रमुख केन्द्र रहा है। महामहोपाध्याय वीर मिश्रने यहीं-पर धर्मशास्त्र और कर्मकाण्डके विद्यार्थियोंके लिये वीरमित्रोदय-जैसे बृहत्काय ग्रन्थका निर्माण किया था। आचार्य केशवदासने प्रवीणरायके लिये कविप्रिया और रसिकप्रियाकी रचना की, जो शताब्दियोंतक हिंदी-कवियोंके लिये पाठ्यपुस्तक रही। काशीनाथ मिश्रने ज्योतिषके प्रारम्भिक ज्ञानके लिये शीघ्रबोधकी रचना की। शिरोमणि मिश्रने नाममालाका हिंदी-अनुवाद उर्वशीके नामसे किया। भक्त कवि हरिराम व्यासने संगीत-शास्त्रके ज्ञाताओंके लिये अनेक पदोंकी रचना की। इन सभी महानुभावोंके स्थान गुरुकुलसे किसी भी प्रकार कम न थे।

सेवढ़ा—वर्तमान कालमें मध्यप्रदेशके दतिया जिलाके अन्तर्गत सेवढ़ा नामका एक छोटा-सा नगर है। यह ब्रह्माके मानस पुत्रों—सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमारकी तपोभूमि होनेके कारण आज भी पवित्र तीर्थके रूपमें प्रसिद्ध है। गुप्तकालसे लेकर अबतक यह गिरि, पुरी, भारती, सरस्वती, तीर्थ आदि सभी प्रकारके संन्यासियोंकी तपःस्थली रहा है, जहाँ उनके अनेक मठ आज भी भग्नावशेषके रूपमें साधनामार्ग और विद्या-वैभवकी साक्षी दे रहे हैं। यहाँ विद्यार्थियोंको निःशुल्क भोजन और शिक्षाकी व्यवस्था स्वतन्त्रताके पूर्वतक बनी रही। पुराने मठमें विभिन्न विषयोंकी शिक्षा देनेके लिये विभिन्न कक्ष थे। विषयके अनुसार शिक्षक भी संन्यासी ही थे। आजसे चार सौ वर्ष पूर्वतक जो विषय यहाँ पढ़ाये जाते थे, उनकी जीर्ण-शीर्ण पुस्तकें और वे किसके द्वारा किसके पढ़नेके लिये लिखी गयी थीं; यह विवरण उपलब्ध है। ये पुस्तकें गणित और फलित ज्योतिष, संगीत, वेद, आयुर्वेद, कर्मकाण्ड, मन्त्र-शास्त्र, सामुद्रिक, कर्मविपाक, व्याकरण, योग और तन्त्र-शास्त्रसे सम्बन्धित हैं। पढ़ानेवाले अन्य विद्वानोंको राजाश्रय प्राप्त था। उनमें वेदमूर्ति, ज्योतिषराय, पद्माकर और जगन्नाथ अग्निहोत्रीके नाम उल्लेखनीय हैं। इन परिवारोंमें निःशुल्क विद्यादानकी यह व्यवस्था कुछ वर्ष-पूर्वतक चलती रही।

नरवर—सिकन्दर लोदीके समयसे ही नरवर उर्दू, हिंदी और संस्कृतके पठन-पाठनका केन्द्र रहा। हिंदू-मुस्लिम-संस्कृतिके मिलनके परिणामस्वरूप यहाँके नवाब हंसबखाँने बिहारी-सतसईकी प्रसिद्ध टीका लिखी। दतिया-नरेश पारीछतको पढ़ानेके लिये मौलवी सैयदअलीको नरवरसे ही बुलाया गया था। यह अब भी है, स्वामी करपात्रीजी महाराज-जैसे अनेक विद्वानोंको प्रकट करनेका श्रेय इसे ही है।

पन्ना—पन्नाका प्राचीन नाम श्रीपर्णा था, जो किसी समय इसमेंसे श्रीहटकर पर्णा, धीरे-धीरे बदलते-बदलते परणा हो गया, अब यह पन्ना हो गया। यह प्राचीनकालसे ही विद्याका केन्द्र रहा और छत्रसालके समयमें चरमोत्कर्षको पहुँच गया था। यहाँके विद्वानोंने अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखनेके साथ ही विद्यार्थियोंके लिये अनेक संस्कृत-ग्रन्थोंके बुन्देली अनुवाद प्रस्तुत किये। कलकत्तामें हिंदीकी शिक्षाके लिये खड़ी बोलीमें उस समयतक पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध न थीं, जबकि बुन्देलीमें इसके शताब्दियोंपूर्व गद्य और पद्यमें प्रचुर साहित्य उपलब्ध था, जो अबतक प्रकाशनकी प्रतीक्षामें कृमिकीटोंका भोजन बनता जा रहा है।

इसके अतिरिक्त उड़ीनो, समधर, सागर आदि भी शिक्षाके लिये उस समय प्रसिद्ध स्थान माने जाते थे।

तत्कालीन शिक्षाकी कुछ विशेषताएँ

डॉ॰ भगवतशरण उपाध्यायने अपने 'गुप्तकालका सांस्कृतिक इतिहास'में लिखा है कि संस्कृतके लिये

साधारण तौरपर यह माना जा सकता है कि पाठ्य-विषयोंमें भारतमें सदियों, सहस्राब्दियोंमें भी अन्तर कम पड़ा है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो मुगलकालको शिक्षाके क्षेत्रमें मौलिक क्रान्तिका समय कहा जा सकता है। पिछले एक सहस्र वर्षसे भी अधिक समयसे शिक्षाके क्षेत्रमें संस्कृतका वर्चस्व चला आ रहा था। भारतके अन्य क्षेत्रोंमें भले ही पालि, प्राकृत और अपभ्रंशमें साहित्य लिखा गया हो, पर बुन्देलखण्डमें शिक्षा एक वर्ग-विशेषतक ही सीमित रहती आयी थी। संस्कृतका बोलबाला था। बुन्देलखण्डमें संस्कृत-ग्रन्थोंकी टीकाएँ हिंदीमें भी लिखी गयीं। केवल आयुर्वेदविषयंको ही लें तो उसमें संस्कृत-ग्रन्थोंके अनुवादके साथ इतने अधिक मौलिक ग्रन्थोंकी रचना हुई—चरक, सुश्रुत, वाग्भटके ग्रन्थोंके भावानुवाद हुए। उस कालमें बुन्देलीमें लिखे आयुर्वेदके मौलिक ग्रन्थोंकी लम्बी सूचीमेंसे कुछ महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित ग्रन्थोंके नाम यहाँ दिये जा रहे हैं—१-देवीसिंहविलास (ओडछा-नरेशद्वाराप्रणीत), २-हिंदी-निघण्टु, ३-भाषा-निघण्टु, ४-मदनविनोद, ५-रामविनोद (रामचन्द्रकृत, जिसमें ३३५७ छन्द हैं), ६-निरामय-तरङ्गिनी, ७-मूरप्रभाकर, ८-अनन्तमतवेद्यक आदि।

इसी प्रकार अमरकोषका स्थान नन्ददासकृत नाममंजरी, अनेकार्थप्रकाश तथा शिरोमणि मिश्रकृत नाममाला और अमीर खुसरोकी खालिकवारीने लिया। भर्तृहरिके नीतिशतक और चाणक्यनीतिदर्पणके स्थानपर चन्नायके आ गये। लीलावतीका स्थान गुरप्रकाशने लिया। आचार्य केशवदास-प्रणीत कविप्रिया और रसिकप्रियाने संस्कृतके साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश और कुवलयानन्दको विदाई दे दी। शिक्षाका क्षेत्र विस्तृत होनेके साथ ही उसमें कुछ दोष भी आये। उस समय जो पुस्तकें लिखी गयीं उनके प्रतिलिपिकारोंने अनेक भूलें कर उन्हें आजके स्नातकके लिये भी दुर्बोध बना दिया है।

भूलो चूको जानिके मोहि न दीजो गारि।
जैसी प्रति पायी सही तैसी लयी उतारि॥

—इतना कह देनेसे तो दोषका मार्जन नहीं हो जाता। इतना होनेपर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि अति उत्साहपूर्ण सदोष प्रयत्नसे भी ज्ञानगङ्गाकी प्राचीन धाराको अक्षुण्ण-रूपसे प्रवाहित करनेवाले इन भगीरथोंका प्रयत्न अविस्मरणीय है।

विजयनगर-सम्राट् श्रीकृष्णदेवरायकृत राजनीतिकी शिक्षा

[तेलगू-प्रबन्ध-काव्य 'आमुक्त माल्यदा'में वर्णित]

(डॉ० श्रीएम्० संगमेशम्, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

हमारे यहाँके प्राचीन साहित्यमें मुख्यतया प्रबन्ध-साहित्यमें कथाके व्याजसे नीति, धर्म, अध्यात्म आदिकी शिक्षा देनेकी पद्धति नहीं है। संस्कृतमें हितोपदेश, पञ्चतन्त्र, पुरुषपरीक्षा आदि कथा-काव्य शिक्षाके उद्देश्यसे ही निर्मित हुए हैं। शिवतत्त्वरत्नाकरकी कथाएँ एवं वाणभट्टकी कादम्बरीमें शुकनासोपदेश शिक्षाके लिये प्रसिद्ध हैं। क्षेत्रीय भाषा-साहित्यमें भी यह परम्परा अक्षुण्ण देखनेको मिलती है। तेलगू-भाषामें निर्मित प्रबन्ध-काव्योंमें प्रख्यात विजयनगर-साम्राज्यके सम्राट् श्रीकृष्णदेवरायकृत 'आमुक्त माल्यदा' नामक प्रबन्ध इस क्षेत्रमें बहुत प्रसिद्ध है और तेलगूके प्रबन्ध उत्तम कोटिके काव्योंमेंसे अन्यतम हैं। इसमें राजकविके द्वारा प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य श्रीयामुनाचार्यके कथासंदर्भमें राज्यको त्यागकर जाते हुए पिताके द्वारा सिंहासनारूढ पुत्रको दी हुई राजनीतिकी शिक्षाका विस्तृत वर्णन है। यह तत्कालोचित होकर भी शास्त्रज्ञानके साथ स्वीयानुभवभूत ज्ञानको मिलाकर सार्वभौम राजकविके द्वारा प्रपञ्चित होनेसे समयोचित शास्त्र और अनुभवके अनुरूप अपना पृथक् महत्त्व रखता है। वास्तवमें यह आजकलके हमारे प्रजातन्त्रके नेता लोगोंके लिये भी अत्यन्त उपादेय है। उसी शिक्षा-प्रसंग (आमुक्त

माल्यदा, आश्वास ४, पद्य २०४ से २८५ तक) का सारांश यहाँ दिया जाता है ।

'पुत्र ! तुम अब राजा बने हो, अतः तुम्हें अपना कर्तव्य भी अच्छी तरह जान लेना चाहिये । अपने राज्यकी प्रजाकी रक्षामें तुम कभी भी आलसी मत बनना, विपन्नोंका दुःख दूर करनेमें श्रद्धावान् बनना और दुष्टजनोंपर कार्यभार मत छोड़ना ।

'जब राजा राष्ट्रका हित चाहता है, तब राष्ट्र भी राजाका हित चाहता है । इस प्रकारके परस्पर हित-चिन्तनसे महान् लाभ होता है । प्रजा भगवान्का ही पर्याय अथवा रूपान्तर है । एक-कण्ठ होकर प्रजा जो कुछ चाहती है, वह उनकी अन्तरात्माकी कृपासे अवश्य फलता है ।

'राजाको शासक होना चाहिये । आभीर, भिल्ल-जैसे लोग भी धनुष-बाण-जैसे आयुधोंके बलसे शासक बनते हैं और उनका आतङ्क सब लोग मानते हैं । अतः सार्वभौम राजाको प्रबल शासक होना चाहिये, जिससे उसकी आज्ञाका सर्वत्र निर्विरोध पालन हो ।

'तुम अपने राज्यके दुर्गोंका शासन अपने आप्तों या द्विजोंके हाथमें रखना और देखना कि दुर्गोंका शासन समुचित रूपसे चले, जिससे सर्वत्र दूरसे ही आतङ्कका भाव फैले । दुर्गाध्यक्षके रूपमें अशक्तको कभी न रखना ।

'अपने आश्रितोंमेंसे किसीको पहले ऊँचा पद देकर फिर किसी कारणसे उसे अपदस्थ या नीच पदस्थ करोगे तो वह तुम्हारा घोर शत्रु बन जायगा । अतः पहलेसे ही शील-चारित्र्यका ध्यान रखकर आश्रितोंकी क्रमवृद्धि करते रहना । यदि तुम अपना हित चाहते हो तो कभी भी अनभिजात, असत्यवादी, अनपढ़, अन्यदेशीय, अधार्मिक या उद्धतको, चाहे वह विप्र ही क्यों न हो, अपने आश्रयमें न रखना ।

'जो व्यक्ति भोग-विलासके व्यसनी होते हैं, पतित और भ्रष्ट लोगोंके साथ रहते हैं, उनसे सदा दूर रहना । जो नितान्त शिक्षित हो, अधर्मसे डरता हो, राजनीति और समाजनीतिसे भलीभाँति परिचित हो, आयुमें पचास या सत्तरके मध्य हो, अनामय शरीरका हो और वैसे ही पूर्वजोंका हो, निरभिमानी हो और प्रार्थित होनेपर ही पदपर रहनेको सहमत हो, ऐसे सज्जनको मन्त्रिपरिषद्में स्थान देना । इससे राजाको सभी श्रेय सुलभतासे साध्य होते हैं ।'

'यदि ऐसे सज्जनोंका मन्त्रिगणमें अभाव हो तो राजाको स्वयं सोच-विचारकर नीतिसे आगे बढ़ना चाहिये, परंतु किसी एकको प्रबल या बुद्धिमान् मानकर सीमासे बाहर प्रत्येक समस्यापर उसीकी मन्त्रणासे चले तो अन्तमें राजाको अपना स्वातन्त्र्य खो देना पड़ता है और उसे परमुखापेक्षी बनना पड़ता है ।

'कोई भी कार्य मात्र धनसे सिद्ध नहीं होता, कार्यकी सफलता और सिद्धिके लिये विवेकी कार्यकर्ताओंकी सहायता भी लेनी चाहिये और ऐसे लोग निर्लोभी और उदार राजाको ही प्राप्त होते हैं । विस्तृत भण्डार, हय, गज आदिका सम्भार, सेनाका विशाल संचय होनेपर भी विवेकी तथा हितैषी मन्त्रिगण और मित्र-मण्डलीके अभावसे पहले कितने ही राज्य धराशायी हो गये थे, अतः यह बात निरन्तर ध्यानमें रखनी चाहिये ।

'अन्य वर्णोंको अपने मधुर व्यवहारसे वशमें करके स्वधर्मका निरन्तर पालन करनेवाला उत्तम वर्णका कुशल व्यक्ति मिले तो उसपर कार्यभार छोड़ना हितकर है। धनके लोभी व्यक्तिको कभी पदाधिकारी बनाना उचित नहीं । वह प्रजापीडक होता है, जिससे अन्तमें राज्य तथा राजा दोनोंका अहित होता है ।

'किसीके दोषके विषयमें सुनते ही उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये ? विचार करके गुण-दोष जानकर समुचित रीतिसे उससे बर्ताव करना चाहिये । राजाके सदस्योंमें ईर्ष्या या मात्सर्यके कारण एक ही नीतिका दूसरा खण्डन या उपहास करे तो तत्काल किसीका पक्ष नहीं लेना चाहिये । स्वयं उस विषयपर मननपूर्वक विचार करके जो उचित कहता है, उसका पक्ष लेना चाहिये, केवल वैरभावसे कुछ सामन्त या सचिव गुप्त-रूपसे कई लोगोंको राजाके विरुद्ध बना देते हैं । वे अपने आप्तोंको धन-सुवर्णादि दिलवाते हैं और दूसरोंको राजासे दूर हटाते हैं । राजाके विषयमें अनेक प्रकारके अपवादका प्रचार कर वे प्रजामें राजाके प्रति घृणा उत्पन्न करते हैं । प्रजामें

राजभक्तिको शिथिल करते हैं । ऐसे लोगोंको सावधानीपूर्वक देखते रहना चाहिये । आयमें थोड़ी-सी भी कमी हो जाय, तो कुछ लोग राजाके प्रबल विरोधी बन जाते हैं। इन सबकी अच्छी जानकारी रखते हुए भण्डार, सेना-संचय और हित-मित्रोंकी सहायतासे ऐसे आन्तरङ्गिक शत्रुओंका निश्शेषरूपसे दमन कर देना चाहिये ।

'जो गाँव वन-पर्वत-प्रान्तके होते हैं, उन्हें उद्धत व्यक्तियोंके अधिकारमें रखना चाहिये । इससे या तो वहाँके चोर-डाकुओंका, नहीं तो उसी उद्धत व्यक्तिका नाश हो जाता है, जो दोनों स्थितियोंमें राजाके लिये हितकर है ।

'सीमा-परान्तके आटविक जनोंसे किसी प्रकार मित्रता निभानी है । वे लोग अल्पजीवी हैं, अतः उनमें विश्वास, अविश्वास, स्नेह, वैर, आनुकूल्य आदि भी थोड़ी-सी समस्यापर व्यक्त होते हैं । वे असत्य नहीं बोलते और असत्यवादीपर विश्वास कभी नहीं करते । अतः सत्यतासे उन्हें वशमें कर लेना चाहिये । वही राजा कुशल कहलाता है, जो सत्यतासे आटविकों, दूत-सम्मानसे शत्रु-राजाओं, सेना-मूल्यसे सेवक-भृत्यों, प्रशंसा और पुरस्कारोंसे पारिषदों एवं वीर भटोंको प्रसन्न रखता है ।

'राजाका आन्तरिक मित्र कोई विरला ही होता है, अतः किसीपर अधिक विश्वास या अविश्वास नहीं करना चाहिये । सर्वदा भोजन-शयन-आसनोंमें भी सतर्क रहना चाहिये । अहित करनेवालेको जीतकर भी उससे फिर वैर नहीं भूलना चाहिये । हिंसासे काम न लेना, दुर्ग जीतनेपर वहाँके लोगोंको कष्ट न देना, दुर्गके अन्तःपुर-अवरोध हाथमें पड़े तो उन्हें मान-सम्मानसहित वापस सुरक्षित भेजना, प्रजाहितके कामोंमें श्रद्धा और रुचि दिखाना राजाको यशस्वी और सुखी बनानेमें सहायक होते हैं । देश जीतना या राज्यको विस्तृत करना भी अवश्य चाहिये; क्योंकि वही धनार्जनका प्रमुख उपाय है, किंतु प्रजाका अहित न हो; क्योंकि प्रजाका हित ही राजाका और राज्यका हित है । प्रजाको कष्ट देनेसे राजाको स्वयं कष्ट उठाना पड़ता है ।

'अपने राग-भोगोंके लिये आयमेंसे एक भाग लेकर शेषमेंसे दो भाग सेना-संचयके लिये पृथक् रखना तथा अवशेषको भंडार-घरमें भेज देना चाहिये । दान-धर्म अवश्य करना चाहिये, उदारता प्रशंसनीय है, किंतु अनुचित उदारता आत्मघातका लक्षण है, अतः धर्मकार्योंमें भी सतर्क रहना चाहिये । आधि-व्याधि या दुर्भिक्ष-जैसे समयोंमें दान-धर्म ही नहीं, अपितु देशके अरिष्टको दूर करनेवाले यज्ञ-यागोंके लिये भी राजभण्डारसे धन-व्यय करना चाहिये ।

'हित, अहित और हिताहितके अनुसार राजाके तीन प्रकारके सेवक होते हैं । भिषक्, बुध, पुरोहित-जैसे लोग हित माने जाते हैं, धनार्जन-जैसे कार्योंमें नियुक्त कर्मचारी हिताहित वर्गमें आते हैं । अवसर न पाकर आश्रयमें रहकर भी अपने स्वतन्त्र-अधिकारकी आकाङ्क्षा रखनेवाले लोग राज्यके अहितकी बात सोचते हैं । इन तीनोंका विवेकपूर्वक विवेचन कर उनसे यथोचित रीतिसे व्यवहार करना चाहिये ।

'वैरियोंकी वार्ताओंका संग्रह करना चाहिये । दण्डनीयको दण्डित करनेमें आलस्य करना अपयशका कारण बनता है । फिर आरक्षकोंका समाचार भी लेते रहना चाहिये और उनकी रक्षामें श्रद्धा भी दिखानी चाहिये ।

'मन्त्रणा करना अत्यन्त आवश्यक है । नये पदाधिकारियोंको मन्त्रणासे दूर रखना उचित है । मन्त्रणा लेनेपर भी राजाको किसी विषयके निर्णयमें अन्तिम निर्णय शास्त्रज्ञान, अध्यात्म एवं अपनी बुद्धि-कुशलतासे करना चाहिये । शेषको बुद्धिमान्, अनुभवी एवं विश्वासी सचिवोंकी मन्त्रणापर सुनिश्चित करना चाहिये ।

'दण्डमें कठोरता, चाटुकारितामें विश्वास, संधिका वैमुख्य, दुष्टोंको दण्डित न करना, विश्वसनीयताको दूर रखना और अविश्वसनीयताको आश्रय देना, मन्त्रणामें मुखप्रीति, मन्त्र-भेद करनेवालोंको सजा देनेमें आलस्य, किसी एक असाधारण बात होनेपर उसका पूरा-पूरा विचार न करवाना, मान्यजनोंका अपमान, हीनजनोंका साहचर्य, व्यसनोंमें लगे रहना और दीर्घसूत्रता—ये राजधर्मके विरुद्ध

हैं। ये राजाके विनाशके कारण बनते हैं।

'देशका व्यापार बढ़ाना, निधि-निक्षेपोंकी रक्षा करना, कृषि-उद्योगोंकी उन्नतिमें सहायता पहुँचाना, सीमा-प्रान्तोंमें दस्यु-संचालनका अन्त करना राजा तथा राज्यके हितकी दृष्टिसे अतीव आवश्यक है।

'राज्यान्ते नरकं ध्रुवम्'—इस सूक्तिका आशय यही है कि राजधर्मको निभाना और अपनेको पापसे विमुक्त रखना नितान्त कठिन है। अतः राजाको निरन्तर धर्मपर बुद्धि रखकर प्रत्येक दशामें भगवान्पर भरोसा रखकर स्वधर्मके निर्वहणमें आगे बढ़ना चाहिये। मूर्धाभिषिक्त राजाको धर्म-प्रतिष्ठित कहा जाता है, अतः राजाकी दृष्टि सदा धर्मपर ही रहनी चाहिये।

'मनु, पराशर-जैसे महात्माओंने राजधर्मकी विविध शिक्षाएँ लोककल्याणके लिये दी हैं। पहलेके प्रसिद्ध राजालोग इनका अनुसरण करके यशस्वी बने हैं। अब समय बदल गया। हम अल्प-शक्तिवाले हैं। उन सभी धर्मोंका पालन हमसे कदाचित् ही हो सके। पहले ब्राह्मण देवता शापानुग्रह-दक्ष थे। आजकलके ब्राह्मणोंमें न वैसी तपस्या है, न वैसी शक्ति। इसका अर्थ यह नहीं कि वे अपना स्वधर्म निभानेमें असफलता दिखायें। उसी तरह हम राजा लोगोंको भी यथासम्भव और यथाशक्ति पुरानी श्रुति-स्मृतियोंमें कहे न्यायमार्गका अनुसरण करते हुए राज्यका पालन करना चाहिये।

'तुम्हारी बुद्धि धर्मपर अटल रहे। समानजनोंमें तुम उत्तमश्लोक बननेका यत्न करो। सर्वत्र विजयी बनो। तुम्हारा शुभ हो।'

विदाईके अवसरपर पुत्रीको शिक्षा

[भारतवर्षमें प्रत्येक माता-पिता अपनी प्राणप्यारी पुत्रीको विवाहोपरान्त इस भावनाके साथ अपने घरसे विदा करते हैं कि उसका जीवन और भविष्य सुखमय एवं समृद्धिशाली बने तथा ससुरालमें उसे सुयशकी प्राप्ति हो। अतः इस समय दी जानेवाली शिक्षा अत्यन्त मार्मिक और महत्त्वकी है, जो यहाँ प्रस्तुत है। —सम्पादक]

'प्यारी पुत्री! यदि तू इतना स्मरण रखेगी तो संसारमें बहुत सुखी रहेगी—

१.आज विवाह होनेके पश्चात् तू हमारी नहीं रहेगी। आजतक तू जिस प्रकार हमारी आज्ञाका पालन करती थी, उसी प्रकार अब अपने सास, ससुर तथा पतिकी आज्ञाका पालन करना।

२.विवाहोपरान्त एकमात्र पति ही तेरे स्वामी होंगे। उनके साथ सदैव उच्च व्यवहार रखना और नम्रता रखना। अपने पतिकी आज्ञाका बराबर पालन करना ही एक नारीका श्रेष्ठ और पवित्र कर्तव्य है।

३.अपनी ससुरालमें सदैव विनय और सहनशीलता रखना तथा कार्यकुशल बनना।

४.ससुरालके व्यक्तियोंके साथ कभी ऐसा व्यवहार मत करना, जिससे उन्हें दुःख हो, यदि ऐसा करेगी तो पतिका प्रेम खो बैठेगी।

५.कभी क्रोध मत करना, पति कोई भूल करें तो मौन रखना और जब पति शान्त अवस्थामें हों, तब उन्हें वास्तविक स्थिति नम्रतापूर्वक समझाना।

६.अधिक बातें मत करना। असत्य मत बोलना। पड़ोसीकी निन्दा मत करना। जो कर सके वह सेवा सबकी करना। सेवा एक वशीकरण मन्त्र है।

७.हाथ देखनेवाले ज्योतिषीसे अपनी भाग्य-रेखाओंके विषयमें कभी मत पूछना। तेरा कार्य ही तेरा भाग्य निर्मित करेगा—यह निश्चय समझ लेना।

८.परिवारमें छोटे-बड़े सबकी सेवा करनेसे सबका प्रेम प्राप्त होगा।

९.अपने घरका काम कोर-कसरसे चलाना और सावधानीपूर्वक सब व्यवस्था करना।

१०.अपने पिताकी उच्च शिक्षा अथवा श्रीमताईका अभिमान मत करना। पतिके समक्ष अपने पिताके वैभवका गुणगान कभी मत करना।

११.सदा लज्जाशील कपड़े पहनना। बहुत भड़कीले

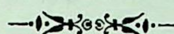
तथा आकर्षित करनेवाले कपड़े मत पहनना और सदा सादगीसे रहना ।

१२.आतिथ्य ही घरका वैभव है, प्रेम ही घरकी प्रतिष्ठा है, व्यवस्था ही घरकी शोभा है, सदाचार ही घरकी सुगन्ध है और समाधान ही घरका सुख है ।

१३.ऋण हो जाय इतना खर्च मत करना, पाप हो ऐसी कमाई मत करना, क्लेश हो ऐसा मत बोलना, चिन्ता हो वैसा मत करना, रोग हो वैसा मत खाना और शरीर दीखे वैसा कपड़ा मत पहनना ।

बेटी ! हमारी यह अन्तिम सुनहरी शिक्षा है, इसे जीवनमें उतारना । मैं तेरे जीवनमें आजादी, प्रगति, समृद्धि, भक्ति, शान्ति और दीर्घायुकी कामना करता हूँ । सदैव सबका कल्याण हो ।

—प्रेषक—वैद्य वदरुद्दीन राणपुरी 'दादा'



रामचरितमानसमें नारीधर्मकी शिक्षा

(मानस-मराल पं० श्रीजगेशनारायणजी शर्मा)

गोस्वामी तुलसीदासविरचित रामचरितमानस शिक्षाकी दृष्टिसे अनुपम ग्रन्थ है । मानसके प्रत्येक पात्र कुछ-न-कुछ जीवनोपयोगी शिक्षा अवश्य देते हैं—कहीं कथाओंके माध्यमसे, कहीं उपदेशों और संवादोंके माध्यमसे तो कहीं चरित्रोंके माध्यमसे । महाकविने शिक्षाका संगुम्फन इस अमर कृतिमें किया है ।

रामचरितमानसमें नारी-शिक्षा-सम्बन्धी सूत्र आदिसे अन्ततक बिखरे पड़े हैं । बालकाण्डके प्रारम्भमें सतीशिरोमणि पार्वतीजीका पावन चरित्र पाठकोंके समक्ष उभरता है । पार्वतीजीके चरित्रसे नारियोंको यह शिक्षा मिलती है कि निजपतिप्रेममें नारीकी अचल निष्ठा होनी चाहिये । पार्वतीजी पर्वतराज हिमवान्की पुत्री हैं । प्रतीकात्मक भाषामें पर्वतको अचल निष्ठाके रूपमें स्वीकार किया गया है । विवाहके पूर्व जब सप्तर्षि पार्वतीजीकी परीक्षा लेने जाते हैं तब शिवके चरित्रमें नाना प्रकारका दोष बतलाकर उनसे सकलगुणराशि भगवान् विष्णुसे ब्याह करनेका आग्रह करते हैं, किंतु पार्वतीजी तो मन-ही-मन स्वयंको महादेवजीके चरणोंमें समर्पित कर चुकी हैं । अब गुण-दोष-विचार करनेका अवसर ही कहाँ है ?

अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा॥

× × × × × ×

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥
(रा०च०मा० १।८१।२, ५-६)

भगवान् शंकरके प्रति पार्वतीजीका यह आत्मसमर्पण नारी-समाजके लिये अनुकरणीय है ।

सीताजीका आदर्श चरित्र नारी-समाजके लिये शिक्षा ग्रहण करनेका उत्तमोत्तम उदाहरण है । भगवती सीताके चरित्रसे यह शिक्षा मिलती है कि पतिके पदचिह्नोंका अनुसरण करना भारतीय नारीकी गौरवमयी परम्परा है । सीताजीको नारी-धर्मकी शिक्षा उनकी माता महारानी सुनयना देती हैं । विवाहके पश्चात् जब जनकपुरसे सीताजीकी विदाई होती है तब माता सुनयना उन्हें आशीर्वाद देकर अन्तिम उपदेश देते हुए कहती हैं—

होएहु संतत पियहि पिआरी। चिरु अहिबात असीस हमारी॥
सासु ससुर गुर सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥
(रा०च०मा० १।३३४।४-५)

सास-ससुर और गुरुकी सेवा करनेका उपदेश सुनयना माता अपनी प्यारी पुत्री जानकीजीको करती हैं । पतिरुखके अनुसार जीवनको ढालना पत्नीका पावन कर्तव्य है । जानकीजीका सारा जीवन माताकी शिक्षाके अनुरूप ढला हुआ है । पतिके सुख-दुःखकी चिरसङ्गिनी बनकर वैदेही माताकी आज्ञाका अक्षरशः पालन करती हैं । श्रीरामको मनानेके लिये माताओंको सङ्ग लेकर जब भरतजी चित्रकूट आते हैं तो जानकीजी रात्रिमें अपनी सभी सासुओंकी सेवा प्रेमपूर्वक करती हैं—

सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥

× × × × × ×

सीयँ सासु सेवा बस कीन्हीं। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्हीं॥

(रा॰च॰मा॰ २। २५२। २,४)

सीताजीकी सेवाका यह आदर्श यदि आजकी नारी अपना ले तो सास-बहूके कलहसे भारतीय समाजको मुक्ति मिल जाय। पतिके पदचिह्नोंका अनुगमन करती हुई जिस प्रकार सीताजी तपोमय जीवन व्यतीत करती हैं, वह नारी-समाजके लिये परम गौरवमय है।

नारी-जीवनकी सर्वोत्तम शिक्षा अरण्यकाण्डके प्रारम्भमें अनसूया-जानकी-संवादके माध्यमसे दी गयी है। जानकीजीके बहानेसे ऋषिपत्नी अनसूयाने पातिव्रत्यधर्मकी दुर्लभ शिक्षा सम्पूर्ण नारी-समाजके लिये दी है। सती अनसूयाकी यह अमूल्य शिक्षा मननीय और अनुकरणीय है। यद्यपि नारीके लिये माता-पिता तथा भाई-बन्धु सभी हितकारी हैं, किंतु पति तो उसके लिये परमेश्वरके समान है। जो नारी परमेश्वर मानकर पतिकी सेवा नहीं करती वह अधम कोटिमें परिगणनीय और निन्दनीय है—

कह रिषिबधू सरस मृदु बानी। नारिधर्म कछु ब्याज बखानी॥
मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता बयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥

(रा॰च॰मा॰ ३। ५। ४-६)

अनसूयाका कथन है कि नारीकी पहचान विपत्तिकालमें होती है। जो आपत्तिकालमें भी पतिका साथ निभाती है, वही नारी वन्दनीय और अर्चनीय है।

जाने-अनजाने किसी भी प्रकारके रोगी, धनहीन और विकलाङ्ग पतिका भी अपमान करनेवाली नारी यमपुरी जाकर नाना प्रकारकी यातना सहती है—

बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

(रा॰च॰मा॰ ३। ५। ८-९)

जो नारी पतिपरायणा है उसके लिये अलगसे किसी धर्मका विधान नहीं है। उसके लिये यज्ञ, दान, तपस्या आदि अनिवार्य नहीं हैं। मात्र पतिकी सेवाके द्वारा वह समस्त शुभकर्मोंके आनुषङ्गिक फलकी अधिकारिणी बन जाती है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥

(रा॰च॰मा॰ ३। ५। १०)

पुनः पातिव्रत्यधर्मका निरूपण करते हुए ऋषिपत्नी नारियोंकी चार कोटियाँ निर्धारण करती हैं—(१) उत्तम, (२) मध्यम, (३) निकृष्ट और (४) अधम।

(१) उत्तम कोटिकी नारी वह है जो स्वप्नमें भी पर-पुरुषको सकामभावसे नहीं देखती—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

(रा॰च॰मा॰ ३। ५। १२)

(२) मध्यम कोटिकी नारी पर-पुरुषको भ्राता, पिता और पुत्रवत् देखती है। यदि समवयस्क है तो भाई मानकर, बड़ा है तो पिता मानकर और अल्पवयस्क है तो पुत्र मानकर देखती है—

मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥

(रा॰च॰मा॰ ३। ५। १३)

(३) निकृष्ट नारी मनसे तो पर-पुरुषके प्रति अनुरक्त हो जाती है, किंतु कुलमर्यादाके भयसे उसका सङ्ग नहीं कर पाती। तृतीय कोटिकी ऐसी निकृष्ट नारी निन्दनीय है—

धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥

(रा॰च॰मा॰ ३। ५। १४)

(४) अधम नारी मनसे पतित तो पहले ही हो जाती है और अवसर मिलनेपर तनसे भी पतित हो जाती है। ऐसी दुराचारिणी नारी समाजके लिये कलंक है। जो नारी पतिसे वञ्चना करके पर-पतिसे रति करती है, वह सौ कल्पतक रौरव नरकमें निवास करती है। उस अभागिनीको यह पता ही नहीं है कि क्षणिक सुखके लिये वह अपना हीरा-जैसा जन्म व्यर्थमें नष्ट कर देती है—

बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥

(रा॰च॰मा॰ ३। ५। १५-१७)

इनमेंसे दो प्रकारकी नारियाँ तो वन्दनीय हैं और उनका चरित्र वर्तमान और भावी पीढ़ीके लिये अनुकरणीय है, किंतु अन्तिम दो प्रकारकी नारियाँ समाजके लिये कलंक और सर्वथा त्याज्य हैं।

परमगतिकी प्राप्तिके लिये नारी-जीवन-जैसा सरल-सुलभ कोई जीवन नहीं है । नाना प्रकारके साधन, भजन, शम, दम, तितिक्षा और त्याग-वैराग्यके द्वारा पुरुष जिस अलभ्य गतिकी प्राप्तिमें अपनेको असमर्थ पाता है, उस दुर्लभ गतिको नारी मात्र पतिकी सेवा करके प्राप्त कर सकती है—

बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥

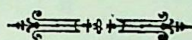
(रा॰च॰मा॰ ३।५।१८)

इसके प्रतिकूल जो अधम नारी पतिके प्रतिकूल स्वेच्छाचारिणी बन जाती है, उसे अगले जन्ममें तरुणावस्थामें ही वैधव्य-दुःख झेलना पड़ता है—

पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

(रा॰च॰मा॰ ३।५।१९)

इस प्रकार रामचरितमानसमें नारी-धर्मकी अमूल्य शिक्षा दी गयी है, जिसे अपनाकर नारी अपना तथा समाजका जीवन धन्य बना सकती है । माता कौसल्या और सुमित्राका त्यागमय दिव्य जीवन भारतीय ललनाओंके लिये वन्दनीय और अनुकरणीय है । स्वयंप्रभासे योगसाधना, शबरी और त्रिजटासे भक्ति तथा मन्दोदरीसे सत्कर्मकी शिक्षा नारियाँ ग्रहण कर सकती हैं ।



विद्या ही मनुष्यका स्थायी धन है

(डॉ॰ श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰)

हम सभी विद्यारूपी पूँजी अर्जित कर सकते हैं । यह पग-पगपर हमारी सहायता करती है । कहा है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

'जिन लोगोंके पास विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण और धर्म नहीं है, वे संसारमें पृथ्वीपर भारस्वरूप होकर मनुष्यके वेशमें पशुके समान हैं ।'

यदि आप अपने देशसे बाहर किसी व्यापार, अध्ययन, नये सम्बन्ध, सैर और ज्ञान-प्राप्तिके लिये विदेश जा रहे हैं, जहाँ यह आशा करनी चाहिये कि कोई भी अपना मित्र या सम्बन्धी जान-पहिचानवाला व्यक्ति सहायता और सहयोगके लिये न मिलेगा, वहाँ आपकी शिक्षाद्वारा प्राप्त विद्या ही काम आयेगी । विद्या आपकी बुद्धिको तीव्र करती है, समझने-समझानेकी शक्तिको बढ़ाती है और तर्क करने योग्य बनाती है । भारतीय चिन्तकोंने सत्य ही कहा है—

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च ।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च ॥

अर्थात् यह बात स्मरण रखने योग्य है कि 'विदेशोंमें विद्या मित्रके समान काम करती है । घरोंमें पत्नी मित्र है । रोगग्रस्तके लिये औषध मित्र है तथा मृतकके लिये धर्म मित्र है ।'

यदि आप किसी उच्चकुल (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि) में जन्मे हैं, राजपरिवार या उच्चपदपर रहे (माता, पिता, अधिकारी, जमींदार, शासक आदिमेंसे कोई हैं), तो केवल जन्मसे उच्चकुलके कारण आपका सम्मान नहीं होगा । विशाल सम्पत्तिवाले, राजा-महाराजा, अमीर, पूँजीवाले परिवारमें जन्म लेनेपर भी आपमें विद्याके असली धनकी आवश्यकता है । आपके ज्ञान, आपकी योग्यता, आपकी विद्या-बुद्धिके अनुसार ही आपका सामाजिक सम्मान होगा । जनता विद्वान्‌का ही स्थायी आदर करती है । कहा है कि—

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥

'जिस तरह बिना गन्धके किंशुकके लाल फूलोंको भी कोई नहीं पूछता, उसी तरह रूप-यौवनसे युक्त और उच्चकुलमें उत्पन्न पुरुष भी यदि विद्याहीन हैं, तो उनका कोई सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रिय आदर नहीं होता ।'

विद्यासे ही आदर होता है ।

विद्या बड़े परिश्रम, लगातार अध्ययन, विद्वानों तथा अध्यापकोंके सम्पर्क, सहायता, गुरुकी प्रतिष्ठा-सेवासे प्राप्त होती है । उसके लिये बड़े कष्ट, संयम और विपत्तियाँ उठानी पड़ती हैं । श्रमके बिना या बिना कष्ट उठाये कोई विद्या प्राप्त नहीं कर पाता । सांसारिक भोग-विलास, सुख-सुविधा, आराम प्राप्त करनेको इच्छुक आलसी विद्यार्थीको विद्या प्राप्त नहीं होती । सच्चे विद्यार्थीको तो सुख-सुविधा आदिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये । सुखार्थीको विद्या और विद्यार्थीको सुख प्राप्त नहीं होते । विद्या-प्राप्ति तो एक साधना, एक तप है—

सुखार्थी चेत् त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी चेत् त्यजेत् सुखम् ।
सुखार्थिनां कुतो विद्या विद्यार्थिनां कुतः सुखम् ॥

विद्यादान (दूसरोंको ज्ञान देना, दूसरोंको पढ़ाना-लिखाना, अध्ययन कराना आदि) शुभ कर्म है । दूसरोंको ज्ञानकी दृष्टिसे आगे बढ़ानेमें धर्म है । स्वयं विद्या प्राप्त कर ली, इतना ही पर्याप्त नहीं है, अज्ञानियों, अल्पज्ञों, अल्प विकसित स्त्री-पुरुषोंको पढ़ाने, शिक्षित करने, समुन्नत बनानेमें धर्म है । अतः कहा है—'हे सरस्वति ! हे विद्या देनेवाली ज्ञानकी देवि ! आपके पास ज्ञानका अद्भुत अक्षय कोश है, जो खर्च करनेसे उलटे बढ़ता ही रहता है ।' जितना दूसरोंको ज्ञान देते हैं वह उतना ही बढ़ता—विकसित होता है, पर यदि उसे व्यय न किया जाय, यदि आप दूसरोंको न पढ़ायें, ज्ञानवान्, बुद्धिमान् बनानेका प्रयत्न न करें तो स्वयं आपका ज्ञान भी कम और कभी-कभी तो बिलकुल नष्ट हो जाता है । विद्याकी पूँजी जमा करनेसे कम हो जाती है । अतः दूसरोंको जितना बने, जिस भी विषयका बने, जो भी आपके स्वयंके अनुभव हों, वे अवश्य दूसरोंको देने चाहिये—

अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति ।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति संचयात् ॥

विद्वान् जहाँ भी जायगा, रहेगा, वहीं वह समादृत होगा, पूजा जायगा । उसकी विद्याकी प्रतिष्ठा सर्वत्र निश्चित ही समझिये । कहा भी है कि विद्वान् और राजा किसी प्रकार भी एक समान नहीं हैं । राजाकी तो अपने देशमें ही पूजा होती है; परंतु विद्वान्की सब जगह प्रतिष्ठा होती है । प्रत्येक व्यक्ति उसका आदर करता है । विद्या ही समाजमें यश-प्रतिष्ठाका मूल केन्द्र है । अतः सब कुछ छोड़कर अधिक-से-अधिक विद्या और योग्यता प्राप्त करनी चाहिये—

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्ये कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥

यह बात अपने मनमें स्थिर कर लेना चाहिये कि सोना, चाँदी, भूमि या गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ किसीकी सच्ची सम्पदा नहीं हैं, वास्तविक सम्पदा तो विद्या ही है । विद्या एक ऐसा अमूल्य धन है, जिसे न परिवारके भाई-बन्धु बाँट सकते हैं और न चोर चुरा सकते हैं । दान देनेसे भी इसका क्षय नहीं होता—

ज्ञातिभिर्वण्ट्यते नैव चौरेणापि न नीयते ।
न दानेन क्षयं याति विद्यारत्नं महाधनम् ॥

और—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥

'विद्या ही मनुष्यकी वास्तविक शोभा है । विद्या ही अत्यन्त सुरक्षित सम्पत्ति है । ज्ञान-विज्ञानसे ही सब भोग भोगे जा सकते हैं । विद्या ही गुरुओंका गुरु और विदेशमें सबसे बड़ा भाई है । विद्या परा देवता है । सरस्वती सर्वोच्च है, क्योंकि उसीकी कृपासे हमें धर्मका ज्ञान होता है । विद्यावान् व्यक्तिकी सर्वत्र पूजा होती है, उसके धनकी नहीं । वे तो पशु-तुल्य हैं, जो अपढ़, अज्ञानी, अशिक्षित हैं । अन्तर यह है कि पशुमें सींग-पूँछ होते हैं, पर उनके सींग और पूँछ नहीं हैं ।' इसलिये अपने-आपको योग्य बनाना चाहिये ।

न चौरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि ।
व्यये कृते वर्धत एवं नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ॥

अर्थात् इस विद्यारूपी धनकी विशेषता तो देखिये—

विद्यारूपी सम्पत्तिको न चोर चुरा सकता है, न राजा ही छीन सकता है। न भाई इसे बाँट सकते हैं और न यह किसी तरहका भार ही डालती है। चोरीसे कोई विद्वान् नहीं बनता, अपने ही संयम, परिश्रम, इच्छा, स्वाध्यायसे बुद्धि बढ़ती है। व्यय करनेपर यह सम्पत्ति स्वयं ही बढ़ती है। विद्या धन सर्वश्रेष्ठ धन है। सदा-सर्वदा अपने ही पास बना रहता है।

एकेनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन भासते।
कुलं पुरुषसिंहेन चन्द्रेणैव हि शर्वरी॥

जैसे एक चन्द्रमासे ही रात्रि चमकती है, उसी तरह पुरुषसिंह और विद्यायुक्त एक ही सुपुत्रसे सम्पूर्ण कुल चमक उठता है। विद्या सुपात्र बनाती है।

अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत एव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अजर और अमरकी तरह विद्या और अर्थ (धन-सम्पत्ति आदि) को प्राप्त करे। ये दोनों ही पूरे जीवनभर मनुष्यकी सेवा-सहायता करते रहते हैं। न जाने कब मृत्यु आ जाय, इस भयसे सदा धर्मका आचरण करता रहे।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये वको यथा॥

अर्थात् बालकोंको विद्यावान् और शिक्षित करने, उनमें विद्या-बुद्धि-विवेक, एकाग्रता, संयम, प्रेम, सहानुभूति परिश्रम करने-जैसी उत्तमोत्तम आदतें डालनेवाले माता-पिता ही हैं। ये गुण पढ़नेसे ही विकसित होते हैं। जैसे-जैसे बच्चे पढ़ते-लिखते हैं, विद्या-प्राप्त करते हैं, वैसे-वैसे वे अच्छे नागरिक बनते जाते हैं। ज्ञान-प्राप्ति ही बच्चोंको सुसंस्कृत करती है तथा उनके बालोचित दुर्गुणोंको दूर करती है। 'जिस माता-पिताने अपने बच्चोंको शिक्षित नहीं किया, वे दोनों ही उनके शत्रु होते हैं। याद रखिये, हंसोंके बीच श्वेत दीखनेवाले बगुलेकी तरह मूर्ख मनुष्य भी सभामें शोभा नहीं पाता। विद्वान् ही शोभित होता है।'

विद्या विनयोपेता हरति न चेतांसि कस्य मनुजस्य।
काञ्चनमणिसंयोगो न जनयति कस्य लोचनानन्दम्॥

'विनयसे युक्त विद्या किस मनुष्यके चित्तको प्रसन्न नहीं करती? सोनेमें जड़ी हुई मणि किस पुरुषकी आँखोंको अच्छी नहीं लगती।'

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

याद रखिये, 'विद्या मनुष्यको विनयशील-सज्जन बनाती है, विनयसे वह योग्य हो जाता है। मनुष्यकी अपनी योग्यतासे धन अर्जित होता है और धर्मकी प्राप्ति होती है। ऐसा व्यक्ति ही पूरे जीवनभर सुखी रहता है।'

नक्षत्रभूषणं चन्द्रो नारीणां भूषणं पतिः।
पृथिवीभूषणं राजा विद्या सर्वस्य भूषणम्॥

अर्थात् 'तारोंकी शोभा चन्द्रमासे, नारीकी शोभा उसके पतिसे और पृथ्वीकी शोभा वहाँके योग्य राजासे होती है, किंतु विद्या ऐसा अमूल्य गुण है, जिससे प्रत्येक व्यक्तिका चाहे वह दीनहीन गरीब पिछड़े कुलमें ही क्यों न जनमा हो, समाजमें सदा आदर-सत्कार होता है।'

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति॥

अर्थात् 'जिस मनुष्यने अपनी आयुके प्रथम भाग (विद्यार्थी-जीवन) में अच्छी तरह विद्या प्राप्त नहीं की, दूसरे भाग (यौवनकी अवस्था) में धन, तीसरे भागमें धर्म नहीं कमाया, वह चौथे भागमें क्या करेगा?' विद्या ही वह साधन है जिससे सम्पूर्ण आयुमें धन, प्रतिष्ठा और धर्म मिलता है।

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥

याद रखिये, 'विद्या, कल्पलताकी तरह सब लाभ पहुँचाती है। वह कष्टोंमें माताकी तरह रक्षा करती है, पिताकी भाँति हितकार्यमें प्रेरित करती है, प्रिय धर्मपत्नीकी तरह दुःख दूरकर मनको प्रसन्न करती है और वाणिज्य-व्यापारमें सफलता देकर धन-सम्पत्ति प्राप्त कराती है। इस तरह सब प्रकारके यश-प्रतिष्ठा आदि विद्यासे ही मिलते हैं। विद्या ही स्थायी धन है। सारांश यह है कि विद्यासे ही संसार और समाजमें सब कुछ प्राप्त होता है।

बिश्नोई-पंथमें 'सबद-वाणी'की आदर्श शिक्षा

(श्रीमाँगीलालजी बिश्नोई 'अज्ञात')

लोक-प्रसिद्ध परम धार्मिक प्रमरवंशावतंस महाराज श्रीविक्रमादित्यकी बयालीसवीं पीढ़ीमें वर्तमान राजस्थान-राज्य (तत्कालीन जोधपुर-राज्य)में नागौरसे ५० कि०मी० उत्तरमें स्थित पीपासर नामक ग्राममें श्रीजाम्भोजीने क्षत्रियकुल-पँवार लोहटजीके घर जन्म लेकर ७ वर्षतक बाल-क्रीडामें, २७ वर्षतक गोचारणमें और ५१ वर्षतक भुक्ति-मुक्ति देनेवाली वाणी कहनेमें व्यतीत किये। उनकी शिक्षाएँ 'सबद-वाणी'-के नामसे लोक-प्रचलित हैं। विष्णु-उपासक 'बिश्नोई' इसे पञ्चम वेदके रूपमें मानते हैं। वि० संवत् १५०८ की भाद्रपदबदी अष्टमीको जन्मे हुए श्रीजम्भेश्वर संत-परम्पराके प्रथम संत एवं परम योगेश्वर हैं, जो विश्वके प्रथम 'पारिस्थितिक विज्ञानी' हैं। जिनकी शिक्षाओंपर चलते हुए वि० संवत् १७८७में श्रीमती अमृतादेवीके नेतृत्वमें ३६३ बिश्नोई स्त्री-पुरुष खेजड़ी वृक्षोंके रक्षार्थ उनसे चिपक-चिपककर कट मरे थे। पर्यावरणके मूल आधार वृक्षोंकी रक्षाके लिये इतनी बड़ी संख्यामें जम्भेश्वर-अनुयायियोंका यह आत्म-बलिदान विश्वका एक अद्वितीय उदाहरण है। श्रीजाम्भोजीके अनुयायी आज भी हरे वृक्ष एवं वन्य जीवोंके रक्षार्थ प्राणोत्सर्ग करनेको तत्पर मिलते हैं।

वि० संवत् १५४२ में 'सम्भराथल' धोरेपर श्रीजाम्भोजी द्वारा विभिन्न धर्मों तथा जातियोंमेंसे एक लाखसे भी अधिक लोगोंको 'पाहल' (अभिमन्त्रित जल) पिलाकर बिश्नोई-पंथमें दीक्षित किया गया। राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश राज्योंमें लगभग २ करोड़ बिश्नोई-मतावलम्बी निवसित हैं।

'सबद-वाणी'की भाषा ठेठ देहाती एवं सहज बोधगम्य है। इसमें विष्णु-उपासना और नाम-जपपर विशेष बल दिया गया है। ३३ करोड़ देवी-देवताओंकी परम्परामें श्रीजाम्भोजी स्वयंको विष्णु भगवान्का अंशावतार उद्घोषित करते हैं। संत एवं गुरु-परम्परापर आधारित बिश्नोई-पंथ मानवमात्रके कल्याणकी भावनासे ओतप्रोत है। श्रीजाम्भोजीद्वारा उच्चरित प्रथम शब्द 'गुरु' था, जो उनके पहले 'सबद' में इस प्रकार है—***'गुरु चीन्हूँ, गुरु चीन्ह पिरोहित।'*** हे लोगो! हे पुरोहित! गुरुको पहचानो।

'सबद-वाणी'में आध्यात्मिक, वैदिक, यौगिक, पारमार्थिक तथा लौकिक शिक्षाका अथाह भण्डार भरा पड़ा है। द्रष्टव्य हैं 'सबदों' की कुछ उक्तियाँ—

(१) विष्णु तथा अनादि अवतरण-विषयक

'आद अनाद तो हम रचीलों, हमें सिरजीलो सैकोंण'। (सबद २) आदि-अनादिकी सृष्टि तो मैंने की है। मेरा सृजन करनेवाला मेरे सिवा अन्य कोई कैसे हो सकता है? ***बात कदो की पूछै लोई, जुग छत्तीस विचारूँ। ताह परै रे अवर छत्तीसूँ, पहला अन्त न पारूँ॥ म्हे तद पंण हुँता, अब पंण आछै, वल-वल हुयसाँ। कहि कद-कदका करूँ विचारूँ।*** (सबद ४) हे भाई! तुम कबकी बात पूछ रहे हो। मुझे छत्तीस युगोंकी जानकारी है। उनसे भी पहले अनन्त छत्तीस युगोंकी भी, जिनका आदि-अन्त नहीं है। मैं तब भी था, अब भी हूँ और फिर-फिर होऊँगा। कहो, कब-कबका विचार करूँ? ईश्वरके वन्दनीय नवों अवतार मेरे ही स्वरूप हैं (सबद ५)। दृश्य-अदृश्य रूपोंमें मैं सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें विचरण करता हूँ। पल-पल घटते हुए भी अघट रहता है। अनन्त युगोंसे अमर-स्मरणके रूपमें मैं स्मरण किया जाता रहा हूँ। मेरे न माता है, न पिता (सबद ९)। मैं उच्च मण्डलका अधिवासी हूँ (सबद २९)। जो मक्का-मदीनामें अवतरित हुआ वही मरुस्थलमें राजस्थानकी धीरा धरतीपर अवतीर्ण हुआ है (सबद ५०)। यदि मैं अपना आपा (सामर्थ्य) प्रकट कर दूँ तो चारों खण्ड (दिशाएँ) और नवों द्वीप थर्रा जायँ (सबद ७३)। मेरे अनन्त-अनन्त युग व्यतीत हो चुके हैं। मैं शून्य मण्डलका अधिष्ठाता हूँ (सबद ८३)।

(२) नश्वरता

म्हाँ देखताँ देव-दाणूँ खींणाँ, जंबू मंझे राचि

न रहिबा थेहूँ। (सबद २५) हे राजन्! मेरे देखते देव-दैत्य चल बसे। जम्बू (भारत उपमहाद्वीप) के मध्य तुम स्थिर नहीं रहोगे।***अनेक-अनेक चलंताँ दीठा, कलिका माणस कौर विचारूँ।*** (सबद ३३) मैंने असंख्योंको चल-बसते देखा है। कलियुगके मनुष्यका फिर विचार ही कैसा? इस धरतीपर तुम्हारा रत्तीभर भी स्थायी राज्य नहीं रहेगा (सबद ६५)। जीवात्माका वास्तविक स्थायी आवास तो दूर है। यहाँ तो अस्थायी निवास है (सबद ८७)।

(३) मानसिक शुद्धि

अड़सठ तीरथ हिरदा भीतर, बाहर लोकाचारूँ। (सबद ३) अड़सठ तीर्थोंका पुण्य तो आन्तरिक शुद्धतामें है। बाहरका दिखावा तो लोकाचार है। ***भलियो होय सो भली बुध आवै, बुरियो बुरी कमावै।*** (सबद २०) भले व्यक्तिको अच्छी बुद्धि मिलती है। बुरा व्यक्ति बुराई ही कमाता है।

(४) विष्णु-जप

बिम्बे बेलाँ विष्णु न जंप्यो, ताछै का चीन्हों कछु कमायो। (सबद ७) मनुष्य! शारीरिक शक्ति रहते हुए यदि तुमने विष्णु भगवान्‌का जप नहीं किया तो बता, तुमने क्या जाना और क्या कमाया? अतः एकाग्रचित्त होकर विष्णुका जप करो (सबद २३)। भगवान् विष्णुके जपके बिना तुम्हारा मानव-जन्म आकके डोंड़ों तथा खीपकी फलियोंके समान निरर्थक हो रहा है (सबद २७)। विष्णु भगवान्‌का जप करते हुए यदि तुम्हारी जीभ थक जाती है तो तुम्हारा बिना जीभका ही होना ठीक है। हरिका नाम-स्मरण करते भी यदि तुम्हें कोई विपत्ति आ घेरे तो पश्चात्ताप न करो (सबद ३४)। ***विष्णु-विष्णु तू भणि रे प्राणी, इस जीवन के हावै।*** (सबद १२०) हे प्राणी! इस जीवनके रहते तुम विष्णु-विष्णु जपते रहो।

(५) मुसलमानोंके प्रति

ज्यूँ थे पच्छिम दिशा उलबंग पुकारो, भल जे यों चीन्हों रहमाणों। (सबद ९) जैसे तुम पश्चिम दिशामें मुँह करके उच्च स्वरसे अजान लगाते हो, उससे अच्छा तो यह है कि तुम रहमानको दिलसे जानो-मानो। ***दिल खोजो दरवेश भईलो, तइया मुसलमानों।*** (सबद १०) अपने दिलको टटोलकर जो परम दयालु हो गया है, वही तो मुसलमान है।

(६) जीव-दया

जीवाँ ऊपरि जोर करीजै, अंति काल हुयसी भारी। (सबद ९) जीवोंपर जोर-जबरदस्ती करते हो। अन्तिम समयमें मृत्युके पश्चात् कर्मोंका लेखा-जोखा होनेके समय कर्म-फलकी दृष्टिसे यह जीवात्माको भारी पड़ेगा।

(७) कर्म-फल और प्रधानता

विष्णु ने दोष किसौ रे प्राणीं, तेरी करणीं का उपकारूँ। (सबद १३) हे जीवात्मा! तुम अपने दुःखोंके लिये विष्णु भगवान्‌को क्यों दोष देते हो? जो कुछ भी तुम भोग रहे हो, वह सब तुम्हारे स्वयंके कृत्योंका प्रतिफल है। ***गोवछवास कमाय ले जीवड़ा, सो सुरगापुरि लहणा।*** (सबद ५३) हे जीवात्मा! तुम जो कुछ भी इस मानव-शरीरके रहते अपने सत्-असत् कर्मोंसे कमाओगे, वही प्रतिफलके रूपमें स्वर्गमें तुम्हें भोगनेको मिलेगा। ***उत्तम कुलीका उत्तम न होयबा कारण किरिया सारूँ।*** (सबद २६) उत्तम या उच्च कुलमें जन्म लेनेसे ही वंशानुगतताके कारण कोई बड़ा नहीं हो सकता। यदि कर्म उच्च है तो वही उत्तम है।

(८) योग

पताल का पाणीं अकास कूँ चढ़ायले, भेटले गुरुका दरशणा। (सबद ४९) मूलाधारकी ओर स्त्रावित पतनकी ओर अधोगामी 'बिन्दु' को ऊर्ध्वरितस्-विधिसे सहस्त्रारमें पहुँचा दो तो 'आज्ञाचक्र'में गुरु-रूपी ज्योतिर्मय परमात्माके दर्शन हो सकते हैं। ***पूरक पूर पूरलै पौण, भूख नहीं अन जीमंत कौण।*** (सबद ५१) प्राणायाम करते हुए पूरककी साधना पूर्ण कर पवनकी सिद्धि कर लो फिर भूख व्यापेगी ही नहीं। अब खायेगा कौन? ***उरधक चंदा निरथक सुरूँ नव लख तारा नेड़ा न दूरूँ।*** (सबद ८९) योगाभ्यासमें चन्द्रमाकी अवस्थिति ऊर्ध्व तथा सूर्यकी निम्न होती है।

बिश्नोई-पंथमें 'सबद-वाणी'की आदर्श शिक्षा

(श्रीमाँगीलालजी बिश्नोई 'अज्ञात')

लोक-प्रसिद्ध परम धार्मिक प्रमरवंशावतंस महाराज श्रीविक्रमादित्यकी बयालीसवीं पीढ़ीमें वर्तमान राजस्थान-राज्य (तत्कालीन जोधपुर-राज्य)में नागौरसे ५० कि०मी० उत्तरमें स्थित पीपासर नामक ग्राममें श्रीजाम्भोजीने क्षत्रियकुल-पँवार लोहटजीके घर जन्म लेकर ७ वर्षतक बाल-क्रीडामें, २७ वर्षतक गोचारणमें और ५१ वर्षतक भुक्ति-मुक्ति देनेवाली वाणी कहनेमें व्यतीत किये। उनकी शिक्षाएँ 'सबद-वाणी' के नामसे लोक-प्रचलित हैं। विष्णु-उपासक 'बिश्नोई' इसे पञ्चम वेदके रूपमें मानते हैं। वि० संवत् १५०८ की भाद्रपदबदी अष्टमीको जन्मे हुए श्रीजम्भेश्वर संत-परम्पराके प्रथम संत एवं परम योगेश्वर हैं, जो विश्वके प्रथम 'पारिस्थितिक विज्ञानी' हैं। जिनकी शिक्षाओंपर चलते हुए वि० संवत् १७८७में श्रीमती अमृतादेवीके नेतृत्वमें ३६३ बिश्नोई स्त्री-पुरुष खेजड़ी वृक्षोंके रक्षार्थ उनसे चिपक-चिपककर कट मरे थे। पर्यावरणके मूल आधार वृक्षोंकी रक्षाके लिये इतनी बड़ी संख्यामें जम्भेश्वर-अनुयायियोंका यह आत्म-बलिदान विश्वका एक अद्वितीय उदाहरण है। श्रीजाम्भोजीके अनुयायी आज भी हरे वृक्ष एवं वन्य जीवोंके रक्षार्थ प्राणोत्सर्ग करनेको तत्पर मिलते हैं।

वि० संवत् १५४२ में 'सम्भराथल' धोरेपर श्रीजाम्भोजी द्वारा विभिन्न धर्मों तथा जातियोंमेंसे एक लाखसे भी अधिक लोगोंको 'पाहल' (अभिमन्त्रित जल) पिलाकर बिश्नोई-पंथमें दीक्षित किया गया। राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश राज्योंमें लगभग २ करोड़ बिश्नोई-मतावलम्बी निवसित हैं।

'सबद-वाणी'की भाषा ठेठ देहाती एवं सहज बोधगम्य है। इसमें विष्णु-उपासना और नाम-जपपर विशेष बल दिया गया है। ३३ करोड़ देवी-देवताओंकी परम्परामें श्रीजाम्भोजी स्वयंको विष्णु भगवान्का अंशावतार उद्घोषित करते हैं। संत एवं गुरु-परम्परापर आधारित बिश्नोई-पंथ मानवमात्रके कल्याणकी भावनासे ओतप्रोत है। श्रीजाम्भोजीद्वारा उच्चरित प्रथम शब्द 'गुरु' था, जो उनके पहले 'सबद' में इस प्रकार है—*'गुरु चीन्हँ, गुरु चीन्ह पिरोहित।'* हे लोगो! हे पुरोहित! गुरुको पहचानो।

'सबद-वाणी'में आध्यात्मिक, वैदिक, यौगिक, पारमार्थिक तथा लौकिक शिक्षाका अथाह भण्डार भरा पड़ा है। द्रष्टव्य हैं 'सबदों' की कुछ उक्तियाँ—

(१) विष्णु तथा अनादि अवतरण-विषयक

'आद अनाद तो हम रचीलों, हमें सिरजीलो सैकोंण'। (सबद २) आदि-अनादिकी सृष्टि तो मैंने की है। मेरा सृजन करनेवाला मेरे सिवा अन्य कोई कैसे हो सकता है? ***बात कदो की पूछै लोई, जुग छत्तीस विचारूँ। ताह परै रे अवर छत्तीसूँ, पहला अन्त न पारूँ॥ म्हे तद पंण हुँता, अब पंण आछै, वल-वल हुयसाँ। कहि कद-कदका करूँ विचारूँ।*** (सबद ४) हे भाई! तुम कबकी बात पूछ रहे हो। मुझे छत्तीस युगोंकी जानकारी है। उनसे भी पहले अनन्त छत्तीस युगोंकी भी, जिनका आदि-अन्त नहीं है। मैं तब भी था, अब भी हूँ और फिर-फिर होऊँगा। कहो, कब-कबका विचार करूँ? ईश्वरके वन्दनीय नवों अवतार मेरे ही स्वरूप हैं (सबद ५)। दृश्य-अदृश्य रूपोंमें मैं सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें विचरण करता हूँ। पल-पल घटते हुए भी अघट रहता है। अनन्त युगोंसे अमर-स्मरणके रूपमें मैं स्मरण किया जाता रहा हूँ। मेरे न माता हैं, न पिता (सबद ९)। मैं उच्च मण्डलका अधिवासी हूँ (सबद २९)। जो मक्का-मदीनामें अवतरित हुआ वही मरुस्थलमें राजस्थानकी धीरा धरतीपर अवतीर्ण हुआ है (सबद ५०)। यदि मैं अपना आपा (सामर्थ्य) प्रकट कर दूँ तो चारों खण्ड (दिशाएँ) और नवों द्वीप थर्रा जायँ (सबद ७३)। मेरे अनन्त-अनन्त युग व्यतीत हो चुके हैं। मैं शून्य मण्डलका अधिष्ठाता हूँ (सबद ८३)।

(२) नश्वरता

म्हाँ देखताँ देव-दाणूँ खींणाँ, जंबू मंझे राचि

न रहिबा थेहूँ। (सबद २५) हे राजन्! मेरे देखते देव-दैत्य चल बसे। जम्बू (भारत उपमहाद्वीप) के मध्य तुम स्थिर नहीं रहोगे। ***अनेक-अनेक चलंतां दीठा, कलिका माणस कौर विचारूँ।*** (सबद ३३) मैंने असंख्योंको चल-बसते देखा है। कलियुगके मनुष्यका फिर विचार ही कैसा? इस धरतीपर तुम्हारा रत्तीभर भी स्थायी राज्य नहीं रहेगा (सबद ६५)। जीवात्माका वास्तविक स्थायी आवास तो दूर है। यहाँ तो अस्थायी निवास है (सबद ८७)।

(३) मानसिक शुद्धि

अड़सठ तीरथ हिरदा भीतर, बाहर लोकाचारूँ। (सबद ३) अड़सठ तीर्थोंका पुण्य तो आन्तरिक शुद्धतामें है। बाहरका दिखावा तो लोकाचार है। ***भलियो होय सो भली बुध आवै, बुरियो बुरी कमावै।*** (सबद २०) भले व्यक्तिको अच्छी बुद्धि मिलती है। बुरा व्यक्ति बुराई ही कमाता है।

(४) विष्णु-जप

बिम्बे बेलाँ विष्णु न जंप्यो, ताछै का चीन्हों कछु कमायो। (सबद ७) मनुष्य! शारीरिक शक्ति रहते हुए यदि तुमने विष्णु भगवान्का जप नहीं किया तो बता, तुमने क्या जाना और क्या कमाया? अतः एकाग्रचित्त होकर विष्णुका जप करो (सबद २३)। भगवान् विष्णुके जपके बिना तुम्हारा मानव-जन्म आकके डोंड़ों तथा खीपकी फलियोंके समान निरर्थक हो रहा है (सबद २७)। विष्णु भगवान्का जप करते हुए यदि तुम्हारी जीभ थक जाती है तो तुम्हारा बिना जीभका ही होना ठीक है। हरिका नाम-स्मरण करते भी यदि तुम्हें कोई विपत्ति आ घेरे तो पश्चात्ताप न करो (सबद ३४)। ***विष्णु-विष्णु तू भणि रे प्राणी, इस जीवन के हावै।*** (सबद १२०) हे प्राणी! इस जीवनके रहते तुम विष्णु-विष्णु जपते रहो।

(५) मुसलमानोंके प्रति

ज्यूँ थे पच्छिम दिशा उलबंग पुकारो, भल जे यों चीन्हों रहमाणों। (सबद ९) जैसे तुम पश्चिम दिशामें मुँह करके उच्च स्वरसे अजान लगाते हो, उससे अच्छा तो यह है कि तुम रहमानको दिलसे जानो-मानो। ***दिल खोजो दरवेश भईलो, तइया मुसलमानों।*** (सबद १०) अपने दिलको टटोलकर जो परम दयालु हो गया है, वही तो मुसलमान है।

(६) जीव-दया

जीवाँ ऊपरि जोर करीजै, अंति काल हुयसी भारी। (सबद ९) जीवोंपर जोर-जबरदस्ती करते हो। अन्तिम समयमें मृत्युके पश्चात् कर्मोंका लेखा-जोखा होनेके समय कर्म-फलकी दृष्टिसे यह जीवात्माको भारी पड़ेगा।

(७) कर्म-फल और प्रधानता

विष्णु ने दोष किसौ रे प्राणीं, तेरी करणीं का उपकारूँ। (सबद १३) हे जीवात्मा! तुम अपने दुःखोंके लिये विष्णु भगवान्को क्यों दोष देते हो? जो कुछ भी तुम भोग रहे हो, वह सब तुम्हारे स्वयंके कृत्योंका प्रतिफल है। ***गोवछवास कमाय ले जीवड़ा, सो सुरगापुरि लहणा।*** (सबद ५३) हे जीवात्मा! तुम जो कुछ भी इस मानव-शरीरके रहते अपने सत्-असत् कर्मोंसे कमाओगे, वही प्रतिफलके रूपमें स्वर्गमें तुम्हें भोगनेको मिलेगा। ***उत्तम कुलीका उत्तम न होयबा कारण किरिया सारूँ।*** (सबद २६) उत्तम या उच्च कुलमें जन्म लेनेसे ही वंशानुगतताके कारण कोई बड़ा नहीं हो सकता। यदि कर्म उच्च है तो वही उत्तम है।

(८) योग

पताल का पाणीं अकास कूँ चढ़ायले, भेटले गुरूका दरशणा। (सबद ४९) मूलाधारकी ओर स्रावित पतनकी ओर अधोगामी 'बिन्दु' को ऊर्ध्वरेतस्-विधिसे सहस्रारमें पहुँचा दो तो 'आज्ञाचक्र'में गुरु-रूपी ज्योतिर्मय परमात्माके दर्शन हो सकते हैं। ***पूरक पूर पूरलै पौण, भूख नहीं अन जीमंत कौण।*** (सबद ५१) प्राणायाम करते हुए पूरककी साधना पूर्ण कर पवनकी सिद्धि कर लो फिर भूख व्यापेगी ही नहीं। अब खायेगा कौन? ***उरधक चंदा निरथक सुरूँ नव लख तारा नेड़ा न दूरूँ।*** (सबद ८९) योगाभ्यासमें चन्द्रमाकी अवस्थिति ऊर्ध्व तथा सूर्यकी निम्न होती है।

नौ लाख तारोंकी ज्योति दृष्टिगोचर होती है—जो न पास है न दूर ।

(९) गुरु-प्राधान्य

जइया गुरु न चीन्हों, तइया सींच्या न मूलूँ । कोई-क्रोई बोलत थूलूँ । (सबद ३५) जिसने गुरुको नहीं पहचाना, उसने भगवत्प्राप्ति-हेतु जड़का सिंचन नहीं किया । गुरु-विहीन कई लोग तो मिथ्या सम्भाषण ही करते हैं । ***निश्चै कायों-वायों होयसैं, जे गुरु बिन खेल पसारी ।*** (सबद ४२) यदि बिना गुरुके तुमने कोई कार्य प्रारम्भ किया तो अज्ञानवश निश्चित रूपसे दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो जायगी । ***दोय दिल दोय मन, गुरु न चेला ।*** (सबद ४५) द्वैत रहते गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जुड़ ही नहीं सकता ।

(१०) लोक-शिक्षा

वादीलो अहंकारीलो ते भार घणां ले मरणां । (सबद ५३) विवादी तथा अहंकारी व्यक्ति व्यर्थका बोझ मनपर लिये मरेगा । ***देखि अदेख्या, सुण्याँ-असुण्याँ, खिमा, रूप तप कीजे ।*** (सबद १०३) देखे-बिना देखे, सुने-अनसुने, सभी अवसरोंपर क्षमारूपी तपस्या करनी चाहिये ।

(११) दान

दान सुपाते, बीज सुखेते, अमृत फूल फलीजै । काया कसौटी मन जोगूँटो, जरणा ढाकण दीजै ॥ थोड़े मांहिं थोड़े रो दीजै,-होते नाह न कीजै ॥ (सबद ५६) सुपात्रको दिया गया दान तथा सुक्षेत्रमें बोया गया बीज अमृतदायी फल प्रदान करता है । कायाको कसौटी और मनमें योग-साधनाको अपनाते हुए सहनशक्ति-रूपी आवरण देना चाहिये । थोड़ेमें थोड़ा देना चाहिये, परंतु होते हुए अस्वीकार नहीं करना चाहिये ।

(१२) पाखण्ड-खण्डन

भूत परेती काँय जपीजै, यह पाखण्ड परमाणो। (सबद ६९) भूत-प्रेतादिको क्यों जपते हो? यह तो पाखण्डका प्रमाण है । ***पाहण प्रीति फिटा कर प्राणीं, गुरु बिन मुक्ति न जाई।*** (सबद ९७) हे जीवात्मा! निष्करुणताको छोड़ दे । गुरु बिना मुक्ति नहीं हो सकती ।



माता सुमित्राकी लक्ष्मणको सीख

गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं ॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के ॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें ॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू ॥
पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥
सकल सुकृत कर बड़ फलु एहू। राम सीय पद सहज सनेहू ॥
रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ॥



मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका दिव्योपदेश

अर्वाचीन शिक्षा

सामान्य शिक्षा | नयी शिक्षा नीति | जननायकों का शैक्षिक चिन्तन

सामान्य शिक्षा

बुनियादी शिक्षाका महत्त्व

(श्रीसुखसागरजी सिन्हा, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, साहित्यरत्न)

भारतमें प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा-पद्धतिकी विकृतियों एवं अर्थहीनताने बुनियादी शिक्षा-पद्धतिको जन्म दिया। महात्मा गाँधीके अनुसार शिक्षाका उद्देश्य मनुष्यके शरीर, मस्तिष्क और आत्मामें उत्तम तत्त्वोंका विकास करना है। सच्ची शिक्षासे व्यक्तिकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक—सभी शक्तियोंका विकास होता है। शिक्षा सबके लिये है, सम्पूर्ण जीवनके लिये है, इसे विद्यालयों और महाविद्यालयोंकी चहारदीवारीसे निकालकर समाज और जीवनके सच्चे परिवेशमें सर्वसुलभ बनाना अपेक्षित है। इसे पुस्तकों और पुस्तकालयोंके कृत्रिम तथा सांकेतिक अभियन्त्रोंतक ही सीमित न रखकर प्रकृति और परिस्थितियोंके सच्चे संदर्भमें लाना होगा। गाँधीजीने स्वतन्त्रता-संघर्ष तथा आर्थिक क्रान्ति, सामाजिक परिवर्तन एवं मानव-कल्याणके लिये चलाये गये अपने अनेक अभियानोंके दौरान यह अनुभव किया कि प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा-पद्धतिमें परिवर्तन लाये बिना वाञ्छित नये मानव-समाजकी कल्पना करना व्यर्थ है। अतः उन्होंने एक नयी शिक्षा-पद्धतिका आविष्कार किया, जिससे शोषण, परतन्त्रता और विषमताको दूरकर एक नये आदर्श समाजका निर्माण किया जा सके। गाँधीजीकी इस अभिनव शिक्षा-पद्धतिको ही 'नयी तालीम' या 'बुनियादी शिक्षा'-पद्धति कहते हैं।

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धतिके दोष

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धतिकी आलोचना करते हुए गाँधीजीने इसकी सबसे बड़ी इस त्रुटिकी ओर संकेत किया कि इस शिक्षा-पद्धतिमें उन वस्तुओंके लिये बिलकुल स्थान नहीं है, जिन्हें बच्चे अपने घरेलू जीवनके साहचर्यसे जानते हैं। ज्यों-ज्यों बच्चे उच्च शिक्षाकी ओर अग्रसर होते हैं, त्यों-त्यों उनके अपने गाँव-घरका वातावरण दूर छूटता चला जाता है। बादमें एक ऐसी स्थिति आती है जब ग्रामीण जीवन उनके लिये सर्वथा अपरिचित और अनाकर्षक बन जाता है।

अंग्रेजी शिक्षाकी त्रुटियों एवं भारतके लिये उसकी अनुपयोगिताओंकी ओर गाँधीजीके अतिरिक्त अन्य अनेक देशी-विदेशी शिक्षा-शास्त्रियों एवं विद्वानोंने भी संकेत किया है, जिनमें प्रमुख हैं—आचार्य विनोबा भावे, जाकिर हुसेन, काका कालेलकर, आर० आर० दिवाकर, इवान इलिच (डि स्कूलिंग), आलविन टायलर (फ्यूचर शॉक), पाउलो फ्रायरे (कल्चरल ऐक्शन फार फ्रीडम)। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री पाउलो फ्रायरेके अनुसार वर्तमान शिक्षा-पद्धति एक बैंकिंग व्यापार है, जिसमें कुछ इने-गिने शिक्षक शिक्षार्थीसमूहके 'मस्तिष्क-रूपी खातेमें अपने संचित शब्दों, वाक्यों और अन्य सिद्धान्तोंके स्मरणरूपी ज्ञानको जमा करते हैं।' यही शिक्षा-पद्धति उपदेश-कथनके हस्तान्तरण

व्यापारके ज्वरसे पीडित है। यह ज्ञानको कर्मसे पृथक् करती है तथा समाजमें अनावश्यक भेदभावकी दरारें उत्पन्न करती है। यह भारत-जैसे कृषि-प्रधान देशके नागरिकोंको केवल अक्षर-ज्ञान कराकर भावी जीवनमें बेकार बना देती है। शरीर-श्रमके लिये अयोग्य ठहराकर अंग्रेजी शिक्षा यहाँके नागरिकोंको परावलम्बी और पौरुषहीन बना डालती है तथा व्यक्तिमें रटने एवं अनुकरण करनेकी प्रवृत्ति घर कर लेती है और उसकी स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति अवरुद्ध हो जाती है।

बेकारी—अंग्रेजी शिक्षा-पद्धतिका ही अभिशाप

यह शिक्षा-पद्धति अक्षर-ज्ञानमात्र देकर आध्यात्मिक ज्ञान तथा शारीरिक श्रमकी अवहेलना करना सिखाकर व्यक्तिको बलहीन, निराश और बेकार बना देती है। स्थिति इतनी भयावह हो गयी है कि कृषि-स्नातक भी खेतकी मेड़पर जाना पसंद नहीं करते। यदि युवक किसी प्रकार बी० ए०, एम्० ए० पास कर गये तो उन्हें नौकरी चाहिये ही। यह शिक्षा उद्योग अथवा स्वतन्त्र व्यवसायमें जाकर स्वावलम्बी बननेका जोखिम उठानेके लिये उन्हें तैयार ही नहीं करती। यहाँतक कि डॉक्टर और इंजीनियरकी डिग्रीधारी युवकोंकी भी यही स्थिति है। बेकारोंकी फौजके सामने जीवनके लिये कोई आदर्श उद्देश्य नहीं है। उनके सामने तोड़-फोड़, प्रदर्शन, घेराव, हड़ताल, लूट-मारके सिवा और कोई काम नहीं रह जाता। शिक्षाने स्वावलम्बी बनाया नहीं, 'डिग्निटी आफ लेबर' का पाठ पढ़ाया नहीं, फिर अनुशासनहीन, आत्मविश्वास-रहित मनसे टूटा हुआ, तनावग्रस्त व्यक्ति कौन-सा काम कर सकता है?

प्रचलित अंग्रेजी शिक्षाके कारण हमारे सामने दो ही विकल्प हैं। यदि हम उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आबादीकी माँगके अनुरूप स्कूल, कालेज खोलकर शिक्षाका प्रसार करते हैं तो शिक्षित बेकारोंकी संख्या बढ़ती है और यदि इसके विपरीत पर्याप्त समुचित साधनके अभावमें करोड़ों व्यक्तियोंको शिक्षासे वञ्चित रखते हैं तो देशमें मूर्ख और अन्धविश्वासी व्यक्तियोंकी संख्या बढ़ती है। कहना नहीं होगा कि शिक्षित बेकारोंकी फौज अथवा मूर्ख नागरिकोंकी भरमार दोनों ही विकल्प हमारे नवोदित लोकतन्त्रके लिये घातक हैं, ऐसी स्थितिमें महात्मा गाँधीने यह अनुभव किया कि वर्तमान शिक्षा-पद्धतिमें आमूल-चूल परिवर्तन करना हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता है।

बुनियादी शिक्षाका उद्देश्य

बुनियादी शिक्षाका उद्देश्य है नागरिकोंका चरित्र-निर्माण करना। इसका उद्देश्य मात्र साक्षर बनाना नहीं, अपितु कर्मके माध्यमसे सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति है, जिसमें मनुष्यके हस्तकौशलके विकासके साथ-साथ उसके मानसिक और आध्यात्मिक सभी प्रकारकी शक्तियोंका विकास सम्भव हो सके। गाँधीजी लिखते हैं—'मैं यह मानता हूँ कि मस्तिष्क और आत्माका सर्वोच्च विकास शिक्षाकी इस व्यवस्था (हस्तकर्म) से सम्भव है। आवश्यकता इस बातकी है कि हस्तकर्मकी शिक्षाको आजकी भाँति यान्त्रिक तरीकेसे न देकर वैज्ञानिक पद्धतियोंसे दिया जाय अर्थात् बच्चेको 'क्यों और कैसे'का ज्ञान प्रत्येक प्रक्रियाके लिये मालूम होना चाहिये।' गाँधीजीने इस तथ्यपर विशेष जोर दिया कि महान् लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक व्यक्तिमें साहस, शक्ति, सद्गुण, आत्मानुभव तथा सेवाभावका पूर्णरूपेण विकास किया जाय।

बुनियादी शिक्षा और समवाय-पद्धति

समवाय-पद्धतिमें ज्ञान और कर्म दोनोंका पारस्परिक समन्वय स्थापित किया जाता है। कार्यसे अलग न तो बुद्धिका विकास सम्भव है न बुद्धि-विवेकके बिना कार्य सम्पन्न हो सकता है। जबतक शरीर, मस्तिष्क और आत्माका विकास एक साथ नहीं हो जाता, तबतक केवल बौद्धिक विकास एकाङ्गी होगा। अतः शिक्षणका माध्यम वातावरणकी प्राकृतिक वस्तु तथा उत्पादक कर्मका होना आवश्यक है। कार्यके माध्यमसे शिक्षा देनेसे बच्चोंके लिये यह खेलका आनन्द देनेके साथ-साथ उनके संवेगों, व्यवहारों तथा प्रवृत्तियोंको तुष्ट करता है और बच्चा विशुद्ध शैक्षणिक तथा सैद्धान्तिक प्रशिक्षणके भारसे मुक्त हो जाता है।

बुनियादी शिक्षा और आत्म-निर्भरता

बुनियादी शिक्षा-पद्धतिमें 'प्रकृति, पड़ोस, पेट तथा परमात्मा' के साथ अनुबन्ध स्थापित करनेका प्रयास किया

जाता है, अतः इससे जीविका भी मिलती है और जीवन भी सुधरता है। अंग्रेजी शिक्षा-पद्धतिकी उपज बेकारीकी समस्याको दूर करनेकी यह बहुत बड़ी बीमा है। इस शिक्षा-पद्धतिमें विद्यालय और उद्योगका आपसमें सहयोग होनेसे बुनियादी शिक्षण-संस्थाएँ आर्थिक क्षेत्रमें सरकार और पूँजीपतियोंके नियन्त्रणसे मुक्त रहकर स्वावलम्बी बन जाती हैं और उनपर संकुचित सम्प्रदाय या दलगत राजनीतिका प्रभाव पड़नेका भय नहीं रहता। इस शिक्षा-पद्धतिमें शिक्षकोंकी स्वतन्त्र हस्तीको स्वीकार किया गया है। इसे पूर्ण स्वायत्तता प्रदान की गयी है।

बुनियादी शिक्षामें शिक्षककी भूमिका

बुनियादी शिक्षा-पद्धति सफलतापूर्वक लागू करनेके लिये प्रतिभाशाली कुशल चरित्रवान् और आस्थावान् शिक्षक चाहिये। बुनियादी शिक्षाको असली रूप देनेके लिये आचार्य विनोबा भावेने 'आचार्यकुल'के गठनपर बल दिया है। 'आचार्यकुल' अर्थात् ऐसे शिक्षकों, आचार्योंका परिवार, जो आचार और विचार दोनों दृष्टियोंसे समाजके लिये अनुकरणीय हों। शिक्षकोंके आवश्यक गुणके विषयमें विनोबा भावेजी लिखते हैं—'ज्ञानकी उपासना करना, चित्त-शुद्धिके लिये प्रयत्न करना, विद्यार्थियोंके लिये वात्सल्यभावना रखकर उनके विकासके लिये सतत प्रयास करते रहना, सारे समाजके सामने जो समस्याएँ आती हैं, उनपर तटस्थ-भावसे चिन्तन करके सर्वसम्मतिका निर्णय समाजके सामने रखना और समाजको इस प्रकारका मार्गदर्शन देते रहना आदि कार्य जो हम करने जा रहे हैं वह एक परिवारकी स्थापनाका ही काम है।' इस प्रकार विनोबा भावेके अनुसार बुनियादी शिक्षा-पद्धतिके अन्तर्गत शिक्षकमें तीन गुणोंका होना अति आवश्यक है—विद्यार्थियोंपर प्रेम, वात्सल्य और अनुराग, निरन्तर अध्ययनशीलता और तटस्थता तथा दलगत राजनीतिसे मुक्ति। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा-पद्धतिमें शिक्षकपर सर्वोदय समाजके निर्माणका दायित्व सबसे अधिक है। समाज, राष्ट्र अथवा विश्वमें शिक्षासे बढ़कर शान्ति-स्थापनाका कोई दूसरा अस्त्र नहीं हो सकता।

यह विडम्बना ही कही जा सकती है कि अपने देशकी संस्कृति, सभ्यता, अध्यात्म, कला-कौशल, जनसंख्या, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक स्थिति आदि सभी दृष्टियोंसे अनुकूल होते हुए भी 'बुनियादी शिक्षा-पद्धति'को यहाँ जो महत्त्व मिलना चाहिये वह नहीं मिल रहा है। इसका एक प्रमुख कारण है हमारी गुलामी मानसिकता। भारतीय जीवनपर अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजियत, अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी सभ्यता आदिने इतना अधिक प्रभुत्व जमा लिया है कि स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद अपना शासन-प्रबन्ध होनेके बावजूद अपने देशके स्कूली वातावरण, पाठ्य-क्रम, शिक्षक एवं शिक्षाके माध्यमपर अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति पूरी तरह हावी है। परिणाम यह है कि **'सा विद्या या विमुक्तये'**के अनुसार जिस विद्यासे हमें मुक्ति मिलनी चाहिये वह **'मुक्तये'** न होकर **'भुक्तये'** हो गयी है। किंतु हमें इस चक्रव्यूहको तोड़ना होगा। राष्ट्रके शरीर, मेधा और आत्मासे सम्बन्धित शक्तियोंका पूर्णरूपेण सर्वाङ्गीण विकास करना है तो 'बुनियादी शिक्षा-पद्धति'को सही परिप्रेक्ष्यमें अपनाना होगा।

अभिवादनका फल

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २।१२१)

'जो नित्य प्रणाम करनेके स्वभाववाला और वृद्धोंकी सेवा करनेवाला है, उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चार बढ़ते हैं।'

चारित्रिक विकासके पथपर—स्काउट-गाइड-आन्दोलन

[एक सहशैक्षिक कार्यक्रम]

(डॉ॰ श्रीरामदत्तजी शर्मा, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰डी॰, डी॰ लिट्॰, साहित्याचार्य)

शिक्षा-जगत्में विश्वभरमें बालक-बालिकाओंके चारित्रिक तथा शारीरिक विकास और कलाकौशल तथा सेवा-भावनाके प्रशिक्षणके लिये स्काउट-गाइड-आन्दोलन पिछले ८० वर्षसे सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है। सन् १९०८ई॰में लगाया गया यह अंकुर आज विशाल वटवृक्षके रूपमें विश्वभरमें बाहरी जीवन और सेवाके माध्यमसे विश्वभ्रातृत्वकी भावना फैला रहा है। शिक्षाके क्षेत्रमें एक पूरक और सहशैक्षिक कार्यक्रमके रूपमें ऐसा कोई अन्य विश्वव्यापी कार्यक्रम नहीं है। आइये, इस महान् शैक्षिक कार्यक्रमका हम परिचय प्राप्त करें।

सन् १८७६ई॰में एक युवक अंग्रेज सेनाधिकारी भारत आये और लगभग दस वर्षतक उन्हें भारतमें रहने और यहाँके जीवनका गहन अध्ययन करनेका अवसर मिला।



लार्ड बेडनपावल आफ गिलवेल

गुरुकुल-आश्रम-प्रणाली और सेवाभावी युवकोंकी कार्य-प्रणालीका उन्हें हरिद्वारके जंगलोंमें एक भारतीय महात्माके आश्रममें दर्शन हुआ। उससे प्रेरणा लेकर यही बीज १९०८ई॰में इंग्लैंडके ब्राउन-सी द्वीपपर एक बाल-शिविरके रूपमें अंकुरित हुआ और इस प्रकार फैला कि ८० वर्षसे यह 'स्काउट-गाइड-आन्दोलन' (संगठन) के नामसे सारे संसारमें फैल गया। उन अंग्रेज सेनाधिकारीका नाम था—'बेडनपावल', जो 'मेफकिंगके योद्धा' तथा 'लार्ड बेडनपावल ऑफ गिलवेल' के रूपमें सम्मानित हुए।

इंग्लैंडसे बाहर इस संगठनके प्रसारके बावजूद जब अंग्रेज इसे भारतीय बालकोंके लिये आरम्भ करनेके लिये सहमत न हुए, तब कुछ निष्ठावान् भारतीय सज्जनोंने स्वतन्त्ररूपसे स्काउट-दल खोले, जिनमें पं॰ श्रीराम बाजपेयी



महामना पं॰ श्रीमदनमोहन मालवीय

तथा डॉ॰ अरुंडेलके नाम अग्रणी हैं। बादमें श्रीमती एनीबेसेंटने दक्षिण भारतमें तथा महामना मालवीयने डॉ॰ हृदयनाथ कुंजरू और श्रीराम बाजपेयीके सहयोगसे उत्तर भारतमें स्वतन्त्र स्काउट-संघ आरम्भ किये। इससे अंग्रेजोंको भी झुकना पड़ा। अनेक परिवर्तनोंकी लम्बी कहानीके पश्चात् स्वतन्त्रता-प्राप्तिपर इन संघोंका एकीकरण कर 'भारत स्काउट एवं गाइड' संगठन ७ नवम्बर १९५०ई॰को बनाया गया, जिसका नेतृत्व डॉ॰ कुंजरू और पं॰ श्रीराम बाजपेयीको सौंपा गया। आज यह संगठन पूरे भारतमें फैला हुआ है और श्रीलक्ष्मणसिंह इसके राष्ट्रिय कमिश्नर हैं, जिनके सफल नेतृत्वमें लगभग पंद्रह लाख

बालक-बालिकाएँ इस चरित्र-विकास और भ्रातृत्वके मिले-जुले खेलका आनन्द ले रहे हैं। वे 'सेवाके लिये तत्पर रहनेकी चेष्टा करने' का मूलमन्त्र लिये इस खेलद्वारा सर्वाङ्गीण विकासकी ओर आगे बढ़ रहे हैं।

"वास्तवमें 'स्काउटिंग-गाइडिंग' बाहर प्रकृतिमें खेलनेका एक आनन्ददायक खेल है, जिसमें प्रौढ़-नेतृत्वमें बालक-बालिका एक साथ बड़े और छोटे भाईके रूपमें साहसिक नवीन अभ्यासोंमें लग सकते हैं तथा आनन्द, कला-कौशल और परोपकार सीख सकते हैं।" (बेडनपावल)

स्काउट-गाइड-प्रशिक्षण चतुर्मुखी शिक्षाकी एक योजना है, जो विश्वभरके प्रजातान्त्रिक देशोंमें सर्वत्र सफल और साकार सिद्ध हुई है। इसमें—(१) चारित्रिक विकासके लिये—स्काउट-गाइड-नियम-प्रतिज्ञा, स्काउट-भावना, मूलमन्त्र, प्रकृतिका ज्ञान और सम्मान, पशुओंसे मित्रता, दूसरोंकी सेवा एवं सहायता, टोली-विधिमें पारस्परिक सहयोगकी भावना आदिद्वारा बालक-बालिकाओंको आगे बढ़ाया जाता है। (२) शारीरिक स्वास्थ्य और बलके विकासके लिये—व्यक्तिगत स्वास्थ्यकी स्वयं देखभाल करनेकी आदत, मादक पदार्थोंसे परहेज, ब्रह्मचर्यका पालन, प्रकृतिकी गोदमें शिविर-जीवन, खेलकूद, तैरना, भ्रमण, पर्वतारोहण आदि अनेक अभ्यासोंका सहारा लिया जाता है। (३) हस्तकला और कलाकौशलके विकासके लिये—शिविर-जीवन, पर्यटन, वनविद्याके अभ्यास, हस्तकला और रुचिकार्य सीखनेके अवसर, पदचिह्नोंद्वारा खोज, जंगलकी खोज, तारोंका ज्ञान, पशु-पक्षियोंका अध्ययन और वन, भूमि तथा जीव-संरक्षण और पर्यावरण-संरक्षणकी परियोजनाओंके कार्यक्रम सक्रियरूपसे आयोजित किये जाते हैं। (४) दूसरोंके प्रति सेवा-भावनाके विकासके लिये स्काउट-गाइड-प्रतिज्ञा और नियमका पालन, प्रार्थना-सभा, प्रतिदिन एक भलाईका काम करना, प्राथमिक चिकित्साका गहन प्रशिक्षण, दुर्घटनाओं और अग्निकाण्डोंमें सेवा, युद्धके समयके लिये नागरिक-संरक्षाकी तैयारी, अस्पतालों और मेलोंमें सेवाकार्य, श्रमदान तथा अनेक प्रकारके सेवा-कार्योंके द्वारा बालक-बालिकाओंको ईश्वर तथा धर्मके प्रति सम्मान करने और मानवता तथा जीव-मात्रके प्रति सेवा और सहानुभूतिसे ओतप्रोत बनाया जाता है।



भारतमाता और स्काउट

स्काउट-गाइड-प्रशिक्षणका मूलाधार है—'स्काउट-गाइड-नियम-प्रतिज्ञाका पालन।' प्रत्येक स्काउट-गाइड दीक्षाके समय यथाशक्ति—(१) ईश्वर एवं देशके प्रति कर्तव्य पालन करने, (२) सदा दूसरोंकी सेवा करने और (३) स्काउट-गाइड-नियमोंका पालन करनेकी तीन प्रतिज्ञाएँ करता है और तीन खड़ी अंगुलियोंसे प्रणाम करता और गणवेश धारण करता है। दस नियमोंको एक पद्यमें व्यक्त किया गया है, जो इस प्रकार है—

विश्वसनीय,[१] वफादार,[२] सहायक,[३]
बन्धु,[४] विनम्र,[५] दयालु,[६] हम।
आज्ञाकारी,[७] वीर-प्रसन्नचित्त[८]
मितव्ययी,[९] शुद्ध समीर-सम[१०]॥

—ये दस नियम मानवताके अनमोल रत्न तथा सब धर्मोंके सारपर आधारित हैं, जो बालक-बालिकाओंके सर्वाङ्गीण विकासकी आधारशिला हैं।

इस संगठनमें आयु और कार्यक्रमके आधारपर तीन शाखाएँ हैं—(१) ६ वर्षसे ११वर्षके 'वीर बालक' या 'वीर बाला', (२) ११वर्षसे १६वर्षतकके 'बालचर' (स्काउट या गाइड) तथा (३) १६ वर्षकी आयुसे ऊपरके युवक 'रोवर स्काउट' या 'रेंजर गाइड' कहलाते हैं। इनका प्रगतिशील और श्रेणीबद्ध कार्यक्रम है, जिसमें

दक्षता प्राप्त करनेपर अनेक प्रकारके बैज (पदक) दिये जाते हैं। भारतमें सर्वोच्च पदक 'राष्ट्रपति-स्काउट-गाइड' बैज या अवार्ड है, जो स्वयं राष्ट्रपति प्रदान कर बालक-बालिकाओंको प्रोत्साहित एवं सम्मानित करते हैं।

आजकल ग्रामीण अञ्चलोंमें 'ग्रामीण स्काउटिंग'की विशेष योजना चलायी जा रही है। समुद्री-स्काउटिंग और नभ-स्काउटिंगकी शाखाओंके नमूनेपर भारतके राजस्थान राज्यमें 'मरु-स्काउटिंग' की एक नवीन शाखाका प्रादुर्भाव हुआ है, जिसके योजनाकार और प्रवर्तक होनेका श्रेय राजस्थानके एक उत्साही स्काउट-कमिश्नर श्रीकृष्णदत्त शर्माको मिला है और विश्व-स्काउटिंगके क्षेत्रमें यह भारतका अमूल्य योगदान माना गया है। इस प्रकार अपनी विविध विधाओं और रचनात्मक कार्यक्रमोंके द्वारा यह स्काउट-गाइड-संगठन विश्वभरके स्काउट और गाइडके भ्रातृत्वमें सम्मिलित होकर वर्तमान शिक्षाके सम्पूरकके रूपमें अपने बालक-बालिकाओंको अपने देशके सुनागरिक



श्रीकृष्णदत्त शर्मा

बननेकी ओर अग्रसर कर रहा है। इस वर्ष संसारभरके स्काउट इस महान् आन्दोलनकी अस्सीवीं जयन्ती मना रहे हैं और वे सब इस विचारपर आगे बढ़ रहे हैं कि—

अपनी नौका खेओ आप।



शिक्षा और संग्रहालय

(श्रीशैलेन्द्रकुमारजी रस्तोगी)

'शिक्षा' मानव-जीवनमें कभी भी समाप्त नहीं होती। उपदेश तो स्कूलके बाद नहीं मिलते, किंतु शिक्षा जीवनके साथ ही समाप्त होती है। 'शिक्षा' शब्द 'शिक्ष' धातुमें अ+'टाप्' प्रत्यय लगाकर बना है, जिसका अर्थ है अध्ययन। इस विश्वको शिक्षालय कहा गया है। Museum को संग्रहालय कहते हैं। ग्रीक मतमें 'Muse' ज्ञानकी देवीको कहते हैं, जिसका अर्थ हुआ 'ज्ञानालय'। 'संग्रह' इकट्ठा करनेको कहते हैं। वह स्थान जहाँ वस्तुएँ इकट्ठी हों। संग्रहालयमें मात्र वस्तुओंका एकत्रित होना ही पर्याप्त नहीं है। वस्तुएँ तो व्यापारी या दूकानदारके यहाँ भी एकत्रित होती हैं, किंतु वह संग्रहालय नहीं है।

अस्तु, संग्रहालय वह स्थान है, जहाँ संग्रह हो और वस्तुएँ भी शिक्षात्मक ढंगसे प्रदर्शित हों। प्रायः बड़े संग्रहालयोंमें कठिनाईसे दस प्रतिशत वस्तुएँ ही जनताके दर्शनके लिये वीथिकाओंमें सजायी जाती हैं।

संग्रहालयमें बाल, युवक, वृद्ध, स्त्री-पुरुष, स्वदेशी-विदेशी, साक्षर-निरक्षर—सभी आते हैं और यदि वे रुचिसे देखें तो यहाँ उनका ज्ञानवर्द्धन (शिक्षा) एवं मनोरञ्जन दोनों ही होते हैं। यहाँ देखकर और उसके विषयमें प्रदर्शक व्याख्याताओंकी व्याख्या या लिखी परिचय-पट्टिकाओं या बड़े संग्रहालयोंमें वीथिकाओंकी रनिंग कमेन्ट्री सुनकर दोहरा प्रभाव पड़ता है।

संग्रहालय राष्ट्रिय, प्रान्तीय, व्यक्तिगत (नेहरू), आञ्चलिक, विद्यालय, विश्वविद्यालय, मेडिकल कालेज आदिद्वारा संचालित होते हैं, किंतु सभीका उद्देश्य दर्शकोंको

उद्बोधित करना होता है। संग्रहालयके द्वारा राष्ट्रियता, संस्कृति, कला, विज्ञान, भूगोल, इतिहास—सभीकी शिक्षा दे सकते हैं। टेकनिकल शिक्षाको भी संग्रहालयद्वारा दे सकते हैं। बंगलोर और चण्डीगढ़में ऐसे ही दो विशेष संग्रहालय हैं।

शहीदोंके चित्रों तथा उनके उपयोगमें आयी हुई वस्तुओंको प्रदर्शित कर दर्शकोंमें देश-प्रेम जाग्रत् किया जा सकता है। बापू, चन्द्रशेखर आदिके उपयोगमें आये खादी वस्त्र, बंदूक आदिको देखकर कौन उद्वेलित नहीं हो जाता है? उनपर किये गये अत्याचारोंको चित्रोंमें देखकर किसे रोमाञ्च नहीं हो जाता है?

यदि संग्रहालयमें कोई मूर्तियोंको देखता है तो उनपर बने वस्त्र, आकृति आदिको देखकर उस कालकी सभ्यता, रहन-सहन आदिका सजीव ज्ञान प्राप्त होता है, जो मात्र पुस्तकोंको पढ़कर नहीं प्राप्त हो सकता। मूर्तियोंमें ही देशी-विदेशी लोगोंको देखकर उनके नाक-नक्शे, वेश-भूषाका परिचय प्राप्त होता है। गुप्तकालीन या कुषाणकालीन सिक्कोंको देखकर राजाओंकी तत्कालीन वेश-भूषा, आर्थिक स्थिति आदिका ज्ञान होता है। देव-मूर्तियोंपर रौद्र एवं सौम्य भावको देखकर उनके आन्तरिक भावको पढ़ा जा सकता है। शिवकी अनुग्रह-मूर्ति, प्रचण्ड ताण्डव-मूर्ति, महिषमर्दिनीकी मूर्ति या वर देती हुई सरस्वतीकी मूर्ति—इन सभीसे इनके मनोभावोंकी स्थिति ज्ञात होती है। यक्ष, किन्नर, गुह्यक, वामनक आदिकी आकृतियाँ भी अपनी विशेषताओंसे जानी जाती हैं।

मेरे ज्ञानमें दो ऐसी प्रतिमाएँ हैं, जो विद्यार्थी एवं शिक्षककी हैं। ये क्रमशः राष्ट्रिय संग्रहालय नयी दिल्ली एवं राज्य-संग्रहालय लखनऊमें हैं। प्रथम मिट्टीपर एक बालकका अङ्कन है, जो तख्तीपर अक्षराभ्यास कर रहा है। द्वितीय मूर्ति मथुरासे प्राप्त लगभग १९०० वर्ष पुरानी पुरुषकी बैठी मूर्ति है, जिसने बायें हाथसे घुटनेपर रखी पोथी पकड़ रखी है और दायाँ हाथ स्पष्ट मुद्रा बता रहा है, जैसा कि वेद-पाठ करनेवाले आज भी करते हैं। मुनि, साधुओंके आश्रमके अङ्कनोंसे भी उस समयकी धार्मिक एवं सामाजिक स्थितिका भान होता है। धर्मका स्थायित्व कलासे ही प्राप्त होता है। ग्रन्थोंमें प्रत्येककी गति सम्भव नहीं। यही कारण है कि इन प्रतिमाओं एवं देवालयोंके द्वारा ही भारत ही क्यों, सारे विश्वके धर्म, संस्कृति आदि भी बच सके हैं। अस्तु, मेरे विचारसे शिक्षाका सशक्त माध्यम संग्रहालय ही हैं। ये भारतमें ही शिक्षाके माध्यम नहीं हैं, अपितु सम्पूर्ण विश्वमें इन्हें शिक्षका एक अप्रतिम माध्यम माना जा सकता है।



विश्वकी सबसे बड़ी परीक्षा-संस्था—माध्यमिक शिक्षा-परिषद्

[एक परिचय]

यदि आँकड़ोंको विकासका पैमाना माना जाय तो उत्तर-प्रदेश माध्यमिक शिक्षा-परिषद्ने एक कीर्तिमान स्थापित किया है। आज यह परिषद् परीक्षा संचालित करनेवाली विश्वकी एक सबसे बड़ी संस्था बन गयी है।

यह परिषद् सन् १९२१ ई०में यूनाइटेड प्राविन्स लेजिसलेटिव कौंसिलके अधिनियमके अन्तर्गत प्रयागमें गठित हुई। तब परीक्षार्थियोंकी संख्या नगण्य थी। सन् १९२५ई०में केवल ६४ परीक्षार्थियोंने इस परिषद्की परीक्षा दी। तबसे इसकी परीक्षाओंमें लगातार परीक्षार्थियोंकी संख्यामें वृद्धि होती रही है। पहले २५ वर्षोंमें ६४ की संख्या बढ़कर ४६००० हुई, जो १९८६में बढ़कर १८,३९,६३८ हो गयी। देशके किसी भी प्रदेशमें किसी परीक्षामें इतनी बड़ी संख्यामें परीक्षार्थी नहीं बैठते हैं और न विश्वके किसी देशमें ऐसा उदाहरण ही मिलता है।

परिषद्पर कार्यका भार भी इसी अवधिमें दो हजार गुनासे अधिक बढ़ा है। इस कारण परिषद्के केन्द्रीय कार्यालयद्वारा सम्पूर्ण कार्यका निष्पादन सम्भव नहीं रहा और प्रदेशभरके लोगोंको भी यहाँ सीधे सम्पर्क करनेमें कठिनाई हो रही थी। इसे देखते हुए कुछ वर्ष पूर्व परिषद्के चार क्षेत्रीय कार्यालय—मेरठ, वाराणसी, बरेली और इलाहाबादमें खोल दिये गये, जो अपने क्षेत्रके जिलोंका कार्य सँभालते हैं।

इस विभाजनके पश्चात् भी इन क्षेत्रीय कार्यालयोंपर कार्यका भार कम नहीं है। साधारणतया प्रत्येक क्षेत्रीय कार्यालयपर तीनसे छः लाख परीक्षार्थियोंका भार रहता है।

परिषद्के केवल ५८ अधिकारी तथा १४७९ कर्मचारी प्रतिवर्ष लाखों छात्र-छात्राओंकी परीक्षा संचालित करनेका काम सँभालते हैं और भार इतना अधिक होते हुए भी समयपर परीक्षाफल घोषित हो जाते हैं।

परीक्षा-संचालन और परीक्षा-फल घोषित करनेके अतिरिक्त भी परिषद्पर अन्य बहुत-सी महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ हैं। परिषद्के अन्य कार्योंमें प्रमुख हैं—प्रश्नपत्रोंका आकलन और पुस्तकोंका लेखन तथा प्रकाशन, पाठ्यक्रम तैयार करना तथा सामान्य नीति बनाना आदि।

समयके परिवर्तनके साथ परिषद्ने भी अपनी पद्धतिमें कई परिवर्तन और सुधार किये हैं। असफल रहनेवाले परीक्षार्थियोंके लिये पहले जो पूरक परीक्षा होती थी, उसे समाप्त करके अब ग्रेस-स्लैब-प्रणाली प्रारम्भ की गयी है।

इसी तरह परिषद् अब व्यक्तिगत तथा संस्थागत परीक्षार्थियोंके लिये अलग-अलग परीक्षाएँ न आयोजित कर प्रतिवर्ष सभी छात्रोंके लिये १९ मार्चसे ११ अप्रैलतक परीक्षाएँ आयोजित करती है।

परीक्षाओंमें नकल और अनुचित साधनोंके प्रयोगपर रोक लगानेके उद्देश्यसे शीघ्र ही नया कानून लाया जायगा, जिससे परीक्षामें नकल एवं अनुचित साधनके प्रयोगको अपराध माना जायगा। इस कानूनद्वारा अपराधकी गम्भीरताके अनुसार दण्ड देनेका प्रावधान रहेगा। कानून-परिधिमें परीक्षार्थीके साथ-साथ परीक्षक भी आयेंगे। यह कानून सम्प्रति राज्य-सरकारके विचाराधीन है और अतिशीघ्र इसके उपयोगमें आनेकी आशा है।

परिषद् राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिकी आकाङ्क्षाओंके अनुरूप अपनी परीक्षाओंमें गुणात्मक सुधार लानेके लिये भी तत्पर है।

शिक्षा—सामाजिक परिवर्तनके लिये

(डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी)

लोकतन्त्र केवल एक शासन-विधिका नाम नहीं है, वास्तवमें यह एक सर्वाङ्गीण जीवन-दर्शन है। इस जीवन-दर्शनका सर्वोपरि सत्य 'जन' है, इसलिये जन-तन्त्रात्मक समाज-व्यवस्थामें शिक्षाका पहला दायित्व यह है कि वह समाजमें इस प्रकारकी वैचारिक चेतनाको सजीव बनाये, जिससे 'जन'की सत्ता धनी, निर्धन, ऊँच-नीच, लिंग और क्षेत्रीयताके भेदभावोंसे ऊपर प्रतिष्ठित हो सके। जनतन्त्रमें साहित्य, कलाकौशल, ज्ञान-विज्ञान तथा सामाजिक-आर्थिक संरचनाका केन्द्रबिन्दु 'जन' होता है।

भारतीय परम्परामें जन—आजसे हजारों वर्ष पहले ऋग्वेदने 'जन'की व्याख्या इन शब्दोंमें की थी—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास
उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो
दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥
अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।

युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा
पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥[१]
(५।५९।६, ५।६०।५)

वास्तवमें महर्षि वेदव्यासके शब्दोंमें **'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्'** अथवा महाकवि चंडीदासके शब्दोंमें ***'सबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपरे नाई'*** रूप 'जन' विश्वका सबसे बड़ा ऐतिहासिक सत्य है। जैसे-जैसे सभ्यताका विकास हो रहा है, 'जन'की विराट् सत्ता सारे विश्वमें प्रखर होती जा रही है। विश्वके सभी देश इस महिमामय 'जन'की सत्ताको स्वीकार कर चुके हैं।

सांस्कृतिक स्वतन्त्रताके लिये शिक्षा— शताब्दियोंसे विदेशी संस्कृतिके प्रभुत्वने हमारी संस्कृतिपर प्रहार किया है और उसने हमारे गाँवोंकी संस्कृतिको गँवारू और असभ्य कहा है। आज जो गाँवका विद्यार्थी पाश्चात्त्य संस्कृतिकी चकाचौंधमें भ्रान्त होकर महानगरोंकी ओर दौड़ रहा है, उसमें आत्म-विश्वास जगाना शिक्षाका ध्येय है। भारतकी आत्मा ग्राम्यजीवनमें ही है। इसलिये भारतकी आत्माका साक्षात्कार जनपदीय अध्ययनसे ही सम्भव है। पुस्तकोंसे जो कुछ जाना जा सकता है, वह उस तत्त्वसे बहुत दूर हैं, जो सचमुच जाननेयोग्य है। अपने सांस्कृतिक मर्मस्थानोंको पुनः स्वस्थ बनानेके लिये लोक-जीवनके अध्ययनके अतिरिक्त हमारे सामने कोई विकल्प नहीं है। जनपदीय अध्ययनके द्वारा हम न केवल अपने जन्म-सिद्ध संस्कारोंके साथ फिरसे जुड़ जायँगे, अपितु अपने उन पूर्वजोंकी परम्पराके साथ भी हमारा मन एकरस हो जायगा, जो जनपदीय जीवनके सच्चे प्रतिनिधि थे। नयी शिक्षा-प्रणालीमें जैसे साइंटीफिक एटीट्यूडके विकासकी बात कही गयी है, वैसे ही जनपदीय दृष्टिकोणका विकास हमारी शिक्षाका महान् दायित्व है।

विडम्बना— यह कैसी विडम्बना है कि हमारी शिक्षा-नीतिके विधाता यूरोपका शिक्षा-सर्वेक्षण तो कर आते हैं, परंतु उन ग्रामोंमें कुछ दिनों अपना जीवन व्यतीत करके ग्राम्यजीवनकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक परम्पराओं और आवश्यकताओंका सर्वेक्षण करनेमें कठिनाईका अनुभव करते हैं, जिनमें हमारे देशकी अस्सी प्रतिशत जनताका निवास है। समय आ गया है कि हम इस दृष्टिकोणमें परिवर्तन करें। अब आवश्यकता है कि नये विश्वविद्यालय गाँवोंमें स्थापित किये जायँ।

आर्थिक विषमता मिटानेके लिये सम्पूर्ण क्रान्ति— आजकी हमारी अर्थव्यवस्थामें चरित्रका कोई मूल्य नहीं है; क्योंकि समाजमें व्यक्तिको चरित्रके कारण नहीं, धनके कारण सम्मान मिलता है। इसलिये धनकी स्पर्धा बढ़ती है। वेदव्यासके शब्दोंमें बिना दूसरोंके मर्मका भेदन किये तथा बिना दुष्कर कर्म किये बड़ी पूँजी प्राप्त नहीं होती—

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥
(महा० शा० प० राजधर्मानुशासन १२)

इसीलिये श्रीमद्भागवतमें उन्होंने राज्यके लिये स्पष्ट शब्दोंमें यह व्यवस्था दी थी कि 'पृथ्वी, अन्तरिक्ष, प्रकृति दिव्य हैं। उनके द्वारा उत्पन्न सभी प्रकारकी सम्पत्तियाँ ईश्वर-प्रदत्त हैं। उनपर किसी व्यक्तिका अधिकार नहीं है। मनुष्योंका अधिकार केवल उतने ही धनपर है जितनेसे उनकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्तिको अपना समझनेवाला व्यक्ति चोर है तथा वह शासनके द्वारा दण्डित किये जाने योग्य अपराधी है[२]।' मनुने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि आयके साधनोंकी पवित्रता

---

१. ये सब परस्पर बड़े नहीं, छोटे भी नहीं हैं, परंतु वे सब-के-सब उदय प्राप्त करनेवाले हैं। इसीलिये उत्साहके साथ विशेष रीतिसे बढ़नेका प्रयत्न करते हैं। ये सब जन्मसे कुलीन और भूमिको माता माननेवाले हैं। ये सब भाई-जैसे हैं तथा उत्तम ऐश्वर्यके लिये मिलकर उन्नतिका प्रयत्न करते हैं। इन सबका तरुण पिता उत्तम कार्य करनेवाला ईश्वर है। इसके लिये उत्तम प्रकारका दूध देनेवाली माता प्रकृति है।

२. दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्। तत् सर्वमुपभुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः॥
यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥ (श्रीमद्भा० ७।१४।७, ८)

ही सर्वोपरि है, बार-बार स्नान करनेसे कोई पवित्र नहीं होता—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनु० ५।१०६)

परंतु पैसेकी स्पर्धा हमारे देशकी इन महती परम्पराओंपर उसी प्रकार अट्टहास कर रही है, जिस प्रकार एक दिन अंगदकी शिक्षापर रावणने अट्टहास किया था।

स्वतन्त्रताके बाद विश्वविद्यालयोंकी संख्यामें भारी वृद्धि हुई है, किंतु प्रश्न यह है कि नौकरियोंके लिये निर्धारित कागजी योग्यताका कोरम पूरा करनेके लिये डिग्रियाँ बाँटनेके अतिरिक्त इन विश्वविद्यालयोंने समाजके लिये क्या योगदान किया? हमारे आध्यात्मिक-सांस्कृतिक मूल्योंकी रक्षाके लिये उन्होंने क्या किया? जिन सामाजिक समस्याओंका सामना पूरे राष्ट्रको करना पड़ रहा है, उनके समाधानके लिये इन महान् संस्थाओंने क्या किया? इतना धन व्यय करनेके बाद विज्ञान, साहित्य और संस्कृतिके क्षेत्रमें विश्वविद्यालयोंकी वास्तविक उपलब्धियोंका लेखा-जोखा लेना आवश्यक है। विश्वविद्यालय समाजके मस्तिष्क हैं। क्या उनका यह कर्तव्य नहीं कि वे अपने सेवित क्षेत्रके निवासियोंकी बौद्धिक समस्याओंके संदर्भमें उनका सहयोग करें?

शिक्षाओंका दूसरा रूप—इसके विपरीत शिक्षाका दूसरा रूप वे बहुसंख्यक छोटे-छोटे विद्यालय हैं, जो दरिद्रताके आसरेमें पड़े हैं। जहाँकी छत और दीवारें प्रायः मौत बनकर खड़ी देखी जाती हैं। जहाँ अर्थाभावके कारण इतर व्यवस्थामें लगे हुए अध्यापकोंके पास विद्यार्थीको भलीभाँति शिक्षित करनेका समय नहीं है।

बौद्धिक-मानसिक दासता—हमारी वर्तमान शिक्षामें बौद्धिक दासताकी जड़ें गहरी हैं, जिनके कारण आधुनिक शिक्षित व्यक्ति अपने गाँवसे और गाँवकी जीवन-परम्परासे पृथक् हो जाता है; क्योंकि यह शिक्षा प्रत्येक विषयको इस प्रकार प्रस्तुत करती है, जैसे सब कुछ आयातित हो तथा शिक्षार्थकि मनमें अपने परिवेशके प्रति हीनताका भाव भर देती है। केवल आधुनिक वैज्ञानिक विषय ही नहीं, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, मानवविज्ञान आदि विषय भी हॉब्स, मार्क्स, अरस्तू, लौक, एडम्स, पेस्तालान्सी, जी० एच० थामसन, नन, रॉस आदिके विचारोंके साथ न जाने मनु, वसिष्ठ, कौटिल्य, व्यास, कपिल, कणाद, पाणिनि, चरक, शंकर, वल्लभ आदिके विचारोंको समझने-समझानेका प्रयास क्यों नहीं करते? हमारे विषयोंका विभाजन नितान्त अवैज्ञानिक है। एक व्यक्ति ज्यामितिकी कठिन निर्मेय-प्रमेय और त्रिकोणमितिके प्रश्न कर लेगा, परंतु प्रतिदिन व्यवहारमें आनेवाले हिसाबमें चक्कर खायेगा। गणितमें आज भी शोषक संस्कृतिकी व्याज-प्रणाली बड़ी रुचिसे समझायी जाती है। शिक्षाके नामपर जो जानकारियोंका ढेर छात्रको लेनेको कहा जाता है वह जीवनकी सचाईसे बहुत दूर है। इसी प्रकारके अध्ययनका परिणाम यह है कि सामान्य विद्यार्थीमें समाजका उपकार करनेकी क्षमता तो पर्याप्त दूरकी बात है, वह अपने जीवन, स्वास्थ्य और परिवार-जीवनके प्रति भी जागरूक नहीं बन पाता। वह विद्यालय आता है, परंतु उसमें सत्यको समझनेकी वृत्तिका विकास नहीं हो पाता। इसका कारण भारतकी धरतीसे शिक्षाका सम्बन्ध टूट जाना है।

जनपदीय दृष्टिकोणका अभाव—यह बात उपहासास्पद ही है कि हमारे विद्यार्थी दुनिया भरका हिस्ट्री, सिविक्स और मेथमेटिक्स पढ़ें, पर यदि हमारे किसान उनसे पूछें कि क्या आपने हम लोगोंकी दशाकी छानबीन कर ली? क्या आपको हम लोगोंकी आवश्यकताओंका पूरा आभास है? क्या इस भूमिके कृषि, खनिज पदार्थ, गोवंश, पशु-पक्षी, नदी, पहाड़, वनस्पति आदिके सम्बन्धमें आपको पूरा-पूरा ज्ञान है? हमारे द्रव्य-साधनोंका उपयोग कैसे हो सकता है? कौन-कौनसे उद्योग-धंधोंको हमारे यहाँ आश्रय मिलना चाहिये? तो वे मौन होकर अपने अज्ञानका प्रमाण देंगे।

जन-जागरणकी दुन्दुभि—शैक्षिक क्रान्ति—हमारा जनतन्त्रात्मक समाज दासताके संस्कारोंसे आज भी आबद्ध है। शैक्षिक क्रान्तिके द्वारा हमें उसे जगाना है। जबतक शैक्षिक क्रान्तिद्वारा जनता नहीं जागेगी, तबतक संकीर्ण सिद्धान्तोंके प्रच्छन्न आवरणमें शोषणका चक्र चलता रहेगा।

जन-जागरणके लिये तपस्विनी शैक्षिक क्रान्ति जब सिंहनाद करेगी तभी उसकी ध्वनि सुनकर दूसरोंके खेतोंको चरनेवाले पशु चौकड़ी मारकर भागने लगेंगे। शैक्षिक क्रान्तिके द्वारा मिथ्याभिमानपूर्ण जीवनका खोखलापन स्पष्ट होगा। शिक्षाका दायित्व है कि वह लोगोंको उनकी दैनिक समस्याओंके विश्लेषणकी क्षमता प्रदान करे, जिससे लोग उन समस्याओंको समझ लें जिनके कारण हमारे देशकी अस्सी प्रतिशत जनता दुःख, दैन्य और दरिद्रतासे आक्रान्त है। शैक्षिक क्रान्ति निर्भय बनानेवाले धर्मकी प्रतिष्ठापक है। शैक्षिक क्रान्ति रुढिवादिता, जातीय-प्रान्तीय-साम्प्रदायिक संकीर्णता, अनास्था, भोगवादी जीवनदर्शन और भ्रष्टाचरणके विरुद्ध विद्रोहकी जननी है; क्योंकि समाजमें आज भी वैसी ही हठवादिता और जर्जर मान्यताएँ अपने विभिन्न स्वरूपोंमें जीवित हैं, जिनके विरुद्ध बुद्ध, महावीर, ईसा, कबीर, नानक, स्वामी दयानन्द, तिलक और गाँधीने विद्रोहका स्वर ऊँचा किया था।

मनुष्योंकी बढ़ती संख्या धरतीपर भार बनती जा रही है। चाणक्यनीतिमें एक सूक्ति है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

अर्थात् जिनमें विद्या, तप, दान, गुण, शील और धर्म नहीं हैं, वे मनुष्य-रूपमें पशु हैं और धरतीपर भाररूप ही हैं। सचमुच आज कोटि-कोटि मनुष्य '**साहित्यसंगीत-कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः**'-रूप पशु-जीवनके स्तरसे ऊपर नहीं उठ सके हैं। दिनभर परिश्रम करके कुछ खा-पीकर बच्चोंके साथ सो जाना ही उनका जीवन है और यह जीवन उनकी मजबूरी है। प्रश्न है कि आज भी वे मानवताके महान् संदेशोंसे वञ्चित और मावनताके गौरवसे अनभिज्ञ, कायर और क्लीब क्यों हैं? इसका एकमात्र उत्तर है—अशिक्षा।

दरिद्रता केवल शिक्षासे ही मिटेगी—वास्तवमें गरीब लोग अशिक्षा और अज्ञानमें छटपटा रहे हैं। जिस दिन ये जान जायँगे कि श्रम ही वास्तविक सम्पत्ति है, जिस दिन उनके पूर्वजोंकी वेद, वेदाङ्ग, गीता, पुराण, शिल्प, कला और अध्यात्मकी सम्पत्तिका उत्तराधिकार उन्हें प्राप्त हो जायगा, जिस दिन अनन्त शाखा-प्रशाखाओंसे '**पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्**' (शत० ४।३।४।३) '**प्राजापत्यो वै पूरुषः**' (तैत्तिरीय० ३।२।५।३) का उद्घोष करनेवाले वेदका गुह्यसंदेश उनतक पहुँच जायगा कि—

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति संक्राम॥

(अथर्व० २।११।५)

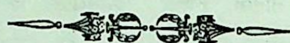
'मनुष्य तू वीर्यवान् है, तेजस्वी है, अपनेमें आनन्दमय है और ज्योतिवाला है, तू श्रेष्ठताको प्राप्त कर।'—उस दिन नया मनुष्य उठ खड़ा होगा। जिस दिन इनमें बीजरूपसे व्याप्त विद्या, तप, ज्ञान, दान, गुण और धर्मको विकसित करनेवाला अनुकूल परिवेश उत्पन्न हो जायगा, उस दिन धरतीका कायाकल्प होगा और मनुष्य पृथिवीपर भार बनकर न रहेगा। जन्मभर घटनेकी समस्या न रहेगी; क्योंकि शिक्षाके द्वारा वे आत्मशक्तिको पहचान जायँगे।

स्वामी विवेकानन्दके अनुसार 'हमारा अन्तिम ध्येय मनुष्यत्वका विकास करना ही है। जिस शिक्षाके द्वारा मनुष्यकी इच्छाका प्रवाह और आविष्कार संयमित होकर फलदायी बन सके, उसीका नाम शिक्षा है। हमारे देशको अब आवश्यकता है लौह-बाहुओं और फौलादी स्नायुओंकी, दुर्दमनीय प्रचण्ड इच्छाशक्तिकी जो सृष्टिके अन्तःस्थित भेदों और रहस्योंमें प्रवेश कर सकें और जो अपने उद्देश्यकी पूर्ति प्रत्येक अवस्थामें करनेको तैयार हों, चाहे उनके लिये उन्हें समुद्रके अन्तस्तलमें जाना पड़े या प्रत्यक्ष मृत्युका सामना करना पड़े। हमें मनुष्यको निर्भीक बनानेवाली शिक्षा चाहिये।'

सम्पूर्ण क्रान्तिका दिन—जिस दिन मनुष्य इस प्रकारकी शिक्षाके द्वारा अपनी सम्पूर्णताको पहचान जायगा, वही दिन विश्वके इतिहासमें सम्पूर्ण क्रान्तिका होगा। विज्ञानने अभी खण्ड सत्य देखा है। सम्पूर्णता खण्डतामें नहीं, अखण्डतामें है। अभीतक हम खण्डित पृथिवी ही देख सके हैं, जो भूगोलके नक्शामें अलग-अलग रंग भरकर दिखायी जाती

है । इन अलग-अलग रंगोंका ही यह रंग है कि विज्ञान संहारशक्तिके सृजनमें लगा हुआ है । जिस दिन विज्ञान इस अखण्डताको देख लेगा, उसी दिन सृजनात्मक शक्ति तेजस्विनी बन जायगी और उस दिन धरतीपर मानवता अपनी अम्लान मुसकानसे आनन्द-ही-आनन्द भर देगी । उसी दिन एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको डरायेगा नहीं । एक मनुष्य दूसरे मनुष्यसे यह नहीं कहेगा कि मैं तुमसे बड़ा हूँ; क्योंकि मैं धनी हूँ । मैं तुमसे बड़ा हूँ; क्योंकि मैं रूसी, अमरीकी, अंग्रेज या भारतीय हूँ । मैं अधिक पवित्र हूँ; क्योंकि मैं हिंदू, मुसलमान, पारसी या ईसाई हूँ ।

विद्ययामृतमश्नुते—वास्तवमें विज्ञानका सच्चा विकास तभी होगा जब मनुष्यकी आत्माका विकास उसपर हावी हो जायगा और भौतिकवाद तथा आध्यात्मिक चिन्तन परस्पर पूरक बनेंगे । इसके लिये भारतकी जीवन-सम्बन्धी उन धारणाओंका अध्ययन करना होगा जिनके पीछे हजारों वर्षोंका अटूट और अविरल चिन्तन है । कितने आक्रान्ती आये, कितने दुर्दान्त शत्रु आये, परंतु जिस देशका चिन्तन कभी घबराया नहीं और जो आज भी जीवित है, हमें उस देशकी संस्कृतिके उन अमृततत्त्वोंको सम्पूर्ण मानवताकी शिक्षामें प्रतिष्ठित करने हैं, जिस देशकी संस्कृति चिर-पुरातन होते हुए भी चिर-नूतन है और समय आनेपर जिसका तेज सारे संसारको अपनी पवित्रतासे जगमगा देता है । जिस देशके अग्रजन्माने विश्वमञ्चपर खड़े होकर कहा था—'ऐ संसारके लोगो ! अपने आचरणकी शिक्षा इस देशमें उत्पन्न मनीषियोंसे ग्रहण करो । इस देशने विद्याको ही सर्वोच्च आदर्श माना था— '**विद्ययामृतमश्नुते** ।'



स्वाधीन भारतमें राष्ट्रिय शिक्षा-नीति—एक अनुशीलन

(पं० श्रीआद्याचरणजी झा)

पराधीन भारतकी शिक्षा-नीति

पराधीन भारतकी शिक्षाका उद्देश्य भारतीयोंको भारतीयतासे विमुख करना, अंग्रेजी भाषाका वर्चस्व स्थापित करना और शिक्षित होनेपर उन्हें राजकीय सेवक बनाना मात्र था । इस उद्देश्यमें वे भरपूर सफल रहे, किंतु दैवयोगसे राष्ट्रमें कुछ ऐसे प्रतिभाशाली उदात्त विचारवाले व्यक्ति सामने आये, जिनके हृदयमें पाश्चात्त्य शिक्षामें दीक्षित होनेपर भी भारतीयताकी भव्य भावना और देश-प्रेमकी उत्ताल तरंगें हिलोरें लेने लगीं । इस प्रकार भारतमें स्वतन्त्रताका वातावरण बनने लगा । परिणामस्वरूप देशव्यापी आन्दोलन, त्याग और बलिदानोंसे देश स्वतन्त्र हुआ ।

पराधीन भारतमें जहाँ शिक्षा-व्यवस्थामें निहित स्वार्थ अन्तर्निहित थे, वहाँ प्राच्य शिक्षापर कोई सीधा प्रहार न था । माध्यमिक कक्षातक संस्कृत, अरबी, फारसी अर्थात् एक प्राच्य भाषा अनिवार्य विषयके रूपमें थी तथा स्नातक कक्षातक अनिवार्य ऐच्छिक विषयके रूपमें थी । प्रान्तोंमें कुछ संस्कृत-विद्यालय, टोल, पाठशालाएँ, मदरसे, मखतब आदि विशुद्ध प्राच्य विद्याकी शिक्षण-संस्थाएँ चलती थीं । आर्थिक दुर्व्यवस्था रहते हुए भी उस समय संस्कृत एवं संस्कृतज्ञोंका सम्मान था ।

स्वतन्त्र भारतकी शिक्षा-नीति

भारत स्वतन्त्र हुआ । असीम उत्साह, अशेष उमंग और अपराजेय देश-प्रेमकी भावनासे राष्ट्रिय ध्वज १५अगस्त १९४७ ई०को फहराया गया और आँखें मूँदकर राष्ट्रिय गान गाये गये । विश्वास था कि अब शीघ्र ही भारतीयता प्रतिष्ठित होगी; किंतु हुआ सर्वथा विपरीत । माध्यमिक कक्षातक संस्कृत आदि प्राच्य भाषाओंको अतिरिक्त ऐच्छिक विषयके रूपमें कर दिया गया, जिसमें ३०से अधिक प्राप्ताङ्कको योगाङ्कमें जोड़कर श्रेणी-निर्धारण होने लगा, परंतु उन अङ्कोंसे प्राप्त श्रेणी किसी भी प्रतियोगिता-परीक्षाके लिये उपयोगी नहीं होगी—यह भी निर्णय साथ ही था ।

सबसे बड़े दुर्भाग्यकी बात तो यह हुई कि राष्ट्रभाषाके रूपमें हिंदीको भी पूर्ण स्थान नहीं मिला। १५ वर्षोंके लिये अंग्रेजी सह-भाषा बनायी गयी, जिसकी अवधि द्रौपदीके चीरकी तरह बढ़ती चली गयी। अब तो चालीस वर्षोंकी स्वतन्त्रताके बाद भी अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजियत, अंग्रेजी-माध्यमके विद्यालयों, पब्लिक स्कूलोंकी संख्या महानगरोंसे लेकर छोटे-छोटे गाँवोंतकमें बढ़ती जा रही है। राष्ट्रस्तरीय प्रतियोगिता-परीक्षा अंग्रेजीके बिना सम्भव नहीं है। बिना अंग्रेजीके ज्ञानके भले ही साक्षर कहा लें, शिक्षित नहीं माने जाते। संस्कृतको अनावश्यक समझा गया अथवा मात्र एक औपचारिक स्थान दिया गया।

शिक्षा-सुधार

स्वाधीनतासे पूर्व भी कुछ शिक्षा-सुधार-समितियाँ बनीं, जिनमें एक डॉ० राधाकृष्णन्‌की अध्यक्षतामें 'राधाकृष्णन्-कमेटी'के नामसे जानी गयी, दूसरी 'मुदालियर-कमीशन' बनी। उनके प्रतिवेदन भी तत्कालीन शासनको मिले, पर वे क्या हुए, कहाँ गये, भगवान् जानें। स्वाधीनताके बाद 'कोठारी-कमीशन' बना। उसने भी पूरी छान-बीन की, प्रतिवेदन दिये। उसपर प्रायोगिक प्रयास भी हुए, आज भी कुछ हो रहे हैं, किंतु कभी भी सही अर्थोंमें राष्ट्रिय शिक्षा-नीति नहीं बन सकी। फलतः अंग्रेजोंके शासनकालकी नीतिपर ही साधारण हेर-फेरके साथ आज भी हम चल रहे हैं। हिंदी माध्यम बनी नहीं और संस्कृतका मान-सम्मान घट गया। भारतीयताकी प्रतीक ये दोनों भाषाएँ उपेक्षित रहीं।

प्राच्य शिक्षा

सन् १९५६ ई० में प्रख्यात शिक्षा-शास्त्री डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जीकी अध्यक्षतामें 'भारतीय संस्कृत-आयोग' बना। इस आयोगने राष्ट्रमें लगभग एक वर्षतक घूम-घूमकर निरीक्षण कर ३० नवम्बर, सन् १९५७ ई०को अंग्रेजी भाषामें लगभग पाँच सौ पृष्ठोंका पुस्तकाकार प्रतिवेदन तत्कालीन भारतके शिक्षा-मन्त्री मौलाना आजादको समर्पित किया। उक्त प्रतिवेदनके आधारपर सन् १९५९-६० ई०में सम्पूर्णानन्दजीद्वारा सर्वप्रथम वाराणसीमें संस्कृत-विश्वविद्यालयकी स्थापना हुई। २६ जनवरी, सन् १९६१ ई०को दरभंगामें दूसरे संस्कृत-विश्वविद्यालयकी स्थापना हुई। अभी-अभी पुरी (उड़ीसा) में तृतीय संस्कृत- विश्वविद्यालयकी स्थापना हुई है। दो तो चिरकालसे चल रहे हैं, किंतु तीसरा गत तीन वर्षोंसे चल रहा है। अन्य भी दो संस्कृत-विश्वविद्यालयोंकी स्थापनाका निर्णय लिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त अेनकानेक केन्द्रिय संस्कृत-विद्यापीठ, राज्य-संस्कृत-शोध-संस्थान आदि भी खुले। संस्कृतोत्थानकी आशा-किरणें फूटीं, किंतु सभी विश्वविद्यालय एवं संस्थान अपने उद्देश्य और लक्ष्यसे दूर होते गये, कोई विकास नहीं हुआ। कुछको छोड़कर शेष अस्ताचलगामी हैं।

विभिन्न प्रयोग

इसी बीच सन् १९४८ ई०से ही महात्मा गाँधीकी बुनियादी शिक्षा-पद्धति चलायी गयी। इसका उद्देश्य तो बड़ा ही पवित्र था, किंतु पता नहीं, वह पद्धति कहाँ विलीन हो गयी। हाँ, दो-चार सौ पदाधिकारी नियुक्त हो गये, कोटि-कोटि रुपये व्यय भी हुए। इसी क्रममें सन् १९५१-५२ ई०से रात्रि-पाठशालाके रूपमें एक 'वयस्क-शिक्षा-योजना' चलायी गयी, वह भी असमय ही कालकवलित हो गयी। पुनः इसी प्रकरणमें सन् १९७८ई०में 'जनताशासन'-कालमें तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाईके प्रयाससे 'अनौपचारिक शिक्षा—वयस्क-शिक्षा-योजना' बड़े वेगसे चली। आज भी वह मात्र कागजपर चल रही है।

नयी शिक्षा-नीति

अब भारतके उत्साही युवा प्रधान मन्त्रीकी उदात्त भावनासे प्रेरित नयी शिक्षा-नीति एक नयी लहर पैदा कर रही है। २१वीं सदीमें जानेके लिये उतावले व्यक्ति इस 'नयी शिक्षा-नीति'की नौकापर चढ़कर सन् १९९० ई०तक इसी दशाब्दीमें २१वीं सदीमें पहुँचनेका स्वप्न देख रहे हैं। बातें बड़ी अच्छी हैं। इस योजनाके प्रसंग अंग्रेजी भाषामें आकर्षक मुद्रणमें ११७ पृष्ठोंकी एक पुस्तक

(योजना-प्रारूप) सारे देशमें प्रसारित की गयी। इस आधारपर सारे देशके विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, विद्यालयों, शिक्षण-संस्थानों, स्वैच्छिक संस्थाओंमें सर्वत्र अनेकानेक सेमिनार गोष्ठियाँ, मन्त्री-स्तरसे विश्वविद्यालय-स्तरतक, प्राचार्य-स्तरसे शिक्षक-स्तरतक, शिक्षाप्रेमी-स्तरसे प्रबुद्ध नागरिक-स्तरतक, विधायक-स्तरसे व्यापारी-स्तरतक सर्वत्र हुईं। प्रतिवेदन यथास्थान भेजे गये, किंतु ऐसा लगता है कि मूलभूत बातोंपर किसीने ध्यान नहीं दिया। लगभग ८० कोटि भारतीय जनताकी सर्वोच्च संवैधानिक पीठ—लोकसभाके सत्तापक्षके माननीय सांसदोंने भी संस्कृत-विहीन नयी शिक्षा-नीति-योजनाको निर्विरोध पारित कर दिया। संस्कृतमें ही अपने पद-गोपनीयताकी शपथ ग्रहण करनेवाले लोकसभा-अध्यक्ष भी अपनी शक्तिका उपयोग नहीं कर सके। समस्त राष्ट्रके संस्कृत-प्रेमी एवं संस्कृत-महत्त्वज्ञाता चीखते रहे, प्रस्ताव भेजते रहे, किंतु परिणाम शून्य रहा। इस तरह 'नयी शिक्षा-नीति' लागू हो गयी, चल रही है, चलती रहेगी। इस विधेयकमें भारतके भावी कर्णधार बच्चों-युवकों-वयस्कोंको ऐच्छिक रूपमें भी 'संस्कृत' पढ़नेका अवसर नहीं दिया गया। 'संस्कृत'को देशकी मुख्य शिक्षाधारासे हटा दिया गया। सारे देशमें एक हजारमें ९९९ छात्र निश्चित रूपसे सामान्य विद्यालयों-विश्वविद्यालयोंमें जाते हैं। हजारमें प्रायः एक छात्र (वास्तवमें वह भी नहीं) येन-केन-प्रकारेण चल रही संस्कृत-संस्थामें जाते हैं। फलतः कोटि-कोटि भारतीय बच्चे संस्कृतके सामान्य-ज्ञानसे वञ्चित रहेंगे। 'नयी शिक्षा-नीति' में 'भारतीय संस्कृति', 'प्राचीन परम्परा' आदि शब्दोंके आकर्षक जाल फैलाये गये हैं, किंतु क्या सम्पूर्ण राष्ट्रमें सब-के-सब यह भी नहीं समझते कि बिना संस्कृतके भारतीय संस्कृति-परम्परापर आधृत भारतीयताका ज्ञान कहाँसे होगा? नैतिक शिक्षाके बिना नैतिक चरित्र कैसे बनेगा? तथा नैतिकताके आधार-तत्त्वके, जो संस्कृत-वाङ्मयमें उपलब्ध हमारी परम्परागत रची-पची धरोहर है, प्रभावके बिना नैतिकता और भारतीयताका अर्थ क्या होगा?

नयी शिक्षा-नीतिका खोखलापन

यह नयी शिक्षा-पद्धति सभीके लिये है भी नहीं। हजार क्या हजारमें एकके लिये भी नहीं है। इसकी प्रतियोगिता-परीक्षामें ग्रामीण भूखे बच्चे लखपतिके पुत्रोंके साथ बैठेंगे। चमत्कार तो यह कि करोड़पति और दाने-दानेके लिये मुँहताज—दोनों प्रकारके व्यक्तियोंके सभी व्ययभार समानरूपमें भारत-सरकार वहन करेगी, जो प्रतिछात्र लगभग एक हजार रुपये मासिक है। समानताका इससे अच्छा परिहास सम्भवतः दूसरा नहीं होगा। सामान्य ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति भी समझते हैं कि इस प्रतियोगितामें केवल पैरवी-पुत्रोंके ही प्रवेश होंगे, दो-चार अपवादोंको छोड़कर। इस शिक्षा-नीतिको स्वोपार्जनमूलक-शिक्षाके रूपमें घोषित किया गया है। क्या १० वर्षकी आयुसे ही पब्लिक स्कूलके ठाट-बाटमें पलनेवाले, छुरी-काँटा-चम्मचसे डाइनिंग टेबुलपर खानेवाले, मर्करी-प्रकाशित विद्युत्-व्यजन-चालित कक्षमें रहने-पढ़नेवाले बच्चे चरखा चला सकेंगे? कृषि-कार्य करेंगे? सिलाई-धुलाई करेंगे अथवा पचहत्तर प्रतिशत ऐसे भारतीयोंके साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर चल सकेंगे, जो गंदी बस्तियोंके गहन अन्धकारमें जनमते, जीते और मर रहे हैं?

अद्यतन दुःखद स्थिति

वर्तमान शिक्षा-प्रणालीमें पले-पढ़े-पढ़ाते महानुभाव क्या कर रहे हैं, इसपर कौन विचार कर रहा है? उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता, स्वेच्छाचारिता ही 'स्वतन्त्रता' शब्दकी प्रयोगात्मक व्याख्या है। शिक्षण-संस्थाओंमें शिक्षा और परीक्षा दोनोंकी स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक है। इस सम्बन्धमें विचार करनेसे निराशा ही हाथ आती है। यही स्पष्ट स्थिति है, यही स्वतन्त्र भारतकी राष्ट्रिय शिक्षा-नीति है और इसीमें हम पल रहे हैं।

दैवयोगसे देशके विभिन्न भागोंमें कुछ-न-कुछ प्रतिभा प्रकट ही होती रहती है, जो सरस्वतीके वरदपुत्र होते हैं, वे चरित्रवान्, निष्ठावान् और परिश्रमी भी। आवश्यकता है उन सभीको एक मञ्चपर लाने और प्रतिष्ठित करनेकी, साथ ही उन्हें सक्रिय बनाकर शिक्षा-जगत्‌में नीति, नैतिकता

और न्यायकी प्रतिष्ठा करनेकी। मात्र सरकारकी ओर देखना उचित नहीं है। स्वयंसेवी संस्थाओं और भारतीय संस्कृतिके वरदपुत्रोंको हाथ मिलाकर आदर्श शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित करके मानक प्रस्तुत करना चाहिये। साथ ही उनके ही द्वारा भारत-भारतीयता-भारतीय संस्कृतिके त्रिवेणी-संगमपर खड़े होकर राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिका निर्धारण करना चाहिये। सरकार और सरकारी तन्त्रकी ओर कातर-दृष्टि रखनेका अवसर समाप्त हो चुका है।

बालकोंकी शिक्षा

(श्रीबालेश्वरदयालजी बाजपेयी)

किसी भी व्यक्तिको सुशिक्षित बनानेके लिये यह आवश्यक है कि बाल्यावस्थासे ही उसकी प्रवृत्तियोंपर ध्यान रखा जाय। प्रस्तुत लेखमें ऐसे कुछ सूत्र संकलित किये गये हैं, जो बालकके भावी जीवनको उन्नत बनानेके लिये अनिवार्य-रूपसे सहायक सिद्ध होंगे।

बच्चोंकी चित्तवृत्ति प्रायः चपल होती है, अतः उन्हें शिक्षित करनेसे पहले उनके पास कुछ स्थिर खिलौने लानेके लिये ये अत्यन्त अपेक्षित हैं। बच्चोंमें ईश्वर, माता-पिता, गुरुके प्रति आस्तिक एवं प्रतिष्ठाका भाव तथा भारतीय संस्कृतिपर निष्ठाभाव उत्पन्न करना चाहिये। प्रार्थनाद्वारा भी बच्चोंको शिक्षा तथा अभ्यासद्वारा भुक्ति और मुक्तिके लिये सक्षम बनाना प्रत्येक माता-पिता-गुरु और समाजका महान् कर्तव्य है।



सेवा

आदि रखकर शान्त-एकाग्र बनानेकी आदत डालनी चाहिये। उन्हें भयंकर स्वरूपों, डरावने चित्रों, सभी प्रकारके चलचित्रों, सिनेमा, टी० वी० आदिसे बचाना चाहिये।

सभी जीवोंके शरीर एवं मन योगवाही होते हैं। उनमें किसी प्रकारके सम्पर्कसे गुण-दोषका आ जाना स्वाभाविक है। इसलिये बच्चोंको कुसंग एवं शारीरिक तथा मानसिक रोगोंके संक्रमणसे सदा बचाना चाहिये।

बच्चोंमें अपनेसे बड़ोंके प्रति अभिवादन और नमस्कारकी आदत डालनी चाहिये। नम्रता एवं कृतज्ञ-भाव

शिक्षा—बच्चोंको तीन एवं पाँच वर्षकी आयुके बीचसे ही अपनी सनातन वर्णमाला (लिपि) के जो शिवजीके डमरूकी ध्वनिसे निकली हुई वर्णमाला है, जिसे आजकल हिंदी-वर्णमाला कहते हैं, लिखने-पढ़नेका अभ्यास कराना चाहिये। पाँच वर्षकी आयुके पश्चात् विद्यालयीय प्रवेशके साथ पठन-प्रणाली प्रारम्भ करा देनी चाहिये।

बिना सदाचारकी शिक्षा दिये बच्चोंका चरित्र सच्चरित्र नहीं बन पाता, शिक्षामें भी अच्छा विकास नहीं हो पाता, बच्चे समाजके अच्छे नागरिक नहीं बन पाते, अतः



शिक्षा प्रारम्भ करनेके साथ सदाचारकी शिक्षा भी प्रारम्भ कर देनी चाहिये।

लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रमिवाचरेत्॥



शिक्षा एवं सदाचारके निमित्त 'बच्चोंका पाँच वर्षकी अवस्थातक लाड-प्यार और दस वर्षकी अवस्थातक स्नेहिल अनुशासन करना चाहिये, तत्पश्चात् सोलहवें वर्षके प्राप्त होनेपर पुत्रके साथ मित्रवत् व्यवहार करना चाहिये।'

बालकोंको रातमें जल्दी सोने, ब्राह्ममुहूर्तमें उठने, ईश्वर-चिन्तन करने, शौचादि कार्यसे निवृत्त होने और अपना पाठ याद करनेका अभ्यास करना चाहिये। दिनचर्या, रात्रिचर्या नियमतः करनी चाहिये। समय व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिये। सत्य तथा मधुर-भाषी होना चाहिये। अतिथि-सत्कारकी भी आदत डालनी चाहिये। अभक्ष्य-भोजन एवं मादक द्रव्य या बुरी आदतों एवं कुसंगसे बचना चाहिये। सभीके साथ सद्भाव एवं प्रेमभावसे ही रहना चाहिये। आपसमें विवाद नहीं करना चाहिये। गुरु, परिवार, आश्रितजन, पशु-पक्षी, भूखे-प्यासे, दीन-दुखी, अपाहिज, याचक, पड़ोसीजनोंका सत्कार करना चाहिये एवं उनका मन प्रसन्न रखना चाहिये। यथाशक्ति प्राणिमात्रकी सेवा जो एक तप है—करनेकी आदत डालनी चाहिये। परस्परमें बाँटकर खानेकी प्रवृत्ति बनानी चाहिये। उपार्जनमें न्यायपूर्वक नियमित लाभ लेना ही समाजके लिये श्रेयस्कर है।

काकचेष्टा वकुलध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च।
स्वल्पाहारो गृहत्यागी छात्रस्य पञ्च लक्षणम्॥

'कौए-जैसी चेष्टा, बगुला-जैसा ध्यान, कुत्ते-जैसी नींद, स्वल्पाहार और गृहका त्याग—विद्यार्थियोंके लिये ये पाँच श्रेयस्कर लक्षण हैं।'

रामायण, श्रीमद्भागवत, गीता, रामचरितमानस आदिका स्वाध्याय प्रतिदिन आवश्यक है।

बाल-शिक्षाका वास्तविक रूप

(श्रीबल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश')

भारतमें आजकल बालकोंको जो शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हो रही है, वह भारतीय संस्कृतिके लिये तो घातक है ही, उन बालकोंके लिये भी अत्यन्त हानिकर और उनके जीवनको असंयमपूर्ण, रोगग्रस्त, दुःखी बनाकर अन्तमें मानव-जीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रखनेवाली है। अधिकांश बुद्धिमान् सज्जन बहुत विचार-विनिमयके अनन्तर इसी निर्णयपर पहुँचे हैं कि हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमारे बालकोंके लिये सर्वथा अनुपयोगी है। त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंका जो अनुभव था, वह सब प्रकारसे इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक था। पर आज हमलोग उनके अनुभवके लाभसे वञ्चित हो रहे हैं; क्योंकि उन महानुभावोंकी जो भी शिक्षा है, वह शास्त्रोंमें है तथा अन्य प्रकारके व्यर्थके कार्योंमें समय खो देनेके कारण समयाभावसे और श्रद्धा-भक्ति-रुचिकी कमीसे हमलोग शास्त्र पढ़ते नहीं, अतः उनसे प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। हमारी संतान तो इनके ज्ञानसे प्रायः सर्वथा शून्य है और होती जा रही है। इसलिये भारतीय संस्कृतिके प्रति श्रद्धा रखनेवालों तथा बालकोंके सच्चे शुभ चिन्तकोंको ऐसी शिक्षा-पद्धति बनानेका प्रयत्न करना चाहिये, जिससे बालक-बालिकाओंमें वर्णाश्रमधर्म, ईश्वरभक्ति, माता-पिताकी सेवा, देवपूजा, श्राद्ध, एकनारीव्रत, सतीत्व आदिमें श्रद्धा उत्पन्न हो। साथ ही अभिभावकोंको स्वयं इनका पालन करना चाहिये। जो अभिभावक स्वयं सद्गुण-सदाचारका पालन नहीं करता, उसका बच्चोंपर असर नहीं हो सकता। ऐसी उत्तम शिक्षाके लिये गीता, भागवत, रामचरितमानस, वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण, महाभारत, जैमिनीय अश्वमेध, पद्मपुराण, मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थोंका स्वयं अध्ययन करना चाहिये और बालक-बालिकाओंको कराना चाहिये। यदि प्रतिदिन अपने घरमें चाहे एक घंटा या आधा घंटा ही हो, सब मिलकर इन ग्रन्थोंका क्रमसे अध्ययन करें तो बालकोंको घर बैठे ही शास्त्र-ज्ञान हो सकता है। इस प्रकारके अभ्याससे ऋषि, मुनि, महात्मा, शास्त्र, ईश्वर और परलोकमें श्रद्धा-विश्वास बढ़कर बालकोंका स्वाभाविक ही उत्थान हो सकता है तथा बालक आदर्श बन सकते हैं। बालकोंकी उन्नतिसे ही कुटुम्ब, जाति, देश और राष्ट्र तथा भावी संतानकी उन्नति हो सकती है। अतः बालकोंके शिक्षण और चरित्रपर अभिभावकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये।

वर्तमान शिक्षा-संस्थाओंमें बालकोंको ईश्वर-भक्ति और धर्म-पालनकी शिक्षाका देना तो दूर रहा, इनका बुरी तरहसे विरोध किया जाता है। ईश्वर और धर्मकी हँसी उड़ायी जाती है और कहा जाता है कि धर्म ही हमारे पतन और अवनतिका हेतु है एवं बालकोंमें इस प्रकारके मिथ्या सिद्धान्त भरे जाते हैं कि 'आर्यलोग बाहरसे भारतमें आये हैं, चार-पाँच हजार वर्षोंसे पूर्वका कोई इतिहास नहीं मिलता तथा जगत् उत्तरोत्तर उन्नत हो रहा है।' इन भावोंसे धर्म और ईश्वरके प्रति अनास्था होकर उनका घोर पतन हो रहा है। इसलिये उन्हें धर्मका ज्ञान होना असम्भव-सा होता जा रहा है। आजकलकी प्रणालीके अनुसार बच्चा जब छः-सात वर्षका होता है तभी हम उसे पढ़नेके लिये स्कूलमें भेज देते हैं, वहाँ धर्मज्ञानसे रहित अपरिपक्वमति तथा कालेजोंसे निकले हुए प्रायः प्राचीनताके विरोधी नये अध्यापकोंके साथ उच्छृङ्खल वातावरणमें रहकर जब वह लगभग सोलह वर्षका होता है तब उसे कालेजमें भेज देते हैं। वह बीस वर्षकी आयुतक कठिनतासे बी० ए० पास कर पाता है, परंतु जब वह बी० ए० पास होकर घर आता है, तब अपने माँ-बापको मूर्ख समझने लगता है और हमारी बची-खुची भारतीय संस्कृतिके पुराने संस्कारोंको देखकर हँसी उड़ाता है; क्योंकि समय और श्रद्धाके अभावके कारण ऋषि-मुनियोंकी भारतीय संस्कृतिसे युक्त ग्रन्थ उसके सम्मुख नहीं आते, इसलिये वह इन सबसे अनभिज्ञ रहता है। ऐसी परिस्थितिमें हमारे बालक हमारे प्राचीन अनुभवी

ऋषि-मुनियोंकी आर्य-संस्कृतिके लाभसे वञ्चित नहीं रहेंगे तो और क्या होगा ?

शिशु-कक्षासे लेकर विश्वविद्यालयोंकी उच्च कक्षाओं-तकके विद्यार्थी आज धर्म-ज्ञान-शून्य पाये जाते हैं, यह इसी वर्तमान शिक्षाका दुष्परिणाम है । यहाँतक कि उनमें भारतीय शिष्टाचारका भी अभाव होता चला जा रहा है, यह बड़े ही खेदकी बात है ।

प्राचीन भारतीय शिष्टाचार या धर्मके सेवनसे लाभ

धर्मको दृष्टिमें रखकर बालकोंके लिये अब यहाँ कुछ विशेष उपयोगी बातें लिखी जा रही हैं । बालकको चाहिये कि वह आलस्य, प्रमाद, भोग, दुर्व्यसन, दुर्गुण और दुराचारोंको विषके समान समझकर उन्हें त्याग दे एवं सद्‌गुण-सदाचारका सेवन, विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोंकी एवं दुःखी अनाथ प्राणियोंकी कर्तव्य समझकर निःस्वार्थ-भावसे सेवा तथा ईश्वरकी भक्तिको अमृतके समान समझकर उसका श्रद्धापूर्वक सेवन करे । यदि इनमेंसे एकका भी निष्कामभावसे पालन किया जाय तो कल्याण हो सकता है, फिर सबका पालन करनेसे तो कल्याण होनेमें संदेह ही क्या है ।

छः घंटेसे अधिक सोना, दिनमें सोना, असमयमें सोना, काम करते या साधन करते समय नींद लेना, काममें असावधानी करना, अल्पकालमें हो सकनेवाले काममें अधिक समय लगा देना, आवश्यक कामके आरम्भमें भी विलम्ब करना तथा अकर्मण्यताको अपनाना आदि सब 'आलस्य'के अन्तर्गत हैं ।

मन, वाणी और शरीरके द्वारा न करनेयोग्य व्यर्थ चेष्टा करना तथा करनेयोग्य कार्यकी अवहेलना करना—'प्रमाद' है ।

ऐश-आराम, स्वाद-शौक, फैशन-विलासिता आदि विषयोंका सेवन, इत्र-फुलेल, सेंट-पाउडर आदिका लगाना, शृंगार करना, नाच-सिनेमा आदिका देखना, विलास तथा प्रमादोत्पादक क्लबोंमें जाना आदि सब 'भोग' हैं ।

बीड़ी, सिगरेट, गाँजा, भाँग, चरस, कोकिन, अफीम, आसव आदि मादक वस्तुओंका सेवन, चौपड़-ताश, शतरंज खेलना आदि सब 'दुर्व्यसन' हैं ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, अभिमान, अहंकार, मद, ईर्ष्या आदि 'दुर्गुण' हैं ।

हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, मांस-भक्षण, मदिरापान, अंडे खाना, जूठन खाना, जुआ खेलना आदि 'दुराचार' हैं ।

संयम, क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, निष्कामता आदि 'सद्‌गुण' हैं ।

यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत और सेवा-पूजा करना तथा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्यका पालन करना आदि 'सदाचार' हैं ।

इनके अतिरिक्त विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोंकी सेवा तथा ईश्वरकी भक्ति—ये सभी परम आवश्यक और कल्याणकारी हैं । इसलिये बालकों और नवयुवकोंसे हमारा निवेदन है कि वे निष्कामभावसे उपर्युक्त साधनोंद्वारा अपने जीवनके स्तरको ऊँचा उठायें, उसका पतन न होने दें ।

युवकोंसे भी हमारा निवेदन है कि वर्तमानमें जो बहुत ही नैतिक पतन हो रहा है, इससे बचकर अपनी आत्माको ऊपर उठायें तथा जिससे इस लोक और परलोकमें परम कल्याण हो, वही आचरण करें । सच्चे हृदयसे ऐसा प्रयत्न करें, जिसमें अपनी भौतिक और बौद्धिक, व्यावहारिक और सामाजिक, नैतिक और धार्मिक तथा आध्यात्मिक या पारमार्थिक उन्नति हो, मानव-जीवन सफल हो, यहाँ अभ्युदयकी और अन्तमें मुक्तिकी प्राप्ति हो ।

अन्तमें भारत-सरकारके सभी शिक्षाशास्त्रियों एवं विद्वानोंसे यही नम्र निवेदन है कि धार्मिक शिक्षाको भी यथाक्रमसे अनिवार्य बनाया जाय । आज सभी पाश्चात्त्य देशोंमें अपने-अपने धर्मानुसार धार्मिक शिक्षा परम्परागत चालू है । तब भारत क्यों पिछड़े, जो सदासे धर्मपरायण रहा है । धार्गिक शिक्षासे लोगोंमें अच्छे संस्कार उत्पन्न होंगे एत्रं देशका सर्वाङ्गीण कल्याण होगा । आशा है भारतके सभी धर्माचार्य इसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए कोई ठोस क्रियात्मक रूप राष्ट्र एवं समाजके हितार्थ बनायेंगे ।

शिक्षार्थीके लिये ब्रह्मचर्याश्रमकी अनिवार्यता

वास्तवमें 'ब्रह्मचर्य' शब्दका अर्थ है—ब्रह्मके स्वरूपमें विचरण करना अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपका मनन करना। जिसका मन नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्दब्रह्ममें विचरण करता है, वही सच्चा ब्रह्मचारी है। इसमें प्रधान आवश्यकता है—शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके बलकी। यह बल प्राप्त होता है—वीर्यकी रक्षासे। इसलिये सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना कहा जाता है। अतः बालकोंको चाहिये कि न तो ऐसी कोई क्रिया करें, न ऐसा संग ही करें तथा न ऐसे पदार्थोंका सेवन ही करें कि जिससे वीर्यकी हानि हो।

सिनेमा-थियेटरोंमें प्रायः कुत्सित दृश्य दिखाये जाते हैं, इसलिये बालक-बालिकाओंको सिनेमा-थियेटर कभी नहीं देखना चाहिये और सिनेमा-थियेटरमें नट-नटी तो कभी बनना ही नहीं चाहिये। इस विषयके साहित्य, विज्ञान और चित्रोंको भी नहीं देखना-पढ़ना चाहिये; क्योंकि इसके प्रभावसे स्वास्थ्य और चरित्रकी बड़ी भारी हानि होती है और दर्शकका घोर पतन हो सकता है।

लड़के-लड़कियोंका परस्परका संसर्ग भी ब्रह्मचर्यमें बहुत घातक है। अतः इस प्रकारके संसर्गका भी त्याग करना चाहिये तथा लड़के भी दूसरे लड़कों तथा अध्यापकोंके साथ गंदी चेष्टा, संकेत, हँसी-मजाक और बातचीत करके अपना पतन कर लेते हैं, इससे भी लड़कोंको बहुत ही सावधान रहना चाहिये। लड़के-लड़कियोंको न तो परस्परमें दुर्भावसे किसीको देखना चाहिये न कभी अश्लील बातचीत और हँसी-मजाक ही करना चाहिये; क्योंकि इससे मनोविकार उत्पन्न होता है। प्रत्यक्षकी तो बात ही क्या, सुन्दरताकी दृष्टिसे चित्रमें लिखी हुई स्त्रीके चित्रको पुरुष और पुरुषके चित्रको कन्या कभी न देखे। पुरुषको चाहिये कि माता-बहन और पुत्री ही क्यों न हो, एकान्तमें कभी उनके साथ रहे ही नहीं। श्रीमनुजी कहते हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(२।२१५)

'माता, बहन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे; क्योंकि इन्द्रियोंका समूह बड़ा बलवान् है, वह विद्वान्‌को भी अपनी ओर खींच लेता है।' ऐसे ही स्त्रीको भी अपने पिता, भाई और युवा पुत्रके पास भी एकान्तमें नहीं बैठना चाहिये।

बालकोंको आठ प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन इस प्रकार बतलाये गये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

'स्त्रीका स्मरण, स्त्री-सम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रियोंको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका निश्चय करना और संकल्प करना तथा स्त्री-सङ्ग करना—ये आठ प्रकारके मैथुन माने गये हैं।'

जिस प्रकार बालकोंके लिये बालिका या स्त्रियोंका स्मरण आदि त्याज्य हैं, वैसे ही बालिकाओंके लिये पुरुषों और बालकोंके स्मरण आदि त्याज्य हैं। यदि कहें कि इनमें और सब बातोंका तो त्याग किया जा सकता है, किंतु समयपर बातचीत तो करनी ही पड़ती है, सो ठीक है। लड़कीका कर्तव्य है कि किसी पुरुष या बालकसे आवश्यक बात करनेका काम पड़े तो नीची दृष्टि करके उसे पिता या भाईके समान समझकर शुद्ध भावसे बात करे तथा बालकको चाहिये कि किसी स्त्री या लड़कीसे आवश्यक बात करनेका काम पड़े तो नीची दृष्टि करके उसे माता-बहनके समान समझकर शुद्ध भावसे बात करे।

मनमें विकार पैदा करनेवाले वेष-भूषा, साज-शृंगार, तेल-फुलेल, केश-विन्यास, गहने-कपड़े, फैशन आदिका विद्यार्थी बालक-बालिका सर्वथा त्याग कर दें। ऐसी

संस्थाओं, स्थानों, नाट्य-गृहों, उत्सवस्थलों, क्लबों, पार्टियों, भोजों, भोजनालयों, होटलों और उद्यानोंमें भी न जायँ, जहाँ विकार उत्पन्न होनेकी तथा खान-पान और चरित्र-भ्रष्ट होनेकी जरा भी आशंका हो। सदा सादगीसे रहें और पवित्र सादा भोजन करें। इस प्रकार बालक-बालिकाओंको ऊपर बताये हुए नियमोंका आचरण करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये।

श्रीहनुमान्‌जीने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, जिसके प्रभावसे वे बड़े ही धीर-वीर, तेजस्वी, ज्ञानी, विरक्त, भगवान्‌के भक्त, विद्वान् और बुद्धिमान् हुए।

भीष्मपितामहने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया था, यह बात महाभारतके आदिपर्वसे सिद्ध होती है। दाशराजके यहाँ जाकर अपने पिताके लिये सत्यवतीको लानेके समय भीष्मने अपने राज्यके अधिकारका त्याग किया और आजीवन विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा करके आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, इससे संतुष्ट होकर उनके पिता शन्तनुने उन्हें वरदान दिया कि 'तुम्हारी इच्छाके बिना तुम्हें मृत्यु नहीं मार सकेगी।'

यदि आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन न हो सके तो आजकलके समयके अनुसार अठारह वर्षतक तो बालकोंको अवश्य ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। इससे पूर्व ब्रह्मचर्य खण्डित होनेसे शीघ्र ही बल, बुद्धि, तेज, आयु और स्मृतिका क्षय हो जाता है तथा रोगोंका शिकार होकर शीघ्र ही कालके मुखका ग्रास बनना पड़ता है। यह बात शास्त्रसंगत तो है ही, युक्तिसंगत भी है, गम्भीरतासे सोचनेपर प्रत्यक्ष अनुभवमें भी आती है। अतएव ब्रह्मचर्य कभी खण्डित न हो, इसके लिये विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मचर्यके पालनसे बल, बुद्धि, वीर्य, तेज, स्मृति, धीरता, वीरता और गम्भीरताकी वृद्धि होकर उत्तम कीर्ति होती है तथा ईश्वरकी कृपासे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सद्‌गुण-सदाचारकी तथा परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति भी हो सकती है। प्राचीनकालमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका पालन करते थे। कठोपनिषद्‌में बतलाया गया है—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।

(१।२।१५)

'जिस परमपदकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उसे मैं तुम्हें संक्षेपसे बताता हूँ—'ओम्' यही वह पद है।' इसलिये बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

वर्तमान शिक्षा-व्यवस्थामें संस्कृतका उपयोग

(संकलनकर्ता-श्रीमहेन्द्रकुमारजी बाजपेयी, 'सरल' शास्त्री, साहित्यरत्न, एम्० ए०, एल्० टी०)

ऐसा कहा गया है कि सन् १९८६ ई० तक शिक्षाकी समस्त उपलब्धियों और असफलताओंको तथा देशकी वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों—विशेषकर समाजके विभिन्न वर्गोंमें व्याप्त विषमताओं तथा बड़ी तेजीसे होनेवाले वैज्ञानिक तकनीकीके विकासके कारण उत्पन्न परिवर्तनों—को ध्यानमें रखकर 'राष्ट्रिय शिक्षा-नीति' का निर्माण किया गया है। विचारणीय विषय यह है कि यह घोषणा वर्तमान स्थितियोंकी दृष्टिसे कहाँतक उचित है।

राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिके मुख्य विषय ये हैं—प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षाके लिये राष्ट्रिय पाठ्यक्रमकी रूपरेखा, शिक्षकोंके लिये व्यावसायिक आचार-संहिता, शैक्षिक विकासके लिये सामुदायिक प्रतिभागिता, वाञ्छित वर्गोंके लिये समान अवसरका प्रावधान, राष्ट्रिय एकताके प्रोत्साहन-मूल्योंकी शिक्षा, नैतिक शिक्षा, जन-माध्यमका प्रयोग, स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षा, सामान्य शिक्षामें विज्ञानका अध्यापन, स्काउट एवं गाइड, विद्यालयोंमें खेलकूद तथा पाठ्य-सहगामी क्रियाओंका

आयोजन और अध्यापक-स्व-मूल्याङ्कन । उक्त मुख्य विषयोंमें योगासनोंपर भी विशेष ध्यानका प्रावधान है । यह सब तो ठीक है, किंतु साथ ही जो इसमें आगे कहा गया है कि 'अंग्रेजी हमारे लिये ऐसा ज्ञानका झरोखा है, जिसमें ज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोंकी जानकारी संगृहीत होकर उपलब्ध है ।' यह बात संस्कृतके परिप्रेक्ष्यमें सच नहीं है ।

सन् १८३५ ई०में गवर्नर जनरल विलियम बेंटिंकके विधि-सलाहकार लार्ड मैकालेने उच्च शिक्षाका माध्यम 'संस्कृत' आदिके स्थानपर अंग्रेजीको अनिवार्य करके 'नयी शिक्षा-पद्धति' चलायी थी, जिसका उद्देश्य मात्र व्यापार एवं प्रशासनके लिये लिपिक तैयार करना था । लार्ड कर्जनने इसपर नया पानी चढ़ाया । फिर क्या था, मात्र अंग्रेजी भाषा विद्वत्ता एवं सभ्यताका पर्याय बनने लगी । विदेशी वेश, भाषा, सभ्यता अपनानेवाले सभ्य और भारतीय संस्कृतिके परिपालक मातृभाषाका प्रयोग करनेवाले देहाती, अनपढ़ और गँवार कहे जाकर तिरस्कृत होने लगे ।

यद्यपि स्वामी दयानन्द सरस्वती, लोकमान्य तिलक, गोखले, विवेकानन्द, महामना मालवीय और महात्मा गाँधी आदिने भारतीय संस्कृतिके अभ्युत्थान-हेतु बहुत प्रयास किया, तथापि स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद गोरे तो चले गये, किंतु हमारी आँखोंपर लगा गोरी संस्कृतिका चश्मा छोड़ गये ।

सन् १९८५ ई०में नयी शिक्षा-नीतिकी सलाहकार-समितिने सम्भवतः उस कार्यको भी पूरा करनेकी योजना बनायी जिसे मैकाले भी न कर सका था । त्रिभाषा-सूत्रमें संस्कृतके लिये कोई स्थान नहीं रखा गया । इसके अनुसार प्रथम भाषाके रूपमें मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा होगी । अहिंदीभाषी क्षेत्रोंके लिये हिंदी या अंग्रेजी, हिंदीभाषी प्रान्तोंमें द्वितीय भाषाओंमेंसे कोई एक अथवा अंग्रेजी होगी । तृतीय भाषाके रूपमें अहिंदीभाषी प्रान्तोंमें हिंदी अथवा अंग्रेजी अथवा आधुनिक भारतीय भाषाओंमेंसे कोई एक होगी, जिसे द्वितीय भाषाके रूपमें नहीं पढ़ा गया है । ध्यान देनेकी बात है—एक ओर राष्ट्रिय एकता और अखण्डताको पुष्ट करनेके नारे लगाये जा रहे हैं तथा दूसरी ओर हिंदी एवं अहिंदीभाषी राज्योंके बीच विभाजनकी सुदृढ़ भित्तिका निर्माण किया गया है । अब जिनकी मातृभाषा हिंदी है, वे हिंदी और जिनकी उर्दू है, वे उर्दू पढ़ेंगे । इस प्रकार उर्दूभाषी क्षेत्रोंमें राष्ट्रभाषा हिंदीकी भी अनिवार्यता समाप्त कर दी गयी ।

इस नीतिके अनुसार मातृभाषा (हिंदी/उर्दू) के अतिरिक्त प्रत्येक छात्रको, चाहे वह ग्रामीण क्षेत्रका हो या नगरका, अंग्रेजी तो अनिवार्यतः पढ़नी पड़ेगी, साथ ही एक आधुनिक भारतीय भाषा भी । पर इसमें आधुनिक भारतीय भाषाओंकी जो सूची दी गयी है उसमें संविधानकी आठवीं अनुसूचीमें उल्लिखित १५ भाषाओंमें संस्कृतका उल्लेख नहीं है ।

संस्कृत आदिकालसे राष्ट्रिय एकता, ज्ञान-विज्ञान, नैतिकता एवं संस्कृतिकी पोषिका रही है । न केवल समग्र भारत प्रत्युत संसार उसे समादरकी दृष्टिसे देखता है । संस्कृत सभी क्षेत्रोंमें सभी लोगोंके लिये समादरणीय रही है और आज भी है । इसे प्रोत्साहित करके सम्भवतः हम भाषावादको समाप्त करनेमें अवश्य ही सक्षम होंगे । साथ ही हम अपनी सांस्कृतिक धरोहरको भी अक्षुण्ण बनानेके साथ-साथ उसका विकास करनेमें भी सहयोगी सिद्ध होंगे; क्योंकि वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, स्मृतियाँ, सांख्य, योग, मीमांसा, वैशेषिक, बौद्ध, जैन दर्शन, सर्वथा वैज्ञानिक पाणिनीय व्याकरण, कालिदासादिके काव्य, शंकरका अद्वैत—सभी कुछ संस्कृतमें सुरक्षित हैं । हिंदुओंके अतिरिक्त अन्य जातियोंके लोग भी इस विशाल साहित्यका लाभ अवश्य ही उठाना चाहेंगे ।

हिंदी ही नहीं, देशकी अधिकांश भाषाओंकी जननी अथवा मातामही संस्कृत है । मूल अथवा परिवर्तित रूपमें बड़ी मात्रामें संस्कृत शब्द विभिन्न भाषाओंमें समाविष्ट हैं । आधुनिक ज्ञान-विज्ञान जानने-सीखनेके लिये तथा शब्द-सम्पदाकी अभिवृद्धिके लिये हम संस्कृतकी ही धातुओं, उपसर्गों तथा प्रत्ययोंका आश्रय लेकर आवश्यक नवीन शब्दोंका निर्माण करते हैं । इसीपर आधृत होती है— युगकी प्रगति । अरेबियातक फैले हुए अखण्ड भारतका समग्र प्राच्य साहित्य सुरभारतीमें ही निबद्ध है ।

विज्ञान, कला, गणित, सांख्यिकी, इतिहास, भूगोल,

खगोल, धर्मशास्त्र, विधि, निषेध, कानूनशास्त्र, ज्योतिष, चिकित्सा-विज्ञान, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, राजनीति, शिल्प और स्थापत्य, परमाणु-विज्ञान (ब्रह्मास्त्र), नाट्य, नाटक, कामशास्त्र, नैतिकता, दर्शन, विधि, प्राणि-विज्ञान, भौतिक विज्ञान— सभी कुछ संस्कृतमें था और है। डॉ० रघुवीर आदिके अनुसार संस्कृत विश्व-भाषा थी, इसमें संदेह नहीं है। संस्कृत भारतीय मनीषाके परमोत्कर्षकी एकमात्र प्रत्यक्ष साक्षी है। इस अमूल्य निधिका तिरस्कार हमारे लिये सर्वथा अनुचित है। हमारे माननीय शिक्षामन्त्रीका इस संदर्भमें कहना है कि हिंदीभाषी लोग दक्षिणभारतीय भाषा न पढ़कर संस्कृत पढ़ते हैं, इसलिये भाषाओंकी सूचीसे उसे (संस्कृत) हटा दिया गया है। इस संदर्भमें हिंदीभाषी प्रान्तोंके लिये दक्षिणकी किसी भाषाका अध्ययन अनिवार्य कर देना उचित था न कि ईर्ष्या या द्वेष अथवा किसी षड्यन्त्रके अधीन ऐसा अविचारित निर्णय लेना।

कपिल, कणाद, चरक, सुश्रुत, भास्कराचार्य (द्वितीय) (जिन्होंने न्यूटनसे ५०० वर्षों पूर्व पृथिवीमें गुरुत्वाकर्षण-शक्ति होनेकी परिकल्पना की थी), वराहमिहिर, रसायनशास्त्री नागार्जुन, विमानविद्या-जनक भरद्वाज, पृथिवी सूर्यकी परिक्रमा करती है—इस सिद्धान्तके स्थापक आर्यभट्ट-जैसे महान् वैज्ञानिकोंपर क्या हमें गर्व नहीं है? क्या वे सब जाति-विशेषकी धरोहर हैं? क्या उनका जीवन और उनके विचार हम सभी भारतवासियोंको भुला देने योग्य हैं?

कम्प्यूटर-प्रोग्रामिंगके लिये माध्यम भाषाके रूपमें एम्० ए० एस्० ए० के वैज्ञानिकोंने संस्कृतको सर्वश्रेष्ठ भाषाके रूपमें चुना है। पाश्चात्त्य देशोंमें इस दिशामें गहन शोधकार्य हो रहे हैं। 'नालेज़ इंजीनियरिंग' नामक एक नयी शाखाकी स्थापना आभियान्त्रिकीके क्षेत्रमें हुई है, जिसमें प्राप्त ज्ञानके स्वरूप, उसे अभिव्यक्त करनेकी भाषा एवं उसके व्यावहारिक रूप—इन तीनों पक्षोंपर अध्ययन किया जा रहा है। उक्त तीनों ही पक्षोंपर संस्कृतके मीमांसा-शास्त्र एवं व्याकरण-शास्त्रमें विशद चर्चा एवं व्याख्या हुई है। अतः संगणकको मानव-मस्तिष्कके समान विचार एवं विवेकपूर्ण निर्णयके लिये सक्षम बनानेकी दृष्टिसे पाश्चात्त्य देशोंमें संस्कृतके उक्त शास्त्रोंपर व्यापक अनुसंधान चल रहा है। इसी संदर्भमें भारतमें भी १८ से २२ दिसम्बर १९८६ तक बंगलोरमें 'नालेज रिप्रेसेन्टेशन एन्ड इनफेन्स संस्कृत' शीर्षक विषयपर एक अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन हो चुका है। 'नालेज इंजीनियरिंग'-जैसे नये तकनीकी क्षेत्रमें भारत महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकता है। अतः देशको २१ वीं सदीके संगणक-जगत्में जानेके लिये संस्कृत-शिक्षाकी व्यवस्था अनिवार्य होनी चाहिये थी। विश्वभरके महान् आभियान्त्रिकी वैज्ञानिकोंने मत व्यक्त किया हैं कि 'संगणकके द्वारा ठीक परिणाम प्राप्त करनेमें वैदिक गणितका सहयोग अपेक्षित और अपरिहार्य होगा।'

संस्कृत ही वर्तमान दशामें समस्त भारतीयोंको एकता-सूत्रमें बाँधनेमें सक्षम है, अतः राष्ट्रिय समरसता-हेतु एवं भाषागत समस्या-समाधानार्थ इस देशको संस्कृतकी आवश्यकता है। उचित यही होगा कि प्रत्येक भारतीयको अनिवार्यतः संस्कृताध्ययन सुलभ करवाया जाय, चाहे वह हिंदू हो अथवा मुसलमान, सिख हो या ईसाई; क्योंकि संस्कृत न केवल एक समृद्ध भाषा है, अपितु इसका अपना ऐतिहासिक तथा वास्तविक मूल्य भी है, जिसे कोई भी व्यक्ति इनकार नहीं कर सकता।

वस्तुतः संस्कृत समग्र देशके प्रान्तोंकी सम्पर्क-भाषा बनने योग्य है और प्रादेशिक भाषाओंकी उपजीव्य भी। विदेशोंमें भी संस्कृत और संस्कृतज्ञ सम्मान पाते हैं। इसीको माध्यम बनाकर हम अन्ताराष्ट्रिय जगत्में अपने साहित्यको सुललितरूपमें विकसित कर अपना माथा ऊँचा करके गौरव और श्रीकी वृद्धि कर सकते हैं। यदि अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें कोई भाषा अंग्रेजीसे भी अधिक उपयोगी और प्रभावशाली हो सकती है तो वह संस्कृत ही है। इसपर हमें गर्व होना चाहिये और इसका विकास कर हमें अपने देशमें एकता और विश्वमें भारतके उदात्त चरित्रको स्थापित करते हुए प्रयास करना चाहिये कि यह विश्वकी सम्पर्क-भाषा बने। संस्कृत इसके योग्य है, अतः इस दिशामें हमारा प्रयास सार्थक होगा। इससे हम न केवल अपना खोया हुआ आत्मगौरव पा सकेंगे प्रत्युत सम्पूर्ण विश्वकी सेवा भी कर सकेंगे।

सांस्कृतिक कार्यक्रमके नामपर पतन

(पं० श्रीभवानीलालजी भारतीय, एम्० ए०, वाचस्पति)

आज हमारे देशमें सांस्कृतिक कार्यक्रमोंकी सर्वत्र धूम है । किसी शिक्षण-संस्थाको देखिये, किसी राष्ट्रिय पर्वमें सम्मिलित होइये या किसी भी विदेशी अतिथिके स्वागत-समारोहमें जाइये—आपको सर्वत्र पायलोंकी झनकार और नूपुरोंकी मधुर रुनझुन सुनायी देगी । आज प्राइमरी स्कूलोंके नन्हें-मुन्ने बालकों-बालिकाओंसे लेकर विश्व-विद्यालयोंके विकसित मस्तिष्कवाले युवक एवं युवतियाँ भी इन तथाकथित सांस्कृतिक कार्यक्रमोंमें मग्न दिखायी दे रही हैं । तब सहसा प्रश्न होता है कि क्या हमारे देशकी संस्कृति केवल नृत्य, गीत, रागरसतक ही सीमित रह गयी है अथवा उसके उपादान और भी अधिक गम्भीर हैं ?

आज हमने सांस्कृतिक कार्यक्रमोंका क्या अर्थ समझा है ? क्या समय-समयपर आयोजित होनेवाले नृत्य-गीतके कार्यक्रमोंको ही हम सांस्कृतिक कार्यक्रमोंके अन्तर्गत लेते हैं ? संस्कृतिके उदात्त तत्त्वोंको केवल संगीत और अभिनयतक ही सीमित कर देना कहाँतक न्याय्य है ? संस्कृति तो किसी राष्ट्रकी सम्पूर्ण परम्पराओंका आकलन होती है । शताब्दियोंसे हमारे राष्ट्रने ज्ञान-विज्ञान-नीति-धर्म-कला और चिन्तनके क्षेत्रमें जो कुछ उपलब्ध किया है, उसकी समष्टि ही हमारी संस्कृति है । फिर यह समझमें नहीं आता कि हम आज केवल संगीत और अभिनयको ही संस्कृति क्यों समझ बैठे हैं ?

हम यहाँ संस्कृतिकी कोई परिभाषा देनेका प्रयत्न नहीं करेंगे, परंतु इतना तो निश्चित-रूपसे कह सकते हैं कि आज यहाँ तथा विदेशोंमें संस्कृतिके नामपर जो प्रदर्शन हो रहे हैं, संस्कृतिके पवित्र नाम-रूपके व्याजसे जो कुछ ताण्डव हो रहा है, वह शोचनीय है । वह संस्कृति तो है ही नहीं, और चाहे कुछ हो । सरलता, सौम्यता, अध्यात्मनिष्ठा, प्राणिमात्रके प्रति आत्मीयता तथा मैत्रीभाव, त्याग, सेवा, अहिंसा, सत्य और विश्वबन्धुत्वकी भावना ही तो भारतीय संस्कृतिके मूल तत्त्व हैं, जिनके कारण संसारमें हमारे राष्ट्रका सम्मान है, परंतु आज हम क्या देख रहे हैं ? हमारे देशके विद्यालयोंके अधिकांश छात्रोंका पर्याप्त समय इन कार्यक्रमोंकी तैयारियोंमें ही नष्ट होता है । आज १५ अगस्त है तो कल २६ जनवरी है । आज युवक-युवतियोंका समारोह है तो कल कुछ और है । स्कूल और कालेजोंका कोई उत्सव तबतक सफल नहीं समझा जाता, जबतक एक मधुर और कर्णप्रिय सांस्कृतिक आयोजन उसके साथ न हो । इन उत्सवोंपर शिक्षाके उच्च अधिकारियों और मन्त्रियोंका भी शुभागमन होता है । छात्रोंकी शिक्षा और उनके चरित्रके विषयमें चाहे उन्हें कुछ भी अवगत न कराया जाय, परंतु एक रसिक आयोजन अवश्य होगा । इन आयोजनोंकी तैयारियोंमें छात्रोंका अमूल्य समय और उससे भी मूल्यवान् चरित्र कितना नष्ट होता है, इसकी ओर किसीका ध्यान ही नहीं है ।

आज विदेशी अतिथि आते हैं, हमारी सभ्यता, विचारधारा और जीवन-निर्वाहके साधन देखनेके लिये, परंतु हम भारतकी वास्तविकताको दिखानेकी अपेक्षा 'कल्चरल प्रोग्राम' के नामपर उन्हें दिखलाते हैं अपनी तरुण बहिन-बेटियोंका नाच ? क्या हमारे पास कोई अच्छी वस्तु दिखानेको नहीं है ? क्या हम उन्हें अरविन्द-आश्रम, शान्तिनिकेतन और गरुकुलोंकी सैर नहीं करा सकते ?

स्वराज्य आनेसे पहले हम अपने यहाँके राजा-महाराजाओंकी, उनकी सुरा, सुन्दरी और विलासिताकी निन्दा करते थे, परंतु क्या आज सरकारी मन्त्रियों और अधिकारियोंके द्वारा इन्हीं बातोंको प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा है ? अंग्रेजोंके शासनकालमें भी कभी किसी स्कूल या कालेजमें बालिकाएँ नहीं नचायी जाती थीं । सन् १९४७ई०में काँग्रेस गवर्नमेंट आनेपर बहुत-से रसिक लोग मन्त्रियोंकी कृपासे सरकारी शिक्षा-समितियोंमें घुस पड़े

और उन्होंने शिक्षा-कार्यक्रमोंमें बालिकाओंको नचाना आरम्भ किया। पहले केवल छोटी बालिकाएँ ही नाचती थीं, पर एक बार जो लज्जाका पर्दा हटा कि वे ही छोटी बालिकाएँ बड़ी होकर भी निःसंकोच जनताके सामने नाचने और नचायी जाने लगीं तथा हमारे राज्यमन्त्री और अधिकारी बड़े शौकसे उन्हें देखने लगे। परिणाम यह हुआ कि स्कूलोंकी युवती बालिकाएँ जनताके सामने और बारातोंमें बरातियोंके सामने नाचने लगीं। इस प्रकार हमारे मन्त्री इस पतनके जिम्मेदार हैं।

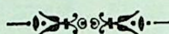
हम माननीय मन्त्रियोंसे निवेदन करते हैं कि वे कालेज और स्कूलकी बालिकाओंका नाच देखना बंद कर दें और आदेश जारी करें कि सरकारी अधिकारी इन नाचोंको न देखें और न कभी इनका आयोजन करायें। हम दावेके साथ कह सकते हैं कि यदि मन्त्रीलोग और उच्चाधिकारी इन नाचोंका देखना तथा कराना बंद कर दें तो इन वयस्क बालिकाओंका नाचना, जो पेशेवरोंकी हदको पहुँचाता जाता है, बंद हो जायगा और समाजमें बढ़ती हुई विलासिता और व्यभिचारका प्रवाह रुक जायगा।

जो लोग इन नाचोंको कराते हैं, चाहे वे माता-पिता हों या शिक्षक हों या सरकारी अधिकारी हों अथवा मन्त्री हों, वे अवश्य ही पापोंको प्रोत्साहन देनेवाले हैं।

हम साहित्यकारोंसे निवेदन करते हैं कि वे अपने आयोजनोंको रसीला बनानेकी लालसामें समाजमें विलासिता न फैलने दें और उसके दूषित परिणामोंको न आने दें। वे बालिकाओंको जनसमूहमें न नचायें।

पत्रकारोंने देशको आजादी दिलाने और देश-सुधार करनेमें बड़ा काम किया है। वे देशको विलासिताकी बुरी दशामें जानेसे रोक सकते हैं। खेद है, पत्रकार अभीतक इस विषयमें सो रहे हैं—हम आशा करते हैं कि वे शीघ्र इस ओर ध्यान देंगे।

हम शिक्षकों और शिक्षिकाओंसे निवेदन करते हैं कि कृपया वे बालिकाओंको नाचना न सिखायें और उनका जीवन विलासिताप्रिय न बनायें।[१]



चेतावनी

यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः। धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत् स खलु वञ्च्यते॥

(महा० शान्ति० २९७।३४)

जो मनुष्य परम दुर्लभ मानव-जन्मको पाकर भी कामपरायण हो दूसरोंसे द्वेष करता और धर्मकी अवहेलना करता रहता है, वह महान् लाभसे वञ्चित रह जाता है।



१. प्रसिद्ध आचार्य श्रीक्षितिमोहनसेनने लिखा था—मुझे तो ऐसा लगता है कि हमलोग 'संस्कृति' शब्दका अर्थ ही भूल गये हैं। आज तो सांस्कृतिक उत्सवोंके कार्यक्रम ही संस्कृतिके मूल अङ्गरूप बन गये हैं। गीत-गान, संगीतवादन, अभिनय और नृत्य, जलपान तथा अल्पाहार—क्या यह संस्कृति है? मनुष्यके सामाजिक व्यवहारमें चाहे संस्कृति व्यक्त होती हो, पर संस्कृतिका निवासस्थान तो मनुष्यका अन्तःकरण है। संस्कृतिका जितना ही विकास होता है, उतना ही हमारे मन तथा वासनाओंमेंसे हिंसा तथा आशाके तत्त्वोंकी कमी होती है। उनका स्थान स्नेह तथा साहसकी भावना ले लेती है। संस्कृति हमारी चेतनाको परिष्कृत करती है, इससे हमारे विचार, आचार, व्यवहार भी परिष्कृत होते हैं, सुन्दर बन जाते हैं।

हमारा सामाजिक जीवन, पड़ोसियोंके साथ हमारा सम्बन्ध, हमारे सांस्कृतिक उत्सव-समारोह—ये सभी हमारी संस्कृतिकी बाह्य वस्तुएँ हैं। अंदरकी वस्तु तो यह है कि हम यथार्थमें संस्कृत हो गये हैं या नहीं? हमने अपनी जंगली और पाशविक वृत्तियोंका त्याग करके अपने संस्कारोंको सुन्दर बना लिया है या नहीं? हमारी जीवनचर्या हमारे देश और जातिकी परम्पराओंको आगे बढ़ा रही है या नहीं? अपने शरीरों तथा घरोंको किस प्रकारसे सजा रहे हैं, यह तो 'फैशन'का विषय है और हम अपने मन-हृदयको और अपने समग्र जीवनको किस प्रकारसे सजा रहे हैं, यह संस्कृतिका विषय है।

शिक्षा क्यों और कैसी हो ?

(श्रीराजेन्द्रबिहारीलालजी)

मनुष्य और अन्य प्राणियोंमें एक बड़ा अन्तर यह है कि पशुओंके शावकोंमें जो कुछ बुद्धि होती है, वह उनके जीवन-निर्वाहके लिये पर्याप्त होती है, किंतु मानव-शिशुकी बुद्धिका विकास किये बिना उसका जीवन-निर्वाह होना असम्भव है, अतः उसे विकसित करनेसे ही वह अद्‌भुत शक्तियोंको प्राप्त कर बड़े-बड़े काम कर सकता है। यदि बुद्धिको विकसित या जाग्रत् न किया जाय तो मनुष्य जानवरोंकी अपेक्षा कहीं अधिक दुर्बल और निःसहाय रहेगा और उसके लिये मनुष्यत्व प्राप्त करना तो दूर रहा, जीवन-निर्वाह करना भी दुष्कर हो जायगा।

बुद्धि मनुष्यके जीवन-रथकी सारथि है। शिक्षामें बुद्धि-विकास और ज्ञानोपार्जनका तो प्रमुख स्थान है ही, साथ-साथ व्यक्तित्वके दूसरे पक्षोंपर भी ध्यान देना चाहिये। शरीरको स्वस्थ और बलिष्ठ, भावोंको सुन्दर और संयत, चरित्रको निर्मल, परोपकारी तथा धार्मिक बनाना आवश्यक है। यह सारा काम उत्तम शिक्षाद्वारा ही किया जा सकता है। बचपनमें बालककी शिक्षाका उत्तरदायित्व उसके माता-पितापर रहता है। वे ही उसके सर्वप्रथम गुरु हैं। वयस्क लोगोंके आचार-व्यवहार और उपदेशोंका प्रभाव बालकोंके भावी जीवनपर बहुत दूरगामी होता है।

कुछ बड़ा होनेपर बालक पाठशालामें प्रवेश करता है। वहाँ उसे नियमित रूपसे पढ़ना-लिखना और सदाचरण सीखनेका अवसर मिलता है। इस प्रारम्भिक शिक्षामें अपने देशका भूगोल तथा इतिहास, सामान्य ज्ञान और विज्ञान, स्वास्थ्य-सिद्धान्त आदि जीवनोपयोगी सामग्री सम्मिलित होनी चाहिये। इसके आगे चलकर शिक्षामें विशेषीकरण आरम्भ हो जाता है। शिक्षार्थी अपनी रुचि और योग्यता तथा समाजकी आवश्यकताके अनुसार अपने लिये पाठ्य विषय चुन लेता है। माता-पिता और विद्यालयोंसे मिली हुई शिक्षा बड़े महत्त्वकी होती है, किंतु उससे भी अधिक महत्त्वकी शिक्षा वह होती है, जिसे व्यक्ति पठन-पाठन, सोच-विचार, अवलोकन और विचार-विमर्श आदिके द्वारा स्वयं अपने-आपको देता है। बुद्धिमान् और प्रगतिशील पुरुष अपने मनके द्वारको नये विचारोंके लिये सदा खुला रखता है। वह आजीवन एक शिक्षार्थी बना रहता है। वह अपने अनुभवसे तो सीखता ही है, दूसरोंके अनुभवका भी पूरा लाभ उठाता है। इस तरह वह अपने ज्ञान, योग्यता और कार्यकुशलतामें निरन्तर वृद्धि करता रहता है। शिक्षा वही उपयुक्त है जो विद्यार्थीमें ज्ञानोपार्जनकी तथा नयी बातोंको सीखनेकी उत्कण्ठाको जगाये और बढ़ावा दे।

मानव-जीवनकी एक विशेषता यह है कि मनुष्यके शरीरका विकास तो प्रौढावस्थामें रुक जाता है, किंतु ज्ञान एवं साधनोंका विकास वृद्धावस्थातक जारी रखा जा सकता है। इसके लिये शर्त यह है कि मनुष्य नये विषय सीखने और कठिन समस्याओंका हल खोजनेमें बुद्धिका निरन्तर प्रयोग करता रहे। बुद्धिको क्रियाशील बनाये रखनेसे मन प्रसन्न रहता है और समस्त शरीरको भी सुखी और स्वस्थ रखनेमें बड़ी सहायता मिलती है। बुद्धि और मनको शुभ चिन्तन और शुभ कार्योंमें लगाये रखना दीर्घायुका भी एक रहस्य है।

शिक्षाकी सफलताके लिये यह परमावश्यक है कि विद्यार्थियोंके मनमें अपने शिक्षकोंके प्रति प्रेम और आदरका भाव हो। शिक्षाका स्तर तभी ऊँचा हो सकता है जब अध्यापक स्वयं अपनेको आदरका पात्र बनाये। शिक्षक भावी राष्ट्रके निर्माता हैं। अच्छी शिक्षाद्वारा भारतको पृथ्वीपर स्वर्गका नमूना बनाया जा सकता है, यही हमारा उद्देश्य होना चाहिये। शिक्षा वही है जिससे मनुष्यके हर पहलूका विकास और उत्थान हो। ऐसी शिक्षामें मानव-जीवनके सारे कर्तव्यों, उद्देश्यों, आदर्शों, धर्म, ज्ञान और विज्ञानका सार समाविष्ट होना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें कहें तो उत्तम शिक्षा वही है जो विद्यार्थियोंको

ज्ञानवान् बनानेके साथ-साथ स्वधर्म-पालनका पाठ भी सिखाये और उनके मनमें यह बात अच्छी तरह जमा दे कि अपने धर्मको कुशलतासे निभानेवाले परम सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं। वही शिक्षा गुणकारी सिद्ध हो सकती है जिसमें भगवद्भक्तिके साथ सेवा-धर्म भी सिखाया जाता है।

संसारका कार्य चलानेके लिये साधारण दक्षता तो पर्याप्त है, किंतु संसारकी उन्नतिके लिये उत्तम दक्षताकी आवश्यकता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें मूर्धन्य विद्वान्, कार्यकर्ता और उदार महापुरुषोंकी आवश्यकता है। समयके साथ आगे बढ़ते रहनेके लिये बालकों तथा नवयुवकोंमें महानता और नेतृत्वके गुणोंका विकास होना चाहिये। हमारे देशको तपस्वी संतों और धर्माचार्योंके साथ-साथ महान् वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, डाक्टरों, शिक्षाविदों, निःस्वार्थ राजनेताओं, सुयोग्य प्रशासकों और उदार उद्योगपतियोंकी भी आवश्यकता है। यह सब उत्तम शिक्षासे ही सम्भव है।

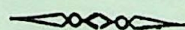
शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो धर्मके सभी अङ्गोंपर समुचित बल दे। हमारे शास्त्रोंमें धर्मके चार चरण या स्तम्भ बताये गये हैं—तपस्या, सत्य, संयम और परोपकार। इसी तरह शास्त्रोंमें जीवनके चार मुख्य उद्देश्य या फल भी बताये गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। आवश्यकता ऐसी शिक्षाकी है जो मनुष्यको चारों ही पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये प्रोत्साहित करे। इसमें भी अधिक ध्यान देनेकी बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति पूरा पुरुषार्थ तो करे किंतु केवल अपने लाभके लिये ही नहीं अपितु सभीके कल्याणके लिये करे। शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो मेहनत और ईमानदारीसे प्राप्त साधनोंका सबकी भलाईके लिये सदुपयोग करना सिखाये। सात्त्विक सुख वही है जो दूसरोंको सुख देनेसे मिलता है। हमारे भक्त कवियोंने ठीक ही कहा है—

'सुख दीन्हें सुख होत है', 'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।'
'वैष्णव जन तो तेने कहिये जो पीर पराई जाणे रे।'

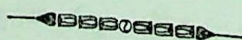
समष्टि अर्थात् समाज, राष्ट्र और संसारके प्रति व्यक्तिका क्या कर्तव्य है, शिक्षासे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिये। समष्टि भगवान्के विराट् स्वरूपका ही अङ्ग है, उनसे ओत-प्रोत है। इसलिये समाजकी सेवा विराट् भगवान्की आराधना है। समुचित शिक्षा वही है जो मनुष्यको बुद्धिमान्, विद्या-प्रेमी और कार्य-कुशल बनाये, उसे संयम, सदाचार, शील और परोपकारके मार्गपर अग्रसर करे, उसमें दैवी गुणोंका संचार करे, उसे सात्त्विक बनाये और ऐसे समाजका सृजन कराये जो गीताके शब्दोंमें श्री, विजय, विभूति और नीतिसे सम्पन्न हो। रामचरितमानसने आदर्श राष्ट्रको रामराज्यकी संज्ञा देकर उसका गीताके समान ही चित्र खींचा है, जैसा कि निम्नलिखित चौपाइयोंसे विदित होता है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥
राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥

ऐसे महान्, सुन्दर, सुखी, समृद्ध, ऐश्वर्यशाली और सदाचारी राष्ट्रका निर्माण करना ही शिक्षाका चरम लक्ष्य है।



चार चीजोंका सदा सेवन करना चाहिये—सत्सङ्ग, संतोष, दान और दया। चार अवस्थाओंमें आदमी बिगड़ता है। इसलिये इनमें सावधान रहना चाहिये—जवानी, धन, अधिकार और अविवेक। चार चीजें मनुष्यको बड़े भाग्यसे मिलती हैं—भगवान्को याद रखनेकी लगन, संतोंकी सङ्गति, चरित्रकी निर्मलता और उदारता। चार गुण बहुत दुर्लभ हैं—धनमें पवित्रता, दानमें विनय, वीरतामें दया और अधिकारमें निरभिमानिता।



शिक्षा और लोक-साहित्य

(श्रीपरमानन्दजी पाण्डेय)

पाश्चात्त्य संस्कृतिका विष हमारे गाँवोंमें तेजीसे फैल रहा है, जिससे हमारे शान्त और मधुर जनपदीय जीवनपर गम्भीर खतरा पैदा हो गया है। अतः विद्यार्थियोंको अपनी लोक-संस्कृतिकी ओर आकृष्ट करना परमावश्यक है। लोक-साहित्यमें हमारे सांस्कृतिक आचार-विचारोंके साथ ही शिक्षाके सभी आधारभूत तत्त्व पाये जाते हैं, जो शिक्षाके सर्वाङ्गीण विकासमें महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। इसलिये विद्यालय-स्तरके पाठ्यक्रममें लोक-साहित्यको समुचित स्थान देना श्रेयस्कर है। एक सुयोग्य नागरिकमें नैतिकता, राष्ट्रियता, विश्व-बन्धुत्व आदि गुणोंका होना आवश्यक है। हमारा लोक-साहित्य इन गुणोंको विकसित करनेमें सहायक हो सकता है।

ध्यातव्य है कि बचपनकी सारी वस्तुएँ बड़ी प्यारी लगती हैं। जहाँ बचपन बीतता है—वह गाँव, घर-द्वार, खेत, नदी, अमराइयाँ, पेड़-पौधे सभी प्यारे लगते हैं। बचपनके संगी-साथी भी बड़े अच्छे लगते हैं—एकदम अपने लगते हैं। इसे नैसर्गिक प्रकृति या मनोविज्ञान जो भी कहा जाय। इसी प्रकार मनुष्य अपनी माँके दूधके साथ जो भाषा सीखता है—जिस भाषामें वह प्रथम-प्रथम मुँह खोलता है, वह अत्यन्त प्रिय लगती है—आत्माकी भाषा होती है और इस भाषामें जो कुछ मिलता है वह भी बहुत प्रिय लगता है, सीधे हृदयको छूता है। अपनी लोकभाषाके प्रति इस नैसर्गिक अनुरागका उपयोग बालकोंके शिक्षणमें किया जाय तो वे निश्चय ही लाभान्वित होंगे। अतः शिक्षामें लोक-साहित्यकी विशेष उपादेयता है। एतदर्थ यहाँ लोकसाहित्यकी सामग्रीपर दृष्टिपात करना उचित है।

मनुष्यको आगे बढ़नेके लिये कभी-कभी अपने अतीतको भी देखना-जानना आवश्यक है। सौभाग्यसे हमारे भारतका अतीत अत्यन्त गौरवशाली रहा है, जो हमें पुराण और इतिहास बताते हैं। हमारे लोक-साहित्यमें भी ऐसे गीतों, गाथाओं और कथाओंका प्राचुर्य है, जिनमें अनेक पौराणिक तथा ऐतिहासिक चरित्रोंका रोचक और प्रभावशाली वर्णन है, जिससे बालकोंका बौद्धिक और नैतिक विकास हो सकता है। प्रायः प्रत्येक लोकभाषामें राजा हरिश्चन्द्र और गोपीचंद, भरथरीकी कथाएँ प्राप्य हैं, जिनसे सत्यनिष्ठा, त्याग, ज्ञान एवं पातिव्रत्यकी प्रेरणा मिलती है। इसी प्रकार आल्हा-ऊदलकी गाथामें अप्रतिम वीरताका संदेश भरा है।

हमारे देशमें सती स्त्रीकी महिमा अपार है, यहाँतक कि देवता भी सती स्त्रीसे डरते थे। आज भी भारतीय स्त्रियाँ पातिव्रत्य और सतीत्वके लिये विख्यात हैं। लोक-साहित्यमें सती अनसूया, सावित्री-सत्यवान् और सती विदुलाकी गाथाएँ विद्यालयोंमें पढ़नेवाली बालिकाओंको नारी-गरिमाकी शिक्षा देनेमें सहायक होंगी। सावित्री-सत्यवान्की कथा प्रायः सभी लोक-भाषाओंमें प्राप्य है। इस कथाका स्रोत महाभारत है। प्रसिद्ध है कि सावित्रीने अपने सतीत्वके बलपर अपने मृत पति सत्यवान्को पुनर्जीवित कर लिया था। सती विदुलाने भी सर्पदंशसे मृत पतिको पुनर्जीवित किया था। विदुला विषहरी लोकभाषा अङ्गिकाका गाथा-काव्य है, जो १७वीं सदीमें रचा गया।

भारतीय संस्कृतिमें पति-पत्नीका सम्बन्ध परम पवित्र और अनुपम है। अन्य देशोंके लोग, विशेषतः स्त्रियाँ इसके लिये तरसती हैं। हमारे लोक-साहित्यमें इसकी महत्ता भूरिशः प्रदर्शित है। यहाँतक कि पशु-पक्षीके जीवनमें इसका महत्त्व दिखलाया गया है। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है—एक लोक-गीतके अनुसार प्यासा हिरन यमुना-किनारे पानी पीने जाता है। बहेलिया उसे मारकर उसके मांस-चामको हाजीपुर-हाटमें बेच लेता है। इसपर व्याकुल हिरनी सती होनेके लिये हिरनकी हड्डीकी याचना करती है—

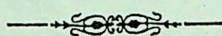
चाम मांस बेचिहें बहेलिया, हाड़वा दिहेंरे मोर।
ओहि हाड़ लेई सती होइबों, एहि जमुना के तीर॥

हिरनीका विलाप कितना करुण एवं हृदय-द्रावक है ।

पति-पत्नीका प्रेम पारिवारिक सुख-शान्तिका मूल है । लोक-साहित्यमें माता-पिता, भाई-बहन, भाई-भाई, दादा-नाना, बूआ-चाची आदिके अतिरिक्त पड़ोसी तथा ब्राह्मण, नाई, हलवाई, धोबी, कुम्हार, सुनार, बढ़ई, मोची प्रभृति समाजके सभी वर्गके लोगोंके प्रति यथायोग्य श्रद्धा, सम्मान, प्रेम, सहिष्णुता एवं सहयोगकी मनोरम अभिव्यक्ति की गयी है । इससे हमारे पारिवारिक एवं सामाजिक संगठन तथा राष्ट्रिय एकताको बल मिलता है ।

लोक-साहित्यमें नदियों, नगरों, प्रदेशोंके नाम बहुधा आते हैं, जैसे—गङ्गा, यमुना, सरयू, काशी, अयोध्या (अवध), पटना, जनकपुर, जगन्नाथ धाम, वैद्यनाथ धाम, बंगाल, औरंग देश आदि । इसके अध्ययनसे छात्रोंको अपने देशकी भौगोलिक जानकारी भी होगी । हमारे लोक-साहित्यमें हमारी आर्थिक समृद्धि तथा वाणिज्य-व्यवसायकी भी झलक मिलती है ।

हमारे लोक-साहित्यमें सामाजिक कुरीतियोंपर भी प्रहार किये गये हैं । बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, कन्याके विवाहके लिये पिताकी चिन्ता, बाल-विधवा पुत्रीका मार्मिक विलाप, सौतकी बुराइयाँ आदिमें समाज-सुधारका मार्मिक संदेश प्राप्य है ।



ग्रामीण-विकासके लिये शिक्षा

(डॉ॰ एस॰ के॰ मित्रा)

गाँवके आर्थिक विकासके लिये कृषि और उद्योग—दोनों ही क्षेत्रोंमें शिक्षा ग्रामीण-समुदायको नया जागरण, नया ज्ञान, सोचने-विचारनेकी नयी आदत और नया दृष्टिकोण प्रदान कर सकती है । विज्ञानके सम्बन्धमें ग्रामीण-समुदाय विशिष्ट-रूपसे अँधेरेमें है । इसीलिये आर्थिक विकासके साथ-ही-साथ सामाजिक विकासकी आवश्यकता होगी, जिससे गाँवके लोगोंके मस्तिष्क पुराने रीति-रिवाज, परम्परा तथा रूढ़ियोंके बन्धनसे मुक्ति पा सकें । यह संदेहकी बात नहीं कि सभी परम्पराएँ बुरी नहीं हैं, फिर भी इनमें बहुत-सी ऐसी हैं जो नयी परिस्थितिमें नये ढंगसे सोचनेमें बाधा उपस्थित करती हैं । इसलिये गाँवके विकासके लिये शिक्षाकी दिशामें क्रान्तिकारी परिवर्तन करना होगा ।

इतिहासमें हम देखते हैं कि औपचारिक अर्थमें शिक्षाका सम्बन्ध नगरीकरणसे रहा है । यूनानमें शिक्षाका विकास नगरराज्योंके साथ-साथ हुआ । वहाँ शिक्षाका उपयोग ऐसे साधनके रूपमें किया जाता था, जिससे युवकोंका मस्तिष्क विकसित किया जा सके और वे नगरराज्योंकी नागरिकताके उत्तरदायित्वका निर्वाह कर सकें । इसी प्रकार रोममें भी शिक्षाका उपयोग कुलीन नागरिकोंके लिये ही होता था । इसके बाद शिक्षाके लक्षणमें बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हो पाया । पश्चिमी देशोंमें जब व्यापारिक-समुदायका विकास हुआ, तब शिक्षाने एक मध्यवर्गीय दिशा स्वीकार की, जो औद्योगिक क्रान्तिके साथ ब्रिटेनमें निश्चितरूपसे सामने आयी । ऐतिहासिक दृष्टिसे पश्चिमी देशोंमें शिक्षा शहरी विकासके साथ जुड़ी रही है । यही शिक्षा बादमें राजनीतिक जनतन्त्रके उदयके साथ ग्रामीण क्षेत्रोंतक फैल गयी । उस समय शिक्षित हो जानेका अर्थ ऐसा भद्रपुरुष बनना था, जो अपने हृदय और मस्तिष्ककी सम्पूर्ण विशेषताओंके द्वारा दूसरोंके श्रमपर जीवित रह सके । श्रमिक-वर्गकी माँग यह रही कि शिक्षाके द्वारा वे निम्नवर्गीय जीवनसे मुक्ति पायें और शहरी क्षेत्रोंमें बाबुओं-जैसी नौकरी प्राप्त कर सकें ।

आधुनिक युगमें 'जनताके लिये शिक्षा', 'सबके लिये शिक्षा', 'जीवनपर्यन्त शिक्षा' और 'ग्रामीण-विकासके लिये शिक्षा' आदि विकासकी माँगें हैं । इनका सम्बन्ध शिक्षाकी दिशामें आधारभूत परिवर्तनसे है । आजकल औद्योगिक समुदायमें शिक्षा मध्यवर्ग और शहरीकरणसे घनिष्ठरूपमें

सम्बन्धित है । यह बहुत आवश्यक है कि अब शिक्षाकी दिशामें परिवर्तन किया जाय, जिससे उसे ग्रामीण-विकाससे सम्बद्ध किया जा सके ।

यहाँ यह मान्यता ध्यानमें रखने योग्य है कि शहरीकरण या औद्योगीकरण किये बिना ही कृषिपर जीवन-यापन करनेवाले गाँवोंका विकास किया जा सकता है । यदि यह मान्यता उचित नहीं है तो गाँवके विकासके लिये वहाँ और अधिक अच्छे तथा और अधिक संख्यामें स्कूल-कालेजोंकी स्थापना करनी होगी । ग्रामीण-विकासका तात्पर्य व्यापकरूपमें आर्थिक और सामाजिक विकाससे है । हमें यह देखना है कि शिक्षा इसे कैसे पूरी कर सकती है ?

आर्थिक विकासके लिये यह आवश्यक है कि गाँवोंमें कृषि, उद्योग और समाज-सेवाओंका विकास किया जाय । आज कृषिकी यह आवश्यकता है कि उत्पादकता बढ़े और उत्पादकताके लिये यह आवश्यक है कि नये साधन अपनाये जायँ । कृषि-भूमिका उचित रीतिसे वितरण किया जाय जिससे आर्थिक रूपसे ग्रामीण-समुदाय संतुष्ट हो । भूमिका नवीनीकरण और उर्वर होना आवश्यक है और इसके लिये नयी टैक्नीक, नये उपाय और उत्पादनकी नयी विधि आवश्यक है । जब जनसंख्याका इतना भारी दबाव है, तब भूमिका बार-बार और अधिक उपयोग करना पड़ेगा, परंतु इस प्रकार यह बहुत सम्भव है कि भूमिके उत्पादक तत्त्व निर्बल हो जायँ । इसलिये अच्छी और विकसित खेतीके साथ ग्रामीण-समुदायकी आवश्यकता है कि नये साधनोंको अपनाया जाय, वनोंका संरक्षण किया जाय तथा भूमिका विकास किया जाय । इन सबके लिये ग्रामीण-समुदायको नये ज्ञान, नयी आदत और नये दृष्टिकोणकी आवश्यकता होगी ।

ग्रामीण क्षेत्रोंके आर्थिक विकासके लिये कृषिपर आधारित उद्योगोंकी आवश्यकता है । इन उद्योगोंमें मध्यम श्रेणीकी टैक्नालाजीका प्रयोग करना होगा, जिससे किसान उन्हें सरलतासे अपना सकें तथा बड़ी पूँजी लगानेकी भी आवश्यकता न हो । इस प्रकारके कृषि-उद्योग-केन्द्रोंकी स्थापना, मण्डी और परिवहन आदिके लिये किसानोंको ग्रामीण-बैंकोंसे ऋण लेनेकी सुविधा प्राप्त करानी होगी । इस कार्यके लिये नवीन दृष्टिकोण और नये साधनोंको अपनाना होगा ।

अब प्रश्न यह है कि किस प्रकारकी शिक्षा इस कार्यको पूरा कर सकती है और कैसे कर सकती है ? हम खिन्नताके साथ इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि औपचारिक शिक्षा इस चुनौतीको स्वीकार करनेमें असमर्थ होगी । यदि औपचारिक शिक्षा शहरीकरण किये बिना ही ग्रामीण कृषि-समुदायको उसकी आर्थिक आवश्यकताएँ प्राप्त करानेमें समर्थ होती तो हमारे ये विद्यालय इस लक्ष्यको बहुत पहले ही प्राप्त कर चुके होते; किंतु हमारे विद्यालय ऐसा नहीं कर पाये । इसके विपरीत शिक्षाने गाँवके शिक्षित व्यक्तिको गाँवसे अलग कर दिया । गाँवको उसकी शिक्षाका लाभ प्राप्त नहीं हो सका और गाँवके लोग अपनी समस्याओंसे पुरानी प्रणालीसे ही जूझ रहे हैं । इस कारण हमें अनौपचारिक शिक्षाके सम्बन्धमें सोचना होगा । अनौपचारिक शिक्षा ही विकास-कार्योंसे सीधी सम्बद्ध हो सकती है । यह शिक्षा दूसरे प्रकारकी होगी । इसमें लोग काम करते हुए कामसे शिक्षा प्राप्त करेंगे, जबकि वास्तवमें लोग काम करते हुए सीखनेकी चेष्टा नहीं करते; किंतु अब उन्हें जानना होगा, सोचना होगा और साधन-सम्पन्न बनना होगा । इसलिये शिक्षाके सामने यह चुनौती है कि वह इस प्रकारके पाठ्यक्रमका विकास करे ।

इस समय यह प्रतीत होता है कि गाँवके विकासके लिये सरकारी एजेंसियाँ—जैसे सड़क बनाने, विद्युतीकरण करने, स्वास्थ्य, उत्पादन आदिके उद्देश्यसे सेवारत हैं, उसी प्रकार उन्हें शिक्षाके अङ्गको भी अपनेमें जोड़ लेना चाहिये । ये एजेंसियाँ गाँवके लोगोंके लिये वैज्ञानिक जानकारी प्रदान करनेके लिये अपनी सेवाएँ प्रस्तुत करें । यह एक प्रसार-कार्य है तथा प्रसारके मार्गसे ही यह कार्य सम्पन्न होगा, औपचारिक स्कूली पाठ्यक्रमके अनुसार नहीं । इसके लिये सूचना प्रदान करनेवाले मनोरञ्जक साधनों, जैसे—पोस्टरों, पुस्तिकाओं, फिल्मों और स्लाइडोंकी आवश्यकता होगी । ऐसी सूचनाएँ युवक और वृद्ध

सभीके लिये होंगी, जो उनके लिये उन्हींके स्थानपर आवश्यकतानुसार जब वे चाहें, उपलब्ध होंगी।

इस प्रकारकी अनौपचारिक शिक्षाका विकास सर्वोत्तमरूपमें सरकारकी सहायतासे स्वयंसेवी संस्थाओं, सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं और युवकों-द्वारा किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्रोंकी आवश्यकताके अनुसार इस प्रकारके लोगोंको दीक्षित करना होगा, जिससे वे गाँवके लोगोंको नया ज्ञान प्राप्त करनेमें और नयी दिशामें नये साहसके साथ कार्यमें जुट जानेके लिये प्रेरित करनेमें सहायक बन सकें। साक्षरता भी इस प्रकारकी शिक्षाका एक अङ्ग होगी, परंतु वह एकमात्र लक्ष्य नहीं हो सकती। व्यापकरूपसे परिस्थितियोंके अध्ययनंपर आधारित यह शिक्षा मानव-सम्बन्धों और सामाजिक परिवर्तनोंकी शिक्षा होगी। यह विश्वासके स्थानपर तर्क तथा अन्धविश्वासके स्थानपर विज्ञानकी स्थापना करेगी। इस प्रकार श्रम-केन्द्रित अनौपचारिक शिक्षाकी दिशा होगी—साधनोंका संयोजन, भूमिका विकास, ध्येयके साथ मध्य श्रेणीकी टैक्नालाजीका प्रयोग।

ग्रामीण-विकासके संदर्भमें अनौपचारिक शिक्षापर विचार करने और यह तर्क प्रस्तुत करनेके बाद कि ग्रामीण-विकासकी दिशामें केवल अनौपचारिक शिक्षा ही सार्थक भूमिका प्रस्तुत कर सकती है, अब औपचारिक शिक्षापर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। यह इसलिये कि केवल औपचारिक शिक्षा ही श्रम और कामकी आवश्यकता पूरी नहीं कर सकती, परंतु यदि अनौपचारिक शिक्षा विस्तृतरूपमें विकसित होती है तो औपचारिक शिक्षापर भी यह दबाव पड़ेगा कि वह किसी प्रकार ग्राम-समुदायके निकट आये। इस संदर्भमें स्कूल और कालेजकी शिक्षाके अन्तर्गत कुछ कार्यक्रमोंके सम्बन्धमें सोचा जा सकता है। स्कूलोंमें जहाँ कि कार्यानुभव अनिवार्य विषय है, उन कार्यानुभवोंका संयोजन इस प्रकार किया जा सकता है, जिससे उत्पादक कार्य सम्पन्न हो सकें। इसके लिये सम्भवतः अध्यापक-शिक्षामें पूर्ण परिवर्तनकी आवश्यकता होगी। अध्यापक-शिक्षाका पाठ्यक्रम प्रत्येक स्तरपर ऐसा होना चाहिये, जिसमें वास्तविक विकास-कार्योंमें योगदान करना आवश्यक हो। ग्रामसेवा अध्यापक-शिक्षाका अति महत्त्वपूर्ण अङ्ग होना चाहिये। यह सेवा पूर्व-अध्यापक-शिक्षाका कार्यक्रम होना चाहिये।

नये दसवर्षीय पाठ्यक्रमके अन्तर्गत राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण-परिषद्ने विज्ञानके द्वारा परिवेश-अध्ययनके रूपमें एक प्रयास किया है। इस परिवेश-अध्ययनका बहुत कुछ आधार ग्राम्यजीवन है, इससे ग्रामीण-विकासकी समस्याओंको वैज्ञानिक रूपमें सार्थकताके साथ समझा जा सकेगा।

एनसर्टद्वारा प्रस्तुत हायर सेकेंडरीकी ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षाओंके पाठ्यक्रममें एकेडेमिक और व्यावसायिक दोनों धाराओंके छात्रोंके लिये एक सामान्य पाठ्यक्रमका प्रावधान किया गया है। इस पाठ्यक्रमके ढाँचेमें एक पाठ्यक्रम ग्रामीण-विकाससे सम्बन्धित होगा, जिसमें उसकी समस्याएँ तथा देशमें उनका समाधान करनेको उठाये गये कदम, इन समस्याओंको समझनेके तरीके और उनपर सार्थक निर्णय लेनेके उपायोंपर भी विचार होगा। हम आशा करते हैं कि इस प्रकारका नया पाठ्यक्रम बड़ी कल्पनाशीलताके साथ बनाया जायगा।

अभी यह कहना कठिन है कि महाविद्यालय-स्तरपर क्या होगा। १+३ स्तरपर विषयोंके पाठ्यक्रमोंका निर्माण हो रहा है। यह सम्भव है कि इनका आधार १०+२ का पाठ्यक्रम ही होगा तथा ग्राम्य-विकास और ग्रामीण परिवेशके वैज्ञानिक अध्ययनकी दिशामें इस स्तरपर और अधिक गहरी ः ोंका समावेश होगा।

इस प्रकार यह दीखता है कि औपचारिक शिक्षा तथा विशेषकर ौपचारिक शिक्षा—दोनों ही स्तरपर शिक्षाशास्त्री उचि देशामें आगे बढ़ रहे हैं। आवश्यकता है कि उनके ह सुदृढ़ बनाये जायँ, परंतु प्राइवेट और सार्वजनिक दोनो क्षेत्रोंमें विकासात्मक कार्य करनेवाली संस्थाओंमें जाग ा अभी अभाव है। जबतक यह अनुभव नहीं वि जाता कि वे विकास-कार्यरत संस्थाएँ बच्चों, जवानों र प्रौढ़ोंको सिखानेकी जिम्मेदारी ग्रहण करें, तबतक ग्रामीण-विकासके लिये शिक्षाका उद्देश्य प्राप्त करना कठिन ही होगा, औपचारिक शिक्षाके बहुत-

से प्रयास अध्ययनका अभ्यास बनकर रह जायँगे । दूसरी ओर विकासात्मक कार्य करनेवाली संस्थाएँ ग्रामीण-समुदायमें नये ज्ञान, नये दृष्टिकोण और नयी आदतके अभावके कारण अपनेको कुण्ठित अनुभव करेंगी; क्योंकि जबतक ये संस्थाएँ अपने सहयोगके लिये उत्साहके साथ लोगोंको अपने साथ लेकर नहीं चलेंगी, उन्हें प्रोत्साहित नहीं करेंगी, विकासकार्योंकी प्रेरणा नहीं देंगी, तबतक बहुत कुछ परिश्रम व्यर्थ जायगा और अपेक्षित परिणाम नहीं ही प्राप्त हो सकेंगे । अतः हमारे सामने यह चुनौती है कि हम एक ऐसी आयोजनात्मक पद्धतिकी खोज करें जो सार्वजनिक विकासात्मक एजेंसी तथा शैक्षिक एजेंसियोंको सहायता दे तथा उन्हें परस्पर पूरक बनाये ।



व्यक्तित्वके विकासमें शिक्षाका योगदान

(श्रीआनन्दविहारीजी पाठक, एम्० ए०, साहित्यालंकार, साहित्यरत्न, वैद्य-विशारद)

मानव-जीवनको सफल और सुन्दर बनानेमें शिक्षाका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । मनुष्य जीवन-पर्यन्त शिक्षाकी प्राप्ति विविध रूपोंमें करता है और अपने ज्ञानको उत्तरोत्तर बढ़ानेके लिये इसका सहारा लेता है । शिक्षा प्राप्त करनेका शुभारम्भ मानवके बाल्य-कालसे ही होता है । बाल्यावस्था ही शिक्षा प्राप्त करनेका प्रमुख समय माना जाता है । बच्चोंके व्यक्तित्व-विकासके लिये शिक्षा देनेके कार्यका आरम्भ शैशवावस्थासे ही घर और परिवारके लोगोंके बीच हो जाता है ।

हमारी आजकी शिक्षा-पद्धतिमें व्यक्तित्वके विकासके साधनोंका सर्वथा अभाव है । इसी कारण देशकी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अव्यावहारिक, निरुपादेय तथा हानिकर सिद्ध हो रही है, जिससे हम भारतीय स्कूली-शिक्षा पाकर भी जीवनभर मानव-जीवनके व्यावहारिक कार्यों एवं अनुभवोंसे वञ्चित रहकर कोरे-के-कोरे पड़े रह जाते हैं । शिक्षा और मानव-जीवनके बीच अव्यवस्थित स्थिति बनी ही रह जाती है ।

यदि हमारी मूल प्रवृत्तियोंके आधारपर ही बच्चोंको शिक्षा देनेकी व्यवस्था व्यावहारिक रूपमें की जाय तो उनमें व्यक्तित्वका विकास होना सम्भव हो सकता है । इसमें तब संदेह नहीं कि ऐसी शिक्षा बच्चोंको सक्रिय, कर्तव्यशील, व्यवहारकुशल, आत्मनिर्भर और विकासोन्मुख बनानेमें सफल होगी और हमारे बच्चे राष्ट्रके आदर्श एवं योग्य नागरिक बन सकेंगे ।

मूल प्रवृत्तियाँ प्राणिमात्रमें जन्मजात होती हैं । ये आप-ही-आप संचालित होती रहती हैं । इन्हें नैसर्गिक गुण, स्वभाव अथवा प्रकृतिके नामसे भी कहा जाता है । पशु-पक्षियोंमें तो ये नैसर्गिक गुण अथवा मूल प्रवृत्तियाँ अत्यन्त दृढ़रूपमें रहती हैं । यही कारण है कि यदि बत्तखके नवजात शिशुको भी अचानक गहरे पानीमें फेंक दिया जाता है तो वह बिना सिखे-सिखाये ही अपने-आप तैरने लग जाता है । पर मनुष्य इन मूल प्रवृत्तियोंमें अपनी ज्ञानशक्तिके सहारे सुधार लाकर इन्हें अनुकूल, जीवनोपयोगी तथा व्यावहारिक बना लेता है ।

मानवमें ये जन्मजात मूल प्रवृत्तियाँ अवस्था-भेद और परिस्थितियोंके कारण विभिन्न रूपोंमें विकसित होती हैं । अतः शिक्षकोंका आवश्यक कर्तव्य है कि वे अवस्था-भेदके कारण मूल प्रवृत्तियोंके विभिन्न विकसित स्वरूपोंका ध्यान रखकर ही बच्चोंको शिक्षा प्रदान करें और बच्चोंके चरित्र-निर्माणके साथ-साथ उनके व्यक्तित्वका विकास करनमें योगदान दें ।

मूलतः मूल प्रवृत्तियोंके दो भेद माने गये हैं— एक सहज क्रियाएँ और दूसरी सहज प्रवृत्तियाँ । सहज क्रियाएँ तो हमारे शरीरकी रक्षाके लिये यान्त्रिक रूपसे स्वतः हुआ करती हैं और स्वचालित रहती हैं । इसकी ठीक-ठीक जानकारी भी हमें नहीं हो पाती । इनका मानसिक क्रियाओंसे कोई घनिष्ठ लगाव नहीं रहता । छींकना, साँस लेना, पलकोंका गिरना-उठना, हृदयकी

धड़कन आदि सहज क्रियाएँ हैं, जो आप-से-आप चालित होती रहती हैं। इसका ज्ञान साधारण तौरपर हमें वैसा नहीं रहता। इन क्रियाओंके निष्पादनमें शरीरका कोई अङ्ग-विशेष ही कार्यशील होता है, किंतु इसके विपरीत सहज प्रवृत्तियाँ विशुद्ध मानसिक क्रियाएँ हैं। इनके संचालनमें सम्पूर्ण शरीर क्रियाशील हो जाता है।

मानव-शिशुमें अनुकरण, जिज्ञासा, संचय, प्रतिद्वन्द्विता, भयभीत होना आदि मूल प्रवृत्तियोंका विशेष जोर देखा जाता है। अनुकरणकी मूल प्रवृत्ति मानव-जीवनमें शैशवावस्थासे ही विशेष स्थान रखती है। बच्चे बोलना, चलना एवं अन्य कार्योंका अनुकरण करना इसी मूल प्रवृत्तिसे सीखते हैं। इस प्रवृत्तिके सुविकासकी ओर आरम्भसे ही ध्यान न रखनेसे बच्चे बुरे आचरणोंको नकल कर सीख लेते हैं। इस प्रवृत्तिके सुप्रयोगसे बालक आदर्श बातोंको सीखते हैं और वे अपने जीवनको सुन्दर बना पाते हैं।

हम बच्चोंमें यह भी देखते हैं कि वे किसी नयी वस्तुको देखकर उसके विषयमें जाननेके लिये प्रश्नोंकी झड़ी लगा देते हैं। कुछ शिक्षक एवं अभिभावकगण ऐसा करनेपर डाँट-फटकारद्वारा उन्हें चुप कर देते हैं। फलस्वरूप डाँट सुननेके भयसे वे फिर कुछ पूछनेका साहस नहीं करते और परिणामतः उनकी जिज्ञासा-शक्ति धीरे-धीरे मन्द पड़ जाती है, जिससे बच्चोंमें ज्ञानार्जनकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है, यहाँतक कि प्रतिभाशाली बालक भी मन्द हो जाता है। जिज्ञासा सम्पूर्ण ज्ञानकी जननी है। संसारके सभी वैज्ञानिक आविष्कार इस जिज्ञासा-प्रवृत्तिके सहारे ही मानवद्वारा किये जा सके हैं। अतः बालकोंद्वारा जिज्ञासामय प्रश्नोंके पूछने और शङ्का-समाधान करनेके लिये कुछ कहनेपर उन्हें डाँट-फटकार कर चुप कर दिये जानेकी अपेक्षा समुचित और सुन्दर ढंगसे उनकी जिज्ञासाको शान्त करनेका प्रयास सदा किया जाना चाहिये।

इसी प्रकार संचयकी प्रवृत्ति बालकोंमें रहनेके कारण ही बच्चे छोटी अवस्थासे ही ईंट, पत्थर, शीशे आदिके टुकड़ोंको जमा करके अपने पास रखते हैं। इसी मूल प्रवृत्तिके कारण विभिन्न प्रकारके डाक-टिकटों, ऐतिहासिक-भौगोलिक चित्रों तथा अन्य संग्रहणीय वस्तुओंको एकत्र करके रखते हुए बच्चे-बच्चियाँ देखे जाते हैं। इस प्रवृत्तिमें सुधारकी दिशा देकर शिक्षकगण बच्चोंमें उपादेय एवं समाजोपयोगी वस्तुओंका संचय करनेकी प्रवृत्ति पैदा करके उनका जीवन उपयोगी बना सकते हैं। इसी प्रकार प्रतिद्वन्द्विताकी प्रवृत्तिसे स्पर्धाकी भावना पैदा करके हम बच्चोंको प्रगतिशील एवं कर्मठ बनानेका कार्य पूरा कर सकते हैं।

अतएव यह स्पष्ट एवं निर्विवाद है कि हमारी शिक्षा यदि मूल प्रवृत्तियोंके आधारपर ही व्यावहारिक और उपादेय ढंगसे दी जाय तो बच्चे-बच्चियोंके व्यक्तित्वका विकास सम्भव हो सकेगा और हमारी शिक्षा सच्चे अर्थोंमें फलवती सिद्ध हो सकेगी।

राष्ट्र और अध्यात्म-शिक्षा

(श्रीहरिकृष्णजी दुजारी)

राष्ट्र और शिक्षाका गहन सम्बन्ध है। शिक्षा ही राष्ट्रकी उन्नतिकी भित्ति है। जिस राष्ट्रकी शिक्षा सशक्त होगी, वह राष्ट्र अवश्य ही एक दिन शक्तिशाली होगा। हमारा भारतवर्ष उच्च शिक्षाके कारण ही सदा सर्वत्र गौरवान्वित रहा। हमारी शिक्षा सदैव अध्यात्म-प्रधान रही है।

बच्चे ही हमारे राष्ट्रकी आत्मा हैं। राष्ट्रका भविष्य होनहार बच्चोंपर ही निर्भर करता है। आजके बच्चे ही भविष्यमें राष्ट्रको उज्ज्वल एवं शक्तिशाली बनायेंगे। बच्चोंका भविष्य उनकी शिक्षापर निर्भर करता है।

आजकी हमारी शिक्षा अत्यन्त निर्बल हो रही है। हम स्वयंमें अपनी आस्था खो रहे हैं। हमारा नैतिक

पतन बड़े वेगसे हो रहा है। चरित्र नामकी वस्तु बच्चोंके जीवनसे धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। बच्चोंकी अमूल्य निधि उनका चरित्र ही है। उनके पूर्वजोंकी धन-सम्पत्ति तो उनके उपयोगमें कितनी आयेगी यह तो कौन जाने, परंतु उनका चरित्र उनके अवश्य काम आयेगा और वह उनकी संतानोंकी भी अमूल्य निधि होगा। चरित्रके प्रति उदासीनता ही राष्ट्रके पतनका एक प्रमुख हेतु है।

'नास्ति विद्यासमं चक्षुः'—विद्याके समान दूसरा नेत्र नहीं है। पूर्वकालमें हमारी विद्या (शिक्षा) का श्रीगणेश होता था—**'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, क्रोधं कामं च जहि'**—सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो, स्वाध्यायमें प्रमाद मत करो, काम-क्रोधको जीतो। बालक अपने पाठको केवल पढ़कर या रटकर ही कण्ठस्थ नहीं करते थे, अपितु पढ़े पाठको हृदयङ्गम करते थे। जब अध्ययन-कालमें कौरव-पाण्डव बालकोंकी प्रगति देखी जाने लगी, उस समय बालक युधिष्ठिरसे पूछा गया कि 'तुमने पाठ कहाँतक सीखा है?' तो उसने उत्तरमें कहा—'मैंने अभीतक पाठका केवल पहला वाक्य **'सत्यं वद'** ही सीखा है।' युधिष्ठिरके अभिभावक धृतराष्ट्रको यह सुनकर बहुत बुरा लगा कि उसे गुरुजीने इतने दिनोंमें केवल एक वाक्य ही सिखाया, परंतु धृतराष्ट्रको उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई, जब उन्हें यह मालूम हुआ कि युधिष्ठिरने अपने पाठका पहला वाक्य अपने जीवनमें पूर्णरूपसे उतार लिया है। अन्य वाक्य अपने जीवनमें पूर्णरूपसे उतार पाया है या नहीं, इसका वह अभीतक पूरा निर्णय नहीं कर पाया है। युधिष्ठिरका पाठ सीखनेका अभिप्राय अपने जीवनमें पूर्णरूपसे पाठको उतारना था। पूर्वकालमें गुरुजन एवं विद्यार्थी दोनोंका ही लक्ष्य रहता था कि जो पढ़ा-पढ़ाया जाय वह जीवनमें खरा उतरे।

बचपनसे ही सदाचार और भगवद्विश्वासके बीज बच्चोंमें अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित होने लगते हैं। इन बीजोंका रोपण करनेवाले उनके माता-पिता एवं गुरुजन ही होते हैं। उनके आचरणोंका बालकपर गहरा प्रभाव पड़ता है। इन गुणोंसे विभूषित बच्चे राष्ट्रको उच्च दिशा देते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य-सम्बन्धी 'कर्मयोग-शास्त्र' नामक ग्रन्थके प्रणेता थे लोकमान्य बालगंगाधर तिलक। इस ग्रन्थको देखनेपर उनके अगाध पाण्डित्य तथा दार्शनिक उच्च ज्ञानका परिचय प्राप्त होता है। लोकमान्य तिलकके माता-पिता साधारण स्थितिके सद्गृहस्थ थे, परंतु उन्होंने अपने बालक तिलकको उच्च गुणवान् बनानेमें कठोर परिश्रम किया। पिताजी संस्कृतके अच्छे पण्डित थे। धार्मिक माता और मेधावी विद्वान् पिताने बालक तिलककी शिक्षापर पूरा ध्यान दिया। इनके पिताजी कागजके टुकड़ोंपर एक-एक श्लोक लिखकर प्रत्येक श्लोकपर एक पैसा रख देते थे। बालक तिलकको एक श्लोक याद कर लेनेपर एक पैसा मिल जाता था। एक पैसेके प्रलोभनसे तिलकने उत्साहपूर्वक अनेक श्लोक याद कर लिये थे। उनकी बहन भी इस कार्यमें उनसे स्पर्धा रखती थी। माता-पिताके अनुशासनमें तिलक अपने विद्यालयके एक मेधावी छात्र थे। बालक तिलक बड़े होकर केवल मेधावी ही नहीं बने अपितु राष्ट्रकी स्वतन्त्रता-प्राप्तिमें उनका बहुत बड़ा योगदान रहा।

गीताञ्जलिके रचयिता विश्वके नॉवेल पुरस्कारसे पुरस्कृत श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरके माता-पिता बड़े आस्तिक थे। उनकी छोटी अवस्थामें ही उनकी माता उन्हें रामायण एवं महाभारतकी भक्ति-भावमयी कथाएँ सुनाया करती थीं। माताजीकी रुग्ण-अवस्थामें उनका सेवक उन्हें रामायणकी कथाएँ सुनाया करता था। उन कथाओंका बालक रवीन्द्रनाथके हृदयपर गहरा प्रभाव पड़ा। इसी कारण उनकी रचनाएँ भक्ति-भावसे ओत-प्रोत रहीं।

इधरकी एक घटना है। एक मित्रके दो बच्चे थे। उन्हें पढ़ानेके लिये घरपर एक शिक्षक महोदय आया करते थे। एक दिन अचानक एक सज्जन उनके यहाँ पहुँच गये। उन्होंने देखा कि दोनों बच्चे खिलौनेसे खेल रहे हैं और शिक्षक महोदय एक कहानियोंकी पुस्तक पढ़नेमें तल्लीन हैं। यहाँतक कि शिक्षक एवं बच्चोंको

किसीके आनेका भान ही नहीं हुआ। बगलके कमरेमें बच्चोंके माता-पिता टी० वी० देखनेमें तल्लीन थे। इस प्रकार हो रही है आजकलकी शिक्षा। बच्चे या तो परीक्षामें सफल ही नहीं होते या परीक्षाके दिनोंमें रटकर अथवा नाना प्रकारके निम्नकोटिके साधन अपनाकर किसी तरह परीक्षामें सफल हो जाते हैं।

आजकल माता-पिता बच्चोंको विद्यालयमें भर्ती करके अपने कर्तव्यकी इति मान लेते हैं। अधिक-से-अधिक परीक्षाके दिनोंमें वे लोग घरपर पढ़ानेके लिये एक शिक्षक नियुक्त कर देते हैं। बच्चे पढ़ रहे हैं या नहीं? बच्चोंकी क्या प्रगति हो रही है? उनका आचरण-व्यवहार कैसा है? इन सब बातोंको देखनेके लिये उन्हें अवकाश कहाँ? यदि इस विषयपर उन लोगोंसे कुछ पूछा जाय तो वे एक दूसरेके दोषोंका विस्तारसे वर्णन कर सकते हैं। माता-पिता, शिक्षक एवं विद्यार्थी सभी अपने कर्तव्यको भूले हुए हैं।

माता-पिता एवं शिक्षकके सदाचारमय जीवनका प्रभाव बच्चोंपर अवश्य पड़ता है। वैसे तो गर्भकालमें ही माता-पिताके संस्कारोंका प्रभाव बच्चेपर होने लगता है। बच्चे अपने माता-पिता एवं गुरुजनोंको देख-देखकर ही आचरण करना सीखते हैं। सत्यता, नम्रता, निष्कपटता आदि गुणोंकी शिक्षा उसे माता-पिता एवं गुरुजनोंसे मिलती है। उनके छोटे-छोटे आचरण उनके हृदयमें घर कर लेते हैं। माता छोटे बच्चेको कड़वी ओषधि पिलाती है। जब वह नहीं पीता तो माता उसे फुसलाकर कहती है कि 'बेटा! यह मीठी है, जल्दी पी लो।' बच्चा ओषधि पी तो लेता है, परंतु पीते ही उसे मालूम हो जाता है कि ओषधि कड़वी है, मीठी नहीं। माताके असत्य बोलनेके संस्कार तत्काल बच्चेके मनमें घर कर लेते हैं। कोई वस्तु बच्चेको नहीं देनी होती है, तब उसे छिपाकर बच्चेसे कह देते हैं कि 'हौआ' ले गया। बादमें बच्चा जब उस वस्तुको देखता है तब वह तुरंत समझ जाता है कि उसे असत्य समझाया गया था। बच्चोंमें समझनेकी शक्ति अधिक होती है। इस तरह असत्यकी कई घटनाएँ देख-देखकर असत्यके अङ्कुर बच्चोंमें गहरे पड़ जाते हैं।

रोते बच्चेको तो चुप करनेके लिये कई बार माता-पिता क्रोधमें उसे बुरी तरह पीटते हैं। जैसे-जैसे बच्चा रोता है, उसे अधिक पीटते जाते हैं। माता-पिताके क्रोधके बीज बच्चोंमें यहींसे पैदा होने लगते हैं। बच्चा सीख जाता है कि क्रोध कैसे किया जाता है। इसी तरह चोरी-कपट आदि दुर्गुण बच्चे अपने बड़ोंको करते देखकर ही सीखते हैं। बच्चोंके साथ माता-पिता एवं गुरुजनोंका सदाचारपूर्वक रहना अत्यन्त आवश्यक है।

राष्ट्रमें दुराचार-अपराध नित्य नये-नये तरीकोंसे बढ़ रहे हैं। अध्यात्म-शिक्षासे ही ये अपराध नियन्त्रणमें आ सकते हैं। अध्यात्म-शिक्षासे बच्चोंमें भगवान्के प्रति श्रद्धा एवं पापकर्मके प्रति घृणाके बीज अङ्कुरित होंगे और भगवान्के प्रति श्रद्धा-प्रेम होनेसे स्वाभाविक ही उनमें सद्गुणोंका प्रादुर्भाव होगा तथा दुष्कर्मोंके प्रति घृणा पैदा होगी। दुष्कर्मोंके प्रति घृणासे ही अपराध दूर या कम हो सकते हैं। जैसे-जैसे अध्यात्म-शिक्षामें कमी आ रही है, समाजमें दुर्गुण बढ़ रहे हैं। पापके प्रति घृणा कम हो रही है। हमारी हिंदू-संस्कृति नष्ट हो रही है। पाश्चात्त्य राष्ट्रोंकी नकल हमारे आदर्शोंको समूल नष्ट कर रही है। माता-पिता, गुरुजन एवं सरकारको बच्चोंकी भारतीय संस्कृतिके आदर्शोंके अनुरूप शिक्षाकी ओर ध्यान देना चाहिये। आजसे ५०-६० वर्ष पहलेके लोग आजके लोगोंसे अधिक अंग्रेजी भाषाको जानते थे, समझते थे, परंतु उनके आचरणोंमें अंग्रेजियत नहीं आयी थी और आजके नवयुवकोंमें अंग्रेजी भाषाका ज्ञान तो कम है, फिर भी उनके आचरणोंमें अंग्रेजियत अधिक आ रही है। वे भारतीय संस्कृतिके गुणोंसे दूर होते जा रहे हैं। अध्यात्म-शिक्षा ही इस कमीको दूर कर सकती है।



नयी शिक्षा-नीति

राष्ट्रिय शिक्षा-प्रणाली

(माननीय श्रीराजीव गाँधी, प्रधान मन्त्री, भारत-सरकार)

[माननीय प्रधान मन्त्री श्रीराजीव गाँधीने राष्ट्रिय शिक्षा-प्रणालीपर भारत-सरकारकी नयी शिक्षा-नीतिके सम्बन्धमें राष्ट्रिय विकास-परिषद्की ३९वीं बैठकमें अपना विचार व्यक्त किया था, जो सूचना-कार्यालय भारत-सरकारद्वारा कल्याणमें प्रकाशनार्थ प्राप्त हुआ है, उसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। —सम्पादक]

नयी शिक्षा-नीतिपर बहुत चर्चा हुई है। पर्याप्त विचार-विमर्श और जानकारी एकत्र करनेके बाद हमने एक प्रारूप तैयार किया है जो नीति नहीं है; क्योंकि विशेष दिशा देनेके लिये नीतिका संक्षिप्त और सारगर्भित रूप इसीमेंसे निकलेगा। हमने इस प्रस्तुतिमें पहली बात यह समझानेकी चेष्टा की है कि शिक्षा विकासकी प्रक्रियाका ही एक अङ्ग है और इसे विकाससे पृथक् नहीं किया जा सकता। ये दोनों अलग बातें नहीं हैं। इस तरह शिक्षासे विकासको गति मिलती है, किंतु शायद इससे भी अधिक विकासके कारण शिक्षाकी माँग और भी ज्यादा और तेजीसे बढ़ती है। आज शिक्षा-प्रणाली जिस रूपमें है, उसका सम्बन्ध राज्यों, केन्द्र और जनता—तीनोंसे है। अतः हम जो भी निर्णय यहाँ लेते हैं उसके क्रियान्वयनमें भी इन तीनोंकी सक्रिय भूमिका होनी चाहिये। यदि कोई भी इससे छूट जाता है तो क्रियान्वयन वैसा नहीं होगा जैसा कि हम चाहते हैं। शिक्षाका विषय समवर्ती सूचीमें होनेके कारण हमारा यह संयुक्त दायित्व है कि जो शिक्षा हम लोगोंको दें वह ऐसी हो कि वर्तमान कठिनाइयोंके रहते अच्छी-से-अच्छी हो सके। शिक्षाका मूलभूत उद्देश्य व्यक्तिकी ऐसी स्वतन्त्रता है जो इसके जीवनमें पूर्णताकी ऐसी अनुभूति जगाये जो सबके बीच समानता लाये, व्यक्तिगत उत्कृष्टताको बढ़ावा दे, व्यक्तिगत और सामूहिक आत्मनिर्भरताको प्रश्रय दे और इन सबसे अधिक राष्ट्रिय प्रतिबद्धताको बल दे। हमें ऐसी शिक्षाके लिये उन सुविधाओंको जुटाना है जो विकासकी दृष्टिसे उत्पादक हों और जिनसे सामाजिक, क्षेत्रीय और भाषा-सम्बन्धी रुकावटें दूर हों। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम किसी क्षेत्रीय संस्कृति या भाषाको नष्ट करना चाहते हैं, इसका उद्देश्य केवल यह है कि प्रत्येक भाषा और संस्कृतिका विकास इस प्रकार हो कि उससे हमारी विभिन्न संस्कृतियों और लोगोंके बीच दीवारें न खड़ी हों।

शिक्षा लोगोंको प्रभुता, प्रौद्योगिकीपर स्थापित करे न कि लोगोंको उसका गुलाम बना दे। हम किसी वस्तुकी नकल कर उसे ज्यों-का-त्यों न लें, अपितु उसके स्वभावको समझकर उसमें ऐसे संशोधन करें जो हमारे लिये और देशके लिये लाभकारी हों। शिक्षाको अन्याय, असहिष्णुता और अंधविश्वाससे लड़ना है। यही कारण है कि इस प्रस्तुतिमें हमने राष्ट्रिय मुख्य पाठ्यक्रमका सुझाव दिया है। इसके चारों ओर और स्थानीय, सांस्कृतिक, भाषा-सम्बन्धी एवं अन्य विषय सँजोये जा सकते हैं, किंतु मुख्य पाठ्यक्रमका अभिप्राय यह होगा कि आप उत्तरी, दक्षिणी, पश्चिमी या पूर्वी किसी भी कोनेमें हों, किंतु शिक्षाकी दिशा एक होगी। भारतके किसी भी भागमें स्कूल जानेवाले किसी भी छात्रको एक ऐसा मानक पैकेज मिलेगा, जो इस मुख्य क्षेत्रमें राष्ट्रिय प्रतिबद्धताके लिये आधारभूत दिशा देगा। यह राष्ट्रिय प्रतिबद्धता केवल एकताकी ही दृष्टिसे नहीं, अपितु शिक्षाकी पूरी परिधिकी व्यापक अवधारणाकी दृष्टिसे भी होगी। शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो हमारी जनताकी आन्तरिक शक्तिका निर्माण करे। नयी पीढ़ीको यह पुरातन विरासतसे अवगत कराती है और युवापीढ़ीके समक्ष कलात्मकताके

भण्डार खोलती है। यह भी केवल एक क्षेत्र या एक राज्यमें उपलब्ध सामग्रीतक ही सीमित नहीं रहना चाहिये। स्थानीय संस्कृति, स्थानीय भाषा, स्थानीय विरासतका संगम सारे देशकी विरासत, भारतीय संस्कृति और समृद्धिके साथ होना चाहिये।

शिक्षा जीवनके प्रत्येक क्षेत्रको प्रभावित करती है; अतः इसे ऐसा होना चाहिये कि भविष्यके लिये हमारी राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकासकी आकाङ्क्षाओं और दिशाओंको ध्यानमें रखते हुए अतीतका सर्वोत्कृष्ट उपयोग कर वर्तमानको सर्वोत्कृष्ट बनाया जा सके। सत्य यह है कि कोई भी देश अपनी शिक्षा-प्रणालीसे पूर्णतया संतुष्ट नहीं है और सुधार तथा संशोधनकी प्रक्रिया निरन्तर जारी है। शिक्षा इसलिये दी जाती है कि हम सञ्चित ज्ञान प्राप्त कर सकें। एक तरहसे इसका उद्देश्य लोगोंको वह ज्ञान देना है जो हमारे पास है। यही हम आज कर भी रहे हैं, किंतु हमें इससे आगे बढ़ना होगा। यही पर्याप्त नहीं है कि बच्चोंको हम ज्ञान दें, कौशल सिखायें और वे नैतिक एवं अन्य मान्यताएँ दें जो हमें विरासतमें मिली हैं। शिक्षा-प्रणालीके द्वारा हमें उन्हें भविष्योन्मुखी बनाना होगा जिससे वे केवल अतीतमें ही खोये न रहें, अपितु भविष्यके प्रति सोचें। अपनी शिक्षा-प्रणालीमें ऐसा परिवर्तन करना सचमुच कठिन कार्य है, किंतु यदि हम ऐसा नहीं कर पाते तो हम विकासकी ओर एकबद्धताकी प्रक्रियाकी वह गति नहीं दे सकते जो आवश्यक है। भविष्योन्मुखी शिक्षा केवल विज्ञान और तकनीकप्रधान शिक्षा नहीं है, यद्यपि विज्ञान और तकनीक भी उसके अङ्ग हैं। यह एक व्यापक अवधारणा है जिसके द्वारा हम नयी पीढ़ीमें भविष्यकी ऐसी कल्पना जगाना चाहते हैं कि वे देशके विकास और सुदृढ़ीकरणको सही और व्यापक परिप्रेक्ष्यमें देख सकें। शिक्षाके विषयमें ये विचार नये नहीं हैं। हमारे स्वतन्त्रता-आन्दोलन और भारतीय नवजागरणके कालमें हमें विवेकानन्द, गाँधीजी, टैगोर और हालमें ही जाकिर हुसैनजी-जैसे महान् नेताओंके नये विचार मिले। स्वतन्त्रताके बाद शिक्षा-प्रणालीमें सुधारपर विचारके लिये कई आयोगोंकी नियुक्ति हुई। आज हमारा उद्देश्य प्रचलित प्रणालीको समाप्त करना या नष्ट करना नहीं है। प्रयास यह है कि संशोधनोंद्वारा इस प्रणालीको विशिष्ट दिशाओंकी ओर उन्मुख किया जाय और जहाँ निष्क्रियता आ गयी है उसे दूर किया जाय। इन विचारोंका मुख्य जोर असमानताओंको मिटाने, प्रतिभाको बन्धनमुक्त करने और राष्ट्रिय स्तरपर आत्म-संतोष उत्पन्न करनेपर है। इसीलिये हमने सोचा कि नयी पहलकी आवश्यकता है। नयी पहल इसलिये कि शिक्षाका उद्देश्य केवल भौतिक प्रगति या लाभ ही नहीं है। विकासको केवल आर्थिक विकास मानकर हमने प्रायः सांस्कृतिक, सामाजिक और सच्चे विकासको अनदेखा कर दिया है। यदि हम सब भी इस राहपर चलते रहें तो हमें अपनी संस्कृतिको खो देनेका भय है और उस भारतीयताको भी खो देनेका खतरा है जो हम कभी नहीं चाहेंगे।

आर्थिक विकासका अभिप्राय किसी तरहकी श्रेष्ठता नहीं है। आज हम आँकड़ोंके आधारपर कहते हैं कि जिस देशकी प्रतिव्यक्ति आय अधिक है, वह अधिक विकसित है, अतः हमसे श्रेष्ठ है। यथार्थ यह है कि श्रेष्ठ होना इससे कहीं अधिक व्यापक अवधारणा है और श्रेष्ठ होनेका मतलब है कि हम क्या सोचते हैं, क्या अनुभव करते हैं, इसका सम्बन्ध हमारी पूरी संस्कृति और विरासतसे है। आज हमें शिक्षा-प्रणालीमें स्वयंको केवल आर्थिक प्रगतितक ही सीमित नहीं रखना है। इसका क्षेत्र और व्यापक होना चाहिये। हमारे ज्ञान या पारम्परिक बुद्धिकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जो ज्ञान हमें विरासतमें मिला है उसे महत्त्वहीन नहीं माना जा सकता। दूर-दराज या पिछड़े क्षेत्रोंमें, गाँवोंमें बसे हमारे लोग निरक्षर हो सकते हैं, किंतु हम यह नहीं कह सकते कि उनमें बुद्धि नहीं है। वे बुद्धिमान् हैं, कमी है तो केवल साक्षरताकी, औपचारिक शिक्षाकी। अतः ऐसे उपाय करने होंगे कि औपचारिक शिक्षा कहीं उस बुद्धि और विवेकको समाप्त न कर दे जो हमारे लोगोंमें

पहलेसे ही है। इस बुद्धि और विवेकको बनाये रखकर इस प्रकार औपचारिक शिक्षाद्वारा साक्षरताका प्रसार करना है कि लोग अंधविश्वास, शोषण और गुलामीसे मुक्त हो सकें। साक्षरता इन बेड़ियोंको तोड़नेका एक माध्यम है। साक्षरतासे हमारे समाजकी शक्ति तथा समाजमें शोषणके प्रति विरोधकी शक्ति बढ़ेगी।

हमारी शिक्षा-प्रणालीकी एक समस्या हमें अंग्रेजी शासनकी देन है। अंग्रेजोंके समयमें जोर लोगोंको क्लर्क बनानेपर था जिससे उनमें सोचनेकी शक्ति न हो और बिना सोचे-समझे वे कागजी काम करते रहें। दुर्भाग्यसे हमने भी इस प्रणालीको चलने दिया और स्थितिको बदलनेके लिये कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किया। परिणाम यह है कि इससे असंतुलन उत्पन्न हुए और शिक्षित लोगों एवं युवकोंमें असंतोष तथा हताशा बढ़ी जो हम आज देख ही रहे हैं। यदि हम स्कूली शिक्षापर मैकालेके विचार देखें तो पता चलेगा कि इस शिक्षाका उद्देश्य कुछ विशेष स्कूली शिक्षाके पहलुओंतक ही था। इससे भारतीय जीवनके यथार्थसे हट गये और पहलेकी तरह आज भी राष्ट्रिय आवश्यकताओंसे दूर हैं। शहरी क्षेत्रोंको प्रधानता देनेवाली इस शिक्षाने ग्रामीण क्षेत्रोंकी उपेक्षा की। शहरों और कस्बोंके समक्ष गाँवोंको निकृष्ट माना गया। डिग्रियोंको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया। शिक्षित लोग शिक्षा पानेके बाद गाँववालोंके किसी काम नहीं आते। आज हमारे गाँवमें चुस्त पैंटवाली सभ्यता पनप रही है जो युवकोंको गाँवोंसे दूर करती है तथा उन्हें अपने ही घर और कस्बोंमें बेगाना बनाकर ऐसी निराशा उत्पन्न करती है जिसे बहुत दिनतक अनदेखा नहीं किया जा सकता।

नयी नीति है शिक्षा और ज्ञानको एक-दूसरेसे जोड़ना, चाहे वह शहर हो चाहे गाँव, चाहे जनजाति-क्षेत्र हो, चाहे पहाड़ी क्षेत्र, चाहे वन-क्षेत्र हो। वह शिक्षा ऐसी हो कि उसे उस क्षेत्रमें रोजगारके अवसर प्राप्त हों। आज देशके गाँवोंके ऐसे कई युवक हैं, उनमें वयस्क भी हो सकते हैं जो शिक्षित हैं। मैं अपने निर्वाचन-क्षेत्रकी ही बात करता हूँ, वहाँ हजारों लोग ऐसे हैं, जिन्होंने अच्छी शिक्षा प्राप्त की है, किंतु ग्रामीण क्षेत्रमें उनमेंसे एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा, वे या तो बम्बईमें होंगे या दिल्लीमें, अथवा कलकत्तेमें या मद्रासमें, वे सभी शहरोंमें होंगे। उनमेंसे कोई भी शिक्षा प्राप्त कर गाँव वापस नहीं लौटता। अतः शिक्षाका लाभ गाँवोंको नहीं मिलता, अपितु शहरोंको ही मिलता है; क्योंकि शिक्षा प्राप्त कर लोग गाँवोंको न लौटकर शहरोंमें ही रुक जाते हैं। हमें इस प्रवृत्तिको रोककर उससे उलटी प्रवृत्तिको आरम्भ करनेका प्रयास करना चाहिये। इस दिशामें प्रयास औपचारिक शिक्षाद्वारा, व्यावसायिक शिक्षाद्वारा, अनौपचारिक शिक्षाद्वारा जहाँतक पहुँच सके वहाँतक प्रतिव्यक्तिको शिक्षित करना है तथा इसके साथ ही एक ऐसी प्रणाली होनी चाहिये जिससे ऐसे प्रत्येक व्यक्तितक पहुँचा जा सके, जिसे शिक्षा देनी है। इसके लिये हमें सभी उपलब्ध तरीके अपनाने होंगे। हमने कई क्षेत्रोंमें अपने चिन्तनको सीमित कर दिया है। वास्तवमें शिक्षा मूलतः ज्ञानके प्रसारका एक माध्यम है, चिन्तन तथा परिप्रेक्ष्यके प्रसारका एक तरीका है, एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीतक जीवनके सही मूल्योंको पहुँचाना तथा भावी पीढ़ीको आनेवाली चुनौतियोंका सामना करनेके लिये तैयार करना है। प्रसारकी विधियोंको अबसे ४० या ५० वर्ष पहले उपयोग की जा रही विधियोंतक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। परम्परागत भारतीय शिक्षा-प्रणाली एक व्यक्तितक सीमित थी, जिसमें गुरु और शिष्यके बीच निकटका व्यक्तिगत सम्पर्क रहता था जबकि आज एक गुरु और कई शिष्यवाले युगमें यह सम्बन्ध बिलकुल समाप्त हो गया है। एक अध्यापक और एक शिष्य अथवा एक अध्यापक और तीन या चार छात्रपर आधारित सम्प्रेषण-प्रणाली तब माने नहीं रखती, जब हम एक अध्यापक और १०० छात्रों या २०० छात्रोंके बारेमें बात कर रहे हों। किसी कक्षामें १०० छात्रोंके होनेपर हमें हर प्रकारकी उपलब्ध विधिका प्रयोग करना होगा और पश्चिमी देशों या अन्य देशोंमें प्रयोग की जा रही विधियोंको अपनाने या उनकी नकल करनेके स्थानपर उन विधियोंका अपनी आवश्यकताके अनुसार ही प्रयोग करना होगा;

क्योंकि हम ऐसी युवा-पीढ़ी तैयार नहीं करना चाहते जो किसी अन्य देशकी युवा-पीढ़ीकी नकल हो, अपितु हम भारतकी युवा-पीढ़ी तैयार करना चाहते हैं। वास्तवमें नीतिके क्रियान्वयनका कार्यक्रम बनाते समय ही यह नीति और अधिक स्पष्ट होगी। आरम्भमें ही एक बात स्पष्ट कर दें कि हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि बुनियादी रूपसे यह मात्र एक नीति-पत्र है। यह कार्यान्वयनका निर्धारण अथवा कार्यक्रम नहीं है और न ही यह कार्यान्वयनकी योजना है। जिसका हमें अनुसरण करना है। यह तो केवल मार्ग-निर्देश देनेके लिये है। हमें विचार-विमर्शके दौरान यह बात ध्यानमें रखनी है। नयी शिक्षा-नीति केवल दो भारतीयोंके लिये नहीं होगी। इसे समतावादी होनी चाहिये। सभीकी इसतक पहुँच होनी चाहिये या फिर सबके लिये इसतक पहुँचको सुस्पष्ट किया जाना आवश्यक है। हम यह कहनेका प्रयास नहीं करेंगे कि हम बुद्धिमत्ताके प्रत्येक स्तरपर या उसी वर्गमें योग्यताके प्रत्येक स्तरपर हर बच्चेको समान शिक्षा दे सकते हैं', किंतु बुद्धिमान् बच्चोंको, चाहे वे कमजोर वर्ग, सर्वाधिक पिछड़े तबके अथवा समाजके किसी भी वर्गके क्यों न हों, अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दिये जानेका प्रयास होना चाहिये। हमने उनके लिये स्कूल खोले, किंतु अच्छे स्कूलोंमें वे ही बच्चे पहुँच सके, जिनके पास पैसा है अर्थात् जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है। केवल इसलिये ही हमें इसे बदलनेका प्रयास नहीं करना है कि हम निष्पक्ष होना चाहते हैं। हम निष्पक्ष और समतावादी होना चाहते हैं, किंतु इसमें एक महत्त्वपूर्ण तथ्य निहित है। यदि भारतको तेजीसे विकसित होना है, यदि भारतको अपने सभी संसाधनोंका दोहन करना है तो इसके संसाधन केवल धनी और मध्य वर्गतक सीमित नहीं रह सकते। इसके सर्वाधिक समृद्ध साधन उपलब्ध हैं, किंतु ये संसाधन देशके निर्धनतम और सर्वाधिक पिछड़े हुए क्षेत्रोंमें नहीं हैं। हमें उन मानवीय संसाधनोंतक पहुँचना है और देशको सुदृढ़ बनाने तथा लाभ पहुँचानेके लिये उनका विकास करना है। हमने इस पहलूपर ध्यान देनेका प्रयास किया है।

शिक्षा केवल ऐसी एकपक्षीय व्यवस्था नहीं हो सकती जिसमें अध्यापक छात्रको पढ़ायें कि यह ठीक है तथा छात्र उसे समझे, मूल्याङ्कन किये बिना परीक्षामें अध्यापकद्वारा पढ़ाये गये तथ्योंको लिखकर अच्छे अङ्क प्राप्त कर लें। इस तरहकी शिक्षा ऐसे व्यक्तिको कदापि तैयार नहीं कर सकती जो भविष्यके भारतकी परिकल्पना कर सके। जो यह सोच सके कि कैसे काम किया जाय। इससे मनुष्यका इस तरहसे विकास होता है जो यन्त्रकी तरह काम करता है और हमें इस प्रवृत्तिके बदलनेके प्रयास करने चाहिये। किसी भी शिक्षकको यह अनुभव नहीं करना चाहिये कि वह सर्वज्ञ है। सर्वश्रेष्ठ शिक्षक वह नहीं है जो बच्चेको ज्ञानविशेष देता है, अपितु वास्तविक शिक्षक वही है जो बच्चोंको ऐसी शिक्षा दे जिससे बच्चोंका मस्तिष्क सक्रिय हो, उनमें जिज्ञासाकी भावना पैदा हो। उनकी विचारनेकी शक्ति तेज हो जिससे बच्चेके सर्वोत्तम गुण उभरकर सामने आयें।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि ऐसे अध्यापकोंकी संख्या—विशेषकर सरकारी स्कूलोंमें ऐसे अध्यापकोंकी संख्या अधिक नहीं है जो कि यह काम कर सकें। हमारी शिक्षा-नीतिको उत्तम बनानेका कोई भी प्रयत्न तबतक सफल नहीं हो सकता जबतक कि शिक्षकोंको जो कि किसी भी शिक्षण-प्रक्रियाकी धुरी हैं, ऊपर उठानेके लिये हैं, उनकी उत्तमताकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता है, प्रशिक्षण-समाजमें उन्हें यथोचित मान नहीं दिया जाता है। हमारा विकास कदाचित् इस बातपर निर्भर करता है कि हम अपने समाजमें शिक्षकको कितना मान-सम्मान देते हैं। हम अपने शिक्षकोंको जिस स्तरतक सम्मान देंगे उसी स्तरतक हम ऊपर उठ पायेंगे। जैसा कि मैंने अभी कहा कि हम अपनी सामाजिक व्यवस्थामें जितना मान-सम्मान शिक्षकोंको देंगे और जितना अधिक ध्यान उनके विकासके लिये देंगे उतना ही ध्यान हम छात्रोंपर भी दे पायेंगे। किंतु इसके साथ ही हम शिक्षकोंसे भी यह अपेक्षा करेंगे कि उनका दृष्टिकोण भी सही हो। शिक्षक जिन मूल्योंकी शिक्षा दें, वे नैतिक मूल्य बदलती हुई परिस्थितियोंके अनुरूप सही हों। खोज एवं सृजनशीलता

शिक्षककका बुनियादी गुण होना चाहिये और यह तभी हो सकता है जब हम शिक्षकके प्रशिक्षणपर पूरा ध्यान दें तथा यह सुनिश्चित करें कि योग्यतम लोग शिक्षक बनें तथा ऐसा न हो कि हर जगह रोजगार तलाशनेके बाद वे और कोई चारा न देखकर शिक्षक बनें। शिक्षाकी नीति ऐसी होनी चाहिये कि वह हमारी आजकी राष्ट्रिय समस्याओंको सुलझानेमें मदद करे। राष्ट्रिय समस्याओंमें सबसे अधिक बल राष्ट्रिय एकता और अखण्डतापर दिया जाना चाहिये। क्षेत्रीय विशेषताओंको समाप्त किये बिना, क्षेत्रीय संस्कृतियोंका विकास करते हुए हमें यह सुनिश्चित करना होगा कि क्षेत्रीयताकी भावना इस तरह न विकसित हो कि वह हमारी राष्ट्रिय पहचानको समाप्त या कमजोर कर दे। हमें यह सुनिश्चित करना है कि धार्मिक नवजागरणवाद हमारी शिक्षा-प्रक्रियाकी कट्टरवादिताका माध्यम न बने।

हमें यह देखना होगा कि हमारी शिक्षा-प्रक्रियासे समाजमें हिंसा कम हो। इससे समाजमें व्याप्त हिंसाके लिये एक चुनौती पैदा हो। इससे भौतिकवाद या उपभोक्तावादकी उस अवधारणाके लिये चुनौती पैदा हो जो प्रचारमाध्यमों और हमारे आस-पासकी दुनियाद्वारा हमपर थोपी गयी है। वास्तवमें इसका दबाव बहुत गम्भीर है। शिक्षा-प्रणाली-द्वारा इसका सामना किया जाना है। हमारी शिक्षा-प्रणाली धर्म-निरपेक्षता, समाजवाद, लोकतन्त्र, राष्ट्रवादको बढ़ावा देने तथा समुचित नैतिक मूल्योंको आगे बढ़ानेमें सहायक होनी चाहिये। हमें ग्रामीण क्षेत्रोंमें रहनेवाले लोगोंकी आवश्यकताएँ पूरी करने, उनके पोषाहार, स्वास्थ्यमें सुधार लाने और सबसे बढ़कर उनके जीवनको उत्तम बनानेके लिये उपलब्ध अवसरोंको और बढ़ानेके लिये शिक्षा और विज्ञानका प्रयोग करना है।

हमने यह भी देखा है कि शिक्षाका जितना भी प्रसार हुआ है, वह परिवारके आकारको घटानेमें सहायक हुआ है और एक तरहसे इसने उन दूसरे तरीकोंकी तुलनामें, जिनका हम प्रचार करनेकी कोशिशमें लगे हैं, जनसंख्या-नियन्त्रणका काम कहीं अच्छे ढंगसे किया है। हमारे आर्थिक विकासकी गति हमारी जनसंख्यामें होनेवाली वृद्धिकी तुलनामें अधिक होनी चाहिये। जनसंख्यापर काबू पानेका एक सबसे अच्छा तरीका लोगोंको शिक्षित करना है, खास तौरसे महिलाओंको शिक्षित करना।

हम अपनी शिक्षा-प्रणालीको मात्र साक्षरता, डिग्रियों और उच्च शिक्षातक ही सीमित नहीं कर सकते। इसमें दैनिक जीवनसे सम्बद्ध दक्षताओंके विकासके लिये व्यावसायिक प्रशिक्षणको समुचित स्थान दिया जाना चाहिये। व्यावसायिक प्रशिक्षण किस स्तरका होना चाहिये, इसका भी ध्यान रखना होगा। कुछ क्षेत्रोंमें यह एक बहुत ही साधारण प्रशिक्षण हो सकता है तो कुछ क्षेत्रोंमें यह प्रशिक्षण अत्यन्त आधुनिक स्तरका हो सकता है। हमारी प्रणाली इस प्रकारकी होनी चाहिये जो लोगोंको अपना रोजगार आरम्भ करनेके लिये प्रेरित करे, जो उनमें अपनी सहायता स्वयं करनेकी भावना पैदा करे। भारत-जैसे बड़े देशमें आज ऐसी भावनाकी बहुत आवश्यकता है। यह काम मात्र परीक्षाओंके माध्यमसे पूरा नहीं किया जा सकता। इसके लिये ऐसे तरीकोंका पता लगाना होगा जिनसे हम प्रत्येक बच्चेकी योग्यता और प्रत्येक व्यक्तिकी दक्षताका सही-सही पता लगा सकें। हमें यह सोचना होगा कि हम डिग्रियोंको नौकरियोंसे अलग कैसे कर सकते हैं। सरकारी क्षेत्रमें रोजगार सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण है। हमें इसी क्षेत्रके लिये एक विशेष योजना बनानी चाहिये, जिससे डिग्रियों और नौकरियोंको अलग किया जा सके, जिससे कालेज खोलनेके लिये दबाव कम हो और जिसके माध्यमसे सरकारमें काम करनेके लिये और देशकी सेवा करनेके लिये सर्वश्रेष्ठ लोग उपलब्ध हों। हमें यह लक्ष्य प्राप्त करना होगा।

हमारे यहाँ अनौपचारिक या सुदूर शिक्षा-प्रणालीका होना भी आवश्यक है। यह व्यावसायिक शिक्षा नहीं है। इस प्रणालीके अन्तर्गत ऐसे लोगोंको पढ़ानेका प्रयास किया जायगा जो औपचारिक प्रणालीके अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके या औपचारिक शिक्षाके दौरान उनकी पढ़ाई बीचमें रुक गयी थी। इस प्रणालीसे उन्हें अपनी छूटी हुई शिक्षाको फिरसे आगे बढ़ानेका मौका मिलेगा

और वे अपनेको औपचारिक शिक्षा-प्रणालीके स्तरतक ला सकते हैं। यदि वे अनुभव करते हैं कि वे सक्षम हैं या उन्होंने काफी शिक्षा प्राप्त कर ली है या वे चुनौतीका सामना कर सकते हैं तो वे फिरसे औपचारिक शिक्षा-प्रणालीमें शामिल हो सकते हैं।

हमें अपने समाजको एक ऐसा समाज बनाना होगा जहाँ शिक्षाके प्रति हमेशा रुझान बना रहे। स्कूल या कालेज छोड़नेके साथ ही शिक्षा समाप्त नहीं हो जाती। यह तो एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवनभर चलती है और जबतक हमारे समाजमें शिक्षाके प्रति सशक्त रुझान नहीं बनेगा, तबतक हम वास्तवमें विकसित नहीं हो सकेंगे और आनेवाले वर्षोंमें भारतके सम्मुख चुनौतियोंका सामना नहीं कर सकेंगे।

हमारी शिक्षा-प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जिससे लोगोंकी क्षमताओंका विकास हो, उनके जीवनके माध्यमसे हमारे समाजमें उनका महत्त्वपूर्ण योगदान हो। यह सब करनेके लिये हमें सभीके लिये एक बुनियादी शिक्षा उपलब्ध करानी होगी चाहे यह औपचारिक शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षाके माध्यमसे हो या फिर खुले विश्वविद्यालयों-जैसे अन्य संस्थानों, सुदूर शिक्षाप्रणाली या शिक्षाके अन्य माध्यमोंसे हो।

जब हम लोगोंपर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि हमारे समाजके कुछ वर्ग ऐसे हैं जहाँ शिक्षाका प्रसार उतना नहीं हुआ है जितना होना चाहिये था। अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ और कुछ दूसरे कमजोर वर्ग ऐसे ही उदाहरण हैं। किंतु यदि हमें किसी ऐसे वर्गका पता लगाना हो जो शिक्षाकी दृष्टिसे सबसे अधिक उपेक्षित रहा है तो वह वर्ग है महिलाओंका, लड़कियोंका। चाहे उच्च वर्ग हो या मध्यम वर्ग, चाहे अनुसूचित जातियाँ हों या अनुसूचित जनजातियाँ या पिछड़े वर्ग, चाहे अल्पसंख्यक हों, सभी वर्गोंमें लड़कियोंको ही सबसे कम शिक्षा मिलती है, लड़कियोंकी ही पढ़ाई अधूरी रह जाती है। हमारे लिये यह विशेष चुनौती होनी चाहिये, हम देखें कि हम स्कूलोंमें अधिक-से-अधिक संख्यामें लड़कियोंको कैसे शिक्षा दे सकते हैं। हमने लड़कियोंके लिये माध्यमिक स्तरतक शिक्षाको निःशुल्क कर दिया है, किंतु इससे उनकी बीचमें ही पढ़ाई छोड़नेकी दरमें कमी नहीं आयी है। हमें ऐसे उपाय करने चाहिये जिससे लड़कियोंको अपनी पढ़ाई जारी रखनेकी प्रेरणा मिले। यह प्रेरणा लड़कियोंको ही नहीं अपितु उनके माता-पिता और समाजको भी मिलनी चाहिये, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रोंमें लोग लड़कियोंकी पढ़ाईको महत्त्व दें।

गाँवोंके परिवारोंकी कुछ ऐसी व्यावहारिक समस्याएं होती हैं, जो लड़कियोंके स्कूल जानेमें बाधक होती हैं। इन समस्याओंको दूर किया जाना चाहिये। घरसे स्कूल काफी दूरीपर होना, सह-शिक्षावाले स्कूलोंमें लड़कोंके साथ मेल-जोल, घरपर छोटे बच्चोंके साथ-साथ घरकी देखभाल करना ऐसी ही कुछ समस्याएँ हैं। लड़कियोंको स्कूलोंमें भेजने और उनकी पढ़ाईको जारी रखनेके लिये हमें समाजके नेताओं, स्वयंसेवी संस्थाओं, विशेषकर महिलाओंकी संस्थाओंको सक्रिय करना होगा। यह कहा जाता है कि एक पुरुषको शिक्षित करनेका अर्थ होता है कि आपने किसी एक विशेष कार्यके लिये एक व्यक्तिको प्रशिक्षित कर दिया, किंतु जब आप एक महिलाको शिक्षित करते हैं तो आप पूरे परिवारको शिक्षित करते हैं।

इसी प्रकार अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियोंकी ओर भी विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये; क्योंकि उनकी भी इसी प्रकारकी समस्याएँ हैं। उनकी आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नहीं होती कि वे अपने बच्चोंको स्कूलमें अधिक समयतक पढ़ा सकें। ऐसी स्थितिमें अनौपचारिक प्रणालीका महत्त्वपूर्ण योगदान होगा। यहाँ बच्चोंकी सुविधा और उनकी सीखनेकी क्षमताके अनुसार उन्हें पढ़ानेके लिये समुचित कार्यक्रम बनाये जा सकते हैं। सबको प्राथमिक शिक्षाका उद्देश्य उसी स्थितिमें प्राप्त किया जा सकता है जबकि समाजका इसमें सक्रिय योगदान हो। अतीतमें लोकोपकारी व्यक्तियोंने हमारी शिक्षाप्रणालीमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। आज एक बार फिर शिक्षा-प्रणालीमें हमारे समाज और नागरिकोंकी वैसी ही भागीदारी आवश्यक हो गयी है। हमें ऐसी

भागीदारीको बढ़ावा देनेके लिये उपायोंका पता लगाना है ।

शिक्षाका उद्देश्य पढ़ने-लिखनेतक ही सीमित नहीं हो सकता । इसका उद्देश्य चरित्र-निर्माण, बच्चेके व्यक्तित्वका निर्माण, खेल-कूद, कलामें हमारी सांस्कृतिक विरासतको उजागर करना-जैसे पारम्परिक रूपसे उपेक्षित, किंतु व्यक्तिके विकासके लिये अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रोंकी ओर ध्यान देना हो । हमें सर्वश्रेष्ठ बच्चों, सबसे अधिक प्रतिभावान् बच्चों और उन क्षेत्रोंका पता लगाना है, जिनमें उनका सबसे अच्छा विकास हो सकता है । हमें उन्हें उनके विशेष गुणोंका विकास करनेका अवसर प्रदान करना है । हमने इस उद्देश्यसे नवोदय विद्यालयका सुझाव दिया । यह स्कूलोंकी ऐसी योजना है जो जिलों और गाँवोंमें चल रहे पारम्परिक स्कूलोंसे कहीं उत्तम है और जो विशिष्ट वर्गके स्कूलसे भिन्न है । हम समझते हैं कि गरीबों और समाजके सबसे कमजोर वर्गोंको अच्छी शिक्षा उपलब्ध करानेकी दिशामें हमारे द्वारा उठाया गया सम्भवतः यह पहला बड़ा समतावादी कदम है । यह समानता और गुणवत्ताके लिये उठाया गया कदम है । इसका उद्देश्य सबसे अच्छे बच्चोंको सबसे अच्छी शिक्षा उपलब्ध कराना है चाहे उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक स्थिति कैसी भी रही है ।

हमें अपने निर्धारित लक्ष्योंको प्राप्त करनेके लिये चाहे वे कितने ही बड़े क्यों न हों, हमें नयी शिक्षा-प्रणालीमें एक नयी व्यवस्थाका विकास करना होगा । शिक्षा-जैसे अत्यन्त विशिष्ट विषयमें प्रशासनसे जुड़े लोगोंको सम्मिलित करना ही पर्याप्त नहीं होगा । हमें अपनी पूरी शिक्षा-प्रणालीकी व्यवस्था, जिसमें शिक्षकोंके प्रशिक्षणसे लेकर उनके कार्य-निष्पादन, शिक्षासे सम्बद्ध प्रशासनिक कार्मिकों और इस क्षेत्रमें केन्द्र और राज्योंके बीच सम्बन्धोंका ध्यान रखना होगा और दोनोंकी समान भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी । नयी शिक्षा-प्रणालीका उद्देश्य गरीबीको दूर करना तथा समाजको एक नया रूप देना होना चाहिये । इसपर राजनीति, संकीर्णता, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और धर्मान्धताका प्रभाव नहीं होना चाहिये । हमें शिक्षा-संस्थानोंको और स्वायत्तता देनी होगी । इन संस्थानोंको लोगोंमें वैज्ञानिक दृष्टिकोणका विकास करना होगा । ऐसे दृष्टिकोणका नहीं जिससे उच्चकोटिके वैज्ञानिकोंका विकास हो, अपितु एक ऐसे औसत भारतीय दृष्टिकोणका विकास हो जो विज्ञान और प्रौद्योगिकीके क्षेत्रोंमें सर्वश्रेष्ठ लोगोंका पता लगानेमें सहायक हो । हमें यह देखना है कि हम उच्चतर और व्यावसायिक शिक्षाको किस सीमातक सहायता उपलब्ध कराना चाहते हैं ।

हमारी जो कुछ जिम्मेदारी है, उसका सदुपयोग केवल तभी हो सकता है, जब मुख्य जोर शिक्षापर दिया जाय । शायद शिक्षाके लिये आर्थिक आवश्यकताओंसे अधिक मात्रात्मक आवश्यकताएँ योग्यतात्मक आवश्यकताएँ हैं और जीवन, दैनिक जीवन, हमारे विकास, हमारे भविष्यके प्रति शिक्षाकी प्रासंगिकता (ऐसा क्षेत्र) है जहाँ विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग, राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद्, एन॰ आई॰ पी॰ ए॰, राज्य-परिषदोंकी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका है । उन्हें यह देखना चाहिये कि स्तर तथा दिशाको प्रणालीमें समाहित किया जाय और इन्हें व्यवस्थाके निम्नतम स्तरोंतक पहुँचाया जाय ।

परम पदको कौन पाते हैं ?

यैस्त्यक्तो ममताभावो लोभकोपौ निराकृतौ ।
ते यान्ति परमं स्थानं कामक्रोधविवर्जिताः ॥

(स्कन्द॰ मा॰ के॰ ३१ । ६६)

जो ममता, लोभ और क्रोधका त्याग कर चुके हैं, ऐसे काम-क्रोधरहित पुरुष ही परम पदको प्राप्त करते हैं ।

नयी शिक्षा-नीतिमें शिक्षकोंकी भूमिका

(श्रीमती कृष्णा साही, शिक्षा एवं संस्कृति-राज्यमन्त्री, भारत-सरकार)

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि 'कल्याण' शिक्षापर एक विशेषाङ्क निकाल रहा है। गुरुको अत्यन्त उच्च सम्मान प्रदान करना भारतमें हजारों वर्षकी पुरानी परम्परा रही है। प्राचीनकालमें हमारे गुरु बच्चोंको न केवल कुछ ज्ञान तथा कौशल प्रदान करनेके लिये ही उत्तरदायी थे, अपितु उनके सम्पूर्ण विकासके लिये उत्तरदायी थे। इस प्रकार वे एक महती जिम्मेदारी निभाते थे और इसे निभानेके लिये उनमें वैसे ही महान् आध्यात्मिक और बौद्धिक गुण भी होते थे।

अब हम बच्चोंके सम्पूर्ण विकासको शिक्षाके मूल उद्देश्यके रूपमें पुनः स्थापित कर रहे हैं। संसद्‌द्वारा सन् १९८६ ई०में अनुमोदित 'नयी शिक्षा-नीति'में इसे और साथ ही इस लक्ष्यको प्राप्त करनेमें शिक्षकके सर्वोपरि महत्त्वको स्वीकार किया गया है। इस नीतिके अनुसरणमें देशके लगभग सभी जिलोंमें प्रारम्भिक स्कूलोंके शिक्षकोंके लिये पूर्व-सेवा तथा सेवाकालीन पाठ्यक्रमोंको आयोजित करनेकी समुचित क्षमतावाले उपयुक्त रूपसे सुसज्जित जिला शिक्षा और प्रशिक्षण-संस्थान स्थापित किये जानेका प्रस्ताव है। माध्यमिक शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थाओंको भी उपयुक्त रूपसे स्तरोन्नत किया जायगा। हमारे शिक्षकोंकी गुणवत्तामें सुधार करनेके लिये अनेक उपाय भी किये जा रहे हैं।

जहाँ एक ओर सरकार उपर्युक्त पहल कर रही है, वहीं दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि हमारी शिक्षा-पद्धतिमें शिक्षककी भूमिकापर सतत चिन्तन और विचारोंका आदान-प्रदान हो तथा यह सुनिश्चित करनेके लिये उपाय सोचे जायँ कि शिक्षक उक्त भूमिकाको भलीभाँति निभाये।

मुझे विश्वास है कि 'कल्याण'द्वारा प्रकाशित किये जा रहे विशेषाङ्कमें इस विषयपर हमारे देशके शाश्वत ज्ञान और सारे विश्वकी आधुनिक विचारधाराओंका समागम हो सकेगा और देशकी समूची शिक्षा-प्रणालीमें सुधार करनेके लिये अनेक बहुमूल्य सुझाव मिल सकेंगे।

डॉ० सम्पूर्णानन्दके शैक्षिक विचार

भारतीय संस्कृतिका प्रधान अङ्ग वही है, जिसका विकास आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व सिन्धु और सरस्वतीके किनारे भृगु, अथर्व, अङ्गिरा, वसिष्ठ और विश्वामित्रके तपोवनोंमें हुआ था। तबसे उसमें बहुत-सी देशी-विदेशी संस्कृतियोंका योग हुआ है। उसने उन सबको अपनाया है और एक नया रूप दिया है, परंतु यह न भूलना चाहिये कि इस अङ्ग अर्थात् इस धारासे ही भारतीय संस्कृतिका भारतीयपन उसका व्यक्तित्व है। यदि यह परम्परा लुप्त हो गयी तो हमारी सांस्कृतिक विशेषता भी लुप्त हो जायगी। भारतीय तब भी रहेंगे, भारत भी रहेगा, देशमें चार पैसा भी होगा, अपना राजपाट भी होगा, परंतु हमारी आत्मा मर चुकी होगी। हमारा सांस्कृतिक जीवन दूसरोंकी प्रतिकृति—नकल-मात्र होगा।

इस संस्कृतिकी रक्षाका सबसे बड़ा दायित्व शिक्षित-वर्गके उस अंशपर है, जिसे हमारे समाजका नेतृत्व प्राप्त है। जो भृगु और अंगिरा के आसनपर बैठकर यजमानको कर्मकाण्डमें दीक्षित करता है, जो व्यासपीठपर धर्मका उपदेश करता है, उसे तो अपने कर्तव्यका पालन करना है, अपनी बात कहनी है, अपने स्थानपर अटल रहना है।

(संकलनकर्ता—श्रीश्रवणकुमार पाठक,—रुद्रायन)

व्यावसायिक तथा नैतिक मूल्योंके परिवेशमें शिक्षाकी उपयोगिता

(डॉ॰ श्रीकर्णसिंहजी)

[यद्यपि आधुनिक शिक्षा-पद्धतिके दूषित पाठ्यक्रमोंपर विचार करके भारत-सरकारने नयी शिक्षा-नीतिकी रचना की है और वह लागू भी है, तथापि भारतके कोने-कोनेसे उसमें परिवर्तनके सुझाव आ रहे हैं, जिनके आधारपर हमारे युवा प्रधान मन्त्री तथा शिक्षा-मन्त्री दोनों ही व्यावसायिक तथा नैतिक मूल्योंपर आधारित शिक्षा-नीतिकी पुनःसंरचनापर बल दे रहे हैं । इस संदर्भमें भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री तथा मूर्धन्य चिन्तक डॉ॰ श्रीकर्णसिंहद्वारा प्रस्तुत नयी शिक्षा-नीतिकी रूपरेखा सर्वोत्कृष्ट है, जिसे यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है । —सम्पादक]

भारत आज जिस भारी परिवर्तनके प्रवेशद्वारपर खड़ा है, उसकी नींव हमारे बदले हुए आबादीके ढाँचे और स्वतन्त्रताके समयसे अपनायी गयी अनेक आर्थिक तथा विकासोन्मुख नीतियोंके संचित प्रभावद्वारा रखी गयी है । इसके लक्षण नयी पीढ़ीमें नयी जागरूकता तथा आत्मविश्वासके रूपमें प्रकट होने लगे हैं । नागरिक तथा ग्रामीण क्षेत्रोंके युवा पुरुषों तथा स्त्रियोंमें एक विलक्षण परिवर्तन देखनेमें आ रहा है, जो उन लोगोंको दिखलायी नहीं पड़ता, जिनके विचारोंकी सुई स्वाधीनता-पूर्वकी विचार-पद्धतिमें ही अटक कर रह गयी है । उनकी आँखोंकी चमक देखकर प्रसन्नता होती है । हम उन्हें प्रायः पर्याप्त रोष-भरे पाते हैं, परंतु उनमें कुछ अच्छा कर दिखाने और अपना तथा राष्ट्रका समुचित भविष्य बनानेकी अदमनीय आकाङ्क्षा प्रतिबिम्बित होती है ।

२१वीं सदीकी ओर सिरके बल सरपट दौड़ती दुनियामें हमें भ्रष्टाचार, अंधविश्वास और रूढ़िवादकी बेड़ियाँ तोड़नेके लिये प्रबल प्रयत्न करनेका आह्वान मिल रहा है, जिन्होंने हमें इतने समयसे बाँध रखा है । हमें आभ्यन्तरिक और बाह्य शक्तियोंको संगठित कर भविष्यमें दृढतापूर्वक प्रवेश करना है । निस्संदेह इस प्रक्रियाका प्रमुख साधन हमारी शिक्षा-प्रणाली होगी । इसलिये यह उपयुक्त ही है कि हमारे युवा प्रधान मन्त्रीने शिक्षाकी पुनःसंरचनापर विशेष बल दिया है, परंतु दुःसाध्य कार्यको आरम्भ करनेके पूर्व हमारे मस्तिष्कमें यह ठीक-ठीक स्पष्ट हो जाना चाहिये कि हम क्या पाना चाहते हैं; क्योंकि बिना स्पष्ट लक्ष्यके पूरी व्यवस्थाको छेड़ना नकारात्मक और आत्मघाती अभ्यास होगा ।

प्राथमिक शिक्षा

प्राथमिक शिक्षाकी सर्वव्यापकता, माध्यमिक शिक्षाके व्यावसायीकरण और विश्वविद्यालय-शिक्षाके वैज्ञानिक पुनर्गठनका कार्य सम्मुख है । इन सभी तीनों खण्डोंमें सुसंगत और वाञ्छनीय नैतिक मूल्योंकी योजनाके पुनः प्रवेशका सुनिश्चित प्रयत्न होना चाहिये । बहुत बड़ी संख्या और सीमित साधनोंकी दृष्टिसे उत्तरदायित्व सँभालना सरल न होगा, परंतु यदि इसका दृढता और सूझ-बूझसे सामना न किया गया तो हम अपने राष्ट्रकी भावी नियतिके निर्माणका अमूल्य अवसर खो देंगे ।

पहली समस्या साधनोंकी है । सातवीं पञ्चवर्षीय योजनाके प्रारम्भिक प्रलेखसे ही स्पष्ट है कि स्वास्थ्य और शिक्षाको अब भी नरम क्षेत्र माना जा रहा है और इन्हें अल्प आर्थिक प्राथमिकता दी जा रही है—यह बड़े दुर्भाग्यकी बात है; क्योंकि वास्तवमें ये ही दो क्षेत्र ऐसे हैं जिन्हें सीधी मानवीय लागत कहा जा सकता है । हम नागरिकोंके उपयोगके लिये इमारतों, पुलों, होटलों तथा अन्य निर्माण-कार्योंमें अरबों रुपये खर्च करते हैं, परंतु उस राशिका चौथाई अंश भी इन नागरिकोंके स्वास्थ्य तथा इनकी चेतनाके विकासके लिये सीधा व्यय नहीं कर सकते । परिणामस्वरूप हम ऐसी परिस्थितिमें आते जा रहे हैं जहाँ भीतरी तथा बाहरी विकासके बीचकी दूरी तेजीसे बढ़ती जा रही है । हम पश्चिमके जीवन-स्तरकी समता कभी नहीं कर सकेंगे । साथ ही यदि हम अपनी शिक्षा-पद्धतिको प्राच्य नैतिक आधार नहीं दे पाते तो अपनी आन्तरिक क्षमता और सत्यनिष्ठाको खो बैठेंगे । इसके लिये योजनाकी प्राथमिकताओंकी पुनर्व्यवस्था करना

आवश्यक होगा, जिससे मानवीय लागत और इस्पातपर व्यय की गयी लागत कम-से-कम आनुपातिक हो सकें ।

प्राथमिक शिक्षाकी सर्वव्यापकता एक संवैधानिक अनिवार्यता है, जिसकी हम अवहेलना करते रहे हैं और जिसे हर कीमतपर पूरा किया जाना चाहिये । ऐसी परिस्थिति नहीं होनी चाहिये कि २१वीं सदीमें प्रवेशके समय लाखों भारतीय पढ़ने-लिखनेमें असमर्थ हों । संविधानके प्रावधानके अनुसार इसके लागू होनेके दस वर्षके अंदर १४ वर्षतककी आयुवालोंकी शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य होनी चाहिये थी, परंतु ३५ वर्षके बाद अब भी हम इसे प्राप्त करनेसे बहुत दूर हैं । शिक्षाकी किसी भी पुनःसंरचनाका आरम्भ इस नैतिक तथा संवैधानिक अनिवार्यताको पूरा करके ही करना होगा और सातवीं योजनामें इसके लिये आवश्यक साधन जुटाने होंगे, भले ही इसके लिये दूसरे क्षेत्रोंमें कमी ही क्यों न करनी पड़े ।

माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक क्षेत्रमें व्यावसायिकताकी संकल्पनाका आरम्भ १०+२ स्तरपर हो चुका है, परंतु आम धारणा यह है कि वास्तवमें इसका प्रयोग संतोषजनक नहीं है । संकल्पना तो यह थी कि यह नवयुवकोंके एक बड़े प्रतिशतको अनेक व्यवसायोंमें सक्षम बना देगी । इस प्रकार कालेजमें जानेकी लक्ष्यहीन प्रवृत्ति भी कम हो जायगी, जो मानवीय संसाधनोंका भीषण अपव्यय एवं दुरुपयोग-सा है । अनेकानेक कारणोंसे यह सम्भव नहीं हुआ । एक कारण तो यह है कि दो वर्षका समय वास्तवमें किसी व्यवसायको ठीक-ठीक सिखानेके लिये पर्याप्त नहीं है । इसपर गम्भीरतासे विचार किया जाना चाहिये कि कालेजके पाठ्यक्रमसे एक वर्ष उच्चतर माध्यमिक स्तरमें क्यों न जोड़ दिया जाय और इस प्रकार पहलेके जूनियर कालेजोंको नये रूपमें दोबारा चालू किया जाय । दसवीं कक्षाके बाद इसमें तीन साल लगेंगे जो प्रमुखतः व्यवसायपर आधारित होंगे और तेजीसे बढ़नेवाली तकनीकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करेंगे जो अर्थव्यवस्थाके आधुनिकीकरणसे निरन्तर बढ़ती जायगी ।

यह आश्चर्यकी बात है कि आज लाखों स्नातकों तथा उत्तर स्नातकोंकी बेकारीके बावजूद बड़े-बड़े नगरोंमें भी पूरी तरह प्रशिक्षित नलसाजों, बिजली तथा टेलीविजन ठीक करनेवालोंका मिलना असम्भव है । इसी प्रकार विकासशील ग्रामीण तथा स्व-रोजगारके बढ़ते क्षेत्रमें व्यवसायोंमें प्रशिक्षित युवकों और युवतियोंके बड़े दलकी आवश्यकता है, जिन्हें पहलेसे ही भीड़भाड़वाले तथा नित्य बढ़ती रुग्ण, गंदी बस्तियोंवाले नगरोंकी ओर जानेकी अपेक्षा ग्रामीण तथा अर्धग्रामीण क्षेत्रोंमें जाकर काम करनेके लिये प्रेरित किया जाना चाहिये । सहायक तथा पोषक क्रिया-कलापोंका पूरा समूह है, जिनके लिये हमारी आजकी शिक्षा पूर्णतः अनुपयुक्त है और जिसकी पूर्ति सावधानीसे तैयार किये गये त्रिवर्षीय उच्चतर माध्यमिक व्यावसायिक पाठ्यक्रमद्वारा की जा सकती है ।

यदि ऐसा किया जाय तो आजकी अपेक्षा कालेजोंमें प्रवेश कहीं अधिक कठोरता और उत्कृष्टताके आधारपर किया जा सकता है । आज स्कूलसे कालेजमें भर्ती होनेकी लक्ष्यहीन प्रवृत्तिके कारण मानवीय तथा भौतिक साधनोंकी घातक नश्वरताका बढ़ता बोझ हमारे-जैसा राष्ट्र सहन नहीं कर सकता । कालेजमें प्रवेशको प्रतियोगिताके आधारपर सीमित करना पड़ेगा, जिससे उच्च शिक्षा प्रतिभावान् युवक ही ले सकें । यदि यह हो सके तो वास्तवमें यह शिक्षा-प्रक्रियामें एक उपलब्धि मानी जायगी । कालेजोंमें भीड़भाड़ और स्तरका गिरना कम होते जायँगे और शीर्षस्थ विश्वविद्यालय एक बार फिर निम्न स्तरके शैक्षणिक प्रशासनमें निरन्तर उलझे रहनेकी अपेक्षा उच्चतर अध्ययनके केन्द्र बन सकेंगे । डिग्री-कालेज स्नातक-स्तरतक स्वतः पूर्ण संस्थाके रूपमें विकसित होंगे और विश्वविद्यालय अपनेको स्नातकोत्तर अध्ययन तथा अनुसंधान-कार्यके लिये सीमित रखेंगे, जिसके लिये वे वस्तुतः स्थापित किये गये थे ।

वास्तवमें विचारणीय विषय पञ्चवर्षीय ढाँचा है, जिसमें पाँचवें दर्जेतक प्राथमिक विद्यालय, छठेसे दसवें दर्जेतक निचला माध्यमिक खण्ड, ग्यारहवेंसे तेरहवें दर्जेतक उच्चतर माध्यमिक व्यावसायिक खण्ड, चौदहवेंसे सोलहवें दर्जेतक कालेज अथवा निचला त्रिवर्षीय खण्ड और उत्तर स्नातक

तथा शोधकार्यके लिये विश्वविद्यालय अथवा उच्चतर त्रिवर्षीय खण्ड हैं। डाक्टरी, इंजीनियरी तथा अन्य व्यावसायिक शाखाएँ ग्यारहवीं कक्षासे आरम्भ होकर आगे चलेंगी।

शिक्षक-प्रशिक्षण

स्पष्टतया ऐसे प्रस्तावका प्रभाव-क्षेत्र व्यापक है। मैट्रिकसे उच्चतर माध्यमिक पद्धतिमें परिवर्तन करनेमें विशेष रूपसे पाठ्य-पुस्तकों और शिक्षण-प्रशिक्षणमें कई वर्ष संगति बैठानेमें ही लग गये। तथापि इस बारका परिवर्तन अधिक सरल है; क्योंकि सुझायी गयी बातें पिछली स्थितिसे मेल खाती हैं। परंतु ढाँचेके बावजूद जो कहीं अधिक आवश्यक बात है वह है शिक्षाकी विषय-वस्तु। हमारे युगकी एक बड़ी त्रासदी रही है कि यद्यपि हम मानवताकी प्रसिद्ध और शक्तिशाली बौद्धिक परम्पराओंमेंसे एकके उत्तराधिकारी हैं तो भी हमारी शिक्षा-पद्धतिमें निर्देशन और लक्ष्यकी कमी है। जिन भीषण परिस्थितियोंके परिणामस्वरूप, देशके बँटवारेकी कीमत चुकाकर हमने स्वतन्त्रता पायी उनकी हमपर ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि हमारी शिक्षा नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्योंसे सर्वथा वञ्चित रह गयी। धर्मनिरपेक्षताकी गलत व्याख्याके कारण वास्तवमें हमने टबके पानीके साथ शिशुको भी बाहर फेंक दिया है। हिंदुत्वके पक्षपाती होनेके दोषारोपणसे हम इतने भयभीत थे कि शिक्षा-पद्धतिमें हमने प्राच्य नैतिक मूल्योंका तनिक भी संनिवेश नहीं किया। इस तथ्यके बावजूद भारत-सरकार-द्वारा गठित कमेटियों और कमीशनोंकी लम्बी शृंखला चली। सन् १९०४ ई०में राधाकृष्णन्-कमीशन, सन् १९५० ई०में श्रीप्रकाश-कमेटी, सन् १९६० ई०में कोठारी-कमीशनने नैतिक शिक्षा आरम्भ करनेकी जोरदार संस्तुति की है।

वाञ्छनीय लक्ष्य

पाठ्यक्रमकी पुनःसंरचना हमें पाठ्यक्रम तथा शैक्षिक-प्रणालीका पूर्ण संशोधन करनेकी शक्ति देगी, जिसमें अपने नागरिकोंको वाञ्छनीय नैतिक मूल्य प्रदान करनेकी आवश्यकतापर ध्यान देना होगा। यद्यपि मैं अपने यहाँ धार्मिक शिक्षा आरम्भ करनेका तर्क नहीं प्रस्तुत कर रहा हूँ, जो हमारे संवैधानिक ढाँचेमें व्यक्तिगत तथा धार्मिक संस्थाओंके लिये छोड़ दी गयी है; तथापि निश्चित रूपसे हमारी यह जिम्मेदारी है कि हम देखें कि भारतकी भावी पीढ़ियाँ हमारी समृद्ध आध्यात्मिक तथा बौद्धिक विरासतका ज्ञान प्राप्त करते हुए बढ़ें। पश्चिममें जिस तरह सुकरात और प्लेटो (अफलातून) के अध्ययनको किसी भी तरह थैगरवादका प्रचार नहीं माना जाता, उसी तरह उपनिषदोंके अध्ययनको भी हिंदू-धर्मका प्रचार नहीं मानना चाहिये। इसी तरह सामाजिकतापर आधारित कार्य-नीति, जिसका लक्ष्य व्यक्ति तथा सामूहिक विकास है, तभी क्रियात्मक रूप धारण कर सकती है जब गीता या अन्य धार्मिक ग्रन्थोंमें दी गयी निःस्वार्थ और समर्पणकी भावनाकी पुनः व्याख्या करके इसे आजकी परिस्थितियोंके अनुरूप सार्थक बनाया जाय।

हमें दूसरी धार्मिक परम्पराओं तथा विभिन्न क्षेत्रोंसे भी प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिये। उदाहरण-स्वरूप जैन तथा बौद्ध-परम्पराओंसे अहिंसा, ईसाइयोंकी उदारता तथा सेवाकी प्रतिज्ञा, इस्लामी सामाजिक समानताका महत्त्व तथा सिखोंके भाईचारे और बलिदानकी परम्परा—सभी हमारी सांस्कृतिक विरासतके मूल्यवान् तत्त्व हैं, जिन्हें हम अपनी शिक्षाके सिद्धान्तोंके लिये सूझबूझके साथ प्रयुक्त कर सकते हैं। साथ ही हम जिस विश्वमें रहते हैं, उसके विषयमें स्वतन्त्र और निर्भीक जाँच-पड़तालकी वैज्ञानिक भावनाके, जो वेदान्तकी परम्परासे किसी प्रकार भी विपरीत नहीं है, पोषण और विकासकी आवश्यकता है।

हमारी शिक्षा-पद्धतिके बाहरी ढाँचे तथा आन्तरिक भावनाका रचनात्मक पुनर्नवीकरण इस दशाब्दीके बचे हुए वर्षोंमें बड़ी दिलचस्प चुनौती है। वास्तवमें हमें शैक्षणिक आदर्श उपस्थित करनेमें समर्थ होना चाहिये। वह केवल अपने ही लिये नहीं अपितु समस्त विकासशील जगत्के लिये हो, जो निराश होकर पूर्वकी परम्परा तथा बुद्धिमत्ता और पश्चिमकी तकनीकी प्रगतिके बीच समन्वय खोज रहा है।

वैचारिक साहस पैदा करें

(डॉ० श्रीविद्यानिवासजी मिश्र)

नयी शिक्षा-नीति भारतके समस्त प्रान्तोंमें लागू की जायगी, फिर भी उसमें भाषाका कोई संकेत नहीं है। जब समस्त प्रान्तोंमें कोई भी ऐसी भाषा नहीं है, जो प्रान्तोंको आपसमें जोड़ती हो, तब यह आशङ्का स्वाभाविक ही है कि नयी शिक्षा-नीतिमें शिक्षा किस भाषाके माध्यमसे दी जायगी?

नयी शिक्षा-नीतिमें मूलरूपसे जो उद्देश्य समायोजित होना चाहिये था, उसका अभाव है। जीविका एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जीवनमें अर्थका महत्त्व है, वह एक पुरुषार्थ है, किंतु वह पुरुषार्थके साधनोंमें द्वितीय है, प्रथम नहीं। उसकी सिद्धि होनी चाहिये, परंतु उसकी सिद्धिको शिक्षासे जोड़ना उचित नहीं है। स्वतन्त्र तथा सरकारी क्षेत्रोंमें सेवाके कितने अवसर हो सकते हैं? हमारे विश्वविद्यालय हजारोंकी संख्यामें छात्र भर्ती कर लेते हैं और प्रतिवर्ष हजारोंकी संख्यामें लोग डॉक्टर, शिक्षक, इंजीनियर और वकालतकी डिग्रियाँ लेकर निकलते हैं, जो बेरोजगारीकी संख्यामें वृद्धि ही करते हैं। एक ऐसी नीति हो, जो आगामी ५ से १० वर्षकी योजनाको बनाये तथा इससे कुछ न्यूनाधिक उत्पादन करे। किंतु शिक्षाका यह मुख्य क्षेत्र नहीं है, यह इसका उपक्षेत्र है। शिक्षाका मुख्य क्षेत्र तो वही है, जिससे मनुष्य सोचनेकी शक्ति पा सके। हमारे यहाँ ९० प्रतिशत मनुष्य सोचनेकी शक्ति मौखिक परम्परासे ही प्राप्त करते आये हैं।

वैज्ञानिक मनोवृत्ति और संगणकीकरणकी बात की जाती है, परंतु मूल प्रश्न है मनुष्यके अस्तित्वका, जिसमें उसकी सम्भावना एवं जीवनका आस्वाद निहित है। इसे आँखोंसे ओझल नहीं होने देना चाहिये। मनुष्य बनाना है, संसाधन नहीं। मनुष्य इस प्रकृतिका विजेता नहीं, इसका सहचर है और सबसे अधिक चैतन्य उसमें उन्मीलित है, इसलिये उसपर सबसे अधिक दायित्व है कि वह इस चैतन्यका सहभागी सबको बनाये, भोक्ता न बनकर सहभोक्ता बने। अध्यापक छात्रको पढ़ाये, तो साथ पढ़ते हुए पढ़ाये, उसके प्रश्नका उत्तर देते हुए पढ़ाये। यह नहीं कि वह पढ़ाये और छात्रसे दूर रहे। दोनोंमें परस्पर सहयोग आवश्यक है। यह सहयोग इस विश्व-दृष्टिपर आश्रित है, जो आपसे अपेक्षा रखती है कि आप अकेले तबतक कुछ नहीं कर सकते, जबतक आप सबके साथ नहीं जुड़ते।

संगणकीकरण-प्रणालीसे सबसे अधिक हानि यह होगी कि हमारे छात्र बिना उसकी सहायताके २ × २ = ४ नहीं कर सकेंगे तथा संगणककी सहायता लिये बिना शब्दोंका निर्माण नहीं कर सकेंगे। उनकी सृजनात्मक क्षमता नष्ट हो जायगी। जिस तकनीकी-जालकी रचना हमने की है, वह जाल ही हमें ग्रस रहा है। इससे बचना चाहिये, इसे नियन्त्रक न बनने दें।

जिन लोगोंने बच्चोंके मनोविज्ञानपर अमेरिका तथा कनाडामें प्रयोग किया है, उनका भी यही निष्कर्ष है कि जो आँखें निरन्तर टेलीविजनसे चिपकी रहती हैं, वे ब्योरे नहीं देख सकतीं, एक पत्ती और दूसरी पत्तीमें भेद नहीं कर सकतीं और प्रकृतिमें बिखरे नानाविध रंगोंको नहीं देख सकतीं। उनमें पूर्णता ग्रहण करनेकी शक्ति खण्डित होती है। इन निष्कर्षों एवं देशके साधनोंका विचार करके देशकी शिक्षा-नीतिका विचार होना चाहिये।

अधिकांश प्राइमरी पाठशालाओंमें कहींपर चट्टियाँ नहीं हैं, कहीं भवन नहीं है, कहीं अध्यापक नहीं हैं। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो कुछ भी नहीं है—न छात्र, न अध्यापक और न अन्य सामान, किंतु कागजपर स्कूल यथावत् चल रहे हैं। इसीलिये इसके समानान्तर सम्पन्न वर्गके लिये एक शिक्षा विकसित हुई है। उस शिक्षाको प्रभुओंका संरक्षण प्राप्त है; क्योंकि उसी शिक्षाके बलपर शासक एवं शासितका भेद अनन्तकालतक स्थिर रखा जा सकेगा। इस शिक्षाके बलपर सम्पन्न सम्पन्नतर होगा, विपन्न विपन्नतर होगा।

जो ज्ञान दिया और दिलाया जाता है, उसका भी

लक्ष्य यही है, पर इसके साथ कुछ वस्तुएँ जुड़ती हैं। इस कारण कि मनुष्यकी आँखें खुलें, उन्हें देखनेका अवसर मिले। अनेक प्रकारकी सूचनाएँ प्राप्त हों, उन्हें देखते एवं प्राप्त करते हुए उन्हें जाँचनेकी प्रक्रिया प्रारम्भ हो, यह आवश्यक है।

एक शब्द है संस्कृति, जिसने धर्मको अपदस्थ किया है। धर्म-जैसे व्यापक शब्दको अपदस्थ करके यह संस्कृतिका अनुवाद बन गया है। हमारी अपनी भाषामें 'सम्' उपसर्ग और 'डुकृञ् करणे' धातुसे जुड़कर दो शब्द बनते हैं—संकर और संस्कार। पाणिनिने अन्तर किया कि जो जोड़ गुणोंको स्वीकार करते हुए और अवगुणोंको हटाते हुए होता है, वह संस्कार है। यदि बिना विवेकके जोड़ हो जाता है तो वह संकर है। संस्कृतिमें संकर नहीं है। वह ऐसा योग है, जिसमें विवेकपूर्वक कुछ वस्तुएँ हटायी जाती हैं और कुछका अपमार्जन होता है, कुछका निराकरण होता है और कुछ ग्रहण की जाती हैं, इसलिये जिसे सांस्कृतिक आदान-प्रदान कहते हैं, उसमें कोई वस्तु उधार नहीं ग्रहण की जाती है, वे ली जाती हैं पश्चिमकी संस्कृतिमें। परिश्रम ऊर्जस्विता और सामाजिक न्यायपर बल है। यह ग्राह्य है, परंतु साथ-साथ मनुष्यके उपभोक्ता होनेका जो भाव है, यह त्याज्य है। मनुष्य उपभोक्ता मात्र नहीं है। उपभोक्ता तो मात्र निकालना जानता है। मनुष्य भी मनुष्यके प्रति उपयोगी बन जाता है। नारीके प्रति उसकी दृष्टि मलिन हो जाती है। जब वह सोचता है कि हम सहभोक्ता हैं, हम सृष्टिके केन्द्रमें नहीं हैं, सृष्टि हमारे भीतर है, तब दृष्टि ठीक होती है।

महर्षि वाल्मीकिने एक बहेलियेको एक क्रौंचको मारते हुए देखा, तो उनके मनको लगा कि बड़ा अधर्म हुआ। इसने एक आनन्द और उल्लासके क्षणको नष्ट कर दिया। यदि इस अधर्मको हमने सह लिया तो और अधर्म होगा। अतः उसे शाप दिया, उस शापसे भारतीय साहित्यका जन्म हुआ। अन्याय और अधर्मको सहन न करनेवाले क्रोध और करुणासे उद्वेलित तथा न्यायकी माँगसे हमारे साहित्यका प्रारम्भ हुआ है। वही हमारा आदिकाव्य है। इस सृष्टिमें कुछ भी त्याज्य नहीं है, जो है, उसे समझें और उसके साथ समरस हों—यह हमारा दायित्व है।

शिक्षामें साहचर्य-भाव देनेकी चेष्टा की विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने, किंतु रवि ठाकुरका 'विश्वभारती' संस्थान भी बदल गया। गाँधीजीके नामपर खोला गया काशी-विद्यापीठ भी बदल गया। ये संस्थाएँ क्यों बदल गयीं जिनमें देशकी मिट्टीसे आयी देशकी अस्मिताकी परिकल्पना थी?

आधुनिक नयी शिक्षा-नीति जिस भटकावकी ओर हमें ले जायगी उसमें बुनियादी वस्तुएँ रहेंगी या नहीं? वहाँ राष्ट्रिय शिक्षण-संस्थान श्रीराम और श्रीकृष्णके श्लोक नहीं रखना चाहते, क्योंकि उससे दूसरे सम्प्रदायोंके भावोंपर चोट पहुँच सकती है। श्रीराम और श्रीकृष्णको हटा देनेपर भारतीय साहित्य एवं कलामें प्राण नहीं रह जाते, आधार और अवलम्बन नहीं रह जाता। इन्डोनेशिया-जैसे मुस्लिम देशके प्रत्येक विद्यालयमें गणेश और सरस्वतीकी प्रतिमाएँ लगी हुई हैं। फिर हमारे देशमें ऐसा क्यों नहीं हो सकता? यह कैसी शिक्षा-नीति है, जो भारतीय परम्परा और संस्कृतिको अवरुद्ध करना चाहती है—एक नकली संकरसे। वराहमिहिरने कहा है कि श्रीराम और श्रीकृष्ण किसी जाति एवं देशके नहीं हैं। इसका प्रमाण थाईलैंडमें मिलेगा। वे कहते हैं कि श्रीराम-श्रीकृष्ण इन्डोनेशियाके थे, हमारे थे, किसी देश और मजहबके नहीं थे। हमारे यहाँ इसका प्रमाण रहीम और रसखानमें मिलेगा। उन्हें हटा दें, बच्चोंकी शिक्षा, विकास और जीवन-मूल्योंके मापदण्डके रूपमें उनका तिरस्कार कर दें तो वह कौन-सी शिक्षा होगी?

भारतीय शिक्षाकी नीति है वेदकी वह परम्परा, जो कहती है कि आत्म-साक्षात्कार करो, अपनेको जानो, अपने लिये जानो, तब समझ सकोगे सबको। एक बार लेनिन रूसके एक स्कूलमें गये। बच्चोंसे पूछे—'क्या पढ़ रहे हो?' उत्तर मिला— 'यह वह ....।' उन्होंने पूछा—'किंतु टालस्टाय, पुश्किन, दास्तावेझकी?' 'नहीं। ये नीतिके अनुकूल नहीं पड़ते।' वे उत्तर पाकर चौंक

पड़े। उन्होंने कहा—'ये नीतिके अनुकूल नहीं पड़ते हैं। अरे, टालस्टाय और पुश्किनने ही तो लेनिनको बनाया है। जब ये ही नहीं, तो पढ़ाई क्यों?' इसी प्रकार यदि हमारी शिक्षा-नीतिमें 'रामायण', 'महाभारत', भागवतादिके पाठ्यक्रम नहीं, तो व्यर्थ है यह शिक्षा। इन ग्रन्थोंके पठन-पाठनके बिना यह शिक्षा अधूरी है—सभीके लिये, किसी विशेष मजहबके लिये नहीं। विश्वको व्यापक दृष्टिसे समझनेके लिये इसपर निर्भीक होकर बल देना चाहिये। आज जो गलत है उस साहसको शिक्षाके माध्यमसे बच्चोंमें पैदा करना नितान्त आवश्यक है।

शिक्षा-तन्त्र गुरु-प्रधान हो

(स्व॰ डॉ॰ श्रीगोवर्धननाथजी शुक्ल)

भारतीय शिक्षा-पद्धतिके इतिहासमें शिक्षा-पद्धतियोंको लेकर हमारे देशमें प्रयोगोंकी परम्परा कभी नहीं चली, अपितु उनके निष्पन्न रूपोंका ही प्रवर्तन किया गया। आजकी भाँति शिक्षा-पद्धतियोंके प्रयोगोंद्वारा जन-जीवनसे खिलवाड़ करना भारतीय शिक्षा-पद्धतिके अतीत इतिहासमें देखनेको नहीं मिलता। प्राचीन शिक्षा-पद्धति एक निश्चित लक्ष्यात्मिका शाश्वत पद्धति थी। उसकी घोषणा थी—'**सा विद्या या विमुक्तये।**' यह मुक्ति—आध्यात्मिकी और व्यावहारिकी—उभयस्वरूपा थी। मुक्ति अज्ञान अथवा क्लेशसे थी। यह अज्ञान चाहे अध्यात्म-विषयक हो, चाहे लोक-व्यवहार-विषयक। अतः वह विद्या, जिसकी शिक्षा दी जाती थी, सदैव पात्रानुकूल या छात्रानुकूल और देश-कालानुकूल होती थी। पात्रताका निर्णय गुरुकुलोंके आचार्य ही करके विद्यादान देते थे। निश्चय ही इस पात्रतामें वर्णाश्रम-धर्मानुकूल पाठ्यक्रमकी प्रमुखता होती थी। इस समय भी कतिपय गुरुकुल राजकीय सहायतापर चलते थे। यह ठीक है कि कुछ गुरुकुलोंका संचालन व्यक्तिगत सामर्थ्यपर भी होता था। ऐसे व्यक्तिगत गुरुकुलके कुलपति निःसंदेह असीम सारस्वत एवं बौद्धिक क्षमताके केन्द्र रहे होंगे।

शासकीय गुरुकुलका बढ़िया उदाहरण श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादोपाख्यानसे मिल जाता है। हिरण्यकशिपुने शण्ड और अमर्क नामक दो अध्यापकोंको अपने प्रिय पुत्र प्रह्लादको अध्यापनार्थ सौंपा था। प्रह्लादके तत्त्व-ज्ञानोपदेश इतने सुस्पष्ट थे कि सभी विद्यार्थी भक्त, जिज्ञासु एवं सच्चे ज्ञानी बननेके लिये उद्यत हुए। जो सच्ची शिक्षा दे वही गुरु है, अतः प्रह्लाद ही उनके गुरु बने। बालकोंने राज्यशिक्षापर ध्यान देना छोड़ दिया।

शासकीय गुरुकुलका दूसरा उदाहरण यदुवंशके आचार्योंका है। यदुवंशके बालकोंको शिक्षा देनेके लिये तीन करोड़ अठासी लाख आचार्य थे। निश्चय ही ये आचार्यगण यदु-राजकुलसे वृत्ति पाते रहे होंगे। ऐसे राज्याश्रित गुरुकुलोंकी शिक्षा-दीक्षाका परिणाम भी आगे चलकर क्या हुआ, यह प्रसिद्ध ही है—साम्बकी अनुशासनहीन-वृत्ति एवं उच्छृङ्खलता, परिणामतः यदुकुलका संहार। अतः वेतनभोगी या शासकीय वृत्तिपर शिक्षा देनेवाले आचार्योंके सामने अनुशासनकी समस्या तब भी बनी रहती थी। वेतनभोगी आचार्यगण अपने शिष्योंमें उतनी गहरी निष्ठा अथवा असीम श्रद्धा नहीं जमा पाते थे, जितनी कि व्यक्तिगत गुरुकुलोंके आचार्य।

शासकीय प्राचीन गुरुकुलोंसे निकले हुए उच्चकोटिके छात्रोंकी चर्चा हमारे पुराणोंमें क्वचित् मिलती है। भगवान् रामको वसिष्ठके स्व-संचालित गुरुकुलमें अल्पकालमें ही समस्त विद्याएँ आ गयी थीं। श्रीकृष्ण-बलरामको शिक्षा-समाप्तिपर गुरु-दक्षिणा देनेपर ही स्नेहभरा आशीर्वाद मिला था—

गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च॥

(श्रीमद्भा॰ १०।४५।४८)

कौत्स, सुतीक्ष्ण, आयोद-धौम्यके शिष्य आरुणि, परशुरामके शिष्य कर्ण, बलरामके शिष्य दुर्योधन एवं भीमसेन आदि ऐसे ही उदाहरण हैं।

राष्ट्रिय शिक्षा-नीति—एक विहंगावलोकन

(श्रीमुरारीलालजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

शिक्षाकी प्रक्रिया युग-सापेक्ष होती है। युगकी गति और उसके नये-नये परिवर्तनोंके आधारपर प्रत्येक युगमें शिक्षाकी परिभाषा और उद्देश्यके साथ ही उसका स्वरूप भी बदल जाता है। यह मानव-इतिहासकी सचाई है। मानवके विकासके लिये खुलते नित नये आयाम शिक्षा और शिक्षाविदोंके लिये चुनौतीका कार्य करते हैं, जिसके अनुरूप ही शिक्षाकी नयी परिवर्तित-परिवर्द्धित रूप-रेखाकी आवश्यकता होती है। शिक्षाकी एक बहुत बड़ी भूमिका यह भी है कि वह अपनी जाति, धर्म, संस्कृति तथा इतिहासको अक्षुण्ण बनाये रखे, जिससे कि राष्ट्रका गौरवशाली अतीत भावी पीढ़ीके समक्ष द्योतित हो सके और युवा पीढ़ी अपने अतीतसे कटकर न रह जाय।

राष्ट्रिय शिक्षा-नीति १९८६के सामने यही दो बड़ी चुनौतियाँ रही हैं—एक ओर भारतकी विकासशील वैज्ञानिक तकनीकी-साधनाका मार्ग और दूसरी ओर ऋषि-मुनियोंकी सतत साधनासे प्रसूत जीवनके अमूल्य सिद्धान्त, विविध अनुभव, प्रशस्त पुण्य पंथ।

शिक्षा भौतिक एवं आध्यात्मिक विकासका एक सशक्त माध्यम है, यह स्वीकारते हुए नयी शिक्षा-नीतिमें यह निर्णय लिया गया है कि शिक्षा अनिवार्यरूपसे सभीके लिये सुलभ हो। जाति, वर्ण, लिङ्ग आदिका भेदभाव किये बिना शिक्षा-प्राप्तिके अवसर सभीके लिये समान रूपसे मिलें। इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिये नयी शिक्षा-नीतिमें प्रौढ़-शिक्षा, नारी-शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षापर विशेष महत्त्व दिया गया है। इंदिरागाँधी खुला विश्वविद्यालय तथा नवोदय विद्यालयोंकी स्थापना इस दिशामें एक क्रान्तिकारी कदम है। नवोदय विद्यालयोंके द्वारा उच्चस्तरीय शिक्षा सरकारद्वारा दी जा रही है, इन विद्यालयोंमें पढ़नेवाले बालक-बालिकाएँ प्रायः ग्रामीण क्षेत्रोंसे चुने जाते हैं और उनका चुनाव प्रतिभाके आधारपर किया जाता है। गरीब, ग्रामीण उपेक्षित; किंतु प्रतिभाशाली छात्र-छात्राओंकी आवास, भोजन, पुस्तकों आदिकी व्यवस्था सरकारद्वारा निःशुल्क की जाती है। इस व्यवस्थासे 'पब्लिक स्कूलों'की सम्भ्रान्तताका सामना किया जा सकेगा। ऐसे 'कामन स्कूल सिस्टम' सर्व-साधारणके लिये विद्यालयोंका अनुमोदन १९६८की शिक्षा-नीतिमें भी किया गया था। खुले विश्वविद्यालयके द्वारा बिना किसी औपचारिकताके दूर बैठे स्त्री-पुरुष अपनी योग्यता बढ़ा सकते हैं।

राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिमें दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वर्तमान भारतमें प्रजातन्त्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षताके सिद्धान्तोंके अनुरूप जनताको संस्कार देनेका कार्य शिक्षा ही करेगी। इस शिक्षा-नीतिमें वैज्ञानिक बुद्धि, स्वतन्त्र मानसिक तथा आत्मिक विकासपर विशेष बल दिया गया है। आजकी एक बड़ी समस्या यह है कि हमारे समाजमें नैतिक मूल्योंका अथवा जीवन-मूल्योंका क्षरण इतनी तीव्र गतिसे हुआ है कि एक प्रकारसे नैराश्यका वातावरण उत्पन्न हो गया है। मूल्य-शिक्षापर विशेष ध्यान केन्द्रित करनेके लिये पाठ्यक्रममें मूल्योंको स्थापित करने-हेतु प्रयास किये जा रहे हैं।

शिक्षा विभिन्न स्तरोंपर आर्थिक प्रगतिके लिये मानव-शक्तिका विकास करती है। शिक्षा ही राष्ट्रिय आस्थाको बनाये रखनेके लिये विभिन्न प्रकारके शोध और विकास-प्रक्रियाओंको बढ़ावा देनेके लिये आधार बनती है। राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिका आधारभूत सिद्धान्त यह है कि वह राष्ट्रके वर्तमान और भविष्यके लिये सर्वोत्तम पूँजी-निवेश है।

राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिमें पूरे देशके लिये १०+२+३ प्रणालीको स्वीकार किया गया है। अबतक प्रत्येक राज्यकी अपनी-अपनी प्रणाली थी। विश्वविद्यालयों तथा बोर्डोंकी परीक्षाओं और उनकी उपाधियोंका स्तर और उसके लिये अध्ययनकी अवधि अलग-अलग थी। १९८७से सभी विश्वविद्यालयोंमें त्रिवर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम प्रारम्भ कर दिया गया है। एकरूपताकी दृष्टिसे यह एक

महत्त्वपूर्ण निर्णय है ।

राष्ट्रिय पहचानको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये पूरे देशमें विभिन्न स्तरोंपर राष्ट्रिय आन्दोलन, भारतीय संविधान तथा अन्य महत्त्वपूर्ण विषयोंपर एक-जैसे पाठ्यक्रमकी योजना भी तैयार की गयी है। भारतने सदासे अन्ताराष्ट्रिय सहयोग और विश्वबन्धुत्वकी भावनाका विस्तार किया है । **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**की मानवतावादी भावनाके विकासके लिये नयी शिक्षा-नीतिमें समुचित व्यवस्था की गयी है ।

नयी शिक्षा-नीतिमें व्यवसायोंको प्रमाण-पत्रों अथवा उपाधियोंकी अनिवार्यतासे मुक्त करनेकी व्यवस्था दी गयी है । व्यक्तिकी योग्यताको ही व्यवसायोंके लिये चयनका आधार माना जायगा । महात्मा गाँधीके स्वप्नोंको साकार करनेके लिये, ग्रामीण विश्वविद्यालय खोलनेका भी अनुमोदन नयी शिक्षा-नीतिमें किया गया है । व्यवसायोन्मुख शिक्षा तथा संस्कृतिपरक शिक्षा नयी शिक्षा-नीतिके दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं ।

नयी शिक्षा-नीतिमें बालक अथवा बालिकाको ही केन्द्रमें रखकर चलनेकी बात कही गयी है अर्थात् शिक्षा-तन्त्रमें सर्वाधिक महत्त्व शिक्षार्थीको दिया जायगा । प्रबन्धक, प्राचार्य, शिक्षक, पाठ्यक्रम-समितियाँ शिक्षार्थीको प्रमुख मानकर नीतियोंका निर्धारण करेंगी ।

अध्यापकोंकी आर्थिक और शैक्षणिक स्थितिको सुधारनेके लिये नयी शिक्षा-नीतिमें अनेक व्यवस्थाएँ भिन्न-भिन्न स्तरोंके अनुरूप दी गयी हैं। समाजमें अध्यापककी भूमिका महत्त्वपूर्ण हो और वह अपनी योग्यता तथा अपने कौशलका निरन्तर विकास करता रहे, इस दृष्टिसे इस नीतिमें अनेक उपाय बताये गये हैं। अनेक प्रकारके प्रशिक्षण-कार्यक्रम तथा नये वेतनमान देकर सरकारने इस दिशामें सक्रिय भूमिका निभानी आरम्भ कर दी है ।

नयी शिक्षा-नीतिमें बहुत कुछ नया और प्रयोगात्मक है । राष्ट्रिय एकता, धर्म-निरपेक्षता और समानताकी भावनाके विकासके लिये बहुत कुछ कार्य आरम्भ किया जा चुका है, किंतु अनेक प्रश्न ऐसे भी हैं जिनका समाधान नीति-निर्धारकोंके पास मिलना कठिन है । यहाँ संक्षेपमें उन समस्याओंकी चर्चा, अनुपयुक्त नहीं होगी ।

राष्ट्रिय शिक्षा-नीतिमें संस्कृत भाषा और साहित्य सर्वथा उपेक्षित रहा है । नवोदय विद्यालयोंका प्रतिभाशाली विद्यार्थी तो इस बातसे सर्वथा अनजान ही रह जायगा कि संस्कृत भी कोई भाषा है और भारतीय संस्कृतिका स्रोत मूलरूपसे संस्कृत-साहित्यमें ही विद्यमान है । एक ओर संस्कृतकी उपेक्षा की गयी है और दूसरी ओर नयी शिक्षा-नीतिमें संस्कृतिपर विशेष बल दिया गया है । यह बहुत बड़ा विरोधाभास है ।

दूसरी समस्या नीति-निर्धारकोंकी मानसिकताकी है । एक ओर वे अत्यन्त महँगी शिक्षा-व्यवस्थाका सूत्र-पात कर रहे हैं, जिसमें दूर-संचार-माध्यम, कम्प्यूटर एवं महँगे उपादानोंका प्रयोग किया जा रहा है और करोड़ों रुपये व्यय करके नवोदय विद्यालयोंमें मुट्ठीभर बालक-बालिकाओंको राष्ट्रके भविष्यके लिये तैयार किया जा रहा है तथा दूसरी ओर लाखों ऐसे विद्यालय देशभरमें हैं जिनमें बच्चोंके बैठनेकी व्यवस्था और शिक्षकोंकी नियुक्तिका उपक्रम भी नहीं हुआ है ।

नयी शिक्षा-नीति क्या है? इस सम्बन्धमें सही जानकारी उन शिक्षकोंतकको नहीं दी जा सकी है जिन-पर इसके लागू करनेका गुरुतर दायित्व है । अंग्रेजी भाषाके प्रभुत्वसे हम अबतक मुक्त नहीं हो सके हैं, अपितु अधिकाधिक उसके व्यामोहमें फँसते जा रहे हैं । यहाँतक कि नयी शिक्षा-नीतिका प्रारूप तथा उससे सम्बन्धित लेख भी हिंदीमें उपलब्ध नहीं हो सके हैं । खुले विश्वविद्यालय, नवोदय विद्यालयोंकी समस्त कार्यवाही तथा पत्र-व्यवहार शत-प्रतिशत अंग्रेजीमें ही हो रहा है ।

यदि सिद्धान्त और व्यवहारमें अन्तर न रहे तो नयी शिक्षा-नीतिकी बहुत-सी अच्छी नीतियाँ राष्ट्रके विकासमें सहायक सिद्ध हो सकती हैं । भारतीय मानसकी अगुआई इसके लिये आवश्यक है और उससे भी अधिक आवश्यक यह है कि शिक्षाके क्षेत्रको व्यवहारतः राजनीतिसे सर्वथा मुक्त रखा जाय ।

विकलाङ्गोंके लिये शिक्षा

(श्रीप्रणवजी खुल्लर)

शिक्षाके सम्बन्धमें समाजके कमजोर वर्गोंमें सबसे निर्बल वर्ग है नेत्रहीनों, बधिरों और शारीरिक दृष्टिसे अपङ्ग लोगोंका । बीते हुए समयमें विकलाङ्गोंको बड़ी असुविधा और कष्ट उठाना पड़ा है । विकलाङ्गों तथा कमजोर वर्गके अन्य लोगोंके प्रति व्यवहारका ढंग ही किसी देशके सांस्कृतिक स्तरकी कसौटी है ।

आज भारतमें विकलाङ्गोंकी संख्या एक करोड़ बीस लाख है । इनमें दस प्रतिशत एकाधिक कमीके शिकार हैं । सत्रह लाख विकलाङ्गतासे ग्रस्त हैं । इनमेंसे कुल ५० प्रतिशत बच्चे विशेष स्कूलोंमें भर्ती हैं, जो प्रायः शहरी क्षेत्रोंमें हैं । अस्सी प्रतिशत नेत्रहीन, बधिर और मानसिक रूपसे पिछड़े बच्चे देहातोंमें हैं । जहाँ कोई सुविधा नहीं है ।

'नयी शिक्षा-नीति'के अनुसार विकलाङ्गोंको दी जानेवाली सुविधाओंका उद्देश्य उन्हें सामान्य लोगोंके साथ बराबरीके स्तरपर लाना, सहज विकासके लिये तैयार करना तथा साहस और विश्वासके साथ जीवन जीने योग्य बनाना है । इसके लिये निम्नलिखित उपाय किये जायँगे ।

विशेष उपाय

जहाँतक व्यावहारिक होगा, वहाँतक शारीरिक दृष्टिसे विकलाङ्ग और मामूली न्यूनतावाले बच्चोंके लिये अन्य बच्चोंकी तरह सामान्य शिक्षाकी व्यवस्था रहेगी । अधिक न्यूनतावाले बच्चोंके लिये यथासम्भव प्रत्येक जिला-मुख्यालयपर विशेष विद्यालयकी व्यवस्था की जायगी और साथमें छात्रावासकी सुविधा रहेगी । विकलाङ्गोंको व्यावसायिक प्रशिक्षण देनेके लिये पर्याप्त प्रबन्ध किये जायँगे । शिक्षकों और विशेषरूपसे प्राथमिक कक्षाओंके शिक्षकोंके प्रशिक्षणमें आवश्यक सुधार किया जायगा, जिससे विकलाङ्ग बच्चोंकी कठिनाइयोंको सुलझाया जा सके । विकलाङ्गोंकी शिक्षाके लिये स्वैच्छिक प्रयासोंको हरसम्भव प्रोत्साहन दिया जायगा ।

मूक, बधिर एवं अन्ध-विद्यालय भारतमें १९३०से ही चालू हैं । इसके लिये एक कार्यक्रम (१९८६)में और तैयार किया गया है । इसमें व्यवस्था है कि सामान्य विद्यालय-प्रणालीके अन्तर्गत प्रशासकों और शिक्षकोंके लिये आयोजित विशेष कार्यक्रमोंके द्वारा सातवीं योजनाके दौरान सामान्य स्कूलोंमें विकलाङ्गोंकी संख्यामें प्रतिवर्ष २५ प्रतिशत वृद्धि की जाय । शिक्षकोंके लिये बड़े पैमानेपर सेवा-कालीन प्रशिक्षणमें एक ऐसे बच्चोंके प्रबन्धके विषयोंका समावेश किया जाय । प्रशासकोंके लिये विशेष कार्यक्रमका प्रस्ताव है । सुविधा विकसित करके विकलाङ्ग बच्चोंकी शिक्षामें लगे शिक्षकोंके लिये विशेषज्ञोंकी परिनिरीक्षण-सेवा सुलभ की जायगी । पठन-पाठनकी वैकल्पिक सामग्री, शिक्षकोंके लिये हैण्डबुक तथा ऐसे बच्चोंकी देख-रेखके लिये मार्ग-दर्शक नियम तैयार करने होंगे । सामान्य स्कूलोंमें पूर्व-व्यावसायिक और व्यावसायिक विषयोंके लिये अतिरिक्त उपकरण आदिकी व्यवस्था की जायगी । अक्षमताके आकलनके लिये जिला-स्तरपर मनोवैज्ञानिक सेवाएँ विकसित करना आवश्यक है । स्वास्थ्य और कल्याण-मन्त्रालयोंकी यथावश्यक सहायता भी सुलभ होनी चाहिये । प्रोत्साहनोंके बिना विकलाङ्गोंकी शिक्षाका कोई काम सफल नहीं हो सकता, इसलिये इस कार्यक्रममें प्रोत्साहनोंका भी प्रस्ताव रखा गया है ।

प्रोत्साहन

जिन क्षेत्रोंमें यह कार्यक्रम लागू होगा वहाँ सहायक उपकरणोंकी व्यवस्था की जायगी । परिवहन-भत्ते (५० रु० प्रतिमाह) की व्यवस्था की गयी है । गाँवमें जिन स्कूलोंमें कम-से-कम १० विकलाङ्ग बच्चे होंगे उन्हें स्कूली रिक्शापर आनेवाली लागतकी राशि देनेका प्रबन्ध किया जायगा । जिन स्कूलोंमें कम-से-कम १० विकलाङ्ग बच्चे हैं, उसकी इमारतकी बनावटसे यदि ऐसे छात्रोंके लिये बाधा पैदा होती है तो उसे ठीक किया जायगा ।

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातिके विद्यार्थियोंकी तरह विकलाङ्ग बच्चोंको भी स्कूली पुस्तकें

और पहननेके वस्त्र निःशुल्क दिये जायँगे। लड़कियों और अनुसूचित जनजातिके बच्चों-जैसे विशेष वर्गोंको उपस्थिति-सम्बन्धी मिलनेवाला प्रोत्साहन विकलाङ्ग बच्चोंको भी मिलेगा। विकलाङ्ग बच्चोंको स्कूलोंमें शिक्षाके लिये तैयार करनेके लिये प्रारम्भिक बाल-केन्द्र बनाये जायँगे। निर्धारित वर्गसे अधिक उम्रके (६ वर्षके बजाय ८-९ वर्षके) बच्चोंकी भर्तीका भी प्रबन्ध किया जायगा। संक्रमण-कालमें यह आवश्यक है। उनकी शिक्षामें अधिक समय लगनेके कारण यह आवश्यक भी है।

अत्यधिक विकलाङ्गोंके लिये जिला और उपजिला-स्तरपर विशेष विद्यालय खोलनेकी आवश्यकता है। इन विद्यालयोंके साथ व्यावसायिक प्रशिक्षण-केन्द्र भी होने चाहिये जहाँ उन्हें कलाकुशल बनानेपर बल दिया जाना चाहिये।

छात्रावास

लड़कों और लड़कियोंके लिये अलग-अलग छात्रावास बनाये जायँगे। लड़कोंके छात्रावासमें कम-से-कम ४० और लड़कियोंके छात्रावासमें कम-से-कम २० लड़कियोंके रहनेकी व्यवस्था होगी। इनमें स्कूलों तथा व्यावसायिक केन्द्रोंके छात्र रहेंगे।

आठवीं योजनामें ५००० विशेष विद्यालय

आठवीं पञ्चवर्षीय योजनाके दौरान पाँच हजार और विशेष विद्यालय उपजिला-स्तरपर खोले जायँगे, जिन्हें मिलाकर विद्यालयोंकी संख्या ७५०० हो जायगी। नवीं योजनातक उनकी संख्या बढ़ाकर १०,००० करनी होगी।

विशेष विद्यालयोंकी स्थापना केन्द्रीय योजनाके अन्तर्गत होनी चाहिये, जिसका क्रियान्वयन राज्य-सरकारों या स्वयंसेवी संस्थाओंके द्वारा किया जाय। सातवीं योजनाके दौरान आशा है कि ४०० विशेष विद्यालय स्थापित कर दिये जायँ। पहले उन जिलोंमें विद्यालय खोले जायँ जहाँ कोई विशेष विद्यालय नहीं है। प्रारम्भमें प्रत्येक ऐसे विद्यालयमें सभी श्रेणीके कम-से-कम ६० विकलाङ्ग विद्यार्थी हों। यदि ऐसे एक विद्यालयमें ८-१० विशेष शिक्षक रखे जायँ तो चालू योजना-अवधिमें हमें ३५००-४००० विशेष शिक्षकोंकी आवश्यकता पड़ेगी।

प्रस्तावित विशेष विद्यालयोंके लिये शिक्षकोंके प्रशिक्षणके कामको राष्ट्रिय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण-परिषद्, विद्यालय तथा राष्ट्रिय और प्रादेशिक विकलाङ्ग-संस्थानोंको तत्काल आरम्भ करना होगा। अनुदान-प्राप्त संस्थाएँ सामान्यतः अप्रशिक्षित शिक्षकोंको अध्यापक रख लेती हैं। अनुदान देनेवाले अधिकरणोंको यह शर्त रखनी चाहिये कि प्रशिक्षण-प्राप्त शिक्षक नियुक्त करनेपर ही अनुदान दिया जायगा।

जिला-स्तरपर डाक्टरों और मनोविज्ञानशास्त्रियोंको भी विकलाङ्ग व्यक्तियोंके पुनर्वासके लिये तैयार करना आवश्यक है। विकलाङ्गोंके माता-पिताके लिये सलाह और मार्गदर्शनकी व्यवस्था भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। विकलाङ्गोंकी पाठ्यक्रम-सम्बन्धी आवश्यकताओं, शिक्षाकी कठिनाइयों और स्वास्थ्य-सम्बन्धी आवश्यकताओंपर ध्यान रखनेके लिये मानव-संसाधन-विकास, स्वास्थ्य और कल्याण-मन्त्रालयोंको समन्वित रूपसे काम करना चाहिये।

सत्सङ्गका प्रभाव

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित्किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

जब मुझे थोड़ा ज्ञान प्राप्त हुआ, तब मैं हाथीकी भाँति मदान्ध हो गया और 'मैं सर्वज्ञ हूँ'—ऐसा समझकर मेरा मन अभिमानसे भर गया; किंतु जब बुद्धिमानोंकी संगतिसे मुझे कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ, तब मुझे ज्ञात हुआ कि 'मैं मूर्ख हूँ' और मेरा अभिमान ज्वरकी तरह नष्ट हो गया।

नयी शिक्षा-प्रणाली और विज्ञान-शिक्षा

(डॉ॰ श्रीबिहारीशरणजी)

नयी शिक्षा-प्रणालीसे सम्बन्धित जो प्रश्न इस समय अधिकारी-वर्ग, शिक्षकों और अभिभावकोंके मस्तिष्कको झकझोर रहा है, वह है 'नयी शिक्षा-प्रणालीका क्रियान्वयन'। 'क्या हम इसे क्रियान्वित कर पायेंगे?' इसमें सबको संशय हो रहा है। संशयके मूलभूत कारण हैं—(१) नयी शिक्षा-प्रणालीमें विज्ञान, (२) कार्य-अनुभवका अनिवार्य विषय होना, (३) शिक्षक-प्रशिक्षण-कार्यक्रमकी विशालता और (४) स्कूलोंका भविष्य—कौन बारहवीं कक्षातक उन्नत होंगे और कौन दसवींतक ही रहेंगे?

विज्ञान एक अनिवार्य विषय

विज्ञानके पठन-पाठनके लिये प्रयोगशाला, उपकरण आदि आवश्यक हैं, इन सबके लिये धनकी आवश्यकता है। क्या केन्द्र और राज्य-सरकारोंके पास इसके लिये पर्याप्त धन है? किसीने तो यहाँतक कहा है कि प्रत्येक स्कूलमें विज्ञान-शिक्षा लागू करनेके लिये कम-से-कम १२,००० रुपयेकी आवश्यकता होगी। अर्थात् भारतके केवल ३०,००० हाईस्कूलोंमें ही शिक्षा लागू करनेके लिये कम-से-कम ३६ करोड़ रुपयोंकी आवश्यकता होगी। जो राज्य सन् १९७७ ई॰से नयी प्रणाली लागू करनेके लिये कृत-संकल्प हैं, उनके लिये हताश होनेका यह एक मुख्य कारण है।

राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण-परिषद्में इस विषयपर गम्भीरतासे चिन्तन हुआ है। राज्योंको जो सर्कुलर भेजा गया है उसका आशय कुछ इस प्रकार है—

आदर्श विज्ञान-शिक्षा—जिसमें सभी विद्यार्थी प्रयोग करें और शिक्षक प्रयोग दिखावें—यह हमारा आधार रहेगा। बच्चे प्रयोग करें, यह केन्द्र और राज्योंके वित्तीय साधनोंको देखते हुए अभी एक कल्पना है। इस कल्पनाको साकार करना हमारा लक्ष्य रहेगा। इस बातको और वित्तीय साधनोंको ध्यानमें रखते हुए स्कूलोंको तीन वर्गोंमें बाँटा गया है—(१) पूर्णतः साधन-विहीन स्कूल, (२) अंशतः साधन-युक्त स्कूल, (३) पूर्णतः साधन-युक्त स्कूल।

पूर्णतः साधनविहीन स्कूल वे हैं, जिनमें राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद् (एन॰ सी॰ ई॰ आर॰ टी॰) की किट भी उपलब्ध नहीं है। ऐसे स्कूलोंमें 'शिक्षक प्रयोग दिखायें' के आधारपर अनुमानतः प्रतिस्कूल ३५०० रुपया व्यय होगा। अंशतः साधनयुक्त स्कूल वे हैं, जिन्हें राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद्की किट उपलब्ध है। आशा है कम-से-कम ३० प्रतिशत स्कूल इस प्रकारके होंगे। ऐसे स्कूलोंपर 'शिक्षक प्रयोग दिखायें' के आधारपर अनुमानतः केवल १४०० रुपया प्रतिस्कूल व्यय होगा। पूर्णतः साधनयुक्त स्कूल वे हैं, जिनके पास आदर्श विज्ञान-शिक्षणके लिये वित्तीय साधन है अर्थात् 'विद्यार्थी प्रयोग करें और शिक्षक प्रयोग दिखायें'—ये दोनों सम्भव हैं। ऐसे किटरहित स्कूलोंपर कुल व्यय लगभग १३,५०० रुपया प्रतिस्कूल और किटयुक्त स्कूलोंपर ११,३०० रुपया व्यय होगा। किस-किस सामग्रीकी विज्ञान-शिक्षणमें आवश्यकता है, इसकी सूची राज्य-सरकारों अथवा राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद्के पास प्राप्य है।

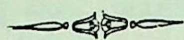
दूसरी समस्या है कार्य-अनुभवकी। इस विषयपर राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद्की ओरसे 'वर्क एक्सपीरियन्स मैनुअल सिरीज' चार खण्डोंमें प्रकाशित हो रही है। प्रथमसे दसवीं कक्षातक सीमित साधनोंद्वारा क्या-क्या किया जा सकता है? इसपर अनेक सुझाव हैं। शिक्षकोंको अपना बुद्धि-परिचय देनेके लिये भी पर्याप्त स्थान है। जहाँतक + दो स्तर (स्टेज) का सम्बन्ध है, कार्य-अनुभव आस-पाससे उपलब्ध धन्धों और उद्योगोंपर आधारित हो, ऐसा सुझाव है।

तीसरी समस्या है शिक्षक-प्रशिक्षणकी। राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद् शिक्षक-प्रशिक्षण-हेतु तीन

प्रकारके कार्यक्रमोंका आयोजन कर रही है—(१) पत्राचार-कोर्सोंका आरम्भ, (२) ग्रीष्मकालीन प्रशिक्षण-शिविर और (३) शिक्षक-शिक्षा-विभागद्वारा अल्पकालीन प्रशिक्षण-कोर्स ।

पत्राचार-कोर्सके विशाल कार्यक्रमके अन्तर्गत १०+२+३ प्रणालीके विषयमें प्रतिवर्ष १२,००० से भी अधिक शिक्षकोंके प्रशिक्षणकी सम्भावना है । इन कोर्सोंके आयोजनका भार मैसूर, भुवनेश्वर, भोपाल और अजमेरमें स्थित राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद्के चार क्षेत्रीय कालेजोंपर है । ग्रीष्मकालीन शिविरोंके अन्तर्गत केवल विज्ञानके क्षेत्रमें लगभग १०० शिविरोंका प्रतिवर्ष आयोजन होता है और प्रत्येक शिविरसे लगभग ४५ शिक्षकोंको लाभ पहुँचता है । इन शिविरोंका कार्यकाल ४ सप्ताहतकका रहता है। इसी प्रकार शिक्षक-शिक्षा-विभागद्वारा प्रशिक्षण-कार्यक्रमोंका आयोजन होता है ।

चौथी समस्या है, कौन-से स्कूल + २ के लिये उन्नत होंगे और कौन-से नहीं ? इसपर राज्य-सरकार गहनतासे विचार कर रही है । सबका उत्तर है साधन । जिनके पास साधन है, उन सभीको उन्नत होना चाहिये ।



खुली परीक्षा-पद्धति—सम्भावनाएँ और सीमाएँ

(डॉ॰ श्री बी॰ के॰ राय)

अपने देशकी शिक्षा-प्रणालीका सबसे दोषपूर्ण पहलू परीक्षा है, इसी कारण इसे बुराइयोंका गट्ठर कहा जाता है । पर्चे लीक करना, नकल करना, परीक्षकोंको धमकाना और परीक्षा-फलकी गलत घोषणा करना आदि शैक्षिक बेईमानीकी बातें आज सामान्य हो गयी हैं । इन्हींके कारण आज विश्वविद्यालयों, कालेजोंद्वारा संचालित परीक्षाओंमें छात्र नकलरूपी नावका निर्लज्जतासे सहारा लेकर परीक्षारूपी वैतरणीको पार करनेका प्रयास करते हैं । इस कार्यमें उन्हें शिक्षकों, अभिभावकों तथा समाजके अन्य वर्गोंका भरपूर सहयोग मिलता है । आजकी परीक्षाओंमें नकलका 'महायज्ञ' प्रायः अधिकांश स्थानोंपर सम्पन्न होता हुआ दिखलायी पड़ता है । इस महायज्ञमें सरकार 'ब्रह्मा', परीक्षा लेनेवाली संस्थाएँ 'यजमान', प्रधानाचार्य और शिक्षक 'पण्डित' तथा छात्र, अभिभावक और अन्य लोग 'छात्रों' का कार्य करते हैं । नकलके इस यज्ञके द्वारा सभी लोग मिलजुलकर शिक्षाकी आहुति दे रहे हैं । नकलकी इस भीषण समस्याका समाधान करनेके लिये कुछ शिक्षा-शास्त्रियोंका सुझाव है कि परीक्षाओंमें पुस्तकोंको रखने तथा उनका उपयोग करनेकी छूट प्रदान की जाय । दूसरे शब्दोंमें खुली पुस्तक-पद्धतिको अपनाया जाय ।

आज 'खुला विश्वविद्यालय तथा खुली शिक्षा' की माँग की जा रही है । इसी क्रममें इस नये सम्प्रत्यय खुली पुस्तक-परीक्षाका जन्म हुआ है । इसमें छात्रोंको परीक्षामें पाठ्य पुस्तकों तथा अन्य सामग्रियोंका सहयोग लेनेकी छूट होती है । परीक्षामें प्राप्त ज्ञानके उपयोगकी परीक्षा करना मुख्य उद्देश्य होता है । इस परीक्षा-पद्धतिके पीछे व्याप्त अन्य उद्देश्य इस प्रकार हैं—

(१) वर्तमान परीक्षा-प्रणालीमें स्मरण-शक्तिपर दिये जानेवाले बलको कम करना । (२) उच्च संज्ञानात्मक योग्यताओंकी परीक्षा करके परीक्षा-प्रणालीको विस्तृत करना । (३) छात्रोंमें अध्ययनकी आदतका विकास करना । (४) शिक्षण तथा अधिगमकी प्रक्रियाको उन्नतिशील बनाना । (५) छात्रोंमें भयसे सम्बन्धित मनोविकृतिको दूर करना । (६) परीक्षा-प्रणालीसे उत्पन्न तनाव तथा दबावको कम करना । (७) प्रश्नपत्रोंमें सुधार लाना और (८) नकलकी प्रवृत्तिपर रोक लगाना ।

वर्तमान शिक्षाप्रणालीके विषयमें कहा जाता है कि इसमें परीक्षा पास करना मुख्य उद्देश्य होता है तथा इस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये एकमात्र रटनेका सहारा लिया

जाता है। दूसरे शब्दोंमें आजकी परीक्षा-प्रणालीमें स्मरणशक्तिपर आवश्यकतासे अधिक बल दिया जाता है। इसके विषयमें टी० रेमटने ठीक ही कहा है—'वर्तमान परीक्षा-प्रणालीमें तथ्योंको रटनेपर अधिक बल दिया जाता है, उनके उपयोगपर नहीं। इसमें निर्णय तथा अनुमान लगानेकी योग्यताका मापन नहीं होता।'

खुली पुस्तक-परीक्षा-पद्धतिका दूसरा उद्देश्य उच्च संज्ञानात्मक योग्यताओंकी परीक्षा करना तथा परीक्षाके क्षेत्रको विस्तृत करना है। आजकी नकल-प्रधान परीक्षाका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है; क्योंकि इसमें मुख्य बल रटनेपर दिया जाता है। ज्ञानके चार स्तर होते हैं—(१) पहचाननेसे सम्बन्धित ज्ञान, (२) स्मरण करनेसे सम्बन्धित ज्ञान, (३) वर्णन करनेसे सम्बन्धित ज्ञान और (४) उपयोगसे सम्बन्धित ज्ञान। उपयोगसे सम्बन्धित ज्ञानको ज्ञानका सबसे उच्च स्तर माना जाता है तथा इस उच्च स्तरकी परीक्षा करके खुली पुस्तक-परीक्षा-प्रणालीका उद्देश्य परीक्षाके क्षेत्रको विस्तृत करना है।

इस नवीन परीक्षा-प्रणालीका तीसरा उद्देश्य छात्रोंमें अध्ययनकी आदतका विकास करना है। आज प्रायः देखा जाता है कि छात्र अध्ययनकी आदतसे दूर भागते जा रहे हैं। वे पुस्तकोंका गहन अध्ययन करनेकी आवश्यकताका अनुभव नहीं करते। बाजारमें हनुमान-चालीसाके रूपमें उपलब्ध नोट्सको पढ़कर उत्तीर्ण हो जाते हैं। इस प्रणालीमें इस प्रवृत्तिपर रोक लगेगी तथा छात्रोंको विवश होकर अध्ययनकी आदतका विकास करना होगा। अध्ययनकी अच्छी आदतसे छात्रोंको समयका सदुपयोग करनेका अवसर मिलेगा तथा अनुशासनहीनताकी समस्याका समाधान हो जायगा।

खुली पुस्तक-परीक्षा-प्रणालीका चौथा उद्देश्य शिक्षण तथा सीखनेके स्तरको ऊँचा करना है। आजकी शिक्षा-व्यवस्थामें परीक्षा साधनके रूपमें न रहकर साध्य बन बैठी है। इस स्थितिमें शिक्षक तथा छात्रोंका उद्देश्य ज्ञानप्राप्तिके स्थानपर परीक्षा पास करना हो गया है। इसका दुष्परिणाम यह है कि शिक्षाके उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षणविधि तथा शिक्षाके अन्य अङ्ग परीक्षाके द्वारा प्रभावित होते हैं।

खुली पुस्तक-परीक्षा-प्रणालीमें प्रश्नोंका स्तर इस प्रकार होगा कि छात्र अपने अध्ययनको तथा शिक्षक अपनी अध्यापन-विधिको सुधारने एवं उच्च करनेके लिये विवश होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि अध्ययन और अध्यापनमें सुधार होगा। इसके अतिरिक्त परीक्षा साध्य न होकर साधन मात्र रह जायगी तथा छात्रोंका उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना होगा न कि केवल परीक्षा उत्तीर्ण करना। आजकी परिस्थितिके संदर्भमें विचार देते हुए जान० एम० लेम्बोने ठीक ही कहा है—'ग्रेडपर अधिक बल देनेके कारण शिक्षाके मुख्य उद्देश्योंके प्रति लोगोंका ध्यान कम हो गया है। मुख्य बल रटकर परीक्षा पास करना है। इस दोषके कारण अन्य गुणोंके अतिरिक्त चिन्तन-पक्षका विकास नहीं हो पाता।'

इसी कारण वर्तमान परीक्षामें अच्छे अङ्कोंसे उत्तीर्ण छात्र वास्तविक जीवनमें उतने सफल नहीं होते। सन् १९६४ ई०में उत्कल विश्वविद्यालयके प्रोफेसरोंके द्वारा प्रदत्त रिपोर्टका एक अंश इस प्रकार है—'ग्रेडके आधारपर भावी जीवन तथा व्यावहारिक जीवनमें प्राप्त होनेवाली सफलताके विषयमें कोई निश्चित रूपसे भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। वर्तमान परीक्षा-प्रणालीमें परीक्षापर अधिक बल देनेकी परम्पराके स्थानपर ज्ञानको प्राप्त करनेपर बल दिया गया है।'

खुली परीक्षा-पद्धतिमें मानसिक दबाव, तनाव तथा भयको दूर करनेका प्रयास किया जाता है। यह कहा जाता है कि परीक्षाका भय प्रायः सभीको होता है; क्योंकि एक मूर्ख व्यक्ति भी ऐसे प्रश्नोंको पूछ सकता है, जिनका उत्तर अधिक बुद्धिमान् भी नहीं दे सकता। खुली परीक्षा-पद्धतिमें इस तरहकी बेचैनी तथा तनावसे मुक्ति पानेका उद्देश्य रखा गया है। सभी छात्रोंको पुस्तकीय सहायतासे प्रश्नोंको हल करनेके लिये स्वतन्त्रता रहती है। इस सुविधाके कारण परीक्षाके भयसे मुक्ति पानेकी सम्भावना बढ़ सकती है।

इस पद्धतिसे परीक्षामें पूछे जानेवाले प्रश्नोंकी शैलीमें सुधार होगा। परीक्षामें सामान्यतया ऐसे प्रश्न पूछे जाते

हैं कि जिनका उत्तर देनेके लिये चिन्तनकी सामान्यतया आवश्यकता नहीं होती। आँख मूँदकर तथ्योंको रटकर इन प्रश्नोंका उत्तर दिया जाता है। इस स्थितिके कारण परीक्षाके पीछे यह सुझाव दिया जाता है कि परीक्षा-प्रणालीमें पूछे जानेवाले प्रश्नोंको अधोलिखित विशेषताओंसे युक्त करना चाहिये—

(१) क्या इस प्रश्नका शिक्षण-पद्धतिपर अच्छा प्रभाव पड़ेगा? (२) क्या यह अच्छे ढंगसे अध्यापन-कार्यको सम्पन्न करनेके लिये प्रोत्साहन देगा? (३) क्या यह छात्रोंके लिये स्पष्ट-रूपसे बोधगम्य है और (४) क्या यह रटनेकी प्रवृत्तिको अनुत्साहित करेगा?

इन उपर्युक्त बातोंके अतिरिक्त प्रश्नोंका स्वभाव ऐसा होना चाहिये जिनसे प्राप्त ज्ञानके उपयोगकी परीक्षा हो सके। इन विशेषताओंसे युक्त प्रश्नोंको पूछनेका उद्देश्य खुली परीक्षा-पद्धतिमें है, जिसमें प्रश्नोंके गुणमें सुधार हो सके।

खुली पुस्तक-परीक्षामें नकलकी प्रवृत्तिको कम करनेका उद्देश्य रखा गया है। चूँकि इसमें पुस्तकोंकी सहायता लेनेकी स्वतन्त्रता रहेगी, इसलिये शैक्षिक बेईमानीकी सम्भावना स्वाभाविक रूपसे समाप्त हो जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि उस खतरेसे शिक्षकोंकी भी मुक्ति हो जायगी, जिसका वे परीक्षाके दौरान सामना करते हैं।

इन उपर्युक्त लाभों एवं उद्देश्योंकी प्राप्तिके लिये ही आज इस नये कदमको उठानेकी बात की जा रही है, परंतु इस अभिनव कदमकी कुछ सीमाएँ हैं, जिनमेंसे कुछका विवरण अधोलिखित है—

(१) शैक्षिक बेईमानीकी सम्भावना घटनेके स्थानपर बढ़ेगी; क्योंकि छात्र परीक्षाहालमें अपने विचारों तथा हलोंका आदान-प्रदान करेंगे। (२) स्व-अध्ययनकी आदतका विकास नहीं होगा; क्योंकि छात्र विषय-वस्तुसे सम्बन्धित सामग्रीको परीक्षाके समय सरलतासे प्राप्त कर लेंगे। (३) प्राप्त ज्ञानके उपयोगकी परीक्षाके लिये योग्य अध्यापकोंका हमारे यहाँ अभाव है। (४) प्रश्नोत्तरीसे सम्बन्धित छोटी-छोटी पुस्तकोंकी बाढ़ आ जानेकी सम्भावना बढ़ेगी और (५) इस प्रकारकी पद्धति केवल उच्च कक्षाओंमें ही उपयोगी सिद्ध होगी।

उपर्युक्त सीमाओंके रहते इस नये कदमका परीक्षण आवश्यक है। इस संदर्भमें सफलताकी प्राप्ति पर्याप्त हदतक शिक्षकों तथा प्रधानाचार्योंके ऊपर निर्भर करेगी। इसलिये इन्हें धैर्य, साहस, विवेक तथा ईमानदारीसे कार्य करना चाहिये। उन्हें कोई ऐसा आचरण नहीं करना चाहिये, जिससे वे समाजमें आलोचनाका पात्र बन सकें। संक्षेपमें नकल तथा शैक्षिक बेईमानीसे सम्बन्धित दोषोंका निराकरण करनेके लिये खोजी गयी इस नयी पद्धतिकी सफलता सरकार, प्रधानाचार्य, शिक्षक, अभिभावक तथा छात्र सभीके संयुक्त सहयोगके ऊपर निर्भर है, अन्यथा यह अभिनव कदम न केवल असफल होगा प्रत्युत वातावरणको भी विषाक्त बना देगा।

जनक और जननीसे

(श्रीबद्रीप्रसादजी गुप्त 'आर्य')

इतना दुलराओ बालकको, हो अनुशासन-हीन नहीं,
इतना प्यार करो, हो जिससे निष्क्रिय, कर्म-विहीन नहीं,
इतना सुख दो, जितनेसे कर सके बुद्धिका वह विस्तार—
हो न कभी मतिमंद आलसी, उपजे शुद्ध विवेक-विचार।

इतना मुक्त करो, जितनेसे स्वतन्त्रताका अनुभव हो,
इतनी दो न मुक्ति, जिससे उच्छृङ्खलताका उद्भव हो,
इतना प्रेम दिखाओ, जितनेसे अपना सम्मान रहे,
इतनी करो ताड़ना, जिससे उसमें हठ न गुमान रहे।

वह डालो संस्कार कि जिससे पुण्यात्मा सद्ज्ञानी हो,
वर्चस्वी, वाग्मी, विवेकी, वीर धीर बलिदानी हो,
मात-पिताका आज्ञाकारी, गुरु-चरणोंका भक्त रहे,
धर्म, स्वजाति, राष्ट्र-सेवामें जीवनभर अनुरक्त रहे।

विश्वविद्यालय बौद्धिक स्वातन्त्र्यके केन्द्र बनें

(प्रो॰ श्रीशंकरदयालुजी त्रिपाठी)

भारतमें पराधीनताका सर्वाधिक प्रभाव सांस्कृतिक चेतना एवं बौद्धिक विकासके क्षेत्रोंपर पड़ा है और भारतीय विश्वविद्यालय इस दुष्प्रवृत्तिके मुख्य प्रतीक रहे हैं। स्वतन्त्रताके पूर्वका प्रबुद्ध वर्ग मैकाले-प्रणीत शिक्षा-प्रणालीको न केवल देशके लिये अनुपयुक्त समझता था, अपितु उसकी मान्यता थी कि तत्कालीन विश्वविद्यालय ऐसे विद्यार्थियोंका निर्माण करते हैं, जो राष्ट्रिय चेतना-धारासे विरत, राष्ट्रिय आकाङ्क्षाओंसे अनभिज्ञ तथा इतिहासकी भावी रूप-रेखासे सर्वथा अपरिचित हैं और होंगे।

उन दिनों सारी परिस्थितियोंका सारा दोष विदेशी सत्ताको दिया जाता था और ऐसा समझा जाता था कि स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद जिस नये समाजका उदय होगा, उसमें विश्वविद्यालय ऐसे बौद्धिक स्वातन्त्र्यके केन्द्रके रूपमें विकसित होंगे, जिनमें भौतिक चिन्तन तो होगा ही, साथ ही भारतीय संस्कृतिके अनुरूप उनका विकास भी होगा तथा वे एक नये क्रान्तिकारी समाजकी संरचनाके आधार बनेंगे। विश्वविद्यालय उस समयके सभी राजनेताओं एवं विचारकोंके आशा-केन्द्र थे।

घटनाचक्रोंकी यह विडम्बना ही है कि स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् भारतमें पराधीनताकी प्रवृत्तियोंका ही विकास हुआ। स्वतन्त्रता-संग्रामके समय जिन प्रवृत्तियोंको अस्वस्थ एवं अराष्ट्रिय समझा जाता था, वे ही आज प्रगति तथा विकासका प्रतीक बन गयी हैं। जहाँ आर्थिक क्षेत्रमें विदेशी सहायता तथा अन्ताराष्ट्रिय कम्पनियोंपर हमारा परावलम्बन बढ़ा है, सांस्कृतिक क्षेत्रमें हमारी हीन-भावना विकसित हुई है, नैतिक मान्यताएँ तेजीसे बदली हैं, स्वराज्यके प्रति भी श्रद्धा कम हुई है, भारतीय मूल्यों, स्वभाषा, वस्त्र-वेशभूषाके प्रति हमारा आग्रह घटा है (राजनेताओं, राज्यपालों तथा मन्त्रियोंकी टाई-संस्कृति इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है), वहीं हमारे विश्वविद्यालय विदेशी संस्कृति, तकनीकके प्रचार-केन्द्र एवं उनकी सभ्यताके दीप-स्तम्भ बन गये हैं। आज वहाँ होड़ इस बातकी लगी है कि कौन अधिक-से-अधिक 'अभारतीय' है तथा विदेशी संस्कृति उसके कितना निकट है। इस बातकी प्रतिस्पर्धा नहीं है कि अपने स्वतन्त्र देशको गौरवके अनुरूप आचरणमें प्रतिष्ठित करके नवयुवकोंमें स्वदेशाभिमान जाग्रत् किया जाय, अपितु इस बातकी है कि कौन कितना अधिक अमेरिकन, ब्रिटिश, जर्मन, फ्रेंच या रूसी विचारधारासे पोषित और प्रभावित है।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके तुरंत पश्चात् देशकी सांस्कृतिक परम्परा एवं बौद्धिक जीवनको नियन्त्रित करनेकी दृष्टिसे अनेक शिक्षण-संस्थान, फाउण्डेशन, स्कालरशिप तथा शैक्षणिक आंदान-प्रदान (एक्सचेंज) कार्यक्रम (अधिकतर अमेरिकन) प्रारम्भ किये गये, जो शैक्षणिक कम और राजनीतिक अधिक थे। सांस्कृतिक सहयोग, आर्थिक पुनर्निर्माण एवं ज्ञान-परिवर्धनके नामपर हजारों नवयुवकोंका 'आधुनिकीकरण', 'विदेशीकरण' तथा 'विसंस्कृतीकरण' किया गया। सम्पूर्ण देशमें यह धारणा विकसित की गयी कि जबतक ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज या हारवर्डकी मोहर न हो (यद्यपि आजकल उनका आर्थिक ढाँचा बुरी तरह लड़खड़ाया हुआ है), तबतक कोई भी व्यक्ति विचारक, सुसंस्कृत एवं चिन्तनशील अध्यापक नहीं हो सकता। प्रायः यह भुला दिया गया है कि बौद्धिक विकास आत्माभिमुखी प्रक्रिया है, न कि बाह्य आडम्बर। विदेशी शिक्षा-प्राप्त नवयुवक (कुछ अपवादोंको छोड़कर) न तो भारतीय समाज-व्यवस्थामें समरस हो पाते हैं और न शिक्षण-कार्यके प्रति समर्पणकी भावनासे कार्य ही कर पाते हैं। पाश्चात्त्य प्रभावके अन्तर्गत प्रशिक्षण तो उनके लिये व्यवसाय या विकासकी सीढ़ी मात्र है।

राष्ट्रिय चेतना, गौरव एवं ज्ञानके अभावमें आजके विश्वविद्यालय कोई मौलिक देन देनेमें असमर्थ हैं। जिन मूल्योंकी यहाँ स्थापना होती है, वे किसी भी प्रकार बौद्धिक स्वातन्त्र्य एवं विकासके लिये उपयुक्त नहीं हैं। इस प्रकारकी प्रशिक्षण-प्रणालीसे आधुनिकतावादी तो जन्म ले सकते

हैं, किंतु युग-परिवर्तक समाजनिर्माता नहीं; इतिहासकार बन सकते हैं, किंतु इतिहास-निर्माता नहीं, मन्त्रद्रष्टा नहीं । वे किसीका अनुगमन कर सकते हैं, पर नेतृत्व नहीं ।

आज सभी अनुभव करते हैं कि वर्तमान विश्वविद्यालय राष्ट्रनिर्माणमें अपना योगदान नहीं दे पा रहे हैं, शिक्षक मार्गदर्शनके स्थानसे च्युत हो गये हैं, विद्यार्थियोंमें स्वदेशाभिमान एवं उत्तरदायित्वका अभाव है । सभी मानते हैं कि वर्तमान अनुलिपिकारिणी शिक्षण-प्रणाली देशके लिये अनुपयुक्त एवं अभिशाप है । सभी लोग हिंदीको राष्ट्रभाषाके पदपर सुशोभित करनेकी बात कहते हैं तथा क्षेत्रीय भाषाओंको विकसित करनेकी बातका समर्थन भी करते हैं, परंतु फिर भी अंग्रेजी भाषाका ही एकच्छत्र साम्राज्य है । सभी ओर विचार एवं कर्तव्यमें गतिरोध पैदा हो गया है ।

आवश्यकता है कि विश्वविद्यालय बौद्धिक स्वातन्त्र्यके केन्द्र बनें, हम मौलिक चिन्तनकी ओर अग्रसर हों, ज्ञान कहींसे भी मिले, ग्रहण करें, किंतु भारतीय आधार न छोड़ें, सुस्थिर एवं सुस्पष्ट शिक्षकनीतिका अनुसरण करके विश्वविद्यालयोंको जनाभिमुख बनायें, गारा-मिट्टीके स्थानपर सद्ज्ञानपर बल दें तथा विद्यार्थियोंमें श्रेष्ठतम मानवीय गुणोंका निर्माणकर भारतवर्षके पुनर्निर्माण, आर्थिक विकास एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरणमें अपना सहयोग प्रदान करें ।



बाल-विश्वविद्यालय

(श्रीजयप्रकाशजी भारती)

संसारमें पहली बार बाल-विश्वविद्यालय स्थापित करनेकी चर्चा चल रही है । सामाजिक बुराइयाँ मिटाने और विकासके मार्गपर चलनेका शुभारम्भ बालकसे ही हो सकता है । इसके लिये हमारी चार दशककी पुरानी शिक्षा असफल ही रही, यह हम स्वीकार कर चुके हैं । नयी शिक्षा-प्रणाली कुछ सार्थक है भी, इसीमें संदेह होता है ।

बाल-विश्वविद्यालयकी कल्पना एकदम अनूठी है । बालक और विश्वविद्यालय—दो शब्द साथ-साथ हों तो उन्हें हमारे महारथी शिक्षाविद् पचा नहीं सकते। वे परम्परागत विश्वविद्यालयसे अलग कैसे सोचें । विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोगने रस्सोंसे घेराबंदी करके अधिकांश विश्वविद्यालयोंको कब्रिस्तान बना रखा है । बौद्धिक समाज पश्चिमका पालतू बना हुआ है । बाल-विश्वविद्यालयमें बाल-शिक्षा और अनुसंधानको एक ही परिसरमें रखा जायगा ।

बाल-विश्वविद्यालय ऐसा होगा जो अनुदानकी बैसाखियोंपर न टिका हो । उसके तीन मुख्य भाग होंगे—(१) जिस बाल-शिक्षाको हम सपनोंमें सँजोते आये हैं, उसे साकार करनेवाला विद्यालय । (२) विद्यालयका शिशु-प्रभाग तीनसे पाँच-छः वर्षतकके फुदकते-किलकारियाँ भरते शिशुओंका होगा । (३) खेल-खेलमें उनकी शिक्षा होगी, कोई पाठ्य-पुस्तक उनके लिये निर्धारित न होगी ।

मुख्य विद्यालयमें पाँच वर्षसे ऊपरके बालक भर्ती किये जायँगे । आरम्भमें एक हजार, उसके बाद प्रतिवर्ष एक हजार जुड़ते रहेंगे । दस हजारसे अधिक बच्चे भर्ती न होंगे । पिछड़े और ग्रामीण क्षेत्रके बालक भी वहाँ लिये जायँगे । ग्यारह वर्षतक उनकी शिक्षा वहीं रहकर होगी । वे बालक तीन भाषाएँ सीखेंगे । इसके सिवा प्रतिदिनके काममें आने योग्य गणित तथा दूसरे विषय भी पढ़ाये जायँगे । यह शिक्षा बहुत-सी पाठ्य-पुस्तकोंके भरोसे नहीं चलेगी । इस अवधिमें सभी बालक विश्वविद्यालय-परिसरमें काम भी करेंगे । वे कोई-न-कोई ऐसी कला सीख लेंगे, जिससे वे सत्रह वर्षके होनेपर चाहें तो अपना काम आरम्भ कर सकें । ग्यारह वर्षकी इस शिक्षामें उन्हें परीक्षा और प्रमाण-पत्रके बन्धनमें बँधना

न पड़ेगा ।

इसके बाद उनकी विशेषज्ञ-शिक्षा आरम्भ होगी। जिस दिशामें उनकी विशेष रुचि हो, उसीके शीर्षस्थ विशेषज्ञकी देख-रेखमें युवा छात्र अपना अध्ययन करेंगे। उसकी अवधि छः-सात वर्षतक हो सकती है। कतिपय मामलोंमें आवश्यकता होनेपर दस वर्षतक भी हो सकती है। बाल-विश्वविद्यालयमें विशेषज्ञ-शिक्षा पूरी करनेवाले छात्रोंको जहाँ-तहाँ नौकरीके लिये भटकना नहीं पड़ेगा। यदि वे चाहेंगे तो विश्वविद्यालयमें अच्छे वेतनपर आजीवन काम कर सकेंगे।

बाल-विश्वविद्यालयके छात्रोंको बहुत-सा ज्ञान आप-से-आप मिल जायगा। परिसरमें 'लघु भारत' का निर्माण किया जायगा। प्रत्येक राज्यको भूमि प्रदान की जायगी, जहाँ वे अपना-अपना सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित कर सकें। ये केन्द्र बारहों मास जीवंत बने रहेंगे। राज्य-विशेषका रहन-सहन, खान-पान, पहनावा, लोक-जीवन तथा अन्य मुख्य विशेषताओंकी झाँकी हर किसीको वहाँ मिल जायगी। राज्योंके पर्व-त्योहार भी आये दिन वहाँ मनाये जायँगे।

बाल-विश्वविद्यालयमें बालकसे जुड़े सभी विषयोंपर शोध-कार्य भी होंगे। वहीं बालकके स्वास्थ्य, मनोविज्ञान, व्यवहार, मनोरञ्जन, खेलकूद, शिक्षण-पद्धति तथा ज्ञान-विज्ञानसे जुड़े विविध विषयोंपर अध्ययन एवं शोधकी व्यवस्था रहेगी। इस समय इन पाँच संस्थानोंको वहाँ आरम्भ करनेका प्रस्ताव है—(१) बाल-स्वास्थ्य-शोध-संस्थान, (२) बाल-मनोरञ्जनका संस्थान, (३) बाल-शिक्षा-अध्ययन एवं शोध, (४) खेलकूद-संस्थान और (५) विश्व-बाल-साहित्य तथा दृश्य-श्रव्य-संस्थान एवं विशाल पुस्तकालय।

बाल-विश्वविद्यालयकी सम्पूर्ण रूपरेखा तैयार करनेके लिये गठित समितिके अध्यक्ष देशके जाने-माने शिक्षाविद् प्रोफेसर मुनिस रज़ा हैं। उनका कहना है कि राजधानीके निकट जो बाल-विश्वविद्यालय बनेगा, वह तो 'नोडल' या संगम-जैसा होगा, शेष देशके अन्य भागोंमें उसके क्षेत्रीय परिसर भी बनते जायँगे। भूतपूर्व उपराष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्ती विश्वविद्यालयके सूत्रधार हैं। भारतीय बाल-शिक्षा-परिषद्ने इस दिशामें पहल की है और दो सौ एकड़ भूमि जुटा ली है। विविध क्षेत्रोंके विशेषज्ञ समितिसे जुड़ रहे हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुरके शान्ति-निकेतन, पांडीचेरीमें अरविन्द-आश्रम गुरुकुल-पद्धति, गिजुभाईके बाल-मन्दिर तथा इवान इलिचके 'स्कूलरहित समाज'में जो अच्छी बातें हैं, उन्हें केन्द्रमें रखकर बाल-विश्वविद्यालयकी योजना आगे बढ़ेगी। इसकी सम्पूर्ण रूपरेखा उभरनेमें समय लगेगा। नवम्बर सन् १९८७ई०में नयी दिल्लीमें हुए 'राष्ट्रिय बाल-शिक्षा-सम्मेलन'में देशके सभी भागोंसे एक हजार शिक्षाविद्, शिक्षक, विचारक तथा बालकके विषयमें सोचने-समझनेवाले विशेषज्ञोंने भाग लिया 'बाल-विश्वविद्यालय'-सत्रकी अध्यक्षता शिक्षा एवं संस्कृति-मन्त्री श्रीमती कृष्णा साहीने की। श्रीमती साहीने कहा कि बाल-विश्वविद्यालयके अन्तर्गत बालकका सम्पूर्ण विकास हो सकेगा। इस योजनामें निर्धारित पाठ्यक्रम-द्वारा ज्ञान करानेपर जोर नहीं है, अपितु स्वास्थ्य, खेलकूद, मनोरञ्जन तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमोंद्वारा बहुमुखी विकास किया जायगा। इससे बच्चोंका मानसिक स्तर बढ़ेगा, साथ ही राष्ट्रिय एकता और सद्भावकी दिशामें यह सफल प्रयोग होगा, किंतु बाल-विश्वविद्यालयके आयोजक 'जीवन-शिक्षा'के विचारोंको सँजोये हुए हैं। यह योजना नयी पीढ़ीमें एकता, सद्भाव तथा मानवताके अङ्कुर अवश्य रोप सकेगी।

समर्पणका सरल उपाय है नामस्मरण। नामस्मरणसे पाप भस्म होते हैं। सकाम नामस्मरण करनेसे वह नाम जो इच्छा हो वह पूरी कर देता है। निष्काम नामस्मरण करनेसे वह नाम पापको भस्म कर देता है। मनके श्रीकृष्णार्पण होनेसे भक्ति उल्लसित होती है।

अभिनव शिक्षा—कुछ बुनियादी प्रश्न

(श्रीलालताप्रसादजी शर्मा)

शिक्षा मनुष्यके सम्यक् विकासके लिये उसके विभिन्न ज्ञान-तन्तुओंको प्रशिक्षित करनेकी प्रक्रिया है। इसके द्वारा लोगोंमें आत्मसात् करने, ग्रहण करने, रचनात्मक कार्य करने, दूसरोंकी सहायता करने और राष्ट्रिय महत्त्वके कार्यक्रमोंमें पूर्ण सहयोग देनेकी भावनाका विकास होता है। इसका उद्देश्य व्यक्तिको परिपक्व बनाना है। शिक्षा केवल वही नहीं है, जो विद्यार्थियोंको स्कूल और कालेजोंमें दी जाती है, अपितु व्यापक अर्थमें जीवनपर्यन्त चलती रहनेवाली एक ऐसी प्रक्रिया है, जो विभिन्न वर्ग और श्रेणीके लोगोंके आपसी विचार-विमर्शके द्वारा चलती रहती है तथा उसका चलते रहना बहुत आवश्यक है। शिक्षा हमारे चिन्तनको विवेक-सम्मत बनाती है, जिससे हमें समाजको कुरीति और अन्यायसे मुक्त करनेकी प्रेरणा मिलती है।

शिक्षा कैसी हो ?

शिक्षा कैसी हो? सारी दुनियामें जब कभी इस विषयपर विचार-विमर्श होता है तब सभी यह सोचते हैं कि शिक्षा ऐसी हो, जिसके माध्यमसे मनुष्य प्रकृति और अपने साथियोंके साथ अत्यधिक निकट-सम्बन्ध स्थापित कर सके। न केवल मानव, अपितु प्राणिजगत्के लिये अपने मनमें और अधिक प्यार पैदा कर सके तथा यही नहीं, पेड़-पौधे तथा उन सभी वस्तुओंके प्रति अधिक व्यापक दृष्टिकोण बना सके, जो इस दुनियाको रहनेके योग्य बनाता है। हमारी पुरानी परम्पराओंकी जो बातें ऐसा दृष्टिकोण विकसित करनेमें सहायक हैं, उन्हें निःसंदेह हमें अपनानी है, साथ ही नया ज्ञान प्राप्त करना भी हमारा दायित्व है। जो कुछ विदेशोंमें खोजा और विकसित किया जा चुका है, उसपर ही निर्भर न रहकर देखना यह है कि हम किस सीमातक उसमें अपना योगदान कर सकते हैं।

वर्तमान शिक्षा-प्रणालीमें सुधार

हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अनुपयोगी हो गयी है। यह प्रणाली मुख्यतया पश्चिमसे अनुप्राणित है। यह व्यक्ति-विशेषके विकासपर बल देते हुए केवल उपाधि पानेका अथवा रोजगारके लिये अन्य शर्तोंको पूरा करनेका माध्यम मात्र बनकर रह गयी है, किंतु वर्तमान शिक्षा-पद्धतिकी भी हम निन्दा नहीं कर सकते; क्योंकि अपनी इन सीमाओंके बावजूद भी इसने अनेक वैज्ञानिक, अभियन्ता, शिक्षाविद् एवं बड़ी संख्यामें होनहार व्यक्तियोंको पैदा किया है। वर्तमान शिक्षापद्धतिमें इस प्रकारके परिवर्तनोंकी आवश्यकता है, जो सभीकी आवश्यकता पूरा करे। यद्यपि इस शिक्षा-प्रणालीमें मौलिक संशोधन नहीं हो पाये हैं तथापि प्रयत्न किया जा रहा है कि इसे गहन सामाजिक उद्देश्यसे परिपूर्ण किया जा सके।

जीवन-मूलक शिक्षा

शिक्षाको हमारी सामाजिक जीवन-पद्धतिके अनुरूप बनाया जाना चाहिये। पाठ ऐसे हों, जो जीवन और परिस्थितियोंसे सम्बन्धित हों, जिनसे छात्रोंमें देश-प्रेमकी भावनाका विकास हो और इस प्रेरणाका उदय हो कि हम दूसरोंसे जीवन-पर्यन्त सीखते ही रहें; क्योंकि जहाँ सीखना बंद किया, वहीं मस्तिष्क भी बंद हो जाता है। छात्रोंको पुस्तकीय ज्ञान देनेके बजाय उनकी मनोवृत्तिमें परिवर्तन लानेकी चेष्टा की जानी चाहिये, जिससे वे जाति-पाँति, धर्म, भाषा, क्षेत्र और वर्ण आदिके कारण भेद-भाव न बरतें तथा बदल रहे विश्वकी चुनौतियोंका सामना करनेके लिये तैयार हों। राष्ट्रको नयी प्रतिभा मिले और लोगोंकी क्षमता बढ़े—यही शिक्षा-व्यवस्थाका उद्देश्य होना चाहिये।

दस धन दो धन तीन

सारे देशमें बुनियादी शिक्षा एक ही होनी चाहिये,

पर स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितिके अनुसार परिवर्तन भी अपेक्षित है; क्योंकि शिक्षाको सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। बच्चोंकी वास्तविक और परिवर्तित आवश्यकताओंके अनुसार अनवरत अनुकूलता आवश्यक है। उसमें प्रयोग और लचीलापन रहना आवश्यक है, किंतु इस सम्बन्धमें हमें बुनियादी बातोंको ध्यानमें अवश्य रखना चाहिये। दस धन दो धन तीनकी नयी शिक्षा-प्रणालीके कई विषयोंपर मत-वैभिन्न्य है, परंतु शिक्षाको व्यापक बनाने तथा छात्रोंको विकल्पके और अधिक अवसर प्रदान करनेके ध्येयसे इसे अपनाया गया है।

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन

शिक्षण-संस्थाओंका काम यह है कि वे छात्रोंमें छिपी शक्तिको जगायें और उस शक्तिके पूर्ण उपयोगके लिये वातावरण तैयार करें। शिक्षाको कक्षाओंकी सीमित परिधिसे निकालकर सामाजिक परिवर्तनके लिये वातावरणका निर्माण करनेकी दिशामें लगाया जाना चाहिये। छात्रोंको केवल अक्षर तथा अङ्कगणितका ज्ञान ही नहीं होना चाहिये, अपितु उन्हें अपने राष्ट्र और क्षेत्रकी समस्याओंसे अवगत कराया जाना चाहिये, जिससे वे जागरूक बन सकें। केवल जान लेना ही पर्याप्त नहीं है, जाने हुएको यदि आप किसी प्रकार जीवनमें उतारते हैं, तो यह बहुत महत्त्वकी बात है। डिग्री ले लेनेका अर्थ यह नहीं है कि कोई हाथसे काम न करे। श्रमको अपनी प्रतिष्ठाके विरुद्ध समझनेका दृष्टिकोण हमारे देशकी परम्परा और परिस्थितिके अनुकूल नहीं है। शिक्षा-संस्थाओंका कर्तव्य है कि वे श्रमके प्रति आस्थाका वातावरण बनायें, तभी हमारे युवक स्वावलम्बकी ओर अग्रसर हो सकेंगे। राष्ट्र-निर्माणकी प्रक्रियामें छात्रोंको इस ओर ध्यान देनेकी अपेक्षा कि 'राष्ट्र उनके लिये क्या कर रहा है', इस बातपर अधिक ध्यान देना चाहिये कि 'राष्ट्रके लिये वे क्या कर सकते हैं।'

शिक्षा गाँवोंकी ओर

विश्वविद्यालयों और प्रयोगशालाओंको अवश्य ही गाँवोंके निकट आना चाहिये। यह जानकर आश्चर्य होता है कि हमारे विश्वविद्यालयों और प्रयोगशालाओंको दी जानेवाली अनुदानकी राशिमेंसे भारी धन ऐसे अनुसंधान-कार्योंपर खर्च किया जाता है, जो बौद्धिकरूपसे प्रशिक्षित करनेके लिये भी लाभदायक नहीं है। इस मतसे सहमति अवश्य है कि शिक्षा-पद्धति ग्रामीण आवश्यकताओं और ग्रामीण समस्याओंसे सम्बद्ध हो, इसे ग्रामीण मेधासे भी सम्बन्धित होना चाहिये। लोगोंको यह अनुभूति होनी चाहिये कि भारतकी अपनी जीवन-पद्धति है तथा भारतकी प्रत्येक समस्याका भारतीय समाधान है। छात्र अपनी डिग्रियाँ प्राप्त करनेके बाद गाँवोंमें जायँ और न केवल गरीबी हटानेके लिये अपितु ऐसी बुराइयोंके विरुद्ध संघर्ष करनेके लिये, जिससे वे सब बुराइयाँ दूर हो सकें, जिनसे राष्ट्र निर्बल होता है।

जनपदीय अध्ययन

बहुत-से नौजवान पढ़-लिखकर गाँवसे शहरकी ओर भागते हैं और उनकी पढ़ाई-लिखाईका लाभ गाँवोंको नहीं मिल पाता। वास्तवमें शिक्षाद्वारा गाँवोंका उत्थान होना चाहिये। ग्रामीण उत्थानका पहला कदम है गाँवोंमें वहाँके वातावरण, स्थानीय वनस्पतियों, वन्य-जन्तुओं और वहाँकी कला तथा शिल्पके प्रति सम्मानकी भावना उत्पन्न करना। पुरानी लोकप्रिय घरेलू ओषधियाँ लुप्त होती जा रही हैं, कुछ थोड़ी-सी बची हैं, जो विज्ञानके बजाय विश्वासके बलपर टिकी हैं; किंतु विज्ञान धीरे-धीरे पता लगा रहा है कि सारी ओषधियाँ अवैज्ञानिक नहीं हैं। हमें ग्रामीण महिलाओं और बच्चोंको बहुमूल्य कन्दमूलोंको पहचानने और उन्हें सुरक्षित रखनेके लिये प्रेरित करना चाहिये। जो कन्दमूल पोषणकी कमी दूर करते हैं, उनकी अधिक उपज और उपयोगको हमें लोकप्रिय बनाना चाहिये। इस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये शिक्षा-संस्थाओंको अपने जनपदीय परिवेशका विभिन्न दृष्टिकोणोंसे बहुविषयक अध्ययन करना चाहिये। हमें प्रत्येक क्षेत्रमें उपलब्ध स्थानीय सामग्रीका अधिकाधिक उपयोग करनेके लिये एक नया राष्ट्रिय आन्दोलन आरम्भ करना चाहिये।

उच्च आदर्श

शिक्षाके द्वारा अन्धविश्वासोंको निर्मूल करना बहुत आवश्यक है। जीवनके उच्च लक्ष्योंको प्राप्त करनेके

लिये साहस, ईमानदारी एवं धैर्य अनिवार्य है। लोगोंको आत्मसंतोषकी भावनासे शान्त होकर नहीं बैठना चाहिये, अपितु उपलब्धियोंकी ऊँचाइयोंपर अथक आगे बढ़ते रहना चाहिये। असंतोष दो प्रकारका होता है—एक तो केवल कुण्ठा होती है और दूसरा रूप यह होता है कि महानताकी ऊँची-से-ऊँची सीढ़ियोंपर पहुँचनेके लिये स्वयंको सुधारनेके सतत प्रयास करते रहना।

एक सम्पर्क-भाषा

भारत-जैसे विशाल देशके लिये एक सम्पर्क-भाषा बहुत आवश्यक है, जिससे विभिन्न क्षेत्रोंके लोग एक दूसरेके विचार समझ सकें। जहाँतक अंग्रेजीका प्रश्न है, दो प्रतिशतसे कम लोग ही इसका प्रयोग करते हैं, इसीलिये यह आवश्यक है कि हिंदीको राष्ट्रिय सम्पर्क-भाषाके रूपमें विकसित किया जाय। इसके लिये सतर्क रहनेकी आवश्यकता है कि हिंदीके प्रचारमें कोई दबाव न दिया जाय। लोगोंको राष्ट्रभाषा स्वेच्छासे सीखनी चाहिये।

भारतीय दृष्टिकोण

विदेशी दासताके कारण कुछ लोगोंमें अभीतक हीनताकी भावना शेष है, इसी कारण भारतकी प्रत्येक वस्तुको वे हेय समझते हैं और विदेशकी हर वस्तुको उच्च मानते हैं। हमें अन्य देशों तथा विदेशी विशेषज्ञोंका अनुकरण नहीं करना है, किंतु अपनी जीवन-पद्धतिके लिये जो अनुकूल है, उसे अपनानेमें संकोच नहीं करना चाहिये और भारतीय वातावरणके लिये अनुकूल जो नहीं है, उसे तिलाञ्जलि दे देनी चाहिये। हमारे समाजशास्त्री बहुत अंशोंमें विदेशियोंद्वारा लिखी पुस्तकोंपर निर्भर रहते हैं। वे इस विषयपर भारतीय छात्रोंके लिये जो भी पुस्तक लिखते हैं, वह भी विदेशी पुस्तकोंकी नकल-सी होती है। वास्तवमें समाजशास्त्र और अर्थशास्त्रको पश्चिमी परिवेशमें नहीं अपितु भारतीय परिवेशमें यहाँकी सामाजिक व्यवस्था एवं प्रणालीको ध्यानमें रखकर देखा और उसका अध्ययन किया जाना चाहिये। देशको निःसंदेह वैज्ञानिकों और प्राविधिकोंकी आवश्यकता है, किंतु इससे भी अधिक वे लोग आवश्यक हैं जो अपनेको सर्वतोभावेन भारतीय मानते हैं।

धनाभाव

धनके अभावके कारण शिक्षाकी प्रगति कदापि नहीं रुकनी चाहिये। अनावश्यक मदोंपर कटौतीकी पर्याप्त गुंजाइश है। विद्यालयोंके लिये भव्य मकानकी आवश्यकता नहीं है। विद्यार्थियोंको खुले वातावरणमें पढ़ाया जा सकता है। कवीन्द्र रवीन्द्रकी विश्वभारती इसका सुन्दर उदाहरण है। भवनकी आवश्यकता केवल वर्षासे रक्षाके लिये होती है। अतः पेड़ोंकी छाया, चबूतरों और दालानोंमें शिक्षा, विशेषकर प्राथमिक शिक्षाका प्रबन्ध किया जा सकता है। प्रयोगशालाओंके लिये भवनकी आवश्यकता होती है, परंतु इसके लिये भी निर्माण-कार्य स्थानीय साधनोंसे हो सकता है।

उच्च शिक्षाके असंतुलित फैलावपर प्रतिबन्ध

उच्च शिक्षाके असंतुलित फैलावसे शिक्षामें अनेक विकृतियाँ आयी हैं। पेशेवर छात्रोंको जो पढ़नेके लिये कालेजमें नहीं आते, किसी अन्य अभिप्रायसे आते हैं, निरुत्साह किया जाना चाहिये। इसके लिये उच्च शिक्षापर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है, पर यह प्रतिबन्ध इस प्रकार लगाया जाय जिससे कमजोर वर्ग यह अनुभव न करे कि उसके लिये उच्च शिक्षाके द्वार बंद हो गये हैं।

शिक्षककी जिम्मेदारी

शिक्षाका उद्देश्य तबतक पूरा नहीं हो सकता, जबतक छात्रों और शिक्षकोंमें अच्छे सम्बन्ध विकसित नहीं होंगे और शिक्षकोंको उचित सम्मान नहीं मिलेगा। अधिकारियोंको इस संदर्भमें अफसरशाहीसे बचना चाहिये। हमारे भविष्यके लिये शिक्षकोंकी योग्यता और उनकी मनोवृत्तियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। वे नये समाजको गढ़ते हैं और परम्पराको आगे बढ़ाते हैं, इसीलिये वे सदा आदर और श्रद्धाके पात्र हैं। हमने अपने देशके लिये जो बुनियादी उद्देश्य और लक्ष्य कायम किये हैं, उन्हें युवकोंतक पहुँचाना और उसके लिये उन्हें तैयार करनेकी जिम्मेदारी शिक्षकोंकी है। प्रगतिके लिये हमारी वर्तमान उत्साहपूर्ण खोजमें अध्यापकोंको अगुआ होना चाहिये। अशिक्षा, गरीबी और प्रतिक्रियावादी शक्तियोंके विरुद्ध संघर्ष करनेमें

अध्यापकोंकी भारी जिम्मेदारी है। शिक्षकोंका कर्तव्य है कि संविधानमें प्रस्तावित नागरिकोंके दस मूल कर्तव्योंके प्रति जागरूकता पैदा करें, साथ ही जनसाधारणको उनके अनुपालनके लिये प्रेरित करें। नागरिकोंके कर्तव्योंकी सूचीमें सम्मिलित प्रावधानोंमें अन्तिम प्रावधानको सबसे अधिक महत्त्व देना चाहिये, जिसमें नागरिकोंका व्यक्तिगत और सामूहिक जीवनमें उत्कृष्टता प्राप्त करनेका आह्वान किया गया है।

गैर औपचारिक शिक्षा

गैर औपचारिक शिक्षाके माने हैं तथाकथित अशिक्षित व्यक्तिको बौद्धिक समस्याओंको हल करनेमें सम्मिलित करना तथा यह पता लगाना कि वास्तविक जीवनमें उनके क्या अनुभव रहे, उनकी क्या कठिनाइयाँ हैं और हमने उन कठिनाइयोंको दूर करनेके जो उपाय सोचे हैं, क्या उनसे वे दूर हो सकेंगी। हमें यह सोचना है कि हम उन्हें राष्ट्रिय समस्याओंके समाधान खोजनेमें कैसे सम्मिलित करें? कैसे उनके विचारोंका पता लगायें? किस तरह उन्हें सोचनेके लिये प्रेरित करें, चाहे वे झुग्गीमें रहते हों, चाहे वे थोड़ा अच्छे क्वार्टरोंमें रहते हों। उन्हें यह अनुभव कराना है कि देशमें जो कुछ भी हो रहा है, उसमें उनका भी योगदान है। यदि उन्हें यह समझमें नहीं आ रहा है कि इसे किस प्रकार प्रारम्भ करें तो केवल ये बातें सुनना भी उनके लिये महत्त्व रखती हैं।

नयी बातोंके विषयमें सोचना निःसंदेह बुद्धिजीवियोंका काम है, परंतु हमें ऐसा वातावरण तैयार करना चाहिये, जिसमें नयी बातोंके विषयमें सोचने-विचारनेका अवसर सभी नागरिकोंको मिले। हो सकता है कि हर आदमीके सोचनेका ढंग उतना अच्छा न हो सके, परंतु हमारा ध्येय यह होना चाहिये कि देशमें सभी बातोंके विषयमें सोचनेकी एक परम्परा बने। इस प्रक्रियासे यह बात सामने आयेगी कि हर वस्तुको हम यों ही अङ्गीकार नहीं कर लेते, हम लकीरके फकीर नहीं हैं, यहाँतक कि अपनी परम्पराका भी हम अन्धानुकरण नहीं करते, अपितु हममें यह जानने-समझनेका ज्ञान है कि क्या सही और क्या समयातीत है? यही हम चाहते हैं कि हमारे विश्वविद्यालय इस विषयमें सोचें और विचारें।

१०+२+३ शिक्षा-प्रणाली—पुरानी और अपूर्ण योजना

(डॉ० श्रीवेदरामजी शर्मा)

१०+२+३ 'शिक्षा-योजना', जिसे साधारण बोल-चालमें नयी शिक्षा-योजना कहा जाता है, वस्तुतः एक पुरानी और अपूर्ण शिक्षा-योजना है। पुरानी इसलिये, क्योंकि उसे कलकत्ता-विश्वविद्यालयमें (सैडलर-) आयोगद्वारा सन् १९१९ ई०में प्रस्तावित किया गया था और अपूर्ण इसलिये, क्योंकि उसमें ग्रामीय जीवन एवं विकासकी उपेक्षा की गयी है। राष्ट्रके सर्वतोमुखी विकासकी दृष्टिसे माध्यमिक शिक्षा (मुदालियर-) आयोग सन् १९५२-५३ई० और कोठारी-आयोग सन् १९६४-६६ई०की अपेक्षा विश्वविद्यालयीय शिक्षा (राधाकृष्णन्) आयोग सन् १९४८-४९ई०, जिसमें भारतके लिये दो स्वतन्त्र किंतु परस्पर पूरक शिक्षा-प्रणालियों—(१) ग्रामीय शिक्षा-प्रणाली और (२) नगरीय शिक्षा-प्रणालीकी कल्पना की गयी है, अधिक याथार्थिक एवं व्यावहारिक प्रतीत होती हैं।

नयी शिक्षा-योजनाकी एक विचारणीय विशेषता यह है कि वह तीन क्रमिक खण्डों या स्तरोंमें विभक्त है, जिनमेंसे प्रथम खण्डकी अवधि १० वर्ष, द्वितीयकी दो वर्ष और तृतीयकी तीन वर्ष है। इस प्रकार प्रथम कक्षासे लेकर प्रथम उपाधितक कुल शिक्षावधि पंद्रह वर्ष होगी। प्रथम दशवर्षीय शिक्षा प्राप्त करनेके लिये विद्यार्थी छः वर्षकी आयुमें (अर्थात् छठे वर्षके अन्त और सातवें वर्षके प्रारम्भमें) पहली कक्षामें प्रवेश लेगा और सोलह वर्षकी अवस्थामें दसवीं कक्षातककी शिक्षा पूर्ण करेगा।

दशवर्षीय शिक्षा 'एकरूप सामान्य शिक्षा' होगी अर्थात् छः से सोलहतकके आयु-विस्तारमें प्रत्येक विद्यार्थीको एक-जैसे विषय पढ़ने होंगे और यह विचार नहीं किया जायगा कि वह बालक है या बालिका, ग्रामीय है या नगरीय। राष्ट्रिय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण-परिषद्, दिल्लीद्वारा प्रकाशित 'दशवर्षीय स्कूलके लिये पाठ्यक्रम—एक रूपरेखा' के अनुसार कक्षा नौ-दसमें प्रत्येक विद्यार्थीको कलाओं, कार्यानुभव और शारीरिक शिक्षा, स्वास्थ्य-शिक्षा तथा खेलके साथ-साथ तेरह विषय (प्रथम भाषा, हिंदी अथवा अंग्रेजी, कोई भारतीय भाषा, गणित, बीजगणित, ज्यामिति, इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान और जीव-विज्ञान) पढ़ने होंगे।

नयी शिक्षा-प्रणाली मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्तोंपर आधारित नहीं है

नयी शिक्षा-योजनाके समर्थकों और प्रचारकोंका दावा है कि दशवर्षीय समान्य-शिक्षा भारतीय किशोरोंको सामाजिक समायोजना और जीविकोपार्जन—दोनों दृष्टियोंसे सक्षम बना देगी, किंतु गहराईसे विचार करनेपर यह शिक्षा-योजना इसी दावेकी कसौटीपर लड़खड़ा जाती है। प्रश्न है, क्या समाजिक समायोजन और जीविकोपार्जनकी दृष्टिसे सभी किशोरोंकी परिस्थितियाँ, आकाङ्क्षाएँ एवं क्षमताएँ एक-सी हैं और उनका बालक या बालिका, ग्रामीय या नगरीय होना कोई अर्थ या महत्त्व नहीं रखता? यदि इस प्रश्नका स्वीकारात्मक उत्तर दे दिया जाय तो मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त एवं मान्यताएँ झूठी पड़ जायँगी। दुर्भाग्यसे प्रस्तावित नयी शिक्षा-योजना इस प्रश्नका उत्तर स्वीकारात्मक ही देती है और इसीलिये उसकी आलोचना इस आधारपर की जाती है कि वह मान्य मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्तोंपर आधारित नहीं है। अन्यथा १६ वर्षतक प्रत्येक विद्यार्थीके लिये एक-समान विषय निर्धारित करनेका क्या तात्पर्य है?

भारत-जैसे विशाल देशमें पाठ्यक्रमीय एकता कदापि वाञ्छनीय नहीं

दशवर्षीय स्तरपर सोलह वर्षतककी आयुके लिये पाठ्यक्रमीय एकरूपताका प्रतिपादन भारत-जैसे विशाल देशके लिये, विविधता जिसकी सहज विशेषता है, कदापि वाञ्छनीय नहीं है। भारतके लिये नयी शिक्षा-योजना तैयार करते समय यदि अन्य आधारोंपर नहीं तो कम-से-कम लिङ्ग तथा पर्यावरणकी विभिन्नताओंपर तो विचार किया ही जाना चाहिये। यदि यह सत्य है कि शिक्षा और संस्कृतिमें अटूट सम्बन्ध होता है तो हम इस तथ्यकी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं कि भारतीय संस्कृतिमें नारी-जीवनके आदर्श, दृष्टिकोण, आकाङ्क्षाएँ एवं आवश्यकताएँ पुरुष-जीवनके आदर्शों, दृष्टिकोणों, आकाङ्क्षाओं एवं आवश्यकताओंसे भिन्न मानी गयी हैं और इसी प्रकार ग्रामीय जीवनके लिये अपेक्षित दृष्टिकोण, क्षमता एवं आवश्यकताएँ नगरीय जीवनके लिये अपेक्षित दृष्टिकोणों, क्षमताओं एवं आवश्यकताओंसे पृथक् होती हैं? तत्कालीन शिक्षा-मन्त्रीने कथित नयी शिक्षा-योजनाका प्रस्ताव करते और प्रचार कराते समय सम्भवतः भारतीय परिप्रेक्ष्यमें शिक्षा तथा संस्कृतिके सम्बन्धकी इस विशिष्ट प्रकृतिकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। यही कमी कोठारी-आयोगके सुझावोंमें दीख पड़ती है।

पुरुष और स्त्रियोंकी शिक्षा सभी विषयोंमें समान नहीं होनी चाहिये

प्रसन्नताका विषय है कि इस कसौटीपर राधाकृष्णन्-आयोग पूर्णतः खरा उतरता है। स्त्रियोंकी शिक्षा स्त्रियोंके अनुरूप तथा पुरुषोंकी शिक्षासे भिन्न होनी चाहिये—इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए राधाकृष्णन्-आयोग कहता है—'महिलाओंको युगके जीवन तथा विचार और अभिरुचियोंमें पुरुषोंके साथ भाग लेना चाहिये। वे उतनी ही पूर्णता तथा विशेषताके साथ उस शैक्षिक कार्यके लिये उपयुक्त होती हैं, जिसके लिये पुरुष। महिलाओंमें सामान्य योग्यताका वितरण लगभग

वही है जैसा पुरुषोंमें। यद्यपि पुरुष एवं स्त्रियाँ शैक्षिक कार्यमें समानरूपसे दक्ष हैं और अनेक विषय समानरूपसे रुचिकर तथा उपयुक्त होते हैं, तथापि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पुरुषों तथा स्त्रियोंकी शिक्षा सभी विषयोंमें समान होनी चाहिये।'

ग्रामशिक्षा सर्वोपरि है

राधाकृष्णन्-आयोगमें पर्यावरणके आधारपर भी शैक्षिक विविधताका प्रतिपादन इतनी ही पुष्टताके साथ मिलता है। भारतीय गाँवके महत्त्वका वर्णन करते हुए आयोग कहता है—'स्वतन्त्र भारत जैसे-जैसे अपनी गति-प्रगतिका नियोजन प्रारम्भ करता है, वैसे-वैसे ग्रामीण कल्याणके प्रति एक बढ़ती हुई अभिरुचि दीख पड़ती है। यह केवल गाँवोंके लिये ही नहीं, अपितु समूचे भारतके भाग्यके लिये भी महत्त्वपूर्ण है। विश्व-इतिहासकी गति-प्रगतिमें एक राष्ट्रकी महानता उसके ग्रामीय जीवनके विघटनके बाद शायद ही कभी जीवित रही हो। अकथनीय युगोंसे मनुष्य स्वभावसे एक ग्रामीण रहा है और किसी अन्य पर्यावरणमें अधिक समयतक जीवित नहीं बचा है। यूरोप तथा अमेरिकामें इस विषयके ऊपर किये गये प्रायः प्रत्येक अध्ययनने यह प्रकट किया है कि नियमतः नगरीय परिवार केवल कुछ पीढ़ियोंतक ही जीवित रहते हैं। नगर केवल तभीतक विकसित होते और सम्पन्न रहते हैं जबतक वे ग्रामीण जनसंख्यासे सतत पोषित होते रहते हैं। जबतक एक राष्ट्रका ग्रामीय जीवन हृष्ट-पुष्ट है, तबतक उसमें जीवन तथा शक्तिके भण्डार हैं। जब नगर एक लम्बे समयतक गाँवोंसे, उन्हें प्रायः कुछ भी न लौटाते हुए, जीवन तथा संस्कृतिकी क्रीम खींचते रहते हैं, जैसा कि गत दो शताब्दियोंमें भारतमें हुआ है, तो संस्कृति एवं ऊर्जाके विद्यमान ग्रामीय साधन रिक्त हो जाते हैं और राष्ट्रकी शक्ति कम हो जाती है। भारतको यह निश्चय करना ही चाहिये कि क्या उसे गाँवोंको इतना समृद्ध, रोचक एवं सांस्कृतिक दृष्टिसे सम्पन्न स्थान बनाते हुए अवसर एवं साहसके इतने क्षेत्रके साथ कि वहाँ युवकोंको नगरोंकी अपेक्षा अधिक रुचि तथा अभिरुचि, अधिक सांस्कृतिक लाभ और अधिक अग्रगमनके लिये अधिक अवसर प्राप्त होगा, एक दूर-दूरतक वितरित जनसंख्याको लक्ष्य बनाना चाहिये अथवा राज्य या वैयक्तिक निकायोंसे विशाल केन्द्रित उद्योग चलाने चाहिये।'

समानान्तर ग्रामीय शिक्षा-योजनाकी अपरिहार्यता

सर्वविदित है कि लगभग पचासी प्रतिशत भारतीय जनसंख्या गाँवोंमें रहती है, जो अकथनीय दरिद्रता, अभाव, अज्ञान, रोग, नैराश्य, रूढ़िवाद और शोषणके शिकार हैं। स्वतन्त्रभारतमें राष्ट्रिय विकासकी जो भी योजनाएँ बनायी गयी हैं, उनका अधिकतर लाभ नगरोंको ही प्राप्त हुआ है और गाँव न केवल उन लाभोंसे वञ्चित रहे हैं, अपितु नगरोंद्वारा उनका शोषण भी पूर्ववत् जारी रहा है। युवकोंके लिये ग्राम्य जीवनमें कोई आर्थिक अवसर नहीं, सांस्कृतिक आकर्षण नहीं। फलतः शिक्षा प्राप्त करनेके पश्चात् वे अपने-अपने गाँवोंको छोड़कर नगरोंकी ओर दौड़ रहे हैं, जिसके कारण गाँवोंकी दशा और भी शोचनीय होती जा रही है। इस विषम परिस्थितिमें ऐसी ग्रामीय शिक्षा-योजना ही एकमात्र विकल्प रह जाती है, जो ग्रामीय युवकोंको ग्रामीय जीवन तथा पुनर्निर्माणके लिये प्रेरित करे। राधाकृष्णन्-आयोगने इस तथ्यको भलीभाँति समझा है और अपने प्रतिवेदनमें एक समानान्तर ग्रामीय शिक्षा-योजनाकी रूपरेखा प्रस्तुत की है, जो तीन स्तरोंमें विभक्त है। प्रत्येक स्तरपर भिन्न प्रकारकी शिक्षा-संस्थाएँ हैं, यथा (१) प्रारम्भिक स्तरपर 'बेसिक स्कूल', (२) माध्यमिक स्तरपर 'ग्रामीय माध्यमिक स्कूल' और (३) उच्च स्तरपर 'ग्रामीय महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय'। आयोगने अपने प्रतिवेदनके अठारहवें अध्यायमें इन शिक्षा-संस्थाओंके विभिन्न पक्षोंपर विस्तारपूर्वक विचार किया है। इस विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि राधाकृष्णन्-आयोग लिंग तथा पर्यावरण—दोनों तत्त्वोंके आधारपर प्रारम्भिक

स्तरसे लेकर उच्च स्तरतक शैक्षिक विविधताके सिद्धान्तका समर्थक है । कहनेकी आवश्यकता नहीं कि कोठारी-आयोग तथा नयी शिक्षा-योजनाके समर्थकोंने बालक-बालिका और ग्राम-नगर-जैसे महत्त्वपूर्ण तत्त्वोंकी उपेक्षा करके एकरूप सामान्य शिक्षाके नामसे सोलह वर्षतक प्रत्येक विद्यार्थीके लिये एक समान शिक्षाका प्रस्ताव करके एक अमनोवैज्ञानिक, असमाजशास्त्रीय, अव्यावहारिक और अहितकर विचारका ही प्रचार किया है, जो लोकतन्त्री भारतके लिये स्वीकार्य एवं अनुकरणीय नहीं है ।



मातृभाषा—नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय

(श्रीराहुलसांकृत्यायन)

यदि विदेशी साम्राज्यवादियोंकी भाँति हम भी कुछ बाबुओंको शिक्षित बनाकर उन्हें शासक बनाना चाहते हैं और चाहते हैं कि ९० प्रतिशत जनता अशिक्षित रहकर अपने शासकोंकी मनमानीमें दखल न दे, तो मातृभाषाको छोड़कर दूसरी भाषाको शिक्षाका माध्यम बनानेकी शर्त बिलकुल ठीक है ।

मानव-जातिके आजतकके अर्जित तथा प्रतिदिन प्रतिक्षण बढ़ते विस्तृत ज्ञान, दर्शन, विज्ञान, राजनीतिके हम उत्तराधिकारी हैं और उस ज्ञानको प्राप्त करना तथा उसे काममें लाना हमारे जीवित रहनेके लिये आवश्यक है । यह ज्ञान सदा भाषाके अंदर रहता है, भाषाके माध्यमसे ही प्राप्त हो सकता है । प्रश्न है, क्या आप ज्ञानको बिना समय, श्रम और भारी व्ययके सिखलाना चाहते हैं ?

मातृभाषाओंको ज्ञानका माध्यम बनानेमें शिक्षाकी प्रगति कितनी तेजीसे हो सकती है, इसका सुन्दर उदाहरण सोवियत मध्य एशियाकी तुर्कमान, उजबेक, किर्गिज, कजाक जातियाँ हैं, जो सन् १९१७ ई०से पहले शिक्षामें भारतीयोंसे भी अधिक पिछड़ी हुई थीं । जारशाही दिलसे चाहती ही न थी कि उनमें शिक्षा सार्वजनीन हो, इसलिये उसने अपने स्कूलोंमें रूसीको माध्यम रखा था । शिक्षित शहरी तरुण तुर्की (टर्कीकी साहित्यिक भाषा) को शिक्षाका माध्यम बनाना चाहते थे, जो कि मध्य-एशियाकी इन जातियोंकी मातृभाषाओंके समीप होते हुए भी उनकी मातृभाषा न थी । रूसीमें यदि ज्ञानके दानादानमें समर्थ होनेके लिये दस वर्षकी शर्त थी तो तुर्कीमें आठ वर्षकी । जब दोनों ही शत-प्रतिशत जनताको साक्षर या शिक्षित देखनेके लिये उत्सुक नहीं थे, तो फिर उन्हें मातृभाषाओंकी ओर दृष्टि दौड़ानेकी आवश्यकता ही क्या थी ? किंतु जब सन् १९१७ ई०की रूसी जनक्रान्तिसे जनताको साक्षर-शिक्षित करना जीवन और मृत्युका प्रश्न हो गया, तब क्रान्तिके नायकोंका ध्यान जनताकी बोलियों—तुर्कमानी, उज्बकी, किर्गिजी और कजाकीकी ओर गया । उस समय इन भाषाओंकी न कोई लिपि थी, न लिखित साहित्य । इसके विपरीत रूसी और तुर्की साहित्य विशाल थे । किंतु जनताके पथ-प्रदर्शक भलीभाँति समझते थे कि सारी जनताको रूसी और तुर्की भाषापर अधिकार करनेके लिये विवश करनेकी अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि रूसी, तुर्की तथा दूसरी समुन्नत भाषाओंमें सुरक्षित ज्ञानको तुर्कमानी आदि भाषाओंमें अनुवाद करके जनताके सामने रखा जाय । उन्होंने ऐसा ही किया और आज २५ वर्ष बाद मध्य-एशियाकी कैसी कायापलट हुई, यह हमारे सामने है । जिस उज्बकी भाषामें आजसे २५ वर्ष पहले एक भी छपी पुस्तक न थी, आज वह तासकंदके विश्वविद्यालयके भिन्न-भिन्न विषयवाले कालेजोंमें शिक्षाका माध्यम है । उसमें अनेक दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं ।

मातृभाषाकी हमारी परिभाषा है, जिसके बोलनेमें अनपढ़-से-अनपढ़ मनुष्य और बच्चातक भी व्याकरणकी अशुद्धि न कर सके ।



जननायकोंका शैक्षिक चिन्तन

स्वामी विवेकानन्दका शैक्षिक चिन्तन

१२ जनवरी, १८६३को उत्पन्न हुए नरेन्द्रदत्त २५ वर्षकी अवस्थामें कषायवस्त्र धारणकर स्वामी विवेकानन्द हो गये और भारतीय नवजागरणके अग्रदूत माने गये। देशमें नवजागरण लानेके लिये उन्होंने सम्पूर्ण भारतका भ्रमण किया तथा देशके पतनके कारणों एवं जीवनके सभी पक्षों और समस्याओंपर गहराईसे विचार किया।

चारित्रिक शिक्षापर बल देते हुए उन्होंने कहा था—'शिक्षा मनुष्यके भीतर निहित पूर्णताका विकास है। वह शिक्षा जो जनसमुदायको जीवनसंग्रामके उपयुक्त नहीं बना सकती, जो उनकी चारित्र्यशक्तिका विकास नहीं कर सकती, जो उनके मनमें परहित-भावना और सिंहके समान साहस पैदा नहीं कर सकती, क्या उसे भी हम शिक्षा नाम दे सकते हैं?' शिक्षाका उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था—'सभी शिक्षाओंका, अभ्यासोंका उद्देश्य मनुष्य-निर्माण ही है। समस्त अभ्यासोंका अन्तिम ध्येय मनुष्यका विकास करना है। जिस अभ्यासके द्वारा मनुष्यकी इच्छाशक्तिका प्रवाह और आविष्कार संयमित होकर फलदायी बन सके, उसीका नाम शिक्षा है।'

स्वामीजीने शिक्षाको ज्ञानका पर्यायमात्र न मानकर जीवन-निर्माण, मनुष्यत्वके विकास एवं चरित्रके गठनका साधन माना है। उनका दृष्टिकोण है—'शिक्षा उस जानकारीके समुदायका नाम नहीं है, जो तुम्हारे मस्तिष्कमें भर दिया गया है और वहाँ पड़े-पड़े तुम्हारे सारे जीवन-भर बिना पचाये सड़ रहा है। हमें तो भावों या विचारोंको ऐसे आत्मसात् कर लेना चाहिये, जिससे जीवन-निर्माण, मनुष्यत्व आये और चरित्रका गठन हो। यदि शिक्षा और जानकारी एक ही वस्तु होती तो पुस्तकालय संसारके सबसे बड़े संत और विश्वकोष ऋषि बन जाते।'

स्वामीजी विश्वको धार्मिक शिक्षा देनेवाले आचार्य भी थे। उन्होंने शिक्षाको धर्मसे पृथक् न मानकर पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष शिक्षाका विरोध किया। उनका मत था कि व्यक्तिके समान राष्ट्रकी भी एक विशिष्ट प्रतिभा होती है, उसके विकासका एक मार्ग होता है। भारतका प्राण-केन्द्र धर्म ही है। अतः यहाँ धर्म-निरपेक्ष शिक्षाकी कल्पना ही भ्रामक है। उन्होंने कहा था—'हमारी शिक्षा, बुद्धि और हमारे विचार पूर्णतः आध्यात्मिक हैं, जो धर्ममें ही अपनी पूर्णता पाते हैं।'

स्वामीजी प्राचीन गुरुगृहवास-प्रथाको ही वर्तमान परिस्थितिके अनुकूल संशोधित एवं परिवर्धित कर लड़के और लड़कियों—दोनोंके लिये लागू करनेके पक्षमें थे। वे कहते थे—'मेरे विचारसे शिक्षाका अर्थ है—गुरुगृहवास। शिक्षक अर्थात् गुरुके व्यक्तिगत जीवनसे उत्तम कोई शिक्षा नहीं हो सकती। जिनका चरित्र जाज्वल्यमान अग्निके समान हो, ऐसे व्यक्ति (गुरु) के सहवासमें शिष्यको बाल्यावस्थासे ही रहना चाहिये, जिससे कि उच्चतम शिक्षाका सजीव आदर्श शिष्यके सामने रहे।' हमारे देशमें ज्ञानका दान प्राचीनकालसे ही त्यागी पुरुषोंद्वारा होता रहा है। पवित्र जीवनका प्रत्यक्ष उदाहरण ही मानवके अन्तःस्थित प्रसुप्त देवत्वको जाग्रत् कर सकता है, इस तथ्यको स्वीकार करते हुए उन्होंने गम्भीर स्वरोंमें उद्घोषणा की थी—'यदि देशके बच्चोंकी शिक्षाका भार फिरसे त्यागी व्यक्तियोंके कंधोंपर नहीं आता तो भारतको दूसरोंकी पादुकाओंको सदा-सदाके लिये अपने सिरपर ढोते रहना होगा।'

स्वामीजीने गुरुगृहवासके साथ ही कठोर ब्रह्मचर्यव्रत, मनकी एकाग्रता और विषयोंके प्रति अनासक्तिको भी विद्यार्थियोंके लिये आवश्यक माना है। उनका कहना था—'आजकी यह उच्च शिक्षा रहे या बंद हो जाय, इससे क्या बनता-बिगड़ता है? यह अधिक अच्छा होगा, यदि लोगोंको थोड़ी तकनीकी-शिक्षा मिल सके, जिससे वे नौकरीकी खोजमें इधर-उधर भटकनेके बदले किसी

काममें लग सकें और जीविकोपार्जन कर सकें।' उनके इन कथनोंसे वर्तमान तकनीकी-शिक्षाके प्रति उनके उदार दृष्टिकोणका परिचय मिलता है।

स्वामीजी देशके विकासके लिये विज्ञानकी शिक्षाकी आवश्यकता तो अनुभव करते थे, किंतु उसमें वेदान्तका समन्वय आवश्यक समझते थे। उनका विश्वास था कि वेदान्त मानवको जीवित रहनेके लिये, विवेक तथा कष्ट सहनेके लिये धैर्य प्रदान करनेके साथ-साथ स्वार्थ एवं लोलुपतापर अंकुश लगाकर उसकी मनोगत आकाङ्क्षाओंकी तृप्ति भी करवा सकता है और विश्वकी नैतिक क्षयग्रस्तताका निवारण भी कर सकता है।

विज्ञानके साथ-साथ स्वामीजीने कलाकी शिक्षाको भी अनिवार्य माना। उनके मतानुसार जीवनकी जटिलता एवं दुर्वहनीयतामें पड़कर भारतीयोंको कलाको विस्मृत नहीं करना चाहिये—'एशियावासियोंकी आत्मा ही कलामय है। एशियावासी किसी भी कलारहित वस्तुका उपयोग नहीं करते। क्या वे नहीं जानते कि कला हमारे लिये धर्मका ही एक अङ्ग है? पश्चिमका आदर्श उपयोगिता है, भारतका आदर्श कला। भारतवासियोंको दोनोंके समन्वयका प्रयास करना चाहिये।'

स्वामी विवेकानन्द मानसिक एवं आध्यात्मिक बलके साथ शारीरिक बलको भी अत्यधिक आवश्यक मानते थे। उनका विश्वास था कि शरीरसे दुर्बल व्यक्ति आत्मसाक्षात्कारके सर्वथा अयोग्य होता है, इसलिये वे अपने देशके समस्त स्त्री-पुरुषोंको सबल और सशक्त देखना चाहते थे।

मातृभाषामें शिक्षा तथा प्रादेशिक भाषाओंकी संवर्धनाके समर्थक होते हुए भी स्वामीजी संस्कृत-भाषाको सबसे ऊपर मानते थे। वे कहते थे—'संस्कृतकी ध्वनिमात्र ही जातिको शक्ति, क्षमता और प्रतिष्ठा प्रदान करती है।' संस्कृत पुरातन विद्याका कोष तथा मानव-जातिके सर्वाधिक उदात्त विचारोंका संग्रह है। इसीके माध्यमसे हम अपनी प्राचीन महानताका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, यही हमें उस आत्मविश्वास एवं श्रद्धासे परिपूर्ण कर सकती है, जिसे हम विदेशी शासन तथा राष्ट्रविरोधी शिक्षा-प्रणालीके कारण गँवा चुके हैं। स्वामीजी तो संस्कृतको संस्कृतिका रक्षक एवं पर्याय ही मानते थे। उनका विश्वास था कि यदि हम सुसंस्कृत होना चाहते हैं, भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करना चाहते हैं तो हमें संस्कृत-भाषा एवं उसके वेदान्त, गीता, भक्ति-ग्रन्थ, धर्म-शास्त्र तथा नीतिके उपदेशोंको ग्रहणकर आचरणमें लाना पड़ेगा।

वर्तमान युग संक्रान्तिका युग है। इस संक्रान्ति-कालमें ही भविष्यका स्वरूप निर्धारित होगा। यदि हम चाहते हैं कि हमारा देश प्रगतिके पथपर अग्रसर हो, महत्तर एवं गौरवशाली भारतका निर्माण हो तो हमें अपनी शिक्षा-समस्याको सुलझानेमें, नयी शिक्षा-योजनाके निर्माणमें स्वामी विवेकानन्दके शैक्षिक चिन्तनको महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करना चाहिये और उनके सुझावोंको अपनाना चाहिये।



गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोरकी शैक्षिक विचारधारा

(श्रीजगदीशप्रसादजी शर्मा)

कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोरके शिक्षासम्बन्धी विचार बड़े उदात्त हैं। सन् १८९५ ई०में उन्होंने 'शिक्षाके हेर-फेर' शीर्षक प्रबन्धको पढ़ते हुए सशक्त शब्दोंमें स्पष्ट कर दिया था कि 'तत्कालीन भारतीय शिक्षा-पद्धतिके सीमित एवं संकुचित क्षेत्रमें मानसिक शक्तियोंका स्वाभाविक विकास होना कभी सम्भव नहीं है। आनन्द और स्वतन्त्र वातावरणसे वञ्चित शिक्षासे बालकोंका मानसिक विकास ही केवल अवरुद्ध नहीं हो जाता, प्रत्युत अकर्मण्य हो जाता है और बाल-प्रकृतिकी भूख नहीं मिट पाती।' आजसे ९० वर्ष पूर्व उनकी यह चिन्तनधारा क्या उनकी दूरदर्शिताका यथेष्ट प्रमाण नहीं है? उनके शिक्षा-दर्शनकी पृष्ठभूमिमें संवेदनशील विराट् हृदय था, जिसके द्वारा

उन्होंने बालक, प्रकृति तथा मानवको पहचाननेका प्रयास किया था ।

भारतीय जीवनमें पाश्चात्त्य शिक्षाके कुपरिणामोंसे व्यथित होकर उन्होंने कहा था—'सभी देशोंकी शिक्षाके साथ देशके सर्वाङ्गीण जीवनधाराका गहरा सम्बन्ध रहता है । हमारे देशकी आधुनिक शिक्षाका केवल नाममात्रका सम्पर्क शिक्षित समाजके कुछ व्यवसायों, जैसे—डॉक्टरी, वकालत, क्लर्की, मास्टरी आदिसे है । जहाँ हल और कोल्हू चल रहे हैं, कुम्हारके चाक चल रहे हैं, वहाँतक ऐसी शिक्षा नहीं पहुँच पाती । अन्य किसी देशमें ऐसी दुर्दशा देखनेको नहीं मिलती । इसका कारण यह है कि हमारे विश्वविद्यालयोंकी जड़ें भूमिमें स्थित न होकर दूसरे पेड़-पौधोंपर अमरबेलकी तरह लटक रही हैं । भारतके लिये सार्थक विद्यालय वे ही होंगे जहाँ सिखाया गया अर्थशास्त्र, कृषि, स्वास्थ्य एवं विज्ञानका वास्तविक और व्यावहारिक प्रयोग विद्यालयके चारों ओर स्थित गाँवोंमें हो सके । ऐसे विद्यालय सामाजिक जीवनके केन्द्र होंगे । इन विद्यालयोंमें उत्कृष्ट आदर्शोंपर कृषि, गोपालन, कपड़ोंकी बुनाई आदिकी शिक्षा दी जायगी । इन विद्यालयोंका आर्थिक संगठन सहकारितापर आधारित होना चाहिये, तभी ऐसे विद्यालय, शिक्षक और छात्र समाजके जीवनसे घनिष्ठ रूपसे संयुक्त हो सकेंगे ।' आज सारे विश्वमें जिस शिक्षाको विज्ञान एवं प्राविधिमय गणतन्त्र समाजके अनुकूल बनानेकी चर्चा जोरोंसे चल रही है, उस राष्ट्रिय शिक्षाकी नीतिका निर्धारण करनेके लिये कविगुरु इस ओर बहुत पहले ही संकेत कर चुके थे ।

देशके जीवनरूपी वृक्षकी जड़ जहाँपर है, शिक्षाकी वर्षा उससे सौ हाथ दूर गिर रही है । दूरीकी बाधाको पार करके जो कुछ थोड़ा-सा भी रस जड़तक पहुँच पाता है, वह जीवनकी शुष्कताको ही दूर करनेके लिये यथेष्ट नहीं होता । सजीव मातृभाषाके रसमें घुलकर ही शिक्षा चिरस्थायी बन सकती है । यदि ऐसा न हो तो वह शिक्षा समाजके उच्च स्तरोंके लिये सामयिक शोभाका कारण भले ही बन जाय, किंतु सनातन जीवनकी धारा नहीं बन सकती ।

गुरुदेवने शिक्षाके क्षेत्रमें इस बातपर बल दिया था कि 'शिक्षणकी प्रक्रिया इस प्रकार संगठित हो कि बालकको अपनी रुचि और प्रवृत्तिके अनुसार आत्माभिव्यक्तिकी स्वतन्त्रता और सुविधा मिल सके तथा उसे प्रकृतिका स्निग्ध स्पर्श और मानवका स्वाभाविक स्नेह मिले । शिक्षा-संस्थानोंमें पारिवारिक चैतन्यता और शिक्षक-छात्रोंमें सद्भाव ही अन्य अभावोंकी पूर्ति कर सकता है ।' कविगुरुकी इस अन्तर्दृष्टिके पीछे उनके बालजीवनका प्रत्यक्ष अनुभव था । विद्यालयमें भर्ती होनेपर बालक रवीन्द्रनाथको प्रकृतिसे सम्पर्कका तथा शिक्षकोंके व्यवहारमें पारिवारिक आत्मीयताका अभाव अत्यन्त पीड़ादायक हो गया था । सन् १९०१ ई०में शान्तिनिकेतनकी स्थापनाके कारणकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा था—'हमने अपने विद्यालयके छात्रोंमें प्रकृति देवीकी भाँति मानवीय प्रतिवेशके साथ सतेज मनोभाव, उन्मुखता और प्रियत्व-बोध जाग्रत् करनेकी यथासाध्य चेष्टा की है । इसके लिये हमने साहित्य, प्रचलित पर्व एवं उत्सव और साधारण धर्म-शिक्षासे सहायता ली है, जिससे आत्माका बाह्य जगत्से घनिष्ठ सम्बन्ध हो सके ।' धर्म-शिक्षासे यह न समझा जाय कि शान्ति-निकेतनमें किसी विशेष सम्प्रदायके धर्मका अनुसरण किया जाता था । वहाँ उपासनाओं, प्रार्थनाओं तथा चर्चाओंमें सभी धर्मोंके मूल तत्त्वोंका समावेश रहता था । प्राचीन भारतीय ऋषियोंके उपदेशोंके साथ-साथ ईसा, हजरत मुहम्मद, बुद्ध, नानक, चैतन्य, कबीर आदि सभीके विचारोंको स्थान दिया जाता था ।

कविगुरुकी दृष्टिमें स्वयं वातावरण ही पाठ्य पुस्तकों, विद्यालय-भवन, संगठन तथा समस्त क्रियाकलापोंसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है । उनका विश्वास था कि शिक्षापूर्ण वातावरणमें ही बालकके सृजनमूलक जीवनका निर्माण सम्भव है । समुचित वातावरणमें ही नवीन रचनाओं तथा नवीन परिस्थितियोंके अनुकूल बुद्धिके उपयोगका सम्यक् अवसर मिलता है ।

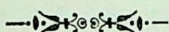
'बच्चोंको कठोर दण्ड देते हुए देखकर मैं अध्यापकको ही दोषी मानता हूँ । जब मैं शान्ति-निकेतनमें कार्य करता

था, तब शिक्षकोंके कठोर विचारसे छात्रकी रक्षा करना मेरे लिये एक गम्भीर समस्या थी। मुझे अध्यापकोंको समझाना पड़ता था कि अध्यापक शिक्षाको एक यन्त्र मात्र बनानेके लिये नहीं है। ऐसा करनेपर मुझे कभी-कभी उनका अप्रिय पात्र भी बनना पड़ता था। मुझे ऐसे बहुत-से अवसर स्मरण हैं, जब मुझे अध्यापकोंके उग्र दण्डसे छात्रोंको रक्षा करनी पड़ी थी, परंतु बादमें मुझे कभी इसके लिये पछताना नहीं पड़ा। चाहे राष्ट्रतन्त्र हो या शिक्षातन्त्र, कठोर शासनकी नीति शासकवर्गकी अकर्मण्यताका प्रमाण है।'

बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें जब प्रगतिशील देशोंतकमें छात्रोंको किसी प्रकारकी स्वतन्त्रता न देकर कठोर नियन्त्रणमें रखा जाता था, कविगुरु टैगोर ही सर्वप्रथम छात्र-स्वराज्यके प्रवर्तकके रूपमें अवतरित हुए। अध्यापकोंने उनके मतका विरोध किया, परंतु उन्होंने शान्ति-निकेतनमें 'आश्रम-समिति'की स्थापना की। छात्रोंकी यह समिति छात्रोंके लिये नियम और विधान बनाती थी। इसकी एक कार्यवाहक समिति यह देखती थी कि नियमोंका पालन हुआ या नहीं। छात्र स्वयं वाद-विवाद करते थे तथा मतदानद्वारा आपसमें निर्णय लेते थे। आश्रम-समितिकी एक विचार-समिति भी थी जो अपराधियोंका भी विचार करती थी। धीरे-धीरे यह व्यवस्था अनुशासन, संयम और नीतिकी व्यावहारिक शिक्षा देनेका एक उत्तम एवं परीक्षित साधन बन गयी।

कविगुरु टैगोरका विश्वास था कि केवल बौद्धिक विकासपर बल देनेसे ही मानवकी कोमल वृत्तियाँ प्रस्फुटित नहीं हो पातीं। शिल्प एवं ललित कलाकी चर्चा आवश्यक है। हाथ, कान और आँखोंका प्रशिक्षण तथा उनमें सामञ्जस्य उत्पन्न करना शिक्षाका एक सर्वमान्य ध्येय है। भारतीय शिक्षाके इतिहासमें शान्तिनिकेतनमें ही कविगुरुने सर्वप्रथम शिक्षाकी परिधिमें शिल्प, कला और संगीतको मान्यता दी।

शिक्षाके क्षेत्रमें गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोरकी नयी-नयी गतिविधियाँ और नवीन प्रयोग प्रमाणित करते हैं कि वे एक युग-प्रवर्तक, शिक्षामनीषी और दूरदर्शी शिक्षा-मर्मज्ञ थे। हमने तो उन्हें उस समय पहचाना जब विदेशियोंने उन्हें नॉवेल पुरस्कारसे सम्मानित किया। आज भारतमें शिक्षाके पुनर्गठनके लिये विदेशी योजनाओं और विदेशी शिक्षाशास्त्रियोंपर ही पूर्णतया निर्भर न रहकर विश्वकविके विचारों एवं प्रयोगोंपर भी गम्भीरतासे विचार करने और उन्हें उचित मर्यादा देनेकी आवश्यकता है।



श्रीअरविन्दका शिक्षा-दर्शन

योगिराज श्रीअरविन्द आधुनिक भारतके उन थोड़े-से प्रमुख शिक्षा-दार्शनिकोंमेंसे हैं, जो पौरस्त्य और पाश्चात्त्य संस्कृतियोंके समन्वयकी कड़ी हैं। प्रत्येक दार्शनिकके शिक्षासम्बन्धी विचार उसके दार्शनिक विचारोंपर ही आधारित होते हैं। श्रीअरविन्दने यद्यपि एक सर्वाङ्ग विश्वदर्शन उपस्थित किया तथापि यहाँ मात्र उनके शिक्षासम्बन्धी विचारोंको ही विवेचित किया जा रहा है।

शिक्षाका उद्देश्य

श्रीअरविन्दके मतानुसार बालककी शिक्षा उसकी प्रकृतिमें जो कुछ सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, सर्वाधिक अन्तरङ्ग और जीवनपूर्ण है, उसे अभिव्यक्त करना होनी चाहिये। मनुष्यकी क्रिया और विकास जिस साँचेमें ढलना चाहिये, वह उसके अन्तरङ्ग गुण और शक्तिका साँचा है। उसे नयी वस्तुएँ प्राप्त करनी चाहिये, परंतु वे उन्हें सर्वोत्तम रूपसे और सबसे अधिक प्राणमय रूपमें स्वयं अपने विकास, प्रकार और अन्तरङ्ग शक्तिके आधारपर ही प्राप्तव्य हैं।' इस प्रकार शिक्षाका उद्देश्य आत्मशिक्षा है। वह एक प्रयोजनमय प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपनी अन्तरङ्ग प्रकृति और उसकी अभीप्साओंको प्राप्त करता है। इस प्रक्रियामें शिक्षार्थी अपने उद्देश्यको प्राप्त

करनेके लिये शिक्षकों, शिक्षालयों और पुस्तकोंका उपयोग करता है। शिक्षक शिक्षार्थीको एक ऐसे मार्गपर ले जाता है, जहाँ शिक्षार्थीको अपनी आन्तरिक प्रकृति ही उसका पथ-प्रदर्शन करती है। यह शिक्षार्थी-केन्द्रित शिक्षा है। प्रत्येक सच्ची शिक्षा ऐसी ही होनी चाहिये।

शिक्षाका मनोवैज्ञानिक आधार

श्रीअरविन्दके शब्दोंमें 'मस्तिष्कको ऐसा कुछ भी नहीं सिखाया जा सकता, जो जीवकी आत्माके अनावरणमें सुप्त ज्ञानके रूपमें पहलेसे ही गुप्त न हो।' शिक्षाका मूल उद्देश्य मनुष्यमें सुप्त शक्तियोंका अनावरण एवं विकास करना है। शिक्षा पूर्णरूपसे मनोवैज्ञानिक तथ्योंपर आधारित होनी चाहिये। श्रीअरविन्दने कहा है—'शिक्षाका सच्चा आधार मानव-मस्तिष्क, शिशु, किशोर और वयस्कका अध्ययन है।'

शिक्षाके सामाजिक आदर्श

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। उसके आदर्श इस बातसे निश्चित होंगे कि हम किस प्रकारके समाजका निर्माण करना चाहते हैं। श्रीअरविन्द एक दैवी समाज और दैवी मानवकी कल्पना करते हैं। उनकी शिक्षा-प्रणालीका उद्देश्य व्यक्ति और समाजकी दैवी पूर्णताको प्राप्त करना है। मनुष्यका लक्ष्य ऐसी सर्वाङ्गपूर्णता प्राप्त करना है, जिसमें वह केवल एक व्यक्तिके रूपमें ही नहीं, अपितु समाजके सदस्यके रूपमें भी विकसित होता है।

शिक्षाके मौलिक सिद्धान्त

श्रीअरविन्दका शिक्षा-दर्शन कुछ मौलिक सिद्धान्तोंपर आधारित है। सर्वप्रथम बालकको स्वयं जानना और विकसित होना है, शिक्षक केवल उसका निर्देशन और सहायता करता है। दूसरे शिक्षा शिक्षार्थीकी विशिष्ट प्रकृतिके अनुरूप होनी चाहिये। तीसरा सिद्धान्त निकटसे दूरकी ओर, वर्तमानसे भविष्यकी ओर चलना है। यह सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्तसे ही निकलता है। इस प्रकार शिक्षालयमें पाठ्यक्रम, शिक्षाका माध्यम, सामान्य वातावरण, सभी कुछ शिक्षार्थीके लिये स्वाभाविक होना चाहिये। केवल शिक्षाका आदर्श ही नहीं, अपितु उसका स्वरूप भी 'स्वदेशी' होना चाहिये। राष्ट्रिय शिक्षा-प्रणाली विशिष्ट राष्ट्रके भूतपर आधारित होनी चाहिये और राष्ट्र-भाषाके माध्यमसे ही चलायी जानी चाहिये।

शिक्षाका माध्यम

श्रीअरविन्द मातृभाषाको ही बालककी शिक्षाका उपयुक्त माध्यम मानते हैं। मातृभाषाके माध्यमसे बालक अपने देशकी संस्कृति, साहित्य और इतिहासका परिचय प्राप्त करता है और उसे अपने चारों ओरके जीवनको समझनेमें सहायता मिलती है। मातृभाषापर अधिकार होनेके बाद ही विदेशी भाषाएँ सिखानी चाहिये। यहाँ श्रीअरविन्दके विचार अन्य समकालीन भारतीय शिक्षा-दार्शनिकोंके अनुरूप हैं।

मानसिक शक्तियोंका प्रशिक्षण

श्रीअरविन्द जहाँ पाश्चात्त्य दार्शनिकोंके साथ सक्रियतासे सीखनेका महत्त्व दर्शाते हैं, वहाँ निष्क्रियतासे सीखनेपर भी बल देते हैं। बालकको अपने मनको सक्रिय करनेके साथ-साथ निष्क्रिय करनेका भी अभ्यास करना चाहिये। शिक्षाके लिये बाह्य सामग्रीका इतना महत्त्व नहीं है, जितना शिक्षार्थीमें विशेष विषयपर अधिकार करनेकी इच्छाका है। विभिन्न मानसिक विषयोंके अध्यापनमें सबसे पहली बात बालकमें रुचि उत्पन्न करना है। विभिन्न विज्ञानोंको बालककी विभिन्न आन्तरिक प्रवृत्तियोंकी सहायतासे सिखाया जा सकता है। देशभक्ति और नायक-पूजाकी प्रवृत्तिसे इतिहासको मनोरञ्जक बनाया जा सकता है। जिज्ञासाकी प्रवृत्तिको उकसाकर बालकको विज्ञानका प्रशिक्षण दिया जा सकता है। उसकी बौद्धिक चेतनाको उकसाकर उसे दर्शन सिखाया जा सकता है। अनुकरण और कल्पना कलाको सीखनेमें सहायक हैं। शिक्षकको सबसे पहले बालकको ध्यान केन्द्रित करना सिखाना चाहिये। ध्यानका यह केन्द्रीकरण पहले शब्दोंपर और फिर विचारोंपर किया जाना चाहिये। इस सम्पूर्ण प्रक्रियामें बाहरसे कोई भी दबाव उचित नहीं है। अवधानके साथ-साथ स्मृति और निर्णयकी शक्तियोंको भी प्रोत्साहित किया जाना

चाहिये । प्राकृतिक वस्तुओं, जैसे—फूलोंके निरीक्षण, भेद, तुलना आदिसे बालककी स्मृतिको विकसित किया जा सकता है । तारोंके निरीक्षणसे नक्षत्र-विद्या सिखायी जा सकती है । भूमि और पत्थरोंके निरीक्षणसे भूगर्भका अध्ययन कराया जा सकता है और पशुओंके निरीक्षणसे जीवशास्त्र सिखाया जा सकता है । इस प्रकार बालकको उसके चारों ओरके निकट परिवेशकी सहायतासे ही मानसिक शिक्षा दी जानी चाहिये । मानसिक शिक्षामें निर्णय-शक्तिका प्रशिक्षण अत्यन्त आवश्यक है । बालकको सही निर्णय करनेके साथ-साथ अन्य व्यक्तियोंके निर्णयोंसे अपने निर्णयकी तुलना करके अपनी गलतियोंको समझना भी सीखना चाहिये ।

शारीरिक शिक्षा

शारीरिक शिक्षाके बिना मानसिक शिक्षा अधूरी है; क्योंकि शिक्षाका उद्देश्य व्यक्तिका पूर्ण विकास है । शरीर समस्त कर्मका माध्यम है । शारीरिक प्रशिक्षणसे शरीरकी पूर्णता, स्वास्थ्य और शक्ति प्राप्त करनेका प्रयास किया जाता है । अतः विभिन्न प्रकारके खेलों और व्यायामोंके द्वारा शारीरिक शिक्षा दी जानी चाहिये । शारीरिक विकासके लिये श्रीअरविन्दने ब्रह्मचर्यपर विशेष बल दिया है । ब्रह्मचर्यसे वीर्य अनुशासित होता है और शिक्षार्थी उच्च लक्ष्योंकी ओर बढ़ सकता है । मानसिक नियन्त्रणके लिये भी ब्रह्मचर्यकी अनिवार्यता है ।

नैतिक शिक्षा

किसी भी आदर्श शिक्षा-प्रणालीमें नैतिक शिक्षाका महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह नैतिक शिक्षा केवल उपदेश और अध्ययनसे सम्भव नहीं है, क्योंकि ये सब तो कृत्रिम और यन्त्रवत् साधन हैं । मनुष्यकी नैतिक प्रकृतिमें भाव, संस्कार और स्वभाव सम्मिलित हैं । नैतिक विकासके लिये इन सबका रूपान्तर आवश्यक है । प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणालीमें गुरु शिक्षार्थीके सम्मुख एक आदर्श था, जिससे उसके चरित्रके अनुकरणसे ही उसे नैतिक शिक्षा प्राप्त हो जाती थी । आधुनिक युगमें उन प्राचीन परिस्थितियोंको वापस नहीं लाया जा सकता, परंतु ऐसी शिक्षा-प्रणालीकी स्थापना अवश्य की जा सकती है, जिसमें शिक्षक-वर्ग वैतनिक प्रशिक्षक न होकर मित्र, निर्देशक और सहायक हों । नैतिक शिक्षा उपदेशसे नहीं, अपितु संकेतसे दी जा सकती है । इस संकेतमें स्वाध्यायका विशेष महत्त्व है । विद्यार्थियोंके सम्मुख महापुरुषोंके आदर्श उपस्थित किये जा सकते हैं । इसके लिये सबसे आवश्यक यह है कि शिक्षक स्वयं उच्च नैतिक आदर्श उपस्थित करें ।

धार्मिक शिक्षा

नैतिक शिक्षाके साथ-साथ श्रीअरविन्दके अनुसार धार्मिक शिक्षा भी आवश्यक है । यह धार्मिक शिक्षा विभिन्न धर्मोंके अध्ययनमात्रसे नहीं हो सकती, जबतक कि धार्मिक उपदेशोंके अनुसार आचरण न किया जाय । शिक्षाकी राष्ट्रिय व्यवस्थामें धार्मिक शिक्षाको स्थान दिया जाना चाहिये और फिर इस सम्बन्धमें धर्मके मूल तत्त्वोंको लेकर पाठ्यक्रमोंकी व्यवस्था की जानी चाहिये ।

निष्कर्ष

श्रीअरविन्द टुकड़ोंमें बाँटकर शिक्षा देनेके विरुद्ध हैं । शिक्षा समन्वित होनी चाहिये । शिक्षार्थीके मस्तिष्कपर कभी भी इतने अधिक विषयोंका बोझ नहीं लादा जाना चाहिये कि वह किसीका भी अध्ययन भलीप्रकार न कर सके । पाँच-छः विषय पढ़ानेकी अपेक्षा दो-तीन विषयोंपर अधिकार करानेका प्रयास अधिक उत्तम है । बालककी शिक्षा सात या आठ वर्षकी आयुमें प्रारम्भ की जा सकती है; क्योंकि इस आयुमें वह पर्याप्त समयतक किसी विषयपर ध्यान केन्द्रित कर सकता है । इससे कम आयुमें शिशुके लिये किसी विषयपर अधिक समयतक ध्यान जमाना सम्भव नहीं है । इससें पूर्व उसे उसके चारों ओरके परिवेशसे परिचित कराया जा सकता है ।

आज भारतमें शिक्षाके क्षेत्रमें विचारकों और शिक्षकोंके सामने जब अनेक समस्याएँ भयंकर-रूपसे उपस्थित हैं, तो इन समस्याओंके मूल कारणोंको खोजनेमें श्रीअरविन्दके शिक्षा-दर्शनसे सहायता ली जा सकती है; क्योंकि अन्य क्षेत्रोंके समान शिक्षाके क्षेत्रमें भी उन्होंने व्यापकता और गहराई—दोनों ही दृष्टिसे सत्योंकी खोज की है । इसीलिये उनका शिक्षा-दर्शन केवल समकालीन भारतीय शिक्षा-दर्शनमें ही नहीं, अपितु विश्वके शिक्षा-दर्शनमें भी विशिष्ट स्थान रखता है ।

महात्मा गाँधीका शैक्षिक चिन्तन

'शिक्षासे मेरा तात्पर्य यह है कि बालक और मनुष्यके शरीर, मन और आत्मामें जो कुछ श्रेष्ठ है, उसका पूरी तरह प्रस्फुटन होना चाहिये । साक्षरता शिक्षाका न अन्तिम उद्देश्य है और न प्रारम्भिक । यह केवल एक साधन है । इसके द्वारा स्त्री-पुरुषोंको शिक्षा दी जा सकती है । साक्षरता अपने-आपमें कोई शिक्षा नहीं है । इसलिये मैं शिक्षाका प्रारम्भ कोई उपयोगी शिल्प सिखानेसे करूँगा, जिससे वह प्रारम्भ होते ही कुछ उपार्जन करने योग्य हो सके ।'

आन्तरिक संस्कृति—साक्षरताके बजाय मैं शिक्षाके सांस्कृतिक पक्षको अधिक महत्त्व देता हूँ । संस्कृति जीव है, प्रारम्भिक वस्तु है । तुम्हारे आचरण और व्यक्तिगत व्यवहारकी छोटी-से-छोटी बातमें—उठने-बैठने, चलने-फिरने और वेश-भूषामें—इसकी झलक होनी चाहिये । आन्तरिक संस्कृतिकी झलक तुम्हारी वाणीमें, आतिथ्यमें, पारस्परिक व्यवहारमें और गुरुजनोंके प्रति व्यवहारमें होनी चाहिये ।

नैतिक शिक्षा—हृदयके संस्कार अथवा चरित्र-निर्माणको मैंने सदा प्रथम स्थान दिया और अब मुझे विश्वास हो गया कि नैतिक शिक्षा आयु या बचपनके वातावरणकी चिन्ता किये बिना सभीको दी जा सकती है । मैंने तो चौबीसों घंटे उनके बीचमें पिताके रूपमें रहनेका निश्चय किया । चरित्र-निर्माणको मैंने उनकी शिक्षाकी सही नींव माना और जब नींव मजबूतीसे जम गयी तो मुझे विश्वास हो गया कि अन्य सब विषयोंको बच्चे स्वयं या मित्रोंकी सहायतासे सीख लेंगे ।

आत्म-साक्षात्कार—आत्माका विकास ही चरित्र-निर्माण है । यह व्यक्तिको ज्ञान प्राप्त करने योग्य तथा आत्म-साक्षात्कारके योग्य भी बनाता है । मेरा यह विश्वास है कि यह बच्चोंकी शिक्षाका मुख्य भाग है । आत्माके संस्कारके बिना सब शिक्षा बेकार ही नहीं, अपितु घातक भी हो सकती है ।

खेती और बुनाई—भारतीय जनतामें अधिकांश लोग किसान हैं । यदि हमारे लड़कोंको प्रारम्भसे ही खेती और बुनाईकी जानकारी दी जाती और इन दो वर्गोंकी आवश्यकताको उन्होंने ठीक-ठीक पहचाना होता तथा यदि इन वर्गोंने इन व्यवसायोंकी वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त की होती तो हमारे किसान आज सुखी और समृद्ध होते ।

श्रमकी प्रतिष्ठा—अन्य देशोंकी स्थिति कैसी भी हो, किंतु भारतमें जहाँ अस्सी प्रतिशतसे अधिक जनता खेतीपर निर्भर है और दस प्रतिशत उद्योगोंपर, वहाँ शिक्षाको केवल साहित्यिक बनाना तथा लड़के-लड़कियोंको बादके जीवनमें शारीरिक परिश्रमके अयोग्य बनाना एक अपराध है । अपने भोजनके लिये परिश्रम करनेमें हमें समयका अधिकांश भाग व्यतीत करना पड़ता है, अतः हमारे बच्चोंको बचपनसे ही शारीरिक परिश्रमकी महत्ता सिखायी जानी चाहिये । उन्हें ऐसी शिक्षा नहीं देनी चाहिये, जिससे वे परिश्रमसे घृणा करें । यह खेदका विषय है कि हमारे स्कूली बच्चे शारीरिक परिश्रमको यदि घृणाकी दृष्टिसे नहीं तो उपेक्षाकी दृष्टिसे अवश्य देखते हैं ।

शिक्षा आत्मनिर्भर बनानेवाली होनी चाहिये । मेरे विचारसे इसका उपाय यह है कि शिक्षा व्यावसायिक या शारीरिक प्रशिक्षणद्वारा दी जाय । मुझे स्वयं उसका अनुभव है । दक्षिण अफ्रीकाके टाल्स्टायल फार्ममें मैंने अपने पुत्रों तथा अन्य बच्चोंको किसी शारीरिक कार्य—बढ़ईगीरी, जूता-निर्माणके माध्यमसे प्रशिक्षण दिया ।

चरखा—मैं हर अवसरपर हर समय चरखेका उपदेश देनेसे नहीं थकता; क्योंकि यह सरल वस्तु है, किंतु फिर भी बहुत कल्याणकारी है । सम्भवतः यह रुचिकर न हो; क्योंकि कोई भी स्वास्थ्यकर सादा भोजन मसालेदार अस्वास्थ्यकर भोजनके समान रुचिकर नहीं हो सकता । इसलिये गीतामें एक स्मरणीय स्थलपर सभी विचारशील व्यक्तियोंसे उन वस्तुओंको ग्रहण करनेके लिये कहा गया है, जिनका पहला स्वाद कड़ुआ होता है, किंतु जो अन्तमें अमरत्व प्रदान करती हैं । चरखा और उसके उत्पादन आज ऐसी ही वस्तु हैं । चरखेसे बढ़कर

कोई यज्ञ नहीं, जो अशान्त आत्माको शान्त करता है, विद्यार्थियोंके भटकते मनको स्थिर करता है और उनके जीवनमें आध्यात्मिक ज्योति फैलाता है ।

वर्तमान शिक्षा—मुझे यह विश्वास है कि प्रारम्भिक शिक्षाकी वर्तमान अवस्थामें न केवल धनका विनाश हो रहा है, अपितु निश्चित हानि हो रही है । इससे अधिकांश बच्चे माँ-बापके हाथसे निकल जाते हैं और उनके पेशेसे अलग हो जाते हैं । वे बुरी आदतें अपना लेते हैं, शहरी ढंग अपना लेते हैं और किसी वस्तुका अल्प ज्ञान पा लेते हैं, जिसे चाहे कुछ कहा जाय, पर शिक्षा नहीं कहा जा सकता ।

अंग्रेजीका माध्यम—अंग्रेजीको दिये गये अत्यधिक महत्त्वने शिक्षित वर्गके ऊपर ऐसा बोझ डाल दिया है, जिससे वह जीवनभरके लिये मानसिक रूपसे लँगड़ा हो गया है और अपने ही देशमें अनजान बन गया है । व्यावसायिक प्रशिक्षणके अभावसे शिक्षित वर्ग उत्पादन-कार्य करनेके लिये लगभग अयोग्य हो गया है और उसने शारीरिक हानि भी उठायी है । प्रारम्भिक शिक्षापर व्यय किया जानेवाला धन इस रूपमें नष्ट हो रहा है कि जो कुछ थोड़ा-बहुत पढ़ाया जाता है, वह शीघ्र ही भुला दिया जाता है और गाँव या शहरके संदर्भमें उसका मूल्य नहींके बराबर है । देशके नवयुवकोंके ऊपर विदेशी माध्यमका यह नाशक आरोपण इतिहासमें विदेशी शासनकी बहुत-सी बुराइयोंमें सबसे बड़ी बुराई माना जायगा । इसने राष्ट्रकी शक्तिको सोख लिया है तथा विद्यार्थियोंके जीवनको घटा दिया है ।

शिक्षाका माध्यम—शिल्प और उद्योग—शिल्प, कला, स्वास्थ्य और शिक्षाको एक व्यवस्थाके अन्तर्गत समन्वित कर देना चाहिये । शिक्षा इन चारोंका सुन्दर समन्वय है और इसमें जन्मसे लेकर मृत्युतककी शिक्षा आ जाती है । शिल्प और उद्योगको शिक्षासे अलग माननेके स्थानपर मैं उन्हें शिक्षाका माध्यम मानूँगा । मेरी नयी शिक्षा धनपर निर्भर नहीं है । शिक्षाकी पद्धतिसे ही स्वयं उसे चलानेका खर्च निकल आना चाहिये । मैं जानता हूँ कि शिक्षा केवल वही है जो आत्म-निर्भर हो, फिर चाहे इसकी कितनी भी आलोचना की जाय ।

जीवनकी पुस्तक—दस्तकारीके माध्यमसे शिक्षा पानेवाला राष्ट्र जीवनकी कार्यवाहियोंमें व्याप्त सत्य और प्रेमके चिन्तनद्वारा ऊपर उठता है । प्रेम चाहता है कि सच्ची शिक्षा सभीको सरलतासे प्राप्त हो और प्रत्येक ग्रामीणके लिये उसके जीवनमें उपयोगी हो । ऐसी शिक्षा न पुस्तकोंसे प्राप्त की जाती है और न उनपर निर्भर है । स्थानीय या साम्प्रदायिक धर्मोंसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है । यदि इसे धार्मिक कहा जाता है तो इसका धर्म विश्वधर्म है, जिससे सब स्थानीय धर्मोंका विकास हुआ है । इसलिये इसे जीवनकी पुस्तकसे पढ़ा जाता है, जिसका कोई मूल्य नहीं है और जिसे संसारकी कोई भी शक्ति आदमीसे छीन नहीं सकती ।

व्यावहारिक प्रशिक्षण—व्यावहारिक प्रशिक्षणके द्वारा किसी शिल्पकी पूरी कला और विज्ञानको सिखा कर और उसके माध्यमसे पूरी शिक्षा देकर समस्या हल हो सकती है । उदाहरणके लिये तकली कातना सिखाते समय हमें रूईकी किस्मों, भारतके विभिन्न प्रान्तोंकी मिट्टी, दस्तकारीके पतनका इतिहास, उसके राजनीतिक कारण, इसके साथ भारतमें अंग्रेजी शासनका इतिहास तथा गणित आदिका ज्ञान उन्हें प्रदान करना चाहिये ।

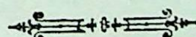
विश्वविद्यालयकी शिक्षाका उद्देश्य ऐसे सच्चे जनसेवक पैदा करना होना चाहिये जो देशकी स्वतन्त्रताके लिये जी और मर सकें । इसलिये मेरा विचार है कि विश्वविद्यालयकी शिक्षा समन्वित होनी चाहिये और प्रारम्भिक शिक्षाके समान होनी चाहिये । उच्च शिक्षा, चाहे वह उद्योग-सम्बन्धी हो या तकनीकी या कला, सरस साहित्य अथवा चित्रकलासे सम्बन्धित हो, निजी प्रयासके लिये छोड़ देनी चाहिये, जिससे वह स्वाभाविक आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सके । राज्यके विश्वविद्यालयोंको परीक्षा लेनेवाली संस्थाएँ होनी चाहिये, जो परीक्षाशुल्कके आधारपर आत्मनिर्भर बनें ।

प्रतिदिन काम आनेवाला ज्ञान—लिखना, पढ़ना और अङ्कगणितका कोरा ज्ञान अब भी ग्राम्य-जीवनका स्थायी भाग नहीं है और न आगे कभी होगा । उन्हें ऐसी शिक्षा देनी चाहिये जो प्रतिदिनके कामकी हो । इसे उनके ऊपर थोपनी नहीं चाहिये । उनमें उसके लिये प्रेरणा होनी चाहिये । आज जो जानकारी उनके पास है, उसे न तो वे चाहते हैं और न पसंद करते हैं । गाँववालोंको गाँवका अङ्कगणित,· गाँवका भूगोल, गाँवका इतिहास पढ़ाइये, उन्हें प्रतिदिन काम आनेवाला साहित्यिक ज्ञान दीजिये, जिससे वे चिट्ठियाँ आदि लिख-पढ़ सकें । ऐसे ज्ञानको वे सुरक्षित रखेंगे और आगे बढ़ेंगे । जो प्रतिदिन काम नहीं आ सकतीं उन पुस्तकोंका उनके लिये कोई उपयोग नहीं है ।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्—बहुत-से विद्यार्थी यह अनुभव करते हैं कि शरीरकी ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक नहीं है । यह भयंकर भूल है । शरीरके लिये नियमित व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है । जिस विद्यार्थीके पास शरीरकी सम्पत्ति नहीं है उससे आप क्या आशा कर सकते हैं ? जिस तरह दूधको बहुत समयतक कागज या गत्तेके डिब्बेमें नहीं रखा जा सकता, उसी प्रकार शिक्षाको हमारे विद्यार्थियोंके दुर्बल शरीरमें अधिक समयतक नहीं रखा जा सकता । आत्माका आवास होनेके कारण शरीर पवित्र है । हमें इसकी रक्षा करनी चाहिये । नियमित रूपसे उत्साहपूर्वक डेढ़ घंटे प्रातः और डेढ़ घंटे सायंकाल घूमनेसे शरीर स्वस्थ और दिमाग ताजा रहता है ।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः—अब मैं धर्मको लेता हूँ । जहाँ धर्म नहीं, वहाँ ज्ञान, धन, स्वास्थ्य आदि नहीं हो सकते । जहाँ धर्म नहीं है, वहाँ जीवन बंजर है, वहाँ कोई उन्नति नहीं हो सकती । हमारी वर्तमान शिक्षा-व्यवस्थामें धार्मिक शिक्षाके लिये कोई स्थान नहीं है । वह बिना दूल्हेकी बरातके समान है । धर्मके ज्ञानके बिना विद्यार्थी आनन्दका अनुभव नहीं कर सकते । किसी प्रकार धर्मका ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक विद्यार्थीका कर्तव्य है ।

ब्रह्मचारीका हीन पर्यायवाची—विद्यार्थी—हमारी भाषामें विद्यार्थीका पर्यायवाची एक सुन्दर शब्द है 'ब्रह्मचारी' । 'विद्यार्थी' तो गढ़ा हुआ शब्द है और 'ब्रह्मचारी'का हीन पर्यायवाची है । मुझे आशा है कि आप सब 'ब्रह्मचारी' शब्दका अर्थ समझते हैं । इसका अर्थ है 'ब्रह्म'का अन्वेषी । संसारके सब बड़े-बड़े धर्मोंमें कितना ही भेद हो, किंतु इस आधारभूत वस्तुके सम्बन्धमें वे सब एकमत हैं कि अशुद्ध हृदयका कोई भी व्यक्ति ईश्वरके सात्त्विक सिंहासनके सम्मुख खड़ा नहीं हो सकता । अतः समस्त ज्ञानका ध्येय चरित्र-निर्माण होना चाहिये । —**संकलनकर्ता—श्रीओमप्रकाशजी, खेड़ा**



आचार्य विनोबा भावेकी शिक्षा

[आचार्य-सम्मेलनमें प्रबोधन—१४ जनवरी, सन् १९७६ ई०]

मुझसे कहा गया कि आजके उपकुलपति और उनके साथके बहुत-से आचार्य सरकारके गुलाम-से बन गये हैं; क्योंकि पैसा सरकारसे मिलता है । सोचनेकी बात है, सरकारसे तो न्यायालयको भी पैसा मिलता है । वह पैसा देशका ही पैसा है । इस कारण शिक्षा-विभाग स्वतन्त्र होना चाहिये । वेतन भले सरकारसे मिलता हो, किंतु उस विभागपर सरकारका कोई अधिकार न हो । उनकी अपनी संगठना है और वे सब मिलकर एक मतिसे कुछ विचार प्रकट करते हैं । जबतक एकमति हुई नहीं, तबतक आपसमें चर्चा करते हैं और ऐसे व्यक्तिगत तौरपर बोलते नहीं । सामूहिक तौरपर ही बोलेंगे, इस तरह शिक्षा-विभाग सरकारसे मुक्त होना चाहिये । आचार्योंके और शिक्षकोंके पास जो शक्ति है, उसकी कोई तुलना सरकारकी शक्तिसे नहीं हो सकती । सरकार

तो पाँच सालके लिये आपकी नौकर है। उनका राज आपको ठीक लगा तो फिर पाँच सालके लिये उनका चुनाव करेंगे, नहीं ठीक लगा तो नहीं करेंगे। किंतु शिक्षक तो २०-२५ सालतक सिखाता रहेगा और जब वह सेवामुक्त होगा तो दूसरे जो शिक्षक उनके स्थानपर आयेंगे, वे उनके पढ़ाये हुए विद्यार्थियोंमेंसे आयेंगे। इसलिये यदि शिक्षा-विभाग अपनी बात निश्चयपूर्वक सबकी रायसे सरकारके सामने रखेगा तो सरकारको मानना पड़ेगा।

आपलोग जो आचार्य कहलाते हैं, उनकी परम्परा शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ-जैसी है। आजकल इंग्लिशके कारण 'आचार्य' शब्द कमजोर माना गया है। प्राचार्य कह दिया है। इंग्लिशमें प्रोफेसरमें 'प्र' आता है, इसलिये आचार्यमें 'प्र' लगाकर उसे बना दिया प्राचार्य। प्राचार्यका अर्थ हो गया प्रचार करनेवाला और आचार्यका अर्थ है आचरण करनेवाला। ऐसी दशामें आचरण समाप्त हो गया और प्रचार आ गया उसकी जगह। इसलिये मेरा सुझाव है कि आप प्राचार्य मत बनियेगा। प्रोफेसरका अर्थ होता है इंग्लिशमें जो प्रोफेस करता है, आचरण नहीं करता, वह प्रोफेसर है। ऐसा ढोंगी शब्द छोड़ दीजिये और आचार्य ही कायम रखिये।

एक बात और सोचनेकी है, उसे भी मैंने कई बार कही है कि सिक्यूलरका अर्थ ये लोग लेते हैं—निधर्मी राज्य और इसलिये उत्तम-से-उत्तम जो ग्रन्थ हैं हिंदू-धर्मके, इस्लाम-धर्मके, क्रिश्चियनिटीके, वे सारे उत्तम ग्रन्थ पढ़ाये नहीं जायँगे। वह सिक्यूलरका बिलकुल गलत अर्थ है। यह ठीक है कि हिंदूधर्म-शास्त्रके साथ-साथ मुस्लिम, क्रिश्चियन आदि सब धर्मोंकी शिक्षा विद्यार्थियोंको दी जानी चाहिये। इसलिये बाबाने सब धर्मोंका सार निकाल रखा है। वे सारवाली पुस्तकें हैं, उन्हें विद्यार्थियोंको सिखानी चाहिये, जिससे उनके चित्तपर संस्कार पड़ेगा सर्वधर्म-समभावका। सब धर्मोंने मिलकर जो आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा दी होगी वह विद्यार्थियोंके चित्तमें स्थिर हो जायगी।

तो दो बातें मैंने आपके सामने रखीं— (१) शिक्षा-विभाग स्वतन्त्र हो और (२) सब धर्मोंकी शिक्षा मिले। सिक्यूलर है इसलिये धर्मग्रन्थका अध्ययन ही न करना बिलकुल गलत है। और विशेष बात तो यह है कि जो सरकारके शिक्षामन्त्री होते हैं, उनके हाथमें सत्ता है। वे जो पाठ्य पुस्तक निश्चित करेंगे वह सब विद्यार्थियोंको पढ़ना पड़ेगा। उसमें उनकी परीक्षा ली जायगी। जो परीक्षामें फेल होंगे वे आगे नहीं बढ़ेंगे। तो शिक्षाधिकारीके हाथमें ऐसी सत्ता आ गयी जो आपने न तो शंकराचार्यको दी, न कबीरको दी, न तुलसीदासको दी। फिर तुलसीदास आदिके ग्रन्थ हम पढ़ते तो हैं, किंतु यह वे नहीं कर सके कि आपको रामचरितमानस पढ़ना ही चाहिये। आप पढ़िये यह आपकी इच्छाकी बात है। परंतु 'आपको पढ़ना ही पड़ेगा' इस प्रकारकी सत्ता आपने शिक्षाधिकारीके हाथमें दे रखी है। बिलकुल गलत है, उसका वह अधिकार। आचार्योंकी जो संस्था होगी उसीके द्वारा निर्णय होगा। उनके जो शिक्षाधिकारी हैं वे आपके पास आ जायँ, आपकी बातें समझ लें और तदनुकूल जो करना होगा वह करें, परंतु उनके अनुकूल आप करें, यह मामला उलटा हो गया। आपके अनुकूल वे करें उनके हाथमें सत्ता है। सत्ताके द्वारा भी कुछ चला सकते हैं। तो आपकी बात सुनकर वैसी पाठ्य पुस्तक वे तैयार करें। यह खास करके शिक्षा-विभागके विषयमें दो बातें मैंने आपके सामने रखी हैं।

जिस पापके आरम्भमें ईश्वरका भय और अन्तमें ईश्वरसे याचना होती है, वह पाप भी साधकको ईश्वरके समीप ले जाता है, किंतु जिस तपश्चर्याके आरम्भमें अहंभाव और अन्तमें अभिमान होता है, वह तप भी तपस्वीको ईश्वरसे दूर ले जाता है।

गुरु-शिष्यका प्राचीन सम्बन्ध स्थापित हुए बिना शिक्षाका विकास सम्भव नहीं

(शान्तिनिकेतन विश्वभारती विश्वविद्यालय (सन् १९५४ ई॰) में पं॰ श्रीजवाहरलालजी नेहरूके दीक्षान्त भाषणका एक अंश)

आपने कहा—'गुरुदेव के आदर्श अभीतक अधूरे पड़े हैं। उन अधूरे आदर्शोंको पूरा करना है। विश्वभारतीसे ज़ो सम्बन्धित हैं, उनका अब यह कर्तव्य हो जाता है कि वे विश्वभारतीके आदर्शों और सिद्धान्तोंको सही मार्गोंद्वारा विकसित और क्रियान्वित करें। मुझे आशा है कि विश्वभारती संसारके विभिन्न भागोंसे आये छात्रोंको ऐक्य-सूत्रमें सम्बद्ध कर अपने पुण्य कार्यको जारी रखेगी।'

आधुनिक युगमें गुरु-शिष्यका जो सम्बन्ध है, उसकी ओर संकेत करते हुए श्रीनेहरूजीने कहा कि 'आज जब शिक्षकों एवं छात्रोंके सम्बन्धको देखता हूँ तो बड़ा दुःख होता है। यह कितना आश्चर्यका विषय है कि आजके छात्र अपने शिक्षकोंको शत्रु समझते हैं। शिक्षकोंके साथ भी यही बात पायी जाती है। कभी-कभी विश्वविद्यालयोंमें भी हड़तालें होती हैं। यह कितना दुःखद विषय है। जिस तरह फैक्टरियोंमें मजदूर वेतन-वृद्धिके लिये हड़ताल करते हैं, उसी तरह इन पवित्र प्रतिष्ठानोंमें भी हड़तालें की जाती हैं। ऐसी स्थितिमें शिक्षाका प्रचार कैसे हो सकता है? जबतक भारतमें पुनः गुरु-शिष्यका प्राचीन सुमधुर सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जाता, तबतक शिक्षाका विकास सम्भव नहीं है। इस दिशामें विश्वभारती विद्यागृह एक आदर्श उपस्थित करता है।

'विद्यालयोंका कार्यक्षेत्र केवल छात्रोंको पास करानेतक ही सीमित नहीं है। किताबी-ज्ञान देना ही उनका कर्तव्य नहीं है, अपितु छात्रोंका सर्वाङ्गीण विकास करना उनका कर्तव्य है। छात्रोंको मानसिक विकास करनेमें सहायता दी जानी चाहिये।'



धार्मिक शिक्षाकी आवश्यकता

(स्व॰ श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्यजीके सन् १९५४ई॰के दीक्षान्त-भाषणसे)

[आगरा विश्वविद्यालयके उन्तीसवें दीक्षान्त-समारोहमें तत्कालीन प्रसिद्ध राजनेता स्वर्गीय श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्य महोदयने जो महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था, यहाँ उसका सार दिया जा रहा है। हमारी वर्तमान दुःस्थितिका दिग्दर्शन करानेके साथ ही उसके दूर करनेके सुन्दर उपाय भी उसमें बतलाये गये हैं। हमारा देश स्वतन्त्र हो गया, शिक्षाका पर्याप्त प्रचार हो रहा है, कारखाने बन रहे हैं, सड़कों-पुलोंका भी निर्माण हो रहा है और देशके सर्वतोमुखी विकासकी बड़ी-बड़ी योजनाएँ काममें लायी जा रही हैं, परंतु देशका चारित्रिक स्तर सर्वत्र बड़ी तेजीसे गिर रहा है। यह सबसे बड़ी हानि है। वर्तमानमें हमलोग अर्थ तथा अधिकारके पीछे इतने पागल हो रहे हैं कि मानो उच्च चरित्र-निर्माणकी आवश्यकताको भूल ही गये हैं। इस परिस्थितिमें राजाजीका वह भाषण अत्यन्त महत्त्वका एवं सामयिक होनेसे मनन करने योग्य है। —सम्पादक]

परमात्माकी विस्मृति

आजके युगमें हम परमपिता परमात्माको भूल गये हैं। प्रसिद्ध विद्वान् कार्लाइलने भी विज्ञान और साम्राज्यवादके विस्तारके फलस्वरूप पाश्चात्त्य जगत्के मानवमात्रकी धातु-प्रियता तथा कलहप्रिय प्रवृत्तिसे दुःखी होकर यह बात कही थी। साम्राज्य अब विश्वके मानचित्रसे नष्ट हो गये हैं और विज्ञान भी अपनी चरम सीमाको पार कर चुका है। अतः पश्चिममें एक नवीन ज्ञान-ज्योतिका प्रादुर्भाव

१. यहाँ गुरुदेव[illegible] अभिप्रेत हैं। उनका देहान्त सन् १९४०ई॰में हुआ था।

हो रहा है, परंतु हम पूर्वनिवासी अब भी शासन और विधायकोंके अंदर प्रभुको विस्मृत करते जानेकी प्रवृत्ति देखते हैं, जिसकी निन्दा कार्लाइलने अपने समयमें की थी। मैं राष्ट्रिय विकासके लिये आधारभूत इस महत्त्वपूर्ण सत्यकी ओर विचारकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

श्रेष्ठ चरित्रकी अनिवार्य आवश्यकता

चरित्रका अच्छा होना शारीरिक शक्ति एवं बुद्धिकी प्रखरतासे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। देशके अंदर शान्ति-स्थापना एवं बाहरी आक्रमणसे उसकी रक्षाके निमित्त नागरिक प्रशासन तथा सैनिक व्यवस्थाके लिये जन-समुदायमेंसे पर्याप्त संख्यामें लोगोंका शारीरिक एवं मानसिक दृष्टिसे शक्तिशाली होना आवश्यक है, किंतु देशकी उन्नति तथा चतुर्मुखी विकासके लिये जीवनके दैनिक कार्योंको मिल-जुलकर एक दूसरेके सहयोगसे करनेवाले समस्त नागरिकोंके चरित्रका अच्छा होना नितान्त अनिवार्य है। चरित्र वह भूमि है, जहाँ अन्य सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। यदि वही खराब है तो सभी कुछ खराब होगा। मनुष्यको ईमानदार, वचनका पालन करनेवाला, सबके प्रति दयालु तथा एक दूसरेके प्रति किये गये वायदोंको निभानेवाला और अपने निजी स्वार्थोंसे अधिक दैवी गुणोंका मूल्य करनेवाला होना चाहिये।

बुरी प्रवृत्तियोंकी वृद्धि

आजके स्कूलों और कालेजोंमें दी जानेवाली उच्च शिक्षा चरित्र-निर्माणमें सहायक नहीं अपितु बाधक ही है। विदेशी नकलपर हमारे देशमें चल रही इस प्रवृत्तिको देखकर कोई भी उज्ज्वल भविष्यकी कल्पना नहीं कर सकता। यह सत्य है कि हम इन दिनों चिन्तायुक्त हैं। हम अपने चारों ओर प्रत्येकको थोड़ा-सा ज्ञान और थोड़ी-सी शिक्षा प्राप्तकर येन-केन-प्रकारेण धन-प्राप्तिकी इच्छा करते हुए देखते हैं। गाँधीवादी सत्य-अहिंसात्मक एवं आत्मिक विकासके आन्दोलनद्वारा प्राप्त स्वतन्त्रता, सम्मान एवं प्रशासनिक उत्तरदायित्व वहन करनेके बाद हमें आशा रखनी चाहिये थी कि लोगोंका जीवनके प्रति दृष्टिकोण बदलेगा, किंतु आशाके विपरीत धोखा देने और झूठे बाह्य प्रदर्शनकी प्रवृत्तियोंकी वृद्धि होती दिखायी दे रही है।

छात्रोंमें कर्तव्यपालनकी भावना आवश्यक

छात्रोंमें वर्तमान समयके शिक्षित लोगोंकी अपेक्षा अधिक कर्तव्यपालनकी भावना होनी चाहिये। राष्ट्रकी स्थितिको सुधारनेके लिये छात्रोंको भौतिक प्रलोभनों एवं निजी स्वार्थोंके आकर्षणसे दूर रहना चाहिये। यदि इस सिद्धान्तको पूर्ण गम्भीरता एवं राष्ट्रके लिये जीवन-मरणके प्रश्नकी भाँति स्वीकार कर लिया गया तो यह हमारी शिक्षा-नीतिमें तुरंत परिवर्तन लानेका आधार बन जायगा।

मानव-सभ्यताका मूल—'धर्म'

यदि हम निष्पक्ष दृष्टिसे देखें तो यह स्पष्ट है कि कुछ त्रुटियोंके रहते हुए भी संसारमें धर्म ही मनुष्यको सदा विनाश और रोगोंके पथसे बचाता रहा है। यह तथ्य हम संसारमें मानव-समाजके सामाजिक तथा आर्थिक इतिहासको देखकर प्रमाणित कर सकते हैं कि धर्म ही मनुष्यको क्रियाशील सहयोगी जीवन बितानेके लिये प्रोत्साहित करता आया है। सम्पूर्ण मानव-सभ्यताका मूल धर्म ही है। यदि हम स्कूलों और कालेजोंसे धार्मिक शिक्षाको दूर कर दें तो हम सार्वजनिक चरित्रका निर्माण कदापि नहीं कर सकते। हमने अन्धविश्वासोंको धर्मकी संज्ञा देकर आज बालकोंके घरेलू जीवनसे भी धर्मको अलग कर दिया है—यहाँतक कि छात्रोंकी विद्यालयोंमें उपस्थितिने उनके घरोंमें मनायी जानेवाली धार्मिक क्रियाओंको सम्पादित करना भी उनके लिये असम्भव बना दिया है। इस प्रकार हमने वर्तमान शिक्षा-पद्धतिके कारण अपनेको धर्मके लिये एक खोखली दीवाल बना रखा है। यही दशा रही तो हम अनिवार्यरूपसे बुरे-से-बुरे होते चले जायँगे। हम यह स्वीकार तो करते हैं कि हमें युवकोंके जीवनमें पवित्रता तथा बुराईसे दूर रहनेकी भावनाका विकास करना चाहिये, परंतु इसके लिये हम किंचिन्मात्र भी प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। हमें ऐसे साधन उपलब्ध करने होंगे कि जिनकी सहायतासे उन उद्देश्योंकी पूर्ति की जा सके।

छात्रोंके मस्तिष्कसे सर्वशक्तिमान् प्रभुकी भावना दूर करनेका हमारा प्रयास

वास्तविकता यह है कि वर्तमान शिक्षा छात्रोंके अंदर रटने तथा रटी हुई बातोंका परीक्षामें प्रदर्शन करके उपाधि प्राप्त करनेकी आदत डालती है। हमने विकासोन्मुख तरुणों और तरुणियोंके चरित्रको वर्तमान शिक्षाद्वारा खोखला बना डाला है। जब उनके चरित्रके अंदर हमारे द्वारा प्रवेश कराया हुआ यह भयानक रोग अनुशासनहीनताके रूपमें फूट पड़ता है, तब हम उसकी निन्दा करने लगते हैं। सर्वशक्तिमान् प्रभु ही संसारपर शासन कर रहे हैं— इस विचारको क्या हम युवक और युवतियोंके मस्तिष्कसे दूर रखनेका प्रयास नहीं कर रहे हैं?

छात्रोंमें दैवी गुणोंके विकासके लिये धार्मिक शिक्षाकी अनिवार्य आवश्यकता

शिक्षाका सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य छात्रोंमें दैवी गुणों तथा कर्तव्यपरायणताका विकास करना है। धार्मिक शिक्षा इस उद्देश्यकी पूर्तिमें सहायक होगी। नवयुवकोंको बुरी बातों तथा अवाञ्छनीय आचरणकी प्रवृत्तिसे दूर रहना सिखाना चाहिये। यदि हमने स्कूलोंमें धार्मिक शिक्षा प्रदान न की तो इन गुणोंका आविर्भाव हम नागरिकोंमें नहीं कर सकते। विभिन्न धार्मिक मान्यताओंको समाप्तकर उनके चलानेवालोंको केवल कल्पित व्यक्ति मानना विनाशकारी है। ईसामसीह, मुहम्मदसाहब, भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, भगवान् बुद्ध आदिको यदि हम भौतिक दृष्टिकोणसे केवल कल्पित व्यक्ति ही मान लें तो ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध तथा हिंदूधर्मोंमें रह ही क्या जायगा?

राष्ट्रिय चरित्रका ह्रास न हो, इसके लिये हमें प्रत्येक छात्रको स्कूलमें उसके अपने पारिवारिक धर्ममें दीक्षित करना होगा। इस कार्यमें अव्यावहारिकता कहीं नहीं है। विज्ञानको संसारने एक बार विजेताके रूपमें प्रदर्शित किया था, परंतु अब वही विज्ञान धर्मका सबसे बड़ा सहयोगी है। उच्च विज्ञान भौतिकवादके दृष्टिकोणको त्यागकर अब आत्मिक विकास तथा उपनिषदोंकी भाँति देवत्वकी ओर ले जानेवाला बन रहा है, किंतु विज्ञान धार्मिक विश्वास और दैवी गुणोंके विकासमें तभी सहायक हो सकता है, जब मनुष्यको बचपनमें ही उसके अनुकूल शिक्षा दी जाय। मेरी कामना है कि हम भारतीय केवल भौतिक चमक-दमक एवं बाह्य प्रसन्नताके चक्करमें ही न पड़े रहें, परंतु यह सब बिना धर्मके नहीं हो सकता। इसलिये चरित्रवान् भारतीयोंके निर्माणके लिये स्कूलोंमें प्रत्येक लड़के और लड़कीको धार्मिक शिक्षा देना अनिवार्य होना चाहिये।

शिक्षा-प्रणालीमें नैतिक और आध्यात्मिक मूल्योंका महत्त्व और उनकी आवश्यकता

(पंजाब-विश्वविद्यालयके समावर्तन-समारोहमें श्रीकन्हैयालाल एम्० मुंशीके भाषणका एक अंश)

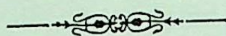
कुछ वर्षों पूर्व पंजाब-विश्वविद्यालयमें दीक्षान्त-भाषण देते हुए श्रीमुंशीजीने कहा कि 'पंजाब-सरकार शीघ्र कुरुक्षेत्रमें संस्कृत-शिक्षाका एक केन्द्र (संस्कृत-विश्वविद्यालय) खोलेगी। विभाजनके पूर्व पुराने पंजाब-विश्वविद्यालयने संस्कृतके विशेष अध्ययनके लिये ख्याति प्राप्त की थी और आशा है कि खण्डित पंजाबका यह विश्वविद्यालय भी संस्कृतको लोकप्रिय बनानेकी पुरानी परम्पराको स्थिर रखेगा।'

श्रीमुंशीजीने कहा कि 'छात्रोंको रचनात्मक शक्तिसे सम्पन्न करना विश्वविद्यालयका मुख्य ध्येय होना चाहिये। रचनात्मक शक्तिकी प्राप्तिके लिये हमें ईमानदार, सत्यनिष्ठ और निष्पक्ष होना आवश्यक है। इन गुणोंके लाभके लिये यह आवश्यक है कि हम मनीषियों एवं सज्जनोंसे सम्पर्क रखें, महत्त्वपूर्ण घटनाओंपर विचार करें और इतिहास, दर्शन तथा धर्म आदिका अध्ययन करें। यह बात न केवल विद्यार्थियोंके लिये ही अपितु सभी लोगोंके

लिये लागू है । तभी हम पुराने विचारोंकी जाँच करने तथा नये विचारोंको ग्रहण करनेमें समर्थ हो सकते हैं । इससे हमारा चरित्र-निर्माण होगा और हम अनुशासनपूर्ण तथा जिम्मेदार बनेंगे ।'

श्रीमुंशीजीने आगे कहा कि 'हमारी शिक्षा-प्रणालीका एक मुख्य दोष यह है कि विश्वविद्यालयसे निकलनेवाले छात्र शिक्षा-कार्य करनेकी अपेक्षा ऊँची सरकारी नौकरी, व्यापार या वकीलका पेशा करना अधिक पसंद करते हैं । इसके लिये विश्वविद्यालय ही एकमात्र दोषी हैं; क्योंकि वे ऐसी शिक्षा देते हैं जो न तो दिलचस्पी पैदा करती है और न तो मस्तिष्कको प्रशिक्षित ही करती है ।'

उन्होंने कहा कि 'नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य हमारे जीवनके मूल तत्त्व हैं, अतः प्रत्येक शिक्षा-प्रणालीमें उन्हें स्थान देना आवश्यक है; क्योंकि इनके बिना हम भविष्यकी समस्याएँ सुलझानेमें असमर्थ रहेंगे । दुर्भाग्यसे आज अधिकांश विश्वविद्यालय इन मूल्योंकी ट्रेनिंग देनेके सम्बन्धमें उदासीन हैं, किंतु यह स्थिति खेदजनक है । हमें यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिये कि इन मूल्योंको अपनाये बिना हम सफलता प्राप्त नहीं कर सकते और हमारा कार्य वास्तविक एवं चिरस्थायी नहीं हो सकता ।'



बच्चोंके जीवन-निर्माणमें माता-पिता और शिक्षकका समान दायित्व

(माननीय डॉ॰ बी॰ पट्टाभि सीतारामैया)

शैशव यौवनका जनक है । दूसरे शब्दोंमें, जो बचपनमें बोया जायगा, वही जवानीमें काटना पड़ेगा । हमारे बच्चोंको जो अवसर आज सुलभ है, वह हमें अपने बचपनमें स्वप्नमें भी दुर्लभ था । आज चार वर्षका बच्चा मोटरको चालू करना जानता है । वह कहने लगता है 'बटन दबाओ', 'ब्रेक छोड़ दो', 'मूठ दबाओ', 'गियर लगाओ' और 'गतिवर्द्धक दबाते समय इसे छोड़ दो ।' यहाँतक कि वह यह सब करके दिखा भी देता है और गाड़ी चल पड़ती है, जिसे देखकर माता-पिता स्तम्भित हो जाते हैं । मद्रासमें मैरीनापर तीन और चार वर्षके बच्चे तीस मीलकी रफ्तारसे चलनेवाली मोटरगाड़ियोंको दूरसे पहचान लेते हैं और अपने समवयस्कोंमें इस बातके लिये विवाद करने लगते हैं कि अमुक गाड़ी पांटियक है या शेवरलेट है, ऑस्टिन है या हिंदुस्तान है, वाग्जाल है या सिट्रोएन है ? बच्चोंका मस्तिष्क या इसका विकास उसके युगपर अवलम्बित है और अपने प्रभावोंके ही अनुसार वे विचार भी ग्रहण करते हैं । हमारे बचपनमें जो हमारे लिये हितकर था, वह सम्भवतः आजके बच्चोंके लिये हितकर न हो । उदाहरणार्थ आज नहीं जँचेगा कि कोई अपनी डाक्टरी बैलगाड़ीमें बैठकर चलाये । इसलिये अब अपने बच्चोंको वहाँसे प्रारम्भ करना है, जहाँ हमने समाप्त किया है । बच्चोंके जीवनके विविध क्षेत्रोंमें अनेक प्रकारके विकास हुए हैं ।

ध्यान देनेकी बात है । बच्चेकी रुचि उसके परिसर, परिवार और परम्पराके दायके अनुसार बनती है । शाकाहारी बच्चा मछली-मांस खानेकी निन्दनीयता कैसे समझेगा ? परंतु यदि उसके माता-पिता नहीं खाते तो बच्चा भी इन पदार्थोंसे दूर रहेगा ।

बच्चेको कभी भी न तंग करना चाहिये, न खिझाना चाहिये और न धोखा देना चाहिये । बच्चे,पागल और स्त्रियाँ एक ऐसी श्रेणीमें बाँधी गयी हैं, जिसे कभी गुमराह नहीं करना चाहिये । यदि कोई ओषधि कड़वी है तो उसे कभी मीठा न बतलाया जाय, नहीं तो वे बादमें मीठी ओषधि लेनेसे भी अस्वीकार कर देंगे । यदि किसी पागलको पागलखानेमें आप ले जा रहे हैं तो उससे कभी मत कहिये कि तुम्हें रिश्तेदारके घर ले जा रहे

हैं। गन्तव्य स्थानका सीधा उल्लेख करनेसे वह अपने भाग्यसे समझौता कर लेगा और उसे अच्छा होनेमें अधिक सुभीता तथा शीघ्रता होगी। बादके जीवनकी रुचियोंकी सृष्टि शैशवमें ही होती है। यदि माता-पिता सदा चिढ़ते रहते हैं तो बच्चे भी चिड़चिड़े हो जाते हैं। बच्चोंको कभी भी भयसे अभिभूत न होने देना चाहिये। उनके मनमें पूर्ण विश्वास जगाना चाहिये, जिससे वे अपने माता-पिताके समक्ष आत्मविश्वासके साथ आयें।

आजकल बच्चोंको शिक्षा-संस्थाओंमें शिक्षकोंद्वारा अनावश्यक प्रश्नोत्तर पूछने और उनके क्रूर शासनसे भय उत्पन्न हो जाता है, जिससे वे पाठशालामें पढ़नेके लिये जानेमें हिचकते हैं। अभिभावकोंको उन्हें पाठशाला भेजनेमें अधिक कठिनाई उठानी पड़ती है, ऐसी स्थितिमें यदि भयके स्थानपर प्रेमसे तथा शासनके स्थानपर अनुरोध और युक्तिसे काम लिया जाय तो बच्चेका विकास अच्छी तरह किया जा सकता है।

बच्चोंकी शिक्षाके लिये केवल शिक्षकोंको ही दोषका भागी बनाना उचित नहीं है। घरमें माता अपनी घरेलू झंझटोंमें, जब कि एक ओर पति शीघ्रतासे भोजन माँग रहा हो और दूसरी ओर बच्चा स्तनपानके लिये मचल रहा हो, कभी-कभी सम्भवतः पाठशाला जानेवाले बच्चोंकी आवश्यकताओंकी पूर्ति तत्काल नहीं कर पाती और पेंसिल, कागज, रबर, पैसे या कापी देनेके अतिरिक्त माता जब बच्चेके ऊपर बिगड़ खड़ी होती है, तब वह एकदम हतप्रभ हो जाता है और उसमें चिड़चिड़ापन आने लगता है, जिससे बढ़कर जीवनमें किसी दुर्गुणकी कल्पना नहीं की जा सकती। तब माता बच्चेको पीटना आरम्भ करती है। मजा तब आता है, जब पिता माताको डाँटता है, माता बच्चेको डाँटती है और बच्चा रो-रोकर पिताको खिझाता है। इस प्रकार एक विचित्र बुराइयोंका चक्र बन जाता है। जब आप बच्चेके मनमें भय पैदा करते हैं, तब वह घबरा उठता है और लड़कियोंको तो आगे चलकर हिस्टीरिया रोग हो जाता है तथा लड़के दुर्विनीतता और जडता सीख जाते हैं। माताओंके लिये शिशु-पालनकी शिक्षाका पाठ्यक्रम होना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि पितावर्ग उनसे कुछ अच्छे हैं, वे भी उतने ही खराब हैं, किंतु माताको पति और संतान—दोनों चक्कियोंके बीच पिसना है, इसलिये उसका दायित्व अधिक है। बच्चेके अविश्वासका कारण जाँचते समय प्रत्येक स्थितिकी देखभाल अधिकतम सावधानीसे करनी चाहिये। कभी-कभी बच्चे इसलिये पीटे जाते हैं कि वे चिल्लाना बंद करें, पर पीटनेसे चिल्लाना अनिवार्यतः और दूने वेगसे बढ़ता है और जितना ही पिता चिल्लाता है 'मत रोओ' उतना ही बच्चा और गला फाड़कर उत्क्रोश करने लगता है। इससे माता-पिता और खीझ उठते हैं, उसे बाँह पकड़कर झकझोरते हैं, दीवालपर उसका सिर दे मारते हैं, माताके पाससे खींचकर उसे जोरसे दबाते हैं। कभी-कभी बच्चा मर भी जाता है और तब करुणार्त कहानी पूर्ण हो जाती है और सारा रोना-चिल्लाना विफल हो जाता है। इसलिये ऐसी स्थिति संलक्षित होते ही अपने आवेगके ऊपर नियन्त्रण लगा देना चाहिये। अपना क्रोध अपनेको ही खाता है। यदि माता-पिता और शिक्षक इन प्रारम्भिक तथ्योंको भलीभाँति जान लें तो बच्चोंका पालन और शिक्षण विशेषरूपसे होने लगे।

जिसे गुरुका अनुग्रह मिला हो, गुरुसेवाके परमानन्दका जिसने भोग किया हो, वही उसकी माधुरी जान सकता है। गुरुकृपाके बिना कोई साधक कभी कृतकार्य नहीं हुआ। श्रीगुरुकी चरण-धूलिमें लोटे बिना कोई भी कृतकृत्य नहीं हुआ। श्रीगुरु बोलते-चालते ब्रह्म हैं। गुरु और शिष्यका सम्बन्ध पूर्वज और वंशजके सम्बन्ध-जैसा ही है। श्रद्धा, नम्रता, शरणागति और आदरभावसे गुरुका मन मोह ले तभी उसकी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। स्वानुभूति ज्ञानकी परम सीमा है। वह स्वानुभूति ग्रन्थोंसे नहीं प्राप्त हो सकती, पृथ्वीपर्यटन करनेसे नहीं मिलती। स्वानुभावका यथार्थ रहस्य श्रीगुरुकी कृपाके बिना त्रिकालमें भी नहीं ज्ञात होता।

लोकनायक श्रीजयप्रकाशनारायणके शैक्षिक विचार

आज जितने भी ज्वलन्त प्रश्न सामने उपस्थित हैं, उनमें मेरी दृष्टिमें शिक्षामें आमूल परिवर्तन या क्रान्तिके प्रश्नका सबसे अधिक महत्त्व है, परंतु खेद है कि इस दिशामें क्रान्तिकारी चिन्तन भी नहीं हो रहा है। जो कुछ सुधारकी बातें सुनता हूँ, जैसे १०+२+३ या इस प्रकारका और कुछ, ये सब इतने सतही हैं कि किसी क्रान्तिकारी परिवर्तनके साधन नहीं हो सकते। प्रौढ़ोंकी शिक्षापर पिछले दिनों जोर दिया गया है, किंतु मेरी दृष्टिमें प्रौढ़-शिक्षा किताबी शिक्षा न होकर विचार-परिवर्तनकी शिक्षा होनी चाहिये।

शिक्षाका ग्रामीणीकरण आवश्यक है। ऐसे ग्रामीण विद्यालय चलें, जहाँ सीमित साधनोंसे कृषिकी, ग्रामीण लघु उद्योगोंकी, उस क्षेत्रविशेषके युवकोंके प्रयोगमें आनेवाले समाज-विज्ञानकी तथा भाषा और साहित्यकी शिक्षा दी जाय। भोजनका प्रश्न है, पोषक-तत्त्वोंका प्रश्न है, हरी खादका और पशुओं आदिसे मिलनेवाली स्वाभाविक खादके सही उपयोगका प्रश्न है।—इन सबकी शिक्षा जिसमें न मिले, वह शिक्षा-पद्धति भारतके लिये किस कामकी? पिछले युवा और जनताके आन्दोलनमें जो हजारों और लाखों लोग खिंच कर आये थे, उनके सामने यह प्रश्न उठता रहता है कि आगे वे क्या करें? ऊपर मैंने जिस कामको कहा है, वह ऐसा महत्त्वपूर्ण काम है, जिसमें सबको योगदान करना चाहिये और तभी 'भावी इतिहास हमारा है'—यह नारा सफल होगा, वास्तविक होगा।

× × × ×

हमारी विरासतमें कुछ वस्तुएँ बहुत मूल्यवान् और महान् हैं, उनकी हमें रक्षा करनी है और उन्हें मजबूत बनाना है, किंतु साथ ही हमने उत्तराधिकारमें बहुत-से अन्धविश्वास, गलत मूल्य और अन्यायपूर्ण मानवीय और सामाजिक सम्बन्ध भी पाये हैं। भगवान् बुद्धके समयसे और हो सकता है उनसे पहलेसे भी यह प्रयत्न किया जा रहा है कि ऊँच-नीचपर आधारित कु-प्रथाओंको समाप्त किया जाय, किंतु अभीतक यह प्रथा पूरे देशमें फैली हुई है। अब समय आ गया है कि हम समाजके इस कलंकको मिटा दें तथा भाईचारे और समानताको अपना आदर्श बनायें और अपने जीवनमें उतारें।

इसी तरह शादी, जन्म और मृत्युसे जुड़े हुए भी कुछ और बुरे रिवाज हैं। सम्पूर्ण क्रान्तिके द्वारा इन्हें भी समाप्त किया जाना चाहिये।

अब मैं जीवनके अधिक आधुनिक पहलुओंकी चर्चा करूँगा। जैसा कि शिक्षाका समय आ गया है कि कोठारी-कमीशन तथा दूसरे सारे शिक्षा-कमीशनोंके आमूल परिवर्तनके सुझावको लागू किया जाय। इस क्षेत्रमें हम चीनके उदाहरणका अनुकरण कर सकते हैं, जहाँ सभी स्कूल और कालेज बंद कर दिये गये थे और विद्यार्थियोंको गाँवों और झोपड़पट्टियोंमें भेजा गया, जिससे वे जवान, बूढ़े हर नागरिकको बुनियादी शिक्षा दे सकें।

मैं यहाँ उन प्रचलित और आर्थिक सुधारोंकी चर्चा करूँगा जिनके विषयमें बात तो बहुत हुई, किंतु काम बहुत कम किया गया है। इन कामोंके लिये युवाशक्तिका उपयोग किया जा सकता है। जिसका लाभ समाज और युवक दोनोंको ही मिलेगा।

यह बड़ी बुद्धिमानी है कि अपनी क्रियाओंमें कभी उद्धत न होओ और न अपने ही विचारोंपर अड़ जाओ, न सभी सुनी हुई बातोंपर विश्वास ही कर लो और न शीघ्रतामें आकर जो कुछ तुमने सुना है या मान लिया है—दूसरोंपर प्रकट ही करने लगो।

भारतीय नारीका निर्माण

(लखनऊ-विश्वविद्यालयके भूतपूर्व उपकुलपति डॉ॰ श्रीराधाकमल मुखर्जी महोदयद्वारा सन् १९५५ ई॰ में विश्वविद्यालयकी छात्राओंके प्रति दिये गये उपदेशका एक अंश)

मुखर्जी महोदयने विश्वविद्यालयके 'कैलास-छात्रा-निवास'की छात्राओंसे कहा—'देशके वर्तमान सामाजिक परिवर्तनके युगमें हमारी छात्राओंके सामने एक ऐसा भीषण संघर्ष उपस्थित है, जो छात्रोंके सामने उतने विकट रूपमें नहीं है। परिवारके वातावरणमें सिद्धान्तों एवं आदर्शोंकी जो धारा उन्हें प्राप्त होती है, उससे बिलकुल विरोधी धारा उन्हें विश्वविद्यालयकी सीमामें मिलती है। हमारी शिक्षित बालिकाओं एवं महिलाओंके जीवनमें जो असामञ्जस्य एवं विविध प्रकारकी स्नायविक विकृतियाँ पायी जाती हैं, उनका कारण यह संघर्ष ही है।

'इस युगकी महिलाओंके लिये घरमें उपयोगी काम-धंधेका क्षेत्र संकीर्ण होता जा रहा है और उसके फलस्वरूप उनमें इन दिनों आरामतलबी तथा निठल्लापन अधिक आ गया है, जिससे वे समाजकी दृष्टिमें अधिक उपयोगी होनेके बदले प्रत्यक्ष ही अकर्मण्य एवं क्षयग्रस्त हो गयी हैं। दूसरी ओर, गृहस्थोचित धार्मिक क्रियाकलाप, कथा-वार्ताका अभाव तथा व्रतों एवं त्यौहारोंकी शृङ्खला विच्छिन्न हो जानेसे उनके अंदरकी वह निःस्वार्थ भक्ति, वह आत्मसंयम एवं उत्सर्गकी वे प्राचीन भावनाएँ नष्ट हो गयी हैं, जिनके आधारपर भारतीय नारीत्वका निर्माण हुआ था।

'बाजारू कहानियों, उपन्यास तथा सस्ते चल-चित्रों एवं चलते नाटकोंके द्वारा भी प्रेमके वास्तविक स्वरूपको विकृत किया जा रहा है तथा यौन-सम्बन्धकी प्रच्छन्नता एवं पवित्रता नष्ट हो रही है। दाम्पत्यके धार्मिक बन्धनसे जीवनमें रसका स्रोत बहता था, यही भारतीय ऋषियोंके ज्ञानका निदर्शन था; परंतु यूरोप एवं अमेरिकामें पारिवारिक जीवनका जो विघटनात्मक स्वरूप देखनेमें आता है, उसने कामके एक ऐसे कृत्रिम, अस्वाभाविक एवं स्वप्निल आदर्शकी सृष्टि की है, जिससे अत्यन्त प्राचीन भारतीय परम्परा एवं अनुभूति संकटापन्न हो गयी है।'

अन्तमें मुखर्जी महोदयने कहा—'विश्वविद्यालय एक ऐसा स्थान है, जहाँ जीवनके उच्च आदर्शोंका स्वीकार और पोषण किया जाता है। आधुनिक महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयोंमें शिक्षा प्राप्त करनेवाली कन्याओंके लिये यह आवश्यक है कि वे सिद्धान्तगत इन संघर्षोंको अपनी भारतीय शैलीसे दूर करें तथा अर्वाचीन सामाजिक ढाँचेमें प्राचीन एवं अर्वाचीन आदर्शोंके समन्वयसे अपने लिये जीवन-सरणियोंका निर्माण करें। गृह, विवाह एवं परिवारके विभिन्न आदर्शोंके सामञ्जस्य एवं समन्वयसे ही ठोस व्यक्तित्वकी सृष्टि हो सकती है और उसीसे हमारे महिला-समाजके भारतीय गार्हस्थ्य-जीवनकी सुख-शान्तिकी रक्षा सम्भव है।'

महात्मा लोग सभी सम्पदा, पद, सम्मान, मित्र और अपने समीपी व्यक्तियोंको त्यागकर संसारकी किसी भी वस्तुको नहीं रखते। वे कठिनाईसे जीवन-धारणमात्रके लिये आवश्यक पदार्थोंको अङ्गीकार करते हैं और आवश्यकताके समय भी शरीरकी सेवा करनेमें दुखी होते हैं। सांसारिक दृष्टिसे तो वे बहुत दरिद्र होते हैं, किंतु सद्गुण और सदाचारमें बहुत धनी। बाह्यतः उनका जीवन अभावमय होता है, परंतु आन्तरिक जीवन सदाचरण और दैवी आश्वासनके कारण नित्य प्रसन्न होता है। वे इस पृथ्वीपर अपरिचित रहते हैं, परंतु भगवान्‌के अति निकट और परिचित मित्र। वे स्वयं अपनेको नगण्य समझते हैं, किंतु भगवान्‌की आँखोंमें अति प्रिय हैं।

भारतीय शिक्षाकी समुन्नतिके आधार क्या हों

[भारतके भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीमोरारजी भाईके साथ एक साक्षात्कार]

(श्रीमाँगीलालजी मिश्र)

शिक्षा चरित्र-निर्माणका मूल आधार है। इस संदर्भमें माननीय भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीमोरारजी भाईके साथ देशकी शैक्षणिक समस्याओंके विषयमें विचार किया गया। यहाँ उसका सारांश प्रस्तुत है। आशा है, यह इस ओर कुछ मार्गदर्शन कर सकेगा।

प्रश्न—तीन दशककी लम्बी अवधिमें भी स्वतन्त्र भारतको अपनी शिक्षाका लक्ष्य प्राप्त क्यों नहीं हुआ? ऐसा लगता है, जैसे आज भी यहाँ ब्रिटिश-शिक्षा-प्रणालीकी ही परम्परा चालू है। इस विषयमें आपका अभिमत क्या है?

उत्तर—वास्तविक भारतीय शिक्षाका लक्ष्य अभीतक देशमें प्राप्त नहीं हो पाया है; क्योंकि जिनके हाथमें आजतक कारोबार रहा, वे लोग अधिकतर अंग्रेजी-शिक्षा-पद्धतिसे प्रभावित रहे, जिससे भारतीय संस्कृतिके लिये गौरवका अनुभव न कर पाये। यहाँ मैकालेद्वारा प्रवर्तित शिक्षा-पद्धति चल रही है। इसे बदलना होगा और यह तभी बदली जा सकती है, जब शिक्षा देशकी अपनी भाषामें दी जाय।

इसके अतिरिक्त शिक्षामें चारित्रिक गठनपर अधिक ध्यान दिया जाना आवश्यक है, जिससे देशमें चारित्रिक गुण और निर्भयता बढ़े। जबतक ऐसा नहीं किया जाता तबतक देशकी शिक्षा-पद्धतिका सुधार सम्भव नहीं है। महात्मा गाँधीने बुनियादी शिक्षापर जोर दिया था। वही सही ढंग है।

प्रश्न—व्यवसायोन्मुखी शिक्षा—एक बहुचर्चित शब्द हो गया है। आज जब इंजीनियर, डॉक्टर और इसी प्रकारके अन्य तकनीकी व्यक्ति बेरोजगार और दिशाहीन भटक रहे हैं तो फिर व्यवसायोन्मुखी शिक्षाका क्या महत्त्व है?

उत्तर—इंजीनियर, डॉक्टर और इसी प्रकारके अन्य तकनीकी व्यक्ति हमारे यहाँ जो निकल रहे हैं, वे अधिक सुविधापूर्ण जीवन चाहते हैं। वे हाथोंसे काम करना और स्वावलम्बी जीवन जीना कम चाहते हैं। अतः प्रायोगिक शिक्षा अधिक दी जानी चाहिये तथा स्वावलम्बनपर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। ऐसा होनेपर यह समस्या सुलझ सकेगी।

प्रश्न—छात्र-आन्दोलन, जो गत १५ वर्षोंसे लगातार भड़कता चला आ रहा है, शैक्षणिक कम तथा सामाजिक दूसरे शब्दोंमें, राजनीति-मिश्रित अधिक रहा है, जैसे बिहार और गुजरातमें। ऐसा क्यों?

उत्तर—छात्र-आन्दोलन भी छात्रोंका असंतोष बतलाता है। छात्रोंका समय पूरा उपयोगी ज्ञानमें नहीं लगाया जाता, जिससे उन्हें पर्याप्त समय रहता है। इसीलिये उनके समयका अधिकतर उपयोग आन्दोलनोंमें होता है। अध्यापकोंकी भी प्रायः यही दशा है। अध्यापक-छात्रका सम्बन्ध कम हो गया है। शिक्षा-संस्थाओंका संचालन करनेवाले भी छात्रोंके सम्पर्कमें कम रहते हैं। इसीलिये आन्दोलन बढ़ता है। विशेषकर अनुशासनपर ध्यान नहीं है। प्रमुख व्यक्तियोंमें भी जब अनुशासनहीनता दिखायी देती है, तब छात्रोंपर उसका बुरा असर पड़ता है।

प्रश्न—विधायक और सांसदके पदोंके लिये न्यूनतम आयुकी तरह अधिकतम शिक्षाका प्रावधान क्यों नहीं?

उत्तर—विधायक और सांसदके लिये न्यूनतम आयुकी आवश्यकता रखी गयी है, परंतु अधिकतम शिक्षाका प्रावधान आवश्यक नहीं। शिक्षित समझ सकते हैं और अशिक्षित नहीं—ऐसा मैं नहीं मानता। हमारे देशमें शिक्षित होना एक समस्या है। आज अशिक्षितका उतना दोष नहीं, जितना शिक्षितका है।

प्रश्न—विधायक और सांसद सामान्य घटनाओंपर स्थगनप्रस्ताव और 'वाक आउट' तथा लम्बी-चौड़ी बहस करते हैं, किंतु शिक्षा-विषयक बजट-प्रस्ताव तथा अन्य प्रसङ्गोंपर औपचारिकताएँ पूरी करनेके सिवा कोई विशेष रुचि लेते नहीं देखे गये। इसका कारण अधिकतम सदस्योंका अपेक्षित शिक्षित होना नहीं है या शिक्षाके

महत्त्वको स्वीकारा नहीं जा रहा है?

उत्तर—संसदमें और विधानसभाओंमें अधिकतर सदस्य शिक्षित हैं। अशिक्षित 'न' के बराबर हैं, परंतु वे शिक्षापर अधिक ध्यान नहीं देते; क्योंकि उसमें दिलचस्पी नहीं है। हमारी शिक्षा-पद्धति गलत है। उसीका यह प्रभाव है। ठीक होनेपर यह कमी दूर हो जायगी।

प्रश्न—शिक्षाको लेकर अनेक कमीशन बैठाये गये, किंतु प्रायोगिक परिवर्तन शून्य-सा क्यों रहा?

उत्तर—शिक्षाको लेकर जो कमीशन बैठाये गये, उनकी संस्तुतिपर सही काम किया जाता तो अच्छा होता। जिनके हाथमें शासन रहा उन्हें इसकी आवश्यकताका अनुभव नहीं हुआ—यह ठीक नहीं हुआ, किंतु इन सबसे अधिक उत्तरदायी स्वयं शिक्षक हैं। शिक्षक भी वेतन, अवकाश आदिपर अधिक ध्यान देते हैं, जब कि शिक्षकको शिक्षाका स्वरूप बनाना चाहिये। पुस्तकसे जो शिक्षा दी जाती है, वह उतनी प्रभावी नहीं होती जितनी जीवनसे दी जानेवाली शिक्षा होती है।

शिक्षक समाजका अङ्ग है। कमी उसमें भी है। मन्त्री और अधिकारी भी समाजके अङ्ग हैं। समाजकी कमीसे वे भी अछूते नहीं, किंतु शिक्षकका स्थान ऊँचा है। उसे अपनी कमी दूर करनी होगी तभी समाजकी कमी दूर होगी। यह प्राथमिकता है। यदि इस तरह समझकर चला जाय तो सुधार अपेक्षाकृत शीघ्र होगा।

प्रश्न—शासकीय शिक्षा-संस्थाओंका स्तर सार्वजनिक शिक्षा-संस्थाओंसे बदतर है। इसका यह निष्कर्ष क्यों नहीं स्वीकारा जाता कि शिक्षा-संस्थाएँ आटोनोमस रहें—सीधे समाजके नियन्त्रणमें रहें?

उत्तर—शिक्षा-संस्थाओंमें राज्यके हस्तक्षेपसे उनका स्वरूप बिगड़ता है, किंतु आज शिक्षक स्वयं शासकीय हस्तक्षेप चाहते हैं। यह उलटी बात है। इसका विरोध होना चाहिये। शिक्षा-संस्थाओंका स्वायत्त रहना ही समाजके लिये हितकर और देशके लिये शुभ है।

प्रश्न—गत पाँच दशाब्दियोंमें भारतमें शिक्षाक्षेत्रमें चार विभिन्न आदर्श प्रस्तुत हुए—(१) स्वामी दयानन्दका गुरुकुल-आदर्श, (२) रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी शान्ति-निकेतन-पद्धति, (३) मालवीयजीकी हिंदू-विश्वविद्यालय-प्रणाली और (४) गाँधीजीका गुजरात-विद्यापीठ-आदर्श। शासनने इनमेंसे किसी एकको पूर्णतः क्यों नहीं स्वीकारा?

उत्तर—पिछली दशाब्दियोंमें हमारे यहाँ जो चार आदर्श प्रस्तुत हुए, उनमें सबसे अधिक उपयोगी और भविष्यके लिये शुभकारी आदर्श मैं गाँधीजीके आदर्शको मानता हूँ, परंतु हमलोग कम हिम्मतवाले हैं, आदर्श ऊँचा तो रखते हैं, लेकिन उसी स्तरका व्यवहार नहीं रखते। हमें अपने व्यवहारको भी आदर्शकी तरह ऊँचा उठाना है और आदर्शके लिये परिश्रम भी अधिक करना है। तभी देशका कल्याण हो सकेगा।

प्रश्न—और अन्तमें भारतमें पब्लिक स्कूलोंके विषयमें आपके क्या विचार हैं? क्या यह विघटनकारी प्रणाली नहीं है? क्या इसे चलते रहना चाहिये?

उत्तर—पब्लिक स्कूल न रहें—यह मेरा विचार है। सब स्कूल समान रहें। इस प्रकार समाजमें गलत वर्गीकरण होता है। खर्चीले स्कूलोंमें कम बच्चे पढ़ते हैं, इसीलिये उनपर अधिक ध्यान दिया जाता है। इनमें छोटे-बड़ेकी भावना फैलती है। इसके विपरीत अगणित सामान्य शिक्षासंस्थाएँ हैं, जिनमें छात्रोंपर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता, इससे अवमानना पैदा होती है। समाजमें सभीको समान शिक्षा मिलनी चाहिये। इसे एक कर्तव्यके रूपमें स्वीकार किया जाना चाहिये।

सारा प्रपञ्च छोड़कर भगवच्चरणोंका ही सदा ध्यान करना चाहिये। प्रभुकी प्राप्तिमें सबसे बड़ा बाधक है अभिमान। प्रभुकी शरणमें जानेसे प्रभुका सारा बल प्राप्त हो जाता है, सारा भव-भय भाग जाता है। कलिकाल काँपने लगता है।

भारतीय संस्कृतिकी शिक्षा

(श्रीगुलजारीलालजी नन्दा)

देशकी दशा व्यापक रूपसे बहुत बड़ी संख्यामें लोगोंको चिन्ताग्रस्त कर रही है। यदि यह थोड़ी-बहुत सामान्य होती और सम्पूर्ण भारतीय समाजपर इसका बहुत गम्भीर प्रभाव पड़नेकी आशङ्का न होती तो इन विचारों एवं भावोंको व्यक्त करनेका अवसर न आता, जो मैं अब व्यक्त करने जा रहा हूँ। मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि देशकी दशा भारतीय जीवनके बहुत-से बुनियादी स्तरोंपर तेजीसे गिरती जा रही है और वह सबको—धनी या गरीब, विशिष्ट या साधारण वर्गकी जनताको सर्वसाधारणतः प्रत्येकके जीवनको गम्भीर रूपसे प्रभावित कर रही है। जो कुछ भी हो रहा है वह या तो उन लोगोंके स्वागतार्थ है, जो ऐसी दशामें अपनी स्वार्थ-सिद्धि करनेकी प्रतीक्षामें रहते हैं या जो इस ढंगका परिवर्तन लानेके पक्षमें रहते हैं जो कि भारतीय परम्परा और संस्कृतिके बिलकुल विपरीत है। उनके सामाजिक परिवर्तन लानेके विचार जैसा कि हमारे महान् सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक नेताओंने सिखाया है और जो भारतवासियोंके ही नहीं अपितु वास्तवमें सारी मानव-जातिके हितमें हो सकता है, उसके विपरीत हैं। हमें यह स्वतः निर्णय लेना है कि क्या हम इस सामाजिक एवं नैतिक अराजकताको सहन करनेके लिये तैयार हैं? हमें यह भी निश्चय करना है कि देशमें किसी भी प्रकारके धार्मिक विश्वास, नैतिक मूल्यों या आध्यात्मिक उद्देश्योंके न रहनेसे क्या कुछ अन्तर नहीं पड़ेगा?

आजकी जिस स्थिति और पथपर हम चल रहे हैं, जबतक किसी प्रकार हम उसे परिवर्तित नहीं करते, तबतक इसका अभिप्राय देशपर भौतिकवादी शक्तियों एवं अनीश्वरवादकी विजय कराना तथा देशको बीभत्स हिंसक वातावरणमें गिराना है। उसके उपायके लिये विविध तौर-तरीकोंके विषयमें विचार किया जा सकता है और उन्हें सुधारके रूपमें तथा विशेष गलतियोंके निवारण-हेतु हाथमें लेना है, परंतु वे सभी इस चुनौतीका सामना नहीं कर सकते; क्योंकि हमारी अबतककी सभी गलतियोंके मूलमें, स्थितिको सुधारनेके हेतु, एक कारण है, जो स्थितिको सुधारनेके प्रयत्नमें बाधक है। वह कारणोंका कारण क्या है? यह कार्यके दो स्तरोंपर देखा जा सकता है। एक तो यह है कि सामाजिक एवं नैतिक जिम्मेदारियोंकी भावनाओंके व्यापक रूपसे नष्टप्राय हो जानेसे, क्या सही है और क्या गलत है—के विवेकके अभावसे, दूसरेके प्रति अपने कर्तव्योंका पालन न करनेकी अन्तःप्रेरणाके न होनेसे। भारतके लोग जिस तरहकी बातें समझेंगे और प्रशंसा करेंगे, हम उस तरह कह सकते हैं कि हममेंसे बहुत धर्मके मार्गसे विलग हो गये हैं। इसका एक सरल परंतु बहुत ही कार्यकारी कारण इस तथ्यपर आधारित है कि कई दशकोंसे हमारे समाजने जीवनमें धर्मकी उपयोगितापर बल नहीं दिया है। न तो धर्म देशके कार्यक्रमों एवं कार्यकारी नीतियोंमें स्थान ही रखता है, चाहे वे राज्यसे सम्बन्धित हों या लोगोंसे या इन बुराइयोंकी उपजसे, जिसे हम आज प्राप्त कर रहे हैं। यह हमारी एक लम्बे समयसे की गयी उपेक्षाका कड़वा फल है। धर्मसे मुख मोड़कर हम अपराधी बने और हमने भारतीय समाजकी भित्तिको बहुत बड़ी हानि पहुँचायी, परंतु यह अबतक ऐसी स्थितिमें नहीं हुआ है कि इसका सुधार न हो सके। इस संदर्भमें धर्मको अपने कर्तव्य-पालनके रूपमें लेना चाहिये। चाहे वह कहींका हो एवं उसकी जाति, मत या संगठन कुछ भी क्यों न हो, इस बातमें कि उसका अपना कर्तव्य है, एक सार्वजनिक मान्यता एवं स्वीकृति होनी चाहिये। साधारणतः समझा जाता है कि प्रत्येकको अपने माता-पितासे, अपने शिक्षकोंसे एवं समाजके नेताओंसे ऐसी शिक्षा प्राप्त है, पर वे सभी उसमें असफल रहे हैं तथा इसमें आश्चर्य क्या कि तब हम अपनेको एक कुरूप अवस्थामें पावें और हमें उसके भयावह परिणामोंका सामना करना पड़े। इस क्षतिको पूरा करनेके लिये हमारे पास एक ही सहारा

है और वह है नैतिक शिक्षाका प्रचार करना ।

इस उपचारको उन बुराइयोंकी मात्राके मापके अनुकूल होना चाहिये, जो बृहत् रूप धारण कर चुकी हैं और हमें बड़ी तेजीसे तत्काल कुछ कर डालनेकी प्रबल भावना रखकर इस कार्यमें संलग्न होना चाहिये । धर्म क्या है और लगातार नैतिकताकी अवहेलना करनेके क्या अवश्यम्भावी दुष्परिणाम हैं—इस विषयमें लोगोंको समझाया जाय । उन लोगोंको साधारणतः यह भलीप्रकार समझाया जाय कि जो लोग अनुचित तरीकोंसे भौतिक लाभ उठा रहे हैं या जीवनमें बुरे साधनोंद्वारा दूसरोंको दबाकर स्वयं पनप रहे हैं या पड़ोसियोंकी शान्ति एवं सुरक्षाको भंग कर रहे हैं, वे सभी परिणामतः अपने किये पापकी कमाईसे अपनी ही शान्ति एवं समृद्धिको खो देंगे । अपनी आत्माका हनन कर वे अपने जीवनमें दुःखमय भविष्यकी ही आशा कर सकते हैं, अन्य कुछ नहीं । जब नैतिक मूल्योंकी अवहेलना समाजका सामान्य दृश्य बन जाता है, तब अनुशासनहीनता एवं हिंसाका बोलबाला हो जाता है, जैसा कि आज देशमें हो रहा है । इसके बावजूद भी जब लोग इस आगको बुझानेके लिये नहीं जागते, तब उन्हें एक ऐसी सामूहिक आगका सामना करना पड़ेगा जिसमें कुछ मूल्यवान् वस्तुओंसे, जिनकी पूर्ण सुरक्षा देशको करनी चाहिये, हाथ धोना पड़ेगा । यदि शान्तिके सभी प्रयास समाजमें व्यवस्था लानेमें असफल सिद्ध हो जाते हैं तो समाजको अराजकता एवं हिंसात्मक क्रान्तिके लिये, जो अभी दृष्टिगत हो रही है, तैयार रहना चाहिये । यदि ऐसी क्षति आ गयी तो उन बुराई करनेवालोंके, जिन्होंने पापकी कमाईद्वारा धन कमाया है एवं स्वयंके लिये इकट्ठा किया है, हाथ क्या रह जायगा और उनके भाग्य एवं उनके बच्चे तथा सम्बन्धियोंका भविष्य क्या होगा? और उस देशका क्या होगा, जिसमें वे रहते और पलते हैं? सभी अच्छे विचार रखनेवाले व्यक्तियोंको, जो अपनेको तथा इस देशको अन्धकारसे बचाना चाहते हैं, इस अभियानमें जो समाजके सभी वर्गोंतक एवं देशके सभी भागोंमें चलाया जाय, भाग लेना चाहिये । धर्मका यह संदेश प्रत्येक स्थान एवं प्रत्येक घरतक पहुँचाया जाय ।

इस दुःखद घटनाक्रमको होनेसे बचानेके लिये यह निःसंदेह आवश्यक है कि भारतीय संस्कृतिकी मौलिक शिक्षाका अधिक-से-अधिक प्रचार हो । भारतवासियोंको नैतिक एवं आध्यात्मिक परम्पराकी सुरक्षाके लिये एक शक्तिशाली नैतिक महाशक्ति तैयार करनमें कोई भी प्रयत्न एवं तरीके शेष न छोड़ने चाहिये ।

महात्मा गाँधी और राष्ट्रिय शिक्षा

(स्व० पं० श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी)

जिस शिक्षाका राष्ट्रिय जीवनसे निकट सम्बन्ध न हो उसे महात्मा गाँधी निरर्थक ही मानते थे । वे स्कूली शिक्षाको बहुत महत्त्व नहीं देते थे । एक बार महात्मा गाँधीके भतीजेके सुपुत्र अपनी बाल्यावस्थामें बापूके साथ पैदल चल रहे थे । अवसर पाकर उन्होंने कहा—'बापू! दादी कहती हैं कि तू तो बेपढ़ा रह जायगा, देख तेरे साथी ऊँचे दर्जेमें पढ़ रहे हैं । मैं दादीको क्या उत्तर दूँ?'

गाँधीजीने उत्तर दिया—'तू दादीसे कह देना कि मैं तो बापूके स्कूलमें पढ़ रहा हूँ ।' बापू अपने उस पौत्रको एक ईमानदार सार्वजनिक कार्यकर्ता बनाना चाहते थे और वे यह भलीभाँति जानते थे कि इस देशको जितनी आवश्यकता ईमानदार कार्यकर्ताओंकी है, उतनी डिग्रीधारी युवकोंकी नहीं है ।

महात्मा गाँधी 'राष्ट्रिय शिक्षा' किसे कहते थे, इसपर प्रकाश डालनेसे पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि वे 'अन्ताराष्ट्रिय शिक्षा' किसे कहते थे । 'गाँधी-विचार-दोहन'-में इस विषयपर बड़ी स्पष्टतासे प्रकाश डाला गया है—

(१) ८०-८५ प्रतिशत लोगोंके जीवनकी

आवश्यकताओंपर विचार करनेके सिवा मुट्ठीभर लोगोंकी अथवा राज्यसी कुछ विभागोंकी आवश्यकताओंपर ध्यान देकर जो शिक्षा दी जाती है, उसे हम 'राष्ट्रिय शिक्षा' कदापि नहीं कह सकते ।

(२) ऐसी शिक्षाने शिक्षित और अशिक्षित लोगोंके बीच गहरी खाई पैदा कर दी है तथा विद्वानोंको लोगोंके अगुआ, पथ-प्रदर्शक तथा प्रतिनिधि बनानेके बदले जनतासे अलग रखकर ऐसा बना दिया है कि न तो वे उनकी भावनाओंको समझ सकते हैं और न उनका पक्ष उपस्थित करनेकी योग्यता ही रखते हैं ।

(३) इस शिक्षाने अपना महत्त्व बढ़ानेके लिये भव्य भावनाओं, महान् साधनों, प्रचुर पुस्तकों, मृगतृष्णाकी तरह दूरसे लुभानेवाले लोगोंकी आशाओं और तड़क-भड़क आदिका बड़ा आडम्बर रचकर लोगोंको ऋणमें डुबो दिया है ।

(४) इस शिक्षाने कितने ही संशय पैदा कर दिये हैं, जैसे अक्षरज्ञान अर्थात् पुस्तकीय शिक्षा तथा अन्य शिक्षा दोनों एक ही वस्तु है । पुस्तकीय शिक्षाके बिना कोई शिक्षा बन ही नहीं सकती । लोगोंमें यह भी संदेह पैदा हो गया है कि बिना किसी शिक्षित मनुष्यके मजदूरोंका जीवन बिताना और अपने हाथसे काम करना अपनी शिक्षाको लज्जित करना है । यह भी इस शिक्षाका एक भारी दोष है ।

(५) इस शिक्षाने लोगोंको धर्मसे विमुख कर दिया है और धर्म तथा संयमके उन संस्कारोंको, जो सदियोंसे संगृहीत थे, मिटानेका ही काम किया है ।

(६) ईश्वर, गुरु, बड़े-बूढ़ोंकी प्रतिष्ठा, नैतिक जीवन बितानेके लिये आग्रह और संयम तथा तपमें श्रद्धा—इन विषयोंपर इस शिक्षाने पढ़े-लिखोंको शङ्काशील और नास्तिक बना दिया है ।

(७) इस शिक्षाने भोग तथा सम्पत्तिमें ही श्रद्धा उत्पन्न कर दी है । बापूके इन कथनोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे राष्ट्रके लिये किस प्रकारकी शिक्षाको हानिकारक मानते थे ।

अब संक्षेपमें उनके 'राष्ट्रिय शिक्षा' -विषयक विचारोंको देखिये—

भारतकी राष्ट्रिय शिक्षाकी रचनाकी नींव इस आधारपर रखनी चाहिये कि भारतके ८०-८५ प्रतिशत लोग किस प्रकारका जीवन व्यतीत करते हैं । चूँकि हमारे देशके ८०-८५ प्रतिशत लोग प्रत्यक्ष या अपरोक्षरूपसे खेतीपर जीविका चलाते हैं, इसलिये उनकी शिक्षा इस दृष्टिसे ही होनी चाहिये कि वे अच्छे किसान बन सकें और खेतीसे जुड़े हुए धंधोंका ज्ञान प्राप्त कर सकें । महात्मा गाँधीकी यह राय थी कि शिक्षाके फलस्वरूप जीविकाका प्रश्न हल हो जाना चाहिये, इसलिये औद्योगिक शिक्षा हमारी शिक्षाका प्रधान अङ्ग होना चाहिये । ऐसी शिक्षा या तो खेतोंमें या देहातमें ही दी जा सकती है, कस्बों या शहरोंमें नहीं ।

उनका मत था कि लिखने-पढ़नेका ज्ञान न होते हुए भी मनुष्य गिनती सीख सकता है, अपने उद्योग-धंधोंका प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है, साहित्य समझ सकता है, सुन सकता है और कण्ठस्थ भी कर सकता है । शिक्षापर जो अनाप-शनाप खर्च किया जाता है, महात्मा गाँधी उसे फिजूलखर्च ही मानते थे । हमारे सैकड़ों शिक्षित मनुष्योंका ज्ञान-भण्डार इतना थोड़ा होता है कि उतनी शिक्षा लोगोंको मौखिक दे देनेमें बहुत कम समय लगेगा ।

महात्मा गाँधी कहते थे कि शिक्षाको थोड़ेसे वर्षोंमें पूरा कर लेनेका मोह हमें छोड़ देना चाहिये । उद्योग करते हुए और आजीविका प्राप्त करते-करते भी यह शिक्षा जीवनभर चल सकती है । बापू शिक्षामें पुस्तकोंपर कम-से-कम आधार रखना चाहते थे । वे यह नहीं कहते थे कि पुस्तकें रहें ही नहीं, अपितु वाचनकी अपेक्षा श्रवण, दर्शन और क्रियाको वे अधिक महत्त्व देते थे ।



बालकोंको शिक्षा

(श्रीरामचन्द्रजी शास्त्री 'विद्यालंकार')

माता और पिताकी सेवा करना परम धर्म मानो,
सिद्धि इसीसे तुम्हें मिलेगी, जीवनमें यह सच जानो।
कहो न चुभती बात किसीको, कभी न जीव सताओ तुम,
कभी न रूठो, कभी न अकड़ो, जीवन सरल बनाओ तुम ॥ १ ॥

ल्यौरीका-सा[1] निज स्वभाव मत होने देना जीवनमें,
नटखट मत बनना, रखना गुरु-ईश्वर-देश-भक्ति मनमें।
केवट बनना भारत-नौके, शुभ सच्ची धुनके होना,
बातों या गप्पोंमें अपना व्यर्थ न पल भी तुम खोना ॥ २ ॥

लड़को ! आपसमें मत लड़ना, दुर्व्यसनोंसे रहना दूर,
कर्मठ, उत्साही, मृदुभाषी, बनना सभ्य, सुजन अरु शूर।
अंकुशमें अपने पूज्योंके रहकर व्यवहारज्ञ बनो,
कला, ज्ञान, विज्ञान, नीति, सत्-शिक्षाके मर्मज्ञ बनो ॥ ३ ॥

गीत, नाच, फैशन, बहुव्ययसे बचो, ग्राह्य सब गुण ले लो,
ताश तथा चौपड़, चरभर, शतरंज वगैरह मत खेलो।
प्रेम, सत्य, औदार्य, शीलता, दया, धैर्य अपनाओ तुम,
सच्चरित्र, निर्भीक, मनस्वी, धर्मात्मा बन जाओ तुम ॥ ४ ॥

गो द्विज-देश-जाति-रक्षक बन करना अपना उज्ज्वल नाम,
रत्न देशके कहलाओ तुम, ऐसे ऊँचे करना काम।
खलकी संगति कभी न करना, सज्जन-संगतिमें रहना,
पुत्र कहा कर भारत माँके, इसकी अपकृति मत सहना ॥ ५ ॥

रच सत्काव्य समाज-हृदयमें भरना तुम नित नूतन भाव,
कीट-समान न जीना जगमें, गुण-संग्रहमें रखना चाव।
शिक्षाहीन दीन-दुखियोंको शिक्षित कर दुख हरना तुम,
क्षान्तिमान बन इस भारतको लड़को ! सुखिया करना तुम ॥ ६ ॥

१. भेड़िया।



सच्ची सीख

रविशंकर महाराज एक गाँवमें सवा सौ मन गुड़ बाँट रहे थे। जब वे एक लड़कीको गुड़ देने लगे, तब उसने इन्कार करते हुए कहा—'मैं नहीं लूँगी।'

'क्यों ?'—महाराजने पूछा।

'मुझे शिक्षा मिली है कि यों मुफ्त नहीं लेना चाहिये।'

'तो कैसे लेना चाहिये ?'

'ईश्वरने दो हाथ तथा पैर दिये हैं और उनके बीचमें पेट दिया है। इसलिये मुफ्त कुछ भी नहीं लेना चाहिये। यह तो आप मुफ्त दे रहे हैं, जो मजदूरीसे मिले वही लेना चाहिये।'

महाराजको आश्चर्य हुआ। इसे ऐसी शिक्षा देनेवाला कौन है, यह जाननेके लिये उन्होंने पूछा—'तुझे यह सीख किसने दी ?'

'मेरी माँने।'

महाराज उसकी माँके पास गये और पूछा—'तुमने लड़कीको यह सीख कैसे दी ?'

'क्यों महाराज ? मैंने इसमें नयी बात क्या कही ? भगवान्ने जब हाथ-पैर दिये हैं, तब मुफ्त क्यों लेना चाहिये ?'

'तुमने धर्मशास्त्र पढ़े हैं ?'

'ना'

'तुम्हारी आजीविका किस प्रकार चलती है ?'

'भगवान् सिरपर बैठा है। मैं लकड़ी काट लाती हूँ और उससे अनाज मिल जाता है। लड़की राँध लेती है। यों मजदूरीसे हमारा गुजारा सुख-संतोषके साथ निभ रहा है।'

'तो इस लड़कीके पिताजी……।'

वह बहन उदास हो गयी और कुछ देर ठहरकर बोली—'लड़कीके पिता थोड़ी आयु लेकर आये थे। वे जवानीमें ही हमें अकेले छोड़कर चले गये। यद्यपि वे लगभग तीस बीघे जमीन और दो बैल छोड़ गये थे, तथापि मैंने विचार किया कि इस सम्पत्तिमें मेरा क्या लेना-देना है, मैं कब इसके लिये पसीना बहाने गयी थी? अथवा यदि मैं वृद्ध होती या अपंग अथवा अशक्त होती तो अपने लिये सम्पत्तिका उपयोग भी करती, परंतु ऐसी तो मैं हूँ नहीं। मेरे मनमें आया कि मैं इस सम्पत्तिका क्या करूँ? तब भगवान्ने ही मुझे यह सुझाव दिया कि 'यदि यह सम्पत्ति गाँवके किसी भलाईके काममें लगा दी जाय तो बहुत अच्छा हो।' मैं सोचने लगी कि ऐसा कौन-सा कार्य हो सकता है? तत्पश्चात् मेरी समझमें यह आया कि इस गाँवमें जलका बहुत कष्ट है, इसलिये कुँआ बनवा दूँ। मैंने सम्पत्ति बेच दी और उससे मिली हुई रकम एक सेठको सौंपकर उनसे कहा कि आप इन पैसोंसे एक कुँआ बनवा दें। सेठ भले आदमी थे। उन्होंने परिश्रम और कोर-कसर करके कुएँके साथ ही उसी रकममेंसे पशुओंके जल पीनेके लिये हौज भी बनवा दी।'

इस प्रकार उस बहनने पतिकी सम्पत्तिका हक छोड़कर उसका सद्व्यय किया। उसे नहीं तो उसके हृदयको तो इतनी शिक्षा अवश्य मिली होगी कि 'मैं जो पतिको ब्याही गयी हूँ सो सम्पत्तिके लिये नहीं, अपितु ईश्वरकी—सत्यकी प्राप्तिके मार्गमें आगे बढ़नेके लिये ब्याही गयी हूँ।' इस प्रकार त्याग, न्याय, परोपकारकी समझ तथा संस्कारसे बढ़कर और कौन-सी शिक्षा हो सकती है?

सत्यं शिवं सुन्दरम्

एथेनियन कवि एगोथनने एक बार अपने यहाँ एक विशाल भोजका आयोजन किया था । इस व्यक्तिको ग्रीक थियेटरमें प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था, उसी प्रसन्नताके उपलक्ष्यमें इसने अपने परम विद्वान् दार्शनिक मित्रोंको आमन्त्रित किया था । समागत मित्रोंने मनोरञ्जनके लिये वार्तालापका विषय रखा 'प्रेम' और उसपर सबने अपना मन्तव्य प्रकाशित करना आरम्भ किया ।

फेडरसने कहा—'प्रेम देवताओंका भी देवता तथा सबका अग्रणी है । यह उनमें सर्वाधिक शक्तिशाली है । यह वह वस्तु है, जो एक साधारण मनुष्यको वीरके रूपमें परिणत कर देती है; क्योंकि प्रेमी अपने प्रेमास्पदके सामने अपनेको कायरके रूपमें प्रदर्शित करनेमें लज्जाका अनुभव करता है । वह तो अपना शौर्य प्रदर्शितकर अपनेको शूरतम ही सिद्ध करना चाहता है । यदि मुझे एक ऐसी सेना दी जाय, जिसमें केवल प्रेमी-ही-प्रेमी रहें तो मैं निश्चय ही विश्व-विजय कर लूँ ।'

पासनियस बोला—'बात बिलकुल ठीक है, तथापि आपको पार्थिव प्रेम तथा दिव्य ईश्वर-प्रेमका पार्थक्य तो स्वीकार करना ही होगा । सामान्य प्रेम—चमड़ियोंके सौन्दर्यपर लुब्ध मनकी यह दशा होती है कि यौवनका अन्त होते-न-होते उसके पंख जम जाते हैं और वह उड़ जाता—छूमंतर हो जाता है । पर परमात्म-प्रीति— भगवत्प्रेम सनातन होता है और उसकी गति निरन्तर विकासोन्मुख ही रहती है ।'

अब विनोदी कवि अरिस्टोफेन्सकी पारी आयी । उसने प्रेमपर कुछ नवीन सिद्धान्तोंका आविष्कार कर रखा था । उसने कहना आरम्भ किया—'प्राचीन युगमें नर-मादोंका एकत्र एक ही विग्रहमें समन्वय था । उसका स्वरूप गेंद-जैसा गोल था, जिसके चार हाथ, चार पैर तथा दो मुँह होते थे । इस जगत्की शक्ति तथा गति बड़ी तीव्र तथा भयंकर थी । साथ ही इनकी उमंग भी अपार थी । ये देवताओंपर विजय पानेके लिये आतुर हो रहे थे । इसी बीच जियस (ग्रीस देशके सर्वश्रेष्ठ देवता ईश्वर) ने इनके दो विभाग इसलिये कर दिये, जिसमें उनकी शक्ति आधी ही रह जाय । तभीसे स्त्री-पुरुषका विभाजन हुआ । ये दोनों शक्तियाँ आज भी पुनर्मिलनके लिये आतुर दीखती हैं । इस आतुरताको ही हम 'प्रेम' शब्दसे पुकारते हैं ।'

अब सभी अतिथियोंने सुकरातसे इस विषयपर अपना मन्तव्य प्रकाशित करनेकी प्रार्थना की । उसने इन वक्ताओंके सामने ऐसे प्रश्न उपस्थित किये कि ये लोग सर्वथा निरुत्तर हो गये । अन्तमें सुकरातने अपने सिद्धान्तको प्रकाशित करते हुए कहा—'प्रेम ईश्वरीय सौन्दर्यकी भूख है । प्रेमी प्रेमके द्वारा अमृतत्वकी ओर अग्रसर होता है । विद्या, पुण्य, यश, उत्साह, शौर्य, न्याय, विश्वास और श्रद्धा—ये सभी उस सौन्दर्यके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं । यदि एक शब्दमें कहा जाय तो आत्मिक सौन्दर्य ही परम सत्य है और सत्य वह मार्ग है, जो सीधे परमेश्वरतक पहुँचा देता है ।'

सुकरातके इस कथनका प्लेटोपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसी दिनसे उसका शिष्य हो गया । यही प्लेटो आगे चलकर यूनानके सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकोंमें परिगणित हुआ ।

लक्ष्यके प्रति एकाग्रता

द्रोणाचार्य पाण्डव एवं कौरव राजकुमारोंको अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा दे रहे थे । बीच-बीचमें आचार्य अपने शिष्योंके हस्तलाघव, लक्ष्यवेध, शस्त्र-चालनकी परीक्षा भी लेते रहते थे । एक बार उन्होंने एक लकड़ीका पक्षी बनवाकर एक सघन वृक्षकी ऊँची डालपर रखवा दिया । राजकुमारोंसे कहा गया कि उस पक्षीके बायें नेत्रमें उन्हें बाण मारना है । सबसे बड़े राजकुमार युधिष्ठिरने धनुष उठाकर उसपर बाण चढ़ाया । इसी समय आचार्यने उनसे पूछा—'तुम क्या देख रहे हो ?'

युधिष्ठिर सहजभावसे बोले—'मैं वृक्षको, आपको तथा अपने सभी भाइयोंको देख रहा हूँ ।'

आचार्यने आज्ञा दी—'तुम धनुष रख दो ।'

युधिष्ठिरने चुपचाप धनुष रख दिया । अब दुर्योधन उठे, बाण चढ़ाते ही उनसे भी आचार्यने वही प्रश्न किया । दुर्योधनने कहा— 'मैं सभी कुछ तो देख रहा हूँ । इसमें पूछनेकी क्या बात है ?'

उन्हें भी धनुष रख देनेका आदेश हुआ । इसी प्रकार पारी-पारीसे सभी पाण्डव एवं कौरव राजकुमार उठे । सबने धनुष चढ़ाया । सबसे वही प्रश्न आचार्यने किया । सबने लगभग एक ही उत्तर दिया । आचार्यने सबको बिना बाण चलाये धनुष रख देनेकी आज्ञा दे दी । सबके अन्तमें आचार्यकी आज्ञासे अर्जुन उठे और उन्होंने धनुषपर बाण चढ़ाया । उनसे भी आचार्यने पूछा—'तुम क्या देख रहे हो ?'

अर्जुनने उत्तर दिया—'मैं केवल यह वृक्ष देख रहा हूँ ।'

आचार्यने फिर पूछा—'मुझे और अपने भाइयोंको तुम नहीं देखते हो क्या?'

अर्जुन—'इस समय तो मैं आपमेंसे किसीको नहीं देख रहा हूँ ।'

आचार्य—'इस वृक्षको तो तुम पूरा देखते हो न ?'

अर्जुन—'पूरा वृक्ष मुझे अब नहीं दीखता । मैं तो केवल वह डाल देख रहा हूँ जिसपर पक्षी है'।

आचार्य—'कितनी बड़ी है वह शाखा'?

अर्जुन—'मुझे अब यह पता नहीं, मैं तो मात्र पक्षीको ही देख रहा हूँ'।

आचार्य—'क्या तुम्हें दीख रहा है कि पक्षीका रंग कैसा है'?

अर्जुन—'पक्षीका रंग भी मुझे नहीं दीखता । अब मुझे केवल उसका वाम नेत्र दीख रहा है और वह नेत्र काले रंगका है ।'

आचार्य—'ठीक है । तुम्हीं लक्ष्यवेध कर सकते हो । बाण छोड़ो ।' अर्जुनके बाण छोड़नेपर पक्षी उस शाखासे नीचे गिर पड़ा । अर्जुनके द्वारा छोड़ा गया बाण उसके बायें नेत्रमें चुभ गया था ।

आचार्यने अपने शिष्योंको समझाया—'जबतक लक्ष्यपर दृष्टि इतनी स्थिर न हो कि लक्ष्यके अतिरिक्त दूसरा कुछ दीखे ही नहीं, तबतक लक्ष्यवेध ठीक नहीं होता । इसी प्रकार जीवनमें जबतक लक्ष्य-प्राप्तिमें पूरी एकाग्रता न हो, तबतक सफलतामें संदिग्ध ही रहता है ।'

(महाभारत, आदि० १३५-१३६)

बड़ोंके सम्मानका शुभ फल

कुरुक्षेत्रके मैदानमें कौरव-पाण्डव दोनों दल युद्धके लिये एकत्र हो गये थे । सेनाओंकी व्यूह-रचना हो चुकी थी । वीरोंके धनुष चढ़ चुके थे । युद्ध प्रारम्भ होनेमें क्षणोंकी ही देर जान पड़ती थी । सहसा धर्मराज युधिष्ठिरने अपना कवच उतारकर रथमें रख दिया और अस्त्र-शस्त्र भी रख दिये तथा वे रथसे उतरकर पैदल ही कौरव-सेनामें भीष्मपितामहकी ओर चल पड़े ।

बड़े भाईको इस प्रकार शस्त्रहीन पैदल शत्रु-सेनाकी ओर जाते देखकर अर्जुन, भीमसेन, नकुल और सहदेव भी अपने रथोंसे उतर पड़े । वे लोग युधिष्ठिरके पास पहुँचे और उनके पीछे-पीछे चलने लगे । श्रीकृष्णचन्द्र भी पाण्डवोंके साथ ही चल रहे थे । भीमसेन, अर्जुन आदि बड़े चिन्तित हो रहे थे । वे पूछने लगे—'महाराज ! आप यह क्या कर रहे हैं ?' युधिष्ठिरने किसीको कोई उत्तर नहीं दिया । श्रीकृष्णचन्द्रने भी सबको शान्त रहनेका संकेत करके कहा—'धर्मात्मा युधिष्ठिर सदा धर्मका ही आचरण करते हैं । इस समय भी वे धर्माचरणमें ही संलग्न हैं ।'

उधर कौरव-दलमें बड़ा कोलाहल मच गया । लोग कह रहे थे—'युधिष्ठिर डरपोक हैं । वे हमारी सेनाको देखकर डर गये हैं और भीष्मकी शरणमें आ रहे हैं ?' कुछ लोग यह संदेह भी करने लगे कि सम्भवतः पितामह भीष्मको अपनी ओर फोड़ लेनेकी यह कोई चाल है । सैनिक प्रसन्नतापूर्वक कौरवोंकी प्रशंसा करने लगे ।

युधिष्ठिर सीधे भीष्मपितामहके समीप पहुँचे और उन्हें प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—'पितामह ! हमलोग आपके साथ युद्ध करनेके लिये विवश हो गये हैं । इसके लिये आप हमें आज्ञा और आशीर्वाद दें ।'

भीष्म बोले—'भरतश्रेष्ठ ! यदि तुम इस प्रकार आकर मुझसे युद्धकी अनुमति न माँगते तो मैं तुम्हें अवश्य पराजयका शाप दे देता । अब मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । तुम विजय प्राप्त करो । जाओ, युद्ध करो । तुम मुझसे वरदान माँगो । पार्थ ! मनुष्य धनका दास है, धन किसीका दास नहीं । मुझे धनके द्वारा कौरवोंने अपने वशमें कर रखा है, इसीसे मैं नपुंसकोंकी भाँति कहता हूँ कि अपने पक्षमें युद्ध करनेके अतिरिक्त तुम मुझसे जो चाहो, वह माँग लो; किंतु युद्ध तो मैं कौरवोंके पक्षसे ही करूँगा ।'

युधिष्ठिरने पूछा—'आप अजेय हैं, फिर आपको हमलोग संग्राममें किस प्रकार जीत सकते हैं ?'

पितामहने उन्हें दूसरे समय आकर यह बात पूछनेको कहा । वहाँसे धर्मराज द्रोणाचार्यके पास पहुँचे और उन्हें प्रणाम करके उनसे भी युद्धके लिये अनुमति माँगी । आचार्य द्रोणने भी वही बातें कहकर आशीर्वाद दिया, परंतु जब युधिष्ठिरने उनसे उनकी पराजयका उपाय पूछा, तब आचार्यने स्पष्ट बता दिया—'मेरे हाथमें शस्त्र रहते मुझे कोई मार नहीं सकता, परंतु मेरा स्वभाव है कि किसी विश्वसनीय व्यक्तिके मुखसे युद्धमें कोई अप्रिय समाचार सुननेपर मैं धनुष रखकर ध्यानस्थ हो जाता हूँ । उस समय मुझे मारा जा सकता है ।'

युधिष्ठिर द्रोणाचार्यको प्रणाम करके कृपाचार्यके पास पहुँचे । उनको प्रणाम करके युद्धकी अनुमति माँगनेपर कृपाचार्यने भी भीष्मपितामहके समान ही सब बातें कहकर आशीर्वाद दिया, किंतु अपने उन कुलगुरुसे युधिष्ठिर उनकी मृत्युका उपाय पूछ न सके । यह दारुण बात पूछते-पूछते दुःखके मारे वे अचेत हो गये । कृपाचार्यने उनका तात्पर्य समझ लिया था । वे बोले—'राजन् ! मैं अवध्य हूँ, किसीके द्वारा भी मैं मारा नहीं जा सकता, परंतु मैं वचन देता हूँ कि नित्य प्रातःकाल भगवान्से तुम्हारी विजयके लिये प्रार्थना करूँगा और युद्धमें तुम्हारी विजयका बाधक नहीं बनूँगा ।'

इसके पश्चात् युधिष्ठिर मामा शल्यके पास प्रणाम करने पहुँचे । शल्यने भी पितामह भीष्मकी बातें ही दुहराकर उन्हें आशीष् दी, साथ ही यह वचन भी दिया कि 'युद्धमें अपने निष्ठुर वचनोंद्वारा मैं कर्णको हतोत्साह करता रहूँगा ।'

गुरुजनोंको प्रणाम करके उनकी अनुमति और विजयका आशीर्वाद लेकर युधिष्ठिर भाइयोंके साथ अपनी सेनामें लौट आये । उनकी इस विनम्रताने भीष्म, द्रोण आदिके हृदयमें उनके लिये ऐसी सहानुभूति उत्पन्न कर दी, जिसके बिना पाण्डवोंकी विजय अत्यन्त दुष्कर थी ।—(महाभारत, भीष्म० ४३)

शुकदेवजीका वैराग्य

एक बार व्यासजीके मनमें ब्याहकी अभिलाषा हुई । उन्होंने जाबालि मुनिसे कन्या माँगी । जाबालिने अपनी चेटिका नामकी कन्या उन्हें दे दी । चेटिकाका दूसरा नाम पिङ्गला था । कुछ दिनोंके बाद उसके गर्भमें शुकदेवजी आये । बारह वर्ष बीत गये, पर वे बाहर नहीं निकले । शुकदेवजीकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी । उन्होंने सारे वेद, वेदाङ्ग, पुराण, धर्मशास्त्र और मोक्ष-शास्त्रोंका वहीं श्रवण करके गर्भमें ही अभ्यास कर लिया । वहाँ आश्रममें यदि पाठ करनेमें कोई भूल होती तो शुकदेवजी गर्भमेंसे ही डाँट देते । इधर माताको भी गर्भके बढ़नेसे बड़ी पीड़ा हो रही थी । यह सब देखकर व्यासजी बड़े विस्मित हुए । उन्होंने गर्भस्थ बालकसे पूछा—'तुम कौन हो ?'

शुकदेवजीने कहा—'जो चौरासी लाख योनियाँ बतायी गयी हैं, उन सबमें मैं घूम चुका हूँ । ऐसी दशामें मैं क्या बताऊँ कि कौन हूँ ?'

व्यासजीने कहा—'तुम बाहर क्यों नहीं आते ?'

शुकदेव—'भयंकर संसारमें भटकते-भटकते मुझे बड़ा वैराग्य हो गया है । पर मैं जानता हूँ कि गर्भसे बाहर

आते ही वैष्णवी मायाके स्पर्शसे सारा ज्ञान-वैराग्य हवा हो जायगा । अतएव मेरा विचार इस बार गर्भमें रहकर ही योगाभ्यासमें तत्पर हो मोक्ष-सिद्धि करनेका है ।'

अन्तमें व्यासजीके द्वारा वैष्णवी मायाके स्पर्श न करनेका आश्वासन देनेपर वे किसी प्रकार गर्भसे बाहर तो आये, पर तुरंत ही वनके लिये चलने लगे । यह देखकर व्यासजी बोले—'बेटा ! मेरे घरमें ही ठहरो । मैं तुम्हारा जातकर्म आदि संस्कार तो कर दूँ ।' इसपर शुकदेवजीने कहा— 'अबतक जन्म-जन्मान्तरोंमें मेरे सैकड़ों संस्कार हो चुके हैं । उन बन्धनप्रद संस्कारोंने ही मुझे भवसागरमें भटका रखा है । अतएव अब मुझे उनसे कोई प्रयोजन नहीं है ।'

व्यासजी—'द्विजके बालकको पहले विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रममें रहकर वेदाध्ययन करना चाहिये । तदनन्तर उसे गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रममें प्रवेश करना चाहिये । इसके बाद ही वह मोक्षको प्राप्त होता है । अन्यथा पतन अवश्यम्भावी है ।'

शुकदेव—'यदि ब्रह्मचर्यसे मोक्ष होता हो तब तो नपुंसकोंको वह सदा ही प्राप्त रहता होगा, पर ऐसा नहीं दीखता । यदि गृहस्थाश्रम मोक्षका सहायक हो, तब तो सम्पूर्ण जगत् ही मुक्त हो जाय । यदि वानप्रस्थियोंको मोक्ष होने लगे, तब तो सभी मृग पहले मुक्त हो जायँ । यदि आपके विचारसे संन्यास-धर्मका पालन करनेवालोंको मोक्ष अवश्य मिलता हो, तब तो दरिद्रोंको पहले मोक्ष मिलना चाहिये ।'

व्यासजी—'मनुका कहना है कि सद्गृहस्थोंके लिये लोक-परलोक दोनों ही सुखद होते हैं । गृहस्थका समन्वयात्मक संग्रह सनातन सुखदायक होता है ।'

शुकदेव—'सम्भव है, दैवयोगसे कभी आग भी शीत उत्पन्न कर सके, चन्द्रमासे ताप निकलने लग जाय, पर परिग्रहसे कोई सुखी हो जाय—यह तो त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है ।'

व्यासजी—'बड़े पुण्योंसे मनुष्यका शरीर मिलता है । इसे पाकर यदि कोई गृहस्थधर्मका तत्त्व ठीक-ठीक समझ जाय तो उसे क्या नहीं मिल जाता ?'

शुकदेव—'जन्म होते ही मनुष्यका गर्भ-जनित ज्ञान-ध्यान सब भूल जाता है । ऐसी दशामें गार्हस्थ्यमें प्रवेश तथा उससे लाभकी कल्पना तो केवल आकाशसे पुष्प तोड़नेके समान है ।'

व्यासजी—'मनुष्यका पुत्र हो या गधेका, जब वह धूलमें लिपटा, चञ्चलगतिसे चलता और तोतली वाणी बोलता है, तब उसका शब्द लोगोंके लिये अपार आनन्दप्रद होता है ।'

शुकदेव—'मुने ! धूलमें लोटते हुए अपवित्र शिशुसे सुख या संतोषकी प्राप्ति सर्वथा अज्ञानमूलक ही है । उसमें सुख माननेवाले सभी अज्ञानी हैं ।'

व्यासजी—'यमलोकमें एक महाभयंकर नरक है, जिसका नाम है—'पुम्' । पुत्रहीन मनुष्य वहीं जाता है । इसलिये पुत्रकी प्रशंसा की जाती है ।'

शुकदेव—'यदि पुत्रसे ही स्वर्गकी प्राप्ति हो जाती हो तो सूअर, कूकर और टिड्डियोंको यह विशेषरूपसे मिल सकता है ।'

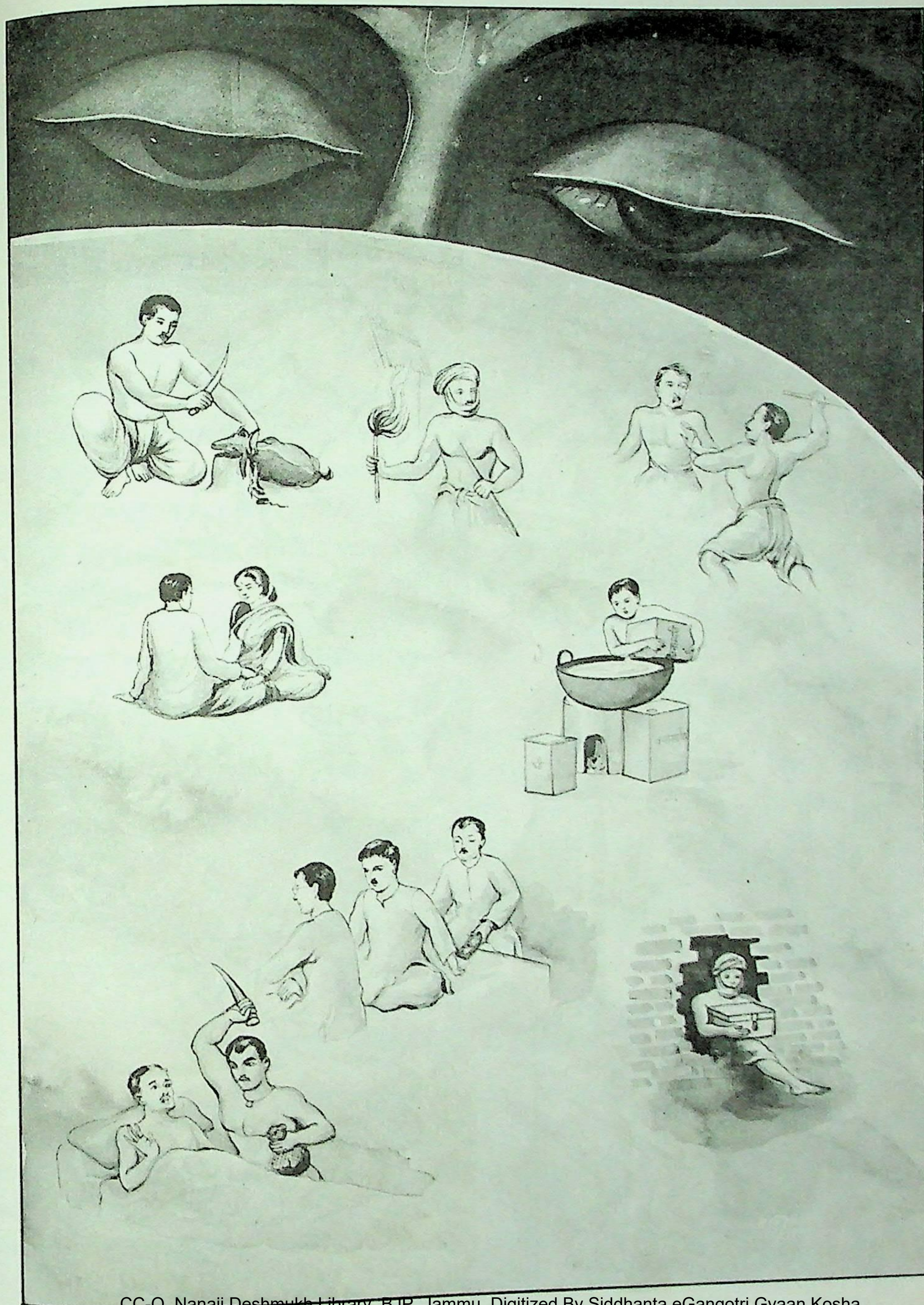
व्यासजी—'पुत्रके दर्शनसे मनुष्य पितृ-ऋणसे और पौत्र-दर्शनसे देव-ऋणसे मुक्त हो जाता है और प्रपौत्रके दर्शनसे उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है ।'

शुकदेव—'गीध दीर्घजीवी होते हैं, वे सभी अपनी कई पीढ़ियोंको देखते हैं । उनकी दृष्टिमें पौत्र, प्रपौत्र तो सर्वथा नगण्य वस्तु हैं । पर पता नहीं, उनमेंसे अबतक कितनोंको मोक्ष मिला ?'

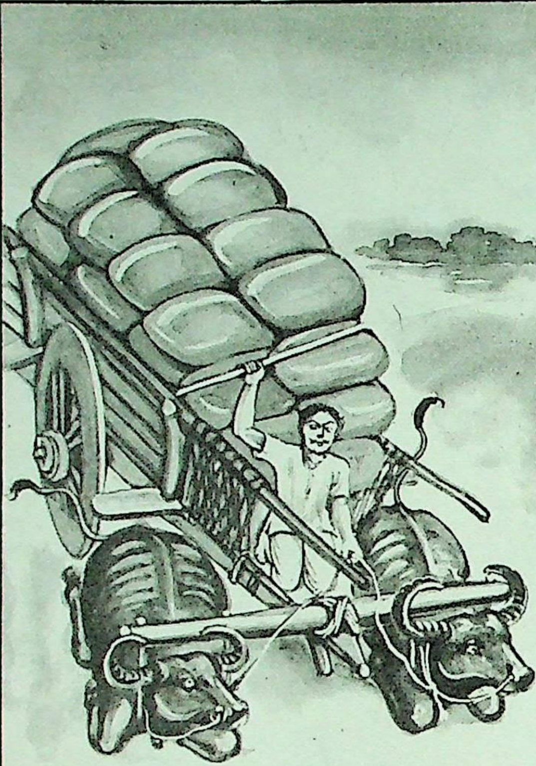
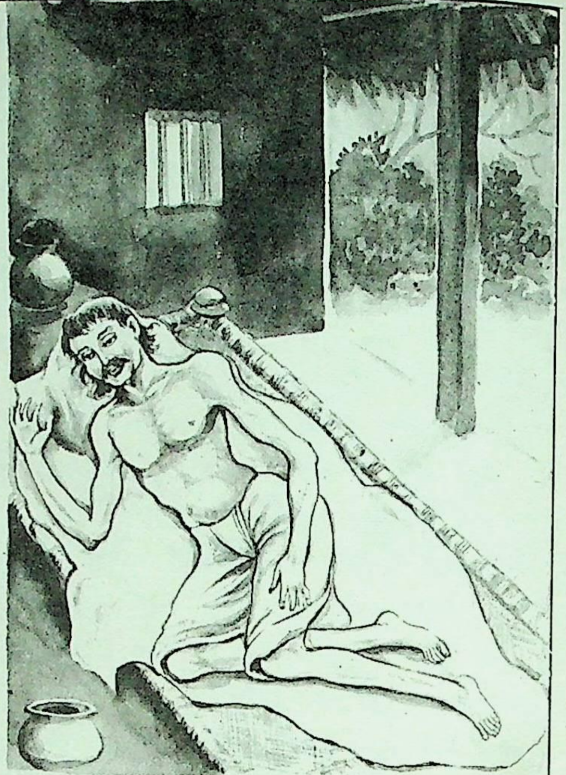
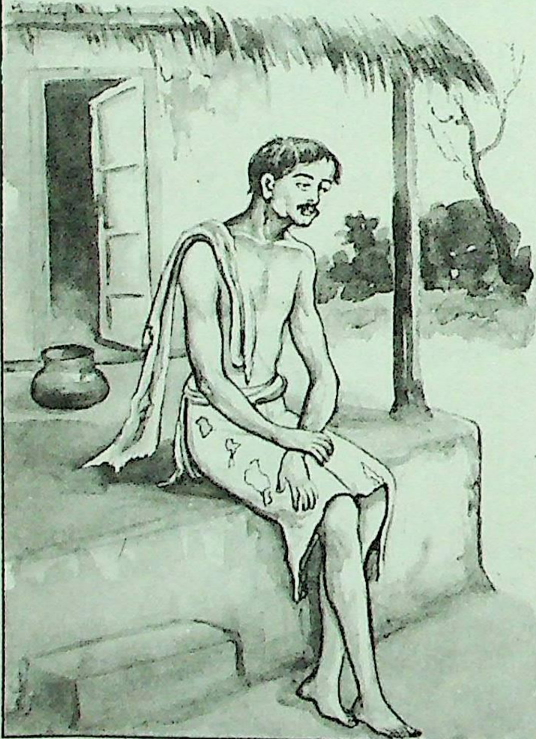
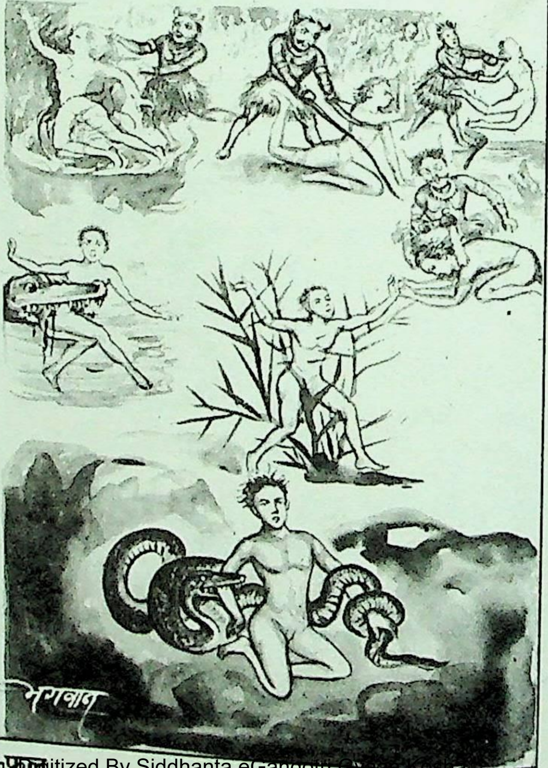
यों कहकर विरक्त शुकदेवजी वनमें चले गये । बादमें पुनः बुलाकर भगवान् व्यासने उन्हें भागवत पढ़ाया ।

(स्कन्दपु॰नागरखण्ड पूर्वार्ध १५०, देवीभागवत, स्कन्ध १, अ॰ ४-५)

चार बातोंको याद रखो—बड़े-बूढ़ोंका आदर करना, छोटोंकी रक्षा और उनपर स्नेह करना, बुद्धिमानोंसे सलाह लेना और मूर्खोंके साथ कभी नहीं उलझना ।



पाप-कर्म

कर्म-फल

यज्ञमें धर्माधर्मकी शिक्षा

विदर्भदेशमें सत्य नामका एक दरिद्र ब्राह्मण रहता था। उसका विश्वास था कि देवताके लिये पशु-बलि देनी ही चाहिये, परंतु दरिद्र होनेके कारण न तो वह पशु-पालन कर सकता था और न बलिदानके लिये पशु खरीद ही सकता था। इसलिये वह कूष्माण्डादि फलोंको ही पशु कल्पित करके उनका बलिदान देकर हिंसाप्रधान यज्ञ एवं पूजन करता था।

एक तो वह ब्राह्मण स्वयं सदाचारी, तपस्वी, त्यागी और धर्मात्मा था और दूसरे उसकी पत्नी सुशीला पतिव्रता तथा तपस्विनी थी। उस साध्वीको पतिका हिंसाप्रधान पूजन—यज्ञ सर्वथा अरुचिकर था, किंतु पतिकी प्रसन्नताके लिये वह उनका सम्भार अनिच्छापूर्वक करती थी। कोई धर्माचरणकी सच्ची इच्छा रखता हो और उससे अज्ञानवश कोई भूल होती हो तो उस भूलको स्वयं देवता सुधार देते हैं। अतः उस तपस्वी ब्राह्मणसे हिंसापूर्ण संकल्पकी जो भूल हो रही थी, उसे सुधारनेके लिये धर्म स्वयं मृगका रूप धारण करके उसके पास आकर बोले—'तुम अङ्गहीन यज्ञ कर रहे हो। पशु-बलिका संकल्प करके केवल फलादिमें पशुकी कल्पना करनेसे पूरा फल नहीं होता। इसलिये तुम मेरा बलिदान करो।'

ब्राह्मण हिंसाप्रधान यज्ञ-पूजन तो करता था, पशु-बलिका संकल्प भी करता था, किंतु उसने कभी पशु-बलि नहीं की थी। अतः उसका कोमल हृदय मृगकी हत्या करनेको प्रस्तुत नहीं हुआ। ब्राह्मणने मृगको हृदयसे लगाकर कहा—'तुम्हारा मङ्गल हो, तुम शीघ्र यहाँसे चले जाओ।'

धर्म, जो मृग बनकर आये थे, ब्राह्मणसे बोले—'आप मेरा वध कीजिये। यज्ञमें मारे जानेसे मेरी सद्‌गति होगी और पशु-बलि करके आप भी स्वर्ग प्राप्त करेंगे। आप इस समय स्वर्गकी अप्सराओं तथा गन्धर्वोंके विचित्र विमानोंको देख सकते हैं।'

ब्राह्मण यह भूल गया कि मृगने छलसे वही तर्क दिया है, जो बलिदानके पक्षपाती दिया करते हैं। स्वर्गीय विमानों तथा अप्सराओंको देखकर उसके मनमें स्वर्ग-प्राप्तिकी कामना तीव्र हो गयी। उसने मृगका बलिदान कर देनेका विचार किया।

अब मृगने कहा—'ब्रह्मन्! सचमुच क्या दूसरे प्राणीकी हिंसा करनेसे किसीका कल्याण सम्भव है?'

ब्राह्मणने सोचकर उत्तर दिया—'एकका अनिष्ट करके दूसरा कैसे अपना हित कर सकता है?'

अब मृग अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गया। साक्षात् धर्मराजको सामने देखकर ब्राह्मण उनके चरणोंपर गिर पड़ा। धर्मने कहा—'ब्रह्मन्! आपने यज्ञमें मृगको मार देनेकी इच्छा मात्र की, इसीसे आपकी तपस्याका बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया है। यज्ञ या पूजनमें पशु-हिंसा उचित नहीं है।' उसी समयसे ब्राह्मणने यज्ञ-पूजनमें पशु-बलिका संकल्प भी त्याग दिया।

(महाभारत, शान्ति॰ २७२)

यह सच या वह सच?

मिथिला-नरेश महाराज जनक अपने राजभवनमें शयन कर रहे थे। निद्रामें उन्होंने एक अद्‌भुत स्वप्न देखा—मिथिलापर किसी शत्रु नरेशने आक्रमण कर दिया है। उसकी अपार सेनाने नगरको घेर लिया है। उसके साथ तुमुल संग्राम छिड़ गया। मिथिलाकी सेना पराजित हो गयी। महाराज जनक बंदी हुए। विजयी शत्रुने आज्ञा दी—'मैं तुम्हारे प्राण नहीं लेता, किंतु अपने सब वस्त्राभरण उतार दो और इस राज्यसे निकल जाओ।' उस नरेशने घोषणा करा दी—'जनकको जो आश्रय या भोजन देगा, उसे प्राण-दण्ड दिया जायगा।'

राजा जनकने वस्त्राभूषण उतार दिये। वे केवल एक छोटा वस्त्र कटिमें लपेटे राजभवनसे निकल पड़े।

पैदल ही उन्हें राज्य-सीमासे बाहरतक जाना पड़ा। प्राण-भयसे कोई उनसे बोलतातक न था। चलते-चलते पैरोंमें छाले पड़ गये। वृक्षोंके नीचे बैठ जायँ या भूखे सो रहें, कोई अपने द्वारपर तो उनके खड़ा भी होनेमें डरता था। कई दिनोंतक अन्नका एक दाना भी उनके पेटमें नहीं गया।

जनकजी अब राजा न थे। बिखरे केश, धूलिसे धूसर शरीर, क्षुधा-पिपासासे अत्यन्त व्याकुल वे एक भिक्षुक-जैसे थे। राज्यसे बाहर एक नगर मिला। पता लगा कि वहाँ कोई अन्न-क्षेत्र है और उसमें भूखोंको खिचड़ी दी जाती है। बड़ी आशासे जनक वहाँ पहुँचे, किंतु खिचड़ी बँट चुकी थी। अब बाँटनेवाला द्वार बंद करने जा रहा था। भूखसे चक्कर खाकर जनकजी बैठ गये और उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। अन्न बाँटनेवाले कर्मचारीको इनकी दशापर दया आ गयी। उसने कहा—'खिचड़ी तो है नहीं, किंतु बर्तनमें उसकी कुछ खुरचन लगी है। कहो तो वह तुम्हें दे दूँ। उसमें जल जानेकी गन्ध तो आ रही है।'

जनकजीको तो यही वरदान जान पड़ा। उन्होंने दोनों हाथ फैला दिये। कर्मचारीने जली हुई खिचड़ीकी खुरचन उनके हाथपर रख दी, किंतु इसी समय एक चीलने झपट्टा मार दिया। उसके पंजे लगनेसे जनकका हाथ ऐसा हिला कि सारी खुरचन कीचड़में गिर पड़ी। मारे व्यथाके जनकजी चिल्ला पड़े।

यहाँतक तो स्वप्न था, किंतु निद्रामें जनकजी सचमुच चिल्ला पड़े थे। चिल्लानेसे उनकी निद्रा तो टूट ही गयी। रानियाँ, सेवक-सेविकाएँ दौड़ आयीं उनके पास—'महाराजको क्या हो गया?'

महाराज जनक अब आँख फाड़-फाड़कर देखते हैं चारों ओर। वे अपने सुसज्जित शयन-कक्षमें स्वर्णरत्नोंके पलंगपर दुग्धफेन-सी कोमल शय्यापर लेटे हैं। उन्हें भूख तो है ही नहीं। रानियाँ पास खड़ी हैं। सेवक-सेविकाएँ सेवामें प्रस्तुत हैं। वे अब भी मिथला-नरेश हैं। यह सब देखकर जनकजी बोले—'यह सच या वह सच?'

रानियाँ चिन्तित हो गयीं। मन्त्रियोंकी व्याकुलता बढ़ गयी। महाराज जनक, लगता था कि पागल हो गये। वे न किसीसे कुछ कहते थे, न किसीके प्रश्नका उत्तर देते थे। उनके सम्मुख जो भी जाता था, उससे वे एक ही प्रश्न करते थे—'यह सच या वह सच?'

चिकित्सक आये, मन्त्रज्ञ आये और भी न जाने कौन-कौन आये, किंतु महाराजकी दशामें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अचानक ही एक दिन ऋषि अष्टावक्रजी मिथिला पधारे। उन्होंने मन्त्रियोंको आश्वासन दिया और वे महाराज जनकके समीप पहुँचे। जनकजीने उनसे भी वही प्रश्न किया। योगिराज अष्टावक्रजीने ध्यान करके प्रश्नके कारणका पता लगा लिया।

अष्टावक्रजीने पूछा—'महाराज! जब आप कटिमें एक वस्त्र-खण्ड लपेटे अन्न-क्षेत्रके द्वारपर भिक्षुकके वेशमें दोनों हाथ फैलाये खड़े थे और आपकी हथेलीपर खिचड़ीकी जली खुरचन रखी गयी थी, उस समय यह राजभवन, आपका यह राजवेश, ये रानियाँ, राजमन्त्री, सेवक-सेविकाएँ थीं?'

महाराज जनक अब बोले—'भगवन्! ये कोई उस समय नहीं थे। उस समय तो विपत्तिका मारा मैं एकाकी क्षुधित भिक्षुक मात्र था।'

अष्टावक्रजीने फिर पूछा—'और राजन्! जागनेपर जब आप इस राजवेशमें राजभवनमें पलंगपर आसीन थे, तब वह अन्नक्षेत्र, उसका वह कर्मचारी, आपका वह कंगाल-वेश, वह जली खिचड़ीकी खुरचन और आपकी वह क्षुधा थी?'

महाराज जनक—'भगवन्! बिलकुल नहीं, वह कुछ भी न था।'

अष्टावक्र—'राजन्! जो एक कालमें रहे और दूसरे कालमें न रहे, वह सत्य नहीं होता। आपके जाग्रत्‌में इस समय वह स्वप्नकी अवस्था नहीं है, इसलिये वह सच नहीं और स्वप्नके समय यह अवस्था नहीं थी, इसलिये यह भी सच नहीं। न यह सच न वह सच।'

जनक—'भगवन्! तब सच क्या है?'

अष्टावक्र—'राजन्! जब आप भूखे अन्नक्षेत्रके

द्वारपर हाथ फैलाये खड़े थे, तब वहाँ आप तो थे न ?'

जनक—'भगवन्! मैं तो वहाँ था ।'

अष्टावक्र—'और राजन्! इस राजभवनमें इस समय आप हैं ?'

जनक—'भगवन्! मैं तो यहाँ हूँ ।'

अष्टावक्र—'राजन्! जाग्रत्में, स्वप्नमें और सुषुप्तिके साक्षीरूपमें भी आप रहते हैं । अवस्थाएँ बदलती हैं, किंतु उनमें उन अवस्थाओंको देखनेवाले आप नहीं बदलते । आप तो उन सबमें रहते हैं । अतः केवल आत्मा एवं परमात्मा ही सत्य है ।'

विद्या गुरुसे अध्ययन करनेपर ही आती है

कनखलके समीप गङ्गा-किनारे थोड़ी दूरके अन्तरसे महर्षि भरद्वाज तथा महर्षि रैभ्यके आश्रम थे । दोनों महर्षि परस्पर घनिष्ठ मित्र थे । महर्षि रैभ्यके अर्वावसु और परावसु नामके दो पुत्र हुए । ये दोनों ही अपने पिताके समान शास्त्रोंके गम्भीर विद्वान् हुए । महर्षि भरद्वाज तपस्वी थे । अध्ययन-अध्यापनमें उनकी रुचि नहीं थी । शास्त्रज्ञ न होनेके कारण उनकी ख्याति भी महर्षि रैभ्यकी अपेक्षा कम थी । उनके एक पुत्र थे यवक्रीत । पिताके समान यवक्रीत भी अध्ययनसे अलग ही रहे, परंतु उन्हें समाजद्वारा अपने पिताकी उपेक्षा और महर्षि रैभ्य तथा उनके पुत्रोंका सम्मान देखकर बड़ा दुःख होता था । अन्तमें सोच-समझकर उन्होंने वैदिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उग्र तप प्रारम्भ किया । वे पञ्चाग्नि तापते हुए प्रज्वलित अग्निसे अपना शरीर संतप्त करने लगे ।

यवक्रीतका कठोर तप देखकर देवराज इन्द्र उनके पास आये और उनसे इस तपका कारण पूछने लगे । यवक्रीतने बताया—'गुरुके मुखसे वेदोंकी सम्पूर्ण शिक्षा शीघ्र नहीं पायी जा सकती, इसलिये मैं तपके प्रभावसे ही सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ।'

इन्द्रने कहा—'आपने सर्वथा उल्टा मार्ग पकड़ रखा है । गुरुके पास जाकर अध्ययन कीजिये । इस प्रकार व्यर्थ आत्महत्या करनेसे क्या लाभ ?'

इन्द्र तो चले गये, किंतु यवक्रीतने तपस्या नहीं छोड़ी । उन्होंने और कठोर तप प्रारम्भ कर दिया । देवराज दया करके फिर पधारे और बोले—'ब्राह्मण! आपका यह उद्योग बुद्धिमत्तायुक्त नहीं है । किसीको गुरुमुखसे पढ़े बिना विद्या प्राप्त भी हो तो वह सफल नहीं होती । आप अपने दुराग्रहको छोड़ दें ।'

जब देवराज यह आदेश देकर चले गये, तब यवक्रीतने निश्चय किया कि मैं अपना अङ्ग-प्रत्यङ्ग काटकर अग्निमें हवन कर दूँगा । उन्होंने तपस्यासे ही विद्या पानेका आग्रह रखा । उनका निश्चय जानकर देवराज इन्द्र अत्यन्त वृद्ध एवं रोगी ब्राह्मणका रूप धारण कर वहाँ आये और जहाँ यवक्रीत गङ्गाजीमें स्नान किया करते थे, उसी स्थानपर गङ्गाजीमें बालू डालने लगे ।

यवक्रीत जब स्नान करने आये, तब उन्होंने देखा कि एक दुर्बल वृद्ध ब्राह्मण अञ्जलिमें बालू लेकर बार-बार गङ्गामें डाल रहा है । उन्होंने पूछा—'विप्रवर! आप यह क्या कर रहे हैं ?'

वृद्ध ब्राह्मणने उत्तर दिया—'लोगोंको यहाँ गङ्गाके उस पार जानेमें बड़ा कष्ट होता है, इसलिये मैं गङ्गापर पुल बाँध देना चाहता हूँ ।'

यवक्रीत बोले—'भगवन्! आप इस महाप्रवाहको बालूसे किसी प्रकार बाँध नहीं सकते । इसलिये इस असम्भव कार्यको छोड़कर जो कार्य हो सके, उसके लिये प्रयत्न कीजिये ।'

अब वृद्धने घूमकर यवक्रीतकी ओर देखा और कहा—'तुम जैसे तपस्याके द्वारा वैदिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, वैसे ही मैं भी यह कार्य कर रहा हूँ । तुम यदि असाध्यको साध्य कर सकोगे तो मैं क्यों नहीं कर सकूँगा ?'

ब्राह्मण कौन है, यह यवक्रीत समझ गये । उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—'देवराज! मैं अपनी भूल समझ गया । आप मुझे क्षमा करें ।' (महाभारत, वन० १३५)

महर्षि पुलस्त्यकी सार्वजनीन शिक्षा

पद्मपुराणमें कथा आती है कि पितृभक्त भीष्मने तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में तप किया था। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माने अपने पुत्र पुलस्त्यको तत्त्व-ज्ञानकी शिक्षा देनेके लिये उनके पास भेजा। भीष्मकी अनेक जिज्ञासाएँ थीं, जिनकी पूर्ति पुलस्त्यने की।

भीष्मपितामहने महर्षि पुलस्त्यसे पूछा—'ब्रह्मन्! जो सभी स्त्री-पुरुषोंके लिये उपयोगी कर्म हों, उन्हें बतलाइये।' इसपर महर्षि पुलस्त्यने कहा—'मैं तुम्हें ऐसे पाँच आख्यान सुनाऊँगा, जिनमेंसे एकका भी अनुष्ठान करके मनुष्य इस लोक और परलोकमें अभ्युदय प्राप्त कर सकता है, साथ ही वह मोक्षका भी भागी हो सकता है। वे आख्यान ये हैं—(१) माता-पिताकी पूजा, (२) पतिकी सेवा, (३) सबके प्रति समानता, (४) किसीसे द्रोह न करना और (५) विष्णुभगवान्‌की उपासना।

(१) माता-पिताकी सेवा (महात्मा मूककी कथा)—महर्षि पुलस्त्यने इन पाँचोंको पञ्चमहायज्ञ माना है। उन्होंने बताया कि माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका प्रतीक है। इनकी सेवा करनेसे सम्पूर्ण धर्मोंकी प्राप्ति हो जाती है। पुत्रके लिये माता-पिताकी सेवासे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। पुत्र यदि माता-पिताकी सेवा छोड़कर तीर्थ या देवताओंकी सेवा करे तो उसे उसका फल नहीं मिलता। इस सम्बन्धमें एक इतिहास है—

पूर्वकालमें नरोत्तम नामका एक ब्राह्मण था। वह माता-पिताकी सेवा छोड़कर तीर्थाटन करने लगा। ब्राह्मण विधि-विधानसे तीर्थ-यात्रा कर रहा था। उससे कोई पाप नहीं हो रहा था। वह खान-पान, रहन-सहनमें नियन्त्रित था। इस पुण्यके प्रभावसे उसके कपड़े आकाशमें अपने-आप सूखा करते थे। यह देखकर ब्राह्मणके मनमें अहंभाव आ गया। वह सोचने लगा कि 'मेरे समान और कोई तपस्वी नहीं है।' एक दिन वह अपने मुखसे अपनी प्रशंसा कर रहा था कि एक बगुलेने उसके मुँहपर बीट कर दी। ब्राह्मणको क्रोध आ गया और उसने बगुलेको शाप दे दिया। बेचारे बगुलेकी मृत्यु हो गयी। ब्राह्मणमें अब और मोहका संचार हो गया। वह समझने लगा कि मैं जिसे चाहूँगा, उसे भस्म कर दूँगा, किंतु उसका सोचना गलत था। इतनेमें आकाश-वाणी हुई—'ब्राह्मण! तुम परम धर्मात्मा मूक चाण्डालके पास जाओ। वहाँ जानेसे तुम्हें अपने कर्तव्यका बोध होगा।' ब्राह्मण पूछता हुआ मूक चाण्डालके पास पहुँचा। उसने देखा कि मूक चाण्डालका घर बिना भित्तिके ही आकाशमें स्थित है और उस घरमें एक ब्राह्मण भी बैठा हुआ था। मूक चाण्डाल अपने माता-पिताकी सेवामें दत्तचित्त था। वह जाड़ेके दिनोंमें उनके लिये गर्म पानीका प्रबन्ध करता, गर्म-गर्म भोजनकी व्यवस्था रखता और रूईदार कपड़ोंको पहनाता था। इसी तरह गरमी और बरसातमें भी ऋतुके अनुसार भोजन और वस्त्रोंसे उनका पूरा-पूरा सम्मान करता था।

ब्राह्मणने महात्मा मूकसे कहा—'तुम मेरे पास आओ और मेरे हितकी बात बताओ।' मूक चाण्डालने उसका स्वागत किया और कहा—'आप मेरे अतिथि हैं। मैं आपका आतिथ्य अवश्य करूँगा। आप थोड़ी देर प्रतीक्षा करें। आप दरवाजेपर ठहर जाइये, क्योंकि मैं माता-पिताकी सेवामें लगा हूँ और यह मेरे लिये अतिथि-सेवासे बढ़कर कर्तव्य है।'

यह सुनकर ब्राह्मणको क्रोध हो आया। वह बोला—'ब्राह्मणकी सेवासे बढ़कर तुम्हारे लिये और कौन सेवा हो सकती है? यदि मेरी उपेक्षा करोगे, तो मैं शाप दे दूँगा।' महात्मा मूकने अनुनयपूर्वक कहा—'महाराज! मैं बगुला नहीं हूँ कि आपके शापसे भस्म हो जाऊँगा। अब आपकी धोती आकाशमें नहीं सूखा करती। आप आकाशवाणी सुनकर मेरे घर आये हैं, थोड़ी देर ठहरें तो मैं आपकी सेवा अवश्य करूँगा। यदि शीघ्रता हो तो आप पतिव्रताके पास जायँ। उनसे आपको समुचित शिक्षा मिल सकेगी।'

(२) पतिकी सेवा (शुभाकी कथा)—ब्राह्मण पतिव्रताके घरकी ओर चल पड़ा तो इसी बीच महात्मा मूकके घरमें स्थित ब्राह्मणरूपधारी भगवान् विष्णु बाहर

निकल आये और उस ब्राह्मणसे बोले कि 'चलो, मैं पतिव्रताका घर बतला देता हूँ ।' ब्राह्मणने भगवान्से पूछा कि 'आप ब्राह्मण होकर उस चाण्डालके घरमें क्यों रहते हैं? वहाँ तो स्त्रियाँ भी रहती हैं?' भगवान्ने कहा—'ब्राह्मण! इस समय तुम्हारा हृदय शुद्ध नहीं है । पीछे तुम मुझे पहचान सकोगे । पतिव्रता आदिके दर्शनके बाद ही यह योग्यता तुममें आयेगी !' ब्राह्मणने पूछा—'भगवन्! वह पतिव्रता कौन है, जिसके पास हमलोग चल रहे हैं?'

भगवान्ने कहा—'पतिव्रता स्त्री वह होती है जो निरन्तर अपने पतिकी सेवामें लगी रहती है । ऐसी पतिव्रता स्त्री अपने पिता और पतिके दोनों कुलोंकी सौ-सौ पीढ़ियोंका उद्धार कर देती है ।'

जब वे पतिव्रताके घरके पास पहुँचे, तब भगवान् सहसा अन्तर्धान हो गये । ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ । ब्राह्मणने पतिव्रताके दरवाजेपर आवाज लगायी । अतिथिकी बोली सुनकर पतिव्रता शीघ्रतापूर्वक घरसे बाहर निकली । उसने अतिथिका सम्मान किया । ब्राह्मणने कहा—'देवि! आप अपनी समझके अनुसार मुझे मेरे हितकी शिक्षा दें ।' सतीने कहा—'आप मेरा आतिथ्य स्वीकार करें । इस समय मैं पतिकी सेवामें हूँ । इससे अवकाश मिलनेपर आपकी सेवा करूँगी ।' ब्राह्मणने कहा—'इस समय मुझे भूख-प्यास नहीं है, अतः मुझे आतिथ्य नहीं स्वीकार करना है । मुझे तो मेरे हितकी बात बताओ, नहीं तो मैं शाप दे दूँगा ।'

पतिव्रताने कहा—'ब्राह्मण! मैं वह बगुला नहीं हूँ कि आपके जलाये जल जाऊँगी, अतः आप शाप देनेका कष्ट न करें । यदि आपको जल्दी है तो आप तुलाधार वैश्यके पास जाइये ।' ऐसा निवेदन कर पतिव्रता अपने पतिकी सेवामें लग गयी । ब्राह्मणने पतिव्रताके घरमें भी चाण्डालके घरकी तरह उन्हीं विप्ररूपधारी भगवान्को देखा । उन्हें देखकर ब्राह्मण पतिव्रताके घरमें घुस गया । वहाँ उसे उसके पतिदेवके भी दर्शन हुए । ब्राह्मणने भगवान्से पूछा—'दूसरे देशमें मेरे ऊपर बीती हुई घटनाको इस पतिव्रताने कैसे बतला दिया? चाण्डालने भी बता दिया था । ये लोग उस घटनाको कैसे जान गये?'

भगवान्ने कहा—'अत्यन्त पुण्य और शुद्ध आचरणसे तीनों कालका ज्ञान हो जाता है । यह बताओ कि पतिव्रताने तुमसे क्या कहा?' ब्राह्मणने कहा—'पतिव्रताने तुलाधार वैश्यके पास जानेको कहा है ।' भगवान्ने कहा कि 'चलो, हम तुम्हारे साथ चलते हैं ।' ब्राह्मणने तुलाधारके सम्बन्धमें भगवान्से पूछा ।

(३) सबके प्रति समानता (तुलाधारकी कथा)

—भगवान्ने कहा—'तुलाधार वाणिज्य-व्यवसायमें लगे रहते हैं । उनकी विशेषता यह है कि वे सबमें भगवान्को देखते हैं, अतः सबका सम्मान करते हैं । इसलिये उनसे कभी मन, वाणी या कर्मसे किसीका अहित नहीं हुआ । वे सबके उपकारमें सदा तत्पर रहते हैं । यह समताकी दृष्टि उनमें अद्भुत है । दूसरी विशेषता यह है कि आजतक कभी वे झूठ नहीं बोले हैं । इसलिये सब लोग उन्हें धर्म तुलाधार कहते हैं ।'

थोड़ी देरमें दोनों तुलाधारके पास पहुँचे, उन्हें बहुत-सी स्त्रियों एवं पुरुषोंने घेर रखा था । ब्राह्मणको वहाँ उपस्थित देखकर महात्मा तुलाधारने ब्राह्मणसे पूछा कि 'महाराज! आपका पधारना कैसे हुआ?' ब्राह्मणने कहा—'मैं आपसे धर्मका उपदेश सुनने आया हूँ ।' महात्मा तुलाधारने कहा—'मैं राततक भीड़से निश्चिन्त नहीं हो पाऊँगा । इसलिये आप धर्माकरके पास जाइये । वे आपको बगुलेके जलानेसे उत्पन्न दोष और आकाशमें धोती न सूखनेके रहस्यको बतायेंगे ।' ब्राह्मण भगवान्के साथ धर्माकरके पास चल पड़ा । भगवान्ने उसे उसके घरतक पहुँचा दिया । मार्गमें ब्राह्मणने भगवान्से पूछा कि 'जो प्रातःकालसे राततक जनताकी भीड़में पड़ा रहता है, वह तुलाधार न संध्या करता है, न तर्पण, अपना साधन-भजन भी पूरी तरह नहीं कर पाता, फिर उसमें इतनी शक्ति कहाँसे आ गयी, जिससे उसने मेरी बीती हुई घटनाओंको देख लिया?'

भगवान्ने बतलाया कि 'उसके पास सत्य और समता दो गुण हैं । वह प्रत्येक प्राणीमें भगवान्को देखता है और उसकी सेवा करता रहता है । इस तरह तुलाधारने सत्य और समताके द्वारा तीनों लोकोंको जीत लिया है । इसीलिये देवता, ऋषि और पितर उसपर प्रसन्न रहते हैं और उसे दिव्य

दृष्टि मिल गयी है। जो किसी प्रकार समताकी दृष्टि अपनाता है, वह अपनी समस्त पीढ़ियोंका उद्धार कर लेता है। समताके अपनानेसे इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह आदि गुण अपने-आप आ जाते हैं।'

(४) किसीसे द्रोह न करना (धर्माकरकी कथा) —इसके बाद ब्राह्मणने धर्माकरके सम्बन्धमें जानना चाहा। उसने पूछा कि 'जिन धर्माकरके पास हम चल रहे हैं, उनमें क्या विशेषता है?' भगवान्‌ने कहा—'उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे किसीसे द्रोह नहीं करते। अपने अपकारीका भी उपकार ही करते हैं। इसलिये उनका नाम ही अद्रोहक पड़ गया। अद्रोहकी साधनाके कारण उनमें समस्त गुण अपने-आप आ गये हैं। उनके-जैसा काम और क्रोधको जीतनेवाला व्यक्ति खोजनेपर भी नहीं मिलेगा। इस सम्बन्धमें मैं एक पिछली घटना सुनाता हूँ—

'एक राजकुमारको राज-काजसे छः महीनेके लिये विदेश जाना था। उन्हें अपनी स्त्रीकी चिन्ता हो गयी कि इसे मैं कहाँ छोड़ जाऊँ कि यह पवित्र बनी रहे? उन्हें धर्माकरपर विश्वास था। वे अपनी पत्नीको लेकर धर्माकरके पास पहुँचे। उनसे उन्होंने अपनी पत्नीकी रक्षाका प्रस्ताव किया।'

धर्माकरने कहा—'मैं न तो आपका भाई हूँ, न सगा-सबन्धी, फिर मेरे पास अपनी पत्नीको छोड़कर विदेशमें आप कैसे निश्चिन्त रह सकते हैं?' राजकुमारने कहा—'मेरा आपपर पूर्ण विश्वास है।' धर्माकरने कहा—'आपकी पत्नी बहुत सुन्दरी हैं, अतः इनके सतीत्वकी रक्षा बहुत कठिन है; क्योंकि ऐसे मनुष्योंकी कमी नहीं है, जो कामासक्त न हों। उनसे इनके सतीत्वकी रक्षा मैं कैसे कर सकता हूँ?' राजकुमारने दृढ़तासे कहा—'जैसे भी हो, यह भार आप स्वीकार कर लें।'

बेचारा धर्माकर धर्मसंकटमें पड़ गया। राजकुमारको धर्माकरपर पूरा विश्वास था। इसलिये उसने अपनी पत्नीसे कहा कि 'जैसा ये आदेश दें वैसा ही करना। यह मेरी आज्ञा है।' ऐसा कहकर राजकुमार चला गया।

धर्माकरने राजकुमारकी पत्नीको उसकी सुरक्षाके लिये अपने संरक्षणमें रखा। धर्माकरकी भावना इतनी ऊँची थी कि उसके प्रति मातृभाव एवं बहनके भावके अतिरिक्त और कोई भाव नहीं आता था। धीरे-धीरे अपनी पत्नीके प्रति भी उसकी काम-भावना समाप्त हो गयी। छः महीने बाद राजकुमार लौटा। धर्माकरके पास आते समय उसने वहाँके लोगोंसे अपनी पत्नी और उसके सम्बन्धकी बात पूछी। छिछले विचारवालोंका कहना था—'तुमने अपनी पत्नी उसे सौंप दी। ऐसी स्थितिमें वह कैसे सुरक्षित रह सकती है?' प्रायः बहुत-से लोगोंने राजकुमारके समक्ष यही विचार रखा, किंतु राजकुमारको धर्माकरपर विश्वास था। उसने किसीके विचारपर ध्यान नहीं दिया। जब वह धर्माकरके पास पहुँचा तो वह घरसे बाहर दुःखी होकर बैठा था। उसकी पत्नी और राजकुमारी भीतर बैठी थीं। राजकुमारीका चेहरा अपने पतिके मुखको देखकर बहुत प्रसन्न था, किंतु धर्माकरके मुखपर शोककी छाया स्पष्ट दीख रही थी। राजकुमारने धर्माकरसे कहा—'आपने मेरा बड़ा उपकार किया है। आपके भरोसे पत्नीसे निश्चिन्त होकर मैं अपना राजकार्य अच्छी तरह कर सका। अब मैं अपनी पत्नीको लौटाने आया हूँ, किंतु आप प्रसन्नमनसे मुझसे बोलते क्यों नहीं हैं? आप दुःखी क्यों दीखते हैं?'

धर्माकरने कहा—'मैं अपनी तपस्याके बलसे जान गया हूँ कि मेरे प्रति लोग अनर्गल बात कह रहे हैं। इस तरह मेरा लोकापवाद हो रहा है। लोकापवादसे बचना चाहिये, इसलिये मैंने आग जला रखी है। इसमें पूरी ज्वाला उठ रही है। इसीमें कूदकर मैं अपनेको निर्दोष प्रमाणित करूँगा। आप थोड़ी देर ठहर जायँ।' इतना कहकर धर्माकर उस धधकती हुई आगमें कूद पड़े, किंतु उस आगसे उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। वे उसी तरह ज्वालाओंमें सुखपूर्वक खड़े रहे, मानो घरमें खड़े हों। इसी बीच आकाशसे पुष्पवृष्टि होने लगी। देवताओंने आकर धर्माकरको आगसे निकाल लिया और उनकी प्रशंसा की। जिन लोगोंने धर्माकरके प्रति दुर्वचन कहे थे, उनके मुखपर कुष्ठ हो गया। देवताओंने तबसे धर्माकरका नाम सज्जनाद्रोहक रख दिया और राजकुमारसे कहा—'तुम अपनी पत्नीको ले जाओ,

वह बिलकुल शुद्ध है ।'

देवताओंने संसारको सूचित कर दिया कि धर्माकरके हृदयमें भगवान् वासुदेव सदा उपस्थित रहते हैं । उन्हींकी भक्तिके प्रभावसे इसने काम और लोभपर विजय प्राप्त की है । काम अत्यन्त दुर्जय है । यद्यपि देवता, असुर, मनुष्य, राक्षस, मृग, कीट, पतंग इससे प्रभावित रहते हैं तथापि भगवत्कृपासे धर्माकरने काम और लोभको जीत लिया है ।

विप्ररूपधारी भगवान् नरोत्तमको अद्रोहकका घर बताकर अदृश्य हो गये । नरोत्तमने अद्रोहकसे प्रार्थना की कि 'आप मुझे कुछ हितकी शिक्षा दें ।' अद्रोहकने नरोत्तमको वैष्णवके पास भेजा और कहा कि 'अब तुम्हें कहीं नहीं जाना पड़ेगा, तुम्हारी मनःकामना वहीं पूरी हो जायगी ।'

(५) विष्णुभगवान्की उपासना (वैष्णव ब्राह्मणकी कथा)—जब नरोत्तम वैष्णव ब्राह्मणके पास पहुँचा तो उसे दिव्य तेजसे घिरा हुआ पाया । वैष्णवने नरोत्तमका सम्मान किया और कहा कि 'तुम्हें देखकर मुझे प्रसन्नता हो रही है और यह मालूम पड़ रहा है कि आज तुम्हारा कल्याण हो जायगा । मेरे घरमें भगवान् विष्णु प्रत्यक्ष रूपसे स्थित रहते हैं, तुम जाओ और उनका दर्शन करो ।' वहाँ जाकर नरोत्तमने कमलके आसनपर बैठे हुए उसी ब्राह्मणको देखा, जो मूक चाण्डाल और शुभा आदिके घरमें विद्यमान थे और इसे रास्ता बतला रहे थे । नरोत्तम समझ गया कि ब्राह्मणके वेषमें भगवान् विष्णु ही मूक चाण्डालादिके घरमें स्थित थे । उसने गद्‌गद होकर प्रार्थना की कि 'अब आप अपना स्वरूप दिखाइये ।' भगवान्ने उसे अपना साक्षात् स्वरूप दिखाया और उससे वरदान माँगनेके लिये कहा । ब्राह्मणने कहा कि 'मेरा मन आपमें ही सदा लगा रहे, अन्य किसी वस्तुके प्रति मेरी इच्छा न हो ।' भगवान्ने कहा—**'तथास्तु'** । इसके बाद उन्होंने बताया कि 'पुत्रका कर्तव्य है कि वह माता-पिताकी निरन्तर सेवा करे । तुम्हारे माता-पिता तुमसे आदर नहीं पा रहे हैं । तुम जाकर उनकी पूजा करो । उनकी पूजासे तुम्हारा कल्याण होगा, क्योंकि तुम्हारे पिता तुम्हारे लिये दुःखी हैं । उनके दुःखपूर्ण उच्छ्वाससे तुम्हारी तपस्या प्रतिदिन नष्ट होती जा रही है । यदि माता-पिता कोप करें तो ब्रह्मा भी उसे नहीं बचा सकते । तुम्हारा पहला कर्तव्य है कि तुम सीधे माता-पिताके पास जाओ और भलीभाँति उनकी पूजा करो । उन्हींकी कृपासे तुम मेरे धाममें आओगे ।'

जब लीला-संवरणका समय आया, तब मूक चाण्डाल, शुभा, तुलाधार, अद्रोहक और वैष्णव ब्राह्मणके लिये विष्णुलोकसे विमान आये और स्वागतके साथ उनका परधामगमन हुआ । पद्मपुराणकी इस कथासे भगवान्की अहैतुकी कृपाकी ओर ध्यान जाता है । नरोत्तम माता-पिताका अनादर कर जो भी धर्माचरण करता था, वह उनके अनादरके कारण नष्ट हो जाया करता था । यदि भगवान् पग-पगपर उसका साथ न देते—पाँच महापुरुषोंका दर्शन न कराते और फिरसे माता-पिताकी सेवाका उपदेश न देते तो नरोत्तमका उद्धार कभी सम्भव नहीं होता । भगवान् इतने दयालु हैं कि अपने भक्तकी पग-पगपर रक्षा करते हैं। ऐसे करुणावरुणालय भगवान्का साक्षात्कार ही यथार्थ-शिक्षाका परम लक्ष्य है ।—क्रमशः

अपना चित्त शुद्ध हो तो शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, सिंह और साँप भी अपना हिंसाभाव भूल जाते हैं, विष अमृत हो जाता है, आघात हित होता है, दुःख सर्वसुखस्वरूप फल देनेवाला बनता है, आगकी लपट ठंडी-ठंडी हवा हो जाती है । जिसका चित्त शुद्ध है, उसे सब जीव अपने जीवनके समान प्यार करते हैं । कारण, सबके अन्तरमें एक ही भाव है ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः

[भारतवर्षका साधु जीवन स्वयंमें एक शिक्षा है । साधुतामें विचार, दर्शन, साधना और अनुभूति आदि तो रहे ही, सामाजिकता भी उसकी पकड़के बाहर नहीं रही । मनुष्यके विकासमें उनका हर प्रकारका सहयोग सदैव रहा है । परम्पराप्राप्त दार्शनिक सर्वश्री शंकर, रामानुज और मध्व-जैसे व्यक्तित्वोंमें जिस प्रकार दर्शन, साधना और स्वानुभव तथा लोक-शिक्षाकी दृष्टि थी, उसी प्रकार तथाकथित नास्तिक दर्शन भी इन गुणोंसे वञ्चित नहीं थे । यहाँतक कि भक्ति-आन्दोलनके साधु, जो दर्शनके तर्क-वितर्कमें उतनी रुचि नहीं रखते थे और अनुभवोंको ही प्राथमिकता देते थे, दर्शनके सरल और लोक-शिक्षापरक स्वरूपको सदैव सामने रखकर चले ।

भारतवर्षके साधु-चरित्र व्यक्तियोंने स्वयं उसी रास्तेपर चलकर वास्तविक स्वतन्त्रता और समानताकी आदर्श शिक्षा दी । साथ ही शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्वके तो वे जाने-माने प्रतीक ही थे ।

देव, मनुज, ऋषि, महर्षि, आचार्य तथा संत-महात्माओंकी शिक्षाओं और उनके लीला-प्रसङ्गोंको देश, काल और पात्रके आधारपर अलग अवश्य किया जा सकता है, किंतु यदि सूक्ष्म-दृष्टिसे देखा जाय तो वे एक ही सूत्रसे आबद्ध प्रतीत होंगे । वास्तवमें देश, काल, पात्रसे परे उनकी यह एकसूत्रता ही लोक और परलोक दोनों ही दृष्टियोंसे सबसे बड़ी शिक्षा है । इसीलिये पृथ्वीके सम्पूर्ण मानव इन महान् आत्माओंके चरित्रसे सहजरूपमें स्वतः शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं ।—सम्पादक]

श्रीब्रह्मा



ब्रह्माके पदपर जीव भी आते हैं । अश्वमेधोपासना आदि इसके साधन हैं । समस्त लोकोंकी रचना ब्रह्माजी ही करते हैं । चर-अचर सभी प्राणी ब्रह्माके ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं । ब्रह्मा ही पुराणोंके आदिस्मर्ता और वेदोंके आदिद्रष्टा हैं ।

सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माने अपनेको कमलपर बैठा पाया । उस कमलकी चमक करोड़ों सूर्योंके समान थी । वह अनन्त योजन विस्तृत था । अद्भुत कमल था । कमल क्या था, ब्रह्माण्ड था । ब्रह्माने चारों ओर देखा, किंतु कमलको छोड़कर और कुछ दिखायी न दिया । 'मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, किसने मेरा जन्म दिया है, मुझे क्या करना है' आदि विचार उनके मनमें उठ रहे थे, पर कोई समाधान मिल नहीं रहा था । उन्होंने सोचा कि मेरे जनकका पता चल जाय, तो सब समाधान मिल जाय । वे कमलका नाल पकड़कर नीचे उतरे, किंतु कुछ पता न चला । केवल ध्वनि सुनायी दी—'तपस्या करो, तपस्या करो ।'

ब्रह्माने तपस्या की । तपस्यासे उन्हें भगवान् विष्णुके दर्शन हुए । भगवान् विष्णुका मुखारविन्द प्रसन्नतासे खिला हुआ था । वे करोड़ों कामदेवोंके समान सुन्दर थे । उनकी छविपर ब्रह्मा मोहित हो गये ।

भगवान् विष्णुने ब्रह्माको सृष्टि-निर्माणके लिये आदेश दिया । ब्रह्माने तपस्या कर पहले समस्त पुराणोंका स्मरण किया, उसके पश्चात् उनके मुखोंसे ईश्वरके भेजे हुए वेद उच्चरित होने लगे । वेदोंको पाकर उन्हींके शब्दोंकी सहायतासे ब्रह्माने सृष्टिका निर्माण किया ।

नारदको नाम-जपकी शिक्षा—पद्मपुराणमें ब्रह्माने

अपने पुत्र नारदको नाम-जपकी शिक्षा इस प्रकार दी है—'पुत्र ! इस कलियुगमें नाम-कीर्तनपूर्वक भगवान्‌की भक्ति विशेष महत्त्व रखती है । जिन बड़े-बड़े पापोंका प्रायश्चित्त शास्त्रोंमें नहीं बताया गया है, उनकी शुद्धिके लिये भगवान्‌का स्मरण और 'नाम-जप' उत्तम साधन है—

अस्मिन् कलौ विशेषेण नामोच्चारणपूर्वकम् ।
भक्तिः कार्या यथा वत्स तथा त्वं श्रोतुमर्हसि ॥
दृष्टं परेषां पापानामनुक्तानां विशोधनम् ।
जिष्णोर्विष्णोः प्रयत्नेन स्मरणे पापनाशनम् ॥

(पद्मपु० उत्तर० ७२ । ९-१०)

शास्त्रोंमें जितने पापोंके प्रायश्चित्त बतलाये गये हैं, वे घोर तपस्यारूप हैं, उन समस्त प्रायश्चित्तोंसे बढ़कर है— भगवान्‌का स्मरण करना—

प्रायश्चित्तानि सर्वाणि तपःकर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥

(पद्मपु० उत्तर० ७२ । १३)

सांसारिक वस्तुओंको मिथ्या जानकर जो भगवान्‌के नामका पाठ या जप करता है, वह सब पापोंसे छूटकर विष्णुके परमपदको प्राप्त करता है—

मिथ्या ज्ञात्वा ततः सर्वं हरेर्नाम पठञ्जपन् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति विष्णोः परं पदम् ॥

(पद्मपु० उत्तर० ७२ । ११)

जप, होम, पूजा आदि करते समय अपना मन भगवान्‌के स्मरणमें लगाना चाहिये । ऐसा करनेसे सब कर्म एक कल्पतक अक्षय हो जाते हैं—

वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु ।
तदक्षयं विजानीयाद् यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥

(पद्मपु० उत्तर ७२ । १६)

समान बनो—सबसे पहले ब्रह्माने ही विश्वको वेदोंका उद्‌घोष सुनाया है । निम्नलिखित वैदिक साम्यकी शिक्षा उन्हींसे मनुष्योंको प्राप्त हुई । साम्ययोगको बतलानेवाली ये ऋचाएँ ऋक्संहिताके उपसंहारमें आयी हैं—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

(ऋग्० १० । १९१ । २)

'तुमलोग संगठित रहो । विरोध छोड़कर समान वाक्य बोलो । तुमलोगोंका मन समान अर्थका ही ग्रहण करे । जैसे पुराने देव एकमत होकर हवि ग्रहण करते थे, वैसे तुमलोग भी एकमत होकर अपना-अपना भाग ग्रहण करो ।'

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।

(ऋग्० १० । १९ । ३)

'तुम्हारा विचार समान हो । तुम जो पाओ, वह समान रहे । तुम्हारा अन्तःकरण समान रहे । विचारके मन्थनसे उत्पन्न जो तुम्हारा ज्ञान है, वह भी समान रहे ।'

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्० १० । १९१ । ४)

'तुम्हारा संकल्प समान हो । तुम्हारे हृदय समान हों । तुम्हारे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार समान हों । जैसे भी तुमलोगोंका सुन्दर सहभाव हो सके वैसा करो ।'

मनुष्य देखनेमें कोई रूपवान्, कोई कुरूप, कोई साधु, कोई असाधु देख पड़ते हैं, परंतु उन सबके भीतर एक ही ईश्वर विराजते हैं । दुष्ट मनुष्यमें भी ईश्वरका निवास है, परंतु उसका संग करना उचित नहीं । साधनावस्थामें ऐसे मनुष्योंसे, जो उपासनासे ठट्ठा करते हैं, धर्म तथा धार्मिकोंकी निन्दा करते हैं, एकदम दूर रहना चाहिये । जिसके मनमें ईश्वरका प्रेम उत्पन्न हो गया, उसे संसारका कोई सुख अच्छा नहीं लगता । जो प्रभुके प्रेममें बावला हो गया है, जिसने अपना सब कुछ उनके चरणोंमें अर्पण कर दिया है, उसका सारा भार प्रभु अपने ऊपर ले लेते हैं ।

श्रीविष्णु



'त्रिदेव' शब्दसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश लिये जाते हैं। इन पदोंपर कभी तो परब्रह्म परमात्मा ही अवतीर्ण होकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं और कभी-कभी जीव भी आ जाते हैं। शिवपुराणमें परब्रह्म परमात्मा शिवके पदपर और श्रीमद्भागवतमें विष्णुके पदपर आये हैं। इसी बातको सूचित करनेके लिये विष्णुको 'महाविष्णु' कहा जाता है।

शिक्षा प्रायः दो प्रकारसे दी जाती है—(१) चरित्रके माध्यमसे और (२) वाणीके माध्यमसे।

चरित्रसे परोपकारकी शिक्षा—भगवान् विष्णुका सम्पूर्ण चरित्र ही शिक्षाकी मूर्ति है। परोपकार, दया, दाक्षिण्य, सुशीलता, विनम्रता आदि गुणोंकी शिक्षा इनके चरित्रके मुख्य अङ्ग हैं। ये आप्तकाम हैं, आनन्दरूप हैं। इन्हें किसीसे क्या लेना है? फिर भी वे विश्वके दुःख-दर्द मिटानेके लिये और आनन्दका अनन्त सागर लहरानेके लिये भिन्न-भिन्न रूपोंमें अवतार लेते हैं। किसी अन्तर्दर्शीने कहा है—

परोपकारकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः।
गुर्वीमुपकृतिं मत्वा ह्यवतारान् दशाग्रहीत्॥

अर्थात् 'भगवान् विष्णुने तराजूके एक पलड़ेपर परोपकारको रखा और दूसरेपर मोक्षको—तौलनेपर परोपकारका पलड़ा भारी पड़ गया। अतः उन्होंने अनेक अवतार लिये, जिनमें दस मुख्य हैं।'

भगवान् विष्णु वेदरूप हैं। अतः जितनी शिक्षाएँ हैं, सब उन्हींकी देन हैं। यहाँ सभीका समावेश कैसे सम्भव हो सकता है? परंतु कुछ शिक्षाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

चरित्रसे सुशीलताकी शिक्षा—एक बार सरस्वती नदीके तटपर यज्ञ करनेके लिये ऋषियोंका बहुत बड़ा समुदाय एकत्र हुआ। उनमें यह विचार चल पड़ा कि 'तीनों देवोंमें किसे बड़ा माना जाय?' लोगोंने इसके लिये तीनोंकी परीक्षा करनी चाही। इस कार्यके लिये सर्वसम्मतिसे भृगुको नियुक्त किया गया।

भृगु सबसे पहले अपने पिता ब्रह्माके पास पहुँचे। परीक्षा लेनी थी। अतः उन्होंने पिताको न तो प्रणाम किया और न उनकी स्तुति ही की। यह घोर अशिष्टता थी। ब्रह्माको भृगुसे ऐसी आशा न थी। वे उबल पड़े। भृगु चुपचाप खड़े रहे। पीछे ब्रह्माने विवेकसे क्रोधको दबा दिया।

इसके बाद भृगु कैलास गये। शंकर अपने भाई भृगुको आया देख प्रेममें उतावले हो गये। उन्होंने अपनी दोनों बाँहें फैला दीं, जिससे भाईको हृदयमें समेट लें, किंतु भृगुने इनके इस भ्रातृभावका कोई अनुकूल उत्तर न दिया। उल्टे फटकारते हुए कहा— 'तुम लोक और वेदकी मर्यादाका उल्लङ्घन कर रहे हो। तुमसे मैं नहीं मिलता।' शंकरको भृगुकी अज्ञतापर क्रोध आ गया। भगवती सती माताने अनुनय-विनयकर इनका क्रोध शान्त किया।

अब भृगु वैकुण्ठ पहुँचे। उस समय भगवान् विष्णु लक्ष्मीमाताकी गोदमें सिर रखकर लेटे हुए थे। भृगुने जाते ही भगवान्के वक्षःस्थलपर कसकर एक लात जमा दी। भगवान् तो भक्तवत्सल ठहरे। वे झट अपनी शय्यासे नीचे उतर गये। माताजी भी उतर गयीं। भगवान्ने सिर झुकाकर मुनिको प्रणाम किया और कहा— 'ब्रह्मन्! आपका स्वागत है। आइये, इस आसनपर बैठकर विश्राम कीजिये। मुझे आपके आनेका पता न चला, इसलिये आपकी अगवानी न कर सका। इस अपराधको क्षमा करें।' ऐसा कहकर वे भृगुके चरणोंको सहलाने लगे।

भृगु गद्गद हो गये। उनकी आँखोंसे आँसू टपक पड़े। वे सोचने लगे—कैसी अनूठी विनम्रता है? इसमें कितना सुवास है? कितनी मिठास है?

श्रीमुखसे ज्ञानकी शिक्षा—ब्रह्मा जब प्रकट हुए,

तब उन्होंने अपनेको एकाकी पाया । वे इतना भी नहीं समझ पाते थे कि मैं कौन हूँ और मुझे क्या करना है । तब उन्होंने तपस्या की, जिससे भगवान्के दर्शन हुए । ब्रह्माजीने उनसे प्रार्थना की कि 'आप मुझे तत्त्वोंकी एवं कर्तव्यकी शिक्षा दें ।' तब भगवान्ने ब्रह्माजीको चतुःश्लोकी श्रीमद्भागवतकी शिक्षा दी । उन चार श्लोकोंमें चार तत्त्वोंका वर्णन है—पहला परमात्म-तत्त्व, दूसरा माया-तत्त्व, तीसरा जगत्-तत्त्व और चौथा आत्म-तत्त्व ।

(१) परमात्म-तत्त्व—पहले श्लोकमें परमात्म-तत्त्वका वर्णन है । भगवान् कहते हैं—'सृष्टिके पहले मैं-ही-मैं था । उस समय न स्थूल था, न सूक्ष्म और न प्रकृति ही थी । सृष्टि होनेके पश्चात् यह जो जगत् दिखायी देता है, वह भी मैं ही हूँ । प्रलय होनेके पश्चात् जो कुछ शेष रह जायगा, वह भी मैं ही हूँ'—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

(श्रीमद्भा० २ । ९ । ३२)

अर्थात् 'परमात्मा एक होता है, अद्वितीय होता है । सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेदोंसे शून्य होता है । परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ।' (ऐसा समझ लेनेपर अहंकारका अङ्कुर भी नहीं फूटता ।)

(२) माया-तत्त्व—जो वस्तु हो नहीं और मालूम पड़े वह माया है । जैसे आकाशमें आँखोंसे एक ही चन्द्रमा दीखता है, किंतु तिमिररोग या अँगुलीके सहारे दो चन्द्रमा दीखने लगते हैं । यह दूसरा चन्द्रमा वस्तुतः है नहीं, किंतु मायासे इसकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति हो जाती है । इसी प्रकार समस्त दृश्य-प्रपञ्च है नहीं, किंतु दिखायी देता है । अतः यह माया है ।

इसी तरह जो वस्तु विद्यमान हो और दीखे नहीं, तो यह भी माया है । जैसे ईश्वर सब जगह विद्यमान है, पर वह दीखता नहीं । अर्थात् माया आवरणशक्तिसे जीवको प्रभावित कर 'है' को छिपा देती है और विक्षेपशक्तिसे जो 'नहीं है' उसे दिखला देती है ।

मायाका यह प्रभाव केवल जीवपर पड़ता है । परमात्मापर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । यह दिखलानेके लिये **'यथाऽऽभासो यथा तमः'** कहा गया है । सूर्यकी दो शक्तियाँ है—(१) प्रकाश और (२) अन्धकार । प्रकाश अन्तरङ्ग-शक्ति है और अन्धकार बहिरङ्ग-शक्ति । सूर्यकी यह बहिरङ्गा शक्ति दूसरोंपर प्रभाव डालती है, सूर्यपर नहीं । अन्धकार तो सूर्यके सामने भी कभी नहीं जा पाता । यह तमकी बात हुई । इसी प्रकार सूर्यका आभास (प्रतिबिम्ब) जलमें पड़ सकता है, वह (प्रतिबिम्ब) स्वयं सूर्यपर नहीं पड़ता । इस दृष्टान्तसे यह दिखलाया गया है कि जैसे सूर्यसे ही आभास और तमकी सत्ता है, फिर भी ये दोनों सूर्यको प्रभावित नहीं करते, वैसे ही भगवान्की बहिरङ्गा शक्ति होकर भी माया भगवान्पर प्रभाव नहीं डाल पाती । उनके सामने भी नहीं जा पाती—

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥

(श्रीमद्भा० २ । ९ । ३३)

(३) जगत्-तत्त्व—जैसे प्राणियोंके पञ्चभूतोंसे बने शरीरोंमें पञ्चभूत प्रविष्ट होकर भी अप्रविष्ट रहते हैं, उसी तरह सबमें व्याप्त होकर भी मैं उनसे निर्लिप्त हूँ—

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥

(श्रीमद्भा० २ । ९ । ३४)

(४) आत्म-तत्त्व—आत्म-तत्त्वके जिज्ञासुओंके लिये इतना ही जानना पर्याप्त है कि जो अन्वय और व्यतिरेकसे सब जगह रहे, वह आत्मा है । जब सृष्टि न थी तब भी आत्मा था, जब सृष्टि बनी तब भी आत्मा है और जब सृष्टि न रहेगी तब भी आत्मा रहेगा—

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥

(श्रीमद्भा० २ । ९ । ३५)

श्रीमद्भागवतके माहात्म्यकी शिक्षा—यह तो चतुःश्लोकी भागवतका उल्लेख हुआ । भगवान् विष्णुने सम्पूर्ण भागवतकी भी शिक्षा दी थी और आवश्यक समझकर ब्रह्माको इसके महत्त्वकी भी शिक्षा दी है ।

उपयोगिताकी दृष्टिसे कुछ अंश यहाँ दिये जाते हैं। स्कन्दपुराणमें भगवान् विष्णुने ब्रह्मासे कहा है—

नित्यं भागवतं यस्तु पुराणं पठते नरः।
प्रत्यक्षरं भवेत् तस्य कपिलादानजं फलम्॥
यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं सुत।
अष्टादशपुराणानां फलमाप्नोति मानवः॥

'यदि मनुष्य प्रतिदिन भागवतका पाठ करता है, तो एक-एक अक्षरके उच्चारणसे कपिला गायके दानका फल प्राप्त होता है। पुत्र! यदि संयत-चित्तसे भागवतके एक श्लोकका भी कोई पाठ करता है, तो वह अठारह पुराणोंके पाठका फल पा जाता है।'

इसी प्रकार विष्णुभगवान्ने श्रीमद्भागवत-ग्रन्थके पूजन, घरमें रखने और दानकी भी महिमा बतलायी है। स्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डके मार्गशीर्ष-माहात्म्यके सोलहवें अध्यायमें इसका वर्णन आया है।

श्रीशिव



परब्रह्म परमात्मा एक है। लीलाके लिये वह एकसे अनेक हो जाता है। इस लीलामें उल्लास लानेके लिये और अपने प्रेमियोंकी रुचिको आदर प्रदान करनेके लिये वह कभी शिव, कभी विष्णु और कभी कृष्ण आदि नामों और रूपोंमें अभिव्यक्त होता है।

शिवपुराणमें उस परात्पर ब्रह्मका नाम 'शिव' है। जब वह सृष्टिकी रचनाकी इच्छा करता है, तब निर्गुणसे सगुण 'शिव' बन जाता है और अपने दाहिने भागसे ब्रह्माको तथा बायें भागसे विष्णुको प्रकट करता है। एक ही तत्त्व तीन नाम-रूपोंमें प्रकट हो जाता है। इसलिये तीनों देवोंमें कोई भेद नहीं होता। इसी पुराणमें अन्यत्र आया है कि शिवके परात्पर निर्गुण स्वरूपको 'सदाशिव', सगुण स्वरूपको 'महेश्वर', विश्वके सृजन करनेवाले स्वरूपको 'ब्रह्मा', पालन करनेवाले स्वरूपको 'विष्णु' और संहार करनेवाले स्वरूपको 'रुद्र' कहते हैं। इस तरह अनेकतामें एकता है।

नामोंसे शिक्षा—(कल्याणमय बनो और सबका कल्याण करो) 'शिव' का अर्थ होता है— 'कल्याण'। शंकरका अर्थ होता है— 'कल्याण' करनेवाला।' इन दो नामोंसे भगवान् शिक्षा देते हैं कि 'स्वयं कल्याणमय बनो और सबका कल्याण करते रहो।'

एक बार त्रिपुरासुरसे सारा संसार त्रस्त हो गया था। ब्रह्मासे वरदान पाकर तीनों असुर उसका दुरुपयोग कर रहे थे। तीनों भाई थे। तीनोंका नाम था— तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमललोचन। तीनों ही विश्वका नाश करनेपर तुल गये थे। उनके पास तीन नगर थे। नगर तो पृथ्वीपर बसते हैं, किंतु उनके तीनों पुर आकाशमें बसे थे। वे चाहे जहाँ आ-जा सकते थे। एक-एक पुर कई-कई कोसोंतक फैला हुआ था, किंतु वे इतने विलक्षण थे कि किसीको दिखायी नहीं देते थे। उनमें सारी लौकिक भोग-सामग्रियाँ तो भरी हुई थीं ही, अलौकिक वस्तुएँ भी थीं। उनमें मुख्य थे— सिद्धरससे लबालब भरे हुए कुएँ, जिनमें मरे हुए लोगोंको जिलानेकी अद्भुत शक्ति थी (श्रीमद्भा० ७।१०।६२-७१)। वे नगर क्या थे, आकाशमें बसे हुए बड़े-बड़े विमान थे। उनकी गति अद्भुत थी। वे क्षणभरमें चाहे जहाँ जा सकते थे। वे उन दिनोंके विज्ञानके अद्भुत अवदान थे। आजके विज्ञानके पास ऐसा कोई विमान नहीं है।

विज्ञानके वे उत्तम वैभव तो थे, किंतु उनके आरोहियोंने उनका खुलकर दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। क्षणभरमें वे नगर जब जहाँ-कहीं पहुँच जाते तो वहाँ धुआँधार अस्त्र-शस्त्र बरसाकर निरपराध लोगोंकी हत्या कर देते थे। अद्भुत विभीषिका फैल गयी थी। सब असुरक्षित थे। पता नहीं, किसके सिरपर कब मौत

बरस पड़े । पीड़ितोंने आशुतोषकी गुहार लगायी । ये ही तो सबका कल्याण करते हैं । ये ही अशरणकी शरण हैं । ये अपनी प्रजाका उत्पीड़न न सह सके । इन्होंने एक ही बाणसे सभीका संहार कर डाला । विश्वमें शान्ति छा गयी ।

चरित्रसे शिक्षा— (स्वयं विष पीओ, औरोंको अमृत पीने दो ।) एक बार देव और असुरोंने आपसमें मन्त्रणाकर अमृतके लिये समुद्रको मथना प्रारम्भ किया । मथते-मथते वे व्यग्र हो रहे थे । इसी बीच निकला हालाहल विष। उससे बहुत उग्र लपटें निकल रही थीं, जो क्षणभरमें चारों ओर फैल गयीं । त्राहि-त्राहि मच गयी । जो जहाँ पाया, भाग खड़ा हुआ । लोगोंने शिवको ही अपना रक्षक देखा । उन्हींकी शरण ली । भगवान् शंकरने समझ लिया कि देरी करनेसे यह विष तो संसारका ही संहार कर डालेगा । झट उन्होंने उस कालकूटको समेट कर पी लिया । विक्षुब्ध वातारणमें शान्ति आ गयी । लोगोंके जी-में-जी आया । विष पीकर शंकरने विश्वको बचा लिया था ।

समुद्र-मन्थनका काम फिरसे प्रारम्भ हो गया । श्रम सफल हुआ—अमृत निकल आया । लोगोंने उसका पान किया, किंतु शंकर ? शंकरसे अमृत-पानसे कोई सम्बन्ध न था । दूसरोंको अमृत पिलानेके लिये ही तो उन्होंने विषपान किया था । वे विष न पीते तो दूसरे अमृत नहीं पी सकते थे । यह है शंकरकी शंकरता ।

यदि आजका मानव इस शिक्षाको अपने जीवनमें उतार ले, तो आज ही पृथ्वीपर स्वर्ग उतर आये ।

वाचनिक शिक्षा (त्रिदेवमें भेदबुद्धि न करो)

ब्रह्माने समग्र सृष्टिकी रचना की, किंतु चतुःश्लोकी भागवतकी कृपासे उनमें अहंता न आ पायी । दक्षप्रजापति ब्रह्माके ही पुत्र थे; किंतु इन्होंने चतुःश्लोकी भागवतका सम्मान न किया । फलतः इनमें अहंता आ गयी । ये आगे चलकर शंकरसे द्वेष करने लगे । अहंताके अन्धकारसे इनकी आँखें बेकार हो गयी थीं । वे नहीं देख पायीं कि तीनों देवोंमें कोई अन्तर नहीं है । फलतः दक्ष ब्रह्मा और विष्णुको तो सम्मान देते थे, पर शंकरको फटकार । दो अङ्गोंकी तो फूलोंसे पूजा और एक अङ्गपर लाठीका प्रहार । कितनी जडता थी ?

इस जडताका परिणाम भयंकर हुआ । दक्षका यज्ञ तो ध्वंस हुआ ही, वे स्वयं भी वीरभद्रके हाथों मारे गये । इस दण्डके बिना उनका अहंकार नहीं मिटता । शंकर तो कल्याण करनेवाले हैं । उन्होंने देवताओंकी प्रार्थनासे दक्षको फिर जीवित किया । बकरेका सिर इसलिये जोड़ा गया कि नन्दीके द्वारा उसे ऐसा ही शाप मिला था । जडता मिट जानेके बाद ही शिक्षाका प्रभाव पड़ सकता था । अब भगवान्ने सिखलाया—'दक्ष ! मैं ही ब्रह्मा और विष्णु हूँ । वैसे मैं स्वयम्प्रकाश तथा निर्विशेष हूँ, किंतु मायाको स्वीकार कर जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहारके लिये मैं ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र बनता हूँ । अतः ये तीनों स्वरूप वस्तुतः एक हैं, जीव भी मेरे ही रूप हैं । इसलिये जो हम तीनों देवताओंमें भेद नहीं देखता, वही शान्ति प्राप्त कर सकता है और जो हम तीनोंमें भेददृष्टि रखता है, वह नरकमें गिरता है—

सर्वभूतात्मनामेकभावानां यो न पश्यति ।
त्रिसुराणां भिदां दक्ष स शान्तिमधिगच्छति ॥
यः करोति त्रिदेवेषु भेदबुद्धिं नराधमः ।
नारके स वसेन्नूनं यावदाचन्द्रतारकम् ॥

(शि० पु० रुद्रसं० सतीखं० ४३ । १६-१७)

यदि कोई विष्णुभक्त होकर मेरी निन्दा करेगा अथवा अपनेको शिवभक्त समझकर विष्णुकी निन्दा करेगा, तो तुम्हें दिये हुए सब शाप उसीको प्राप्त होंगे और वह कभी तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त कर सकेगा—

हरिभक्तो हि मां निन्देत् तथा शैवो भवेद् यदि ।
तयोः शापा भवेयुस्ते तत्त्वप्राप्तिर्भवेन्नहि ॥

(शि० पु० रुद्रसं० स० खं० ४३ । २१)

मानवताकी शिक्षाका सरस अवदान (मानस)

करुणामयी पराम्बाने हमारे लिये हमारे ही स्तरपर उतरकर ऐसे-ऐसे प्रश्न किये हैं, जिनके उत्तरमें भगवान् शिवने सारे तन्त्रों, मन्त्रों तथा शावरमन्त्रोंका उपदेश कर दिया है । उनकी उस शिक्षासे वाङ्मयका भंडार भरा

पड़ा है, किंतु मानवताकी शिक्षाके लिये भगवान् शंकरद्वारा विरचित मानसका अपना ही स्थान है । शिवसे विश्वको यह मानस प्राप्त हो इसके लिये पराम्बाने अज्ञताका जैसा अभिनय किया, उसका जोड़ मिलना कठिन है ।

शिवपुराणकी कथा है । सीताजीका हरण हो गया था । श्रीराम शोकसे पागल होकर पेड़-पौधोंसे सीताजीका पता पूछ रहे थे । भगवान् शंकरने इस दृश्यको देखा । श्रीरामको देख भगवान् शंकरके हृदयमें इतना आनन्द उमड़ा कि वह रोके न रुका । आँखोंसे आँसूकी अजस्र धाराएँ बहने लगीं । रोम-रोममें बार-बार पुलकावलियाँ छाने लगीं । पैर डगमगाने लगे। 'सच्चिदानन्दकी जय हो'- कहकर वे दूसरी ओर चल पड़े । जान-पहिचानका अवसर न था । आँखें तृप्त हो ही गयी थीं, किंतु आनन्द अभी उमड़ता ही चला जा रहा था ।

करुणामयी माँने देखा कि अपनी अज्ञताके अभिनयका यही अच्छा अवसर है । उधर 'आनन्दरूप' श्रीराम 'शोक'-का अभिनय कर रहे थे, इधर 'ज्ञानरूपा' माँ हमारे लिये 'अज्ञान'का अभिनय करने लगीं । ऐसी अज्ञ बन गयीं, जैसे कोई निकृष्ट जीव हो । वे बोलीं-'नाथ ! आप तो पूर्ण ब्रह्म हैं, फिर इस राजकुमारको आपने प्रणाम कैसे कर लिया ? इसी तरह किसी मनुष्यको आपने 'सच्चिदानन्द' भी कैसे कह दिया ?'

भगवान् शंकरने कहा—'ये साक्षात् परब्रह्म हैं । मनुष्यके रूपमें दीखते भर हैं । शोक और अज्ञानकी ये केवल लीला कर रहे हैं ।' पराम्बाको तो मानसका अवतार कराना था, अतः उन्होंने अपने अभिनयको जारी रखा । उनकी बातपर विश्वास नहीं किया । भगवान्‌को कहना पड़ा—'यदि विश्वास न होता हो तो परीक्षा कर देख लो ।' पराम्बा सीताजीका रूप धारण कर श्रीरामके सामने खड़ी हो गयीं । देखते ही श्रीरामने प्रणाम किया और पूछा—'सतीजी ! शिवजी कहाँ हैं ? आप अकेले कैसे घूम रही हैं ?' पराम्बा पानी-पानी हो गयीं और बोलीं—'मैं आपकी प्रभुता परख रही थी ।' श्रीरामने सतीका बहुत सम्मान किया और उनकी आज्ञा लेकर वे फिर अपने अभिनयमें लग गये ।

लौटते समय पराम्बा सतीने चिन्ता और शोकसे उत्पन्न व्याकुलताका अच्छा अभिनय किया । भगवान् शंकरने पूछा—'तुमने किस प्रकार परीक्षा ली ?' पराम्बा विषादका अभिनय करती रहीं । भगवान् शंकरने ध्यानसे सारी बातें जान लीं । उन्होंने अपनी निष्ठाकी रक्षाके लिये सतीके प्रति पत्नी-भावका त्याग कर दिया । माता सीताका जिसने रूप ले लिया, उससे पत्नीका सम्बन्ध कैसे रखा जा सकता था ? किंतु पराम्बाको क्लेश न हो, इसलिये त्यागकी बात छिपा ली । पहले-जैसा ही मीठा व्यवहार बनाये रहे । पराम्बासे भी कोई बात छिपी कैसे रहती ! वे इस तथ्यको जान गयी थीं । पिताके यज्ञमें पतिकी निन्दा सुननेके प्रायश्चित्तस्वरूप उन्होंने अपनी देहका परित्याग कर दिया ।

अभिनयका दूसरा पक्ष प्रारम्भ हुआ । वे दूसरा जन्म धारण कर फिर भगवान् शंकरकी अर्धाङ्गिनी बन गयी थीं । सती-जन्मवाली अज्ञताका अभिनय पूरा नहीं हुआ था । दो जन्मोंमें उस अज्ञताका उत्तर पाकर इन्हें सूचित करना था कि 'अज' का 'जन्म लेना' बहुत रहस्यपूर्ण है । अतः अवसर पाकर पराम्बाने शंकरभगवान्‌से पूछा—'नाथ ! मैं एक जिज्ञासासे पहले जन्ममें भी आर्त थी और आज भी आर्त ही हूँ । मेरी इस आर्तिको दूर कर दीजिये । आपने बतलाया था कि श्रीराम परब्रह्म परमात्मा हैं । परीक्षाकर मैंने उन्हें ब्रह्म पाया भी, किंतु अभी संतोष नहीं होता ।'

पराम्बाके प्रश्नोंका समाधान है—'रामचरितमानस' । इस मानसको भगवान् शंकरने पहले ही बनाकर अपने मनमें रख छोड़ा था और अधिकारी पाकर महर्षि लोमशको सुनाया भी था । भगवान् शंकरकी यह रचना संस्कृत-भाषामें थी । संस्कृतमें ही काकभुशुण्डिने महर्षि लोमशसे सुना, संस्कृतमें ही याज्ञवल्क्यने भारद्वाजको सुनाया । कलियुगमें भगवान् शंकरने नरहर्यानन्दजीको वही मानस बतलाया और नरहर्यानन्दजीने बालक तुलसीदासको । दयालु विश्वनाथने हमलोगोंके लिये गोस्वामी तुलसीदासजीके द्वारा इसे सरल भाषामें बनवाया । गोसाईंजीके मानसका आधार शिवरचित मानस ही है । इस बातको गोसाईंजीने उपक्रम

और उपसंहारके संस्कृत-श्लोकोमें स्पष्ट कर दिया है। रामचरितमानस-जैसा दूसरा गम्भीर और प्रामाणिक ग्रन्थ हिंदीमें नहीं है। यह सरसताकी सीमा है। शिवपुराणकी उपर्युक्त घटनासे ज्ञात होता है कि मानसकी अवतारणा करानेके लिये ही करुणामयी माँने अज्ञताका यह अभिनय किया था।

ब्रह्मर्षि सनकादि

आदिपुरुष ब्रह्मा जब सृष्टिकी रचना करने लगे, तब उनसे सबसे पहले अज्ञानकी पाँच वृत्तियाँ उत्पन्न हुईं। इस पापमयी सृष्टिसे वे प्रसन्न नहीं हुए। तब उन्होंने अच्छी सृष्टिके लिये भगवान्का ध्यान किया। इससे उनका मन पवित्र हो गया। इसलिये इस बार उन्होंने जो सृष्टि रची, उसमें सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—ये चार निवृत्तिपरायण ऊर्ध्वरेता मुनि उत्पन्न हुए। ये चारों संत जन्मसे ही भगवान्के ध्यानमें निमग्न रहते थे (भा० ३।१२।१-५)।

पाँच-छः वर्षतक तो काल इनपर अपना प्रभाव दिखला सका। इसके बाद इनकी ईश्वर-निष्ठा इतनी परिपक्व हो गयी कि इनपर कालकी गति शून्य हो गयी। आज भी ये पाँच-छः वर्षके ही दीखते हैं। कालकी गतिको शून्य कर सकना केवल सनक आदि चार भाइयोंसे ही सम्भव हुआ। ब्रह्मा अपने कालमानसे ५१वें वर्षमें चल रहे हैं, परंतु उनके पुत्र ये चारों भाई केवल पाँच-छः वर्षके ही दीखते हैं—**पञ्चहायनसंयुक्ताः पूर्वेषामपि पूर्वजाः।** (पद्मपु० उ० खं० ४६)।

ये सदा हरि-कीर्तन करते रहते हैं और भगवान्की लीलाके रसका सतत आस्वादन कर सदा मस्त रहते हैं। भगवान्की कथा तो इनके जीवनका आधार ही है (पद्मपु० उ० खं० ४७)। यदि अन्य कोई श्रोता नहीं रहता है तो इन्हींमेंसे एक वक्ता बन जाता है और तीन श्रोता; यद्यपि ये चारों भाई ज्ञान, तपस्या और शील-स्वभावमें समान हैं (भा० १०।८७।११)।

एक दिन विशालापुरीमें चारों भाई सत्संगके लिये पधारे थे। वहाँ उन्होंने नारदजीको उदास देखा। सनकादिने नारदजीसे पूछा कि 'ब्रह्मन्। आप इतने व्याकुल क्यों हैं? आप आसक्तिसे रहित हैं। आपके लिये यह उचित नहीं है।'

नारदजीने बताया कि 'मैं सर्वोत्तम लोक समझकर पृथ्वीपर आया। यहाँ पुष्कर आदि तीर्थोंमें भी पर्यटन किया, किंतु इस बार मनको शान्ति नहीं मिली; क्योंकि कलियुगने सारी पृथ्वीको ग्रस लिया है। तब मैं वृन्दावन पहुँचा। वहाँ मैंने एक आश्चर्यजनक घटना देखी कि एक तरुणी शोकाकुल बैठी है और उसके पास दो वृद्ध पुरुष अचेत पड़े हैं। तरुणी उन्हें चेत करानेका असफल प्रयास कर रही थी। मुझे देखकर युवती खड़ी हो गयी और व्याकुलताके साथ कहने लगी कि 'आप मेरी चिन्ता दूर कर दीजिये। मनुष्यका जब बड़ा भाग्य होता है, तभी आपके दर्शन होते हैं।'

मैंने उन लोगोंका परिचय पूछा। तब युवतीने कहा—'मेरा नाम भक्ति है और ये दोनों ज्ञान तथा वैराग्य नामक मेरे दो पुत्र हैं। वृन्दावनमें मैं तो तरुणी बन गयी हूँ, किंतु ये दोनों मेरे लड़के अचेत पड़े हैं। जोर-जोरसे साँसें खींच रहे हैं। मैं जानना चाहती हूँ कि मैं तरुणी क्यों? और मेरे ये पुत्र वृद्ध क्यों? होना तो यह चाहिये था कि माता बूढ़ी हो और पुत्र तरुण।' तब मैंने ध्यानसे कारण जानकर कहा—'कलियुगके प्रभावसे जीवोंके द्वारा भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—तीनोंकी उपेक्षा हो रही है, इसलिये ये दोनों जर्जर हो गये हैं। तुम भी जर्जर हो गयी थी, किंतु वृन्दावनके संयोगसे तुम्हारी जर्जरता दूर हो गयी है।' भक्तिने कहा कि 'आप इनकी भी जर्जरता दूर कर दीजिये।' मैंने भक्तिको आश्वासन दिया तथा ज्ञान और वैराग्यको हाथसे हिला-डुलाकर जगाने लगा। फिर कानके पास मुँह सटाकर जोरसे कहा—'ओ ज्ञान! जल्दी जागो। ओ वैराग्य! जल्दी जागो।' किंतु वे नहीं जागे। तब मैंने

वेद-पाठ सुनाया । गीता-पाठ करके भी जगाया । इससे वे कुछ उठे अवश्य, किंतु उनकी आँखें नहीं खुलीं । वे अलसाये पड़े रहे । तब मैं थककर भगवान्‌का स्मरण करने लगा । उसी समय आकाशवाणी हुई कि 'इन्हें होशमें लानेके लिये तुम्हें एक सत्कर्म करना पड़ेगा । उस सत्कर्मको कोई संत-शिरोमणि बतायेंगे ।'

मैं उन संत-शिरोमणिकी खोजमें जुट गया और प्रत्येक तीर्थमें जाकर मुनियोंसे यह साधन पूछने लगा, पर समस्या हल नहीं हो रही थी । तब मैंने थककर ज्ञान और वैराग्यको जगानेके लिये तपस्या करनेका निश्चय किया । इसके लिये मैं बदरिकाश्रम पहुँचा । वहाँ मुझे सनकादि मुनीश्वर दिखायी दिये । मैंने उनके सामने अपनी समस्या रखी । तब सनकादि ऋषियोंने नारदजीको भागवत-सप्ताहका सत्कर्म बतलाया और इसीसे भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके कष्ट मिट गये ।



महर्षि वसिष्ठ



हम लोगोंके त्राता महर्षि वसिष्ठ ब्रह्माजीकी गोदसे उत्पन्न हुए थे । ये व्यासदेवके प्रपितामह थे । ज्ञान और तपके तो ये प्रकट रूप ही थे । इन्हें ही भगवान् श्रीरामके शिक्षा-गुरु होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था ।

चरित्रसे शिक्षा (दूर-दृष्टि रखो)—महर्षि वसिष्ठ भूत, वर्तमान और भविष्यपर सतत सजग दृष्टि रखते थे । इनकी यह दूर-दृष्टि पैनी न होती तो आज हम लोगोंका जो अस्तित्व है, वह नहीं होता । इस सम्बन्धकी दो घटनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं ।

पद्मपुराणसे पता चलता है कि एक बार शनि-देवता रोहिणीका भेदन कर आगे बढ़नेवाले थे । इस योगका नाम शकटभेद है । कहीं यह योग आ जाता तो पृथ्वीपर बारह वर्षोंतक घोर दुर्भिक्ष पड़ता । तब जनताका बचना असम्भव हो जाता । उस समय चक्रवर्ती राजा दशरथका राज्य था । गुरु वसिष्ठसे इन्होंने शिक्षा पायी थी । उस सुशिक्षासे इनमें कूट-कूटकर समर्थता और प्रजा-वत्सलता भर गयी थी । इनके राज्यमें प्रजा स्वर्गका सुख भोग रही थी । इस योगके आ जानेपर सारा राज्य ही नरक बन जाता । लगातार बारह वर्षोंके अकाल पड़नेपर यदि पानी और अन्नके बिना लोग तड़प-तड़पकर मरते तो कितना कष्टदायक दृश्य सामने आता ? महर्षि वसिष्ठकी पैनी दृष्टिसे भविष्यका यह हृदय दहलानेवाला दृश्य छिपा न रहा । उन्होंने इस योगके आनेके पहले ही चक्रवर्ती दशरथको इसपर काबू पानेके लिये तैयार कर दिया ।

मनस्वी दशरथ तुरंत रथपर बैठकर नक्षत्र-मण्डलमें जा पहुँचे । शिष्टाचारके अनुसार पहले तो उन्होंने शनि-देवताको प्रणाम किया और उसके पश्चात् क्षात्र-धर्मके अनुसार उन्होंने उनपर संहारास्त्रका संधान किया । शनिदेवता चक्रवर्ती दशरथकी कर्तव्यनिष्ठासे प्रसन्न हो गये और बोले— 'वत्स ! यहाँ आकर कोई बचता नहीं है । तुम गुरु-कृपासे बच गये हो । तुम्हारी प्रजावत्सलतासे मैं संतुष्ट हूँ, अतः मनचाही वस्तु मुझसे माँग लो । मैं तुम्हें सब कुछ देनेको तैयार हूँ ।'

दूरदर्शी गुरुका शिष्य भी तो दूरदर्शी होता है । उन्होंने आँक लिया था कि यह भयानक योग जब कभी आयेगा, तभी सारी प्रजाको तड़पायेगा । अतः उन्होंने केवल वर्तमान प्रजाके लिये ही नहीं, अपितु हमलोगोंको भी बचानेके लिये वरदान माँगा— 'भगवन् ! जब आप प्रसन्न हैं, तब यह वरदान दीजिये कि जबतक सूर्य, नक्षत्र विद्यमान हों, तबतक कभी आप रोहिणीका भेदन न करें ।' शनिदेवने महाराजकी इस विश्वजनीनतासे और अधिक प्रभावित होकर प्रसन्नताके साथ मुँहमाँगा वरदान दे दिया । महाराजकी दृष्टि... मिट गयी ।

जिनकी प्रतिदिन पूजा की जाय, उनपर हथियार उठाना कम कठोर काम नहीं है, किंतु हमलोगोंकी रक्षाके लिये उन्होंने इस कठोर क्षात्रधर्मका पालन किया था। शनिदेवकी कृपा देखकर महाराज दशरथके शरीरमें रोमाञ्च हो आया था। उन्होंने अपने अद्भुत रथपर धनुष डाल दिया। फिर प्रेमोद्रेकसे उनकी स्तुति की (पद्मपु० उत्तर-खं० ३४। २७-३४)।

इस स्तुतिसे शनि-देवता संतुष्ट हो गये। उन्होंने एक वरदान और माँगनेको कहा। उदारचेता दशरथ केवल मनुष्योंका ही कल्याण नहीं चाहते थे। वे बोले—'भगवन्! आजसे आप देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, नाग आदि किसी प्राणीको कष्ट न दें।'

कितनी उदार माँग थी? शनि-देवताने कुछ युक्ति लगाकर यह वरदान भी दे दिया। युक्ति यह थी कि यदि मैं किसी प्राणीकी कुण्डली अथवा गोचरमें मृत्युस्थान, जन्मस्थान और चतुर्थ स्थानमें स्थित रहूँ, तो उसे मुत्युका कष्ट दे सकता हूँ, किंतु यदि वह विधिविधानसे मेरी प्रतिमाका पूजन कर तुम्हारे द्वारा किये गये स्तोत्रका पाठ करेगा तो उसे मैं कभी पीड़ा नहीं दूँगा, अपितु उसकी रक्षा करूँगा।

रथ—महर्षिकी ऋतम्भरा प्रज्ञाकी देन—ऊपर जिस रथका वर्णन आया है, वह कितना अद्भुत रहा होगा? आजके विद्वान्की पहुँचसे तो वह परे था। उसकी गति प्रकाशकी गतिसे भी अधिक रही होगी। नहीं तो इतनी शीघ्रतासे वह शनिकी कक्षामें कैसे पहुँच पाता? प्रतीत होता है कि वह रथ महर्षिकी ऋतम्भरा प्रज्ञाकी ही देन है; क्योंकि महर्षिने महाराज रघुके लिये भी ऐसे ही रथका निर्माण किया था। वह रथ भी समुद्र, आकाश, पर्वत कहीं भी बेरोक-टोक आ-जा सकता था (रघुवंश ५। २७)। सम्भवतः रघुका वही रथ वंशपरम्परासे दशरथको मिला हो।

इस तरह महर्षिकी दूरदृष्टिसे शकटभेदका संकट सदाके लिये दूर हो गया और विश्व विनाशसे बच गया।

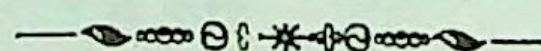
स्वत्वसे विश्वका कल्याण करो—एक बार दुर्भिक्ष आ ही गया। इसमें शनिदेव आदिका हाथ न था। यह विपत्ति जनतापर उसके संचित कर्मसे आयी थी। इसमें दशरथ आदिके पुरुषार्थका भी कोई उपयोग न था। प्रजाको तो तड़पनेसे बचाना ही होगा, यह सोचकर महर्षि वसिष्ठने अपने तपका उपयोग किया। खेतों-खलिहानोंमें अन्नोंका ढेर लग गया। वृक्ष फलोंसे लद गये। घास लहलहा उठी। मन्द, सुगन्ध, सुशीतल वायु बहने लगी। बहुतोंको पता भी न चला कि वे जिस वस्तुका उपयोग कर रहे हैं, वह प्राकृतिक नहीं है, अपितु महर्षिका प्रसाद है। इस तरह महर्षि वसिष्ठने अपने तपसे तीनों लोकोंके एक-एक कणका कल्याण कर दिया।

कुलपति वसिष्ठ—महर्षि वसिष्ठका ज्ञान-सत्र सदा चला करता था। महर्षि विश्वामित्रके अनुरोध करनेपर उन्होंने भगवान् श्रीरामको जो तत्त्वोपदेश दिया है, वह 'योगवासिष्ठ' नामसे विख्यात है। महाकवि कालिदासने इनके लिये 'कुलपति' शब्दका (रघुवंश १। ९५) प्रयोग किया है। कुलपति शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। 'जो दस हजार शिष्योंको अन्न-पान आदिकी सुविधा प्रदान कर पढ़ाये, उसे 'कुलपति' कहते हैं।' यह कुलपति शब्दका पारिभाषिक अर्थ है। प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदासने इनके लिये कुलपति शब्दका प्रयोग इसी पारिभाषिक अर्थको लेकर किया है; क्योंकि उन्होंने इसी श्लोकमें बतलाया है कि दिलीपकी नींद तब खुली, जब उनके कानोंमें शिष्योंको पढ़ाते हुए महर्षिके शब्द आये।

कुछ वाचनिक शिक्षाएँ (सदाचारकी शिक्षा—) सदाचारके बिना क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं, अतः गुरुकुलमें प्रवेश करनेपर सबसे पहले गुरु आचारकी शिक्षा देते थे। इसलिये वे 'आचार्य' कहलाते थे—**'आचारं ग्राहयतीति आचार्यः** (निरुक्त)। यहाँ दिलीपके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए महर्षि वसिष्ठने जो गृहस्थोंका आचार बतलाया है, उसका कुछ अंश दिया जाता है—

ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठे। हाथ-मुँह धोकर भगवान्का चिन्तन करे। प्रातःस्मरणीय श्लोकोंको पढ़े। फिर कर्म और अर्थका चिन्तन करे। तत्पश्चात् शौचसे निवृत्त होवे। यदि आवास वन या गाँवमें हो तो नैर्ऋत्यकोणकी ओर

कुछ दूर जाकर मल-मूत्रका त्याग करे । मलत्यागसे पहले तृणोंसे भूमिको ढँक दे । कानपर जनेऊ चढ़ाना न भूले । मलत्यागके निमित्त दिन और संध्याके समय उत्तरकी ओर मुँह करे एवं रातको दक्षिणकी ओर । मलत्यागके समय थूकना या गहरी साँस खींचना मना है । माथा ढँका हो और मौन रहे । मलको न देखे । वहाँ अनुचित कालक्षेप न करे । लिंगमें एक बार तथा गुदामें तीन (पाँच) बार मिट्टी लगाये । प्रत्येक बार जलसे धोता जाय । बायें हाथमें दस बार मिट्टी लगाकर दोनों हाथोंको सात बार मिट्टीसे धोये । पैरोंमें भी मिट्टी लगानी चाहिये । इस प्रकार मिट्टी और जलसे हाथ-पैर धोकर शिखा बाँध ले, तदनन्तर आचमन करे । आचमनके समय हाथ घुटनोंके भीतर होना चाहिये । आचमनके पश्चात् नेत्रोंको धो डाले । दातौनका कभी-कभी निषेध भी है । मंजनका निषेध नहीं है । जीभी अवश्य करे । निषिद्ध दिनोंमें भी जीभी करनी चाहिये । इसके बाद स्नान करे । स्नानाङ्गभूत तर्पण आवश्यक है । फिर दो वस्त्र धारणकर आचमन करे । इसके बाद भस्म या गोपीचन्दन लगाना चाहिये । तदनन्तर मनको एकाग्रकर संध्योपासन करे । संध्योपासनसे तीनों लोकोंमें कुछ अप्राप्य नहीं रहता । प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दान करे । देव-पूजा करे । पाँच देवताओंकी पूजा आवश्यक है । यह दिनके पहले भागका कार्य हुआ । दूसरे भागमें स्वाध्याय किया जाता है । इसी समय फूल, कुश, समिधा आदिका संग्रह करे । तीसरे भागमें धनका उपार्जन करे । दिनके चौथे भागमें पुनः स्नान करे । ब्रह्मयज्ञकी पूर्तिके लिये स्वाध्याय करे । फिर देवताओं, ऋषियों और पितरोंका तर्पण करे । मध्याह्न-संध्या और जपके बाद पञ्चमहायज्ञ करे । इसके बाद पूर्वकी ओर मुँहकर भगवान्‌का प्रसाद पावे । शास्त्रसे निषिद्ध वस्तुओंको न खाये । भोजनके बाद आचमन कर मुख, नाक और आँखका स्पर्श करे । तत्पश्चात् इष्टदेवका स्मरण करे । दिनके छठे और सातवें भागमें शास्त्रोंका अध्ययन करे । आठवें भागमें जीविकाका उपार्जन करे । इसके बाद सायं-संध्या करे और जप करे । तदनन्तर दिशाओं और दिक्पालोंको पृथक्-पृथक् नमस्कार करे । भोजनके दोनों समय बलि-वैश्वदेव करे । यदि भोजन न करना हो, तो भी बलिवैश्वदेव करे । फिर पूर्वकी ओर सिरकर भगवान्‌का स्मरण करता हुआ सोवे ।



महर्षि वाल्मीकि



वाल्मीकि ब्राह्मण-पुत्र थे, किंतु वे किरातोंके साथ रहकर बड़े हुए थे (अ०रा०२ । ६ । ६५) । उन किरातोंका चरित्र अच्छा न था, अतः कुसंगका प्रभाव इनपर पड़ा । इन्होंने शूद्रासे विवाह किया और उससे बाल-बच्चे उत्पन्न किये । ये उनके पेट भरनेके लिये लूट-खसोट और चोरी करते थे । एक बार इन्हें सप्तर्षियोंका सङ्ग प्राप्त हो गया । उनके सङ्गने इनके संस्कारमें आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया । सप्तर्षियोंने इन्हें 'मरा-मरा' जपनेकी शिक्षा दी और कहा कि जबतक हम न लौटें, तबतक इसी मन्त्रका निरन्तर जप करते रहना । एक हजार युग बीतनेपर वे लौटे । तबतक इनपर वल्मीकका ढेर लग चुका था । ऋषियोंने कहा—'निकल आओ ।' तब इन्होंने नूतन शरीरसे निकलकर उनकी अभ्यर्थना की (अ० रा०२ । ६ । ६५-६८) । अब वे ब्रह्मर्षि बन गये थे ।

शिक्षण-संस्थानकी स्थापना—कुसंगति और सुसंगति मनुष्यके जीवनमें कितना उतार-चढ़ाव लाती हैं, इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति महर्षिको प्राप्त थी । बचपनसे ही अच्छा संस्कार डालनेके लिये महर्षि वाल्मीकिने गङ्गाके पास तमसा-तटपर विशाल शिक्षा-संस्थान स्थापित किया था । उसमें दस हजार छात्रोंके भोजनके साथ-साथ आवासकी व्यवस्था थी । रामायणमें इन्हें कुलपति कहा

गया है । इनकी आध्यात्मिक शिक्षाके उत्कृष्ट उदाहरण भरद्वाज और धनुर्वेद तथा गानकलाके उदाहरण कुश और लव हैं । कुश और लवकी रण-शिक्षा इतनी प्रखर थी कि इन दोनों भाइयोंने सम्पूर्ण श्रीराम-सेनाको पराजित कर शत्रुघ्नजीका मुकुट और पुष्कलका किरीट माँको भेंट किया था तथा हनुमान् और सुग्रीवको भी बंदी बना लिया था (पद्मपु॰ पा॰ खं॰) । ये गानेमें इतने प्रवीण थे कि सुननेवाले आपा खो देते थे । शत्रुघ्न, उनके सचिव और सैनिक उस गानको सुनकर रातभर रोते ही रहे (वा॰ रा॰७ । ७१) । ये धर्मशास्त्रमें इतने निष्णात थे कि इनके शिष्य लव-कुशसे जब माता सीताने कहा—'तुमलोगोंने श्रीरामकी सेनाको मारकर अन्याय किया है', तब बच्चोंने विनीत शब्दोंमें कहा था— 'माताजी! हम दोनोंसे अन्याय तो नहीं हुआ है । गुरु (वाल्मीकि) जीने पढ़ाते समय बतलाया था कि क्षात्र-धर्मके अनुसार पुत्र पितासे, भाई भाईसे और शिष्य गुरुसे युद्ध कर सकता है । हाँ, आपकी आज्ञा है, इसलिये सबको छोड़ देता हूँ' (पद्मपु॰ पा॰ खं॰) ।

नामकी महिमा अवर्णनीय—महर्षि वाल्मीकिने भगवान् श्रीरामसे कहा था—'भगवन्! आपके नामकी महिमाका कोई वर्णन नहीं कर सकता । उसी नामके प्रभावसे मैं ब्रह्मर्षि बन गया (अ॰ रा॰ २ । ६ । ६४) । आपके उस नामका ही प्रभाव है कि मैं अपनी इन आँखोंसे सीता और लक्ष्मणके साथ आपको देख रहा हूँ' (अ॰ रा॰ २ । ६ । ८७) ।

महर्षि मरीचि

ब्रह्माके दस मानस पुत्रोंमें महर्षि मरीचि सबसे बड़े हैं । कर्दम ऋषिकी पुत्री कलासे इनके दो पुत्र उत्पन्न हुए थे—कश्यप और पूर्णिमा । कश्यपकी वंश-परम्परा इतनी बढ़ी कि इससे सारा संसार भर गया (श्रीमद्भा॰ ४ । १ । १३) । महर्षि मरीचिकी दूसरी पत्नीका नाम ऊर्णा था । ऊर्णाके गर्भसे छः पुत्र उत्पन्न हुए । वे षड्गर्भ कहलाते थे । वे धर्मशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् थे (देवीभा॰ ४) ।

ब्रह्माकी सभा अद्भुत थी । कौषीतकि-उपनिषद्में उसका विस्तारसे वर्णन है । उस सभामें क्षण-क्षणमें नवीनता आती रहती थी । महर्षि मरीचि इस सभामें स्थित रहकर अपने पिताकी उपासनामें लीन रहते थे (महा॰ भा॰ स॰ ११ । १८) । इनकी तपस्या बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी, अतः इन्हें 'ब्रह्मा' कहा जाता था (पद्मपु॰ सृ॰ खं॰ १८) । काशीमें इन्होंने अपने नामसे जो 'मरीचीश्वर' लिङ्गकी स्थापना की थी, वह मरीचिकुण्डके पास है ।

इनकी कुछ शिक्षाएँ

उत्कृष्ट पद पानेके लिये विष्णुकी आराधना आवश्यक—बालक ध्रुवको ढाढ़स बँधाते हुए महर्षि मरीचि तथा अत्रिने यह शिक्षा दी थी— जिस सर्वोत्कृष्ट स्थानको पानेकी तुम्हारी इच्छा है, उसकी पूर्तिके लिये तुम भगवान् विष्णुकी आराधना करो । जो उनकी आराधना नहीं करता, उसे वह स्थान नहीं मिल सकता । इसलिये उनका ध्यान करते हुए **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'**— इस मन्त्रका जप करो । ठहरते , चलते, सोते, जागते तथा बैठते समय सतत भगवान्का नाम जपते रहना चाहिये (स्कं॰का॰पू॰ १९) ।

सद्गुरुके सामने वेद मौन हो गये, शास्त्र दिवाने हो गये और वाक् भी बंद हो गयी । सद्गुरुकी कृपादृष्टि जिसपर पड़ती है, उसकी दृष्टिमें सारी सृष्टि श्रीहरिमय हो जाती है । धन्य हैं श्रीगुरुदेव, जिन्होंने अखण्ड नाम-स्मरण करा दिया । सद्गुरुचरणोंका लाभ जिसे हो गया, वह प्रपञ्चसे मुक्त हो गया ।

महर्षि अत्रि

ब्रह्माके नेत्रोंसे अत्रिकी उत्पत्ति हुई थी । जब ब्रह्माजीने इन्हें सृष्टि रचनेकी आज्ञा दी, तब ये अपनी धर्मभार्या अनसूयाके साथ ऋक्ष पर्वतपर चले गये । ये उत्तम संतानके इच्छुक थे, किंतु बिना तपके ऐसा सम्भव नहीं होता, अतः इन्होंने सौ वर्षोंतक घोर तप किया । ये चाहते थे कि जो जगत्का स्वामी है, वह अपने समान ही हमें संतान दे । इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेशने इन्हें दर्शन दिया । उनकी अद्भुत छटाको देखकर ये तन्मय हो गये । वे मुस्कुरा रहे थे और उनकी ममतामयी आँखोंसे कृपाकी वर्षा हो रही थी । प्रणाम और पूजनकर अत्रिने पूछा—'भगवन् ! मैंने तो अद्वैततत्त्वकी उपासना की थी । परमात्मा तो एक ही होता है, मैंने तो एक उसी परमात्माकी आराधना की है । आप तीनोंमें वे कौन हैं ?'

त्रिदेव बोले—'तुम्हारे संकल्पके अनुसार ही हमने तुम्हें दर्शन दिया है । हम तीनों एक ही हैं । तुम जगत्के ईश्वरको चाहते थे, हम तीनों वही हैं । हमारे अंशसे तुम्हें तीन जगद्विख्यात पुत्र होंगे ।' समय आनेपर ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे दत्तात्रेय और शिवके अंशसे दुर्वासा पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए (भा० ४ । १ । १७-३३) ।

इनकी कुछ शिक्षाएँ

संतानसे पहले आराधना—महर्षि अत्रिने अपने चरित्रसे शिक्षा दी है कि गृहस्थाश्रममें आनेपर उत्तम संतानके लिये पहले ईश्वरकी आराधना करनी चाहिये । यदि कुपुत्र हो जाता है तो उससे माता, पिता, राष्ट्र—सबकी हानि होती है । धुंधुकारी-जैसी संतानसे तो सारा जीवन नरक बन जाता है ।

तीनों देव एक हैं—इस घटनासे स्पष्ट हो जाता है कि तीनों देव वस्तुतः तीन न होकर एक हैं । एककी ही तीन अभिव्यक्तियाँ हैं । इनमें भेद-बुद्धि न करे ।

सदा मङ्गल-ही-मङ्गल—महर्षि अत्रिने एक ऐसा उपाय बतलाया है, जिसके पालनसे सब समय मङ्गल-ही-मङ्गल प्राप्त होता है । वह उपाय है—शास्त्रने जिन कर्मोंका विधान किया है, उन्हींको यदि केवल मन, वचन और शरीरसे किया जाय और जिनका निषेध किया है, उनका सर्वथा वर्जन किया जाय तो सब समय मङ्गल-ही-मङ्गल प्राप्त होता है (अत्रिस्मृति ३८) ।

क्या करें ?—यदि कोई बाह्य या आभ्यन्तर किसी तरहका कोई कष्ट पहुँचावे, तो न उसपर क्रोध करना चाहिये और न प्रतिशोधकी भावना ही लानी चाहिये । इसे ही 'दम' कहा जाता है (अ०स्मृ०३९) । भगवान् जितना देता है, उतनेपर संतोष करे । प्रसन्न-मनसे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दिया करे । अपना हो या पराया, मित्र हो या शत्रु—सबपर अपनापन रखे । सबमें भगवान्का निवास समझे (अ०स्मृ० ३८-४१) ।

नियमका पालन आवश्यक—क्षमा करना, सच बोलना, मन, वचन और कर्मसे किसीको पीड़ा न पहुँचाना, दान देना, स्वभावमें मिठास बनाये रखना, सबसे प्रेम करना, प्रसन्न रहना, अच्छा व्यवहार बनाये रखना और ऋजुता—ये 'यम' कहलाते हैं । मनुष्यके लिये इनका पालन करना अत्यन्त आवश्यक है । यदि इनका पालन न किया जाय और नियमोंका कठोरतासे पालन किया जाय तो भी कोई लाभ नहीं होगा । तब चाहे लाख पवित्रता रखी जाय, यज्ञ किये जायँ, तपस्या की जाय, दान दिया जाय, वेद पढ़ा जाय, ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय, मौन या उपवास रखा जाय, किंतु बिना यमके ये सब व्यर्थ हो जाते हैं (अत्रिस्मृ० ४८-४९) ।

चार चीजें पहले दुर्बल दीखती हैं, परंतु परवा न करनेसे बहुत बढ़कर दुःखके गड्ढेमें डाल देती हैं—अग्नि, रोग, ऋण और पाप ।

महर्षि पुलस्त्य

स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें महर्षि पुलस्त्यकी उत्पत्ति ब्रह्माके कानसे हुई थी (भा० ३।१२)। ये तपस्याके स्वरूप थे, इसलिये अन्य प्रजापतियोंकी तरह इन्हें भी 'ब्रह्मा' कहा जाता था (पद्मपु० सृष्टि-खण्ड २)। एक बार इन्हें महान् पितृभक्त भीष्मकी सृष्टिके सम्बन्धमें जाननेकी उत्कट इच्छा हुई। इसके लिये वे गङ्गाद्वारमें घोर तप कर रहे थे। तब ब्रह्माने पुलस्त्यको भीष्मके पास भेजा। महर्षि पुलस्त्यने उनके सारे प्रश्नोंका उत्तर पद्मपुराणके आधारपर दिया था।

इनकी कुछ शिक्षाएँ

मानवयोनि-कर्मयोनि—मानवयोनि कर्मयोनि मानी जाती है। मनुष्य चाहे तो ब्रह्म बन सकता है और चाहे तो पत्थर। इतनी उपयोगिता है मानव-शरीरकी। महर्षि पुलस्त्यने इस तथ्यकी शिक्षा भीष्मको दी थी—'मनुष्य यदि शास्त्र-विहित कर्म करे तो वह स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्त कर सकता है। इसी तरह वह जिस-जिस पदको चाहता है, उन सबको प्राप्त कर सकता है (पद्मपु० सृष्टिखण्ड ३)।

भूदेवोंकी महत्ता—भीष्मके पूछनेपर कि 'सुख-समृद्धि आदि सर्वविध मङ्गल कैसे प्राप्त किया जा सकता है?' महर्षि पुलस्त्यने बतलाया—'तीनों लोकों और चारों युगोंमें ब्राह्मण सदा पवित्र माने जाते हैं। ब्राह्मण देवताओंके भी देवता हैं। जिसपर ब्राह्मण प्रसन्न होते हैं, उसपर विष्णु भी प्रसन्न होते हैं। ब्राह्मणके शरीरमें सदा विष्णु निवास करते हैं। ब्राह्मणकी पूजासे सौ यज्ञोंका अनुष्ठान हो जाता है। ब्राह्मणोंकी पूजा करनेवाला मनुष्य कभी दरिद्र, दुःखी और रोगी नहीं होता। ब्राह्मणके मुखसे देवता हव्यका और पितर कव्यका उपभोग करते हैं। ब्राह्मणके बिना दान, होम और बलि व्यर्थ हो जाते हैं। ब्राह्मणको प्रणाम न करनेसे, इनके साथ द्वेष करनेसे या अश्रद्धा करनेसे आयु क्षीण होती है तथा धन-ऐश्वर्यका नाश और परलोकमें भय प्राप्त होता है।'

पिता और माता ईश्वरकी मूर्ति—पिता धर्म हैं, पिता स्वर्ग हैं, पिता ही परम तप हैं। पिताके प्रसन्न हो जानेसे सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं (पद्मपु० सृष्टि-खं० ४७।९)। माता सर्वतीर्थस्वरूपा हैं और पिता सब देवोंके स्वरूप हैं, इसलिये माता और पिताकी पूजा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये (पद्मपु० सृ० खं० ४७।९)। जो माता-पिताकी प्रदक्षिणा करता है, उसे सम्पूर्ण पृथ्वीकी प्रदक्षिणाका फल प्राप्त होता है। माता-पिताकी पूजासे मनुष्य जिस धर्मको प्राप्त कर लेता है, वह हजारों यज्ञों और तीर्थयात्राओंसे भी प्राप्त नहीं हो सकता (पद्मपु० सृ० खं० ४७।८)।

पति ईश्वरकी मूर्ति—जो पतिव्रता नारी पतिको परमेश्वर समझकर प्रतिदिन पतिके हितमें रत रहती है, वह अपने पिता तथा पतिके कुलोंकी सौ-सौ पीढ़ियोंको तार देती है (पद्मपु० सृ० खं० ४७।५१)। महर्षि पुलस्त्यने भीष्मको यही शिक्षा दी थी।

सच्चा सुख और सच्चा प्रेम

सुख तो मनको विषयोंसे हटा लेनेमें ही है। ये विषय-भोग तो प्राणीको नरकमें भी मिल जाते हैं, अतएव इस मरणशील शरीरको पाकर जितना शीघ्र भगवत्प्राप्तिके साधनमें लगा जा सके, लग जाना चाहिये। भगवान् कहीं दूर तो हैं नहीं, वे तो अपने हृदयमें ही हैं और सबके सुहृद् हैं। उन्हें कोई विद्वान् या उच्च कुलका ही व्यक्ति पा सके या उनके पानेके लिये बहुत पूजादि सामग्री लगे, सो भी बात नहीं है। वे दयामय तो एकमात्र प्रेमसे ही प्रसन्न होते हैं।

महर्षि भृगु

महर्षि भृगु ब्रह्माकी त्वचासे उत्पन्न हुए थे। ये दक्षसे प्रभावित थे। वेदके कर्मकाण्ड-भागपर इनकी अटूट श्रद्धा थी। 'शुक्लतीर्थ' के समीप नर्मदाके उत्तर तटपर इन्होंने एक आश्रम बना रखा था। जहाँ वेदोंकी शिक्षा दी जाती थी। मन्त्रोंके उद्घोषसे वहाँका सारा वातावरण प्रतिध्वनित होता रहता था। देवर्षि नारदसे भृगुने बतलाया था कि ब्राह्मणोंको बसानेके लिये मैंने योग्य भूमिकी खोजमें समुद्रपर्यन्त पर्यटन किया था (स्कन्दपुराण)।

यज्ञके विधानोंपर इनका अच्छा अधिकार था। सतीका देह-त्याग देखकर जब प्रमथगण दक्षपर टूट पड़े, तब भृगुने **'अपहता असुरा रक्षाँ्सि, वेदिषदः'**—इस मन्त्रसे दक्षिणाग्निमें आहुति दी। आहुति पड़ते ही यज्ञकुण्डसे ऋभु नामक प्रबल देवता प्रकट हो गये और उन्होंने प्रमथगणोंको मार भगाया (शि० पु० रुद्रसं० ३०)।

इससे यह भी प्रतीत होता है कि भृगुकी बुद्धि एकाङ्गी हो गयी थी। शिवतत्त्वको न समझकर ही वे उनसे द्रोह कर रहे थे। दक्ष-यज्ञके विध्वंसके बाद उनके ज्ञानमें पूर्णता आयी। उन्होंने विष्णुकी प्रार्थना करते समय विश्वको शिक्षा दी है—

आत्मतत्त्व दुर्बोध है—उन्होंने स्वीकार किया है कि हम प्रजापतिगण जो आत्मतत्त्वको नहीं जान पाते, उसका कारण यह है कि मायासे आत्मज्ञान लुप्त हो जाता है। जो भगवान्‌की शरण ग्रहण करता है, वही उस तत्त्वको जान पाता है (भा० ४।७।३०)।

दुःख दूर करना सबसे बड़ा पुण्य—प्रजापति भृगुने अपने पुत्र च्यवनको मार्कण्डेयपुराण सुनाया था। उसमें एक घटना आती है—'जनकवंशमें विपश्चित नामक एक राजा हुए थे। वे बड़े धर्मनिष्ठ थे और कोई पाप न होने देते थे। फिर भी उनसे एक अपराध हो गया था। एक बार उन्होंने अपनी भार्याके ऋतुकालको सफल नहीं बनाया था। इसी पापके कारण उन्हें दारुण नामक नरक देखना पड़ा था। थोड़ी देरतक नरकको दिखाकर यमदूतने कहा—'महाराज! अब आपको यहाँसे पुण्यलोकोंकी ओर चलना है।' जब महाराज विपश्चित चलनेको तैयार हुए, तब चारों ओरसे आवाज आने लगी—'महाराज! दो घड़ी और ठहर जाइये। आपके शरीरका स्पर्श करके जो हवा आ रही है, उससे हमलोगोंकी सारी पीड़ा समाप्त हो गयी है और इतना सुख मिल रहा है कि मानो हम स्वर्गमे पहुँच गये हैं।'

महाराजने यमदूतसे कहा—'तुम जाओ। मैं तो यहाँसे नहीं जाऊँगा। मुझसे इन्हें यदि सुख मिल रहा है तो मैं इनके लाभके लिये यहाँसे हिलूँगा भी नहीं। जो दुःखी जनोंका दुःख दूर नहीं करता, मेरी दृष्टिसे वह मनुष्य नहीं है। इनके दुःख मिटनेसे मुझे जो सुख मिलेगा उससे मैं नरककी सारी यातनाओंको सह लूँगा।'

यमदूतने कहा—'महाराज! देखिये, आपको लेने धर्मराज और देवराज इन्द्र पधारे हैं। आपको तो चलना ही चाहिये।' महाराजने दोनों देवताओंका अभिवादन किया और यहीं ठहरनेकी बात दोहरायी। तब धर्मराजने कहा—'आप अपने सत्कर्मोंका फल भोगनेके लिये देवलोक चलें और इन पापी जीवोंको नरकमें रहने दें।'

महाराजने कहा—'यदि मेरे समीप आनेपर भी इन दुःखी जीवोंको कोई ऊँचा पद न मिला तो मेरा जीवन व्यर्थ हो जायगा। आप मेरे पुण्य इन्हें प्रदानकर इस दुःखसे छुटकारा दिला दें।'

इन्द्रने कहा—'आपकी इस सहृदयतासे आपका पुण्य और बढ़ गया और ये नारकीय जीव भी मुक्त हो गये।' देवराजकी बात पूरी भी न हो पायी थी कि आकाशसे फूलोंकी वृष्टि होने लगी और स्वयं भगवान् विष्णु विमानपर बैठाकर महाराजको अपने लोकमें ले गये। इस तरह मानवताकी भावनासे महाराज विपश्चितके वे अनन्त पुण्य और बढ़ गये तथा जीवोंको भी नरकसे छुटकारा मिला।



देवर्षि नारदका दिव्योपदेश

महर्षि अङ्गिरा

ब्रह्माके छः शक्तिशाली पुत्रोंमें अङ्गिरा भी आते हैं (महा० आ० ६६।४) । इनके तीन पुत्र विश्वविख्यात हैं— (१) बृहस्पति, (२) उतथ्य और (३) संवर्त ।

शिक्षा देनेमें पक्षपात न करें—पुराणने अङ्गिरा आदि प्रजापतियोंको बहुत ऊँचा स्थान दिया है, इन्हें भी ब्रह्मा ही कहा है (मार्क० ५०।५-६) । फिर भी प्रवृत्ति-मार्गकी प्रधानताके कारण मायाका कुछ प्रभाव इनपर पड़ जाता था । अङ्गिरा और भृगुने आपसमें तय कर लिया था कि 'हम दोनोंमेंसे एक ही दोनोंके पुत्रोंकी शिक्षाका भार सँभाले । अङ्गिराने यह भार अपने ऊपर लेते हुए कहा था—'मैं बृहस्पतिको और आपके पुत्र कविको भी बिना भेदभावके पढ़ाऊँगा । कवि मेरे यहाँ ही रहें ।'

बालक कवि अङ्गिराकी सेवा करने लगा, परंतु अङ्गिरापर मायाका प्रभाव पड़ गया । वे दोनोंमें समबुद्धि न रख सके । पुत्रको अलग पढ़ाने लगे और कविको अलग । कविको यह विषमता खलने लगी । वह बोला— 'आप बृहस्पतिको अधिक पढ़ाते हैं और मुझे कम । शिक्षकमें यह भेदभाव अनुचित है ।' किंतु अङ्गिरा समव्यवहार न कर सके ।

हारकर कविने गुरुजीसे आज्ञा लेकर वहाँ पढ़ना बंद कर दिया । सात्त्विक स्पर्धा बालकमें आ ही गयी थी । उसने तपस्याकर भगवान् शंकरको गुरु बनाया और उनसे सञ्जीवनी-विद्या प्राप्त की, जो अङ्गिराको भी ज्ञात न थी ।

आगे चलकर अङ्गिराके पुत्र बृहस्पति देवताओंके गुरु बने, किंतु सञ्जीवनी-जैसी अद्‌भुत विद्या इनके पास न थी। स्पर्धावश कवि असुरोंके गुरु बन गये (ब्रह्मपुराण) ।

शिक्षा पवित्र वस्तु है । इसमें राग, द्वेष, आलस्य और उपेक्षाका प्रवेश अत्यन्त अनुचित है ।

देवर्षि नारद

नारद ब्रह्माकी गोदसे उत्पन्न हुए थे । ये महान् तत्त्वज्ञ और प्रेमी भक्त थे । ईश्वरका निरन्तर स्मरणसहित कीर्तन और लोगोंको शिक्षा देना—यही दो काम उनके प्रधान थे । उनके प्रशिक्षणका क्षेत्र बहुत व्यापक था । तीनों लोकोंमें उनकी अबाधित गति थी । उन्होंने तीन लाख श्लोकोंवाला महाभारत देवताओंको सुनाया था तथा व्यासजीको और सावर्णिमनुको पाञ्चरात्रागमका उपदेश दिया था । उन्होंने ही मार्कण्डेयमुनिको धर्मशास्त्र एवं आत्मज्ञान सिखाया, श्रीवाल्मीकिको रामायणका ज्ञान कराया और श्रीव्याससे भागवत लिखवाया । जब पाण्डवोंको वनमें ब्राह्मणोंको खिलाने-पिलानेमें कठिनाई हुई, तब उनके पुरोहित धौम्यको उन्होंने सूर्यकी आराधनाका सफल प्रकार बतलाया था ।

कुछ लोग इनपर झगड़ा लगानेका आरोप करते हैं । पहले भी लोगोंको इसपर संदेह होता था, किंतु भगवान् श्रीकृष्णने कह रखा है कि यह विश्वके हितके लिये नारदकी निर्दोष लीला है । उन्होंने कहा है—'जब नारद यह परख लेते थे कि इस दैत्य या दानवका विनाशकाल आ पहुँचा है, तब वे उसके कलहकी भावनाको उभारते थे, किंतु इसके लिये ये कभी असत्य नहीं बोलते थे । शुद्ध सत्यका प्रयोग करते थे । अतः ये इस दोषसे लिप्त नहीं होते थे' (स्कन्दपुराण, माहेश्वर-खं०) । इस तरह नारद अपनी इस लीलासे उसका हित और साथ-साथ विश्वका भी कल्याण करते थे । भगवान् श्रीकृष्ण नारदको तो बहुत मानते थे । वे 'नारद-स्तोत्र'का पाठ भी किया करते थे और इस तरह वे **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव**

भजाम्यहम्'का व्यावहारिक रूप देते थे ।

नारदकी अनुकरणीय शिक्षा-पद्धति—नारदने नैतिकताको जीवनमें उतारनेके लिये जिस शिक्षा-पद्धतिका प्रयोग किया था, वह उन दिनों सफल रही और आज भी सफल हो सकती है । सरकारको और शिक्षाशास्त्रियोंको इसपर एक दृष्टि डालनी चाहिये ।

उन दिनों हिरण्यकशिपुका बोलबाला था । वह चाहता था कि किसी तरह विधाताका पद छीनकर मैं ईश्वरके सारे विधानोंको ही उलट-पलट दूँ । वह अहिंसाके स्थानपर हिंसाको, प्रेमके स्थानपर विद्वेषको और ईश्वरके स्थानपर अपनेको प्रतिष्ठित करना चाहता था । इसके अनुरूप वह कार्य भी कर रहा था । प्राणियोंसे उसे प्रेम तो था नहीं, अतः उनकी हिंसाको देखकर ही वह प्रसन्न होता था । सह-अस्तित्वको वह कैसे सह सकता था ? उसका आदेश था कि 'सारे ईश्वरवादी मार डाले जायँ । एक भी न बचे ।' श्रीमद्भागवतसे पता चलता है कि खूँखार दैत्योंने पृथिवीपर उतरकर एक ओरसे ईश्वरवादियोंको काटना प्रारम्भ कर दिया । जो दूसरोंके संतापोंसे सुखका अनुभव करते हैं, वे कितना जघन्य कर्म कर सकते हैं, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है । सारा भूमण्डल श्मशान बना दिया गया । भूमण्डल ही नहीं, तीनों लोक वीरान हो गये ।

वरदानके प्रभावसे हिरण्यकशिपुका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता था । देवर्षि नारद सत्यकी हत्यासे चिन्तित थे । उनके समक्ष सचाईको कैसे जितावें, यह प्रश्न था । शिक्षाका पत्थरपर क्या प्रभाव होगा ? अतः उन्होंने नयी पीढ़ीको शिक्षित करना चाहा । उस समयकी पीढ़ी तो पत्थर बन गयी थी, किंतु आगेकी पीढ़ीको पत्थर बननेसे बचाया जा सकता था । परंतु उस समय परिस्थिति बहुत खराब थी । वे किसी बच्चेको कुछ सिखा नहीं सकते थे; क्योंकि तीनों लोकोंमें हिरण्यकशिपुका प्रभुत्व सतर्क था । नारदजी परिस्थितिकी प्रतीक्षा करने लगे ।

हिरण्यकशिपु तप करने चला गया था । इन्द्रने अपनी वस्तुएँ लौटा लेनेके लिये उसके नगरपर चढ़ाई कर दी । हिरण्यकशिपु तो था नहीं, इन्द्रका सामना कौन करता ? देवराजने सबको पराजित कर अपनी वस्तुएँ ले लीं और राजरानी कयाधूको भी कैद कर लिया । कयाधू गर्भवती थी । उसे अपनी चिन्ता तो थी ही, उससे बढ़कर अपनी गर्भस्थ संततिकी चिन्ता थी । वह जोर-जोरसे रोती-चिल्लाती चली जा रही थी ।

नारद ऐसे ही अवसरकी प्रतीक्षा कर रहे थे । वे झट वहाँ आ पहुँचे । उन्होंने इन्द्रको समझाया कि 'महिलाएँ अवध्य होती हैं, अतः इसे छोड़ दो ।' इन्द्रने कहा—'मैं कयाधूको नहीं मारूँगा । मारूँगा इसके गर्भस्थ शिशुको । साँपका बच्चा साँप होता है । हिरण्यकशिपुकी तरह बड़ा होकर यह भी निरीह लोगोंकी हत्या करेगा । करोड़ोंकी हत्याको बचानेके लिये एककी हत्या ठीक है ।'

नारदने रहस्यकी बात सुनायी । इन्द्र कयाधूको छोड़कर लौट गये । कयाधू नारदजीके आभारसे दब गयी थी । वह राजरानी थी । वह समझ गयी कि जबतक मेरे पतिदेव नहीं लौटते, तबतक नारदके पास रहनेमें ही मेरी सुरक्षा है । नारदकी तो योजना ही यही थी । कयाधू नारदजीके पास नहीं रहती, तो वे उसके गर्भस्थ शिशुको शिक्षा कैसे देते ? नयी पीढ़ीका निर्माण कैसे करते ?

शिक्षाका माध्यम सत्य घटना—ईश्वर-जैसे सूक्ष्म तत्त्वको समझानेके लिये नारदजीने सत्य घटनाको अपनी शिक्षाका माध्यम बनाया । इतिहास (इति+ह+आस) का अपलाप नास्तिक भी नहीं करता । सत्य घटनाके सामने आ जानेपर तर्ककी सब उछलकूद समाप्त हो जाती है । विरुद्ध होनेके कारण पथरायी बुद्धि उसे मानना तो नहीं चाहती, पर प्रत्यक्षका अपलाप भी तो नहीं कर पाती ।

नारदने सबसे पहले दो बच्चोंकी घटना रखी । दो बच्चे थे । उनमें एक जानता था कि मेंहदीकी पत्तीमें लाली होती है, दूसरा नहीं जानता था । पहलेने कहा—'देखो भाई ! मेरा हाथ कैसा लाल है । कल माँने मेंहदी लगा दी थी । उसीसे हाथ लाल हो गया है ।' दूसरेने कहा—'नहीं, मेंहदीकी पत्तीमें तो हरियाली होती है । मेरे बगीचेमें मेंहदीका वृक्ष है, मैंने देखा है ।' वह दौड़ गया, कुछ पत्ती तोड़ भी लाया । नखोंसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये, पर कहीं लाली नहीं दिखी । तब

वह बोला—'देखो मित्र! मैंने पत्तीके सैकड़ों टुकड़े कर दिये, पर इसमें लाली कहीं नहीं दीखती। कहाँ है वह लाली?' दूसरेने कहा—'मेरी माँने पीसकर इसे लगाया है। पीसनेपर लाली दीखती है। तुम भी पीसकर लगाकर थोड़ी देर छोड़ दो। फिर तुम्हारा हाथ भी लाल हो जायगा।' बच्चेको मित्रका लाल-लाल हाथ अच्छा लग रहा था। उसने भी अपनी माँसे मेंहदी पिसवाया। पिस जानेपर उसमें थोड़ी-थोड़ी लाली दीखने लगी थी। उसे लगाकर जब वह सो गया, तब उसके हाथमें भी चटकदार लाली आ गयी थी।'

नारदजीने घटनाकी व्याख्या करते हुए कहा—'बेटी कयाधू! जैसे मेंहदीकी पत्तीमें लाली रहती है, किंतु तोड़कर उसे नहीं देखा जा सकता। उसे देखनेकी एक पद्धति है, वैसे ही ईश्वर कण-कणमें व्याप्त है, उसे भी पद्धति-विशेषसे देखा जा सकता है। कयाधू! ईश्वर है और मैंने उसे देखा है।'

इस तरह नारद प्रतिदिन एक-न-एक सत्य घटना सुनाते रहे। ब्रह्माकी घटना सुनाकर उसकी व्याख्यामें उन्होंने सुनाया कि जिन ब्रह्माके वरदानसे तुम्हारा पतिदेव इतना शक्तिशाली बना है, उन ब्रह्माने भी तो ईश्वरतत्त्वका साक्षात्कार किया है। उसीकी शिक्षासे सृष्टिकी रचना की है। इसी तरह सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य आदिकी घटनाएँ वे प्रतिदिन सुनाते रहे और उनकी व्याख्या भी करते रहे।

घटनाका प्रभाव—कयाधू अपने पतिके प्रभावकारी सम्पर्कसे भले ही पत्थर बन गयी थी, किंतु उसके गर्भमें स्थित बच्चा अभी कच्ची मिट्टीका लोंदा था। इस लोंदेपर कोई संस्कार डालना जितना सरल होता है, पक जानेपर उसका मिटाना उतना ही कठिन। अतः प्रह्लाद नारदीय पद्धतिसे सर्वात्मना ईश्वरके भावसे भावित हो गया था। वह जब गुरुगृहमें गया, तब उसने अपने सच्चे संस्कारसे अपने साथियोंको भी संस्कृत कर लिया। इस तरह प्रह्लादने अपने गुरुकी 'नयी पीढ़ीका निर्माण' वाली पद्धतिको चालू रखा।

थोड़े दिनोंके पश्चात् तो प्रह्लादके जीवनमें ऐसी घटनाओंकी बाढ़ ही आ गयी, जिनसे ईश्वरकी सत्ता स्वतः स्पष्ट होती जा रही थी। आज वह आगमें जलाया जा रहा है, तो कल अतल-सागरमें हाथ-पैर बाँधकर डुबाया जा रहा है। आग तो जलाती है, किंतु वह प्रह्लादको जलाती क्यों नहीं? अवश्य कोई ऐसा सर्वशक्तिमान् है, जो आगकी दाहिका-शक्तिको कुण्ठित कर रहा है और पानीकी दम घोंटनेवाली शक्तिको बेकार कर रहा है। हिरण्यकशिपु इन दोनों कामोंमेंसे एक भी नहीं कर सकता था। फिर वह कैसा ईश्वर? इस तरह नयी पीढ़ीमें हिरण्यकशिपुवादका अस्तित्व समाप्त हो गया और आस्तिकवादकी स्थापना हो गयी।

सत्य घटना आज भी प्रभावक—सत्य घटना ईश्वर न माननेवालोंको कैसे चुप करा सकती है, इसका एक निदर्शन दिया जाता है। सन् १९५३ ई० की घटना है। बिरलाभवनमें गोपालदास बाबाने कई बार ईंटके टुकड़ोंको मिश्रीकी डलियोंमें परिणत कर दिया था। उस समय वहाँ विश्वके प्रमुख प्रतिनिधि विद्यमान थे। 'हिन्दुस्तान-टाइम्स'ने लिखा था—'उक्त बाबाजीके पास जर्मन-राजदूत, जापानी-राजदूत, मावलेकर साहब, श्रीसत्यनारायणसिंह, लक्ष्मीकान्त मिश्र आदि उपस्थित थे।' एक नम्बरी ईंटको भी बाबाने मिश्रीके रूपमें परिणत कर दिया था। उन्होंने ताँबेके अर्घ्यको सोनेका अर्घ्य बना दिया था और पानीको दूध भी बना दिया था। परीक्षणके लिये उस पानीसे बने दूधको गरमाकर दही जमाया गया और मथकर उससे घी भी निकाला गया।

अन्ततोगत्वा जब ये घटनाएँ सत्य हैं, तब बाबाने किस शक्तिसे यह अन्यथाकरण किया, इसका उत्तर तो ढूँढ़ना ही पड़ेगा? विज्ञानकी शक्तिसे यह सम्भव नहीं है। अतः अनीश्वरवादीके तर्कोंको यहाँ चुप हो जाना पड़ेगा। उनके ऊपर दूसरा संस्कार दृढ़ हो गया है, अतः वे आस्तिकताके रंगमें सर्वात्मना भले न रँगायें किंतु इस तथ्यको चुपचाप मानना तो पड़ेगा ही; क्योंकि आस्तिकताके समक्ष नास्तिकता कभी टिक नहीं पाती—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

महर्षि अगस्त्य

महर्षि अगस्त्य मित्रावरुणके तेजसे घड़ेसे उत्पन्न हुए थे (ऋक्० ७।३३।१३)। इन्होंने अनेक बार नष्ट होते हुए विश्वको बचाया है। एक बार कालकेय नामक दैत्योंने सम्पूर्ण विश्वको नष्ट करनेका भयानक विचार किया। उन्होंने सोचा कि विश्वकी रक्षा तपस्यासे होती है, अतः तपस्याको ही नष्ट कर दिया जाय। उन्होंने अपने बचावके लिये समुद्रके भीतर डेरा डाला। वे रातको समुद्रसे बाहर निकलकर पृथ्वीपर छा जाते और खोज-खोजकर तपस्वियोंका संहार करते। थोड़े ही दिनोंमें पृथ्वीपर कंकाल-ही-कंकाल दिखायी देने लगे। यज्ञ-याग सब बंद हो गये। देवताओंने विष्णुकी शरण ली। विष्णुने बतलाया कि 'तुमलोग अगस्त्यको तैयार कर लो कि वे समुद्रको सुखा दें। उनके अतिरिक्त और कोई समुद्रको नहीं सुखा सकता।' अगस्त्य विश्वके हितके लिये सदा तैयार ही रहते थे। उन्होंने समुद्रको सुखा दिया। फिर तो विश्वके विनाशकोंका ही सफाया हो गया (पद्मपु० सृ० १९।१८६, महा० वन० १०५)।

एक बार विन्ध्याचल सूर्यसे अप्रसन्न होकर उनका रास्ता रोककर खड़ा हो गया, इससे विश्वको बहुत कष्ट होने लगा। अगस्त्यने इस विपत्तिसे विश्वको बचाया। वे काशी छोड़कर दक्षिण चले गये और आजतक न लौटे (महा० वन० १०४)। नहुषके अत्याचारसे महर्षि अगस्त्यने ही इन्द्राणीकी लाज रखी (महा० शा० ३४२।५१)।

आतापि और वातापि दोनों भाइयोंने प्रतिदिन हजारों ब्राह्मणोंकी हत्या प्रारम्भ कर दी थी। महर्षि अगस्त्यने उनका अन्त कर इस विभीषिकाका भी अन्त कर दिया था (महा० वन० ९९।६)।

पितरोंके उद्धारके लिये इन्होंने लोपामुद्रासे विवाह किया था। इनके पुत्रका नाम दृढस्यु (इध्मवाह) था (महा० वनपर्व)।

भगवान् श्रीराम जब वनवासके समय अगस्त्यके आश्रममें पहुँचे थे, तब वहाँ ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सूर्य आदि प्रधान-प्रधान देवोंको देखा था। महर्षि अगस्त्यने भगवान् श्रीरामको सोने तथा हीरोंसे जटित धनुष, अमोघ बाण, अक्षय तूणीर तथा तलवार दिये थे (वा० रा० अरण्यकाण्ड)।

इस तरह महर्षि अगस्त्यकी शक्ति-सम्पन्नताकी अनेक कथाएँ हैं। इनके जीवनका एक सरस पक्ष बहुत ही मधुर है। भगवान् श्रीरामके प्रेमसे इनका बाहर-भीतर सदा सराबोर रहता था। इसी प्रेमकी चर्चा आश्रमवासियोंको भी सराबोर करती रहती थी। प्रत्येक आश्रमवासी प्रेमानन्दमें उल्लसित रहता था। वहाँ भगवान् शंकर भी आ जाया करते थे। जब सौन्दर्य-सिन्धु श्रीराम महर्षि अगस्त्यके आश्रममें इनके दर्शनार्थ आये, तब मानो आनन्द-सागरमें उल्लास-ही-उल्लास उमड़ पड़ा। सब टकटकी लगाकर श्रीरामको देखने लगे, मानो चकोरोंका समुदाय चन्द्रमाको देख रहा हो (मानस ३।१२)। अगस्त्यजीको कहना पड़ा—'भगवन्! मैं आपको अखण्ड अनन्त ब्रह्म जानता हूँ, तो भी मैं इस सगुणरूपपर ही लौट-लौटकर आता हूँ और आता रहूँ' (मानस ३।१३।१३)।

चरित्रसे शिक्षा—महर्षि अगस्त्यने अपने चरित्रसे शिक्षा दी है कि 'उपकार आदि सब कार्य करो, साथ ही भगवान्‌से प्रेम करना न भूलो; क्योंकि प्रेमका खेल खेलनेके लिये ही सृष्टिका आयोजन होता है, इसका और कोई प्रयोजन नहीं है।' महर्षि अगस्त्यने भगवान् श्रीरामसे याचना की थी कि 'दयामय! मैं यह वर चाहता हूँ कि आप श्रीसीता और लक्ष्मणके साथ मेरे हृदयमें सदा विराजमान रहें'—

यह बर मागउँ कृपा निकेता। बसहु हृदयँ श्री अनुज समेता॥

(मानस ३।१३।१०)

इनकी कुछ शिक्षाएँ—मनुष्यको चाहिये कि भगवान्‌की आराधना छोड़कर और किसी लोककी कामना न करे; क्योंकि प्रभुकी आराधनासे सभी लोक स्वयं

सुलभ हो जाते हैं। महर्षि अगस्त्यने भगवान् श्रीरामसे अपना एक अनुभव सुनाया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि परलोकमें भोजन पानेके लिये दान देना अत्यन्त आवश्यक है। यदि दान न दिया जाय तो कठोर तपस्याके बाद भी भोजन नहीं मिल सकता, ब्रह्मलोक भले मिल जाय। इसीलिये श्रुतिने कहा है कि 'चाहे लोक-लाजसे ही सही, जैसे बने दान अवश्य करना चाहिये।'

महर्षिने कहा था—'मैं एक घनघोर वनमें पहुँच गया था। वहाँ लम्बी-चौड़ी झील थी। उसके तटपर एक सुनसान जीर्ण आश्रम था। आश्रमके पास ही झील थी, जिसमें खूब हृष्ट-पुष्ट ताजा शव पड़ा था। मैं सोचने लगा कि यह किसका शव पड़ा है। इतनेमें वहाँ आकाशसे चमकता हुआ एक विमान उतरा। उसपर एक दिव्य पुरुष बैठा था। वह विमानसे उतरा और स्नान करके उसी शवको खाने लगा, उसे भरपेट खाया और उससे तृप्तिका अनुभव करने लगा। मुझे महान् आश्चर्य हो रहा था। तब मैंने पूछा—'देखनेमें तो तुम देवता मालूम पड़ते हो, फिर इतना घृणित भोजन क्यों करते हो?' वह हाथ जोड़कर बोला—'ब्राह्मण देवता! पहले मैं विदर्भका राजा था। वैराग्य हो जानेपर जीवनभर तपस्याके लिये निश्चय कर लिया। तब इस निर्जन वनमें आया और अस्सी हजार वर्षोंतक तप भी किया। मरनेपर तपस्याके प्रभावसे सबसे ऊँचा लोक ब्रह्मलोक भी प्राप्त हुआ। वहाँ सब सुविधाएँ मिलीं, किंतु भोजन न मिला। मारे भूखके मैं तिलमिला उठा। तब ब्रह्मदेवने बताया कि 'पृथ्वीलोकमें दान किये बिना ऊपरके लोकोंमें भोजन नहीं मिलता; तुमने कभी किसीको खिलाया नहीं, अपितु स्वयं खाया, अतः अब तुम्हारा भोजन तुम्हारा जीवरहित शरीर ही है। सौ वर्षके बाद जब अगस्त्यजी मिलेंगे, तब तुम्हारा कल्याण कर देंगे। राजर्षे! अगस्त्य ऋषिका प्रभाव अतर्क्य है। वे इन्द्रसहित सभी देवताओं और असुरोंका भी उद्धार कर सकते हैं।' राजा श्वेतने आगे कहा—'न जाने कब उन महान् ऋषिके दर्शन होंगे? यों मेरे सौ वर्ष पूरे हो गये हैं।'

उसकी करुण-कहानी सुनकर मैंने उसे अपना परिचय दिया और पूछा—'बताओ मैं तुम्हारा कौन-सा उपकार करूँ?' उसने मुझे एक दिव्य आभूषण दिया और कहा कि इसे आप स्वीकार न करेंगे तो मेरा उद्धार सम्भव नहीं है। उसके उद्धारकी दृष्टिसे मैंने वह आभूषण ले लिया। ज्यों ही आभूषण मेरे हाथमें आया, त्यों ही वह हृष्ट-पुष्ट अक्षय शव वहाँसे अदृश्य हो गया। राजा श्वेत प्रसन्न मनसे ब्रह्मलोक चला गया। इसके बाद महर्षि अगस्त्यने वह आभूषण भगवान् श्रीरामको भेंट कर दिया।

प्रजापति कश्यप

प्रजापति कश्यप मरीचिके ज्येष्ठ पुत्र थे। इनकी माताका नाम 'कला' था (भा० ४। १)। कश्यप भी प्रजापति माने जाते हैं (महा० अनु० १४१)। सच तो यह है कि कश्यपसे सृष्टिका विस्तार अत्यधिक हुआ। इनकी तेरह पत्नियाँ थीं, उनमें अदितिसे देवता, दितिसे दैत्य, दनुसे दानव, कद्रूसे नाग, कपिलासे गायें और दो खुरवाले प्राणी, काष्ठासे एक खुरवाले प्राणी, क्रोधवशासे क्रूर जलचर-प्राणी और क्रोधवश नामक राक्षस तथा इरासे वृक्ष आदि उत्पन्न हुए।

एक बार पृथ्वीकी अधिष्ठात्री देवी राजा अङ्गसे अप्रसन्न होकर मृत्युलोकको छोड़कर ब्रह्मलोक चली गयीं। उस समय प्रजापति कश्यपने ही योगबलसे पृथ्वीको धारण किया था। ब्रह्मलोकसे जब पृथ्वीदेवी लौटीं, तब इन्होंने प्रजापति कश्यपको पिताका सम्मान दिया। तबसे पृथ्वी 'काश्यपी' कहलाने लगी। एक बार दुष्टोंके भारसे पृथ्वी अपनी कक्षासे च्युत होने लगी। तब कश्यपने अपने उरुका सहारा दे दिया। तबसे पृथ्वीका नाम 'उर्वी' पड़ गया (महा० शा० ४९)।

परशुरामने इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार कर दिया था। महर्षि कश्यप इसे रोकना चाहते थे, किंतु यह

अवसर तब हाथ लगा, जब परशुरामने कश्यपको सारी पृथ्वी दक्षिणामें दे दी। कश्यपने बतलाया कि 'अब आपको पृथ्वीकी सीमासे बाहर रहना पड़ेगा।' तब परशुराम समुद्रसे निकले हुए भाग कोंकणमें रहने लगे। इस तरह प्रजापति कश्यप क्षत्रियोंको विनाशसे बचाकर एवं ब्राह्मणोंके ऊपर पृथ्वीका भार सौंपकर स्वयं तपस्यामें संलग्न हो गये।

माताके आचरणका संततिपर प्रभाव

(क) शास्त्र-निषिद्ध आचरणसे क्रूर संतान— एक बार प्रजापति कश्यप सायंकालका आहुतिकर्म सम्पन्न कर चुके थे, किंतु अभी सूर्यास्तका समय समाप्त न हुआ था, अतः ध्यान लगानेका उपक्रम कर रहे थे। इसी बीच उनकी पत्नी दिति पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे इनके पास पहुँची। वह कामसे आतुर थी। प्रजापति कश्यपने पत्नीका सम्मान किया। साथ ही समझाया कि 'यह संध्याका समय है। इस समय बहुत-से कर्म वर्जित हैं, जिनमें यह कर्म भी है। एक मुहूर्त्त ठहर जाओ। तुम्हारी इच्छा अवश्य पूरी करूँगा।' किंतु दिति अपने हठपर अड़ी रही। अन्तमें प्रजापति कश्यपको यह भी कहना पड़ा कि 'देवि! थोड़ी देर ठहरनेमें क्या आपत्ति है? तत्काल तुम्हारी इच्छा-पूर्ति करूँगा तो मेरा भी व्यक्तित्व कलङ्कित होगा?' किंतु दिति अपने हठपर अड़ी रही। नारियोंका असम्मान न हो जाय, इस भयसे प्रजापति कश्यपने दितिकी इच्छा पूर्ण की। इसके बाद स्नानकर वे भगवच्चिन्तन करने लगे।

आवेश शान्त होनेपर दितिको ग्लानि हुई। उसे इस बातका भय भी हुआ कि निषिद्ध समय होनेके कारण मेरी संततिकी कोई हानि न हो जाय। वह सिर नीचा किये हुए पतिके पास पहुँची और बोली—'नाथ! मैंने भूतभावन शंकरका अपमान किया है; क्योंकि उनके कालमें न करनेयोग्य काम मुझसे बन गया है, किंतु वे मेरे गर्भको नष्ट न करें। मैं हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना कर रही हूँ।' प्रजापति कश्यपने कहा—'तुम्हारे गर्भका नाश तो न होगा, किंतु शास्त्रकी अवहेलनासे तुम्हारे पुत्र बड़े अत्याचारी होंगे। वे सारे विश्वको रक्तसे रँग देंगे।'

(ख) शास्त्रविहित आचरणसे उत्कृष्ट संतान— प्रजापति कश्यपने दितिसे आश्वासन देते हुए कहा—'भद्रे! तुमने जो अपने निषिद्ध कर्मके लिये पश्चात्ताप किया है और भगवान् शंकरकी प्रार्थना की है तथा विष्णु, शिव और मेरे प्रति आदर-भाव दिखलाया है, इस कारण ये शास्त्रविहित कर्म भी तुमसे हो गये हैं। इसका सुन्दर फल यह होगा कि तुम्हारा एक पौत्र महान् भागवत होगा।' आगे चलकर दोनों परिणाम सामने आये। माताके निषिद्ध आचरणका फल यह हुआ कि उसके दो अत्यन्त आततायी पुत्र हुए—हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु। शास्त्रविहित आचरणका परिणाम यह हुआ कि उसके पौत्र प्रह्लाद महान् संत उत्पन्न हुए।

गर्भावस्थामें माता क्या करे

मन, वचन और कर्मसे किसी प्राणीको न सताये। झूठ न बोले। क्रोध न करे। बिना धुला वस्त्र न पहने। किसीकी पहनी हुई माला न पहने। दुर्जनोंसे बात न करे। जूठा न खाये। सोनेके पहले पैर धोकर पोंछ ले। अपवित्र अवस्थामें, उत्तर या पश्चिम सिर करके और दूसरेके साथ न सोये। सदा पवित्र रहे। प्रातः कुछ खानेके पहले नहाकर गौ, ब्राह्मण, लक्ष्मी और नारायणकी पूजा करे। इसके बाद पुष्पमाला, सुगंध-द्रव्य, वस्त्र, आभूषण आदिसे सुवासिनियोंकी पूजा करे। सूने घरमें न घुसे। बाँबीपर न खड़ी हो। नख तथा राखसे रेखा न खींचे। न तो अलसायी रहे और न अधिक श्रम करे। भूसी, राख, हड्डी, कोयले और खपड़ेपर न बैठे। बाल खोलकर खड़ी न रहे। कभी मनमें उद्वेग न लाये। कलह न करे। अमङ्गलयुक्त वचन न बोले। अधिक हँसी न करे। गुरुजनोंके सामने विनम्र रहे और उनका सदा आदर करे। उत्तम कार्योंमें संलग्न रहे। पतिकी सेवामें लगी रहे। बिना चादर ओढ़े घरसे न निकले। सौभाग्यके चिह्नोंसे सुसज्जित रहे। सदा भावना करती रहे कि पतिका तेज मेरी कोखमें स्थित है (पद्म॰ पु॰ सृ॰ ख॰ ६। १८)।

श्रीदक्षप्रजापति

दक्ष ब्रह्माके अँगूठेसे उत्पन्न हुए थे। ब्रह्माने इन्हें आज्ञा दी कि 'तुम पराम्बाको पुत्रीरूपमें प्राप्त करनेके लिये तप करो।' दक्षमें पितृभक्तिका गुण कूट-कूटकर भरा था। पिताकी आज्ञा शिरोधार्य कर उन्होंने तीन हजार दिव्य वर्षोंतक घोर तप किया। कृपालु पराम्बा प्रसन्न हो गयीं। उन्होंने दक्षके घर पुत्रीरूपमें अवतीर्ण होनेका वरदान दे दिया।

दक्ष प्रसन्नतापूर्वक पिताके पास उपस्थित हुए। उन दिनों ब्रह्मा सृष्टि-विस्तारके लिये बहुत व्यग्र रहते थे। पिताका भार हलका करनेके लिये दक्ष भी मानसी सृष्टि करनेमें अपने तपका उपयोग करने लगे; किंतु प्रजा बढ़ नहीं पा रही थी। तब ब्रह्माने उपाय बतलाया कि 'दक्ष! तुम वीरण प्रजापतिकी कन्या असिक्नीसे विवाह कर लो। इस प्रकार मैथुनी-सृष्टिसे प्रजाका विस्तार अपने-आप होता रहेगा।'

दक्षने पिताकी आज्ञासे वीरणीके गर्भसे दस हजार पुत्रोंको उत्पन्न किया, जो 'हर्यश्व' कहलाये। ये नारदके तत्त्वोपदेशसे कल्याणपथके पथिक हो गये। इसके बाद दक्षने एक हजार पुत्र और उत्पन्न किये, जो 'शबलाश्व' नामसे प्रसिद्ध हुए। ये भी नारदके संगसे अपने बड़े भाइयोंके पथके पथिक हो गये। इसके बाद दक्षने साठ कन्याओंको उत्पन्न किया और इनका योग्य वरोंके साथ विवाह कर दिया। इस तरह दक्षप्रजापतिने अपनी संतति-परम्परासे तीनों लोकोंको भर दिया।

अभी पराम्बाका वरदान फलीभूत न हुआ था। एक दिन पति-पत्नीने बड़े मनोयोगसे पराम्बाको पुकारा। पराम्बा पुत्रीके रूपमें इनके यहाँ अवतीर्ण हो गयीं और घोर तप करके भगवान् शंकरको पतिरूपमें प्राप्त कर लिया। इस तरह दक्षप्रजापति कर्मठताके साथ सृष्टिके कार्यको आगे बढ़ा रहे थे। उनकी योग्यताके अनुरूप उन्हें सभी प्रजापतियोंका पति बना दिया गया था।

पितृभक्ति आदि गुणके कारण दक्षको इस तरह सर्वोच्च पद प्रदान किया गया था; किंतु ऊँचा पद पाकर उनमें अभिमान आ गया। जिन शिवजीको वे पहले ईश्वर और अपना स्वामी मानते थे, उन्हींको अब केवल दामाद मानने लगे। कर्मकाण्डको ही वे सम्पूर्ण वेद मान बैठे थे। ज्ञानकाण्ड उनकी आँखोंसे ओझल हो चुका था। वे अपने पथपर शिवजीको देखना चाहते थे। शिवजीकी निस्त्रैगुण्य स्थितिको वे समझ न पाते थे। फल-स्वरूप वे शिवजीसे द्रोह करने लगे थे। यही कारण है कि अपने पुत्रोंके कल्याण करनेवाले नारदको उन्होंने उनका ऋण न मानकर उलटे शाप दे डाला था। शिवजीको भी शाप दिया था कि 'यज्ञमें इन्हें भाग न मिलेगा' (स्क० मा० के० १)।

सर्वसमर्थ जब पथभ्रष्ट हो जाता है, तब उसका प्रभाव दूसरे लोगोंपर भी पड़ता ही है। दक्ष उन दिनों समस्त ब्रह्माण्डके अधिपति बनाये गये थे। यही कारण है कि प्रयागके यज्ञमें जब दक्षने भगवान् शंकरको खरी-खोटी सुनायी, तब भृगु आदि उन्हें दुष्ट मानकर निन्दा करने लगे थे। इस तरह दक्ष प्रजापति और उनके प्रभावमें आये लोग वेदवादमें फँसकर वेदके तत्त्वज्ञानसे शून्य हो रहे थे। उनका लक्ष्य एकमात्र 'स्वर्ग' रह गया था। अपवर्गकी तो उन लोगोंने उपेक्षा कर दी थी। फिर वे शिवतत्त्वको क्या समझते?

एक बार जब कनखलमें दक्षने यज्ञ किया, तब उसमें उन्होंने शिवजीको भाग नहीं दिया; अपितु उनकी इतनी निन्दा की कि सतीको देह त्यागना पड़ा। इसका परिणाम अत्यन्त दुःखद हुआ। यज्ञका ध्वंस हो गया। दक्षकी जान गयी। भृगुकी दाढ़ी-मूँछ नोच ली गयी। पूषाके दाँत उखाड़े गये। भगकी आँखें निकाल ली गयीं। भगवान् शंकर तो आशुतोष हैं। उन्होंने ब्रह्माकी प्रार्थनापर यज्ञकी पूर्ति कर दी। दक्ष जिलाये गये; किंतु सिर बकरेका हो गया। भृगुको भी बकरेकी दाढ़ी-मूँछ लगा दी गयी। भगदेव मित्र देवताकी आँखोंसे देखने लगे। पूषा यजमानके दाँतोंसे खाने लगे। अन्य देवताओंके भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्वस्थ हो गये। ऐसी व्यवस्था इसलिये

की गयी थी कि ये लोग अहंकारमें आकर ईश्वरको हटाकर उसकी गद्दीपर फिरसे 'कर्म'को न बैठा दें।

दण्डसे शिक्षा—दक्षको अब अपनी भूल समझमें आ गयी थी। उन्होंने बकरेके मुखसे भगवान् शिवकी स्तुति करते हुए कहा—'मेरी दृष्टि एकाङ्गी हो गयी थी। मैं मूढतावश वेदके एक अङ्गपर तो फूल चढ़ा रहा था और दूसरे अङ्गपर शूल। वेदके प्रधान अङ्ग सिरको ही मैंने काट दिया था, अतः मेरा वह दुष्ट अङ्ग काटा गया। अनुरूप दण्ड देकर आपने मुझे अच्छी शिक्षा दी है। आपके इस अनुग्रहसे मैं उपकृत हो गया। अब भी आपको प्रसन्न करने योग्य मेरे पास कोई गुण नहीं है। बस, आप अपनी कृपासे ही मुझपर प्रसन्न हों' (भाग० ४)।

सर्वाङ्गीण दृष्टि अपनाओ—दो भाई थे। दोनोंकी दृष्टि एकाङ्गी थी। उनके घर गुरुजी आ गये। एकने कहा—'गुरुजी मेरे हैं, तुम्हारे नहीं; मैं सेवा करूँगा।' दूसरेने इसी बातको जोरदार शब्दोंमें दोहराया। हाथापाईकी नौबत आ गयी। गुरुजीने विवाद सुलझाया—'आधे अङ्गकी एक सेवा करे और आधेकी दूसरा सेवा करेगा।' थोड़ी देर गाड़ी खिसकी। गुरुजी थके थे, अतः उन्हें नींद आने लगी। गुरुजीका एक पैर दूसरेपर आ गया। दूसरे भाईने उस पैरपर कसकर एक लाठी मारी और कहा—'तुम्हारा पैर मेरे गुरुजीके पैरपर कैसे आ गया?' घबराकर गुरुजीने इस पैरको उस पैरपर कर लिया। दूसरा भाई भी इसी अवसरकी प्रतीक्षा कर रहा था। उसने भी लाठी चलाकर बदला लेते हुए कहा—'तुम्हारा पैर मेरे हिस्सेके पैरपर कैसे आ गया?' बेचारे गुरुजीकी दुर्गति हो गयी।

दक्ष, भृगु आदिके द्वारा वेदकी भी यही दुर्गति हो रही थी। वेदके तीन अङ्ग हैं—(१) कर्मकाण्ड, (२) ज्ञानकाण्ड और (३) उपासनाकाण्ड। इन तीनोंको वेद समझना वास्तविक ज्ञान है। दक्ष और उनके अनुयायी कर्मकाण्डमात्रको वेद समझ रहे थे। निस्त्रैगुण्य-विषयक वेदान्तको वेद नहीं समझते थे। अतः इस पथपर चलनेवाले भगवान् शंकरको वेदबाह्य मानते थे। इस तरह दक्ष और उनके अनुयायी वेदके एक अङ्गपर फूल चढ़ा रहे थे और दूसरे अङ्गपर शूल। दो भाइयोंने जैसी गुरुजीकी दुर्गति कर दी थी, वैसे ही इन लोगोंने भी वेदकी और उसके प्रतिपाद्यकी हत्या कर रखी थी। ब्राह्मणोंके एक वर्गकी यह नादानी आगे विश्वको पथभ्रष्ट कर सकती थी। अतः दण्ड देकर सर्वाङ्गीण-दृष्टि रखनेकी शिक्षा दी गयी। (शि० पु०)।



महर्षि विश्वामित्र



महर्षि विश्वामित्र तपस्याके धनी थे। देवताओंके द्वारा त्रिशंकुको स्वर्गसे गिरा दिये जानेके बाद भी इन्होंने तपस्याके बलपर प्रतिश्रवण आदि नूतन नक्षत्रोंको रचकर फिर स्वर्ग पहुँचा दिया था (महा० अनु० ४।९, महा० आ० ७१।३४)। उस अवसरपर देवताओंने विश्वामित्रकी अवहेलना कर त्रिशंकुकी यज्ञ-सामग्रियोंको ही नष्ट कर दिया था। तब विश्वामित्रने अपनी तपस्याके बलपर नूतन यज्ञ-सामग्रियोंकी सृष्टि कर डाली थी (महा० आ० ७१।३५)। इन्द्र भी इनसे भय खाते थे (महा० आ०७१।३२)। तपस्याके बलसे ये क्षत्रियसे ब्राह्मण हो गये थे (महा० आ० ७४।४८, महा० अनु० ४।४८)।

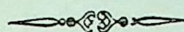
इनकी कुछ शिक्षाएँ

ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठना—ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठे। शौच, दातौन, स्नान कर संध्योपासन करे। गायत्री-जप करे। जब सूर्य उगने लगें तो उपस्थान करे।

संध्याके तीन भेद—प्रातःकाल तारा रहते संध्या उत्तम, तारा लुप्त होनेपर मध्यम और सूर्य निकल आनेपर अधम मानी जाती है। सायंकालकी संध्या सूर्य रहते उत्तम,

सूर्य डूबनेपर मध्यम और तारा उग आनेपर अधम मानी जाती है (विश्वामित्र-स्मृति १।२२-२४)।

समयका अतिक्रमण न करे—शास्त्रने जो समय बतलाया है, उसका अतिक्रमण करना अच्छा नहीं है। जैसे अकालमें वर्षासे लाभ नहीं होता, वैसे अकालमें संध्या आदि कर्मसे लाभ कम होता है। संध्या और स्नान छोड़कर अध्ययन करना भी अनुचित है। इससे अधर्म होता है और विद्याका नाश होता है (वि० स्मृ० १।२०)।

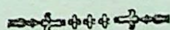


महाराज मनु



मरीचि आदि पुत्रोंके सतत प्रयत्नके बाद भी सृष्टिका विस्तार नहीं हो पा रहा था, इस बातको लेकर एक दिन ब्रह्मा बहुत चिन्तित थे। उसी समय उनके शरीरके दो भाग हो गये। दायें भागसे पुरुष और बायें भागसे स्त्रीकी उत्पत्ति हुई। जो पुरुष था, वह स्वायम्भुव मनु हुए और जो स्त्री थी, वह महारानी शतरूपा हुईं। तबसे मिथुन-धर्मसे सृष्टि होने लगी। स्वायम्भुव मनुने शतरूपासे पाँच संतानें उत्पन्न कीं, जिनमें प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र हुए तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति तीन कन्याएँ हुईं (भाग० ३।१२।४९-५६)। मनुको सबका पिता और सबसे पहला राजा माना गया है—**मानव्यः प्रजाः** (तै०सं० १।७५।१।३)। वेदोंने हमें शिक्षा दी है कि 'हम मनुके आदेशपर ही चलें; क्योंकि उन्होंने जो कुछ सिखाया है, वह सब पोषक औषध है—**'मनुर्यदवदत् तत्तद् भेषजं भेषतायाः'** (श्रुति)। उत्तमताके पथपर चल सकना कठिन होता है, अतः वेदोंने एक उपाय बताया है कि हम प्रतिदिन प्रार्थना किया करें कि 'प्रभो! हमें ऐसी शक्ति दो कि हम अपने पिता मनुके पथसे विचलित न हों'—**मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः** (ऋक्० ८।३०।३)।

मनुकी कुछ शिक्षाएँ— वेद और धर्मशास्त्रने जैसा विधान किया है, वैसा ही आचरण करना चाहिये। इससे इस लोकमें कीर्ति और परलोकमें सुख मिलता है (मनु० २।८-९)। वेद आदि शास्त्रोंपर कोरा तर्क नहीं करना चाहिये। यदि कोई ऐसा करे तो उसका बहिष्कार कर दें (मनु० २।१०)। इस कल्पमें महिलाओंका यज्ञोपवीत नहीं होता। इसलिये केवल इनका विवाह वैदिक मन्त्रोंसे होता है। पतिकी सेवा इनका गुरुकुलका वास और घरकी परिचर्या अग्निहोत्र माने जाते हैं (मनु० २।६७)। संध्योपासन नित्यकर्म है। इसे तीनों समय अवश्य करना चाहिये। मनुजीने कहा है कि 'जो द्विज प्रातःकाल और सायंकालकी संध्या नहीं करता उसका बहिष्कार कर देना चाहिये' (मनु० २।१११)। अहिंसाका पालन करना चाहिये। मन, वचन और कर्मसे हिंसा होती है, अतः तीनों प्रकारकी हिंसाका त्याग करे। सदा मीठी वाणी बोले। किसीके द्वारा पीड़ा पहुँचाये जानेपर भी कठोर वाणी न बोले। जिससे किसीको तनिक भी उद्वेग हो, ऐसी वाणी न बोले (मनु० २।१६०-१६१)।



महर्षि याज्ञवल्क्य

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रकाण्ड पण्डित, शास्त्रोंमें प्रगल्भ और महाबुद्धिमान् थे। ऐसा कोई विषय नहीं था, जिसे वे न जानते हों (महा० शा० ३।८।६४-६५)। इनका छात्र-जीवन अत्यन्त अध्यवसायसे सम्पन्न था। इनके गुरु वैशम्पायन इनके मामा भी थे (महा० शा० ३१८।१७)। एक बार गुरुजीने इनसे अप्रसन्न होकर अपनी पढ़ायी विद्या उगलवा ली (भा० १२।६।६३-६४)। तब याज्ञवल्क्यने सोचा कि मैं कुछ ऐसी भी श्रुतियाँ प्राप्त करूँ, जो मेरे गुरुजीके पास भी न हों। इसके लिये उन्होंने सूर्यकी उपासना की (भा० १२।६।६६)। सूर्य

भगवान्‌को प्रसन्न होना पड़ा । उनसे इन्होंने शुक्ल यजुर्वेदकी पंद्रह शाखाएँ प्राप्त कीं (महा० शा० ३१८ । २१) । ये शाखाएँ पृथ्वीके लोगोंसे अज्ञात थीं (महा० शा० ३१८ । ५) । भगवान् सूर्यने इनमें वाङ्मयी सरस्वतीका प्रवेश कर दिया था, जिनसे इन्होंने शतपथका दर्शन किया था (महा० शा० ३१८ । ७-१६) । वैदिक वाङ्मयका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेके बाद इन्होंने पुराणोंको भी गुरुमुखसे प्राप्त किया । इनके पौराणिक गुरु थे—व्यासके शिष्य रोमहर्षण (महा० शा० ३१८ । २१) ।

इस तरह पूरे अध्यवसायके साथ सम्पूर्ण विद्याओंके प्राप्त करनेके बाद महर्षि याज्ञवल्क्यने सैकड़ों शिष्योंको मनोयोगसे पढ़ाया । फिर इन शिष्योंने सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंमें शिक्षाका प्रकाश फैलाया (महा० शा० ३१८) । इस तरह सारा भूमण्डल शिक्षाके प्रकाशसे आलोकित हो गया ।

एक दिन विश्वावसु, जो वेदान्तके पूर्ण मर्मज्ञ थे, श्रीयाज्ञवल्क्यके पास आये । उन्होंने इनसे चौबीस प्रश्न पूछे । वे प्रश्न बहुत ही दुरूह थे । महर्षि याज्ञवल्क्यने उन प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये विश्वावसुसे कुछ क्षणका समय माँगा । इसके बाद याज्ञवल्क्यने श्रीसरस्वतीदेवीका स्मरण किया । फिर तो जैसे दहीसे मक्खन निकल आता है, वैसे ही उन प्रश्नोंका उत्तर निकल आया । उस उत्तरसे विश्वावसुको पूरी संतुष्टि हुई । उन्होंने महर्षिकी परिक्रमा कर अभिनन्दन किया और प्रसन्नताके साथ लौट गये । विश्वावसु शिक्षा-प्रसारके बड़े पक्षपाती थे, इसलिये तीनों लोकोंमें घूम-घूमकर उन्होंने इन गूढ़ रहस्योंको प्रसारित किया था (महा० शा० ३१८ । २७-८५) । इस तरह महर्षि याज्ञवल्क्यने सारे ब्रह्माण्डमें शिक्षाके प्रकाशको फैलाया था ।

इनकी कुछ शिक्षाएँ

आत्मा ही सब कुछ है—जैसे नमकके डलेमें बाहर-भीतर नमक-ही-नमक है, वैसे जगत् और आत्मामें परमात्मा-ही-परमात्मा है । वस्तुतः जैसे नमक बाहर और भीतरके भेदसे शून्य होता है, वैसे परमात्मा भी बाह्य-आभ्यन्तर-भेदसे शून्य है । सब परमात्मा-ही-परमात्मा है—**'इदं सर्वं यदयमात्मा'** (बृ० उ० ४ । ५ । ७) ।

आत्मा और परमात्मामें कोई भेद नहीं है । वस्तुतः प्रिय यह आत्मा ही होता है । भ्रमसे समझा जाता है कि पत्नी प्रिय है, पुत्र प्रिय है । हे मैत्रेयि ! यह निश्चय है कि पतिके निमित्त पति प्रिय नहीं होता, अपितु अपने प्रयोजनके लिये ही पति प्रिय होता है । स्त्रीके निमित्त स्त्री प्रिय नहीं होती, अपितु अपने प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिय होती है । इसी तरह पुत्र, मित्र, धन आदि सब वस्तुएँ अपने ही प्रयोजनके लिये प्रिय होती हैं (बृ० उ० ४ । ५ । ६) । इसलिये भ्रम छोड़कर परम प्रिय आत्मतत्त्वका ही भाषण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ।

मानवमात्रके धर्म—किसीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्र रहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, दान देना, सभी प्राणियोंपर दया करना, मनको वशमें रखना और क्षमा करना—ये मनुष्यमात्रके धर्म हैं (याज्ञ० स्मृति १ । १२२) ।

महिलाओंका सम्मान करना चाहिये—पति, भाई, पिता, गोत्रके लोग, सास, ससुर, देवर और बन्धुओंका कर्तव्य है कि ये लोग सब तरहसे नारियोंका सम्मान करें (याज्ञ० स्मृति १ । ८२) ।

केवल धर्मका आचरण करे—श्रुति और स्मृतिके कथनके अनुसार चले । मन, वचन और कर्मसे यत्नपूर्वक धर्मका आचरण करे (याज्ञ० स्मृति १ । १५४ और १५६) ।

गृहस्थ भी मुक्त हो सकता है—न्यायसे प्राप्त धनसे जीविका चलानेवाला, तत्त्वज्ञानमें स्थित, अतिथि-सत्कार करनेवाला, श्राद्ध करनेवाला और सत्यवादी गृहस्थ भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है (याज्ञ० स्मृति ३ । २०५) ।

ज्ञानी, तपस्वी, शूर, कवि, पण्डित, गुणी कौन है? इस संसारमें जिसे मोहने भरमाया नहीं, कामने नचाया नहीं । यह जगत् तो काजलकी कोठरी है, कलंकसे बचनेका बस, एक ही उपाय है भगवान्‌का सतत स्मरण ।

परमशिक्षा

विद्यया विन्दतेऽमृतम्

ब्रह्मज्ञानके अधिकारी

एक समय प्रजापतिने कहा कि 'आत्मा पापसे रहित, बुढ़ापेसे रहित, मृत्युसे रहित, शोकसे रहित, क्षुधासे रहित, पिपासासे रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। उस आत्माकी खोज करनी चाहिये। वही जानने योग्य है। जो उस आत्माको जानकर उसका अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण लोकों और सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त करता है।'

प्रजापतिके इस वचनको सुनकर देवता और असुर दोनोंने आत्माको जाननेकी इच्छा की। देवताओंने इन्द्रको और असुरोंने विरोचनको अपना प्रतिनिधि चुना। वे दोनों समित्पाणि होकर विनयपूर्वक प्रजापतिके पास गये[१] और वहाँ उनकी आज्ञाके अनुसार बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन किये। फिर वे प्रजापतिके पास गये। उन्होंने उनसे पूछा—'किस इच्छासे तुम दोनों यहाँ आकर रह रहे हो?'

उन्होंने कहा—'भगवन्! आपने जो कहा कि आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधा और पिपासासे रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, वह जानने योग्य है, वही अनुभव करने योग्य है, जो उसे जानकर उसका अनुभव करता है वह सम्पूर्ण लोकों और सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त होता है। हम उस आत्माको जाननेकी इच्छासे यहाँ आये हैं।'

प्रजापतिने कहा—'आँखोंमें यह जो पुरुष द्रष्टा—अन्तर्मुखी दृष्टिवालोंको दीखता है, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय है, यही ब्रह्म है।'

इन्द्र और विरोचनने अशुद्धबुद्धि होनेके कारण इस कथनको अक्षरशः ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया। उन्होंने समझा कि नेत्रोंमें जो मनुष्यका प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है, वही आत्मा है। इसी निश्चयको दृढ़ करनेके लिये उन्होंने प्रजापतिसे फिर पूछा—'भगवन्! जलमें जो पुरुषका प्रतिबिम्ब दीखता है अथवा दर्पणमें शरीरका जो प्रतिबिम्ब दीखता है, इन दोनोंमेंसे आपका बतलाया हुआ ब्रह्म कौन-सा है? क्या ये दोनों एक ही हैं?' प्रजापतिने कहा—'हाँ, हाँ, वह इन दोनोंमें ही दीख सकता है। वही प्रत्येक वस्तुमें है।'

इसके बाद प्रजापतिने उनसे कहा—'जाओ, उस जलसे भरे हुए कुण्डमें देखो और यदि वहाँ आत्माको न पहचान सको तो फिर मुझसे पूछना, मैं तुम्हें समझाऊँगा।' दोनों जाकर कुण्डमें अपना प्रतिबिम्ब देखने लगे। प्रजापतिने पूछा—'तुमलोग क्या देखते हो?' उन्होंने कहा—'भगवन्! नखसे लेकर शिखातक हम सारे आत्माको देख रहे हैं।' नख-शिखकी बात सुनकर ब्रह्माजीने फिर कहा—'अच्छा, तुम जाओ और शरीरोंको स्नान कराकर अच्छे-अच्छे गहने पहनो और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र धारण करो। फिर जाकर जलके कुण्डमें देखो।' 'नख और केशके सदृश यह शरीर भी अनात्म है' इसी बातको समझानेके लिये प्रजापतिने यों कहा, परंतु दोनोंने इस बातको नहीं समझा। वे दोनों अच्छी तरह नहा-धोकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालंकारोंसे सजकर कुण्डपर गये और उसमें प्रतिबिम्ब देखने लगे। प्रजापतिने पूछा—'क्या देखते हो?' उन्होंने कहा—'भगवन्! जैसे हमने

१. यह नियम है कि 'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्डकोप० १।२।१२)। 'शिष्यको हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना चाहिये।'

सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण किये हैं, इसी प्रकार हमारे इस आत्माने भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालंकारोंको धारण किया है ।'

प्रजापतिने सोचा कि अन्तःकरणकी अशुद्धिके कारण आत्माका यथार्थ स्वरूप इनकी समझमें नहीं आया, सम्भवतः मेरे वचनोंका मनन करनेसे इनके प्रतिबन्धक संस्कारोंके दूर होनेपर इन्हें आत्मस्वरूपका ज्ञान हो सकेगा । यह विचारकर प्रजापतिने कहा—'यही आत्मा है, यही अविनाशी है, यही अभय है, यही ब्रह्म है ।'

प्रजापतिके वचन सुन इन्द्र और विरोचन संतुष्ट होकर अपने-अपने घरकी ओर चले । उन्हें यों ही जाते देखकर प्रजापतिने मनमें कहा—'ये बेचारे आत्माको जाने बिना ही, साक्षात् अनुभव किये बिना ही जा रहे हैं । इन देव और असुरोंमेंसे जो कोई भी इस (प्रतिबिम्बके आधारस्वरूप शरीरको ही ब्रह्म माननेके) उपनिषद्‌वाले होंगे, उनका तो पराभव ही होगा ।'

विरोचन तो अपनेको ज्ञानी मानकर शान्त हृदयसे असुरोंके पास जा पहुँचे और प्रतिबिम्बके निमित्त शरीरको ही आत्मा समझकर उन्होंने इस शरीरमें आत्मबुद्धि-रूप उपनिषद्‌का उपदेश आरम्भ कर दिया । उन्होंने कहा—'प्रजापतिने शरीरको ही आत्मा बतलाया है, इसलिये यह शरीररूपी आत्मा ही पूजा करने योग्य है, यही सेवा करने योग्य है, इस जगत्‌में केवल इस शरीररूपी आत्माकी ही पूजा और सेवा करनी चाहिये । इसीकी सेवासे मनुष्यको दोनों लोक (दोनों लोकोंमें सुख) प्राप्त हो सकते हैं ।'

इस देहात्मवादके कारण जो दान नहीं करता, सत्कार्योंमें श्रद्धा नहीं रखता तथा यज्ञादि नहीं करता, उसे आज भी असुर कहा जाता है । यह देहात्मवादी उपनिषद् असुरोंका ही चलाया हुआ है । ऐसे लोग शरीरको ही आत्मा समझकर इसे गहने, कपड़े आदिसे सजाया करते हैं और सारा जीवन इस शरीरकी सेवा-पूजामें ही खो देते हैं । अन्तमें ये ही लोग मृत शरीरको भी गहने-कपड़ोंसे सजाकर ऐसा समझते हैं कि हम स्वर्गको जीत लेंगे—'**अमुं लोकं जेष्यन्तः** ।'

इधर दैवी सम्पदावाले इन्द्रको स्वर्गमें पहुँचनेसे पहले ही विचार हुआ कि प्रजापतिने तो आत्माको अभय कहा है, परंतु इस प्रतिबिम्बरूप आत्माको तो अनेक भय रहते हैं । जब शरीर सजा होता है तो प्रतिबिम्ब भी सजा हुआ दीखता है । शरीरपर सुन्दर वस्त्र होते हैं तो प्रतिबिम्ब भी सुन्दर वस्त्रोंवाला दीखता है । शरीर नख-केशसे रहित स्वच्छ होता है तो प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ दीखता है । इसी प्रकार यदि शरीर अन्धा होता है तो प्रतिबिम्ब भी अन्धा होता है । शरीर काला होता है तो प्रतिबिम्ब भी काला दीखता है । शरीर लूला-लँगड़ा होता है तो प्रतिबिम्ब भी लूला-लँगड़ा दीखता है । शरीरका नाश होता है तो प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है । इसलिये इसमें तो मैं कुछ भी आत्मस्वरूपता नहीं देखता ।

इस प्रकार विचारकर इन्द्र समित्पाणि होकर पुनः प्रजापतिके पास आये । प्रजापतिने कहा—'इन्द्र ! तुम तो विरोचनके साथ ही शान्त हृदयसे वापस चले गये थे, अब फिर किस इच्छासे आये हो ?' इन्द्रने कहा—'भगवन् ! जैसा शरीर होता है, वैसा ही प्रतिबिम्ब दीखता है, शरीर सुन्दर वस्त्रालंकृत और परिष्कृत होता है तो प्रतिबिम्ब भी वस्त्रालंकृत और परिष्कृत दीखता है । शरीर अन्ध, स्राम या अङ्गहीन होता है तो प्रतिबिम्ब भी वैसा ही दीखता है । शरीरका नाश होता है तो इस प्रतिबिम्बरूप आत्माका भी नाश होता है । अतएव इसमें मुझे कोई आनन्द नहीं दीख पड़ता ।'

प्रजापतिने इन्द्रके वचन सुनकर कहा—'इन्द्र ! ऐसी ही बात है । वास्तवमें प्रतिबिम्ब आत्मा नहीं है । मैं तुम्हें फिर समझाऊँगा, अभी फिर बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतसे यहाँ रहो ।'

इन्द्र बत्तीस वर्षतक पुनः ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुके समीप रहे, तब प्रजापतिने उनसे कहा—'जो इस स्वप्नमें पूजित होता हुआ विचरता है, स्वप्नमें अनेक भोग भोगता है, वह आत्मा है, वही अभय है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है ।'

इन्द्र शान्त हृदयसे अपनेको कृतार्थ समझकर चले, परंतु देवताओंके पास पहुँचनेके पहले ही उन्होंने सोचा

कि 'स्वप्नके द्रष्टा आत्मामें भी दोष है। यद्यपि शरीर अन्धा होनेसे यह स्वप्नका द्रष्टा अन्धा नहीं होता, शरीरके स्राम (व्याधिपीड़ित) होनेसे यह स्राम नहीं होता, शरीरके दोषसे यह दूषित नहीं होता, शरीरके वधसे इसका वध नहीं होता, तथापि यह नाश होता हुआ-सा, भागता हुआ-सा, शोकग्रस्त होता हुआ-सा और रोता हुआ-सा लगता है, इससे मैं इसमें भी कोई आनन्द नहीं देखता।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र हाथमें समिधा लेकर फिर प्रजापतिके समीप गये और प्रजापतिके पूछनेपर उन्होंने अपनी शङ्का उनसे कह सुनायी।

प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! ठीक यही बात है। स्वप्नका द्रष्टा आत्मा नहीं है। मैं तुम्हें फिर उपदेश करूँगा, तुम फिर बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतसे यहाँ रहो।'

इन्द्र तीसरी बार पुनः बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे। इसके बाद प्रजापतिने कहा—'जिसमें यह जीव निद्राको प्राप्त होकर सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारके शान्त हो जानेके कारण सम्पूर्ण रीतिसे निर्मल और पूर्ण होता है तथा स्वप्नका अनुभव नहीं करता, यह आत्मा है, अभय है, अमृत है, यही ब्रह्म है।'

आत्माका यथार्थ स्वरूप समझमें आ गया—ऐसा मानकर इन्द्र शान्त हृदयसे स्वर्गकी ओर चले, परंतु देवताओंके पास पहुँचनेके पहले ही मार्गमें विचार करनेपर उन्हें सुषुप्ति-अवस्थामें पड़े हुए जीवको आत्मा समझनेमें दोष दीख पड़ा। उन्होंने सोचा कि 'सुषुप्ति-अवस्थामें आत्मा जाग्रत् और स्वप्नकी तरह 'यह मैं हूँ' ऐसा अपनेको नहीं जानता, न इन भूतोंको जानता है प्रत्युत उसमेंसे विनाशको ही प्राप्त होता है। अर्थात् सुषुप्ति-अवस्थाका सुख भी निरन्तर नहीं भोग सकता, अतएव इसमें भी मुझे कोई आनन्द नहीं दीखता।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र समित्पाणि होकर चौथी बार पुनः प्रजापतिके पास आये। उन्हें देखकर प्रजापतिने कहा—'तुम तो शान्त हृदयसे चले गये थे, लौटकर कैसे आये?' इन्द्रने कहा—'भगवन्! इस सुषुप्तिमें स्थित यह आत्मा जाग्रत् और स्वप्नमें जैसे अपनेको जानता है वैसा वहाँ 'यह मैं हूँ' यों नहीं जानता, इन भूतोंको भी नहीं जानता और इस अवस्थामें इसका विनाश-सा भी होता है, अतएव मैं इसमें भी कोई आनन्द नहीं देखता।'

प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! ठीक है। सुषुप्तिमें पड़ा हुआ जीव वास्तवमें आत्मा नहीं है। मैं तुम्हें फिर इसी आत्माका ही उपदेश करूँगा, किसी दूसरे पदार्थका नहीं। तुम यहाँ पाँच सालतक फिर ब्रह्मचर्य-व्रतसे रहो।'

तीन बार बत्तीस वर्षका ब्रह्मचर्यव्रत पालन करनेपर भी प्रतिबन्धकरूप तनिक-से भी हृदयके मलको नाश करके प्रकृत अधिकारी बनानेके हेतुसे फिर पाँच वर्ष ब्रह्मचर्यके लिये प्रजापतिने आज्ञा दे दी। पूरे एक सौ एक वर्षतक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन कर चुकनेपर प्रजापतिने उनसे कहा—'इन्द्र! यह शरीर मर्त्य है, सर्वदा मृत्युसे ग्रस्त है, तो भी यह अमृतरूप तथा अशरीरी आत्माका अधिष्ठान (रहने और भोगादि भोगनेका स्थान) है। यह अशरीरी आत्मा जब अविवेकसे सशरीर अर्थात् शरीरमें आत्मभाव रखनेवाला होता है तभी सुख-दुःखसे ग्रस्त होता है। जहाँतक देहात्मबोध रहता है, वहाँतक सुख-दुःखसे छुटकारा नहीं मिल सकता। विज्ञानसे जिसका देहात्मभाव नष्ट हो गया है उस अशरीरीको निःसंदेह सुख-दुःख कभी स्पर्श नहीं कर सकते।' इसके बाद वायु, अभ्र और विद्युदादिका दृष्टान्त देते हुए अन्तमें प्रजापतिने कहा—'इस शरीरमें जो मैं देखता हूँ, ऐसे जानता है वह आत्मा है और नेत्र उसके रूपके ज्ञानका साधन है, जो इस गन्धको मैं सूँघता हूँ, ऐसे जानता है वही आत्मा है और गन्धके ज्ञानके लिये नासिका है, जो मैं इस वाणीका उच्चारण करता हूँ, ऐसे जानता है वह आत्मा है और उसके उच्चारणके लिये वाणी है, जो मैं सुनता हूँ, ऐसे जानता है वह आत्मा है और उसके श्रवणके लिये श्रोत्र हैं, जो जानता है कि मैं आत्मा हूँ, वह आत्मा है और मन उसका दैवी चक्षु है। अपने स्वरूपको प्राप्त वह मुक्त इस अप्राकृत चक्षुरूपी मनके द्वारा इन भोगोंको देखता हुआ आनन्दको पाप्त होता है। यही आत्मतत्त्व है।'

इन्द्र आनन्दमें मग्न हो गये और देवलोकमें लौटकर उन्होंने देवताओंको इस आत्माका उपदेश किया। देवताओंने इस आत्माकी उपासना की। इसीसे उन्हें सर्वलोक और सम्पूर्ण भोगोंकी प्राप्ति हुई। जो इस आत्माको भलीभाँति जानकर इसका साक्षात्कार करता है, वही सर्वलोक और सम्पूर्ण आनन्दको प्राप्त होता है।[१]



प्रजापतिका शिक्षा-मन्त्र—'द' 'द' 'द'

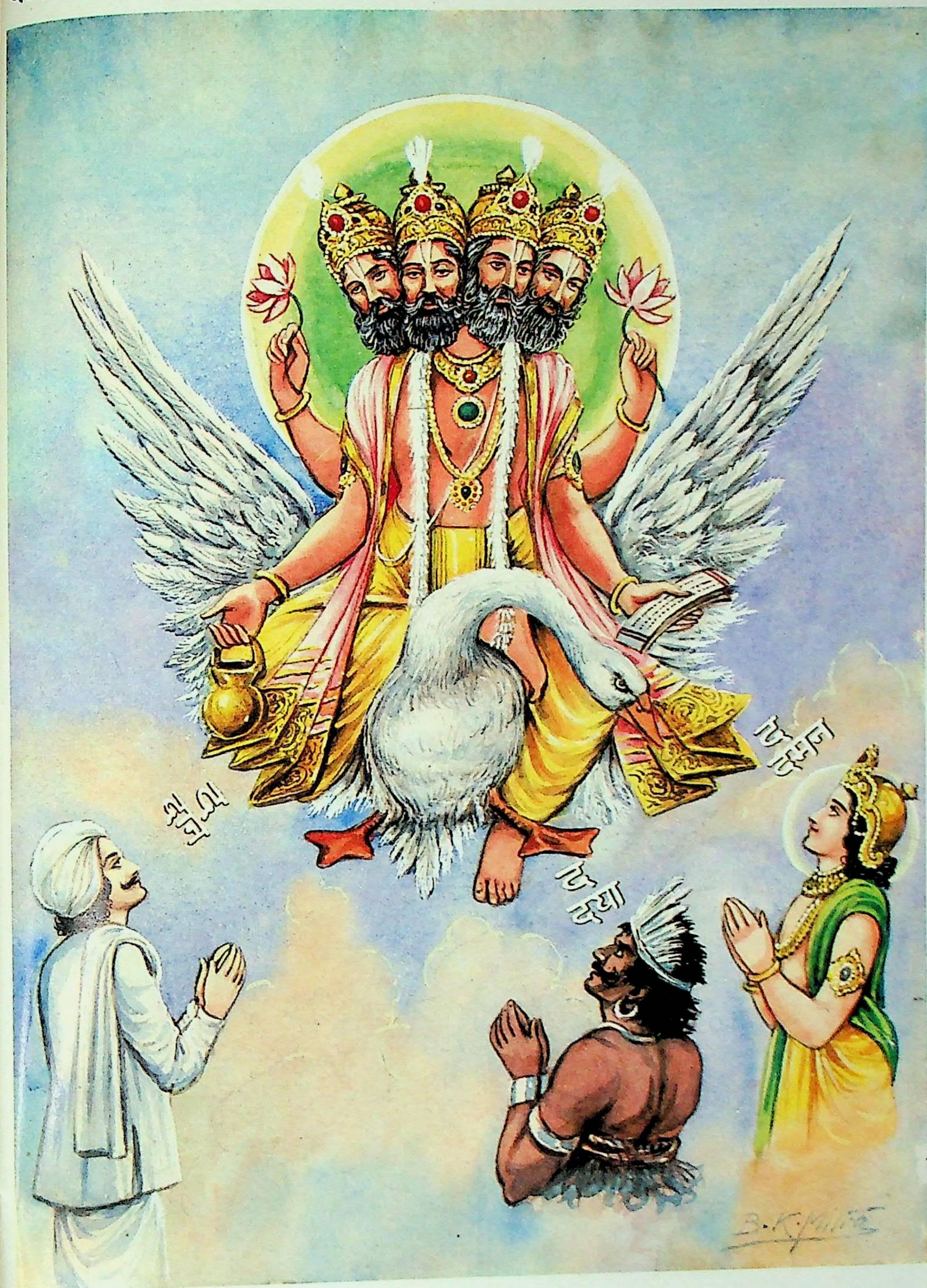
एक समय देवता, मनुष्य और असुर सबके पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके पास शिष्यभावसे विद्या सीखने गये एवं नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए उनकी सेवा करने लगे। इस प्रकार कुछ काल बीत जानेपर उन्होंने उपदेश ग्रहण करना चाहा। सबसे पहले देवताओंने जाकर प्रजापतिसे प्रार्थना की—'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उत्तरमें एक ही अक्षर कह दिया—'द'। स्वर्गमें भोगोंकी भरमार है, भोग ही देवलोकका सुख माना गया है, कभी वृद्ध न होकर देवगण सदा इन्द्रियभोगोंमें लगे रहते हैं, अपनी इस अवस्थापर विचारकर देवताओंने 'द'का अर्थ 'दमन'—इन्द्रिय-दमन समझा और अपनेको कृतकृत्य मानकर प्रजापतिको प्रणामकर वे वहाँसे चलने लगे। प्रजापतिने पूछा—'क्यों, मेरे उपदेश किये हुए अक्षरका अर्थ तो तुम समझ गये न?' देवताओंने कहा—'जी हाँ! समझ गये, आपने हम विलासियोंको इन्द्रिय-दमन करनेकी आज्ञा दी है।' प्रजापतिने कहा—'तुमने ठीक समझा, मेरे 'द' कहनेका यही अर्थ था। जाओ, परंतु मेरे उपदेशके अनुसार चलना, तभी तुम्हारा कल्याण होगा।'

तदनन्तर मनुष्योंने प्रजापतिके पास जाकर कहा—'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उनको भी वही 'द' अक्षर सुना दिया। मनुष्योंने विचार किया कि हम कर्मयोनि होनेके कारण सदा लोभवश कर्म करने और अर्थसंग्रह करनेमें ही लगे रहते हैं। इसलिये प्रजापतिने हम लोभियोंको 'दान' करनेका उपदेश किया है। यह निश्चयकर वे अपनेको सफल-मनोरथ मानकर चलने लगे, तब प्रजापतिने उनसे पूछा—'तुमलोग मेरे कथनका अर्थ समझकर जा रहे हो न?' संग्रहप्रिय मनुष्योंने कहा—'जी हाँ, हम समझ गये, आपने हमें दान करनेकी आज्ञा दी है।' यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न होकर बोले—'हाँ, मेरे कहनेका यही अर्थ था, तुमने ठीक समझा है। अब इसके अनुसार चलना, तभी तुम्हारा कल्याण होगा।'

इसके पश्चात् असुरोंने प्रजापतिके पास जाकर प्रार्थना की—'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' इन्हें भी प्रजापतिने 'द' अक्षरका ही उपदेश किया। असुरोंने समझा कि हमलोग स्वभावसे ही हिंसावृत्तिवाले हैं, क्रोध और हिंसा हमारा नित्यका व्यापार है, अतएव प्रजापतिने

---

१. इस प्रकारकी तीव्र जिज्ञासा और अटल श्रद्धा होनेपर ही ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपकी उपलब्धि हुआ करती है। स्वर्गके विशाल भोगोंको छोड़कर लगातार एक सौ एक वर्षोंतक ब्रह्मचर्यका पालन करनेके अनन्तर देवराज इन्द्रको प्रजापति यथार्थ उपदेश करते हैं और तभी उन्हें ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। आजकल लोग बिना ही श्रद्धा और साधनके अनायास ब्रह्मको प्राप्त कर लेना चाहते हैं! गुरुको खोजने और उनके समीप जानेकी भी आवश्यकता नहीं समझते। इसी कारण जैसे-के-तैसे रह जाते हैं। प्रथम तो गुरु मिलते नहीं, मिलते हैं तो विषयान्ध मनुष्य उन्हें पहचानते नहीं। बिना पहचाने और बिना ही पूछे यदि सत्पुरुष अपनी स्वाभाविक दयासे कुछ उपदेश कर देते हैं तो श्रद्धाके अभावसे वह ग्रहण नहीं किया जाता। वास्तवमें अनधिकारीको बिना पूछे उपदेश देनेका कोई महत्त्व नहीं रहता, इसीसे महात्मा लोग बिना पूछे प्रायः कुछ कहा भी नहीं करते। इन सब बातोंपर विचार करके जिन लोगोंको दुःखोंसे सर्वदा मुक्त होनेकी अभिलाषा है उन्हें चाहिये कि ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे सम्पन्न होकर श्रद्धा और भक्तिसे समन्वित हृदयसे सद्गुरु और शास्त्रोंकी शरण लें एवं तर्कसे सदा बचे रहकर विश्वासपूर्वक उनके आज्ञानुसार लक्ष्यका अनुसंधान करके उसीमें चित्तकी वृत्तियोंको विलीन कर लें।



प्रजापतिका शिक्षादान

हमें इस दुष्कर्मसे छुड़ानेके लिये कृपा करके जीवमात्रपर दया करनेका ही उपदेश दिया है। यह विचारकर वे जब चलनेको तैयार हुए, तब प्रजापतिने यह सोचकर कि ये लोग मेरे उपदेशका अर्थ समझे या नहीं, उनसे पूछा—'तुम जा रहे हो, परंतु बताओ, मैंने तुम्हें क्या करनेको कहा है?' तब हिंसाप्रिय असुरोंने कहा—'देव! आपने हम हिंसकोंको 'द' कहकर प्राणिमात्रपर दया करनेकी आज्ञा दी है।' यह सुनकर प्रजापतिने कहा—'वत्स! तुमने ठीक समझा, मेरे कहनेका यही तात्पर्य था। अब तुम द्वेष छोड़कर प्राणिमात्रपर दया करना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।'

देव दनुज मानव सभी लहैं परम कल्याण।
पालैं जो 'द' अर्थ को दमन दया अरु दान॥



मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका दिव्योपदेश

एक दिन भगवान् श्रीराम दण्डकवनमें सुखपूर्वक आसनपर विराजमान थे, पासमें ही श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजी भी यथास्थान आसनपर बैठे हुए थे। सुन्दर अवसर जानकर श्रीलक्ष्मणजीने निष्कपट अन्तःकरणसे दोनों हाथ जोड़कर बड़ी नम्रताके साथ भगवान्से निवेदन किया—'सुर, नर, मुनि तथा समस्त जगत्के स्वामी! मैं आपको अपना प्रभु समझकर पूछ रहा हूँ। कृपाकर मुझे समझाकर कहिये कि ज्ञान, वैराग्य और माया किसे कहते हैं? वह कौन-सी भक्ति है, जिससे आप भक्तोंपर दया करते हैं? और ईश्वर तथा जीवमें क्या भेद है? जिससे मेरा शोक, मोह, भ्रम आदि दूर हो जाय और मैं सब कुछ छोड़कर आपकी चरण-रजकी सेवामें ही तल्लीन हो जाऊँ।'

भक्तवत्सल भगवान्ने सरलहृदय, परम श्रद्धालु, एकान्तप्रेमीके कल्याणके लिये संक्षेपमें इस प्रकार उत्तर दिया—'भाई! मैं और मेरा, तू और तेरा ही माया है, जिसने समस्त जीवोंको अपने वशमें कर रखा है। इन्द्रियों और उनके विषयोंमें जहाँतक मन जाता है, वहाँतक माया ही जानना चाहिये। इस मायाके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। इनमें एक अविद्या तो दुष्ट और अत्यन्त दुःखरूप है, जिसके वशमें होकर जीव भवकूपमें पड़ा हुआ है। दूसरी अर्थात् विद्या, जिसके वशमें समस्त गुण हैं, संसारकी रचना करती है। वह प्रभुकी प्रेरणासे सब कार्य करती है, उसका अपना कोई बल नहीं है।

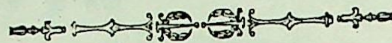
'तात! जिस मनुष्यमें ज्ञानाभिमान बिलकुल नहीं है, जो सबमें समान-रूपसे ब्रह्मको व्याप्त देखता है, जिसने तृणके समान सिद्धियों और तीनों गुणोंको त्याग दिया है, उसीको परम वैराग्यवान् कहना चाहिये।

'जो अपनेको मायाका स्वामी नहीं जानता, वही जीव है और जो बन्धन और मोक्षका दाता है, सबसे श्रेष्ठ है, मायाका प्रेरक है, वही ईश्वर है।

'वेद कहते हैं कि धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे योग, योगसे ज्ञान होता है और ज्ञान ही मोक्षको देनेवाला है, परंतु मैं जिससे शीघ्र प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है और वही भक्तोंको सुख देनेवाली है। वह भक्ति स्वतन्त्र है, वह किसी वस्तुपर अवलम्बित नहीं है, ज्ञान और विज्ञान सब उसके अधीन हैं। तात! भक्ति अनुपम सुखका मूल है और वह तभी प्राप्त होती है जब संत लोग अनुकूल होते हैं।

'अब मैं भक्तिके साधनका वर्णन करता हूँ और वह सुगम मार्ग बतलाता हूँ, जिससे प्राणी मुझे सहजमें ही पा सकें। पहले तो ब्राह्मणके चरणोंमें बहुत प्रीति होनी चाहिये और वेदविहित अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिये। इसका फल यह होगा कि मन विषयोंसे विरक्त हो जायगा और तब मेरे चरणोंमें अनुराग उत्पन्न हो जायगा। फिर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नौ

प्रकारकी भक्ति दृढ़ होनी चाहिये और मनमें मेरी लीलाओंके प्रति अत्यन्त प्रेम होना चाहिये । जिसे संतोंके चरणकमलोंमें अत्यधिक प्रेम हो, जो मन-वचन-कर्मसे भजन करनेका दृढ़ नियम रखनेवाला हो, जो मुझे ही गुरु, पिता, माता, भाई, पति और देवता सब कुछ जानता हो और मेरी सेवा करनेमें डटा रहता हो, मेरा गुण गाते समय जिसके शरीरमें रोमाञ्च हो आता हो, वाणी गद्‌गद हो जाती हो और नेत्रोंसे आँसू गिरते हों तथा जिसके अंदर काम, मद, दम्भ आदि न हों, मैं सदा उसके वशमें रहता हूँ । मन, वचन और कर्मसे जिन्हें मेरी ही गति है, जो निष्कामभावसे मेरा भजन करते हैं, मैं सदा उनके हृदय-कमलमें विश्राम करता हूँ ।'



शिक्षाका वास्तविक लक्ष्य — आत्मसाक्षात्कार

[अङ्गिराद्वारा शौनकको ब्रह्मविद्याकी शिक्षा]

महाशाल शौनक हाथमें समिधा लिये महर्षि अङ्गिराके आश्रममें पहुँचे । वहाँ श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ परम ऋषि अङ्गिराके समीप प्रणामादि-विधिपूर्वक उपस्थित होकर उन्होंने यह प्रश्न किया—'भगवन्! वह कौन-सी विद्या है जिसे जान लेनेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है?' (मुण्डकोप॰१ । १ । ३)

अङ्गिरा—ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि दो विद्याएँ जाननेयोग्य हैं—एक परा और दूसरी अपरा ।

शौनक—अपरा विद्या किसे कहते हैं और परा विद्या किसे कहते हैं?

अङ्गिरा—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये अपरा विद्या हैं और परा विद्या वह है जिससे उस अक्षरब्रह्मका बोध होता है ।

शौनक—वह अक्षरब्रह्म क्या है?

अङ्गिरा—जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षुः-श्रोत्रादिरहित है, जो अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतोंका कारण है, जिसे धीर पुरुष सर्वत्र देखते हैं, वही ब्रह्म है ।

शौनक—सर्वत्र यह जो विश्व दिखायी देता है वह ब्रह्मसे कैसे उत्पन्न होता है?

अङ्गिरा—जैसे मकड़ी अपना जाला बनाती और चाहे जब उसे समेट लेती है, जैसे पृथ्वीसे वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे सजीव पुरुषसे केश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षरब्रह्मसे यह विश्व उत्पन्न होता है ।

शौनक—ब्रह्मसे विश्वकी यह उत्पत्ति जिस क्रमसे होती है वह क्रम क्या है?

अङ्गिरा—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥

(मुण्डकोप॰ १ । १ । ८)

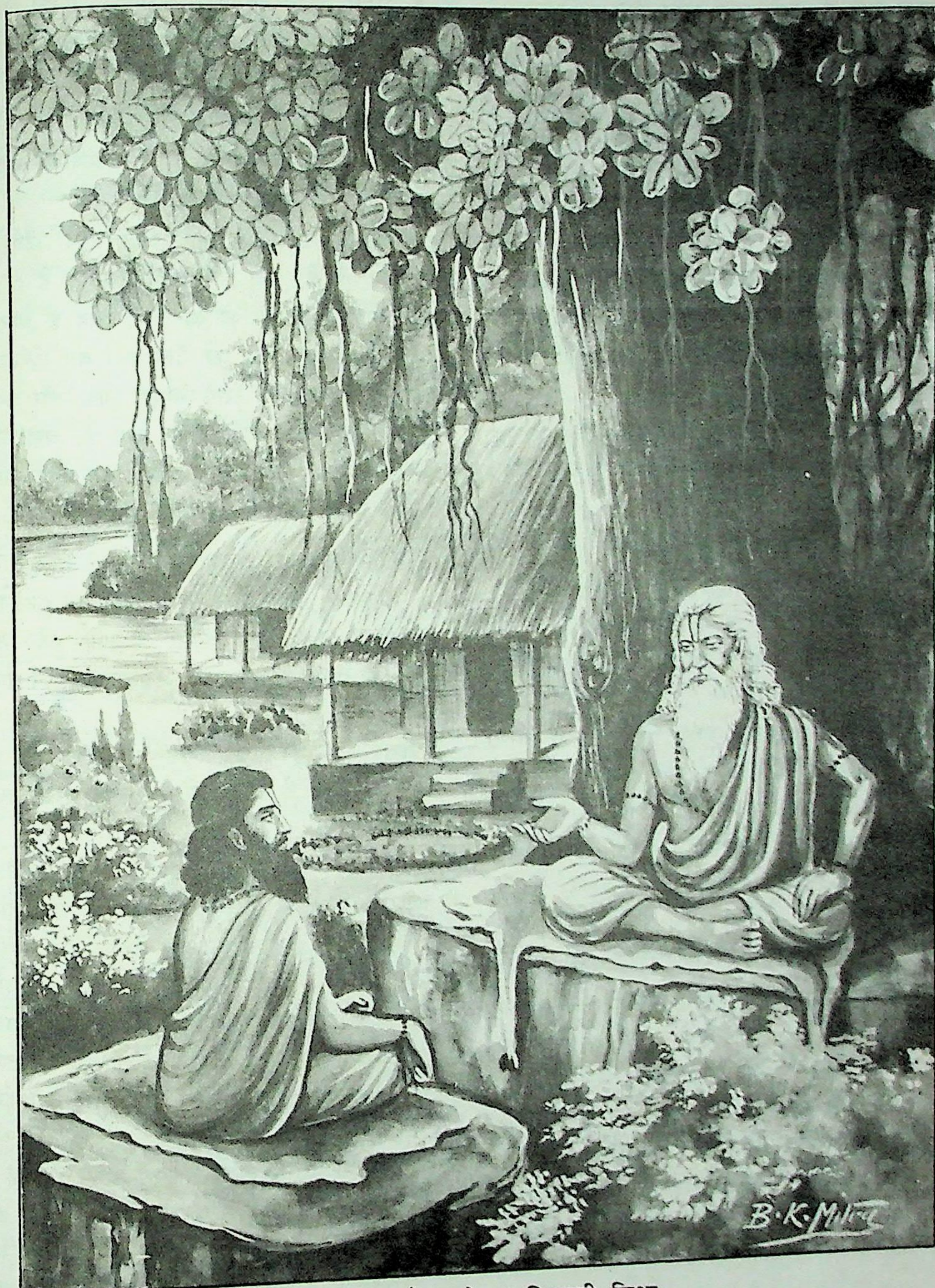
'उत्पत्तिविधिका जो ज्ञान है उस ज्ञानरूप तपसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म स्थूलताको प्राप्त होता है, उसी स्थूलतासे अन्न उत्पन्न होता है, अन्नसे क्रमशः प्राण, मन, सत्य, लोक तथा कर्म और कर्मसे अमृत उत्पन्न होता है ।'

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥

(मुण्डकोप॰१ । १ । ९)

'जो सर्वज्ञ है (सबको समानरूपसे एक साथ जाननेवाला है), जो सर्वविद् है (सबमें प्रत्येकका विशेषज्ञ है), जिसका ज्ञानमय तप है, उसी अक्षर ब्रह्मसे यह विश्वरूप ब्रह्म, यह नाम-रूप और अन्न उत्पन्न होता है ।'

शौनक—भगवन्! वह अव्यय पुरुष जो इस



अङ्गिराद्वारा शौनकको ब्रह्मविद्याकी शिक्षा

विश्वका मूल है, कैसे जाना जाता है?

अङ्गिरा—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

(मुण्डकोप॰ १। २। ११)

'जो शान्त और विद्वान् लोग वनमें भिक्षावृत्तिसे रहते हुए तप और श्रद्धाका सेवन करते हैं, वे शान्तरज होकर सूर्यद्वारसे वहाँ जाते हैं, जहाँ वह अमृत अव्यय पुरुष रहता है।'

शौनक—भगवन्! सूर्यद्वारसे उस अव्यय धामको प्राप्त करनेका साधन क्या है?

अङ्गिरा—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मुण्डकोप॰ १। २। १२)

'कर्मसे जो-जो लोक प्राप्त होते हैं उनकी परीक्षा करके ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो, (क्योंकि संसारमें) अकृत—नित्य पदार्थ कोई नहीं है, (अतः) कृत (कर्म)से हमें क्या प्रयोजन है। तब वह 'तत्—उस' को जाननेके लिये हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाय।'

'तब वे विद्वान् गुरु उस प्रशान्तचित्त जितेन्द्रिय शिष्यको उस ब्रह्मविद्याका उपदेश करते हैं जिससे उस सत्य और अक्षर पुरुषका ज्ञान होता है। उसी अक्षर पुरुषसे प्राण उत्पन्न होता है, उसीसे मन, इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। अग्नि(द्युलोक) उसका मस्तक है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, उसके चरणोंसे पृथ्वी उत्पन्न हुई है, वह सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है। बहुत-से जो देवता हैं वे उसीसे उत्पन्न हुए हैं। साध्यगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण-अपान, व्रीहि, यव, तप, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और विधि—ये सब उसीसे उत्पन्न हुए हैं।'

शौनक—सत्यस्वरूप पुरुषसे ये सब उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् ये सब विकारमात्र हैं और पुरुष ही केवल सत्य है, ऐसा ही समझना चाहिये?

अङ्गिरा—नहीं, यह सारा जगत्, कर्म और तप स्वयं पुरुष ही है, ब्रह्म है, वर है, अमृत है। इस गुहामें छिपे हुए सत्यको जो जानता है, वह हे सोम्य! अविद्याकी ग्रन्थिका छेदन कर देता है। वह दीप्तिमान् है, अणुसे भी अणु है, उसमें सम्पूर्ण लोक और उनके अधिवासी स्थित हैं। वही अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी और वही मन है। वही सत्य और अमृत है। वही वेधने योग्य है। सोम्य! तुम उसे वेधो।

शौनक—भगवन्! उसका वेधन कैसे किया जाय?

अङ्गिरा—सोम्य! औपनिषद महास्त्र लेकर उपासनासे तीक्ष्ण किया हुआ बाण उसपर चढ़ाओ और उसे तद्भावभावित चित्तसे खींचकर उस अक्षरब्रह्मलक्ष्यका वेधन करो।

शौनक—भगवन्! वह औपनिषद महास्त्र क्या है, वह बाण कौन-सा है और उससे लक्ष्यवेध कैसे करना चाहिये?

अङ्गिरा—प्रणव ही वह (महास्त्र) धनुष है, आत्मा ही बाण है और वह ब्रह्म ही लक्ष्य है। प्रमादरहित (सावधान) होकर उस लक्ष्यका वेध करनेके लिये बाणके समान तन्मय होना चाहिये। जिसमें द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्ष तथा मन सब प्राणोंसहित बुना हुआ है, उसी एक आत्माको जानो, अन्य वाणीको छोड़ो, यही अमृतका सेतु है। रथचक्रकी नाभिमें जिस प्रकार अरे लगे होते हैं, उस प्रकार जिसमें सब नाड़ियाँ जुड़ी हैं वही यह अन्तर्वर्ती आत्मा है, जो अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है। उस आत्माका 'ॐ' से ध्यान करो। तम (अज्ञान) को पार किया चाहनेवाले तुम्हारा कल्याण हो। जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिसकी यह महिमा भूलोकमें है, वही

यह आत्मा ब्रह्मपुर आकाशमें स्थित है। वह मनोमय प्राण-शरीरका नेता है (मन और प्राणको एक देहसे दूसरी देहमें, एक लोकसे दूसरे लोकमें ले जाता है) और अन्नमय शरीरमें वह हृदयको आश्रय करके रहता है। उसके विज्ञानको प्राप्त होकर धीर पुरुष उस प्रकाशमान आनन्दरूप अमृतको सर्वत्र देखते हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोप॰२।२।८)

'उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्म भी इसके क्षीण हो जाते हैं।'

'वह अमृत ब्रह्म ही आगे है, वही पीछे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है, वही नीचे है, वही ऊपर है, यह सारा विश्व वही वरिष्ठ ब्रह्म ही तो है।'

शौनक—उस ब्रह्मके साथ इस जीवका कैसा सम्बन्ध है?

अङ्गिरा—ये दोनों ही सुन्दर पक्षवाले दो पक्षियों-जैसे एक ही वृक्षका आश्रय किये हुए दो सखा हैं। इनमेंसे एक उस वृक्षके फलोंको खाता है और दूसरा नहीं खाता, केवल देखता है। जो इन फलोंको खाता है वह दीन(अनीश) होकर शोकको प्राप्त होता है। यही जब दूसरेको ईशरूपमें देखकर उसकी महिमाको देखता है तब यह भी वीतशोक हो जाता है। जगत्कर्ता ईश पुरुषको देखकर यह पाप-पुण्य दोनोंको त्यागकर निरञ्जन परम साम्यको प्राप्त होता है।

शौनक—उस ईश पुरुषको देखनेका उपाय क्या है?

अङ्गिरा—सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे विशुद्धात्मा योगिजन अन्तःशरीरमें इसे ज्योतिर्मय शुभ्र रूपमें देखते हैं। वही आत्मा है। वह बृहत् है, दिव्य है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, दूर-से-दूर और समीप-से-समीप है। वह देखनेवालोंके हृदयकी गुहामें छिपा हुआ रहता है। वह आँखसे नहीं दिखायी देता, वाणीसे या अन्य इन्द्रियोंसे अथवा तप या कर्मसे नहीं जाना जाता। ज्ञानके प्रसादसे अन्तःकरण विशुद्ध होनेपर उस निष्कल पुरुषका साक्षात्कार होता है। ऐसा साक्षात्कार जिसे होता है वह जो कुछ संकल्प करता है वह सिद्ध हो जाता है। वह संकल्पमात्रसे चाहे जिस लोक या भोगको प्राप्त कर सकता है। ऐसे पुरुषकी जो उपासना करता है वह भी बन्धनमुक्त होकर आत्माको प्राप्त कर लेता है।

शौनक—आत्माका कथन करनेवाले शास्त्रोंके प्रवचनसे क्या इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती?

अङ्गिरा—नहीं,

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुँ स्वाम्॥

(मुण्डकोप॰३।२।३)

'यह आत्मा प्रवचनसे नहीं, मेधासे नहीं, बहुत श्रवण करनेसे भी नहीं मिलता। यह जिसका वरण करता है, उसीको यह प्राप्त होता है। उसके सामने यह आत्मा अपना स्वरूप व्यक्त कर देता है।' जो बल, अप्रमाद, संन्यास और ज्ञानके द्वारा आत्माको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है, आत्मा उसे अपने धाममें ले आता है।

शौनक—जो कोई आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है उसकी क्या स्थिति होती है?

अङ्गिरा—जो उस परब्रह्मको जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है और उसके कुलमें कोई अब्रह्मविद् नहीं होता। वह शोकको तर जाता है, पापको पार कर जाता है, हृदयग्रन्थियोंसे विमुक्त होकर अमृत हो जाता है।

शौनक—भगवन्! ऐसी ब्रह्मविद्याका अधिकारी कौन होता है, यह कृपाकर बताइये।

अङ्गिरा—जो क्रियावान् हैं, श्रोत्रिय हैं, ब्रह्मनिष्ठ हैं, श्रद्धापूर्वक जो एकर्षि-हवन करते हैं और जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रतका अनुष्ठान किया है उनसे यह ब्रह्मविद्या कहे।

इस प्रकार महाशाल (महागृहस्थ) शौनकके प्रश्न करनेपर महर्षि अङ्गिराने यह सत्य कथन किया। सत्यासत्यका यह ज्ञान ही वास्तविक 'शिक्षा' है।

नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः।

(मुण्डकोप॰३।२।११)

श्वेतकेतुको 'तत्त्वमसि'की शिक्षा

अरुणके पुत्र आरुणि उद्दालकके श्वेतकेतु नामका एक पुत्र था। वह बारह वर्षकी अवस्थातक केवल खेल-कूदमें ही लगा रहा। पिता सोचते रहे कि यह स्वयं ही विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा करे तो उत्तम है, परंतु उसने वैसी इच्छा नहीं की, तब पितासे नहीं रहा गया। उन्होंने एक दिन उसे अपने पास बुलाकर कहा—'वत्स श्वेतकेतो! तू किसी सुयोग्य गुरुके समीप जाकर ब्रह्मचारी होकर रह। सौम्य! अपने वंशमें कोई भी ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ जिसने वेदोंका त्याग किया हो और जो ब्राह्मणके गुण और आचारोंसे रहित होकर केवल नामधारी ब्राह्मण बनकर रहा हो। ऐसा करना योग्य नहीं है। सारांश यह कि तुझे वेदोंका अध्ययन करके ब्रह्मको प्राप्त करना ही चाहिये।'

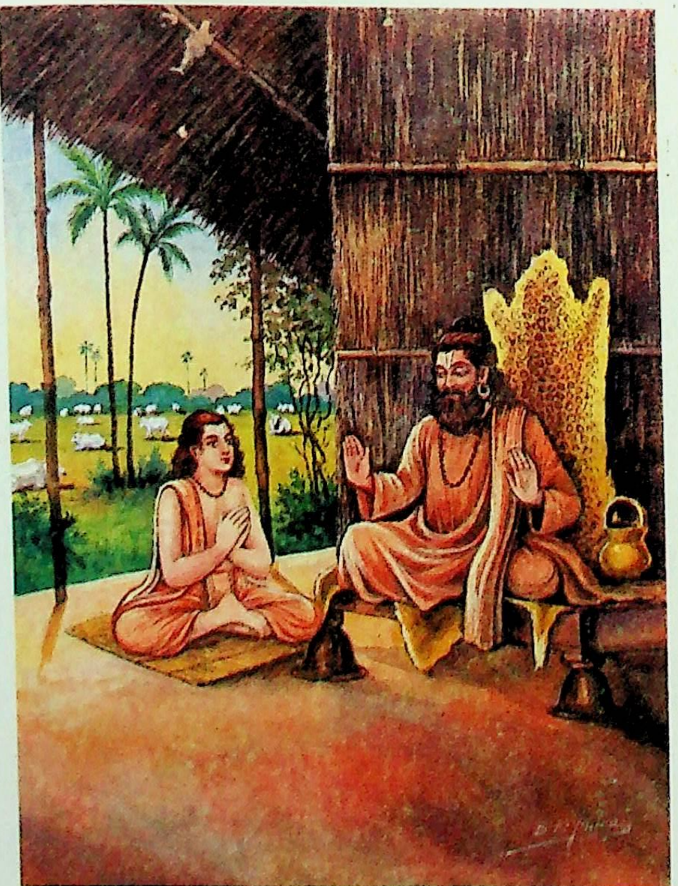
पिता आरुणिका मीठा उलाहना सुनकर श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें गुरुके घर गया और पूरे चौबीस वर्षकी अवस्थातक गुरुगृहमें रहकर व्याकरणादि छः अङ्गोंसहित चारों वेदोंका पूर्ण अध्ययन करनेके पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर घर लौटा। उसने मन-ही-मन विचार किया कि 'मैं वेदका पूर्ण ज्ञाता हूँ, मेरे समान पण्डित और कोई नहीं है। मैं सर्वोपरि विद्वान् और बुद्धिमान् हूँ।' इस प्रकारके विचारोंसे उसके मनमें गर्व उत्पन्न हो गया और वह उद्धत तथा विनयरहित होकर बिना प्रणाम किये ही पिताके सामने आकर बैठ गया। आरुणि ऋषि उसका नम्रतारहित औद्धत्यपूर्ण आचरण देखकर इस बातको जान गये कि इसे वेदके अध्ययनसे बड़ा गर्व हो गया है, फिर भी उन्होंने उस अविनयी पुत्रपर क्रोध नहीं किया और कहा—'श्वेतकेतो! तूने ऐसी कौन-सी विद्या पढ़ी है कि जिससे तू अपनेको सबसे बड़ा पण्डित समझता है और इतना अभिमानमें भर गया है। विद्याका स्वरूप तो विनयसे ही निखरता है। अभिमानी पुरुषके हृदयसे सारे गुण तो दूर चले जाते हैं और समस्त दोष अपने-आप उसमें आ जाते हैं। तूने अपने गुरुसे यह सीखा हो तो बता कि ऐसी कौन-सी वस्तु है कि जिस एकके सुननेसे बिना सुनी हुई सब वस्तुएँ सुनी जाती हैं, जिस एकके विचारनेसे बिना विचार की हुई सब वस्तुओंका विचार हो जाता है और जिस एकके ज्ञानसे नहीं जानी हुई सब वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है?'

आरुणिके ऐसे वचन सुनते ही श्वेतकेतुका गर्व गल गया, उसने सोचा कि 'मैं तो ऐसी किसी वस्तुको नहीं जानता। मेरा अभिमान मिथ्या है।' वह नम्र होकर विनयके साथ पिताके चरणोंपर गिर पड़ा और हाथ जोड़कर कहने लगा—'भगवन्! जिस एक वस्तुके श्रवण, विचार और ज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुओंका श्रवण, विचार और ज्ञान हो जाता है, उस वस्तुको मैं नहीं जानता। आप उस वस्तुका उपदेश कीजिये।'

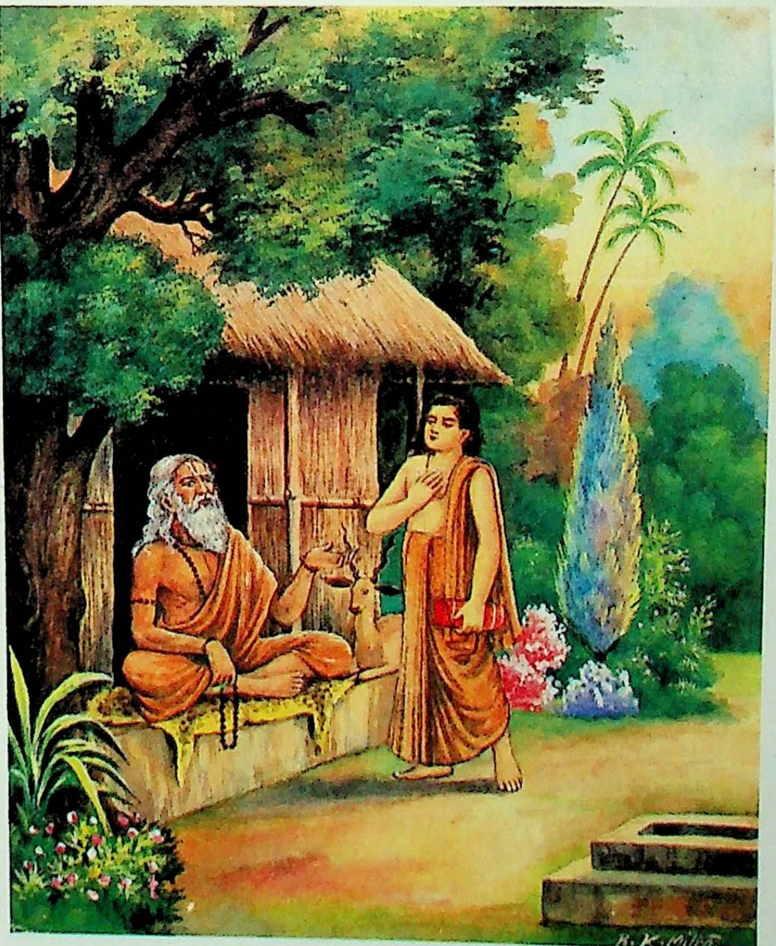
आरुणिने कहा—'सौम्य! जैसे कारणरूप मिट्टीके पिण्डका ज्ञान होनेसे मिट्टीके कार्यरूप घट, शराव आदि समस्त वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि घट आदि कार्यरूप वस्तुएँ सत्य नहीं हैं, केवल वाणीके विकार हैं, सत्य तो केवल मिट्टी ही है। सौम्य! जैसे कारणरूप सोनेके पिण्डका ज्ञान होनेसे कड़े, कुण्डलादि सब कार्योंका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि ये कड़े, कुण्डलादि सत्य नहीं हैं, केवल वाणीके विकार हैं, सत्य तो केवल सोना ही है और जैसे नख काटनेकी नहरनी आदिमें रहे हुए लोहेका ज्ञान हो जानेसे लोहेके कार्य खड्ग, परशु आदिका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि वास्तवमें ये सब सत्य नहीं हैं, एक लोहा ही सत्य है। बस, इसी तरह वह ज्ञान होता है।'

पिता आरुणिके ये वचन सुनकर श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी! निश्चय ही मेरे विद्वान् गुरु इस वस्तुको नहीं जानते हैं; क्योंकि यदि वे जानते होते तो मुझे बतलाये बिना कभी नहीं रहते। अतएव भगवन्! अब आप ही मुझे उस वस्तुका उपदेश कीजिये जिस एकके जाननेसे सब वस्तुएँ जानी जाती हैं।'

आरुणिने कहा—'अच्छा, सावधान होकर सुन,



गुरुभक्तिसे ब्रह्मज्ञान



परम शिक्षा--'तत्त्वमसि'

प्रियदर्शन ! यह नाम, रूप और क्रियास्वरूप दृश्यमान जगत् उत्पन्न होनेसे पहले केवल एक, अद्वितीय, सत् ही था । उस सत् ब्रह्मने संकल्प किया कि 'मैं एक बहुत हो जाऊँ' । ऐसा संकल्प करके उसने पहले तेज उत्पन्न किया, फिर उससे जल उत्पन्न किया और तदनन्तर उससे अन्न उत्पन्न किया । इन्हीं तीन तत्त्वोंसे सब पदार्थ उत्पन्न हुए । जगत्में जितनी वस्तुएँ हैं, सब तेज, जल और अन्न—इन तीनोंके मिश्रणसे ही बनी हैं । जहाँ प्रकाश या गरमी है वहाँ तेजतत्त्वकी प्रधानता है, जहाँ द्रव या प्रवाही भाव है वहाँ जलकी प्रधानता है और जहाँ कठोरता है वहाँ अन्न या पृथ्वीकी प्रधानता है । अग्निमें जो लाल, श्वेत और कृष्ण वर्ण है उसमें ललाई तेजकी, सफेदी जलकी और श्यामता पृथ्वीकी है । यही बात सूर्य, चन्द्रमा और बिजलीमें है । यदि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और बिजलीमेंसे तेज, जल और पृथ्वीको निकाल लिया जाय तो अग्निमें अग्निपन, सूर्यमें सूर्यपन, चन्द्रमामें चन्द्रपन और विद्युत्में विद्युत्पन कुछ भी नहीं रह जायगा । इसी प्रकार सभी वस्तुओंमें समझना चाहिये । खाये हुए अन्नके भी तीन रूप हो जाते हैं, स्थूल भागसे विष्ठा बन जाता है, मध्यम भाग मांस बनता है और सूक्ष्म भाग मनरूप हो जाता है । इसी तरह जलके स्थूल भागसे मूत्र बनता है, मध्यम भागसे रक्त बनता है और सूक्ष्म भागसे प्राण बनता है । इसी प्रकार तेल, घृत आदि तैजस पदार्थोंके स्थूल भागसे हड्डी बनती है, मध्यम भाग मज्जारूप हो जाता है और सूक्ष्म भाग वाणीरूप होता है । अतएव मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजमय है अर्थात् मन अन्नसे बनता है, प्राण जलसे बनता है और वाणी तेजसे बनती है ।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी ! मुझे यह विषय और स्पष्ट करके समझाइये ।' उद्दालक आरुणि बोले—'सौम्य ! जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्म सार-तत्त्व नवनीत ऊपर तैरता है इसी प्रकार जो अन्न खाया जाता है, उसका सूक्ष्म सार अंश मन बनता है । जलका सूक्ष्म अंश प्राण और तेजका सूक्ष्म अंश वाक् बनता है । वास्तवमें ये मन, प्राण और वाणी तथा इनके कारण अन्नादि कार्य-कारणपरम्परासे मूलमें एक ही सत् वस्तु ठहरते हैं । सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है । सत्के कार्य नाना प्रकारकी आकृतियाँ सब वाणीके विकार हैं, नाममात्र हैं । यह सत् अणुकी भाँति सूक्ष्म है, समस्त जगत्का आत्मारूप है । जैसे सर्पमें रस्सी कल्पित है, इसी प्रकार जगत् इस 'सत्'में कल्पित है । श्वेतकेतो ! वह 'सत्' वस्तु तू ही है— **'तत्त्वमसि ।'**

'सौम्य ! जैसे शहदकी मक्खी अनेक प्रकारके वृक्षोंके रसको एकत्र करके उसे एकरस करके शहदके रूपमें परिणत करती है, शहदरूपको प्राप्त रस जैसे यह नहीं जानता कि मैं आमके पेड़का रस हूँ या कटहलके वृक्षका, इसी प्रकार सुषुप्तिकालमें जीव 'सत्' वस्तुके साथ एकीभावको प्राप्त होकर यह नहीं जानते कि हम सत्में मिल गये हैं । सुषुप्तिसे जागकर पुनः वे अपने-अपने पहलेके बाघ, सिंह, वृक, शूकर, कीट, पतंग और मच्छरके शरीरको प्राप्त हो जाते हैं । यह जो सूक्ष्म तत्त्व है यही आत्मा है, यह सत् है और श्वेतकेतो ! वह तू ही है —**'तत्त्वमसि ।'**

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' आरुणि बोले—'सौम्य ! जैसे समुद्रके जलसे ही बादलोंके द्वारा पुष्ट हुई गङ्गा आदि नदियाँ अन्तमें समुद्रमें ही मिलकर अपने नाम-रूपको त्याग देती हैं, वे यह नहीं जानतीं कि मैं गङ्गा हूँ, मैं नर्मदा हूँ । सर्वथा समुद्रभावको प्राप्त हो जाती हैं और फिर मेघके द्वारा वृष्टिरूपसे समुद्रसे बाहर निकल आती हैं, किंतु यह नहीं जानतीं कि हम समुद्रसे निकली हैं, इसी प्रकार ये जीव भी सत्मेंसे निकलकर सत्में ही लीन होते हैं और पुनः उसीसे निकलते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि हम 'सत्'से आये हैं और यहाँ वही बाघ, सिंह, वृक, शूकर, कीट, पतंग या मच्छर जो-जो पहले होते हैं, वे हो जाते हैं । यह जो सूक्ष्म तत्त्व सबका आत्मा है, यह सत् है, यही आत्मा है और श्वेतकेतो ! यह 'सत्' तू ही है —**'तत्त्वमसि ।'**

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन् ! मुझे फिरसे समझाइये ।'

उद्दालक आरुणिने 'तथास्तु' कहकर समझाना आरम्भ किया—

'सौम्य ! बड़े भारी वृक्षकी जड़पर कोई चोट करे तो वह एक ही चोटमें सूख नहीं जाता, वह जीता है और उस छेदमेंसे रस झरता है । वृक्षके बीचमें छेद करनेपर भी वह सूखता नहीं, छेदमेंसे रस झरता है, इसी प्रकार अग्रभागपर चोट करनेसे भी वह जीता है और उसमेंसे रस टपकता है । जबतक उसमें जीवात्मा व्याप्त रहता है तबतक वह मूलके द्वारा जल ग्रहण करता हुआ आनन्दसे रहता है । जब इस वृक्षकी शाखाओंमें एक शाखासे जीव निकल जाता है तब वह सूख जाती है, दूसरीसे निकलनेपर दूसरी और तीसरीसे निकलनेपर तीसरी सूख जाती है और जब सारे वृक्षको जीव त्याग देता है तब वह सब-का-सब सूख जाता है । इसी प्रकार यह शरीर भी जब जीवसे रहित होता है तभी मृत्युको प्राप्त होता है । जीव कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता, यह जीवरूप सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा है । यह सत् है, यही आत्मा है और श्वेतकेतो ! वह 'सत्' तू ही है —'**तत्त्वमसि ।**'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।' पिता आरुणिने कहा—'अच्छा, एक फल तोड़कर ला ! फिर तुझे समझाऊँगा ।' श्वेतकेतु फल ले आया । पिताने कहा—'इसे तोड़कर देख, इसमें क्या है ?' श्वेतकेतुने फल तोड़कर कहा—'भगवन् ! इसमें छोटे-छोटे बीज हैं ।' ऋषि बोले—'अच्छा, एक बीजको तोड़कर देख उसमें क्या है ?' श्वेतकेतुने बीजको फोड़कर कहा—'इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता ।' तब पिता आरुणि बोले—'सौम्य ! तू इस वट-बीजके सूक्ष्म भावको नहीं देखता, इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वसे ही महान् वटका वृक्ष निकलता है । बस, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म वट-बीज बड़े भारी वटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत्का आधार है । सौम्य ! मैं सत्य कहता हूँ, तू मेरे वचनमें श्रद्धा रख । यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है, वह सत् है और यही आत्मा है श्वेतकेतो ! वह 'सत्' तू ही है —'**तत्त्वमसि ।**'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन् ! मुझे पुनः दूसरे दृष्टान्तसे समझाइये ।' उद्दालकने एक नमककी डली श्वेतकेतुके हाथमें देकर कहा—'वत्स ! इस डलीको अभी जलसे भरे हुए लोटेमें डाल दे और फिर कल सबेरे उस लोटेको लेकर मेरे पास आना ।' श्वेतकतुने ऐसा ही किया। दूसरे दिन प्रातःकाल जब श्वेतकेतु जलका लोटा लेकर पिताके पास गया, तब उन्होंने कहा—'सौम्य ! रातमें तूने जो नमककी डली लोटेमें डाली थी, उसे जलमेंसे ढूँढ़कर निकाल तो दे, मैं उसे देखूँ ।' श्वेतकेतुने देखा, पर नमककी डली उसे नहीं मिली; क्योंकि वह तो जलमें गलकर जलरूप हो गयी थी । तब आरुणिने कहा—'अच्छा, इसमेंसे इस ओरसे थोड़ा-सा जल चखकर बता तो कैसा है?' श्वेतकेतुने आचमन करके कहा—'पिताजी ! जल खारा है ।' आरुणि बोले—'अच्छा, अब बीचमेंसे लेकर चखकर बता ।' श्वेतकेतुने चखकर कहा—'पिताजी ! यह भी खारा है ।' आरुणिने कहा—'अच्छा ! अब दूसरी ओरसे जरा-सा पीकर बता कैसा स्वाद है?' श्वेतकेतुने पीकर कहा—'पिताजी ! इधरसे भी स्वाद खारा ही है ।' अन्तमें पिताने कहा—'अब सब ओरसे पीकर, फिर जलको फेंक दे और मेरे पास चला आ ?' श्वेतकेतुने वैसा ही किया और आकर पितासे कहा—'पिताजी ! मैंने जो नमक जलमें डाला था, यद्यपि मैं अपनी आँखोंसे उसे नहीं देख पाता परंतु जीभके द्वारा मुझे उसका पता लग गया है कि उसकी स्थिति उस जलमें सदा और सर्वत्र है ।' पिताने कहा—'सौम्य ! जैसे तू यहाँ उस प्रसिद्ध 'सत्' नमकको नेत्रोंसे नहीं देख सका तो भी वह विद्यमान है, इसी प्रकार यह सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है । वह 'सत्' है और वही आत्मा है और श्वेतकेतो ! वह आत्मा तू ही है —'**तत्त्वमसि ।**'

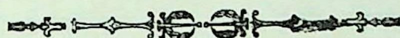
श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी ! मुझे फिर उपदेश कीजिये ।' तब मुनि उद्दालक बोले—'सुन ! जैसे चोर आँखोंपर पट्टी बाँधकर किसी मनुष्यको बहुत दूरके गान्धार देशसे लाकर किसी जंगलमें—निर्जन प्रदेशमें छोड़ दे और वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओंकी ओर देख-देखकर सहायताके लिये पुकार करके कहे कि

'मुझे आँखोंपर पट्टी बाँधकर चोरोंने यहाँ लाकर छोड़ दिया है' और जैसे उसकी करुण-पुकारको सुनकर कोई दयालु पुरुष दयावश उसकी आँखोंकी पट्टी खोल दे और उससे कह दे कि 'गान्धारदेश इस दिशामें है, तू इस रास्तेसे चला जा, वहाँ पहुँच जायगा।' और वह बुद्धिमान् अधिकारी पुरुष जैसे उस दयालु पुरुषके वचनोंपर श्रद्धा रखकर उसके बताये मार्गपर चलने लगता है और एक गाँवसे दूसरा गाँव पूछता हुआ अन्तमें अपने गान्धार देशको पहुँच जाता है, इसी प्रकार अज्ञानकी पट्टी बाँधे हुए काम, क्रोध, लोभादि चोरोंके द्वारा संसाररूपी भयङ्कर वनमें छोड़ा हुआ जीव ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके दयापरवश हो बतलाये हुए मार्गसे चलकर अविद्याके फंदेसे छूटकर अपने मूल स्वरूप 'सत्' आत्माको प्राप्त हो जाता है। यह जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह आत्मा है। वह सत् है, वही आत्मा है, श्वेतकतो! वह सत् आत्मा तू ही है—'**तत्त्वमसि।**'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! कृपापूर्वक मुझे फिर उपदेश कीजिये।' तब मुनि उद्दालक बोले—'सुन, जैसे कोई एक रोगी मनुष्य मरनेवाला होता है, तब उसके सम्बन्धी लोग ऐसे घेरकर पूछते हैं कि तुम हमें पहचानते हो या नहीं? जबतक उस रोगी जीवकी वाणीका मनमें, मनका प्राणमें, प्राणका तेजमें और तेजका ब्रह्ममें लय नहीं हो जाता तबतक वह सबको पहचान सकता है, परंतु जब उसकी वाणीका मनमें, मनका प्राणमें, प्राणका तेजमें और तेजका ब्रह्ममें लय हो जाता है, तब वह किसीको नहीं पहचान सकता। यह जो सूक्ष्म भाव है वह आत्मा है, वह सत् है, वही आत्मा है, श्वेतकेतो! वह आत्मा तू ही है—'**तत्त्वमसि।**'

इस प्रकार पिता उद्दालक आरुणिके उपदेशसे श्वेतकेतु आत्माके अपरोक्ष ज्ञानको प्राप्त होकर कृतार्थ हो गया।

(छान्दोग्योपनिषद्)



महर्षि याज्ञवल्क्यका मैत्रेयीको ज्ञानोपदेश

महर्षि याज्ञवल्क्यकी दो पत्नियाँ थीं। एकका नाम था मैत्रेयी और दूसरीका कात्यायनी। दोनों ही सदाचारिणी और पतिव्रता थीं। इन दोनोंमें मैत्रेयी अध्यात्मपरायणा थीं, पर कात्यायनीका मन संसारमें ही लगा रहता था। महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीको अपने पास बुलाकर कहा—'मैत्रेयि! मैं अब इस गृहस्थाश्रमको छोड़कर संन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ। तुम दोनों मेरे संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् आपसमें विवाद न कर सुखपूर्वक रह सको, इसलिये मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोंमें घरकी सम्पत्ति आधी-आधी बाँट दूँ।'

महर्षिकी बात सुनकर मैत्रेयीने सोचा—'मनुष्य अपने पासकी किसी वस्तुको तभी छोड़नेको तैयार होता है जब उसे पहलीकी अपेक्षा कोई अधिक उत्तम वस्तु प्राप्त हो। महर्षि घर-बारको छोड़कर जा रहे हैं, अतएव इन्हें कोई ऐसी वस्तु मिली होगी जिसके सामने घर-बार सब तुच्छ हैं। वह परम वस्तु जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति लाभकर अमृतत्वको—परमात्माको पाना ही है।'

ऐसा सोचकर मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! मुझे यदि धन-धान्यसे परिपूर्ण समस्त पृथ्वी मिल जाय तो क्या उससे मैं अमृतत्वको पा सकती हूँ?'

याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, नहीं। धनसहित पृथ्वीकी प्राप्तिसे तेरा धनिकोंका-सा जीवन हो सकता है, परंतु उससे अमृतत्व नहीं मिल सकता।' मैत्रेयीने कहा—'जिससे मेरा मरना न छूटे, उस वस्तुको लेकर मैं क्या करूँ? भगवन्! आप जो जानते हैं (जिस परम धनके सामने आपको यह घर-बार तुच्छ प्रतीत होता है और बड़ी प्रसन्नतासे आप सबका त्याग कर रहे हैं) वही परम धन मुझे दीजिये।'

'मैत्रेयि! पहले भी तू मुझे विशेष इष्ट थी, अब इन वाक्योंसे वह प्रेम और भी बढ़ गया है। तू मेरे

पास आकर बैठ, मैं तुझे अमृतत्वका उपदेश करूँगा। मेरी बातोंको भलीभाँति सुनकर उनका मनन कर।' इतना कहकर महर्षि याज्ञवल्क्यने प्रियतमरूपसे आत्माका वर्णन आरम्भ किया। उन्होंने कहा—

'मैत्रेयि! (स्त्रीको) पति पतिके प्रयोजनके लिये प्रिय नहीं होता, परंतु आत्माके प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है।'

इस 'आत्मा' शब्दका अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है, कुछ कहते हैं कि आत्मासे यहाँ शरीरका लक्ष्य है। कुछ कहते हैं कि जबतक अंदर जीव है तभीतक संसार है, मरनेके बाद कुछ भी नहीं, इसलिये यहाँ इसी जीवका लक्ष्य है। यह पुनर्जन्म न माननेवालोंका मत है। कुछ लोग आत्माके लिये ऐसा अर्थ करते हैं कि जिस वस्तु या जिस सम्बन्धीसे आत्माकी उन्नति हो, आत्मा अपने स्वरूपको पहचान सके, वही प्रिय है। इसीलिये कहा गया है—**'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'**— यह तीव्र मुमुक्षु पुरुषोंका मत है।

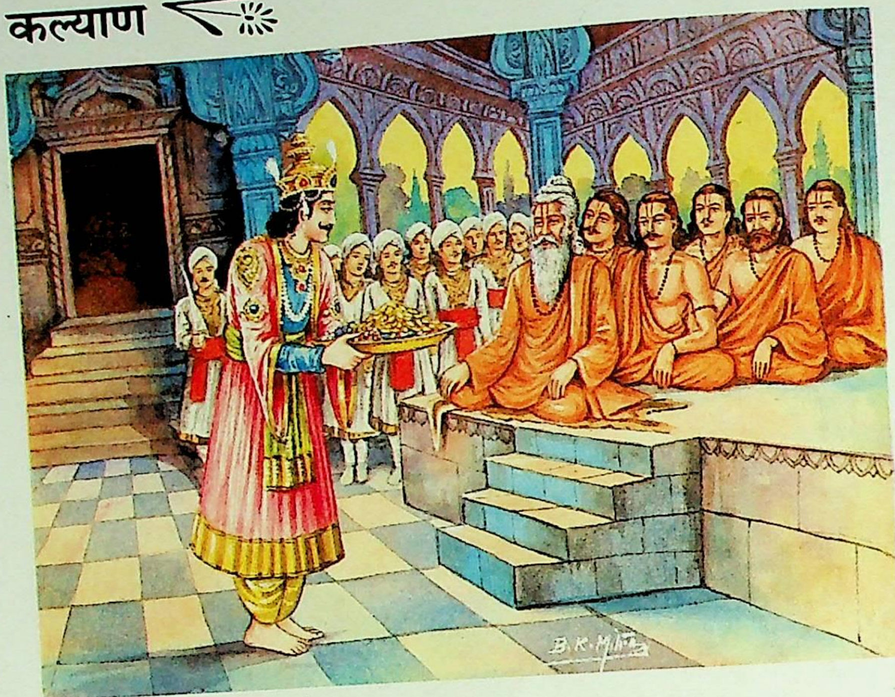
कुछ तत्त्वज्ञोंका मत है कि 'आत्माके लिये' इस अर्थमें कहा गया है कि इसमें आत्मतत्त्व है, यह आत्माकी एक मूर्ति है। मित्रकी मूर्तिको कोई उस मूर्तिके लिये नहीं चाहता, परंतु चाहता है मित्रके लिये। संसारकी समस्त वस्तुएँ इसीलिये प्रिय हैं कि उनमें केवल एक आत्मा ही व्यापक है या वे आत्माके ही स्वरूप हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

'स्त्री स्त्रीके लिये प्रिय नहीं होती, परंतु वह आत्माके लिये प्रिय होती है, पुत्र पुत्रोंके लिये प्रिय नहीं होते, परंतु वे आत्माके लिये प्रिय होते हैं, धन धनके लिये प्यारा नहीं होता, परंतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, ब्राह्मण ब्राह्मणके लिये प्रिय नहीं होता, परंतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, क्षत्रिय क्षत्रियके लिये प्रिय नहीं होता, परंतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, लोक लोकोंके लिये प्रिय नहीं होते, परंतु आत्माके लिये प्रिय होते हैं। देवता देवताओंके लिये प्रिय नहीं होते, परंतु आत्माके लिये प्रिय होते हैं, वेद वेदोंके लिये प्रिय नहीं हैं, परंतु आत्माके लिये प्रिय हैं, भूत भूतोंके लिये प्रिय नहीं हैं, परंतु आत्माके लिये प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयि! सब कुछ उनके लिये ही प्रिय नहीं होते, परंतु सब आत्माके लिये ही प्रिय होते हैं। यह परम प्रेमका स्थान आत्मा ही वास्तवमें दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निरन्तर ध्यान करने योग्य है। मैत्रेयि! इस आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन और साक्षात्कारसे ही सब कुछ जाना जा सकता है। यही ज्ञान है।'

इसके पश्चात् महर्षि याज्ञवल्क्यने सबका आत्माके साथ अभिन्न रूप बतलाते हुए इन्द्रियोंका अपने विषयोंमें अधिष्ठान बतलाया और तदनन्तर ब्रह्मकी अखण्ड एकरस सत्ताका वर्णन कर अन्तमें कहा—'जबतक द्वैतभाव होता है, तभीतक दूसरा दूसरेको देखता है, दूसरा दूसरेको सूँघता है, दूसरा दूसरेको सुनता है, दूसरा दूसरेसे बोलता है, दूसरा दूसरेके लिये विचार करता है और दूसरा दूसरेको जानता है, परंतु जब सर्वात्मभाव प्राप्त होता है, जब समस्त वस्तुएँ आत्मा ही हैं ऐसी प्रतीति होती है, तब वह किससे किसको देखे? किससे किसको सूँघे? किससे किसके साथ बोले? किससे किसका स्पर्श करे तथा किससे किसको जाने? जिससे वह इन समस्त वस्तुओंको जानता है उसे वह किस तरह जाने?'

'वह आत्मा अग्राह्य है इससे उसका ग्रहण नहीं होता, वह अशीर्य है इससे वह शीर्ण नहीं होता, वह असंग है इससे कभी आसक्त नहीं होता, वह बन्धनरहित है इससे कभी दुःखी नहीं होता और उसका कभी नाश नहीं होता। ऐसे सर्वात्मरूप, सबके जाननेवाले आत्माको कोई किस तरह जाने? श्रुतिने इसीलिये उसे 'नेति-नेति' कहा है, वह आत्मा अनिर्वचनीय है। मैत्रेयि! बस, तेरे लिये यही उपदेश है, यही तो मोक्ष है।'

इतना कहकर याज्ञवल्क्यने संन्यास ले लिया और वैराग्यके प्रताप तथा ज्ञानकी उत्कट पिपासाके कारण स्वामीके उपदेशसे मैत्रेयी परम कल्याणको प्राप्त हुई। याज्ञवल्क्यद्वारा मैत्रेयीको दी हुई शिक्षा वस्तुतः सार्थक हुई। वस्तुतः शिक्षाका भारतीय आदर्श और वास्तविक लक्ष्य भी यही है। (बृहदारण्यक उपनिषद्के आधारपर)



सच्ची जिज्ञासा



ब्रह्मज्ञानी रैक्वकी शिक्षा

ज्ञानार्जनमें बाधक तत्त्व

[ब्रह्मज्ञानी रैक्वका आख्यान]

प्रसिद्ध जनश्रुत राजाके पुत्रका पौत्र जानश्रुति नामक एक राजा था, वह बड़ी श्रद्धाके साथ आदरपूर्वक योग्य पात्रोंको बहुत दान दिया करता था। अतिथियोंके लिये उसके घरमें प्रतिदिन बहुत-सा भोजन बनवाया जाता था। वह अत्यधिक दक्षिणा देनेवाला था। वह चाहता था कि प्रत्येक शहर और गाँवमें रहनेवाले साधु, ब्राह्मण आदि सब मेरा ही अन्न खायँ, इसलिये उसने जहाँ-तहाँ सर्वत्र धर्मस्थान, अन्नसत्र या छात्रावास खोल रखे थे जहाँ अतिथियोंके ठहरने और भोजन करनेका सुप्रबन्ध था।

राजाके अन्नदानसे संतुष्ट हुए ऋषि और देवताओंने राजाको सचेत करके उसे ब्रह्मानन्दका सुख प्राप्त करानेके लिये हंसोंका रूप धारण किया और राजाको दिखायी दे सके ऐसे समय वे उड़ते हुए राजाके महलकी छतके ऊपर जा पहुँचे। वहाँ पिछले हंसने अगले हंससे कहा— 'भाई भल्लाक्ष! इस जनश्रुतके पुत्रके पौत्र जानश्रुतिका तेज दिनके समान सब जगह फैल रहा है। इसका स्पर्श न कर लेना, कहीं स्पर्श कर लिया तो यह तेज तुझे भस्म कर डालेगा।' यह सुनकर अगले हंसने कहा—'भाई! तुम बैलगाड़ीवाले रैक्वको नहीं जानते, इसीसे तुम उस रैक्वसे इसका तेज बहुत ही कम होनेपर भी उसकी प्रशंसा कर रहे हो।' पिछले हंसने कहा— 'वह गाड़ीवाला रैक्व कौन है और कैसा है, सो तो बता।' अगले हंसने कहा—'भाई! उस रैक्वकी महिमाका क्या वर्णन किया जाय। जैसे जुआ खेलनेके पासेके नीचेके तीनों भाग उसके अन्तर्गत होते हैं अर्थात् जब जुआरीका पासा पड़ता है तब वह तीनोंको जीत लेता है, वैसे ही प्रजा जो कुछ भी शुभ कार्य करती है, वे सारे शुभ कर्म और उनका फल रैक्वके शुभ कर्मके अन्तर्गत हैं। अर्थात् प्रजाकी समस्त शुभ क्रियाओंका फल उसे मिलता है। मैं उसी विद्वान् रैक्वके लिये ही ऐसा कह रहा हूँ।'

महलपर सोये हुए राजा जानश्रुतिने हंसोंकी ये बातें सुनीं और रातभर वह इन्हीं बातोंको स्मरण करता हुआ जागता रहा। प्रातःकाल बन्दीजनोंकी स्तुति सुनकर राजाने बिछौनेसे उठकर बन्दीजनोंसे कहा—'वत्स! तुमलोग गाड़ीवाले रैक्वके पास जाकर उनसे कहो कि मैं आपसे मिलना चाहता हूँ।' भाटोंने कहा—'हे राजन्! वह गाड़ीवाला रैक्व कौन है? और कैसा है?' राजाने जो कुछ हंसोंने कहा था, वह सब उन्हें कह सुनाया। राजाके आज्ञानुसार भाटोंने बहुतसे नगरों और गाँवोंमें रैक्वकी खोज की, परंतु कहीं उनका पता न लगा। तब लौटकर उन्होंने राजासे कहा कि 'हमें तो रैक्वका कहीं पता नहीं लगा।' राजाने विचार किया कि 'इन भाटोंने रैक्वको नगरों और ग्रामोंमें ही खोजा है। भला, ब्रह्मज्ञानी महापुरुष विषयी पुरुषोंके बीचमें कैसे रहेंगे' और उनसे कहा— 'अरे! जाओ, ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंके रहनेके स्थानोंमें (अरण्य, नदीतट आदि एकान्त स्थानोंमें) उन्हें खोजो।'

राजाके आज्ञानुसार भाट फिर गये और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते किसी एक एकान्त निर्जन प्रदेशमें गाड़ीके नीचे बैठे हुए शरीर खुजलाते हुए एक पुरुषको उन्होंने देखा। बन्दीजन उनके पास जाकर विनयके साथ पूछने लगे—'प्रभो! क्या गाड़ीवाले रैक्व आप ही हैं?' मुनिने कहा—'हाँ, मैं ही हूँ।'

रैक्वका पता लगनेसे भाटोंको बड़ा हर्ष हुआ और वे तुरंत राजाके पास जाकर कहने लगे कि हमने अमुक स्थानमें रैक्वका पता लगा लिया है।

तदनन्तर राजा छः सौ गायें, सोनेका कण्ठहार और खच्चरियोंसे जुता हुआ एक रथ आदि लेकर रैक्वके पास गया और वहाँ जाकर हाथ जोड़कर उनसे बोला—'भगवन्! ये छः सौ गायें, एक सोनेका हार और यह खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ, ये सब मैं आपके लिये लाया हूँ। कृपा करके आप इन्हें स्वीकार कीजिये और भगवन्! आप जिस देवताकी उपासना करते हैं, उस देवताका

मुझे उपदेश कीजिये ।'

राजाकी बात सुनकर रैक्वने कहा—'अरे शूद्र![1] ये गौएँ, हार और रथ तू अपने ही पास रख ।' यह सुनकर राजा घर लौट आया और विचारने लगा कि 'मुझे मुनिने शूद्र क्यों कहा? या तो हंसोंकी वाणी सुनकर शोकातुर था, इसलिये शूद्र कहा होगा। अथवा थोड़ा धन देखकर उत्तम विद्या लेनेका अनुचित प्रयत्न समझकर भी मुनि मुझे शूद्र कह सकते हैं, परंतु बिना ज्ञानके तो मेरा शोक दूर होगा नहीं, अतएव मुनिको प्रसन्न करनेके लिये मुझे फिर वहाँ जाना चाहिये ।'

यह विचारकर राजा अबकी बार एक हजार गौएँ, एक सोनेका कण्ठहार, खच्चरियोंसे जुता हुआ एक रथ और अपनी पुत्रीको लेकर फिर मुनिके पास गया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'भगवन्! यह सब मैं आपके लिये लाया हूँ, उन्हें आप स्वीकार कीजिये और धर्मपत्नीके रूपमें मेरी इस पुत्रीको और जहाँ आप रहते हैं इस गाँवको भी ग्रहण कीजिये। तदनन्तर आप जिस देवकी उपासना करते हैं उसका मुझे उपदेश कीजिये ।'

राजाके वचन सुनकर, कन्याकी करुणाभरी स्थिति देखकर मुनिने उसे आश्वासन दिया और कहा—'शूद्र! तू फिर यही सब वस्तुएँ मेरे लिये लाया है! क्या इन्हींसे ब्रह्मज्ञान खरीदा जा सकता है?' राजा चुप होकर बैठ गया। कुछ समय बाद मुनिने राजाको धनके अभिमानसे रहित हुआ जानकर ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। मुनि रैक्व जहाँ रहते थे उस पुण्य प्रदेशका नाम रैक्वपर्ण हो गया ।

वेदान्तकी शिक्षा

(स्वामी श्रीभोलेबाबाजी)

मैं सर्वत्र भरपूर हूँ, न पास हूँ, न दूर हूँ, सर्वदा सम्मुख उपस्थित हूँ। मैं न मन हूँ, न प्राण हूँ, न तन हूँ, नित्यसिद्ध कूटस्थ सनातन हूँ। ममकारका मुझमें नाम नहीं है, अहंकारका भी कुछ काम नहीं है, मेरा शुद्ध स्वरूप आत्माराम ही है। मैं न कहीं आता हूँ, न कहीं जाता हूँ, न कभी कुछ करता-कराता हूँ, अवयवहीन अनङ्ग हूँ, चेतन प्रशान्त असङ्ग हूँ, नाशहीन अभंग हूँ, कायातीत हूँ, मायातीत हूँ, छायातीत हूँ, वृक्षके समान अच्छेद्य हूँ, पर्वतके समान अभेद्य हूँ, न शोष्य हूँ, न क्लेद्य हूँ, श्रोत्रका श्रोत्र हूँ, जातिहीन अगोत्र हूँ, न किसीका पुत्र हूँ, न पौत्र हूँ। सच्चिदानन्द हूँ, परमानन्द हूँ, पूर्णानन्द हूँ। दुःखका मुझमें नहीं है लेश, एक भी नहीं मुझमें क्लेश, न राग है मुझमें न द्वेष। इस प्रकारका विचार है, यही है वेदान्तकी शिक्षा, इस विचारका करनेवाला संत महान्त है, वही निर्द्वन्द्व है और वही शान्त है ।

यह बात सम्यक् सत्य है कि पारस लोहेको काञ्चन बना देता है, परंतु पारस नहीं बनाता, आप तो अपने अनुचरको अपना-सा ही बना देते हैं। आपकी सेवा करनेवाला पूज्योंका पूज्य हो जाता है। आपके संसर्गमें आनेवाला कहीं भी पराजयको प्राप्त नहीं होता, किंतु सबको जीतनेवाले मृत्युको भी जीत लेता है। यद्यपि आनन्दस्वरूप ब्रह्म सबका आत्मा होनेसे प्रत्यक्षसे भी परम प्रत्यक्ष है, फिर भी जो भाग्यहीन आपके चरणोंसे विमुख हैं उन्हें अपने आनन्दस्वरूप आत्माका दर्शन नहीं होता और जो भाग्यवान् स्त्री-पुत्रादिके स्नेहको त्यागकर आपके चरणोंकी शरण लेता है, उसीको शान्तिमय अपने आत्माका दर्शन होता है और आत्माका दर्शन करनेसे वह कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। सच कहा है कि जिसकी देवमें परमभक्ति है और जैसी देवमें भक्ति है, वैसी ही गुरुके चरण-कमलोंमें भक्ति है, उसीको परम रहस्यका ज्ञान होता है, दूसरोंको नहीं होता। इस आत्माको जानकर ही

१. शोकसे विकल होनेके कारण राजाको मुनिने शूद्र कहा ।

याज्ञवल्क्यने सब ब्राह्मणोंको परास्त करके जनककी सभामेंसे गोधन और सुवर्णका हरण किया था। इसी आनन्दस्वरूप आत्माको जानकर राजा जनकने अपना सारा राज-पाट गुरु याज्ञवल्क्यको अर्पण कर दिया था। इससे सिद्ध होता है कि आत्मधनके सिवा दूसरा धन नहीं है। इस धनको पाकर कंगाल भी मालामाल हो जाता है और अल्पज्ञ भी सर्वज्ञ हो जाता है। इस सच्चे धन—आत्माकी प्राप्ति आप-सरीखे गुरुकी शरण हुए बिना नहीं होती, इसलिये विद्वान् वेदान्तका अर्थ चाहे कुछ करें, विद्वानोंको सब कुछ शोभन है। सद्गुरुकी शरणमें जाना—यही है वेदान्तकी शिक्षा। मेरा तो यही सिद्धान्त है। इसीसे दुःखान्त होता है।

ब्रह्मतरङ्ग

यहाँ एक ही अद्वितीय, कूटस्थ, शाश्वत, शान्त आनन्द है। वह न पास है, न दूर है, अपने-आप सम्मुख उपस्थित है, अखण्ड आनन्दका अम्बुनिधि है, अक्षय शान्तिका पहाड़ है, निरुपम सुखका भण्डार है, न इसका वार है, न पार है, अपरम्पार है, सर्वाधार, निराधार है, गिरागोपार है। जो इस रसको चखता है वही याद रखता है। अनेक जन्मोंतक जो कोई ईश्वरप्रीतिके लिये स्वधर्मका आचरण करता है, वही ईश्वर, गुरु, शास्त्र और आत्मकृपासे इसे जान पाता है, दूसरेको स्वप्नमें भी इसका दर्शन नहीं होता। जब दर्शन हीं नहीं होता, तब इसका प्राप्त करना और स्वाद लेना तो करोड़ों कोस दूर है। कोई विरला माईका लाल, गुरुका बाल ही इसका दर्शन करता है, प्राप्त करता है और स्वाद लेता है, दूसरे तो शास्त्रके जालमें पड़े हुए, शुष्क तर्क करते हुए अपना माथा पचाते रहते हैं। पानीको बिलोनेसे घी नहीं निकल सकता, घी तो दही बिलोनेसे ही हाथ आता है। इसी प्रकार बाहर आनन्दकी खोज करनेवालोंको इस अद्भुत आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती, जो भाग्यवान् विषयभोगोंकी आसक्तिको छोड़कर अपने हृदयमें ही खोज करता है अर्थात् बहिर्मुखताको त्यागकर अन्तर्मुख हो जाता है, वही इस अपूर्व रसका स्वाद लेता है। विचित्र आनन्द है, अपूर्व सुख है, अनोखी शान्ति है। जैसे मछलीके ऊपर-नीचे दायें-बायें जल-ही-जल होता है, फिर भी जबतक वह उलटी नहीं होती तबतक उसके मुखमें पानीकी बूँद नहीं जाती, इसी प्रकार ब्रह्मानन्द सर्वत्र सर्वदा भरा हुआ है, फिर भी जबतक मनुष्य बाहरके संसारको देखना छोड़कर अपने भीतर नहीं देखता, तबतक ब्रह्मानन्दकी छायातक भी भाग्यहीन नर नहीं पा सकता।

यह ब्रह्मरस अलौकिक है। लोकमें कहीं ऐसा रस नहीं है। लोकमें जहाँ-कहीं थोड़ा-बहुत सुख दृष्टिमें आता है, वह इस ब्रह्मरसके लेशका भी लेश है, अथवा लेश भी नहीं है, केवल छाया है। इस छायाका भी कभी-कभी किसी-किसीको अनुभव होता है, सर्वत्र सर्वदा अनुभव नहीं होता। यह छाया ब्रह्मरसकी है, ब्रह्मरस सबका स्वरूप ही है, परंतु देहासक्तिने उसे ढक दिया है। जो भाग्यवान् देहासक्तिका त्याग कर देता है, वह पुण्यशाली सर्वत्र सर्वदा सर्वथा इस ब्रह्मरसका रस लेता है, तब सब रस विरस हो जाते हैं। तत्पश्चात् ब्रह्मरसका रस लेनेवाला उसीमें रति करता है, उसीमें क्रीडा करता है, उसीमें तृप्त रहता है और उसीमें संतुष्ट रहता है, उससे बढ़कर दूसरा लाभ नहीं मानता, भारी-से-भारी कष्टमें भी प्रह्लाद आदिके समान सुखका ही अनुभव करता है, कष्टसे किंचित् भी चलायमान नहीं होता। वह वृक्षके समान अचल रहता है, न काँपता है, न कोप करता है, पर्वतके समान अटल रहता है, न हिलता है, न डोलता है। भला, अक्षय आनन्दके सागरमें डूबा हुआ तुच्छ, अनित्य, क्षणिक भोगोंके सुखाभासकी क्यों इच्छा करेगा? कभी नहीं करेगा। जैसे मीठी ईखका प्रेमी हाथी कभी नीम खानेकी इच्छा नहीं करता, इसी प्रकार ब्रह्मानन्दरस चखनेवालोंको सब भोग फीके ही लगते हैं।

यह चराचर जगत् ईश्वरसे पूर्ण है, फिर भी देहाभिमानी पुरुष उस सर्वव्यापी ईश्वरको नहीं देख सकता। जो भाग्यवान् देहाभिमानको त्याग देता है, वह ईश्वरको स्पष्ट देखता है। ईश्वरका ज्ञान अथवा दर्शन न होनेमें देहाभिमान ही आड़ है। जहाँ देहाभिमान गया, ईश्वरका दर्शन

हुआ । जहाँ ईश्वरका ज्ञान हुआ, वहीं शोक, मोह, भय गया । कोई कहे कि जगत्के होते हुए ईश्वरका दर्शन कैसे होगा और ईश्वरका दर्शन हुए बिना शोक, मोह, भय कैसे जायगा ? तो इसका उत्तर यह है **'जगदेव हरिर्हरिरेव जगत्'**—इस न्यायके अनुसार ईश्वरसे जगत् भिन्न नहीं है, इसलिये जैसे घटके होते हुए भी मृत्तिकाका ज्ञान हो सकता है, उसी प्रकार जगत्के होते हुए भी ईश्वरका ज्ञान हो सकता है । कोई कहे कि जब ईश्वर और जगत् अभिन्न हैं, तब जगत्का नाश होनेसे ईश्वरका भी नाश हो जायगा, तो यह बात नहीं है; क्योंकि व्याप्य अंशका ही नाश होता है, व्यापीका नाश नहीं होता । जैसे व्याप्य अंश घटका नाश होनेपर भी व्यापी अंश पृथिवीका नाश नहीं होता, उसी प्रकार जगत्के व्याप्य अंश नाम-रूपका नाश होनेपर भी व्यापी ईश्वरका नाश नहीं होता । व्याप्य अंश मिथ्या होता है और व्यापी तत्त्व सच्चा होता है । इसलिये मिथ्या जगत्को त्यागकर सच्चे ईश्वरका ज्ञान हो सकता है । कोई कहे कि जगत् तो सत्य ही है, मिथ्या नहीं है, तो प्रश्नकर्ताको बताना चाहिये कि व्याप्य अंश नाम-रूपसे जगत् सत्य है अथवा व्यापी अंश सच्चिदानन्द-रूपसे सत्य है ? व्याप्य अंशसे तो जगत् सत्य हो नहीं सकता; क्योंकि नाम-रूपका नाश सबके अनुभवसे अथवा प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है, व्यापी अंशसे जगत् सत्य है, यही कहना होगा, यह बात तो ठीक ही है, इसलिये सच्चिदानन्द-रूप ईश्वर ही सत्य है, यही है वेदान्तकी शिक्षा, यह सिद्ध हुआ । जो शास्त्र सदसत्का विवेक कराता है, उसीका नाम वेदान्त है ।

जो भाग्यवान् अधिकारी अनेक जन्मोंमें ईश्वरकी प्राप्तिके लिये कर्म करता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । शुद्ध अन्तःकरण होनेसे वह देह, देहके सम्बन्धी मिथ्या और तुच्छ पदार्थोंकी आसक्तिको त्यागकर और उन पदार्थोंकी प्राप्तिके साधन सब कर्मोंको त्यागकर सद्गुरुकी शरण लेता है । जैसे कहा है कि ब्राह्मण कर्मसे प्राप्त हुए लोगोंकी परीक्षा करके वैराग्यको प्राप्त होता है; क्योंकि अकृत (क्रियारहित) परमात्मा कृत (क्रिया)से प्राप्त नहीं हो सकता । ऐसा विचारकर समित्पाणि अर्थात् हाथमें समिधा लेकर शिष्य ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुके पास सत्य पदार्थको जाननेके लिये जाता है । गुरुके मुखसे महावाक्यका श्रवण करता है, श्रवण किये हुएके अर्थका मनन करता है, मनन किये हुएका निदिध्यासन करता है अर्थात् सजातीय वृत्तिकी आवृत्ति और विजातीय वृत्तिका तिरस्कार नित्य-निरन्तर करता है । निदिध्यासन करनेसे देहका अभिमान और जगत्की सत्यता निवृत्त हो ज़ाती है और परमात्मतत्त्वका अपने प्रत्यक् आत्मरूपसे साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् अधिकारी अपनेको और इस समस्त जगत्को ब्रह्मस्वरूप ही देखता है, ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ नहीं देखता । ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ न देखना, यही है वेदान्तकी शिक्षा ।

बहुतसे मोहग्रस्त बुद्धिवाले 'वेदान्त शुष्क है'—ऐसा कहते हुए देखने और सुननेमें आते हैं । मुमुक्षुओंको इनकी बातोंपर ध्यान न देना चाहिये । ऐसे पुरुषोंने न तो गुरुके मुखसे वेदान्तका श्रवण किया है और न श्रवण किये हुएका अपनी युक्तियोंसे मनन ही किया है । जिन्होंने श्रवण-मनन ही नहीं किया वे निदिध्यासन तो करें ही कहाँसे ? ऐसोंने केवल वेदान्तकी प्रक्रिया सुन ली है और सुनकर वे 'हम कर्ता-भोक्ता नहीं हैं, किंतु असङ्ग आत्मा हैं'—ऐसा कथनमात्र मानने लगे हैं । इनकी वही कहावत है कि जब गायको मारा, तब तो हाथके देवता इन्द्रने मारा और जब आप पिटे, तब रोने-चिल्लाने लगे, तब यह नहीं समझते कि त्वचाके देवता वायु पिटे हैं, हम नहीं पिटे । ऐसोंकी बात प्रमाणरूप नहीं है । भला, जिस देवके आनन्दकी एक मात्रासे समस्त चराचर प्राणी आनन्दित होकर जीते हैं, जिसे श्रुति **'रसो वै सः'**—ऐसा कहती है, जिसे भगवान् गीतामें **'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'**—ऐसा कहते हैं, जिस शान्तरसके सामने शृंगारादि नवों रस नीरस हो जाते हैं, वह वेदान्तरस शुष्क कैसे हो सकता है ? श्रवण-मनन करनेके पश्चात् चिरकालतक नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक एकान्तमें बैठकर निदिध्यासन किये बिना और फिर उठते-बैठते, चलते-फिरते,

खाते-पीते निरन्तर वेदान्तका चिन्तन किये बिना तत्त्वज्ञान दृढ़ नहीं होता और तत्त्वज्ञानके दृढ़ हुए बिना मन निर्वासन नहीं होता, निर्वासन मन हुए बिना पूर्णानन्दका अनुभव नहीं होता, इसलिये श्रेयोऽभिलाषीको नित्य-निरन्तर 'मैं, यह सब जगत् अखण्डानन्दैकरस ब्रह्म ही है'—ऐसा अनुसंधान करना चाहिये, ऐसा करनेमें परिश्रम कुछ नहीं है, सुखसे हो सकता है और दिन-प्रतिदिन अद्भुत आनन्दका अनुभव होता है।

अखण्डानन्द ब्रह्मामृतरसका जो अनुसंधान करता है, उसे ऋषभदेव आदिके समान व्यवहार अच्छा नहीं लगता। सुन्दर-से-सुन्दर स्त्री भी मांस-हड्डी आदिकी पुतली दिखायी देती है, स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट भोजनको देखकर अथवा सूँघकर उसका मन नहीं चलता, विषय विषके समान प्रतीत होते हैं, देह भी भार मालूम होती है। **'तूष्णीमवस्था परमोपशान्तिः'**, **'मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्'**—इस न्यायके अनुसार वह सर्वदा कायासे, वाणीसे और मनसे मौन ही धारण करता है। ऐसे भाग्यशालीका योगक्षेम भगवान् अपने वचनानुसार आप वहन करते हैं। जिस सुखका वह अनुभव करता है, उसे वही जान सकता है, दूसरा नहीं जान सकता। सुनते हैं कि भगवान् ऋषभदेवके मुखमें किसी धूर्तने भोजन करानेके बहानेसे पत्थरका टुकड़ा रख दिया, तो वे उस टुकड़ेको कई मासतक मुखमें रखे रहे, बाहर नहीं निकाले। भला, आनन्दके अपूर्व सागरमें डूबे हुएको छोटे-मोटे पत्थरके टुकड़ेकी क्या खबर पड़े। टुकड़ेकी बात अलग रही, ऐसा पुरुष सिंहसे, हाथीसे, तलवारसे अथवा अन्य किसीसे भी भय नहीं खाता; क्योंकि उसे सिवा ब्रह्मके अन्य कुछ भी दिखायी ही नहीं देता। जहाँ दूसरा होता है वहाँ दूसरा दूसरेको देखे। जहाँ एक ही है, दूसरा है ही नहीं, वहाँ किंससे किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसको जाने? श्रुतिका यह कथन ठीक ही है। सामान्य मनुष्योंकी समझमें यह बात नहीं आ सकती। हौजमें रहनेवाला मेढक समुद्रकी थाह नहीं पा सकता। अथाह सुख-सागर ब्रह्ममें मग्न हो जाना, यही है वेदान्तकी शिक्षा।

भाद्रपदकी अँधेरी रात है, हाथको हाथ सूझता नहीं है, घटा घनघोर छायी है, मानो देवराजने दैत्योंपर चढ़ाई की है। ऊँचे-नीचे टीलोंका मैदान है, वहाँ काले-काले चार जवान बत्ती लिये हुए घूम रहे हैं, वे कभी टीलोंपर चढ़ते हैं, कभी उतरते हैं, लट्ठ सबके पास हैं, फिर भी उदास हो रहे हैं। अनुमान होता है कि वे किसी वस्तुकी खोजमें हैं, इसीसे सबके सब सोचमें हैं। पासके खेतकी झोपड़ीके आगे एक हृष्ट-पुष्ट जवान आसन लगाये बैठा हुआ है, क्षेत्रकी रखवाली कर रहा है, परंतु मन उसका क्षेत्रज्ञमें लगा हुआ है। (ये अवधूत जडभरत थे।) काले-काले जवान इसे सर्वाङ्गपूर्ण देखकर प्रसन्न होकर 'मिल गया! मिल गया!' कहकर तालियाँ बजाते हैं और परस्पर यों बातचीत करते हैं—

एक—भाइयो! यही वह नरपशु है, जो हमारी आँख बचाकर भाग आया है, अच्छा हुआ, जो मिल गया, नहीं तो हमारा राजा हम सबको बड़ा भारी दण्ड देता।

दूसरा—नहीं! उसमें और इसमें भेद है। वह इतना मोटा नहीं था, यह बहुत मोटा है, पर बलिदान देनेके लिये यह उससे भी अच्छा है, देवी इसका रक्त पीकर बहुत ही प्रसन्न होगी और हमारे राजाका मनोरथ पूर्ण करेगी। चलो, शीघ्र ले चलो, समय आ गया है, पुरोहितसहित राजा आनेवाला है या आ गया होगा, हमारी प्रतीक्षा कर रहा होगा, देर हो रही है, शीघ्रता करो, अभी मन्दिरतक पहुँचनेमें भी देर लगेगी, आधी रात हो गयी है। यह पुरुष भी (धीरेसे) बलवान् है, यदि लड़ने लगा, तो हम सबकी खोपड़ीसे खोपड़ी लड़ा देगा, यदि आसन जमाये बैठा रहा तो हम सबसे उठाया भी नहीं जायगा।

तीसरा—अरे! हम चार हैं, यह अकेला है। बेचारा अकेला क्या कर सकेगा? बाँध लो। हम डाकुओंसे यह जीत नहीं सकता।

चौथा—भाई! यदि बिना बाँधे ही चलनेको तैयार हो जाय तो बाँधनेकी क्या आवश्यकता है? (हृष्ट-पुष्ट पुरुषसे) अरे भाई! चल हमारे साथ, हम तुझे लड्डू-पेड़े खिलायेंगे।

मोटा पुरुष—मित्रो! लड्डू-पेड़ोंका तो मैं भूखा नहीं

हूँ। हाँ, यदि मैं तुम्हारे कुछ काम आ सकता हूँ, तो मैं साथ चलनेको तैयार हूँ, यह शरीर सदा तो रहेगा नहीं, एक-न-एक दिन अवश्य ही इसे छोड़ना पड़ेगा। तुम्हारे काम आ जाय, तो अच्छा ही है।

इतना कहकर हमारा वीर खड़ा हो गया है। एकने इसका दायाँ हाथ, दूसरेने बायाँ हाथ पकड़ लिया है, तीसरेने इसकी कमरमें रस्सी बाँधकर पकड़ ली है, चौथा कंधेपर लट्ठ रखे हुए एक हाथमें बत्ती लिये आगे हो लिया है। इस प्रकार जैसे रामदूत पवनकुमारको मेघनाद ब्रह्मपाशमें बाँधकर रावणकी सभामें ले गया था, उसी प्रकार हमारे वीरको ले चले हैं। हमारा वीर भी जैसे हनुमान् निःशङ्क ब्रह्मपाशमें बँधे हुए जा रहे हों, ऐसे ही चला जा रहा है। कौन मुझे लिये जा रहे हैं, कहाँ ले जा रहे हैं, ले जाकर मेरा क्या करेंगे आदि कोई भी संकल्प उसके मनमें नहीं उठता। गीताके गुणातीत पुरुषके लक्षण इसीपर घटते हैं!

थोड़ी दूर चलकर भद्रकालीका एक विशाल मन्दिर दिखायी देता है, हमारे वीरसहित चारों मनुष्य मन्दिरमें घुस गये हैं, वहाँपर बहुतसे मनुष्य एकत्र हैं, इन्हें देखकर सब-के-सब 'भद्रकालीकी जय हो' ऐसा वाक्य बड़े ऊँचे स्वरसे उच्चारण कर रहे हैं और इतने प्रसन्न हैं, मानो देवराज इन्द्रका राज्य ही उन्हें मिल गया हो। तत्पश्चात् सबने मिलकर देवीके नर-पशुका उबटन किया, जलसे स्नान कराया, तिलक-छापे लगाये, पुष्पोंकी माला पहनायी, सुन्दर-सुन्दर नवीन वस्त्र पहनाये, उत्तम-उत्तम षट्रस भोजन कराये। हमारे वीरको कुछ यह खबर नहीं है कि ये मुझे अलंकृत कर रहे हैं अथवा किसी दूसरेको; क्योंकि दूसरी देहोंके समान ही उसे अपनी भी देह है। जैसे हम दूसरे मनुष्यको अलंकृत देखकर अपनेको अलंकृत हुआ नहीं समझते वैसे ही वह भी ऐसा समझ रहा है कि दूसरा ही कोई अलंकृत किया जा रहा है, मैं नहीं।

पर कालीको यह सब क्यों पसंद आता। जब भीलोंने उन्हें बलि देना चाहा, तब वे प्रकट होकर खड्गसे उन्हें ही काटने लगीं और क्षणभरमें वे नष्ट हो गये। महापुरुषोंके प्रति किया हुआ अतिचार यों ही उलटे फल देता है, अतः सदा साध्वाचारका ही आश्रय लेना चाहिये।

कु०—ब्रह्म सनातन वाच्य है, वाचक है वेदान्त।
पढ़त सुनत वेदान्तके होता है मन शान्त॥
होता है मन शान्त, अन्त दुःखोंका होता।
जीव होयके ब्रह्म, नींद सुखकी है सोता॥
भोला, नाहीं विश्व, नहीं माया न मन तन।
तजकर सारे कार्य, नित्य भज ब्रह्म सनातन॥

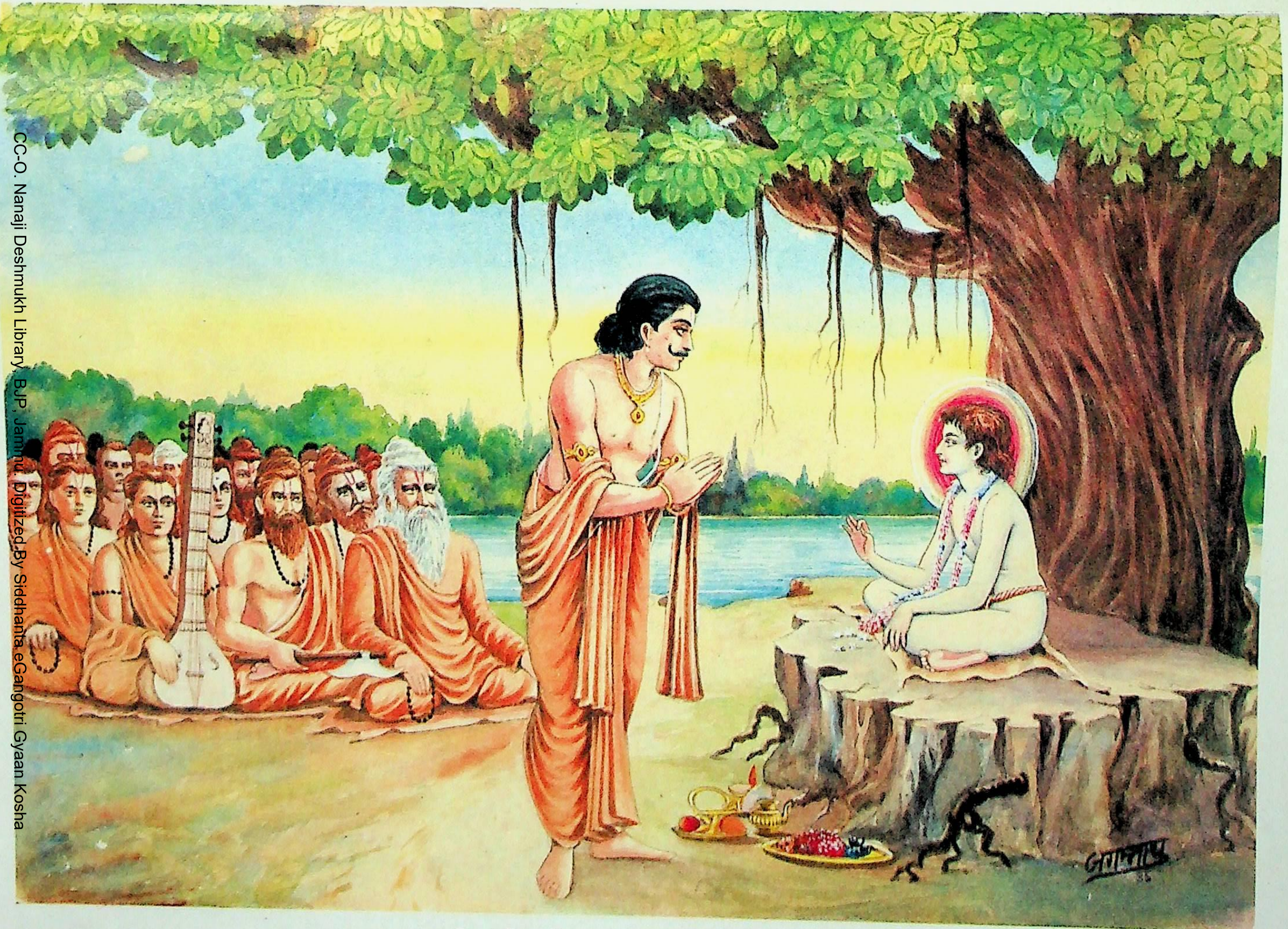
श्रीशुकदेवमुनिके द्वारा राजा परीक्षित्को दिव्योपदेश

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

(श्रीमद्भा० १।१।१)

'जिससे इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं—क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थोंमें अनुगत है और असत् पदार्थोंसे पृथक् है, जड नहीं, चेतन है, परतन्त्र नहीं, स्वयंप्रकाश है, जो ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ नहीं प्रत्युत उन्हें अपने संकल्पसे ही जिसने उस वेदज्ञानका दान किया है, जिसके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जैसे तेजोमय सूर्यरश्मियोंमें जलका, जलमें स्थलका और स्थलमें जलका भ्रम होता है, वैसे ही जिसमें यह त्रिगुणमयी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूपा सृष्टि मिथ्या होनेपर भी अधिष्ठान-सत्तासे सत्यवत् प्रतीत हो रही है, उस अपनी स्वयंप्रकाश ज्योतिसे सर्वदा और सर्वथा माया और मायाकार्यसे पूर्णतः मुक्त रहनेवाले परम सत्यरूप परमात्माका हम ध्यान करते हैं।'

भगवान् श्रीकृष्णका अवतार द्वापरके अन्तमें हुआ था और उसी समय ... महाभारतका



श्रीशुकदेवमुनिद्वारा दिव्य ज्ञानकी शिक्षा

भीषण युद्ध भी। इस महायुद्धमें पाण्डवोंकी विजय हुई; क्योंकि योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण उन्हींके पक्षमें थे। पाँच पाण्डव, सात्यकि, युयुत्सु, कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामाको छोड़कर दोनों पक्षोंके प्रायः सभी वीर उस युद्धमें मारे गये। अर्जुनका पुत्र अभिमन्यु भी वीरगतिको प्राप्त हुआ; किंतु उसकी पत्नी उत्तरा गर्भवती थी। इसीसे एक बड़ा प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम परीक्षित् था।

युद्ध समाप्त होनेपर महाराज युधिष्ठिरने तीन अश्वमेध यज्ञ किये; किंतु उसपर भी उनके हृदयका शोक नहीं मिटा। इसी बीच विदुरजी और राजा धृतराष्ट्र घर छोड़कर जंगलको चले गये तथा उन्होंने वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण कर लिया। उधर द्वारिकासे समाचार आया कि गृहकलहके कारण यादववंशका संहार हो गया और भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने लोकको पधार गये। इन सब सूचनाओंसे महाराज युधिष्ठिरको ज्ञात हो गया कि अब कलियुगका आगमन हो गया है, अतः उन्होंने भी परम वैराग्ययुक्त होकर परीक्षित्‌को राज्य सौंप दिया तथा वे चारों भाइयों और द्रौपदीको साथ लेकर महायात्राके लिये विदा हो गये।

महाराज परीक्षित् बड़े धर्मात्मा, शक्तिशाली और दिग्विजयी राजा थे। एक समय वे कुरुक्षेत्रकी यात्रा कर रहे थे, वहाँ उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। वह यह था कि एक बूढ़े बैलके तीन पैर टूटे हुए थे और उसके साथ एक गाय थी जो अत्यन्त कृश और दीन हो रही थी। उन दोनोंके पीछे एक काले रंगका भयावना पुरुष राजचिह्न धारण किये खड़ा था। वास्तवमें यह बूढ़ा बैल धर्म था, गाय पृथ्वी थी तथा पुरुष कलि था, जिसके भयसे वे दोनों (गाय-बैल) आपसमें यह कह रहे थे कि 'हाय, हाय! अब कलियुग आ गया, भविष्यमें पृथ्वी शूद्रप्राय राजाओंके अधिकारमें चली जायगी, देवताओंका हविर्भाग नष्ट हो जायगा, इन्द्र वर्षा नहीं करेंगे, जिससे प्रजा भूखों मरेगी। ब्राह्मण कुकर्मी होंगे या लोभवश सेवावृत्ति करेंगे, अन्य सब प्राणी शास्त्रके विधि-निषेधको न मानकर मनमाना आचरण करेंगे तथा धर्मके चार चरण—तप, शौच, दया और सत्यमेंसे पहले तीन चरण नष्ट हो जायँगे। केवल सत्य कुछ समयतक बचा रहेगा, किंतु अन्तमें वह भी नष्ट हो जायगा।'

इस संवादको सुनकर राजा परीक्षित्‌ने उस राजदण्डधारी कलिकी ओर देखा और वे धनुषपर बाण चढ़ाकर उसे मारनेके लिये उद्यत हो गये; तबतक कलिने राजचिह्नोंको त्याग दिया और वह दण्डके समान राजा परीक्षित्‌के चरणोंमें जा गिरा। राजा परीक्षित् दीनवत्सल थे ही, उन्होंने उसका वध नहीं किया। कलिने यह प्रार्थना की कि 'महाराज! आप मेरे रहनेयोग्य कोई स्थान बतला दीजिये, जहाँ मैं आपकी आज्ञासे निश्चिन्त होकर रहूँ। मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ, वहाँ-वहाँ आप मेरे वधके लिये हाथमें धनुष-बाण धारण किये हुए दिखायी देते हैं।'

ऐसी प्रार्थना करनेपर राजा परीक्षित्‌ने कहा—'द्यूत, मद्यपान, स्त्रीसंग और हिंसामें असत्य, मद, काम तथा क्रूरताका वास है। तुम इन्हीं चार स्थानोंमें निवास करो।' इसपर कलियुगने फिर प्रार्थना की कि 'महाराज! मुझे ऐसा स्थान भी बतलाइये, जहाँ उपर्युक्त चारों अधर्मोंकी एक साथ स्थिति हो।' तब राजा परीक्षित्‌ने ऐसा स्थान सुवर्ण बतलाया और कहा कि उसमें असत्य, मद, काम, क्रूरता, वैरभाव आदि सभी पाप बसते हैं।

अस्तु, इस प्रकार कलियुगका निवास सुवर्ण (धन) आदि पाँच स्थानोंमें रहता है। अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि वे इन विषयोंसे सर्वथा अनासक्त रहें। विशेषकर धर्मशील राजा और लोकरक्षक गुरुओंको तो उनसे और भी बचना चाहिये; क्योंकि सर्वसाधारण जनता उन्हींका अनुकरण करती है।

एक बार राजा परीक्षित् शिकार खेलनेके लिये किसी जंगलमें अकेले जा पहुँचे। वे चलते-चलते थक गये और प्याससे व्याकुल हो उठे। उन्होंने एक ऋषिको कुछ दूरपर बैठे हुए देखा और उनके पास जाकर जलकी प्रार्थना की। मुनि ध्यानमग्न थे, अतः उन्होंने कुछ भी नहीं सुना। राजा परीक्षित्‌को यह देखकर क्रोध आ गया। उन्होंने सोचा, 'इस मुनिने मुझे बैठनेके लिये तृणका भी आसन नहीं दिया और न कुछ प्रिय भाषण ही किया।'

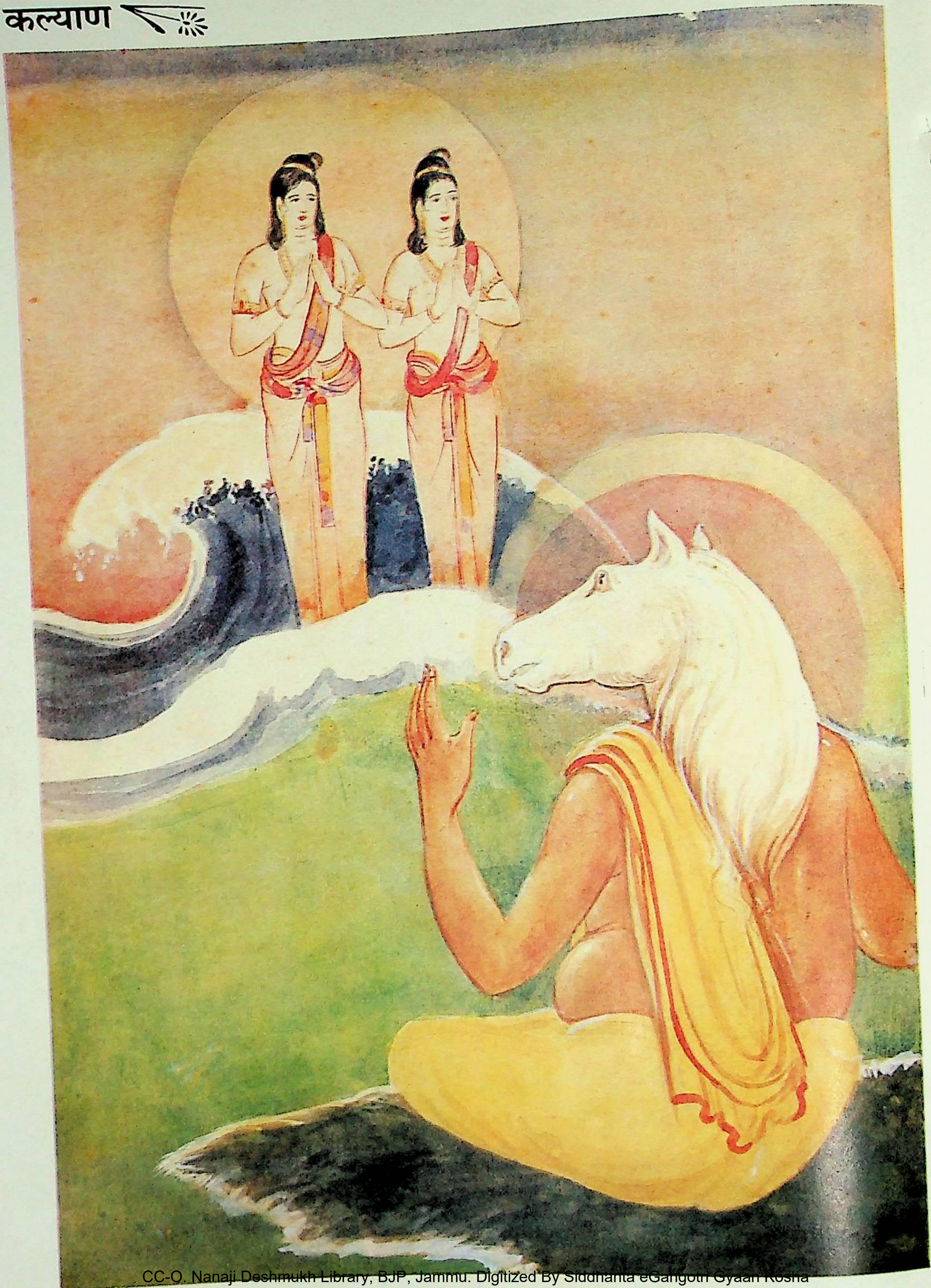
एक तो राजा गर्मी, भूख, प्यास आदिसे व्याकुल थे, दूसरे उनके स्वर्ण-मुकुटमें कलिका निवास था, इससे उनकी बुद्धि विवेकशून्य हो गयी । वे वहाँसे चल दिये । इसी समय उनकी दृष्टि एक मरे हुए सर्पपर पड़ी । कलिप्रभावित और क्रोधके वशीभूत राजाने उस सर्पको अपने धनुषके अग्रभागसे उठा लिया और लौटकर उसे ध्यानमग्न ऋषिके गलेमें डाल दिया । उस समय राजाने यह कुछ भी नहीं सोचा कि ऋषि सचमुच ध्यानमें बैठे हैं या उन्होंने लोगोंको ठगनेके लिये झूठी समाधि लगा रखी है ।

ऋषिके गलेमें सर्प डालकर राजा चले गये, किंतु जब राजाके इस अपराधका पता ऋषिके प्रतापी पुत्र शृंगीको मालूम हुआ, तब उसके क्रोधकी सीमा न रही । उसने झट जलका आचमन करके राजाको यह शाप दे दिया कि 'मेरे पिताके गलेमें मरा हुआ सर्प डालनेवाले और इस प्रकार लोकमर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले उस कुलाङ्गार परीक्षित्‌को आजके सातवें दिन तक्षक सर्प डस लेगा ।'

इतनेमें शमीक ऋषिकी समाधि टूटी और उनको इस सारी घटनाका पता चल गया । फिर तो वे बड़े खिन्न हुए और उन्होंने अपने पुत्रसे डाँटकर कहा—'अरे मूर्ख ! तुमने यह बड़ा पाप किया जो बहुत थोड़े-से अपराधके कारण उस परमधार्मिक, महाकीर्तिमान्, भगवद्भक्त, अश्वमेधयागी सम्राट्‌को ऐसा भयानक शाप दे दिया ।' किंतु इसके सिवा अब ऋषि कर हीं क्या सकते थे । उन्होंने अपने शिष्यके द्वारा शापका सारा वृत्तान्त राजाके पास भेजवा दिया ।

राजाको शापका पता लगनेपर वे अपने कुकृत्यपर अत्यन्त पश्चात्ताप और शोक करने लगे । उनका मन संसारसे विरक्त हो गया, परलोकके सम्पूर्ण भोगोंसे भी उनका मन हट गया । उन्होंने राज्यका भार अपने पुत्र जनमेजयको सौंप दिया और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें मन लगाकर, मृत्युकालपर्यन्त अनाहार-व्रतका संकल्प करके भगवती भागीरथीके पुनीत तटपर चले गये । यह हाल सुनकर वहाँ अनेक ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि और ऋषि-मुनि पहुँच गये तथा सबने राजाके साथ सहानुभूति दिखलायी । राजा परीक्षित्‌ने उन सबसे प्रार्थना की कि 'आपलोग मुझे तक्षकसे बचानेका कोई उपाय न सोचकर भगवान् श्रीकृष्णकी कथाओंको ही विस्तारके साथ सुनानेकी कृपा करें ।' राजा नदीके दक्षिण तटपर उत्तरकी ओर मुँह करके बैठ गये और उन्होंने महर्षियोंसे पूछा—'भगवन् ! ऐसा कौन-सा कर्म है, जिसे सब लोग सब अवस्थाओंमें—विशेषकर मृत्युके समय कर सकते हैं तथा जिसके करनेसे कुछ भी पाप नहीं लगता ?' इस प्रश्नको सुनकर वहाँ जितने ऋषि-मुनि थे सभी आपसमें वाद-विवाद करने लगे । कोई तपको श्रेष्ठ बतलाता था, कोई-कोई योग और यज्ञको ही सर्वश्रेष्ठ कर्म कहकर पुकार उठते थे ।

इतनेमें वहाँपर एक अवधूत आ पहुँचे । उनकी अवस्था सोलह वर्षकी थी, शरीर दिगम्बर था तथा मुखाकृति प्रसन्न और तेजयुक्त थी । वे और कोई नहीं, श्रीशुकदेवजी थे । राजाके द्वारा पूजा किये जानेके उपरान्त उन्होंने कहा—'राजन् ! मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सर्वात्मा भगवान् श्रीहरिका कीर्तन करना चाहिये, सुनना चाहिये तथा स्मरण करना चाहिये । भगवान् श्रीहरिका कीर्तन यदि अन्तकालतकमें भी हो तो वह पुरुष मरकर श्रीहरिके रूपमें जा मिलता है । राजा खट्वाङ्गकी कथा तुम्हें मालूम होगी, वह दो घड़ीमें ही सम्पूर्ण विषयोंका त्याग करके मुक्त हो गया, तुम्हारे लिये तो अभी सात दिन शेष हैं । पहली बात यह कि तुम मृत्युका भय छोड़ दो, उसके बाद इस शरीर और शरीरके सभी सम्बन्धी जैसे स्त्री, पुत्र आदिकी ममतारूपी रस्सीको वैराग्यरूपी शस्त्रसे छिन्न-भिन्न कर दो और एकान्तमें बैठकर मनको भगवत्स्वरूपमें लगा दो । श्रीभगवान् सबके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं; क्योंकि श्रुति यही कहती है और अनुमानसे भी इसीकी पुष्टि होती है । जैसे कुल्हाड़ी आदि हथियार वृक्षको काटनेके साधन हैं, किंतु वे सभी हथियार किसी काटनेवाले चेतनके बिना अपना कार्य नहीं कर सकते, वैसे ही मन, बुद्धि आदि भी जड पदार्थ हैं और किसी चेतनके आश्रयसे



अश्विनीकुमारोंको आत्मज्ञानकी शिक्षा

ही काम करते हैं। वह चेतन ज्ञानस्वरूप ईश्वर ही है, जो प्रत्येक शरीरमें निवास करता है। इस प्रकारके अनुमानसे जब पुरुषको ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास हो जाता है, तब उसके हृदयमें भगवत्प्रेम उत्पन्न होना भी अशक्य नहीं होता, किंतु भगवान्‌में प्रीति प्राप्त करनेके साधनोंमें श्रीहरिकथाके श्रवणसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। श्रीहरिकथाके श्रवणसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और ज्ञानाग्निसे काम, क्रोध आदि दुर्वृत्तियोंका नाश हो जाता है। तदनन्तर विषयोंसे वैराग्य होकर चित्त प्रसन्न हो जाता है तथा मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला भक्तियोग प्राप्त हो जाता है।'

इस सुमधुर सम्भाषणको सुनकर राजा परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेवजीसे श्रीहरिकथामृतका पान करानेके लिये प्रार्थना की। श्रीशुकदेवजीने एक सप्ताहमें उनको श्रीमद्भागवतकी कथा सुना दी और उससे राजाको बड़ी सान्त्वना मिली। परमहंससंहिता श्रीमद्भागवतमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी जो त्रिभुवनपावनी त्रिवेणीका स्रोत बहा है वह सर्वथा अनिर्वचनीय है।

इस कथानकसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि जीवनमें हरि-कथा सर्वोपरि है। अतः जीवन-निर्वाहके लिये कर्तव्योंका पालन करते हुए भी भगवान्‌की कथाका श्रवण अवश्य करना चाहिये जिससे मनमें शान्ति आती है।

क्रोध-शमन और सत्यका पालन

[अश्विनीकुमारोंको महर्षि दधीचिद्वारा वेदान्तका उपदेश]

अश्विनीकुमार देवताओंके प्रसिद्ध चिकित्सक हैं। महर्षि दधीचि या दध्यङ् आथर्वण ऋषि महान् ब्रह्मज्ञानी एवं परोपकारी थे। श्रीमद्भागवतके—**मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम्** (६।९।५१से ६।१०।१४) तकमें इनकी महत्ता एवं उदारतापर विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। उपनिषद्, शिवपुराण, महाभारत, स्कन्दपुराणमें इनका विस्तृत चरित्र एवं वंशपरम्परा अवलोकनीय है। इन्होंने स्ववैद्यों— अश्विनीकुमारोंको वेदान्तका उपदेश किया था। दध्यङ् ऋषि महान् पुरुष थे, उन्होंने अश्विनीकुमारोंको साधन-सम्पन्न हो सफलता प्राप्त करनेकी आज्ञा दी और यह कहा कि तुमलोग यदि हृदयके अभिमान तथा काम-क्रोधादि दोषोंसे रहित और वैराग्ययुक्त होकर मुझसे पूछोगे तो मैं तुम्हें अधिकारी पाकर दुर्लभ ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा।

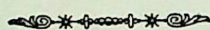
कालक्रमसे अश्विनीकुमारोंने एक कुण्डमें स्नान कराकर तथा औषधके सहारे सुकन्याद्वारा नष्ट किये गये च्यवन ऋषिके नेत्र अच्छे कर दिये और उन्हें स्वस्थ एवं युवा भी बना दिया। महर्षि च्यवनने भी शर्यातिके यज्ञमें अश्विनीकुमारोंको सोमपानके साथ यज्ञभाग दिलवा दिया।

कुछ दिन बाद इन दधीचि ऋषिके आश्रममें देवराज इन्द्र आये। अतिथिवत्सल ऋषिने इन्द्रसे कहा कि 'आप मेरे अतिथि हैं, अतः जो कुछ कहिये वह मैं करूँ।' इन्द्रने कहा—'मुझे ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये।' दध्यङ् ऋषि दुविधामें पड़ गये। वचन देकर नहीं करते हैं तो वाणी असत्य होती है और उपदेशके योग्य अधिकारी इन्द्र हैं नहीं। अन्तमें उन्होंने वचनको सत्य करनेके लिये उपदेश देनेका निश्चय किया और भलीभाँति ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। उपदेश करते समय ऋषिने प्रसंगवश भोगोंकी निन्दा की और भोगीको एक कुत्ता-सा सिद्ध किया। इन्द्रको स्वर्गादि भोगोंकी निन्दा सुनकर क्रोध आ गया और उन्होंने दध्यङ् ऋषिपर कई तरहसे संदेह करके निन्दा, शाप और हत्याके डरसे उन्हें मारनेकी इच्छा तो छोड़ दी, परंतु उनसे यह कहा कि 'यदि आप इस ब्रह्मविद्याका उपदेश किसी दूसरेको करेंगे तो मैं उसी क्षण वज्रसे आपका सिर उतार लूँगा।'

क्षमाशील ऋषिने शान्त-हृदयसे इन्द्रकी बात सुनकर किसी क्षोभ या क्रोधके बिना ही यों कहा—'अच्छी बात है, हम किसीको उपदेश करें तब सिर उतार लेना।'

इस बर्तावका इन्द्रपर प्रभाव पड़ा और वे शान्त होकर स्वर्ग लौट गये ।

कुछ दिनों बाद अश्विनीकुमारोंने वैराग्यादि साधनोंसे सम्पन्न होकर ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये गुरुके चरणोंमें उपस्थित होकर अपनी इच्छा जनायी और ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेके लिये प्रार्थना की । इसपर सत्यपरायण दध्यङ्ने सोचा कि 'इन्हें उपदेश न देनेसे मेरा वचन असत्य होगा और उपदेश करनेपर इन्द्र मेरा सिर उतार लेगा । वचन असत्य होनेकी अपेक्षा मर जाना उत्तम है । प्रतिज्ञा-भङ्ग और असत्यका जो महान् दोष होता है उसके सामने मृत्यु क्या वस्तु है । शरीरका नाश तो एक दिन होगा ही'—यह विचारकर उन्होंने उपदेश देनेका निश्चय कर लिया और अश्विनीकुमारोंको इन्द्रके साथ जो बातचीत हुई थी वह कहकर सुना दी । अश्विनीकुमारोंने पहले तो कहा कि 'भगवन्! आप हमलोगोंको अब कैसे उपदेश देंगे । क्या आपको इन्द्रके वज्रसे मरनेका डर नहीं है ?' परंतु जब दध्यङ् ऋषिने कर्मवश शरीरधारीके मृत्युकी निश्चयता, परमार्थरूपसे निःसारता और सत्यकी श्रेष्ठता सिद्ध कर दी तब अश्विनीकुमारोंने कहा—'भगवन्! आप किञ्चित् भी भय न करें । हम एक कौशल करते हैं, जिससे न आपकी मृत्यु होगी और न हमें ब्रह्मविद्यासे वञ्चित होना पड़ेगा । हम पृथक्-पृथक् हुए अङ्गोंको जोड़कर जीवित करनेकी विद्या जानते हैं । पहले हम इस घोड़ेका सिर उतारते हैं, फिर आपका सिर उतारकर इस घोड़ेके धड़पर रख देते हैं और घोड़ेका सिर आपके धड़से जोड़ देते हैं । आप घोड़ेके सिरसे हमें ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये । फिर जब इन्द्र आकर आपका घोड़ेवाला सिर काट देंगे तब हम पुनः उसका सिर उतारकर आपके धड़से जोड़ देंगे और इन्द्रके द्वारा काटा हुआ घोड़ेका सिर घोड़ेके धड़से जोड़ देंगे । न घोड़ा ही मरेगा और न आपको ही कुछ होगा ।' दध्यङ् ऋषिने इस प्रस्तावको स्वीकार करके उन्हें भलीभाँति ब्रह्मविद्याका उपदेश किया । जब इन्द्रको इस बातका पता लगा तब उन्होंने आकर वज्रसे दध्यङ् ऋषिके धड़से जोड़ा हुआ घोड़ेका सिर काट डाला । पश्चात् अश्विनीकुमारोंने संजीवनी-विद्याके प्रभावसे घोड़ेके धड़से जुड़ा हुआ ऋषिका सिर उतारकर उनके धड़से जोड़ दिया और घोड़ेके धड़पर घोड़ेका सिर रखकर उसे जोड़ दिया । यों दोनों जीवित हो गये ।



शिक्षाकी चरम उपलब्धि—सर्वत्र भगवद्दर्शन

[एक साधकका सच्चा अनुभव]

(श्रीअनुरागजी 'कपिध्वज')

स्वरूप-विस्मृतिके साथ ही द्वैतका आविर्भाव होता है तथा द्रष्टा, दर्शन और दृश्यकी त्रिपुटीके कारण भ्रमकी उत्पत्ति होती है । अद्वितीय आत्मतत्त्वमें विभिन्नता मान लेना ही भ्रम है, अज्ञान है । इस अज्ञानका अपनयन ही शिक्षाका मुख्य प्रयोजन है ।

प्राचीन भारतमें श्रेष्ठ मेधावी विद्यार्थी ब्रह्मचर्याश्रममें ही संसारकी नश्वरतासे परिचित हो जाते थे । मानव-जीवनका परम लक्ष्य सम्यग्दर्शन, वास्तविक दर्शन, आत्मदर्शन या भगवत्प्राप्ति है, इसे ही ध्यानमें रखते हुए तत्कालीन शिक्षाका अभ्यास किया जाता था । सत्सङ्ग भगवान्का प्रसाद है, इसके द्वारा मानवको संसारकी नश्वरताका बोध होता है और वह सोचता है कि मैं कौन हूँ? मुझे कहाँ जाना है? सत्सङ्गके ही प्रभावसे अपने हृदयका अज्ञान नष्ट करनेके लिये वह सद्ग्रन्थोंका सहारा लेता है तथा सद्ग्रन्थोंके स्वाध्याय और गुरुकी शिक्षासे जपका सहारा लेकर साधनामें संलग्न होता है । अनवरत जप, श्रद्धा एवं गुरुकृपासे वाचिक, उपांशु जपकी श्रेणी पारकर जब वह मानसिक जप करनेका अभ्यासी होता है, तब

उसके द्वारा अपनाये गये मन्त्रके बलपर इष्टकी कृपा प्राप्त हो जाती है। यदि साधक इष्टकी कृपाका उपयोग अर्थ, धर्म और कामना-पूर्तिके लिये करता है तो वह अपने पथसे विचलित हो जाता है और अमृतत्वकी प्राप्तिमें बाधा उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत जब साधक भौतिक सुख और समृद्धिकी चाहको त्यागकर मानसिक जपमें संलग्न रहता है, तब जपके दृढ़ अभ्याससे और गुरुकी सत्-शिक्षा तथा इष्टकृपासे वह यह समझनेमें समर्थ होता है कि यह संसार प्रभुकी एकसे अनेक होनेकी इच्छाका रूप है। ऐसी अवस्थामें प्रकृति और पुरुषको शक्ति और शक्तिमान् समझकर वह अपनी भावना और इष्टकी उपासनाके अनुरूप जगत्को प्रकृति और पुरुषका विलास मानकर गद्गद हो जाता है। गोस्वामीजीने इसी अवस्थाको प्राप्त कर मानसके आदिमें तत्त्वरूपसे कहा है—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इस अवस्थामें साधक संसारको प्रकृति-पुरुषके रूपमें देखनेका प्रयास करता है और इस प्रयासकी दृढ़ अवस्था उसके हृदयमें निष्कामभावको उत्पन्न कर उसे जन-सेवा करनेको बाध्य करती है। उसकी विषय-वासना क्षीण हो जाती है और साधक निष्काम-कर्म करनेका अभ्यास्यी होने लगता है। मानसिक जपकी अधिकता, गुरुशिक्षा और इष्टकी कृपासे उसे ज्ञात होता है कि प्रकृति और पुरुष दो रूपमें पृथक् नहीं हैं। जिस तरह स्वर्णके विभिन्न आभूषण स्वर्णरूप ही हैं, उसी तरह मेरे इष्ट ही प्रकृति-रूपमें अनेकताको प्राप्त हो रहे हैं। वास्तवमें वे एक ही हैं। एकका ही अनेक रूप देखकर हमें भ्रमित नहीं होना चाहिये तथा भ्रमके निवारण-हेतु उनकी ही शरणमें जाकर आत्मसमर्पण करना चाहिये।

बस, यही भावना 'भक्ति' है। साधक अनेकतामें एकताके दर्शनकर कृतार्थ हो जाता है। उसके हृदयसे द्वेष, कपट आदि असत्य-भाव नष्ट हो जाते हैं। तभी तो गोस्वामीजीने लिखा है—

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।

इस अवस्थाको प्राप्त साधककी यह भावना कि संसार प्रभुके संकल्पसे **'एकोऽहं बहु स्याम्'**की इच्छासे उत्पन्न हुआ है—नष्ट हो जाती है। वह विचारता है कि संसार है ही नहीं। शरीर और संसारकी मिथ्या-प्रतीति केवल विषय-चिन्तन, पञ्चभूत और उसकी तन्मात्राके अस्तित्वको स्वीकार करनेसे हो रही है। वास्तवमें मैं स्वयं स्वरूपसे विचलित हो गया हूँ। मेरे अज्ञान और मेरी भावनाके कारण मेरे मनपर जो कर्मकृत संस्कारोंकी छाया है, वही अस्तित्वहीन आकृतियोंकी सत्यताका बोध कराकर मुझे भ्रमित कर रही है।

साधक पञ्चभूतोंकी सत्ता स्वीकार न कर ब्रह्ममयी दृष्टि हो जानेके कारण सत्य-संकल्प हो जाता है। भगवान्से भिन्न जगत्की सत्ता न मानना ही जगत्-भावनाका नाश कहलाता है। अतः पञ्चभूतोंकी सत्ता नकारना या उन्हें प्रभुके रूपमें देखना निर्विकल्पता है। इसके पूर्व वह प्रकृतिके नाम-रूपोंमें प्रभुको खोजता था। पर यह समझ जानेपर कि केलेके छिलकेकी तरह प्रकृतिके रूपोंमें अलगसे प्रभुको खोजना नासमझी है तो वह समस्त नाम-रूपोंको पूर्णरूपसे भगवान् मान लेता है।

नाम-जपका अभ्यास, वैराग्य, प्रभु-कृपा और संतोंकी शिक्षासे कुछ समय पश्चात् उसे ज्ञात होता है कि सर्वत्र एक ही आत्मा है। मैं ही सर्वाधिष्ठान ब्रह्म हूँ। इस विचारधाराके परिपाक हो जानेपर चराचर-जगत्को ब्रह्मरूप जानकर साधकका हृदय ब्रह्ममय हो जाता है और उसके समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं। व्यावहारिक कालमें भी उसकी समदृष्टि हो जाती है। सर्वत्र, सर्वदा, सब नाम-रूपोंमें एवं प्रकृतिके प्रत्येक कार्यकलापमें उसे भगवान्के दर्शन होने लगते हैं और जगत्का अस्तित्व नष्ट हो जाता है। वह समझता है कि यद्यपि ब्रह्ममय प्रकाशसे ब्रह्म-प्रकाश प्रकाशित है, तथापि यह स्थिति वाचिकमात्र होना सामान्य है। अधिकार, साधना, गुरूपसदन, ज्ञानदार्ढ्य, सच्चा भगवत्साक्षात्कार, सम्पूर्ण वेदान्तोंका सानुष्ठान स्वाध्याय, निदिध्यासन परिपक्व या सच्चे रूपमें जबतक उपलब्ध नहीं होता तबतक सच्ची शान्ति, तृप्ति, जीवन्मुक्ति भी उपलब्ध नहीं होती, अतः तदर्थ यत्न परमावश्यक है।

सच्ची जिज्ञासा

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवका पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्विका पुत्र बुडिल—ये पाँचों महाशाल (अर्थात् जिनकी शालामें असंख्य विद्यार्थी पढ़ते थे, ऐसी महान् शालाओंवाले) एवं महान् श्रोत्रिय अर्थात् वेदका पठन-पाठन करनेवाले थे। एक दिन ये एकत्र होकर 'वास्तवमें आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है?' इस विषयपर विचार करने लगे, परंतु जब किसी निर्णयपर नहीं पहुँचे, तब किसी दूसरे ब्रह्मवेत्ता विद्वान्के पास चलकर उनसे पूछनेका निश्चय कर आपसमें कहने लगे कि 'वर्तमान समयमें अरुणके पुत्र उद्दालक आत्मरूप वैश्वानरको भलीभाँति जानते हैं, यदि सबकी सम्मति हो तो हमें उनके पास चलना चाहिये।' सबकी एक सम्मति हो गयी और वे उद्दालकके पास गये।

उद्दालकने उन्हें दूरसे देखते ही उनके आनेका प्रयोजन जान लिया और वे विचार करने लगे—'ये महाशाल और महान् श्रोत्रिय आते ही मुझसे पूछेंगे और मैं इनके प्रश्नोंका पूर्ण समाधान कर नहीं सकूँगा। इससे उत्तम यही है कि मैं इन्हें किसी दूसरे योग्य पुरुषका नाम बतला दूँ।' ऐसा विचारकर उद्दालकने उनसे कहा—'भगवन्! मैं जानता हूँ कि आप मुझसे आत्माके विषयमें कुछ पूछनेके लिये पधारे हैं, परंतु इस समय केकंयके पुत्र प्रसिद्ध राजा अश्वपति इस आत्मरूप वैश्वानरको भलीभाँति जानते हैं, यदि आप सबकी अनुमति हो तो हम सब उनके पास चलें।' फिर तो सर्वसम्मतिसे सब लोग राजा अश्वपतिके पास गये।

अश्वपतिने उन छहों ऋषियों—अतिथियोंका अपने सेवकोंद्वारा यथायोग्य अलग-अलग भलीभाँति पूजन-सत्कार करवाया और दूसरे दिन प्रातःकाल वे सोकर उठते ही उनके पास गये और बहुत-सा धन सामने रखकर विनय-भावसे उसे ग्रहण करनेकी प्रार्थना करने लगे, परंतु वे तो धनकी इच्छासे वहाँ नहीं गये थे, इससे उन्होंने धनका स्पर्श भी नहीं किया और चुपचाप बैठे रहे। राजाने सोचा कि सम्भवतः ये मुझे अधर्मी या दुराचारी समझते हैं; इसीलिये मेरा धन (दूषित समझकर) नहीं ले रहे हैं। यह विचारकर राजा कहने लगे—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

'मुनियो! मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है (क्योंकि किसीके पास किसी वस्तुका अभाव नहीं है), मेरे देशमें ऐसा कोई धनी नहीं है, जो कंजूस हो अर्थात् यथायोग्य दान न करता हो। न मेरे देशमें कोई शराब पीता है, न कोई ऐसा द्विज है जो अग्निहोत्र न करता हो, न कोई ऐसा ही व्यक्ति है जो विद्वान् न हो और न कोई व्यभिचारी पुरुष ही मेरे देशमें है, जब पुरुष ही व्यभिचारी नहीं है तो स्त्री व्यभिचारिणी कहाँसे होगी? अतएव मेरा धन शुद्ध है, फिर आप इसे क्यों नहीं लेते?' मुनियोंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब राजाने सोचा कि सम्भवतः धन थोड़ा समझकर मुनि न लेते हों, अतएव वे फिर कहने लगे—

'भगवन्! मैं एक यज्ञका आरम्भ कर रहा हूँ, उस यज्ञमें एक-एक ऋत्विक्को जितना धन दूँगा, उतना ही आपमेंसे प्रत्येकको दूँगा। आप मेरे यहाँ ठहरिये और मेरा यज्ञ देखिये।'

राजाकी यह बात सुनकर उन्होंने कहा—'राजन्! मनुष्य जिस प्रयोजनसे जिसके पास जाता है, उसका वही प्रयोजन पूरा करना चाहिये। हमलोग आपके पास आत्मरूप वैश्वानरका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे आये हैं; क्योंकि इस समय आप ही उसे भलीभाँति जानते हैं, इसलिये आप हमें वही समझाइये। हमें धन नहीं चाहिये।'

राजाने उनसे कहा—'मुनियो! कल प्रातःकाल मैं इसका उत्तर आपको दूँगा।'

'ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अभिमानका त्याग करना परम आवश्यक है। केवल मुँहसे माँगनेपर ज्ञान नहीं मिलता।

वह अधिकारीको ही मिलता है।' राजाके उत्तरसे सच्ची जिज्ञासावाले मुनि इस बातको समझ गये और दूसरे दिन अभिमानको त्यागकर सेवावृत्तिका परिचय देनेवाले समिधाको हाथोंमें लेकर मध्याह्नसे पहले ही विनयके साथ शिष्यभावसे सब राजाके पास पहुँचे और जाते ही उनके चरणोंमें प्रणाम करने लगे। राजाने उन्हें अपने चरणोंमें प्रणाम नहीं करने दिया; क्योंकि प्रथम तो वे ब्राह्मण थे और दूसरे सद्गुरु मान-बड़ाई-पूजाकी इच्छा नहीं रखते। तदनन्तर राजाने उन्हें गुरुरूपसे नहीं, किंतु दाताके रूपसे वैश्वानररूप ब्रह्मविद्याका उपदेश किया।

प्रवर्तनीया सद्विद्या

(श्रीमाधवप्रियदासजी शास्त्री)

आजका युग शिक्षाका युग है। शिक्षा शब्द संस्कृत भाषाके **'शिक्ष विद्योपादाने'** धातुसे निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है—मानवकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक शक्तियोंका सर्वाङ्गीण विकास करना, जिससे मानव अपने जीवनके सर्वोच्च लक्ष्यको सिद्ध कर सके।

मानव-जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य है शाश्वत सुखकी प्राप्ति। मानवकी सभी प्रवृत्तियाँ इसीलिये होती रहती हैं। शाश्वत सुखकी ओर अग्रसर करानेवाली शिक्षा-प्रणाली कैसी होनी चाहिये? इसके उत्तरमें भगवान् स्वामिनारायणने शिक्षापत्रीमें लिखा है—

प्रवर्तनीया सद्विद्या भुवि यत् सुकृतं महत्।

(शि० श्लो० १३२)

'पृथ्वीपर सद्विद्याका प्रवर्तन करना चाहिये, इससे महान् पुण्य होता है।' यहाँ केवल विद्याके प्रवर्तनकी बात नहीं है, किंतु सद्विद्याके प्रवर्तनकी बात कही गयी है। सद्विद्याका अर्थ है—'सत् अर्थात् शाश्वत परमानन्द-स्वरूप परमात्माको लक्ष्य करनेवाली विद्या।' सद्विद्याका लक्ष्य केवल भौतिक समृद्धि नहीं है; क्योंकि भौतिक सम्पत्ति तो असत् अर्थात् परिणामशील अतएव अल्प सुखमय एवं अनेक दुःखोंसे भरी हुई है। भौतिक सम्पत्तिसे शाश्वत सुख कभी नहीं मिल सकता।

हमारे भारतीय तत्त्वद्रष्टा महर्षियोंने 'परा' एवं 'अपरा'—दो विद्याओंका उपदेश दिया है—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥

(मुण्डक-उ० १।१।४-५)

हमें शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक आदि भौतिक दृष्टिसे उन्नत बनानेवाली जो विद्या है, वह अपरा विद्या है। जिसे हम भौतिक विद्या भी कह सकते हैं। जिस विद्यासे हमें अपरिणामशील अक्षरपदकी उपलब्धि होती है वह परा विद्या है। जिसे हमारी आत्मिक चेतनाको विकसित करनेवाली अध्यात्म-विद्या भी कह सकते हैं। हमारे ऋषि-मुनियोंने मानव-जीवनके सर्वाङ्गीण विकासके लिये इन दोनों विद्याओंके प्रचार-प्रसारपर बल दिया है। वे अच्छी तरहसे जानते थे कि जबतक हम भौतिक जगत्में बसते हैं एवं भौतिक शरीरसे बद्ध हैं, तबतक हमें कुछ मात्रामें भौतिक उन्नतिकी आवश्यकता रहेगी ही। केवल अध्यात्मविद्यासे काम नहीं चल सकता।

जीवनमें भौतिक उन्नति एवं अध्यात्म-ज्ञान दोनोंकी आवश्यकता है। अतएव हमारी शिक्षा-प्रणालीमें ऋषियोंद्वारा उपदिष्ट परा विद्या एवं अपरा विद्या—दोनोंका समन्वय नितान्त आवश्यक है। इतना ही नहीं 'अपरा विद्या' 'परा विद्या' से नियन्त्रित भी होनी चाहिये। अन्यथा कोरी भौतिक विद्या हमारे मानव-मूल्योंकी विघातक ही सिद्ध होगी।

आज सारे विश्वमें तीव्र गतिसे विद्याका प्रचार हो रहा है। हजारों विद्या-शाखाओंका विकास हो चुका है। विज्ञान-विद्या प्रायः अपनी चरम सीमापर पहुँच चुकी है। आज विश्व 'दिन दूना एवं रात चौगुना' के अनुसार बड़ी तीव्र गतिसे

प्रगति कर रहा है, किंतु हमारी इस प्रगतिकी अवदशा कैसी है ? मान लीजिये कि हम सभी सुविधासे सज्जित मोटरकारसे यात्रा कर रहे हैं । कार बड़ी आरामप्रद है, तीव्र गतिसे भागी जा रही है, सभी यन्त्र ठीक-ठाक हैं, किंतु केवल एक ब्रेक ही नहीं लगती है । अब कारकी और भीतर बैठनेवालोंकी क्या दशा होगी ? इसकी कल्पना कर लीजिये । हम जितनी तीव्र गतिसे भागे जा रहे हैं, उतनी ही तीव्र गतिसे मौतके मुँहमें पहुँच सकते हैं और अन्य अनेकको भी मौतके घाट उतार सकते हैं । ठीक यही परिस्थिति आज हमारे वैज्ञानिक विकासकी है । अध्यात्म-ज्ञानके अभावमें विज्ञान अभिशाप हो गया है । अनेक विनाशक आसुरी शस्त्रोंके आविष्कारसे पूरा विश्व खतरेमें है ।

अपरा विद्या हमें भौतिक समृद्धि तो अवश्य दे सकती है, किंतु इस समृद्धिसे प्राप्त होनेवाला सुख अशान्ति, अस्थिरता, असुरक्षिता एवं भयसे भरपूर सुखाभास मात्र होगा ।

अतः हमारी शिक्षाका लक्ष्य केवल भौतिक उन्नति ही नहीं होना चाहिये । उसका लक्ष्य भौतिक समृद्धिके साथ-साथ शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति होना चाहिये । इसके लिये हमारी शिक्षा-प्रणालीमें न केवल भौतिक विद्याका अपितु अध्यात्म-विद्याका प्राधान्य होना चाहिये । दूसरे शब्दोंमें हमारी शिक्षा-प्रणाली 'सद्विद्यामय' होनी चाहिये ।

हमारे ऋषि-मुनियोंने भौतिक विकासका विरोध नहीं किया है, प्रत्युत उन्होंने यह कहा है कि हमारा भौतिक विकास अध्यात्मकी नींवपर होना चाहिये । हमारी सभी विद्या-शाखाएँ—गणित-विद्या, शिल्प-विद्या, भौतिकी-विद्या, तकनीकी-विद्या, रसायन-विद्या, शरीर-विज्ञान आदि अध्यात्मनिष्ठ होनी चाहिये । तभी हमें ऐहिक एवं पारलौकिक शाश्वत सुखकी उपलब्धि हो सकती है । व्यष्टि एवं समष्टिका ऐसा सर्वाङ्गीण विकास सद्विद्यासे ही सम्भव है, अन्यथा नहीं ।

आदर्श बालक

(श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

किसने कहा देश-भक्तोंसे करना तुम सर्वस्व प्रदान ?
किसने कहा दानवीरोंसे दान करो तो होगा मान ?
किसने कहा संत तुलसीसे करो रामका तुम गुण-गान ?
कौन कभी कहता मातासे-समझो शिशुको अपना प्राण ?
किसने कहा कभी बादलसे-शान्त करो धरतीकी प्यास ?
किसके कहनेसे पुष्पोंसे निकला करती मधुर सुवास ?
कौन प्रेरणा रविको देता स्वर्ण-किरणका दे वह दान ?
कौन चन्द्रमासे कहता है, छबि छिटकाओ सुधा-समान ?
किसके कहनेसे दीपकसे अन्धकारका होता नाश ?
कौन कभी जलसे कहता है, शीतलता दो सुधा-समान ?
कोई कभी न कहता इनसे, ऐसे अनुपम काम करो ।
कोई कभी न कहता इनसे, यों सेवा निष्काम करो ॥
ये सज्जन हैं और सज्जनोंको निशि-दिन यह चिन्ता एक—
'दुखियोंको सुख मिले और वे फूलें-फलें रहें सविवेक ॥'

भार्गवी वारुणी विद्या

[भृगु-वरुण-संवाद]

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वरुणके पुत्र सुप्रसिद्ध भृगु अपने पिताके समीप आकर विधिपूर्वक प्रणाम करके बैठ गये ।

वरुणने पूछा—'वत्स ! क्या इच्छा है ?'

भृगुने उत्तर दिया—'भगवन् ! मुझे ब्रह्मका बोध करा दीजिये ।'

वरुणने कहा—

अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति ।

'अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी—ये ब्रह्म हैं ।'

भृगुने पूछा—'ब्रह्मका लक्षण क्या है ?'

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ।।

'जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे ये जीते हैं, फिर प्रयाण करते हुए अन्तमें जिसमें ये लीन होते हैं, उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करो, वही ब्रह्म है ।'

ऐसे उस ब्रह्मको जाननेकी भृगुने उत्कट इच्छा की । इस इच्छासे उन्होंने मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रतारूप तप किया । उस तपसे क्या हुआ ? तपसे भृगुने यह जाना कि अन्न ब्रह्म है, क्योंकि अन्नसे ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्नसे जीते हैं और प्रयाण करते हुए अन्नमें ही लीन होते हैं । यह जानकर भृगु पुनः वरुणके पास गये और बोले—'भगवन्! मुझे ब्रह्मका बोध कराइये ।'

वरुणने कहा—'तपसे ब्रह्मको जानो । तप ही ब्रह्म है ।' भृगुने तप किया । उस तपसे क्या हुआ ?

तपसे भृगुने जाना कि प्राण ब्रह्म है । कारण, प्राणसे ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर प्राणसे ही जीते हैं, प्रयाण करते हुए अन्तमें प्राणमें ही लीन होते हैं ।

इस प्रकार प्राणको ब्रह्म जानकर भृगु पुनः अपने पिता वरुणके पास गये और बोले—'भगवन् ! ब्रह्मका बोध कराइये ।'

वरुणने कहा—'उसे तपसे जानो । तप ही ब्रह्म है ।' भृगुने तप किया । उस तपसे क्या हुआ ?

तपसे भृगुने जाना कि मन ब्रह्म है । कारण, ये सब प्राणी मनसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मनसे ही जीते हैं, प्रयाण करते हुए अन्तमें मनमें ही लीन होते हैं ।

इस प्रकार मनको ब्रह्म जानकर भृगु पुनः अपने पिताके पास गये और बोले—'भगवन् ! ब्रह्मका बोध कराइये ।'

वरुणने कहा—'उसे तपसे जानो । तप ही ब्रह्म है ।' भृगुने तप किया । उस तपसे क्या हुआ ?

तपसे भृगुने जाना कि विज्ञान ब्रह्म है । कारण, विज्ञानसे ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर विज्ञानसे ही जीते हैं और प्रयाण करते हुए अन्तमें विज्ञानमें ही लीन होते हैं ।

इस प्रकार विज्ञानको ब्रह्म जानकर भृगु पुनः अपने पिताके पास गये और बोले—'भगवन् ! ब्रह्मका बोध कराइये ।'

वरुणने कहा—'उसे तपसे जानो । तप ही ब्रह्म है ।' भृगुने तप किया । उस तपसे क्या हुआ ?

तपसे भृगुने जाना कि आनन्द ब्रह्म है । कारण, आनन्दसे ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्दसे ही जीते हैं और प्रयाण करते हुए अन्तमें आनन्दमें ही लीन होते हैं ।

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । स य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति, प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ।

यही वह भृगुद्वारा वरुणसे प्राप्त 'भार्गवी वारुणी' विद्या है । यह परमाकाशमें स्थित है । जो ऐसा जानता है वह ब्रह्ममें स्थित होता है, वह अन्नवान् और अन्नाद होता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मवर्चसके कारण तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है ।'

नम्र निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

भगवत्कृपासे इस वर्ष 'क़ल्याण'का विशेषाङ्क—'शिक्षाङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। मानव-जीवनकी सफलता उसकी सुशिक्षापर ही निर्भर करती है। कहते हैं कि मनुष्य-जन्म भगवत्कृपासे ही प्राप्त होता है। यही एक योनि है, जिसमें जीव अपने भविष्यका निर्माण कर सकता है अर्थात् वह चाहे तो स्वयंको संसारके प्रत्येक बन्धनसे मुक्त कर ले, अथवा इस भवाटवीके बन्धनमें डाल दे। इसीलिये ऋषि-महर्षियोंने कहा है—**'सा विद्या या विमुक्तये'**—विद्या वही है, जो हमें अज्ञानके बन्धनसे विमुक्त कर दे। इसी उद्देश्यसे आर्यजातिके पवित्रहृदय और समदर्शी त्रिकालज्ञ ऋषियोंने चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास) की सुन्दर व्यवस्था की थी। ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोंका पालन करता हुआ ब्रह्मचारी विद्यार्थी जब संयमकी व्यावहारिक शिक्षाके साथ-ही-साथ लौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी विद्याओंको पढ़कर सब प्रकारसे स्वस्थ और संयमी होकर गुरुकुलसे निकलता था, तब वह गृहस्थ-आश्रममें प्रवेशकर क्रमशः जीवनको और भी संयममय, सेवामय और त्यागमय बनाता हुआ अन्तमें सर्व-त्याग करके परमात्माके स्वरूपमें निमग्न हो जाता था। यही आर्य-संस्कृतिका स्वरूप था। जबतक देशमें यह आश्रमसम्मत शिक्षा-पद्धति प्रचलित थी, तबतक आर्यसंस्कृति सुरक्षित थी और सभी श्रेणीके लोग प्रायः सुखी थे। जबसे अनेक प्रकारकी विपरीत परिस्थितियोंमें पड़कर मोहवश हमने अपनी इस आश्रमसम्मत शिक्षा-पद्धतिको ठुकराया तभीसे हमारी आदर्श आर्य-संस्कृतिमें विकार आने लगे।

आजकी शिक्षामें उपर्युक्त प्रक्रियाका सर्वथा अभाव है, फिर भी आधुनिक शिक्षाविद् सुशिक्षाकी खोज अवश्य कर रहे हैं। भारत जबसे स्वतन्त्र हुआ, तबसे आजतक शिक्षाकी विधाओंपर केवल प्रयोग किये जा रहे हैं। वर्तमान सरकार भी नयी शिक्षा-नीति निर्धारित करना चाहती है। देशमें शिक्षाका स्वरूप क्या हो, कैसी शिक्षा छात्रोंको दी जाय, जिससे उनका जीवन समुन्नत हो सके—इसपर विशेष चर्चाएँ हो रही हैं, परंतु कोई सटीक समाधान निकल नहीं पा रहा है। कहा जाता है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणालीकी नींव लार्ड मैकालेने सन् १८३५ई०में अपने परिपत्रद्वारा भारतमें डाली थी। उन दिनों भारतवर्षपर अंग्रेजोंका आधिपत्य था—यहाँकी शिक्षा-नीतिके निर्धारणमें उनके कुछ आग्रहपूर्ण विशेष उद्देश्य थे। उन्होंने सर्वप्रथम यहाँके देशवासियोंको मातृभाषासे वञ्चित किया, शिक्षाका माध्यम विदेशी भाषा बनाया। इसमें उनका लक्ष्य था कि भारतवासियोंको तन-मनसे गुलाम बना दिया जाय। उस माध्यमसे जिन्होंने शिक्षा प्राप्त की उन्हें ही जीविकोपार्जनका साधन प्राप्त होता था। भारतकी प्राचीन शिक्षाकी एक दयनीय स्थिति बना दी गयी तथा इसका पठन-पाठन भी इसी दयनीय स्थितिमें उपेक्षित-भावसे पृथक् संस्कृत-विद्यालयोंमें चलाया जाने लगा। जिन लोगोंने संस्कृतका पठन-पाठन किया, वे जीवनपर्यन्त अभाव-ग्रस्त स्थितिमें रहने लगे। उनकी सम्पूर्ण सम्भावनाएँ स्वाभाविक रूपसे कुण्ठित हो गयीं।

दुर्भाग्यवश आजतक हम उस शिक्षा-प्रणालीमें आमूल परिवर्तन नहीं कर पाये। हम इस विधासे इतने प्रभावित और अभ्यस्त हो गये हैं कि शिक्षाके सम्बन्धमें हमारा चिन्तन भारतीय संस्कृतिकी मूल धाराओंसे जुड़ नहीं पा रहा है। भारतीय शास्त्रोंमें शिक्षाके सम्बन्धमें पूर्ण गहराईसे विचार हुआ है। शिक्षाका उद्देश्य लौकिक अभ्युदयके साथ-साथ परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति ही मुख्य है। वस्तुतः सुख-प्राप्तिकी इच्छा मनुष्यकी मूल प्रवृत्ति है, इसलिये आजकल मुख्यरूपसे शिक्षाका उद्देश्य भौतिक समुन्नति ही रह गया है; परंतु भौतिक समुन्नतिसे प्राप्त होनेवाले सुखमें कोई स्थायित्व न होनेके कारण मनुष्य वास्तवमें सुखी नहीं होता। भारतीय मनीषियोंने जीवको सदा-सर्वदाके लिये सुखी बनानेका मार्ग प्रशस्त किया है। यही कारण है कि भारतीय शास्त्रोंमें विद्याके दो रूप प्रस्तुत किये गये हैं।

द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः·········· अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'— भगवती श्रुति कहती है कि ऐहिक-आमुष्मिक सुख-शान्ति एवं अभ्युदय प्रदान करनेवाली समस्त विद्या 'अपरा' है, पर परिपूर्ण अक्षरतत्त्व परमात्माकी उपलब्धि करानेवाली सर्वोत्तमा विद्या 'परा' नामसे आदृत है । उपर्युक्त विवरणसे यह सुस्पष्ट है कि भारतीय महर्षियोंकी विचारधारामें नियन्त्रित भौतिक विज्ञान-कला-कौशलादिकी उन्नतिपूर्वक आध्यात्मिक उन्नयन करते हुए परमात्म-तत्त्वकी उपलब्धि जिस शिक्षाके द्वारा हो, वही शिक्षा सर्वाङ्गपूर्ण आदर्श शिक्षा है । इसीलिये भारतीय मनीषियोंने विद्याके द्वारा मनुष्यको मृत्युसे अमृतत्वकी प्राप्ति करानेका सतत प्रयत्न किया है—**'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।'** (ईशोप० ११) ।

शिक्षाके सम्बन्धमें आजकल देशमें विशेषरूपसे चर्चाएँ चल रही हैं । नयी शिक्षा-नीतिका निर्धारण किया जा रहा है । जिसके पक्ष-विपक्षमें समालोचनाएँ भी चल रही हैं । चूँकि शिक्षा देश, समाज और व्यक्तिके विकासकी मूल भित्ति है, इसलिये यह आवश्यक समझा गया कि इस वर्ष 'कल्याण'का विशेषाङ्क 'शिक्षाङ्क'के रूपमें प्रस्तुत किया जाय, जिसमें अर्वाचीन शिक्षाओंके साथ-साथ अपनी प्राचीन और पुरातन भारतीय शिक्षाका पूर्ण दिग्दर्शन हो। साथ ही शिक्षाका वास्तविक स्वरूप तथा इसके मूल उद्देश्यकी भी जानकारी सर्वसाधारणको प्राप्त हो सके ।

इस अङ्कमें शिक्षासे सम्बन्धित तात्त्विक निबन्धोंके साथ-साथ अनादिकालसे प्रचलित भारतकी विभिन्न शिक्षा-पद्धतियाँ, गुरु-शिष्य-परम्पराका आदर्श, शिक्षाका मूल उद्देश्य, देशकी संस्कृति और सभ्यतापर शिक्षाका प्रभाव, मानवीय गुणोंके विकासार्थ शिक्षाका महत्त्व, वर्तमान समयमें शिक्षाके वास्तविक स्वरूपका निर्धारण, सामाजिक और पारिवारिक जीवनमें परस्पर सौहार्दपूर्ण व्यवहार तथा कर्तव्यपालनकी पौराणिक एवं वैदिक कथाओंका संकलन, महान् शिक्षाविदोंके चरित्र-चित्रण तथा शिक्षा-सम्बन्धी उनके विचार और भारत सरकारकी नयी शिक्षा-नीति आदि महत्त्वपूर्ण और सर्वजनोपयोगी विषयोंपर सरल, सुगम और सारगर्भित सामग्री देनेका प्रयास किया गया है ।

'शिक्षाङ्क'के लिये देशके वर्तमान शिक्षाविदों तथा लेखक महानुभावोंने उत्साहपूर्वक जो सहयोग प्रदान किया है, वह अत्यन्त सराहनीय और अनुपम है । भगवत्कृपासे इतने लेख और अन्य सामग्रियाँ प्राप्त हुईं कि उन सबको इस अङ्कमें समाहित करना सम्भव नहीं था, फिर भी विषयकी सर्वाङ्गीणतापर ध्यान रखते हुए अधिकतम सामग्रियोंका संयोजन करनेका विशेष प्रयत्न अवश्य किया गया है ।

उन शिक्षाविद् लेखक महानुभावोंके हम अत्यधिक कृतज्ञ हैं, जिन्होंने कृपापूर्वक अपना अमूल्य समय लगाकर शिक्षा-सम्बन्धी सामग्री तैयारकर यहाँ प्रेषित की है । हम उन सबकी सम्पूर्ण सामग्रीको इस विशेषाङ्कमें स्थान न दे सके, इसका हमें खेद है । इसमें हमारी विवशता ही कारण है; क्योंकि हम निरुपाय थे । इनमेंसे कुछ तो एक ही विषयपर अनेक लेख होनेके कारण नहीं छप सके तथा कुछ विचारपूर्ण अच्छे लेख विलम्बसे आये । जिनमें कुछ लेखोंको स्थानाभावके कारण पर्याप्त संक्षिप्त करना पड़ा और कुछ नहीं भी दिये जा सके । यद्यपि साधारण अङ्कोंमें इनमेंसे कुछ अच्छे लेखोंको देनेका प्रयास किया जा सकता है, फिर भी बहुत-से लेख अप्रकाशित ही रहेंगे । इसके लिये हम लेखक महानुभावोंसे हाथ जोड़कर विनीत क्षमा-प्रार्थी हैं ।

विशेषाङ्कके प्रकाशनके समय प्रायः कुछ कठिनाइयाँ और समस्याएँ भी आती हैं, पर उनका समाधान भी परमात्म-प्रभुकी कृपासे ही होता है । इस वर्ष 'कल्याण' की साइज तथा छपाई आदिमें कुछ मौलिक परिवर्तन किये गये हैं, जिसकी सूचना पूर्व अङ्कोंमें पाठक महानुभावोंको दी जा चुकी है ।

'कल्याण'के ग्राहक इधर कुछ वर्षोंसे लगातार बढ़ रहे हैं । पिछले वर्ष लगभग २५,००० ग्राहकोंकी वृद्धि हुई । इसलिये दूसरा संस्करण भी छापना पड़ा, फिर भी सम्पर्णू माँग नहीं पूरी की जा सकी । हम भी 'कल्याण'का प्रकाशन-वितरण अधिक संख्यामें करना चाहते हैं, जिससे अधिकाधिक लोग लाभान्वित हो सकें तथा सर्वसाधारणकी

आध्यात्मिक रुचिमें वृद्धि हो। इसी दृष्टिसे छपाई आदिकी आधुनिकतम (टेकनोलाजी) प्रक्रिया अपनायी गयी है। यह अङ्क आफसेट-प्रिंटिंग तथा फोटो-कम्पोज आदिकी नयी मशीनोंद्वारा मुद्रित हुआ है। पिछले वर्षतक 'कल्याण' २०×३० इंच साइजके कागजपर छपता रहा है, परंतु इस अङ्कसे यह २२×३३ इंचकी साइजमें छापा जा रहा है। यह भी प्रयत्न किया जा रहा है कि कागज, छपाई और चित्र आदिके स्तरमें भी पर्याप्त विकास हो। कर्तव्यकी दृष्टिसे हम तो केवल प्रयत्न ही कर सकते हैं। विकास तो भगवत्कृपासे ही हो सकेगा।

अब हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य पवित्रहृदय संत-महात्माओं, आदरणीय शिक्षाविद्, विद्वान् लेखक महानुभावोंके श्रीचरणोंमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं, जिन्होंने विशेषाङ्ककी पूर्णतामें किंचित् भी योगदान किया है। सद्विचारोंके प्रचार-प्रयासमें वे ही निमित्त हैं; क्योंकि उन्हींके सद्भावपूर्ण तथा उच्च विचारयुक्त लेखोंसे 'कल्याण'को सदा शक्तिस्रोत प्राप्त होता रहता है। हम अपने विभागके तथा प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी-सहयोगियोंको भी प्रणाम करते हैं, जिनके स्नेहभरे सहयोगसे यह पवित्र कार्य सम्पन्न हो सका है। हम अपनी त्रुटियों और व्यवहार-दोषके लिये उन सबसे क्षमा-प्रार्थी हैं।

शिक्षाङ्कके सम्पादनमें जिन शिक्षाविदों, संतों और विद्वान् लेखकोंसे हमें सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, उन्हें हम अपने मानसपटलसे विस्मृत नहीं कर सकते। सर्वप्रथम मैं वाराणसीके समादरणीय पं० श्रीलालविहारीजी शास्त्रीके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने शिक्षाके अछूते विषयोंपर सामग्री तैयारकर निष्कामभावसे अपनी सेवाएँ परमात्म-प्रभुके श्रीचरणोंमें समर्पित की हैं। तदनन्तर मैं डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजीके प्रति आभार व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने अर्वाचीन शिक्षा-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध कराकर अङ्कके प्रकाशनमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

डॉ० श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी, आचार्य श्रीप्रतापादित्यजी एवं अन्य स्नेही महानुभावोंके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता, जिनका सत्परामर्श और सहयोग प्रारम्भसे ही प्राप्त होता रहा है। इस अङ्कके सम्पादनमें अपने सम्पादकीय विभागके पं० श्रीरामाधारजी शुक्ल 'शास्त्री', पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा एवं अन्य महानुभावोंने अत्यधिक हार्दिक सहयोग प्रदान किया है। इसके सम्पादन, प्रूफ-संशोधन, चित्र-निर्माण आदि कार्योंमें जिन-जिन लोगोंसे हमें सहृदयता मिली है, वे सभी हमारे अपने हैं, उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

पिछले दिनों परम श्रद्धेय स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज ब्रह्मीभूत हो गये, जिनका 'कल्याण'से अटूट सम्बन्ध था। पूर्वक्रममें वे 'श्रीशान्तनुविहारी द्विवेदी' के रूपमें 'कल्याण'के सम्पादन-विभागके माननीय सदस्य थे। संन्यासाश्रम-ग्रहण करनेके बाद भी 'कल्याण'पर उनका विशेष अनुग्रह बना रहा। सत्पुरुषोंके अभावकी पूर्ति तो आजकलके समयमें हो नहीं पा रही है। भगवान्की कृपाका ही सम्बल है। वास्तवमें 'कल्याण'का कार्य भगवान्का कार्य है। अपना कार्य भगवान् स्वयं करते हैं, हम तो केवल निमित्तमात्र हैं।

इस बार 'शिक्षाङ्क'के सम्पादन-कार्यके अन्तर्गत जगन्नियन्ता प्रभु तथा उनकी सत्-शिक्षाओंका चिन्तन, मनन और सत्संगका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा, यह हमारे लिये विशेष महत्त्वकी बात थी। हमें आशा है कि इस विशेषाङ्कके पठन-पाठनसे हमारे सहृदय पाठकोंको भी यह सौभाग्य-लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

अन्तमें हम अपनी त्रुटियोंके लिये आप सबसे पुनः क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल अकारण-करुणा-वरुणालय परमात्म-प्रभुसे यह प्रार्थना करते हैं कि वे हमें तथा जगत्के सम्पूर्ण जीवोंको सद्बुद्धि प्रदान करें, जिससे सभी सत्-शिक्षाकी ओर अग्रसर होकर जीवनके वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त कर सकें।

—राधेश्याम खेमका

सम्पादक



'कल्याण' का उद्देश्य और इसके नियम

उद्देश्य— भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जन-जनको कल्याणके पथपर अग्रसरित करनेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याण-मार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख 'कल्याण'में प्रकाशित नहीं किये जाते । लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने-न-छापनेका अधिकार सम्पादकको है । अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते । **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं हैं ।**

(२) 'कल्याण'का विशेषाङ्कसहित डाकव्ययके साथ अग्रिम वार्षिक शुल्क भारतवर्षमें ३८.०० (अड़तीस रुपये) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६ पौंड अथवा ९ डालर नियत है ।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक वर्षारम्भ—जनवरीसे ही बनाये जाते हैं । यद्यपि वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, तथापि जनवरीसे उस समयतकके (प्रकाशित) पिछले अङ्क उन्हें दिये जाते है । 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते, छः या तीन महीनोंके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते ।

(४) **ग्राहकोंको वार्षिक शुल्क मनीआर्डरद्वारा अथवा बैंक-ड्राफ्टद्वारा ही भेजना चाहिये ।** वी० पी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं । वी० पी० पी० द्वारा 'कल्याण' भेजनेमें ग्राहकोंको ४.०० (चार रुपये) वी० पी० पी० शुल्कके रूपमें अधिक भी देने पड़ते हैं, अतः नये-पुराने सभी ग्राहकोंको वार्षिक शुल्क अग्रिम भेजकर ही अपना अङ्क सुरक्षित करा लेना चाहिये । विशेषाङ्कके बचे रहनेकी दशामें ही केवल पुराने ग्राहकोंको ही ४२.०० (बयालीस) रुपयेकी वी० पी० पी० भेजी जा सकेगी । चेकद्वारा भेजी हुई राशि कदापि स्वीकार न की जा सकेगी ।

(५) 'कल्याण' प्रतिमास कार्यालयसे दो-तीन बार जाँच करके ही ग्राहकोंके पतोंपर भेजा जाता है । यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमारे कार्यालयको भेज देना चाहिये । वाञ्छित अङ्क हमारे यहाँ प्राप्त रहनेकी दशामें ही पुनः भेजा जा सकता है, अन्यथा नहीं ।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिनोंके पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । **पत्रोंमें 'ग्राहक-संख्या', पुराना और नया पूरा पता सुस्पष्ट एवं सुवाच्य अक्षरोंमें लिखना चाहिये ।** यदि महीने-दो-महीनेके लिये ही पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर अङ्क प्राप्त कर लेनेका प्रबन्ध कर लेना चाहिये । पता बदलनेकी सूचना न मिलनेपर अथवा पर्याप्त विलम्बसे मिलनेपर अङ्क पुराने पतेपर चले जानेकी दशामें दूसरी प्रति भेजनेमें कठिनाई हो सकती है ।

(७) रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) ही जनवरी तथा वर्षका प्रथम अङ्क होता है । पुनः दिसम्बरतक प्रतिमास एक साधारण अङ्क ग्राहकोंको उसी शुल्क-राशिमें (बिना मूल्य) दिया जाता है । किसी अनिवार्य कारणवश यदि 'कल्याण'का प्रकाशन बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही संतोष करना चाहिये; **क्योंकि मात्र विशेषाङ्कका ही मूल्य डाकव्ययसहित ३८.०० (अड़तीस) रुपये हैं ।** शेष साधारण अङ्क तो बिना मूल्य दिये जाते हैं ।

आवश्यक सूचनाएँ

(८) ग्राहकोंको पत्राचारके समय अपना नाम-पता सुस्पष्ट लिखनेके साथ-साथ अपनी **ग्राहक-संख्या** भी अवश्य लिखनी चाहिये । पत्रमें अपनी आवश्यकता और उद्देश्यका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये ।

(९) पत्रोंके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या समुचित डाक-टिकट साथमें भेजना आवश्यक है । एक ही विषयके लिये यदि दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रका दिनाङ्क तथा संदर्भाङ्क (पत्र-संख्या) भी अवश्य लिखना चाहिये ।

(१०) **'कल्याण' में व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते ।**

(११) नियमतः चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले 'कल्याण' का पूर्वप्रकाशित कोई विशेषाङ्क अथवा गीताप्रेसकी कोई पुस्तक नहीं दी जा सकती ।

(१२) स्वयं आकर विशेषाङ्क प्राप्त करनेकी स्थितिमें रजिस्ट्री-व्ययके निमित्त ५.०० (पाँच) रुपये नहीं लिये जायँगे अर्थात् मात्र ३३.०० (तैंतीस) रुपये ही मूल्य लिया जायगा । इसी प्रकार गीताप्रेसकी निजी दूकानों या निकटस्थ पुस्तक-विक्रेताओंके यहाँसे भी अङ्क लेनेपर ३३.०० (तैंतीस) रुपयेमें ही वर्षके सभी अङ्क सुरक्षित प्राप्त किये जा सकेंगे ।

(१३) कम-से-कम पचास विशेषाङ्क एक साथ मँगानेपर ३३.०० (तैंतीस) रुपये प्रति विशेषाङ्ककी दरसे लिया जायगा, परंतु १५ प्रतिशत कमीशन 'कल्याण'के वास्तविक मूल्य ३०.०० (तीस) रुपयेपर ही दिया जायगा; क्योंकि ३.०० (तीन) रुपये साधारण मासिक अङ्कोंके डाक-व्ययके रूपमें लिये जायँगे । विशेषाङ्क रेल-पार्सलसे एवं साधारण मासिक अङ्क रजिस्ट्री-डाक-द्वारा भेजे जायँगे ।

व्यवस्थापक— 'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय— गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर)

भगवती सरस्वतीकी पूजा-विधि

सुसितैर्गन्धकुसुमैः पूजा सारस्वते विधौ। दूर्वा बीजाङ्कुरं पुष्पं राजवृक्षसमुद्भवम्॥
उत्पलानि प्रशस्तानि सिन्धुवाराङ्कुराणि च। भजन् सरस्वतीं नित्यमेतानि परिवर्जयेत्॥
आम्रातं गृञ्जनं बिल्वं कलञ्जं लशुनं तथा। तैलं पलाण्डुं पिण्याकं शाङ्‌र्गाष्टमपि भोजने॥
सर्वं पर्युषितं त्याज्यं सदा सारस्वतार्थिना। नाचरेन्निशि ताम्बूलं स्त्रियं गच्छेद्दिवा न च॥
न संध्ययोः स्वपेज्जातु नाशुचिः किंचिदुच्चरेत्। प्रदोषेषु भवेन्मौनी दिग्वस्त्रां न विलोकयेत्॥
न पुष्पितां स्त्रियं गच्छेन्न निन्देद्वामलोचनाम्। न मृषा वचनं ब्रूयान्नाक्रामेत् पुस्तकं सुधीः॥
अक्षराढ्यानि पत्राणि नोपेक्षेत न लङ्घयेत्। चतुर्दश्यष्टमीपर्वप्रतिपद्ग्रहणेषु च॥
संक्रमेषु च सर्वेषु विद्यां नैव पठेद् बुधः। व्याख्याने संत्यजेन्निद्रामालस्यं जृम्भनं पुनः॥
क्रोधं निष्ठीवनं तद्वन्नीचाङ्गस्पर्शनं तथा। मनुष्यसर्पमार्जारमण्डूकनकुलादयः॥
अन्तरा यदि गच्छेयुस्तदा व्याख्यां परित्यजेत्। निशासु दीपभ्रंशे च सद्यः पाठं परित्यजेत्॥
ज्ञात्वा दोषानिमान् सम्यग् भक्त्या यो भारतीं भजेत्। वाचां सिद्धिमवाप्नोति वाचस्पतिरिवापरः॥

भगवती सरस्वतीकी पूजा-विधिमें अत्यन्त श्वेत चन्दन, पुष्प, दूर्वा, यवाङ्कुर, राजवृक्ष (अमलतास) के पुष्प, श्वेत कमल और निर्गुण्डीके अङ्कुर प्रशस्त माने गये हैं । नित्य सरस्वतीकी पूजा करनेवालेको चाहिये कि वह भोजनमें अचार, गाजर, बेल, खरबूजा, लहसुन, तेल, प्याज, हींग आदि सुगन्धित पदार्थ और सिंघाड़ा—इन सबका परित्याग कर दे । उसे सदा सभी प्रकारके बासी पदार्थोंका परित्याग कर देना चाहिये । सरस्वतीकी कृपाके इच्छुकको रातमें मुखमें पान लेकर शयन नहीं करना चाहिये । वह दिनमें स्त्री-समागम न करे, न कभी दोनों संध्याओंके समय शयन करे, न अपवित्र अवस्थामें कुछ उच्चारण करे, प्रदोषकालमें मौन रहे, नंगी अवस्थामें अपनी स्त्रीको भी न देखे, रजस्वला स्त्रीके साथ समागम न करे, स्त्रीकी निन्दा न करे, न असत्य वचन बोले, न पुस्तकका लङ्घन करे । विद्वान् साधकको अक्षरोंसे युक्त पुस्तकके पत्रोंकी न उपेक्षा और न लङ्घन ही करना चाहिये । बुद्धिमान् साधकको चतुर्दशी, अष्टमी, पर्व, प्रतिपद, ग्रहण और सभी संक्रान्तियोंके दिन विद्याध्ययन नहीं करना चाहिये । व्याख्यानके समय निद्रा, आलस्य, जँभाई, क्रोध और थूकना वर्जित है । उसी प्रकार नाभिसे नीचेके अङ्गोंका स्पर्श भी निषिद्ध है। यदि मनुष्य, साँप, बिलाव, मेढक, नेवला आदि बीचमें आ जाय तो व्याख्यान बंद कर देना चाहिये । रात्रिमें दीपके बुझ जानेपर तुरंत पाठ बंद कर देनेका [illegible] है । जो मनुष्य इन दोषोंको भलीभाँति जानकर भक्तिपूर्वक सरस्वतीका पूजन करता है, उसे वाक्सिद्धि [illegible] जाती है और वह दूसरे बृहस्पतिके समान हो जाता है ।